जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा

शंका-समाधान 6 से 17 तक

पुस्तक 2

सम्पादक :

सिद्धान्ताचार्य पण्डित फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

वाराणसी

आद्यप्रकाशक :

आचार्यकल्प पण्डित श्री टोडरमल ग्रन्थमाला

गाँधी रोड, बापूनगर, जयपुर (राजस्थान)

: प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.

वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056

फोन : (022) 26130820

प्रथमावृत्ति : फरवरी 1967
द्वितीया वृत्ति : 2015

ISBN No. :

न्यौछावर राशि : 20 रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,**
   सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250, फोन : 02846-244334
2. **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),
   मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
3. **श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)**
   अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.)
4. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,**
   ए-4, बापूनगर, जयपुर, राजस्थान-302015, फोन : (0141) 2707458
5. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,**
   कहान नगर, लाम रोड, देवलाली-422401, फोन : (0253) 2491044
6. **श्री परमागम प्रकाशन समिति**
   श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
7. **श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान आध्यात्मिक ट्रस्ट**
   योगी निकेतन प्लाट, 'स्वरुचि' सवाणी होलनी शेरीमां, निर्मला कोन्वेन्ट रोड
   राजकोट-360007 फोन : (0281) 2477728, मो. 09374100508

टाईप-सेटिंग : **देशना (दिनेश)** जयपुर

मुद्रक :

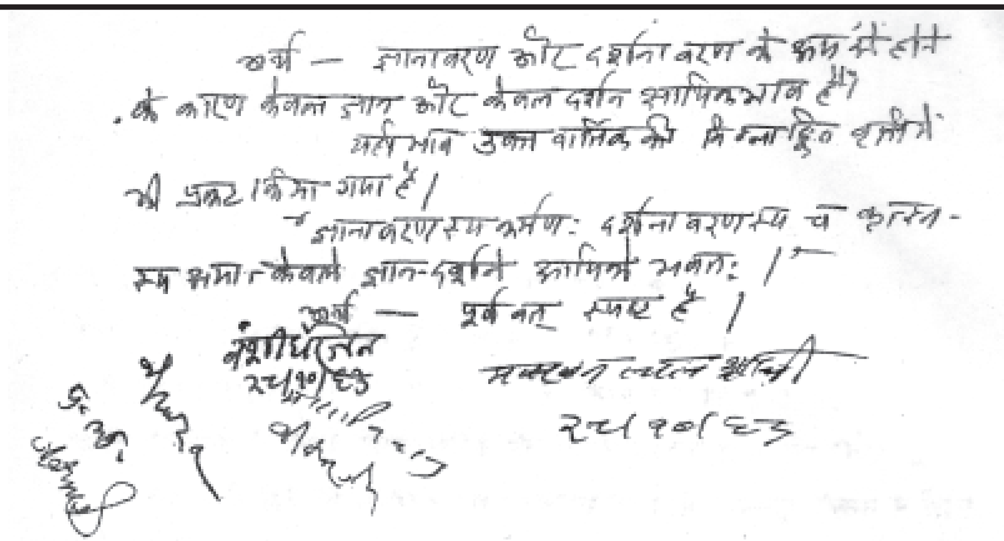

अर्थ — ज्ञानावरण और दर्शनावरण के क्षय से होने के कारण केवलज्ञान और केवलदर्शन क्षायिकभाव हैं। यही भाव उक्त वार्तिक की निम्नाङ्कित पंक्तियों में प्रकट किया गया है।

"ज्ञानावरणस्य कर्मणः दर्शनावरणस्य च कृत्स्नस्य क्षयात् केवले ज्ञानदर्शने क्षायिके भवतः।"

अर्थ — पूर्ववत् स्पष्ट है।

बंशीधर जैन 24/10/63

मक्खनलाल शास्त्री 24/10/63

प्रथम तथा द्वितीय दौर के पत्रकों पर मध्यस्थ के साथ प्रथम पक्ष के पाँचों प्रतिनिधियों के हस्ताक्षर

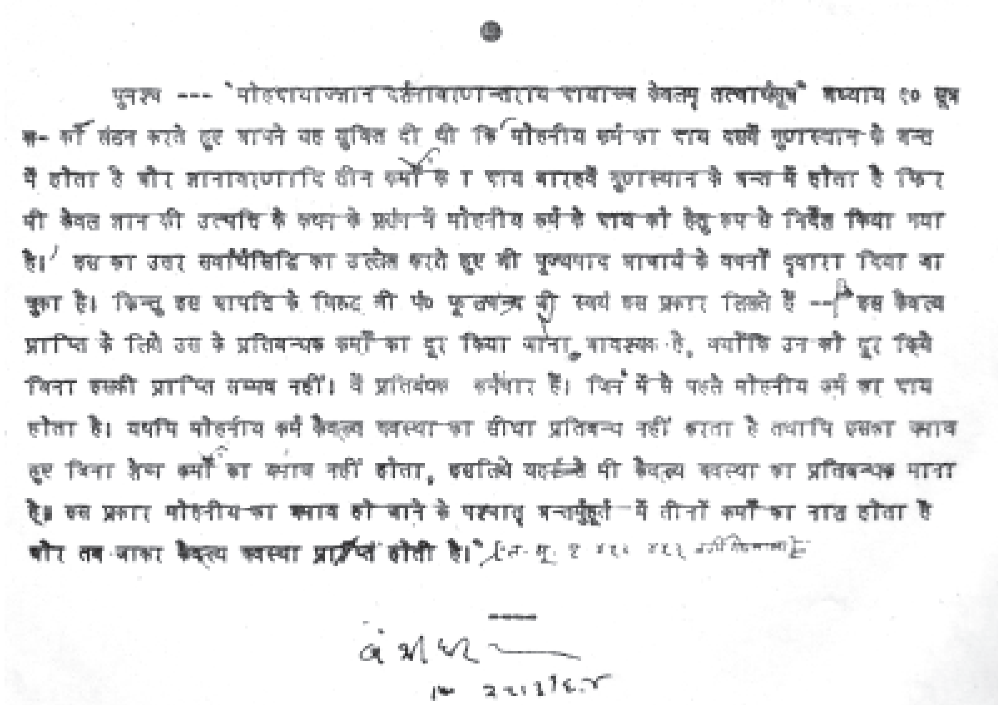

पुनश्च --- 'मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्' तत्त्वार्थसूत्र अध्याय १० सूत्र १- का खंडन करते हुए आपने यह सूचित की थी कि मोहनीय कर्म का क्षय दसवें गुणस्थान के अन्त में होता है और ज्ञानावरणादि तीन कर्मों का क्षय बारहवें गुणस्थान के अन्त में होता है फिर भी केवलज्ञान की उत्पत्ति के कथन के प्रसंग में मोहनीय कर्म के क्षय को हेतुरूप से निर्देश किया गया है। इस का उत्तर सर्वार्थसिद्धि का उल्लेख करते हुए श्री पूज्यपाद आचार्य के वचनों द्वारा दिया जा चुका है। किन्तु इस आपत्ति के विरुद्ध भी पं० फूलचन्द्र जी स्वयं इस प्रकार लिखते हैं -- "इस कैवल्य प्राप्ति के लिये उस के प्रतिबन्धक कर्मों का दूर किया जाना आवश्यक है, क्योंकि उन को दूर किये बिना इसकी प्राप्ति सम्भव नहीं। वे प्रतिबंधक कर्म चार हैं। जिन में से पहले मोहनीय कर्म का क्षय होता है। यद्यपि मोहनीय कर्म कैवल्य अवस्था का सीधा प्रतिबन्ध नहीं करता है तथापि इसका अभाव हुए बिना शेष कर्मों का अभाव नहीं होता, इसलिये यहां इसे भी कैवल्य अवस्था का प्रतिबन्धक माना है। इस प्रकार मोहनीय का अभाव हो जाने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त में तीनों कर्मों का नाश होता है और तब जाकर कैवल्य अवस्था प्राप्त होती है।" (त० सू० पृ० ४६० ४६१ [illegible])

तृतीय दौर के पत्रकों पर प्रथम पक्ष के अन्यतम प्रतिनिधि पण्डित बंशीधरजी व्याकरणाचार्य बीना के हस्ताक्षर

इस प्रकार विचार करने पर प्रतीत होता है कि जिनागम में सर्वत्र भावचारित्र या निश्चय चारित्र की ही प्रधानता है, क्योंकि वह मोक्ष का साक्षात् हेतु है। उसके होने पर साथ में गुणस्थान परिपाटी के अनुसार व्यवहारचारित्र होता ही है। उसका निषेध नहीं है। परन्तु ज्ञानी की सदा स्वरूप-रमण की दृष्टि बनी रहती है, इसलिये मोक्षमार्ग में उसकी मुख्यता है। मोक्षमार्ग का तात्पर्य ही यह है। इस प्रतिशंका में प्रसंगवश इसी प्रकार की सम्बन्धित और भी अनेक चर्चाएँ आई हैं परन्तु उन सबका समाधान उक्त कथन से हो जाता है, अतः यहाँ और विस्तार नहीं किया गया है।

१/११/६३

१-११-६३

तीनों दौरों के पत्रकों पर मध्यस्थ के साथ द्वितीय पक्ष के तीनों प्रतिनिधियों के हस्ताक्षर

विषय-सूची

6. शंका-समाधान 3-175

प्रथम दौर 1

शंका 6 और उसका समाधान 1

द्वितीय दौर

प्रतिशंका 2 2-9

प्रतिशंका 2 का समाधान 9-14

तृतीय दौर

प्रतिशंका 3 15-76

1. कुछ विचारणीय बातें 74

प्रतिशंका 3 का समाधान 77-174

1. व्यवहारनय और उसका विषय 79
2. सम्यक् निश्चयनय और उसका विषय 83
3. निश्चयनय में व्यवहाररूप अर्थ की सापेक्षता का निषेध 86
4. द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप कारणता का निषेध 90
5. बाह्य सामग्री दूसरे के कार्य का यथार्थ कारण नहीं 96
6. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के उल्लेख का तात्पर्य 99
7. उपचार पद के अर्थ का स्पष्टीकरण 109
8. बन्ध-मोक्षव्यवस्था 103
9. जगत का प्रत्येक परिणमन क्रमानुपाती है 107
10. परिणामाभिमुख्य पद का अर्थ 116
11. उपादान का सुनिश्चित लक्षण यथार्थ है 121
12. परमाणु में योग्यता आदि का विचार 124
13. असद्भूतव्यवहारनय का स्पष्टीकरण 143
14. कुछ विचारणीय बातों का क्रमश: खुलासा 169

7. शंका-समाधान 175-206

प्रथम दौर 175-177

शंका 7 और उसका समाधान 175-177

द्वितीय दौर 178-182

प्रतिशंका 2 178-179

प्रतिशंका 2 का समाधान 179-182

तृतीय दौर 182-

प्रतिशंका 3 182-192

प्रतिशंका 3 का समाधान 193-204

8. शंका-समाधान 205-245

प्रथम दौर 205-207

शंका 8 का समाधान 205-207

द्वितीय दौर 207-215

प्रतिशंका 2 207-210

प्रतिशंका 2 का समाधान 210-215

तृतीय दौर 216-245

प्रतिशंका 3 216-226

प्रतिशंका 3 का समाधान 226-245

1. केवली जिनके साथ दिव्यध्वनि का सम्बन्ध 226
2. दिव्यध्वनि की प्रामाणिकता 231
3. आगमप्रमाणों का स्पष्टीकरण 239

9. शंका-समाधान 246-327

प्रथम दौर 246-249

शंका 9 और उसका समाधान 246-249

द्वितीय दौर 249-268

प्रतिशंका 2 249
1. ज्ञान सफल कब होता है 255
2. संवर और कर्म निर्जरा किस तरह 256
3. अनन्त बार मुनिव्रत धार 257
4. विकार का कारण 258

प्रतिशंका 2 का समाधान 260-268

तृतीय दौर 268-327

प्रतिशंका 3 268-285

प्रतिशंका 3 का समाधान 286-
1. उपसंहार 286
2. प्रतिशंका 3 का समाधान 287
3. असद्भूतव्यवहारनय के विषय में स्पष्टीकरण 294
4. कर्मबन्ध से छूटने का उपाय 298
5. निश्चय से जीव रागादि से बद्ध है इस तथ्य का समर्थन 303
6. उपचार तथा आरोप पद की सार्थकता 305

10. शंका-समाधान 328-360

प्रथम दौर 328-330

शंका 10 और उसका समाधान 328-330

द्वितीय दौर 330-334

प्रतिशंका 2 330-332

प्रतिशंका 2 का समाधान 332-334

तृतीय दौर 335-

प्रतिशंका 3 335-344

प्रतिशंका 3 का समाधान 345-360

11. शंका-समाधान 361-389

प्रथम दौर 361

शंका 11 और उसका समाधान 361

द्वितीय दौर 362-366

प्रतिशंका 2 362-365

प्रतिशंका 2 का समाधान 365-366

तृतीय दौर 367-389

प्रतिशंका 3 367-372

प्रतिशंका 3 का समाधान 372-389
1. पर्याय दो ही प्रकार की होती है 374
2. पर्यायों की द्विविधता का विशेष खुलासा 379
3. उपाधि के सम्बन्ध में विशेष खुलासा 382
4. गाथाओं का अर्थ परिवर्तन 383

12. शंका-समाधान 390

प्रथम दौर 390

शंका 12 और उसका समाधान 390

13. शंका-समाधान 391-445

प्रथम दौर 391–392

शंका 13 और उसका समाधान 391–392

द्वितीय दौर 392–400

प्रतिशंका 2 392

1. निर्जरा का कारण 399
2. उभयभ्रष्टता 400
3. निष्कर्ष 400

प्रतिशंका 2 का समाधान 401–403

तृतीय दौर 403–445

प्रतिशंका 3 403–416

प्रतिशंका 3 का समाधान 417–445

1. सारांश 417
2. प्रतिशंका 3 के आधार से विचार 417
3. अन्य कतिपय प्रश्नों का समाधान 437

14. शंका-समाधान 446-455

प्रथम दौर 446–447

शंका 14 और उसका समाधान 446–447

द्वितीय दौर 447–449

प्रतिशंका 2 447

प्रतिशंका 2 का समाधान 448

तृतीय दौर 450–455

प्रतिशंका 3 450–452

प्रतिशंका 3 का समाधान 452–455

15. शंका-समाधान 456-473

प्रथम दौर 456

शंका 15 और उसका समाधान 456

द्वितीय दौर 457–460

प्रतिशंका 2 457–459

प्रतिशंका 2 का समाधान 459–460

तृतीय दौर 460–673

प्रतिशंका 3 460–465

प्रतिशंका 3 का समाधान 465–473

16. शंका-समाधान 474-610

प्रथम दौर 474–480

शंका 15 और उसका समाधान 474–480

द्वितीय दौर 480–503

प्रतिशंका 2 480–490

प्रतिशंका 2 का समाधान 491–503

तृतीय दौर 504–

प्रतिशंका 3 504–533

1. निश्चय एकान्त कथन 531

प्रतिशंका 3 का समाधान 534

1. प्रथम द्वितीय दौर का उपसंहार 534
2. दो प्रश्न और उनका समाधान 534
3. निश्चय और व्यवहारनय के विषय में स्पष्ट खुलासा 539
4. समयसार गाथा 143 का यथार्थ तात्पर्य 546
5. विविध विषयों का स्पष्टीकरण 547
6. बन्ध और मोक्ष का नयदृष्टि से विचार 556
7. एकान्त का आग्रह ठीक नहीं 558

8. जीव परतन्त्र क्यों है इसका सांगोपांग विचार 559
9. समय आर्हतप्रवचन प्रमाण है 565
10. व्यवहार व्रत, तप आदि मोक्ष के साक्षात् साधक नहीं 569
11. प्रकृत में ज्ञान पद का अर्थ 573
12. सम्यक्त्व प्राप्ति के उत्कृष्ट काल का विचार 574
13. प्रतिनियत कार्य प्रतिनियत काल में ही होता है 582
14. प्रकृत में विविक्षित आलम्बन के ग्रहण त्याग का तात्पर्य 583
15. व्यवहारधर्म का खुलासा 584
16. साध्य-साधन विचार 588
17. उपयोग विचार 593
18. समयसार गाथा 272 का आशय 601

17. शंका-समाधान 611-667

प्रथम दौर 611-613

शंका 17 और उसका समाधान 611-613

द्वितीय दौर 613-622

प्रतिशंका 2 613-618
प्रतिशंका 2 का समाधान२ 618-622

तृतीय दौर 622-667

प्रतिशंका ३ 622-643
प्रतिशंका 3 का समाधान 644
1. पुन: स्पष्टीकरण 644
2. व्यवहारपद के विषय में विशेष स्पष्टीकरण 644
3. 'मुख्याभावे' इत्यादि वचन का स्पष्टीकरण 648
4. 'बंधे च मोक्खहेऊ' गाथा का अर्थ 649
5. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के एक प्रमाण का स्पष्टीकरण 652
अपर पक्ष से निवेदन 666

प्रथम दौर

: 1 :

शंका-6

उपादान की कार्यरूप परिणति में निमित्तकारण सहायक होता है या नहीं ?

समाधान-1

प्रकृत में निमित्तकारण और सहायक इन दोनों का अभिप्राय एक ही है। इसलिये उपादान की कार्यरूप परिणति में अन्य द्रव्य की विविक्षित पर्याय सहायक होती है, यह कहने पर उसका तात्पर्य यही है कि उपदान की कार्यरूप परिणति में अन्य द्रव्य की विविक्षित पर्याय निमित्तकारण होती है; परन्तु यहाँ पर यह स्पष्टरूप से समझना चाहिये कि उपादान की कार्यरूप परिणति में अन्य द्रव्य की विविक्षित पर्याय को आगम में जो निमित्तकारणरूप से स्वीकार किया है, सो यह वहाँ पर व्यवहारनय की अपेक्षा ही स्वीकार किया है, निश्चयनय की (पर्यायार्थिक निश्चयनय की) अपेक्षा नहीं। इसी अभिप्राय को विस्तार के साथ विवेचन द्वारा स्पष्ट करते हुए अन्त में निष्कर्षरूप में श्री तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में इन शब्दों में स्वीकार किया है—

कथमपि तन्निश्चयनयात् सर्वस्य विस्त्रसोत्पादव्यध्रौव्यव्यवस्थितेः। व्यवहारनयादेव उत्पादादीनां सहेतुकत्वप्रतीतेः। *– अ. ५, सू. १६, पृ. ४१०*

किसी भी प्रकार सब द्रव्यों के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की व्यवस्था निश्चयनय से विस्त्रसा है, व्यवहारनय से ही उत्पादादिक सहेतुक प्रतीत होते हैं।

यहाँ पर '**सहेतुकत्वप्रतीतेः**' पद में '**प्रतीतेः**' पद ध्यान देने योग्य है।

●

द्वितीय दौर

: २ :

शंका-6

उपादान की कार्यरूप परिणति में निमित्तकारण सहायक होता है या नहीं ?

प्रतिशंका-2

विचारणीय तत्त्व यह है कि क्या उपादान की कार्यरूप परिणति में निमित्तकारण सहायक होता है या नहीं अर्थात् कार्य की उत्पत्ति सामग्री से अर्थात् उपादान और निमित्तकारणों से होती है या केवल उपादानकारण से। कहीं-कहीं जैनाचार्यों ने अन्तरंग कारण और बहिरंग कारण का भी उल्लेख किया है। अन्तरंग कारण से तात्पर्य कार्ययोग्य द्रव्यशक्ति से है तथा बहिरंग से मतलब बलाधान में सहायक से है। इन्हीं को उपदान और निमित्तकारण भी कहते हैं। जब-जब शक्ति व्यक्तिरूप में आती है, तब-तब निमित्त की सहायता से ही आती है। जैसे जब-जब हम देखते हैं अर्थात् हमारी लब्धिरूप चेतना उपयोगरूप होती है, तब यह कार्य नेत्रेन्द्रिय की सहायता से ही होता है। यदि इसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या करें तो कहना होगा कि किसी भी वस्तु को देखते समय उस वस्तु का उल्टा फोटू हमारी पुतली (रेक्टीना) पर पड़ता है और इसमें जो हलन-चलन होता है, उससे हमारी सुसुप्त चेतना जागती है और उस पदार्थ को जानती है। यहाँ दो प्रकार के परिणमन होते हैं- एक भौतिक और दूसरे मानसिक (आत्मिक)। पुतली पर अक्स उसका भौतिक परिणमन है और उसके बाद का अनुकम्पन और जानना मानसिक (आत्मिक) परिणमन है। यदि भौतिक परिणमन न होवे तो तीन काल में भी आत्मिक परिणमन अर्थात् चेतना लब्धि से उपयोगरूप में नहीं आवेगी। इस ही को बलाधान में निमित्त कहते हैं। महर्षि पूज्यपाद ने उपयोग का लक्षण निम्न प्रकार लिखा है—

उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः। *- सर्वा. सि. 2-8*

महर्षि अकलंक ने भी लिखा है -

बाह्याभ्यन्तरहेतुद्वयसन्निधाने यथासम्भवमुपलब्धचैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोग:।

- तत्त्वार्थरा. 2-8

इसी प्रकार क्रिया का लक्षण करते हुए महर्षि अकलंक ने लिखा है -

उभयनिमित्तापेक्ष: पर्यायविशेषो द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतु: क्रिया।

अभ्यन्तरं क्रियापरिणामशक्तियुक्तं द्रव्यं। बाह्यं च नोदनामिघाताद्यपेक्ष्योत्पद्यमान: पर्यायविशेष: द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतु: क्रियेत्युपदिश्यते। *- तत्त्वा. वा. 5-7*

इस विवेचन से स्पष्ट है कि पदार्थ में क्रिया की शक्ति है और वह रहेगी; किन्तु पदार्थ क्रिया तब ही करेगा, जब बहिरंग कारण मिलेंगे, जब तक बहिरंग कारण नहीं मिलेंगे, वह क्रिया नहीं कर सकता अर्थात् उसकी शक्ति व्यक्तिरूप में नहीं आ सकती, जिसके द्वारा शक्ति व्यक्तिरूप में आती है या जिसके बिना शक्ति व्यक्तिरूप में नहीं आ सकती, वही बहिरंग या निमित्तकारण है या वही बलाधान निमित्त है।

यह ठीक है कि लोहा ही घड़ी के पुर्जों की शक्ल धारण करता है। यह भी ठीक है कि लकड़ी या लोहा ही विविध प्रकार के फर्नीचर के रूप में परिणत होते हैं। यह भी ठीक है कि मेटीरियल से ही मकान का निर्माण होता है। यह भी ठीक है कि विविध प्रकार के रसायनिक पदार्थों में ही विभिन्न प्रकार के अणुबम आदि बनते हैं, किन्तु ये वस्तुएँ जिन मनुष्यों या कलाकारों के द्वारा विभिन्न रूप को धारण करतीं हैं, यदि वे न होवें तो वैसा नहीं हो सकता, मनुष्य या कलाकार ही उनको उन-उन रूपों में लाने में सहायक होते हैं, यही उनका बलाधान निमित्तत्व है। कलाकर का अर्थ ही यह है कि वह उसको सुन्दर रूप देवे। यह कार्य मनुष्य से और केवल मनुष्य से ही सम्भव है। जहाँ तक मेटीरियल की बात है, वह तो सुन्दर और भद्दी दोनों ही प्रकार की वस्तुओं में समान रूप से रहता है। घड़ियों के मूल्यों में तरतमता लोहे की बात नहीं है; किन्तु मुख्यता निर्माता कलाकार की है।

प्राचीन नाट्य साहित्यकार भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में रस का लक्षण करते हुए लिखा है कि - **विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्ति:।**

इससे स्पष्ट है कि मानव हृदय में विभिन्न प्रकार के रसों की उत्पत्ति ही बहिरंग साधनों की देन है। यदि कभी सिनेमा देखने वाले से पूछा जाय कि खेल कैसा था, तब वह जो उत्तर देगा वह विचारणीय है। इसी प्रकार आत्मीय जन की मृतकाया का देखना, बाजारों में घूमते

हुए सुन्दर-सुन्दर पदार्थों को देखना आदि व्यावहारिक बातें हैं, जिन पर गम्भीर विचार की जरूरत है। क्या सिनेमा में जो कुछ भी सुनने या देखने में आता है, वह व्यर्थ है या वही देखनेवाले के हृदयों को प्रफुल्लित करने में सहायक होता है ? आत्मीय जन की मृतकाया को देखना व्यर्थ है और जो शोक हुआ है या शोक के उत्पन्न करने में वह सहायक है ? यही बात बाजारू चीजों के सम्बन्ध में चिन्तनीय है।

जैन तत्त्वज्ञान का विद्यार्थी यदि ज्ञान और ज्ञेय के रूप पर तथा विषय और कषाय के रूप पर विचार करेगा, तब उसको मालूम होगा कि यह परपदार्थ ही केवल जो ज्ञेय न रह कर विषय बन जाता है और आत्मा में कषाय उत्पन्न करा देता है, ऐसी स्थिति में भी आश्चर्य है कि हमारे आध्यात्मिक माहपुरुषों को ध्यान इसकी तरफ नहीं जा रहा है।

इस विषय में महर्षि समन्तभद्र, अकलंक और विद्यानन्द की मान्यताएँ मनन करने योग्य हैं—

दोषावरणयोर्हानिर्निश्शेषास्त्यतिशायनात्।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥ 4 ॥

इस कारिका के द्वारा स्वामी समन्तभद्र कहते हैं कि किसी आत्मा में दोष (अज्ञानादि विभावभाव) तथा आवरण (पुद्गलकर्म) दोनों का अभाव (ध्वंस) रूप से पाया जाता है, क्योंकि उनके हानिक्रम में अतिशय (उत्तरोत्तर अधिक) हानि पाई जाती है। जो गुणस्थानों के क्रम से मिलती है। जैसे सुवर्ण में अग्नि के तीव्र पाक द्वारा कीट व कालिमा अधिक-अधिक जलती है तो वह सोना पूर्ण शुद्ध हो जाता है।

कारिका की व्याख्या लिखते हुए शंका की गई है कि आवरण से भिन्न दोष और क्या वस्तु है ? दोष को आवरण ही मान लिया जावे तो क्या हानि है ? तब अकलंकदेव उसका समाधान करते हुए लिखते हैं—

वचनसामर्थ्यादज्ञानादिर्दोषः स्वपरपरिणामहेतुः।

- अष्टशती, पृ. 51

कारिका में आचार्य ने '**दोषावरणयोः**' ऐसा द्विवचन दिया है, जिससे आवरण पौद्गलिक कर्म से भिन्न ही अज्ञानादि विभाव दोष पद वाच्य हैं, जो कि स्वजीव के परिणाम तथा पर-पुद्गल के परिणाम रूप दोनों परिणाम से जन्य है।

इसी भाव को विशद करते हुए श्री विद्यानन्द स्वामी लिखते हैं—

न हि दोष एव आवरणमिति प्रतिपादने कारिकायां दोषावरणयोरिति द्विवचनं समर्थम्। ततस्तत् सामर्थ्यात् आवरणात्पौद्गलिकज्ञानावरणादिकर्मणो भिन्न एवाज्ञानदिदोषोऽभ्यूहते, तद्धेतुः पुनरावरणं कर्म जीवस्य पूर्वस्वपरिणामश्च।

अर्थ – दोष ही आवरण है, ऐसा अभिप्राय कारिका में दिये हुए विवेचन से नहीं हो सकता। इसलिये आवरण पुद्गल कर्म से भिन्न जीवगत कुज्ञानादि विभाव ही दोष मानना चाहिये तथा उसके हेतु आवरण कर्म जो पर कारण जीव से भिन्न है तथा जीव का पूर्व परिणाम भी जनक है, यह स्वकारण है।

उपरोक्त भाष्य में अकलंकदेव ने स्वयं निमित्तकारण ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्म को निमित्त कारण पर शब्द से तथा स्व शब्द से पूर्व पर्यायविशिष्ट जीव को उपादानकारण रूप से उल्लेख किया है। यही अभिप्राय विद्यानन्द ने स्वरचित अष्टसहस्री में '**तद्धेतुः पुनरावरणं कर्म पूर्वस्वपरिणामश्च**' इस वाक्य से विशद किया है।

महर्षि कुन्दकुन्द ने भी इसी बात का समर्थन समयसार में किया है-

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥ 80 ॥

अर्थात् पुद्गल, जीव के परिणाम के निमित्त से कर्मरूप में परिणमित्त होते हैं तथा जीव भी पुद्गल कर्म के निमित्त से परिणमन करता है।

इसी बात का विस्तृत विवेचन स्वयं महर्षि कुन्दकुन्द ने ही आगे चलकर किया है-

सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठि त्ति णायव्वो ॥ 161 ॥
णाणस्य पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी हो दि णायव्वो ॥ 162 ॥
चारित्तपडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो ॥ 163 ॥

अर्थात् सम्यक्त्व को रोकने वाला मिथ्यात्व है—ऐसा जिनवरों ने कहा है, उसके उदय से जीव मिथ्यादृष्टि होता है—ऐसा जानना चाहिये। ज्ञान को रोकने वाला अज्ञान है—

ऐसा जिनवरों ने कहा है, उसके उदय से जीव अज्ञानी होता है—ऐसा जानना चाहिये। चारित्र को रोकने वाला कषाय है—ऐसा जिनवर ने कहा है उसके उदय से जीव अचारित्रवान् होता है—ऐसा जानना चाहिये।

मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय ये तीनों पौद्गलिक हैं। यदि इनको पौद्गलिक न माना जायेगा तो फिर कार्य-कारणभाव नहीं बन सकेगा। आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने भी इसी बात को स्वीकार किया है—

सम्यक्त्वस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबन्धकं किल मिथ्यात्वम्; तत्तु स्वयं कर्मैव। तदुदयादेव ज्ञानस्य मिथ्यादृष्टित्वम्। ज्ञानस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबन्धकमज्ञानत्वम्, तत्तु स्वयं कर्मैव। तदुदयादेव ज्ञानस्याज्ञानत्वम्। चारित्रस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबन्धकः किल कषायः, तत्तु स्वयं कर्मैव। तदुदयादेव ज्ञानस्याचारित्रत्वम्। अतः स्वयं मोक्ष-हेतुतिरोधायिभावत्वात्कर्म प्रतिषिद्धम्। *- समयसार टीका, पृ. 246*

इसी प्रकार समयसार की बन्ध अधिकार की गाथा 278-279 भी इस विषय में मनन करने योग्य है—

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
रंगिज्जादि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं॥ 278॥
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
राइज्जादि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं॥ 279॥

अर्थात् जैसे स्फटिकमणि शुद्ध होने से रागादिक रूप से (ललाई आदि रूप से) अपने आप परिणमता नहीं है; परन्तु अन्य रक्तादि द्रव्यों से वह रक्त (लाल) आदि किया जाता है। इसी प्रकार ज्ञानी अर्थात् आत्मा शुद्ध होने से रागादि रूप अपने आप परिणमता नहीं है; परन्तु अन्य रागादि दोषों से वह रागी आदि किया जाता है॥ 278-279॥

यदि अभ्युपगम सिद्धान्त से श्री पण्डित फूलचन्द्रजी की बात को मान लिया जाय कि कार्य केवल उपादान से ही होता है और निमित्त केवल उपस्थित ही रहता है, तब भी विचारणीय यह हो जाता है कि वह निमित्त कैसे बन गया। उपस्थित तो उस समय उसी तरह अन्य पदार्थ भी हैं और फिर यही निमित्त हैं और वे पदार्थ निमित्त नहीं हैं, इसमें क्या नियामक है।

1. श्री पण्डित फूलचन्द्रजी कुछ भी कहें; किन्तु उनको उसके समर्थन में प्रमाण तो

उपस्थित करना ही होगा। यदि उनकी ऐसी ही मान्यता है कि निमित्तकारण केवल उपस्थित ही रहता है और उपादान को उपादेयरूप होने में या शक्ति को व्यक्तिरूप होने में कुछ व्यापार नहीं करता, ऐसी स्थिति में उनकी मान्यता एक विवादस्थ बात हो जाती है और इसके समर्थन में प्रमाण उपस्थित करना ही चाहिये।

2. दूसरी बात यह है कि ऐसी परिस्थिति में अर्थात् उपादान और निमित्त की परमपराओं को परस्पर में असम्बन्धित मानने पर बन्धादि तत्त्वों की व्यवस्था भी नहीं बन सकेगी। आचार्य श्रीअमृतचन्द्रसूरि ने भी ऐसा ही स्वीकार किया है—

तथान्तर्दृष्ट्या ज्ञायको भावो जीवो, जीवस्य विकारहेतुरजीवः।

- समयसार गा. 13

स्वयमेकस्य पुण्य-पापास्त्रव-संवर-निर्जरा-बन्ध-मोक्षानुपपत्तेः।

- समयसार गा. 13

अर्थात् भीतरी दृष्टि से देखा जाये तो ज्ञायकभाव जीवतत्त्व है, जीव के विकार का हेतु अजीव पुद्गल है क्योंकि अकेले जीवतत्त्व के पुण्य-पापादि, आस्त्रवरूपता, संवरपना, निर्जरा और बन्ध व मोक्ष नहीं हो सकते।

3. तीसरी बात यह है कि असंख्यात प्रदेशी जीव में शरीरपरिणाम के छोटे-बड़े होने से आकार में छोटा-बड़ापन माना है। यदि जीव को शरीर के प्रभाव से रहित माना जायेगा, तब यह बात भी नहीं बन सकेगी और इसप्रकार आगम का विरोध होगा।

4. चौथी बात यह है कि इस प्रकार कर्मफल की व्यवस्था भी समाप्त हो जायेगी। यदि विभाव से कर्मबन्ध और कर्मोदय से विभाव नहीं मानेंगे तो कर्मफल की व्यवस्था नहीं बन सकेगी। जिस विभाव को हम कर्म कहते हैं, वह तो निमित्तमात्र है तथा कर्मबन्ध केवल उसके उपादान कर्मपरमाणुओं का कार्य है। इसी प्रकार जब कर्मोदय होता है, वह भी निमित्त है और उस समय आत्मा में होनेवाला विभाव केवल उपादान का ही कार्य है, तब यह कैसे कहा जा सकता है कि अमुक-अमुक कर्म का अमुक फल है? यह तो परस्पर सम्बन्ध व्यवस्था में ही सम्भव हो सकता है।

5. पाँचवी बात यह है कि केवल उपस्थित रहनेवाले निमित्तकारण तथा व्यापार करने वाले निमित्तकारण में परस्पर में विरोध भी है। निमित्तकारण यदि व्यापार करता है या प्रेरक है, तब तो केवल उपस्थितिमूलक नहीं माना जा सकता। यदि निमित्तकारण उपस्थितिमूलक

है तो उसको प्रेरक या व्यापारमूलक नहीं माना जा सकता है। जहाँ तक निमित्तकारण की प्रेरकता का सम्बन्ध है, उसकी विस्तार से चर्चा की जा चुकी है और उसके समर्थन में अनेक महहिर्षयों के प्रमाण दिये जा चुके हैं। ऐसी स्थिति में केवल उपस्थितिमूलक कारण मानने की कल्पना को भी स्थान नहीं रह जाता। श्री पण्डित फूलचन्द्रजी ने भी अपनी जैन तत्त्वमीमांसा में इसको स्वीकार किया है। इससे विदित होता है कि लोक में धर्मादि द्रव्यों से विलक्षण प्रेरक निमित्तकारण भी होते हैं। सर्वार्थसिद्धि का वह उल्लेख इस प्रकार है –

तुल्यबलत्वात्तयोर्गति स्थितिप्रतिबन्ध इति चेत्? न, अप्रेरकत्वात्।

– तत्त्वा., अ. 5, सू. 17

द्रव्य वचन पौद्‌गलिक क्यों है, इसका समाधान करते हुए बतलाया गया है कि 'भाववचन रूप सामर्थ्य से युक्त क्रियावान् आत्मा के द्वारा प्रेर्यमाण पुद्‌गलद्रव्य वचनरूप से परिणमन करते हैं, इसलिये द्रव्य वचन पौद्‌गलिक है।' इस उल्लेख में स्पष्ट रूप से प्रेरक निमित्तता को स्वीकार किया गया है। इससे भी प्रेरक निमित्त की सिद्धि होती है। उल्लेख इसप्रकार है –

तत्सामर्थ्योपेतेन क्रियावतात्मना प्रेर्यमाणाः पुद्‌गला वाक्त्वेन विपरिणमन्त इति द्रव्यवागपि पौद्‌गलिकी। *– त. सू., अ. 5, सू. 19*

तत्त्वार्थवार्तिक में भी यह विवेचन इसी प्रकार किया है। इसके लिये देखो अध्याय 5, सू. 17, और 19।

इसी प्रकार पंचास्तिकाय की (गा. 85 व 88 आचार्य जयसेनीया टीका) संस्कृत टीका और बृहद्‌द्रव्यसंग्रह में (गा. 17 व 22 सं. टी.) भी ऐसे उल्लेख मिलते हैं, जो उक्त कथन की पुष्टि के लिये पर्याप्त हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अन्तरंग कारण या उपादानकारण या द्रव्य की शक्ति कार्य रूप या व्यक्ति रूप निमित्त कारण के व्यापार के बिना नहीं हो सकती और इसीलिये आचार्यों ने निमित्तकारण को बलाधान निमित्त स्वीकार किया है। ऐसी स्थिति में यह कहना कि कार्य की उत्पत्ति केवल उपादानकरण से ही होती है या निमित्तकारण केवल उपस्थित ही रहता है, शास्त्रीय मान्यता के विपरीत है। इसी चर्चा को यदि दार्शनिक रूप में लिखा जाये तो यों लिखना चाहिये—

1. केवल उपादानकारण से ही कार्य होता है, यह मिथ्या है; क्योंकि इसके समर्थन में शास्त्रीय प्रमाणों का अभाव है।

2. कार्य के समय केवल उपस्थिति मात्र से कोई निमित्तकारण हो सकता है, यह मिथ्या है; क्योंकि इसके समर्थन में शास्त्रीय प्रमाणों का अभाव है।

3. कार्य की उत्पत्ति सामग्री से ही अर्थात् उपादान और निमित्तकारण से ही होती है, यह समीचीन है, क्योंकि शास्त्र इसका समर्थन करते हैं।

●

मूलशंका-6

उपादान की कार्यरूप परिणति में निमित्तकारण सहायक हैं या नहीं ?

प्रतिशंका-2 का समाधान

समाधान - इस शंका के उत्तर में यह बतलाया गया था कि जब उपादान कार्यरूप से परिणत होता है, तब उसके अनुकूल विवक्षित द्रव्य की पर्याय निमित्त होती है। इसकी पुष्टि में श्लोकवार्तिक का पुष्ट प्रमाण उपस्थित किया गया था, जिसमें बतलाया गया था कि 'निश्चयनय से देखा जाये तो प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति विस्रसा होती है और व्यवहारनय से विचार करने पर उत्पादादिक सहेतुक प्रतीत होते हैं।'

किन्तु इस आगम प्रमाण को ध्यान में न रखकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि कार्य की उत्पत्ति निमित्त से होती है। उपादान जो कार्य का मूल हेतु (मुख्य हेतु-निश्चय हेतु) है, उसको गौण कर दिया गया है।

आगम में प्रमाण दृष्टि से विचार करते हुए सर्वत्र कार्य की उत्पत्ति उभय निमित्त से बतलाई गई है। आगम में ऐसा एक भी प्रमाण उपलब्ध नहीं होता, जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि उपादान (निश्चय) हेतु के अभाव में केवल निमित्त के बल से कार्य की उत्पत्ति हो जाती है। पता नहीं, जब जैसे निमित्त मिलते हैं, तब वैसा कार्य होता है, ऐसे कथन में निमित्त की प्रधानता से कार्य की उत्पत्ति मानने पर उपादान का क्या अर्थ किया जाता है? कार्य उत्पत्ति में केवल इतना मान लेना ही पर्याप्त नहीं है कि गेहूँ से ही गेहूँ के अंकुर आदि की उत्पत्ति होती है। प्रश्न यह है कि अपनी विवक्षित उपादान की भूमिका को प्राप्त हुए बिना

केवल निमित्त के बल से ही कोई गेहूँ अंकुरादि रूप से परिणत हो जाता है या जब गेहूँ अपनी विवक्षित उपादान की भूमिका को प्राप्त होता है, तभी वह गेहूँ के अंकुरादि रूप से परिणत होता है ? आचार्यों ने तो यह स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि जब कोई भी द्रव्य अपने विवक्षित कार्य के सन्मुख होता है, तभी अनुकूल अन्य द्रव्यों की पर्यायें उसकी उत्पत्ति में निमित्तमात्र होती हैं। निष्क्रिय द्रव्यों में क्रिया के बिना और सक्रिय द्रव्यों में क्रिया के माध्यम बिना जो द्रव्य अपनी पर्यायों द्वारा निमित्त होती है, वहाँ तो इस तथ्य को स्वीकार ही किया गया है, किन्तु जो द्रव्य अपनी पर्यायों द्वारा क्रिया के माध्यम से निमित्त होतीं हैं, वहाँ भी इस तथ्य को स्वीकार किया गया है। श्री राजवार्तिकजी में कहा है -

यथा मृदः स्वयमन्तर्घटभवनपरिणामाभिमुख्ये दण्ड-चक्र-पौरुषेयप्रयत्नादि निमित्तमात्रं भवति। यतः सत्स्वपि दण्डादिनिमित्तेषु शर्करादिप्रचितो मृत्पिण्डः स्वयमन्तर्घट -भवनपरिणामनिरुत्सुत्वान्न घटीभवति, अतो मृत्पिण्ड एव बाह्यदण्डादिनिमित्तसापेक्ष अभ्यन्तरपरिणामसान्निध्याद् घटो न दण्डादयः इति दण्डादीनां निमित्तमात्रत्वम्।

अर्थ - जैसे मिट्टी के स्वयं भीतर से घट के होनेरूप परिणाम के सन्मुख होने पर दण्ड, चक्र और पौरुषेय प्रयत्न आदि निमित्तमात्र होते हैं; क्योंकि दण्डादि निमित्तों के रहने पर भी बालुका बहुल मिट्टी का पिण्ड स्वयं भीतर से घट के होने रूप परिणाम (पर्याय) से निरुत्सुक होने के (घट पर्यायरूप परिणमन के सन्मुख न होने के) कारण घट नहीं होता, अतः बाह्य में दण्डादि निमित्त सापेक्ष मिट्टी का पिण्ड ही भीतर घट होनेरूप परिणाम का सान्निध्य होने से घट होता है, दण्डादि घट नहीं होते, इसलिए दण्डादि निमित्तमात्र हैं।

यह प्रेरक निमित्तों की निमित्तता का स्पष्टीकरण है। इस उल्लेख में बहुत ही समर्थ शब्दों द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि न तो सब प्रकार की मिट्टी ही घट का उपादान है और न ही पिण्ड, स्थान, कोश और कुसुलादि पर्यायों की अवस्थारूप से परिणत मिट्टी घट का उपादान है; किन्तु जो मिट्टी अनन्तर समय में घट पर्यायरूप से परिणत होनेवाली है, मात्र वही मिट्टी घट पर्याय का उपादान है। यही तथ्य राजवार्तिक के उक्त उल्लेख द्वारा स्पष्ट किया गया है। मिट्टी की ऐसी अवस्था के प्राप्त होने पर वह नियम से घट का उपादान बनती है। यही कारण है कि तत्त्वार्थवार्तिक के उक्त उल्लेख द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जब मिट्टी घट पर्याय के परिणमन के सन्मुख होती है, तब दण्ड, चक्र और पौरुषेय प्रयत्न की निमित्तता स्वीकृत की गई है, अन्य काल में वे निमित्त नहीं स्वीकार किए गये हैं।

इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए प्रमेयकमलमार्तण्ड में लिखा है –

किं ग्राहकप्रमाणाभावाच्छक्तेरभावः अतीन्द्रियत्वाद्वा ? तन्नाद्यः पक्षोऽयुक्तः, कार्यान्यथानुपपत्तिजनितानुमानस्यैव तद्ग्राहकत्वात्। ननु सामग्रयधीनोत्पत्तिकत्वात् कार्याणां कथं तदन्यथानुपपत्तिः यतोऽनुमानात्तत्सिद्धिः स्यात् इत्यसमचीनम्, यतो नास्माभिः सामग्रयाः कार्यकारित्वं प्रतिषिध्यते। किन्तु प्रतिनियताया सामग्रयाः प्रतिनियतकार्यकारित्वं अतीन्द्रिय-शक्तिसद्भावमन्तरेणासम्भाव्यमित्यसावप्यभ्युपगन्तव्या। *– प्रमेयकमलमार्तण्ड २, २, पृ. ११७*

अर्थ – क्या ग्राहक प्रमाण का अभाव होने से शक्ति का अभाव है या अतीन्द्रियपना होने से ? इसमें से प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि कार्यों की उत्पत्ति अन्यथा नहीं हो सकती, इस हेतु से जनित अनुमान ही उसका (कार्यकारिणी शक्ति का) ग्राहक है।

शंका – कार्यों की उत्पत्ति सामग्री के अधीन होने से शक्ति के अभाव में जो कार्यों की उत्पत्ति का अभाव स्वीकार किया है, वह कैसे बन सकता है, जिससे कि अनुमान द्वारा शक्ति की सिद्धि की जा सके ?

समाधान – यह ठीक नहीं है; क्योंकि हम सामग्री के कार्यकारीपने का निषेध नहीं करते; किन्तु अतीन्द्रिय शक्ति के सद्भाव के बिना प्रतिनियत सामग्री से प्रतिनियत कार्य को उत्पत्ति असम्भव है, इसलिए अतीन्द्रिय शक्ति को भी स्वीकार करना चाहिए।

यहाँ प्रश्न होता है कि वह अतीन्द्रिय शक्ति क्या है, जिसके सद्भाव में ही कार्यों की उत्पत्ति होती है ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए वहाँ पुनः लिखा है –

यच्चोच्यते-शक्तिर्नित्याऽनित्या वेत्यादि। तत्र किमयं द्रव्यशक्तौ पर्याये वा प्रश्नः स्यात्, भावानां द्रव्य-पर्यायशक्तयात्मकत्वात्। तत्र द्रव्यशक्तिर्नित्यैव, अनादिनिधनस्वभात्वाद् -द्रव्यस्य। पर्यायशक्तिस्त्वनित्यैव, सादिपर्यवसानत्वात् पर्यायाणाम्। न च शक्तेर्नित्यत्वे सहकारिकारनपेक्षयैवार्थसय कार्यकारित्वानुषंगः, द्रव्यशक्तः केवलायाः कार्यकारित्वानभ्युप -गमात्। पर्यायशक्तिसमन्विता हि द्रव्यशक्तिः कार्यकारिणी, विशिष्टपर्यायपरिणतस्यैव द्रव्यस्य कार्यकारित्वप्रतीतेः। तत्परिणतिश्चास्य सहकारिकारणापेक्षया इति पर्यायशक्तेस्तदैव भावान्न सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसंगः सहकारिकारणापेक्षावैयर्थ्यं वा। *– प्रमेयकमलमार्तण्ड २, १ पृ. १८७*

और जो यह कहा जाता है कि शक्ति नित्य है कि अनित्य है इत्यादि। सो वहाँ क्या यह द्रव्यशक्ति या पर्यायशक्ति के विषय में प्रश्न है; क्योंकि पदार्थ द्रव्य-पर्याय शक्तिस्वरूप होते हैं। उनमें से द्रव्यशक्ति नित्य ही है; क्योंकि द्रव्य अनादिनिधन स्वभाववाला होता है।

पर्यायशक्ति तो अनित्य ही है; क्योंकि पर्याय सादिसान्त होती है। यदि कहा जाए कि शक्ति नित्य है, इसलिए सहाकारी कारणों की अपेक्षा किये बिना ही कार्यकारीपने का प्रसंग आ जाएगा, सो ऐसा नहीं है; क्योंकि केवल द्रव्यशक्ति का कार्यकारीपना नहीं स्वीकार किया गया है। किन्तु पर्याय शक्ति से युक्त द्रव्य शक्ति कार्य करने में समर्थ होती है; क्योंकि विशिष्ट पर्याय से परिणत द्रव्य का ही कार्यकारीपना प्रतीत होता है और उसकी परिणति सहकारी कारणसापेक्ष होती है; क्योंकि पर्याय शक्ति तभी होती है, इसलिए न तो सर्वदा कार्य की उत्पत्ति का प्रसंग आता है और न ही सहकारी कारणों की अपेक्षा की व्यर्थता प्राप्त होती है।

इस प्रकार यह ज्ञात हो जाने पर कि सहकारी कारणसापेक्ष विशिष्ट पर्यायशक्ति से युक्त द्रव्यशक्ति ही कार्यकारिणी मानी गई है, केवल उदासीन या प्रेरक निमित्तों के बल पर मात्र द्रव्यशक्ति से ही द्रव्य में कार्य नहीं होता। यदि द्रव्य शक्ति को बाह्य निमित्तों के बल से कार्यकारी मान लिया जाए तो चने से भी गेहूँ की उत्पत्ति होने लगे; क्योंकि गेहूँ स्वयं द्रव्य नहीं है; किन्तु वह पुद्गलद्रव्य की एक पर्याय है, अतएव गेहूँ पर्याय विशिष्ट पुद्गल द्रव्य बाह्य कारणसापेक्ष गेहूँ अंकुरादि कार्यरूप से परिणत होता है। यदि विशिष्ट पर्यायरहित द्रव्यसामान्य से निमित्तों के बल पर गेहूँ अंकुरादि पर्यायों की उत्पत्ति मान ली जाए तो जो पुद्गल चनारूप है, वे पुद्गल होने से उनसे भी गेहूँ रूप पर्याय की उत्पत्ति होने लगेगी, इसलिए जो विविध लौकिक प्रमाण देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है कि जब जैसे प्रबल निमित्त मिलते हैं, तब द्रव्य को निमित्तों के अनुसार परिणमना ही पड़ता है, सो यह कथन आगमानुकूल न होने से संगत नहीं प्रतीत होता। वास्तव में मुख्य विवाद उपादान का है, उसका जो समीचीन अर्थ शास्त्रों में दिया है, उस पर सम्यक् दृष्टिपात न करने से ही यह विवाद बना हुआ है। यदि आगमानुसार विशिष्ट पर्यायशक्तियुक्त द्रव्यशक्ति को अन्तरंग कारण अर्थात् उपादानकारण स्वीकार कर कार्य-कारण की व्यवस्था की जाए तो कोई विवाद ही न रह जाए; क्योंकि यथार्थ में जब-जब विवक्षित कार्य के योग्य विशिष्ट पर्यायशक्ति से युक्त द्रव्यशक्ति होती है, तब-तब उस कार्य के अनुकूल निमित्त मिलते ही है। कार्य में उपादानकारण मुख्य है, इसलिए उपादानकारण का स्वकाल प्राप्त होने पर कार्य के अनुकूल निमित्त मिलते ही हैं—ऐसा नियम है और ऐसा है नहीं कि निश्चय उपादान हो और निमित्त न मिलें। इसी बात को असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा यों कहा जाता है कि जब जैसे निमित्त मिलते हैं, तब वैसा कार्य होता है।

निमित्तकारण को कार्यकारी कहना असद्भूत व्यवहारनय का विषय है, यह हमारा ही कहना हो—ऐसा नहीं है; किन्तु आगम में इसे इसी रूप में स्वीकार किया गया है। यथा—

अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मणां आदिशब्देनौदारिक-बैक्रियिकाहारकशरीरत्रयाहारदिषट्पर्याप्तियोग्यपुद्गलपिण्डरूपनोकर्मणां तथैवो-पचरितासद्भूतव्यवहारेण बहिर्विषयघटपटादीनां च कर्त्ता भवति।

- बृहदद्रव्यसंग्रह, गाथा 8 टीका

अर्थ - यह जीव अनुपचरित असद्भूत व्यवहार की अपेक्षा ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों का, आदि शब्द से औदारिक, वैक्रियिक और आहारकरूप तीन शरीर और आहार आदि छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गल पिण्डरूप नौ कर्मों का तथा उपचरित सद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा बाह्य विषय घट-पट आदि का कर्त्ता होता है।

कार्य-कारण परम्परा की यह सम्यक् व्यवस्था होने पर भी यह संसारी प्राणी अपने विकल्पों के अनुसार नाना प्रकार की तर्कणाएँ किया करता है और उन्हें ही प्रमाण मान कर कार्यकारण परम्परा की व्यवस्था बनाता है। प्रकृत में यह तो कहा नहीं जाता कि प्रत्येक द्रव्य की जो विभाव पर्याय होती है, वह निमित्त के अभाव में होती है। जब प्रत्येक द्रव्य सद्रूप है और उसको उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वभाववाला माना गया है, ऐसी अवस्था में उसके उत्पाद-व्यय को अन्य द्रव्य के कर्तृत्व पर छोड़ दिया जाए और यह मान लिया जाए कि अन्य द्रव्य जब चाहे उसमें किसी भी कार्य को उत्पन्न कर सकता है, उसके स्वतन्त्र सत् स्वभाव पर आघात है। ऐसी स्थिति में हमें तो यह कार्य-कारण की विडम्बना पूर्ण व्यवस्था आगम के प्रतिकूल ही प्रतीत होती है। आचार्यों ने प्रत्येक कार्य में अपने उपादान के साथ मात्र आभ्यन्तर व्याप्ति और निमित्तों के साथ बाह्य व्याप्ति स्पष्ट शब्दों में स्वीकार की है। इसलिए पूर्वोक्त प्रमाणों के आधार से ऐसा ही निर्णय करना चाहिए कि द्रव्य अन्वयी होने से जो नित्य है, उसी प्रकार व्यतिरेक स्वभाव वाला होने से प्रत्येक समय में यह उत्पाद-व्यय स्वभाववाला भी है। अतएव प्रत्येक समय में वह कार्य का उपादान भी है और कार्य भी है। पिछली पर्याय की अपेक्षा जहाँ वह कार्य है, अगली पर्याय के लिए वहाँ वह उपादान भी है और इस प्रकार सन्तानक्रम की अपेक्षा प्रत्येक समय में उसे (कार्य-कारण की अपेक्षा) उभयरूप प्राप्त होने के कारण निमित्त भी प्रत्येक समय में उसी क्रम से मिलते रहते हैं। कहीं उनकी प्राप्ति में पुरुष का योग और रागभाव मिमित्त पड़ता है और कहीं वे विस्रसा मिलते हैं। पर उस समय में

नियत उपादान के अनुसार होनेवाले नियत कार्यों के नियत निमित्त मिलते अवश्य हैं। इसलिए विविध लौकिक उदाहरणों को उपस्थित कर जो अपनी चित्तवृत्ति के अनुसार कार्य-कारण परम्परा को बिठाने का प्रयत्न किया जाता है, वह युक्ति-युक्त नहीं है और न आगमसंगत है। इसी तथ्य को लक्ष्य में रखकर आचार्य अमृतचन्द्र, समयसार कलश में कहते हैं -

आसंसारत एव धावति परं कुर्वेऽहमित्युच्चकैः
दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहंकाररूपं तमः।
तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलयं यद्येकवारं ब्रजे-
त्तत्किंज्ञानघनस्य बन्धनमहो भूयो भवेदात्मनः ॥55॥

अर्थ - इस जगत में मोही जीवों का 'परद्रव्य को मैं करता हूँ' ऐसा परद्रव्य के कर्तृत्व के महा अहंकाररूप दुर्निवार अज्ञान अन्धकार अनादि संसार से चला आ रहा है। आचार्य कहते हैं कि अहो! परमार्थनय का अर्थात् शुद्ध द्रव्यार्थिक अभेदनय का ग्रहण करने से यदि वह (मोह) एक बार भी नाश को प्राप्त हो तो ज्ञानघन आत्मा को पुनः बन्धन कैसे हो सकता है।

- पृ. 156, कलश 55

आगम के अनुसार कार्य-कारण परम्परा की यह निश्चित स्थिति है। स्वामी समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा में और भट्टाकालंकदेव तथा आचार्य विद्यानन्दी ने उसकी अष्टशती तथा अष्टसहस्री टीका में 'दोषावरणयोर्हानिः' इत्यादि कथन उक्त तथ्य को ही ध्यान में रखकर किया है; क्योंकि उक्त आचार्यों ने 'उपादानस्य उत्तरीभवनात्' इत्यादि कथन उक्त कार्यकारण परम्परा को ध्यान में रखकर ही किया है। भगवान् कुन्दकुन्द ने भी 'जीवपरिणामहेदुं' इत्यादि कथन द्वारा इसी कार्य-कारण परम्परा को सूचित किया है। 'असंख्यातप्रदेशी जीव को जब जैसा शरीर मिलता है, तब उसे उस रूप परिणमना पड़ता है' ऐसा जो कथन किया जाता है, सो यहाँ भी उपादान और निमित्तों की उक्त प्रकार से कार्य-कारण परम्पराओं को स्वीकार कर लेने पर ही सम्यक् व्यवस्था बनती है; क्योंकि उपादानरूप जीव में स्वयं परिणमन की योग्यता है; अतः शरीर को निमित्त कर स्वयं संकोच-विस्ताररूप परिणमता है। इस प्रकार उपादान (निश्चय) और निमित्तों (व्यवहार) का सुमेल होने से लोक में जब जितने कार्य होते हैं, उनकी पूर्वोक्त प्रकार से सम्यक् व्यवस्था बन जाती है। भट्टाकलंकदेव ने अपनी अष्टशती में 'तादृशी जायते बुद्धिः' इत्यादि कारिका ली है, सो यह भी इसी अभिप्राय से ली है। पूरी कारिका इस प्रकार है -

तादृशी जायते बुद्धिः व्यवसायश्च तादृशः।
सहायाः तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता।।

जैसी होनहार होती है, उसके अनुसार बुद्धि हो जाती है, पुरुषार्थ भी वैसा होने लगता है और सहायक कारण (निमित्तकारण) भी वैसे मिल जाते हैं।

●

तृतीय दौर

शंका-6

प्रश्न यह था - 'उपादान की कार्यरूप परिणति में निमित्तकारण सहायक होता है या नहीं?'

प्रतिशंका-3

इस प्रश्न का उत्तर लिखते हुए आपने निष्कर्ष के रूप में अपना मत प्रथम उत्तरपत्रक में निम्न प्रकार प्रगट किया था—

'उपादान की कार्यरूप परिणति में अन्य द्रव्य की विवक्षित पर्याय निमित्तकारण होती है, परन्तु यहाँ पर यह स्पष्टरूप से समझना चाहिये कि उपादान की कार्यरूप परिणति में अन्य द्रव्य की विवक्षित पर्याय की आगम में जो निमित्तकरण रूप से स्वीकार किया है, सो वह वहाँ पर व्यवहार नय की अपेक्षा ही स्वीकार किया है, निश्चयनय की (पर्यायार्थिक निश्चयनय की) अपेक्षा नहीं।'

आपने जिस प्रक्रिया के साथ यह उत्तर लिखा था, वह प्रक्रिया भी यद्यपि चर्चनीय थी; परन्तु हमने अपनी प्रतिशंका 2 में आवश्यक न होने के कारण उस प्रक्रिया पर विचार न करते हुए प्रकृत विषय को लेकर केवल प्रकृतोपयोगी रूप से ही आप के उत्तर पर विचार किया था तथा अब यह प्रतिशंका भी उसी दृष्टिकोण को अपना कर लिखी जा रही है।

आपने-अपने प्रथम उत्तर में यह तो स्वीकार कर लिया है कि विवक्षित वस्तु से विवक्षित कार्य की उत्पत्ति में विवक्षित अन्य वस्तु अपनी विवक्षित पर्याय के साथ निमित्तकारण होती है; परन्तु इसके स्पष्टीकरण के रूप में आगे आपने जो यह लिखा है कि—'इस प्रकार

की निमित्तकारणता व्यवहारनय से ही स्वीकार की जा सकती है, निश्चयनय से नहीं' - सो इस लेख से सहमति प्रगट करते हुए भी आप से हमारा कहना है कि व्यवहारनय से निमित्तकारणता का जो आप '**कल्पनारोपित निमित्तकारणता**' अर्थ कर लेते हैं, यह अर्थ हमारे और आपके मध्य विवाद का विषय बन जाता है।

आगे आपने अपने मत की पुष्टि में तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक का निम्नलिखित कथन भी उद्धृत किया है - ''**कथमपि तन्निश्चयनयात् सर्वस्य विस्रसोत्पादव्ययध्रौव्यव्यवस्थितेः। व्यवहारनयादेवोत्पादादीनां सहेतुकत्वप्रतीतेः।**'' *- अ. 5, सू. 16, पृ. 410*

इसका जो अर्थ आपने किया है, वह निम्न प्रकार है -

'किसी प्रकार सब द्रव्यों के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की व्यवस्था निश्चयनय से विस्रसा है, व्यवहारनय से ही उत्पादिक सहेतुक प्रतीत होते हैं।'

यद्यपि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के उक्त कथन से भी हम पूर्णतः सहमत हैं; परन्तु इसमें 'निश्चय' शब्द का अर्थ 'वास्तविक' और 'व्यवहार' शब्द का अर्थ उपचार (कल्पनारोपित) करके आप जब उक्त कथन के आधार पर निमित्त की अकिंचित्कर सिद्ध करना चाहते हैं तो आपके इस अभिप्राय से हम कदापि सहमत नहीं हो सकते हैं। कारण कि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के उक्त कथन में भी पठित 'व्यवहार' शब्द का अर्थ 'कल्पनारोपित' करना निराधार है। आगे इसी विषय पर विचार किया जा रहा है।

व्यवहार और निश्चय ये दोनों ही पृथक्-पृथक् स्थल पर प्रकरणानुसार परस्पर सापेक्ष विविध अर्थ युगलों के बोधक शब्द हैं, इसलिए भिन्न-भिन्न स्थल पर प्रयुक्त किये गये इन शब्दों से प्रकरण के अनुसार परस्पर सापेक्ष भिन्न-भिन्न अर्थ युगल ही ग्रहण करना चाहिए। व्यवहार और निश्चय इन दोनों शब्दों के विविध अर्थयुगलों और प्रत्येक अर्थयुगल की परस्पर सापेक्षता के विषय में हमारा दृष्टिकोण आपको प्रश्न नं. 17 की प्रतिशंका 3 में देखने को मिलेगा। अतः कृपया वहाँ देखने का कष्ट कीजियेगा।

व्यवहारनय और निश्चयनय के विषय में हमारा कहना यह है कि ये दोनों ही नय वचनात्मक और ज्ञानात्मक दोनों प्रकार के हुआ करते हैं। उनमें से निश्चयरूप अर्थसापेक्ष व्यवहाररूप अर्थ का प्रतिपादक वचन व्यवहारनय और व्यवहाररूप अर्थ सापेक्ष निश्चयरूप अर्थ का प्रतिपादक वचन निश्चयनय कहलाने योग्य है। इसी प्रकार निश्चयरूप अर्थ सापेक्ष

व्यवहाररूप अर्थ का ज्ञापक ज्ञान व्यवहारनय और व्यवहाररूप अर्थसापेक्ष निश्चयरूप अर्थ का ज्ञापक ज्ञान निश्चयनय कहलाने योग्य है। पहले दोनों वचन नय के और दूसरे दोनों ज्ञाननय के भेद जानना चाहिए।

व्यवहाररूप अर्थ और निश्चयरूप अर्थ ये दोनों ही अपने आप में पूर्ण अर्थ नहीं हैं। यदि इन दोनों में से प्रत्येक को पूर्ण अर्थ मान लिया जायेगा तो इन दोनों की परस्पर सापेक्ष ही भंग हो जायेगी, इसलिए ये दोनों ही पदार्थ के अंश ही सिद्ध होते हैं, क्योंकि नय विकलादेश होने से वस्तु के एक अंश को ही ग्रहण करता है। इस प्रकार इनको विषय करने वाले वचनों और ज्ञानों को भी क्रमशः परार्थप्रमाणरूप श्रुत और स्वार्थप्रमाणरूप श्रुत के भेदरूप से जैन आगम में स्वीकार किया गया है अर्थात् जैनागम में पदार्थ के परस्पर सापेक्ष अंशभूत व्यवहार और निश्चय के प्रतिपादक वचनों को परार्थ प्रमाणरूप श्रुत में और पदार्थ के परस्पर सापेक्ष अंशभूत व्यवहार और निश्चय के ज्ञापक ज्ञानों को स्वार्थ प्रमाणरूप श्रुत में अन्तर्भूत किया गया है।

स्वार्थ प्रमाणरूप श्रुत में भी मति आदि स्वार्थप्रमाणों की तरह अंशांशिभाव नहीं बन सकता है, क्योंकि स्वार्थप्रमाण हमेशा ज्ञानरूप ही होता है और ज्ञान अखण्ड आत्मा का अखण्ड गुण होने के कारण अपने आप में अखण्ड ही सिद्ध होता है, इसलिए मति आदि स्वार्थ प्रमाणों की तरह स्वार्थ प्रमाणरूप श्रुतज्ञान में भी यद्यपि व्यवहारनय और निश्चयनय का भेद सम्भव नहीं दिखाई देता है परन्तु जब स्वार्थ प्रमाणरूप श्रुतज्ञान की उत्पत्ति शब्द श्रवणपूर्वक ही हुआ करती है और शब्द व्यवहार तथा निश्चयरूप पदार्थ धर्मों का परस्पर सापेक्षता के साथ पृथक्-पृथक् प्रतिपादन करने में समर्थ हैं तो निश्चयरूप अर्थसापेक्ष व्यवहाररूप अर्थ के प्रतिपादक शब्द का श्रवण करने के अनन्तर श्रोता को जो पदार्थ का ज्ञान होता है, उसे व्यवहारनय तथा व्यवहाररूप अर्थसापेक्ष निश्चयरूप अर्थ के प्रतिपादक शब्द का श्रवण करने के अनन्तर श्रोता को जो पदार्थ ज्ञान होता है, उसे निश्चयनय कहना असंगत नहीं है।

इतने विवेचन के साथ हमारा कहना यह है कि प्रकृत में कार्यकारणभाव का प्रकरण होने के कारण निश्चय शब्द का अर्थ उपादानोपादेय भाव और व्यवहार शब्द का अर्थ निमित्तनैमित्तिक भाव ही ग्रहण करना चाहिए। इसप्रकार निश्चय और व्यवहार शब्दों का प्रकरण के लिये उपयोगी अपना-अपना अर्थ निश्चित हो जाने पर तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के

अ. 5 सू. 16 पृ. 410 के उल्लिखित कथन का जो अनुभव, तर्क और आगम सम्मत अर्थ हो सकता है, वह निम्न प्रकार है—

सब द्रव्यों के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की व्यवस्था निश्चयनय से अर्थात् उपादानोपादेयभाव की अपेक्षा विस्रसा (स्वभाव) है, व्यवहारनय से ही अर्थात् निमित्तनैमित्तिक भाव की अपेक्षा ही वे उत्पादादिक सहेतुक प्रतीत होते हैं।

यहाँ पर 'उत्पादादिक निश्चयनय के अर्थात् उपादानोपादेयभाव की अपेक्षा विस्रसा है' इस वाक्य का आशय यह है कि जो उत्पादादिक वस्तु के स्वपरप्रत्यय परिणमन होने के कारण अपनी उत्पत्ति में अन्य अनुकूल वस्तु के सहयोग की स्वभावत: अपेक्षा रखते हैं, वे इस तरह उस अन्य वस्तु के सहयोग से उत्पन्न होते हुए भी, वस्तु के अपने स्वभाव के दायरे में ही हुआ करते हैं, कारण कि एक वस्तु के गुण-धर्म अपने-अपने वस्तुत्व की रक्षा के लिये प्रत्येक वस्तु में पाये जानेवाले स्वभाव की प्रतिनियतता के कारण कभी भी अन्य वस्तु में प्रविष्ट नहीं होते हैं। यही कारण है कि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में आचार्य विद्यानन्दि ने सहकारी कारण की कारणता को कालप्रत्यासत्ति के रूप में ही प्रतिपादित किया है, द्रव्य प्रत्यासत्ति के रूप में नहीं अर्थात् जिस प्रकार उपादानभूत वस्तु के गुण-धर्मों का कार्य में स्वभावत: प्रवेश होने के कारण उस उपादानभूत वस्तु में कार्य के प्रति द्रव्य-प्रत्यासत्तिरूप कारणता का सद्भाव स्वीकार किया गया है, उस प्रकार निमित्तभूत वस्तु के गुण-धर्मों का कार्य में प्रवेश सर्वदा असम्भव रहने के कारण उस निमित्तभूत वस्तु में कार्य के प्रति द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप कारणता को अस्वीकृत करते हुए आचार्य विद्यानन्दि ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में कालसापेक्ष अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर कालप्रत्यासत्तिरूप कारणता को ही स्वीकार किया है।

तात्पर्य यह है कि कार्यकारणभाव के प्रकरण में दो प्रकार की कारणता का विवेचन आगम ग्रन्थों में पाया जाता है - एक द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप और दूसरी कालप्रत्यासत्तिरूप। इनमें से जो वस्तु स्वयं कार्यरूप परिणत होती है अर्थात् कार्य के प्रति उपादानकारण होती है, उसमें कार्य के प्रति द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप कारणता पायी जाती है, क्योंकि वहाँ पर कारणरूप धर्म और कार्यरूप धर्म दोनों ही एक द्रव्य के आश्रय से रहनेवाले धर्म हैं तथा जो वस्तु स्वयं कार्यरूप परिणत न होकर कार्यरूप परिणत होनेवाली अन्य वस्तु को कार्यरूप से परिणत होने में सहायक होती है अर्थात् निमित्तकारण होती है, उसमें कार्य के प्रति द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप कारणता का तो अभाव ही पाया जाता है, क्योंकि वहाँ पर कार्यरूप धर्म तो अन्य वस्तु में रहा

करता है और कारणरूप धर्म अन्य वस्तु में ही रहा करता है। तब ऐसी स्थिति में उन कार्यभूत और कारणभूत दोनों वस्तुओं में कालप्रत्यासत्ति के आधार पर ही कार्यकारणभाव स्वीाकर किया जा सकता है, द्रव्यप्रत्यासत्ति के रूप में नहीं। अर्थात् 'जिसके अनन्तर जो अवश्य ही उत्पन्न होता है और जिसके अभाव में जो अवश्य ही उत्पन्न नहीं होता है' ऐसा कालप्रत्यासत्तिरूप कारणता का लक्षण ही वहाँ घटित होता है। तात्पर्य यह है कि द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप कारणता उत्पादानभूत वस्तु में ही पायी जाती है, अत: वहाँ पर कार्य के साथ कार्यकारणभाव उपादानोपादेयभाव के रूप में पाया जाता है और कालप्रत्यासत्तिरूप कारणता निमित्तभूत वस्तु में रहा करती है, अत: वहाँ पर कार्य के साथ कार्यकारणभाव निमित्तनैमित्तिकभाव के रूप में ही पाया जाता है। इन दोनों प्रकार की कारणताओं अथवा दोनों प्रकार के कार्यकारणभावों का कथन जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं – आचार्य विद्यानन्दि ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में निम्न वचनों द्वारा किया है—

क्रमभुवोः पर्याययोरेकद्रव्यप्रत्यासत्तेरूपादानोपादेयत्व वचनात्। न चैवंविधः कार्य -कारणभावः सिद्धांतविरुद्धः। सहकारिकारणेन कार्यस्य कथं तत् स्यात्, एकद्रव्यप्रत्यासत्तेर -भावादिति चेत्, कालप्रत्यासत्तिविशेषात्तत्सिद्धिः। यदनन्तरं हि यदवश्यं भवति तत्तस्य सहकारिकारणमितरत्कार्यमिति प्रतीतम्। *– तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृष्ठ 151*

अर्थ – 'क्रम से उत्पन्न होनेवाली पर्यायों में एक द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप उपादानोपादेयभाव का कथन किया गया है और इस प्रकार का उपादानोपादेयभाव, यह कार्यकारणभाव सिद्धान्त विरुद्ध नहीं है। परन्तु यह कार्यकारणभाव सहाकारीकारण के साथ किस प्रकार हो सकता है ? क्योंकि यहाँ पर एकद्रव्यप्रत्यासत्ति का अभाव ही पाया जाता है, यदि यह प्रश्न किया जाय तो कहना चाहिए कि सहकारीकारण के साथ एक द्रव्य प्रत्यासत्तिरूप कारणता नहीं स्वीकार की गयी है, किन्तु कालप्रत्यासत्तिविशेषरूप कारणता ही वहाँ पर स्वीकार की गयी है, जिसका आशय यह है कि जिसके अनन्तर जो अवश्य ही होता है, वह उसका कारण होता है और उससे अन्य कार्य होता है'– क्योंकि ऐसा ही प्रतीत होता है।

इस प्रकार कार्य में चूँकि निमित्तभूत वस्तु के गुण-धर्मों का समावेश कभी न होकर उपादानभूत वस्तु के गुण-धर्मों का ही नियम से समावेश होता है, अत: उत्पादादिक निश्चयनय से अर्थात् उपादानोपादेयभाव की अपेक्षा विस्रसा है – ऐसा कहना उपयुक्त ही है।

इसी प्रकार व्यवहारनय से ही उत्पादादिक सहेतुक प्रतीत होते हैं, इसका आशय भी

उक्त कथन के अनुसार निमित्तभूत वस्तु के गुण-धर्मों का कार्य में समावेश असंभव रहते हुए भी कार्य की उत्पत्ति निमित्त के अभाव में नहीं हो सकने के कारण यही होता है कि निमित्तनैमित्तिक भाव की अपेक्षा उत्पादादिक सहेतुक अर्थात् निमित्तकारण ही सहायता से ही हुआ करते हैं। आगम में कार्यकारणभाव को लेकर जितना वचन व्यवहार पाया जाता है अथवा लोक में जितना वचनव्यवहार किया जाता है, वह सब उपर्युक्त विवेचन के अनुसार ही किया गया है या किया जाता है। जैसे शिष्य पढ़ता है अथवा मिट्टी घटरूप परिणत होती है, इन प्रयोगों में एकद्रव्यप्रत्यासत्तिरूप उपादानोपादेयभाव पर लक्ष्य रखा गया है या रखा जाता है तथा अध्यापक पढ़ाता है अथवा कुम्हार मिट्टी को घटरूप परिणमाता है, इन प्रयोगों में कालप्रत्यासत्ति रूप निमित्तनैमित्तिकभाव पर लक्ष्य रखा गया है या रखा जाता है।

इस तरह तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के अ. 5, सूत्र 16, पृ. 410 में निबद्ध उक्त कथन का जो अर्थ हमने ऊपर किया है, उसमें और आपके द्वारा किये गये उल्लिखित अर्थ में अन्तर स्पष्ट दिखाई देने लगता है अर्थात् जहाँ आपके द्वारा प्रमाण का अभाव रहते हुए भी व्यवहार का अर्थ उपचार करके निमित्तनैमित्तिक भाव को कल्पनारोपित सिद्ध करने की चेष्टा की गयी है, वहाँ हमारे द्वारा व्यवहार का अर्थ प्रमाणसिद्ध निमित्त-नैमित्तिकभाव ही माना गया है, जिसे ऐसी हालत में वास्तविक मानने के सिवाय कोई चारा ही नहीं रह जाता है, क्योंकि तब निमित्तनैमित्तिकभाव को कल्पनारोपित सिद्ध करने के लिये व्यवहार शब्द के अलावा कोई दूसरा शब्द ही उक्त कथन में नहीं मिलता है। इस प्रकार आचार्य विद्यानन्दि की दृष्टि में निमित्तनैमित्तिकभाव कल्पनारोपित सिद्ध न होकर वास्तविक ही सिद्ध होता है। यही कारण है कि आचार्य विद्यानन्दि ने निमित्तकारण की वास्तविकता को तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के पृष्ठ 151 पर ऊपर निर्दिष्ट कथन में आगे स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित कर दिया है। वे शब्द निम्न प्रकार हैं—

तदेवं व्यवहारनयसमाश्रयणे कार्यकारणभावो द्विष्टः संबंधः संयोगसमवायादिवत् प्रतीतिसिद्धवात् पारमार्थिक एव न पुनः कल्पनारोपितः, सर्वथाप्यनवद्यत्वात्॥

अर्थ - इस प्रकार व्यवहारनय का आश्रय लेने से कार्यकारणभाव दो पदार्थों में विद्यमान कालप्रत्यासत्तिरूप ही होता है और वह संयोग-समवाय आदि की तरह प्रतीतिसिद्ध होने से पारमार्थिक ही होता है, कल्पनारोपित नहीं, कारण कि यह सर्वथा निर्दोष है।

अब आपको ही विचार करना है कि जब आचार्य विद्यानन्दी स्वयं '**तदेवं व्यवहारनय**

समाश्रयणे' इत्यादि वचन द्वारा दो पदार्थों में विद्यमान कालप्रत्यासत्तिरूप निमित्तनैमित्तिकभाव को वास्तविक स्वीकार कर रहे हैं तो इसको ध्यान में रखकर ही उनके पूर्वोक्त दूसरे वचन **'कथमपि तन्निश्चयनयात्'** इत्यादि का अर्थ करना होगा। ऐसी हालत में उक्त निमित्तनैमित्तिकभाव को कल्पनारोपित बतलानेवाला आपके द्वारा किया गया अर्थ संगत न होकर उसे वास्तविक कहनेवाला हमारे द्वारा किया गया अर्थ ही संगत होगा।

आचार्य विद्यानन्दी ने पृष्ठ 151 पर ही तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में आगे 14, 15 और 16 संख्याक वार्तिकों का व्याख्यान करते हुए निम्नलिखित कथन किया है—

ततः सकलकर्मविप्रमोक्षो मुक्तिरुरीकर्त्तव्या। सा वन्धपूर्विकेति तात्त्विको बन्धोऽभ्यु-पगन्तव्यः, तयोः ससाधनत्वात् अन्यथा कादाचित्कत्वायोगात्। साधनं तात्त्विकमभ्युपगंतव्यं न पुनरविद्याविलासमात्रमिति।

अर्थ – इसलिए सम्पूर्ण कर्मों के विनाश को ही मुक्ति मानना चाहिए। वह मुक्ति चूँकि बन्धपूर्वक ही सिद्ध होती है, अतः बन्ध को भी तात्त्विक मानना चाहिए, क्योंकि मुक्ति और बन्ध दोनों को ही साधनों से निष्पन्न हुआ स्वीकार किया गया है और क्योंकि मुक्ति तथा बन्ध दोनों का साधनों से निष्पन्न होना न मानने पर उनमें अनादिनिधनता का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा, अतः साधनों को भी तात्त्विक ही मानना चाहिए, केवल अविद्या का विलासमात्र अर्थात् कल्पनारोपितमात्र नहीं समझना चाहिए।

इस कथन के द्वारा आचार्य विद्यानन्दी ने बन्ध, मुक्ति और इन दोनों के बाह्य-साधनों की वास्तविकता का ही प्रतिपादन किया है। इनके अतिरिक्त हमने अपनी प्रथम प्रतिशंका में अन्य बहुत से आगम प्रमाणों एवं युक्तियों द्वारा निमित्तकारण की वास्तविकता का समर्थन तथा कल्पनारोपितता का खण्डन विस्तार से किया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि निमित्तकारण भी उपादानकारण की तरह वास्तविक ही होता है, कल्पनारोपित नहीं। लेकिन यह बात दूसरी है कि उपादानकारण की वास्तविकता की उपादानरूप से अर्थात् एकद्रव्य प्रत्यासत्ति के रूप में आश्रयरूप से निमित्तकारण की वास्तविकता को निमित्तरूप से अर्थात् पूर्वोक्त कालप्रत्यासत्ति विशेष के रूप में सहायकरूप से ही जानना चाहिए।

इतना स्पष्टीकरण करने के अनन्तर अब हम आपके दूसरे उत्तर पत्र पर विचार करना प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम यह बतला देना चाहते हैं कि आपने अपने द्वितीय उत्तर पत्र में प्रथम उत्तर पत्र के आधार पर कार्यकारणभाव के सिलसिले में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया

है कि 'जब उपादान कार्यरूप परिणत होता है, तब उसके अनुकूल विवक्षित अन्य द्रव्य की पर्याय निमित्त होती है।' और इसका आप यह आशय ले लेना चाहते हैं कि उपादान की कार्यरूप परिणति तो केवल उसके अपने ही बल पर हो जाया करती है, वहाँ पर निमित्त का रंचमात्र भी सहयोग अपेक्षित नहीं रहा करता है, लेकिन चूँकि निमित्त वहाँ पर हाजिर रहा करता है, अत: ऐसा बोल दिया जाता है कि उपादान की कार्यरूप परिणति में अन्य द्रव्य की विवक्षित पर्याय निमित्तकारण होती है। आगे आपने अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिये तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के ऊपर उद्धृत प्रमाण, जिसे आपने प्रथम उत्तर पत्र में निर्दिष्ट किया था, का उल्लेख करते हुए अपने उक्त सिद्धान्त की पुष्टि में पुष्ट प्रमाण प्रतिपादित किया है, लेकिन जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं कि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के '**कथमपि तन्निश्चयनयात्**' इत्यादि कथन में प्रकरण के अनुसार कौन से नयार्थ विवक्षित हैं – इस पर आपका ध्यान नहीं पहुँच सकने के कारण ही आप उससे अपना मनचाहा (उपादान की कार्यपरिणति में निमित्त को अकिञ्चित्कर बतलाने वाला) अभिप्राय पुष्ट करने का असफल दावा कर रहे हैं। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के उक्त कथन में कौन से नयार्थ गृहीत किये गये हैं? इसका जो स्पष्टीकरण हम ऊपर कर चुके है, हमारा आपसे अनुरोध है कि उस पर आप तत्त्वाजिज्ञासु बनकर गहरी दृष्टि डालने का प्रयत्न कीजिये? इस तरह हमें विश्वास है कि उक्त कथन से आप न केवल अपनी गलत अभिप्राय पुष्टि का दावा छोड़ देंगे बल्कि कार्यकारणभाव के सिलसिले में निमित्तनैमित्तिकभाव को अवास्तविक, उपचरित या कल्पनारोपित मानने के अपने सिद्धान्त को परिवर्तित करने के लिये भी सहर्ष तैयार हो जावेंगे।

आपने अपने प्रथम उत्तर पत्र में श्लोकवार्तिक के उक्त वचन से अपना मनचााहा उक्त गलत अभिप्राय पुष्ट करने में एक बात और लिखी है कि यहाँ पर 'सहेतुकत्वप्रतीते:' पद में 'प्रतीते:' पद ध्यान देने योग्य है।

मालूम पड़ता है कि आप प्रतीति शब्द के प्रयोग के आधार पर ही तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के उक्त वचन से यह निष्कर्ष निकाल लेना चाहते हैं कि उत्पादादिक अपनी उत्पत्ति में सहेतुक अर्थात् बाह्य साधन-सापेक्ष वास्तव में तो नहीं होते है अर्थात् वे उत्पादादिक होते तो अपने स्वभाव से ही हैं, फिर भी व्यवहार से (उपचार से) सहेतुक जैसे मालूम पड़ते हैं।

इस विषय में हमारा कहना यह है कि अपना उपर्युक्त एक गलत अभिप्राय बना लेने के अनन्तर उसकी पुष्टि के लिये यह दूसरी गलती आप करने जा रहे है। कारण कि

श्लोकवार्तिक के ही उल्लिखित अन्य प्रमाणों से जब आप का उक्त अभिप्राय गलत सिद्ध हो जाता है तो ऐसी हालत में '**सहेतुकत्वप्रतीतेः**' पद में पठित 'प्रतीते' पद से आप अपने उक्त अभिप्राय की पुष्टि कदापि नहीं कर सकते हैं। दूसरी बात यह है कि प्रतीति शब्द का प्रसिद्धार्थ 'ज्ञान की निर्णयात्मक स्थिति' ही होता है, इसलिए उसका 'प्रतीत्याभास' अर्थ आपने कैसे कर लिया ? इसका स्पष्टीकरण आपको अवश्य करना था जो आपने नहीं किया है। तीसरी बात यह है कि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक का जो 'क्रमभुवोः पर्याययोः' इत्यादि उद्धरण हमने ऊपर दिया है, उसके अन्त में **यदनन्तरं हि यदवश्यं भवति तत्तस्य सहकारिकारण –मितरत्कार्यमिति प्रतीतम्।**

यह वाक्य पाया जाता है, इसी प्रकार आगे '**तदेवं व्यवहारनयसमाश्रयणे**' इत्यादि वाक्य में भी '**प्रतीतिसिद्धत्वात् पारमार्थिक एव**' यह पद पाया जाता है। इन दोनों स्थलों में क्रमशः पठित प्रतीत और प्रतीति शब्दों का अर्थ आपको भी प्रकरणानुसार निर्विवादरूप से 'ज्ञान की निर्णयात्मक स्थिति' स्वीकार करना अनिवार्य है, अतः ऐसी हालत में '**सहेतुकत्व –प्रतीतेः**' पद में पठित '**प्रतीतेः**' पद का अर्थ विरुद्ध हेतु के अभाव में ज्ञान की निर्णयात्मक स्थिति करना ही संगत होगा, प्रतीत्याभास नहीं।

आगे आपने अपने द्वितीय उत्तर पत्र में कार्य के प्रति निमित्तभूत वस्तु की वास्तविक कारणता की आलोचना करते हुए यह भी लिखा है कि 'आगम में प्रमाण दृष्टि से विचार करते हुए सर्वत्र कार्य की उत्पत्ति उभय निमित्त से बतलायी है। आगम में ऐसा एक भी प्रमाण उपलब्ध नहीं होता, जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि उपादान (निश्चय) हेतु के अभाव में केवल निमित्त के बल से कार्य की उत्पत्ति हो जाती है। पता नहीं, जब जैसे निमित्त मिलते हैं, तब वैसा कार्य होता है – ऐसे कथन में निमित्त की प्रधानता कार्य की उत्पत्ति मान लेने पर उपादान का क्या अर्थ किया जाता है।'

इस विषय में सर्व प्रथम हमारा कहना यह है कि आगम में प्रमाण की दृष्टि से विचार करते हुए सर्वत्र कार्य की उत्पत्ति उभयनिमित्त से बतलायी है। आगम में ऐसा भी प्रमाण उपलब्ध नहीं होता, जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि वास्तविक निमित्त (व्यवहार) हेतु के अभाव में केवल उपादान के बल से प्रत्येक वस्तु में आगम द्वारा स्वीकृत स्वपरसापेक्ष कार्य की उत्पत्ति हो जाती है, फिर हमारी समझ में यह बात नहीं आ रही है कि आप निमित्त को कार्य की उत्पत्ति में कल्पनारोपित कारण मानकर अकिंचित्कर क्यों और किस आधार

पर मान रहे हैं ? और यदि आप कार्य उत्पत्ति में निमित्त को उपादान के सहयोगी रूप में स्थान देना स्वीकार कर लेते हैं तो कार्यकारणभाव के विषय में विवाद की समाप्ति ही समझिये।

हमें इस बात पर भी आश्चर्य हो रहा है कि उपादान हेतु के अभाव में केवल निमित्त के बल से कार्य की उत्पत्ति को जब हम नहीं स्वीकर करते हैं तो इस गलत मान्यता को हमारे पक्ष के ऊपर आप बलात् क्यों थोप रहे हैं ? क्योंकि हमारी स्पष्ट घोषणा है और यह आपको मालूम भी है कि हमारी आगम सम्मत मान्यता के अनुसार उपादानशक्ति न हो तो निमित्त केवल अपने ही बल से कार्य सम्पन्न नहीं कर सकता है अर्थात् स्पष्ट मत यही है कि किसी भी वस्तु में कार्य की उत्पत्ति उसमें स्वभावत: पायी जानेवाली उपादान शक्ति का सद्भाव ही हो सकती है, निमित्तभूत वस्तु तो उस कार्य की उत्पत्ति में सहायकरूप से ही उपयोगी होती है, जिसका मतलब यह निकलता है कि वस्तु के कार्य में उपादानशक्ति का सद्भाव रहते हुए भी जब तक निमित्त सामग्री का सहयोग उसे प्राप्त नहीं होगा, तब तक उससे स्वपरसापेक्ष परिणति का होना असम्भव ही रहेगा और इसका भी मतलब यह निकलता है कि प्रत्येक वस्तु में स्वभावरूप से प्रतिनियत नाना उपादान शक्तियाँ एक साथ पायी जाती है, परन्तु उस वस्तु को उसकी जिस उपादानशक्ति के अनुकूल सहायेग प्रदान करनेवाली निमित्त सामग्री जब प्रास होगी, उस निमित्त सामग्री के सहयोग के आधार पर ही वह वस्तु उस समय अपने में विद्यमान उस उपादानशक्ति के अनुसार परिणमन करेगी। जैसे खान की मिट्टी में घड़ा, सकोरा आदि विविध निर्माण के अनुकूल प्रतिनियत उपादानशक्तियाँ स्वभावत: एक साथ विद्यमान हैं। ये सभी उपादानशक्तियाँ तब तक लुप्त पड़ी रहती हैं जब तक कि किसी भी उपादानशक्ति के विकास के अनुकूल सहयोग देनेवाली निमित्त सामग्री की प्राप्ति उसे नहीं हो जाती है अर्थात् वह मिट्टी घड़ा, सकोरा आदि के निर्माण योग्य अपनी उपादानशक्तियों के सद्भाव में भी केवल अनुकूल निमित्त सामग्री के अभाव के कारण ही घड़ा या सकोरा आदि रूप में परिणत नहीं हो पाती है। इसलिए जब कुम्हार अपनी इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और श्रमशक्ति के आधार पर खान से उस मिट्टी को लाकर और दण्ड, चक्र आदि आवश्यक अन्य निमित्त सामग्री का सहयोग लेकर अपने पुरुषार्थ द्वारा उस मिट्टी को घड़ा या सकोरा आदि जिस निर्माण के अनुकूल अनुप्राणित करता है, उस समय उस मिट्टी से उसकी अपनी योग्यतानुसार उस कार्य की उत्पत्ति हो जाती है।

इसके अतिरिक्त हम, आप और दूसरे सभी लोग विवक्षित कार्य की उत्पत्ति के लिये

उक्त कार्य के अनुकूल योग्यता रखनेवाली उपादानभूत वस्तु की संप्राप्ति हो जाने पर भी प्रतिदिन और प्रतिक्षण तदनुकूल निमित्त सामग्री के जुटाने में परिश्रम किया करते हैं। क्या आपने कभी यह सोचा है या आप सोचने के लिये तैयार हैं कि जब उपादान विवक्षित कार्यरूप परिणत होने के लिये अपनी तैयारी कर लेगा, तब वह कार्य अपने आप हो जायेगा अथवा उस कार्य के अनुकूल निमित्त सामग्री नियम से उपस्थित रहेगी या स्वयमेव प्राप्त हो जायेगी और तब अपनी इस मान्यता के अनुसार ही आप क्या विवक्षित कार्य के करने में अथवा तदनुकूल निमित्त सामग्री के जुटाने में पुरुषार्थ करना छोड़ सकते हैं ? या फिर अपने इस अनुभव को सही मानते हैं कि किसी विवक्षित कार्य की उत्पत्ति का आप पहले अपने अन्त:करण में संकल्प करते हैं, फिर अपनी ज्ञानशक्ति और श्रमशक्ति के अनुसार उस कार्य को सम्पन्न करने के लिये तदनुकूल सामग्री का सहयोग लेकर पुरुषार्थ करते हैं ? यह बात अपने उक्त विविध पहलुओं के साथ विचार के लिये आपके सामने उपस्थित है।

इतना ही नहीं, एक प्रश्न और आपसे हम पूछते हैं कि यदि आप कार्योत्पत्ति के विषय में अपने उक्त सिद्धान्त की सत्यता पर आस्था रखते हैं तो कार्य और उसकी साधन सामग्री के विषय में जो संकल्प, विकल्प और पुरुषार्थ आप किया करते हैं, उन सबसे विरत होकर आप क्या अकर्मण्यता के साथ चुप होकर बैठने के लिये तैयार हैं ? और यदि आप ऐसा करने के लिये तैयार भी हो जावें तो क्या आपको विश्वास है कि आपका विवक्षित कार्य स्वत: ही समय आने पर सम्पन्न हो जायेगा तथा आपको यह भी क्या विश्वास है कि आप इस तरह की प्रवृत्ति करने पर लोक में हँसी के पात्र नहीं होंगे ? यद्यपि आप कह सकते हैं कि लोक तो अज्ञानी है, तो यह बात हम भी मान सकते हैं कि उसके हँसने की आप चिन्ता नहीं करेंगे, परन्तु कम से कम कार्यसम्पन्नता कैसे हो सकती है ? और वह होती है या नहीं— इत्यादि बातों पर तो आपको उस समय भी विचार करना ही होगा।

'उपादान के बल पर ही कार्य निष्पन्न होता है, निमित्त तो वहाँ पर अकिंचित्कर ही रहा करता है' – अपनी इस मान्यता की पुष्टि करते हुए आगे आपका लिखना यह है कि 'कार्य की उत्पत्ति में केवल इतना मान लेना ही पर्याप्त नहीं है कि गेहूँ से ही गेहूँ के अंकुर आदि की उत्पत्ति होती है। प्रश्न यह है कि अपनी विवक्षित उपादान की भूमिका को प्राप्त हुए बिना केवल निमित्त के बल से ही कोई गेहूँ अंकुरादि रूप से परिणत होता है।'

यद्यपि आपका यह लिखना सही है कि गेहूँ से गेहूँ की उत्पत्ति होती है – केवल ऐसा

मान लेना कार्योत्पत्ति के लिये पर्याप्त नहीं है और यह बात भी सही है कि उपादान की विवक्षित भूमिकाओं को प्राप्त हो जाने पर ही गेहूँ की अंकुररूप से उत्पत्ति हो सकती है, परन्तु आपके इस कथन में हम अनुभव, तर्क और आगम प्रमाण के आधार पर इतना और जोड़ देना चाहते हैं कि विवक्षित उपादानभूत वस्तु की विवक्षित कार्य की उत्पत्ति के लिये उसकी योग्यतानुसार विवक्षित भूमिका तक पहुँचना निमित्तों के सहयोग पर ही आवश्यकतानुसार निर्भर है – इस अनुभवपूर्ण स्थिति के आधार पर इस विषय में हमारा दृष्टिकोण यह है और लोक में प्रसिद्ध भी यह है कि कोई किसान बीज के लिये गेहूँ की आवश्यकता होने पर उसकी खरीदी करने के लिये बाजार में जाता है और वह यह देखकर या समझ कर कि अमुक गेहूँ अंकुररूप से उत्पन्न होने में समर्थ है, उस गेहूँ की खरीदी कर लेता है। फिर वह किसान आगे कभी यह नहीं सोचता है कि खरीदा हुआ वह गेहूँ अंकुरादिरूप से परिणत होने की अपने में विद्यमान योग्यता के अलावा किसी अन्य विलक्षण योग्यता को निश्चित समय पर अपने आप ग्रहण करके उपादान की भूमिका में पदार्पण करेगा और तब उससे अंकुर की उत्पत्ति हो जायेगी। उसके सामने तो जब उसने गेहूँ को अंकुररूप से उत्पन्न होने के योग्य समझ कर बाजार से खरीद किया, तब से केवल इतना ही संकल्प और विकल्प रहा करता है कि अंकुररूप से उत्पन्न होने के लिये यथायोग्य बाह्य साधन–सामग्री के सहयोग से उस गेहूँ को अपने पुरुषार्थ द्वारा उचित समय पर खेत में बो दिया जावे। इस प्रकार प्रकार के संकल्प और विकल्प के साथ एक ओर तो वह किसान उस गेहूँ को खेत में बोने की जितनी व्यवस्थायें आवश्यक हों, उन्हें यथायोग्य तरीकों द्वारा सम्पन्न करता है तथा दूसरी ओर वह इस बात को भी ध्यान में रखता है कि कहीं ऐसा न हो कि गेहूँ खर्च हो जावे या चोरी चला जावे अथवा ऐसी जगह पर न रक्खा जावे जहाँ पर रखने से वह गेहूँ घुनकर सा सड़कर अंकुररूप से उत्पन्न होने की अपनी योग्यता से वंचित हो जावे।

किसान की संकल्प, विकल्प और पुरुषार्थ की यह प्रक्रिया तब तक चालू रहती है, जब तक उस गेहूँ की यथावसर वह खेत में बो नहीं देता है। इसके बाद भी गेहूँ के अंकुररूप से परिणमित होने की समस्या उसके सामने बनी ही रहती है, अत: वह उस समय भी गेहूँ के अंकुरोत्पत्ति के अनुकूल पानी आदि प्राकृतिक और अप्राकृतिक साधनों की आवश्यकता या अनावश्यकता के विकल्पों में तब तक पड़ा रहता है, जब तक कि उस गेहूँ का परिणमन अंकुररूप से नहीं हो जाता है।

अब गेहूँ से अंकुरोत्पत्ति होने के अनुकूल गेहूँ की प्रक्रिया पर भी विचार कीजिये और गेहूँ की इस प्रक्रिया पर जब विचार किया जाता है तो मालूम पड़ता है कि एक तरफ से तो गेहूँ से अंकुरोत्पत्ति होने के संकल्पपूर्वक किसान यथासम्भव और यथायोग्य अपना तदनूकूल व्यापार चालू रखता है तथा दूसरी ओर किसान के उस व्यापार के सहयोग से गेहूँ में भी यथासम्भव विविध प्रकार की परिणतियाँ सिलसिलेवार चालू हो जाती हैं, जिन्हें गेहूँ से अंकुरोत्पत्ति के होने में उत्तरोत्तर क्रम से आविर्भूत होनेवाली योग्यतायें भी कहा जा सकता है अर्थात् बाजार से खरीदने के बाद किसान उस गेहूँ को सुरक्षा के लिहाज से उचित समझ कर जिस स्थान पर रखने का पुरुषार्थ करता है, गेहूँ देवता का किसान की मर्जी के मुताबिक वहीं आसन जम जाता है। इसके अनन्तर किसान जब अनुकूल अवसर देखकर उस गेहूँ को बोने के लिये खेत पर ले जाना उपयुक्त समझता है या ले जाने का संकल्प करता है तो यथासम्भव जो भी साधन उस गेहूँ को खेत पर ले जाने के लिए उस किसान को उस अवसर पर सुलभ रहते है, उन साधनों द्वारा एक ओर तो वह किसान उस गेहूँ को खेत पर ले जाने रूप अपना पुरुषार्थ करता है और दूसरी ओर उस किसान के यथायोग्य अनुकल उन पुरुषार्थ के सहारे से गेहूँ देवता भी खेत पर पहुँच जाते हैं। इस प्रक्रिया में भी किसान यदि गेहूँ की सुरक्षा के उपयुक्त साधन नहीं जुटाता है या नहीं जुटा पाता है तो उस गेहूँ में से कुछ दाने तो मार्ग में ही गिर जाते हैं, कुछ दानों को नौकर आदि भी चुरा लेता है, इस तरह कमी होते-होते जितना गेहूँ शेष रह जाता है, उसे वह किसान यथासम्भव प्राप्त ट्रेक्टर या हल आदि साधनों द्वारा बोने रूप पुरुषार्थ स्वयं करता है या नौकर आदि से बोने रूप पुरुषार्थ करवाता है और तब उस किसान या उसके उस नौकर के पुरुषार्थ के सहयोग से वे गेहूँ देवता खेत के अन्दर समा जाते हैं।

इस तरह गेहूँ की बुवाई हो जाने पर गेहूँ के कोई-कोई दाने अपने अन्दर अंकुररूप से उत्पन्न होने की स्वाभाविक योग्यता का अभाव होने से तथा कोई-कोई दाने उक्त प्रकार की योग्यता का अपने अन्दर स्वभाव रखते हुए भी, बाह्य जलादि साधनों के अनुकूल सहयोग का अभाव होने से अंकुररूप से उत्पन्न होने की अवस्था से वंचित रह जाते हैं, शेष उक्त प्रकार की योग्यता सम्पन्न गेहूँ यथायोग्य बाह्य साधनों की मिली हुई अनुकूल सहायता के अनुसार अर्थात् कोई-कोई दाने तो अपने अन्दर पायी जानेवाली उक्त स्वभाविक योग्यता की समानता और असमानता के आधार पर तथा कोई-कोई दानें बाह्य साधनों की सहायता की समानता

और असमानता के आधार पर समान तथा असमानरूप से अंकुर बनकर प्रगट हो जाते हैं। इस प्रकार आपके प्रश्न का उत्तर यह है कि गेहूँ अंकुरोपत्ति पर्यन्त उत्तरोत्तर किसान के व्यापार का सहयोग पाकर अपनी परिणतियाँ करता ही अन्त में अंकुर बन जाता है। स्पष्टीकरण के रूप में यहाँ पर इस दृष्टान्त में विचारना यह है कि गेहूँ में अंकुरोत्पत्ति की विद्यमान योग्यता तो उसकी स्वाभाविक निजी सम्पत्ति थी, उसे किसान ने उस गेहूँ में उत्पन्न नहीं किया और न उसके अभाव में केवल किसान के अनुकूल पुरुषार्थ द्वारा ही वह गेहूँ अंकुर बना, किन्तु गेहूँ में विद्यमान उक्त प्रकार की योग्यता के सद्भाव में बाह्य साधन सामग्री के सहयोग से अपनी ऊपर बतलायी गयी पूर्व-पूर्व अवस्थाओं में से गुजरता हुआ ही वह गेहूँ अंकुर बन सका। इतना ही नहीं, अंकुर बनने से पूर्व और दूसरे प्रकार की बहुत-सी या बहुत प्रकार की योग्यताएँ उस गेहूँ में थीं, जो अनुकूल बाह्य साधन सामग्री के अभाव में विकसित अर्थात् कार्यरूप से परिणत होने से रह गयीं या अपने-आप उनका उस गेहूँ में से खात्मा हो गया। जैसे उस सभी गेहूँ में पिसकर रोटी बनने की भी योग्यता थी, उसमें घुनने या सड़ने आदि की भी योग्यताएँ थीं, जो अनुकूल बाह्य साधन सामग्री का सहायोग अप्राप्त रहने के कारण या तो विकसित होने से रह गयीं अथवा उनका यथायोग्य रूप से खात्मा हो गया और गेहूँ में बहुत से दानें भिन्न-भिन्न रूप में प्राप्त बाह्य साधन सामग्री की सहायता के अनुरूप या तो पिस गये, मार्ग में गिर गये, घुन गये या सड़ गये, इस तरह वे दाने अंकुर रूप से उत्पन्न होने से वंचित रह गये। गेहूँ के जिन दानों की अंकुररूप पर्याय बनी वह क्रम से बनी तथा उसके बनने में किसान को सिलसिलेवार कितना और कितने प्रकार का पुरुषार्थ करना पड़ा, यह सब प्रकट है। जैसे किसान गेहूँ को बाजार से खरीदकर घर ले गया, उसने उसकी घुनने, सड़ने अथवा पिसने आदि से रक्षा की, खेत पर उसे ले गया और अन्त में बोने का भी पुरुषार्थ किया, तब गेहूँ की बुवाई हो सकी और तब बाद में वह अंकुर के रूप को धारण कर सका। इस अनुभव में उतरनेवाली कार्यकारणभाव की पद्धति की उपेक्षा करके आपके द्वारा इस प्रकार का प्रतिपादन किया जाना कि गेहूँ अपने विवक्षित उपादन की भूमिका को अपने आप प्राप्त करता हुआ ही अंकुरादिरूप परिणत होता है- बिल्कुल निराधार है।

इस विषय में आगम प्रमाण भी देखिए -

स्वपरप्रत्ययोत्पादविगमपर्यायैः द्रयन्ते, द्रवन्ति वा तानीति द्रव्याणि...... द्रव्य-क्षेत्र -काल-भाव-लक्षणो बाह्यः प्रत्ययः परप्रत्ययः, तस्मिन् सत्यपि स्वयमतत्परिणामोऽर्थो न

पर्यायान्तरमास्कन्दतीति तत्समर्थः स्वश्च प्रत्ययः, तावुभौ संभूय भावनां उत्पादविगमयोः हेतू भवतः, नान्यतरापाये कुशूलस्थमाषपच्यमानोदक-स्थघोटकमाषवत्।

- राजवार्तिक, अध्याय 5, सूत्र 2

इसका भाव यह है कि स्व (उपादान) और पर कारण (निमित्तभूत अन्य पदार्थ) द्वारा होनेवाली उत्पाद-व्ययरूप पर्यायों से जो बहता है या उन पर्यायों को जो बहता है, उसे द्रव्य कहते हैं.......... द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप बाह्य कारण परप्रत्यय है, उसके होते हुए भी स्वयं उसरूप से अपरिणमनशील पदार्थ पर्यायान्तर को नहीं प्राप्त होता है। उस पर्यायान्तररूप से परिणत होने में समर्थ स्वप्रत्यय है। वे दोनों (स्व और पर) प्रत्यय यानी उपादान और निमित्तकारण मिलकर पदार्थों के उत्पाद और व्यय के हेतु होते हैं। उन दोनों कारणों में से किसी एक भी कारण के अभाव में उस पर्यायरूप उत्पाद-व्यय नहीं होते हैं। जिस प्रकार कि कोठी में रक्खा उड़द जलादि बाह्य निमित्त सामग्री के अभाव में नहीं पकता है और इसी तरह उबलते हुए पानी में पड़ा हुआ घोटक (कोडरू) उड़द (पकने की उपादान शक्ति के अभाव में) नहीं पकता है।

इस प्रकरण में एक अन्य दृष्टान्त घड़े का भी ले लीजिए - खान में बहुत-सी ऐसी मिट्टी पड़ी हुई है, जिसमें आगम के अविरोधपूर्वक हमारे दृष्टिकोण के अनुसार पड़ा, सकोरा आदि विविध प्रकार के निर्माण की अनेक योग्यताएँ एक साथ ही विद्यमान हैं, कुम्हार भी हमारे समान ही अपना दृष्टिकोण रखते हुए खान में पड़ी हुई उस मिट्टी में से अपनी आवश्यकता के अनुसार कुछ मिट्टी बिना किसी भेदभाव के घर ले आता है। इसके बाद उसके मन में कभी यह कल्पना नहीं होती कि इस लायी हुई मिट्टी में से अमुक मिट्टी से तो घड़ा ही बनेगा अैर अमुक मिट्टी से सकोरा ही बनेगा, वह तो इस प्रकार के विकल्पों से रहित होकर ही उस सम्पूर्ण मिट्टी को घड़ा, सकोरा आदि विविध प्रकार के आवश्यक एवं सम्भव सभी कार्यों के निर्माण योग्य समानरूप से तैयार करता है और तैयार हो जाने पर वह कुम्हार अपनी आवश्यकता या आकांक्षा के अनुसार उस मिट्टी से बिना किसी भेदभाव के घड़ा, सकोरा आदि विविध प्रकार के कार्यों का निर्माण कभी भी अपनी सुविधानुसार कर डालता है। उसे ऐसा विकल्प भी कभी नहीं होता कि उस तैयार की गयी मिट्टी से घड़े का या सकोरा आदि का निर्माण जब होना होगा, तब हो ही जायेगा।

यह ठीक है कि मिट्टी में घड़ा, सकोरा आदि बनने की यदि योग्यता होगी तो ही उससे

घड़ा, सकोरा आदि बनेंगे, लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि जिस मिट्टी में घड़ा बनने की योग्यता है, उसमें सकोरा आदि बनने की योग्यता का अभाव रहेगा। योग्यताएँ तो उस मिट्टी में यथासम्भव सभी प्रकार की रहेगी, लेकिन कार्य वही होगा, जिसके लिये वह कुम्हार आवश्यकता के अनुसार अपनी आकांक्षा, ज्ञान और श्रमशक्ति के आधार पर अपना व्यापार चालू करेगा।

यह भी ठीक है कि यदि कुम्हार घड़े के लिये अपना व्यापार चालू करता है तो घड़ा बनने से पहले उस मिट्टी की उस कुम्हार के व्यापार का अनुकूल सहयोग पाकर क्रम से पिण्ड, स्थास, कोश और कुशूल पर्यायें अवश्य होंगी, यह कभी नहीं होगा कि पिण्डादि उक्त पर्यायों के अभाव में ही अथवा इन पर्यायों की उत्पत्ति परिवर्तित क्रम से होकर भी मिट्टी घड़ा बन जायेगी। इस तरह इस अनुभवगम्य बात पर अवश्य ध्यान देना चाहिये कि यदि कुम्हार खान में पड़ी हुई मिट्टी को अपने घर लाने रूप अपना व्यापार नहीं करेगा, तदनन्तर उसको घट निर्माण के अनुकूल तैयार नहीं करेगा और इसके भी अनन्तर वह उसकी क्रम से होनेवाली पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल तथा घटरूप पर्यायों के विकास में अपने पुरुषार्थ का अनुकूलरूप से योगदान नहीं करेगा तो वह मिट्टी त्रिकाल में घड़ा नहीं बन सकेगी।

हमारी समझ में यह बात बिल्कुल नहीं आ रही है कि प्रत्यक्षदृष्ट, तर्कसंगत और आगम प्रसिद्ध एवं आपके द्वारा स्वयं प्रयुक्त की जानेवाली कार्यकारण भाव की हमारे द्वारा प्रतिपादित उक्त व्यवस्था की उपेक्षा करके प्रत्यक्ष विरुद्ध, तर्क विरुद्ध, आगम विरुद्ध तथा अपनी स्वयं की प्रवृत्तियों के विरुद्ध कार्यकारणभाव के प्रतिपादन में आप क्यों संलग्न हो रहे हैं।

हमारे द्वारा प्रतिपादित कार्यकारणभाव की उक्त व्यवस्था को प्रत्यक्षदृष्ट और आपके द्वारा प्रतिपादित कार्यकारणभाव की व्यवस्था को प्रत्यक्ष विरुद्ध इसलिए हम कह सकते हैं कि घड़े का निर्माण कार्य कुम्हार के व्यापारपूर्वक मिट्टी में होता हुआ देखा जाता है। हमारे द्वारा प्रतिपादित वह व्यवस्था तर्कसंगत और आपके द्वारा प्रतिपादित वह व्यवस्था तर्क विरुद्ध भी इसलिए है कि जब तक कुम्हार का व्यापार घड़े के निर्माण के अनुरूप होता जाता है, तब तक तो घड़े का निर्माण कार्य भी होता है लेकिन यदि कुम्हार अपने इस व्यापार को बन्द कर देता है तो घड़े का निर्माण कार्य भी उसी क्षण बन्द हो जाता है। इस तरह घट निर्माण के साथ कुम्हार के व्यापार का अन्वय-व्यतिरेक निर्णीत होता है। हमारे द्वारा प्रतिपादित और आपके द्वारा प्रतिपादित कार्यकारणभाव व्यवस्था की क्रमशः आगम प्रसिद्धता और आगम

विरुद्धता के विषय में भी यह बात कही जा सकती है कि हम ऊपर जो प्रमाण आगम के दे आये हैं, उनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कार्यकारण व्यवस्था में जितनी उपयोगिता उपादान कारण की है, उतनी ही उपयोगिता निमित्त कारण की भी है, इसलिए जिस प्रकार उपादानोपादेयभाव वास्तविक है, उसी प्रकार निमित्तनैमित्तिकभाव भी वास्तविक है। उपचरित अर्थात् कल्पनारोपित या अकिंचित्कर नहीं है। इसलिए हमारे द्वारा प्रतिपादित कार्यकारणभाव-व्यवस्था आगम प्रतिपादित है - ऐसा प्रत्यक्ष है।

यद्यपि आपने भी अपने द्वारा मान्य कार्यकारणव्यवस्था के समर्थन में आगम के प्रमाण दिये हैं; परन्तु हमें दुःख के साथ कहना पड़ता है कि उनका अर्थ भ्रमवश अथवा जानबूझकर आप गलत ही कर रहे हैं, जैसा कि हमने स्थान-स्थान पर सिद्ध किया है, सिद्ध करते जा रहे हैं और सिद्ध करते जावेंगे। इसलिए हमें कहना पड़ता है कि निमित्तनैमित्तकभाव की कल्पनारोपितता की सिद्धि के लिये आगम में एक भी प्रमाण उपलब्ध न होने के कारण आपके द्वारा प्रतिपादित कार्यकारणभावव्यवस्था आगम विरुद्ध भी है। इसी प्रकार आपके द्वारा प्रतिपादित कार्यकारणभाव की व्यवस्था अपकी स्वयं की प्रवृत्तियों के भी विरुद्ध है - ऐसा हमें तो कम से कम दिख ही रहा है, आपको स्वयं भी इसी तरह का भान होता है या नहीं, यह आप जानें; परन्तु हमारे द्वारा प्रतिपादित आगम व्यवस्था हमारी, आपकी और लोकमात्र की प्रवृत्तियों से अविरुद्ध ही है - ऐसा हम जानते हैं।

आगे आपने राजवार्तिक के कथन का प्रमाण देकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि 'जब कोई भी द्रव्य अपने विवक्षित कार्य के सन्मुख होता है, तभी अनुकूल अन्य द्रव्यों की पर्यायें उसकी उत्पत्ति में निमित्तमात्र होती है।' राजवार्तिक का वह कथन निम्न प्रकार है-

यथा मृदः स्वयमन्तर्घटभवनपरिणामभिमुख्ये दण्ड-चक्र-पौरुषेयप्रयत्नादि निमित्तमात्रं भवति, यतः सत्स्वपि दण्डादिनिमित्तेषु शंकरादिप्रचितो मृत्पिण्डः स्वयमन्तर्घटभवन-परिणामनिरुत्सुकत्वान्न घटी भवति, अतः मृत्पिण्ड एव बाह्यदण्डादिनिमित्तसापेक्ष आभ्यन्तरपरिणामसानिध्याद् घटो भवति न दण्डादय इति दण्डादि निमित्तमात्रं भवति।

- अ. 1, सू. 20

इसका जो हिन्दी अनुवाद आपने किया है, उसका विरोध न करते हुए भी हमें कहना पड़ता है कि राजवार्तिक का यह कथन आपके एकान्त पक्ष का समर्थन करने में बिल्कुल असमर्थ है।

आपका पक्ष जिसे आपने स्वयं ही अपने शब्दों में निबद्ध किया है – यह है कि 'न तो सब प्रकार की मिट्टी ही घट का उपादान है और न ही पिण्ड, स्थास, कोश और कुशूलादि पर्यायों की अवस्थारूप से परिणत मिट्टी घट का उपादान है, किन्तु जो मिट्टी अनन्तर समय में घट पर्यायरूप से परिणत होनेवाली है, मात्र वही मिट्टी घट का उपादान है।' आगे आपने लिखा है कि 'मिट्टी की ऐसी अवस्था के प्राप्त होने पर वह नियम से घट का उपादान बनती है।'

इस कथन के आधार पर कार्यकारण भाव के विषय में आपका यह सिद्धान्त फलित होता है कि कार्योत्पत्तिक्षण से अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्याय विशिष्ट वस्तु ही कार्य के प्रति उपादान होती है और जो वस्तु इस तरह उपादान बन जाती है, उससे नियम से कार्य उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार उस समय जो अनुकूल वस्तुएँ वहाँ पर हाजिर रहती हैं, उनमें निमित्तता का व्यवहार तो होता है, परन्तु कार्य की उत्पत्ति में सहायक वस्तु का अभाव अथवा कार्योत्पत्ति में बाधा पहुँचाने वाली किसी भी वस्तु का सद्भाव उस समय वहाँ पर पाया जाना असंभव ही समझना चाहिए।

आपके इस मन्तव्य के विषय में सर्वप्रथम तो हम यही सिद्ध करना चाहते हैं कि आपके द्वारा कार्य-कारणभाव व्यवस्था के रूप में ऊपर जो अपना अभिप्राय प्रगट किया गया है, उसका समर्थन राजवार्तिक के उपर्युक्त कथन से नहीं होता है, क्योंकि राजवार्तिक के उल्लिखित कथन से तो केवल इतनी ही बात सिद्ध होती है कि यदि मिट्टी में घटरूप से परिणमन करने की योग्यता हो तो दण्ड, चक्र और कुम्हार का पुरुषार्थ आदि घट निर्माण में मिट्टी के वास्तविक रूप में सहायक मात्र हो सकते हैं और यदि मिट्टी में घटरूप से परिणत होने की योग्यता विद्यमान न हो तो निश्चित है कि दण्ड, चक्र और कुम्हार का पुरुषार्थ आदि उस मिट्टी को घट नहीं बना सकते है अर्थात् उक्त दण्ड, चक्र आदि मिट्टी में घट निर्माण की योग्यता को कदापि उत्पन्न नहीं कर सकते हैं। दूसरी बात राजवार्तिक के उक्त कथन से यह सिद्ध होती है कि दण्डादि स्वयं कभी घटरूप परिणत नहीं होते हैं। इतना अवश्य है कि यदि दण्डादि अनुकूल निमित्त सामग्री का सहयोग मिल जावे तो मिट्टी ही उनकी सहायता से घटरूप परिणत होती है। इसका भी आशय यह है कि यदि मिट्टी के लिये उसके घटरूप परिणमन में सहायता प्राप्त नहीं होगी तो मिट्टी अपने अन्दर योग्यता रखते हुए भी कदापि घटरूप परिणत नहीं हो सकेगी।

इस प्रकार राजवार्तिक के उपर्युक्त कथन से यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकाला जा

सकता है कि मिट्टी जब घट की निष्पन्न अन्तिम क्षणवर्ती पर्याय से अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्याय में पहुँच जाती है, तभी वह घट का उपादान बनती है और न यह निष्कर्ष ही निकाला जा सकता है कि उससे पहले जब तक वह खान में पड़ी रहती है या कुम्हार उसे अपने घर पर ले जाता है अथवा वही मिट्टी जब घट निर्माण के अनुकूल उत्तरोत्तर पिण्ड, स्थास, कोश और कुशूल आदि अवस्थाओं को भी प्राप्त होती जाती है तो इन सब अवस्थाओं में से किसी भी अवस्था में वह मिट्टी घट का उपादान नहीं मानी जा सकती है। इसी प्रकार राजवार्तिक के उक्त कथन से वह भी निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि मिट्टी जब घट की निष्पन्न अन्तिम क्षणवर्ती पर्याय से अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्याय में पहुँच जाती है तो उससे घटोत्पत्ति रूप कार्य नियम से ही हो जाता है।

यदि कहा जाय कि राजवार्तिक के उक्त कथन में '**यथा मृदः स्वयमन्तर्घटभवन-परिणामाभिमुख्ये**' यहाँ पर '**आभिमुख्य**' शब्द पड़ा हुआ है तथा आगे इसी कथन में '**शर्करादिप्रचितो मृत्पिण्डः स्वयमन्तर्घटभवनपरिणामनिरुत्सुकत्वात्**' यहाँ पर '**निरुसुकत्व**' शब्द पड़ा हुआ है। ये दोनों ही शब्द इस बात का संकेत दे रहे हैं कि 'वस्तु की जिस पर्याय के अनन्तर कार्य नियम से निष्पन्न हो जावे, उसे ही उपादानकारण कहना चाहिए और इस तरह ऐसा उपादानकारण घट की सम्पन्न अन्तिम क्षणवर्ती पर्याय के अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्याय ही हो सकती है, क्योंकि यह पर्याय ही ऐसी पर्याय है जिसके अनन्तर समय में कार्योत्पत्ति होने में न तो कोई कमी रह जायगी और न किसी प्रकार की बाधा खड़ी होने की सम्भावना भी वहाँ रह जायगी, अत: उस अवसर पर कार्योपत्ति नियम से होगी। इसके अतिरिक्त मिट्टी की कोई भी पर्याय घट-कार्य के प्रति उपादान नहीं कही जा सकती है। कारण कि उन पर्यायों में दूसरी पर्यायों का व्यवधान कार्योत्पत्ति के लिये पड़ जाता है और जब कार्याव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्याय को ही उपादान संज्ञा प्राप्त होती है तो फिर कोई कारण नहीं कि उससे कार्य उत्पन्न न हो, क्योंकि अन्यथा उसकी उपादान संज्ञा ही व्यर्थ हो जायगी, इसलिए उस पर्याय के अनन्तर नियम से कार्य की उत्पत्ति होती है, यह मानना उचित है। दूसरी बात यह है कि यदि उस समय भी किसी सबब से कार्योत्पत्ति रुक सकती है तो वस्तु के परिणामी स्वभाव की जैन संस्कृति की मान्यता ही समाप्त हो जायेगी।'

आपका यदि यह अभिप्राय है तो इस विषय में हमारा कहना यह है कि राजवार्तिक के उक्त कथन में पठित '**आभिमुख्य**' शब्द सामान्यरूप से घट-निर्माण की योग्यता के

सद्भाव का ही सूचक है। इसी तरह उसमें '**निरुत्सुकत्व**' शब्द भी सामान्यरूप से घट निर्माण की योग्यता के अभाव का ही सूचक है। यही कारण है कि घटोत्पत्ति होने की योग्यता के अभाव में कार्योत्पत्ति के अभाव की सिद्धि के लिये राजवार्तिक के उक्त कथन में '**शर्करादिप्रचितो मृत्पिडः**' पद द्वारा बालुका मिश्रित मिट्टी का उदाहरण श्रीमदकलंकदेव ने दिया है। यदि उनकी दृष्टि में यह बात होती कि उपादानकारणता तो केवल उत्तरक्षणवर्ती कार्यरूप पर्याय से अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्याय में ही होती है और उससे कार्य भी नियम से हो जाता है तो फिर उन्हें (श्रीमदकलंकदेव को) घट-निर्माण को योग्यता रहित बालुका मिश्रित मिट्टी का उदाहरण न देकर कार्योत्पत्ति से सान्तपूर्ववर्ती द्वितीयादि क्षणों की पर्यायों में कथंचित् रहने वाली घट-निर्माण की योग्यता सम्पन्न मिट्टी का ही उदाहरण देना चाहिये था, लेकिन चूँकि श्रीमदकलंकदेव ने बालुका मिश्रित मिट्टी का ही उदाहरण प्रस्तुत किया है, जिसमें कि घट-निर्माण की योग्यता का सर्वथा ही अभाव पाया जाता है तो इससे यही मानना होगा कि राजवार्तिक के उक्त कथन में जो '**आभिमुख्य**' शब्द पड़ा हुआ है, उसका अर्थ घट-निर्माण की सामान्य योग्यता का सद्भाव ही सही है। इसी प्रकार उसी कथन में पड़े हुए '**निरुत्सुकत्व**' शब्द का अर्थ घट-निर्माण की सामान्य योग्यता का अभाव ही सही है। इस प्रकार जैसे आप उत्तरक्षणवर्ती कार्यरूप पर्याय से अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्याय में कार्य की उपादानता स्वीकार करते है, उसी प्रकार खान में पड़ा अथवा खान से कुम्हार द्वारा घर लायी गयी मिट्टी में तथा कुम्हार के व्यापार का सहयोग पाकर निमित्त हुए मिट्टी के पिण्ड, स्थास, कोश और कुशूलादि में भी उपादानता का सद्भाव सिद्ध हो जाता है और यह बात तो हम पहले भी कह चुके हैं कि यदि मिट्टी में खान की अवस्था से लेकर कुशूलपर्यन्त या इसमें भी और आगे - जहाँ तक कार्यकारणभाव की कल्पना की जा सके, की अवस्थाओं में यदि घट निर्माण की उपादानकारणता नहीं रहती है तो फिर कुम्हार का घट निर्माण के उद्देश्य से मिट्टी का खान से घर लाना तथा उसके पिण्ड, स्थास, कोश और कुशूलादि पर्यायों के निर्माण के अनुकूल व्यापार करना, यह सब मूर्खता का ही कार्य समझा जायगा।

तात्पर्य यह है कि मिट्टी की इन सब अवस्थाओं के निर्माण में कुम्हार जो व्यापार करता है वह सब उससे (मिट्टी से) घट निर्माण को लक्ष्य में रखकर बुद्धिपूर्वक ही करता है और प्रत्यक्ष में देखा भी जाता है कि खान से कुम्हार के द्वारा लायी गयी मिट्टी ही पहले पिण्ड का रूप धारण करती है, पिण्ड स्थास का रूप धारण करता है, स्थास कोश का रूप

धारण करता है और कोश कूशूल का रूप धारण करते हुए अन्त में उसका वह कुशूलरूप ही कुम्हार, चक्र आदि की सहायता से घड़े के रूप में परिणत हो जाया करता है, इसलिए क्षणिक पर्यायों के रूप में घट निर्माणरूप कार्य का विभाजन करके यदि घट निर्माण की अन्तिम पर्याय में अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय को घट का उपादान कहा जा सकता है तो उसी घट निर्माण को यदि पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल और घटरूप स्थूल पर्यायायों में विभाजित किया जाय तो उस हालत में घटरूप स्थूल पर्याय से अव्यवहित पूर्व में रहनेवाली स्थूल कुशूल पर्याय को घट का उपादान मानने में कुछ आपत्ति नहीं आती है। इसी प्रकार घट निर्माण को यदि पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल और घट रूप पर्यायों में विभाजित न करके इन सब पर्यायों को ही केवल अखण्ड एक घट निर्माण कार्य मान लिया जाय तो उस हालत में मिट्टी की ही तो घटरूप पर्याय बनती है, अत: तब मिट्टी को भी घट का उपादान कहना असंगत नहीं है।

जिस प्रकार कालद्रव्य की क्षणवर्ती पर्याय समय कहलाती है और घड़ी, घण्टा, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष आदि भी काल की यथासम्भव संख्यात और असंख्यात समयरूप पर्यायों के अखण्ड पिण्डस्वरूप ही तो माने जा सकते हैं। इस तरह जैसे समय के बाद समय, इसके अनन्तर दिन के बाद दिन, इसके अनन्तर सप्ताह के बाद सप्ताह, इसके अनन्तर पक्ष के बाद पक्ष, इसके अनन्तर मास के बाद मास और इसके भी अनन्तर वर्ष के बाद वर्ष आदि का व्यवहार काल में किया जाता है और वह सब समय के समान ही वास्तविक कहलाता है, वैसे ही मिट्टी की यथासम्भव असंख्यात क्षणिक पर्यायों के समूहरूप पिण्ड पर्याय के निर्माण के बाद असंख्यात क्षणिक पर्यायों के समूहरूप स्थास पर्याय का निर्माण, इस स्थास पर्याय के निर्माण के बाद असंख्यात क्षणिक पर्यायों के समूहरूप कोश पर्याय का निर्माण, इस कोश पर्याय के निर्माण के बाद असंख्यात क्षणिक पर्यायों के समूहरूप कुशूल पर्याय का निर्माण और इस कुशूल पर्याय के निर्माण के बाद असंख्यात क्षणिक पर्यायों के समूहरूप घट पर्याय का निर्माण स्वीकार करके घट पर्याय की अव्यवहित पूर्व पर्यायरूप कुशूल को घट पर्याय का उपादान, कुशूल पर्याय की अव्यवहित पूर्व पर्यायरूप कोष को कुशूल पर्याय का उपादान, कोश की अव्यवहित पूर्व पर्यायरूप स्थास को कोष पर्याय का उपादान, स्थास की अव्यवहित पूर्व पर्यायरूप पिण्ड को स्थास पर्याय का उपादान तथा पिण्ड की अव्यवहित पूर्व पर्यायरूप मिट्टी को पिण्ड पर्याय का उपादान मानना असंगत नहीं है। क्या आप क्षणिक पर्याय को ग्रहण करने वाले ऋजुसूत्र नय को और उस पर्याय के आश्रयभूत काल की

पर्यायरूप क्षण को वास्तविक मानने को तैयार हैं ? यदि हाँ, तो हमें प्रसन्नता होगी और क्या क्षणिक पर्यायों के उत्तरोत्तर वृद्धिगत समूहों को ग्रहण करनेवाले व्यवहार, संग्रह तथा नैगम नयों को तथा क्षणिक पर्यायों के इन समूहों के आश्रयभूत काल के घड़ी, घण्टा, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास और वर्ष आदि भेदों को आप अवास्तविक ही मान लेना चाहते हैं ? यदि हाँ, तो समय और समय के समूहों में तथा क्षणिक पर्यायों और इन पर्यायों के समूहों में वास्तविकता और अवास्तविकता का यह वैषम्य कैसा ? और यदि समय और तदाश्रित वस्तु की क्षणिक पर्याय को भी व्यवहारनय का विषय होने के कारण अवास्तविक अर्थात् उपचरित या कल्पनारोपित ही मान लेना चाहते हैं तो फिर आपके मत से क्षणिक पर्यायों के आधार पर उपादानोपादेयभाव की वास्तविकता कैसे संगत हो सकती है ? इन सब बातों पर आप निर्द्वन्द मस्तिष्क से विचार कीजिए। इसी प्रकार व्यवहारनय की विषयभूत यदि क्षणिक पर्यायों और उनके आश्रयभूत काल के अखण्ड क्षणों को आप वास्तविक ही मानते हैं तो व्यवहार को फिर अवास्तविक, उपचरित या कल्पनारोपित कैसे माना जा सकता है ? इस पर भी ध्यान दीजिए।

एक बात और भी विचारणीय है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान, क्षायोपशमिक होने के कारण किसी भी वस्तु की समयवर्ती अखण्ड पर्याय को ग्रहण करने में सर्वथा असमर्थ ही रहा करते है। इन ज्ञानों का विषय वस्तु की कम-से-कम अन्तर्मुहूर्तवर्ती पर्यायों का समूह ही एक पर्याय के रूप में होता है, इस प्रकार इन ज्ञानों की अपेक्षा मिट्टी, पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल और घट में उपादानोपादेय व्यवस्था असंगत नहीं मानी जा सकती है।

केवलज्ञान वस्तु की समयवर्ती पर्याय को विभक्त करके जानता है—ऐसा आप मानते हैं। लेकिन यहाँ पर यह प्रश्न तो आपके सामने खड़ा ही हुआ है कि व्यवहाररूप होने के कारण वह पर्याय आपके मत से अवास्तविक, उपचरित एवं कल्पनारोपित अतएव अवस्तुभूत है, इसलिए वह पर्याय आकाशकुसुम तथा खरविषाण के समान, केवलज्ञान का विषय कैसे हो सकती है ? और जब क्षणिक पर्याय को केवलज्ञानी जानता है तो उसकी अवास्तविकता समाप्त हो जाने के कारण व्यवहारविषयक आपका सिद्धान्त स्वयं खण्डित हो जाता है। फिर विचार तो कीजिये कि मिट्टी अपने-आप उपस्थित होनेवाले बाह्य कारणों के सहयोग से भी यदि प्रतिसमय अपना रूप बदलती है और उस मिट्टी की उस रूप बदलाहट में मति-श्रुतज्ञानियों के लिए आगे चलकर जो विलक्षणता का भान होने लगता है-विलक्षणता का वह

भान उस रूप बदलाहट के कार्यकारणभाव को खोजने के लिए उनको (मति-श्रुतज्ञानियों को) प्रेरित करता है। यहाँ पर रूप बदलाहट में आनेवाली विलक्षणता का एक अनुभवपूर्ण उदाहरण यह दिया जा सकता है कि कोई एकदम जो क्रोध से लोभादि कषायरूप व्यापार करने लगता है, इसका कारण तो खोजना चाहिए कि परिवर्तन में यह विलक्षणता एकदम कैसे आ गयी? इसी तरह जीव की मिथ्यात्व पर्याय से एकदम सम्यक्त्व पर्याय कैसे हो गयी? विचार करने से ज्ञात होता है कि ये सभी विलक्षणताएँ निमित्तकारणों से होती हैं। इस तरह यह तो हुई क्षणिक पर्यायों की बात, लेकिन जब हम स्थूल विलक्षणताओं पर विचार करते हैं तो मालूम पड़ता है कि यह मिट्टी जो समान और असमान पर्यायों के रूप में प्रतिसमय बदलती चली जा रही है, वह यकायक पिण्ड रूप स्थूल विलक्षणता को अपने-आप उन क्षणिक पर्यायों के चालू परिवर्तन के बल पर कैसे प्राप्त हो जाती है? केवल इतना कह देने से तो काम नहीं चल सकता है कि मिट्टी की पिण्ड रूप इस विलक्षण बदलाहट को इस रूप में केवली भगवान ने देखा है और जबकि हम इस विलक्षण बदलाहट को कुम्हार के व्यापार आदि साधनों द्वारा होती हुई देख रहे है तथा तर्क से और आगम से उसकी पुष्टि भी पा रहे हैं तो ऐसी स्थिति में केवल इस प्रकार का प्रतिपादन करना कि मिट्टी की अमुक समय पर पिण्डरूप पर्याय होना नियत था, केवली भगवान ने पहले से ही ऐसा देख रक्खा है, उससे अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्याय ही उसमें उपादानकारण है तथा इस प्रकार का प्रतिपादन करना कि निमित्तकारण की उसमें कुछ उपयोगिता नहीं है—आदि कहाँ तक बुद्धिगम्य हो सकता है यह आप जानें?

इस प्रकार राजवार्तिक का '**यथा मृदः**' इत्यादि कथन न केवल आपकी कार्यकारणभाव व्यवस्था सम्बन्धी मान्यता की पुष्टि नहीं करता है, बल्कि मति-श्रुतज्ञानियों के अनुभव, प्रत्यक्ष और तर्क से तथा आगम के अन्य प्रमाणों से जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, उसका (आपकी कार्यकारण व्यवस्था सम्बन्धी मान्यता का) खण्डन होता है।

थोड़ा इस तरफ भी विचार कीजिए कि अव्यवहित उत्तरक्षणवर्तीपर्याय के प्रति अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय विशिष्ट वस्तु को जब आप उपादान कारण मानने के लिए तैयार हैं और यह भी मानते ही हैं कि उस अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय से उस अव्यवहित उत्तरक्षणवर्ती पर्याय की उत्पत्ति नियम से होती ही है तो कार्यकारणभाव की यह व्यवस्था तो पूर्व-पूर्व की अनेक क्षणिक पर्यायों के समूहरूप कुशूल, कोश, कोश, स्थास, पिण्ड और

कुम्हार द्वारा खान से लायी हुई अथवा अन्त में खान में पड़ी हुई मिट्टी तक की एक के पूर्व एक के रूप में विभाजित सभी क्षणिक पर्यायों में भी लागू होगी। ऐसी स्थिति में खान की मिट्टी में अथवा खान से कुम्हार द्वारा लायी गयी मिट्टी में तथा पिण्ड, स्थास, कोश और कुशूल रूप मिट्टी की अवस्था में घट के अनुरूप नियमित कारणता का निषेध कैसे किया जा सकता है? अर्थात् घट की निष्पन्न अन्तिम क्षणवर्ती कार्यरूप पर्याय से अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय यदि आपके मत में नियत से घट को उत्पन्न करनेवाली है तो उक्त कार्यरूप इस पर्याय से अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती इस कारणरूप पर्याय को इससे भी अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय नियम से ही उत्पन्न करेगी, इस तरह कार्यकारणभाव की यह पूर्व परम्परा नियमितपने के आधार पर ही कुशूल, कोश, स्थास, पिण्ड और अन्त में खान की मिट्टी तक पहुँच जायेगी। इस प्रकार आपको मान्य 'उपादानकारण वही है जिससे नियम से कार्य उत्पन्न हो जावे' उपादानकारण का यह लक्षण जिस प्रकार आपके मत से घट की निष्पन्न अन्तिम क्षणवर्ती पर्याय से अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्याय में घटित होता है, उसी प्रकार घट कार्य की अनुकूलता को प्राप्त मिट्टी की उक्त सभी पर्यायों में भी आपके मत से घटित हो जाता है। इस तरह आपके मतानुसार भी मिट्टी की सामान्यरूप अवस्था को तथा घट-निर्माण के उद्देश्य से कुम्हार द्वारा निर्मित पिण्डादि रूप अवस्थाओं को घट कार्य के प्रति उपादान कारण मान लेने में कोई बाधा नहीं रह जाती है। इतना ही नहीं, घट-निर्माण की योग्यता को प्राप्त मिट्टी की आदि अवस्था को प्राप्त परमाणुरूप द्रव्यों में अनादिकाल से ही यह व्यवस्था आपके मतानुसार स्वीकार करनी होगी, लेकिन इससे जो अव्यवस्था पैदा होगी, वह यह कि प्रत्येक परमाणुरूप द्रव्य में परिणमन की ही योग्यता तथा उनका परिणमन एक ही रूप स्वीकार करना होगा जो कि जैनदर्शन की व्यवस्था तथा आगम के स्पष्ट विरुद्ध पड़ता है।

पंचास्तिकाय गाथा 78 की आचार्य अमृतचन्द्र की टीका में लिखा है—

पृथिव्यप्तेजोवायुरूपस्य धातुचतुष्कस्य एक एव परमाणुः कारणम्।

अर्थ - पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चारों धातुओं का एक ही परमाणु कारण होता है।

गाथा में इस बात को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया गया है। इस तरह आपकी मान्यता में आगम का विरोध स्पष्ट है।

इस अव्यवस्था को नहीं होने देने का यही एक उपाय है कि आप अपने द्वारा मान्य

सदोष कार्यकारणभाव व्यवस्था को बदल कर हमारे द्वारा स्वीकृत आगम सम्मत व्यवस्था को स्वीकार कर लें।

यदि कहा जाय कि जिस प्रकार घट की निष्पन्न अन्तिम क्षणवर्ती पर्याय का उससे अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्याय के साथ कार्यकारणभाव का नियम बनता है, वैसा नियम उस अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय से पूर्व की पर्यायों के साथ घट की निष्पन्न अन्तिम क्षणवर्ती पर्याय का नहीं बन सकता है तो इस पर हम आपसे पूछना चाहेंगे कि जब आपके मत से क्रमनियमित पर्यायों के मध्य अव्यवहित पूर्वोत्तर क्षणवर्ती पर्यायों में नियमित कार्यकारणभाव विद्यमान है तो आपके इस मत में यह कदापि नहीं कहा जा सकता है कि जैसा कार्यकारणभाव का नियम घट की निष्पन्न अन्तिम क्षणवर्ती पर्याय का उससे अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्याय के साथ बनता है, वैसा उससे पूर्ववर्ती पर्यायों के साथ नहीं बन सकता है।

यदि फिर भी कहा जाय कि कार्यरूप पर्याय से अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्याय में ऐसी सामर्थ्य प्रगट हो जाती है कि उससे अनन्तर क्षण में ही कार्य उत्पन्न हो जाता है।

तो इस पर भी यह प्रश्न उठ सकता है कि यह सामर्थ्य क्या है? और इसकी उत्पत्ति का कारण भी क्या है? यदि आप इसके उत्तर में यह कहें कि कार्यव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्याय में स्वभावरूप से पाया जानेवाला कार्याव्यवहित पूर्व क्षणवर्तीपना ही वह सामर्थ्य है, जो अनन्तर समय में नियम से कार्य को पैदा कर देती है, तो यह मान्यता इसलिए गलत है कि कार्याव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्याय में जो कार्याव्यवहित पूर्व क्षणवर्तित्वरूप धर्म पाया जाता है, वह स्वभाव से उत्पन्न हुआ नहीं है, किन्तु वह तो कार्यसापेक्ष धर्म है, अत: जब तक कार्य निष्पन्न नहीं हो जाता, तब तक अव्यवहित पूर्व पर्याय में कार्याव्यवहित पूर्व क्षणवर्तित्वरूप धर्म का व्यवहार हो ही नहीं सकता है, इसलिए यदि कहा जाय कि कार्योत्पत्ति की स्वाभाविक अतीन्द्रिय योग्यता ही सामर्थ्य शब्द का वाच्य है तो फिर हमारा कहना है कि इस प्रकार की सामर्थ्य तो मिट्टी की कुशूल, कोश, स्थास, पिण्डरूप पर्यायों में तथा इनके भी पहले की सामान्य मिट्टी रूप अवस्था में भी पायी जाती है, इसलिए घट कार्य के प्रति इन सबको उपादान कारण मानना असंगत नहीं है।

अब यदि आप हमसे यह प्रश्न करें कि यदि सामान्य मिट्टी जो खान में पड़ी हुई है अथवा जिसे कुम्हार अपने घर पर ले आया है, उस मिट्टी में तथा उसकी आगामी पिण्डादि

अवस्थाओं में यदि घट कार्य की सामर्थ्य मान ली जाती है तो फिर इन सब अवस्थाओं में भी मिट्टी से सीधा घट बन जाना चाहिए।

तो इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मिट्टी में घट निर्माण की योग्यता यद्यपि स्वभाव से ही है, परन्तु परमाणुओं का जो मिट्टी रूप परिणमन हुआ है, वह केवल स्वभाव से न होकर किसी मिट्टी रूप स्कन्ध के साथ मिश्रण होने पर ही हुआ है अर्थात् जैन संस्कृति की मान्यता के अनुसार जिस प्रकार पुद्गल कर्म-नोकर्म के साथ विद्यमान मिश्रण के कारण आत्मा की संसाररूप मिश्रित अवस्था अनादिकाल से मानी गयी है, उसी प्रकार जैन संस्कृति में पुद्गल द्रव्य को भी अनादिकाल से अणु और स्कन्ध इन दो भेद रूप स्वीकार किया गया है। इस प्रकार मिट्टी रूप स्कन्ध की स्थिति अनादिसिद्ध होती है परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह स्कन्ध नाना द्रव्यों के परस्पर मिश्रण से ही बना हुआ है, अतएव मिट्‌टी में पाया जानेवाला मृत्तिकात्व धर्म मिट्टी की अपेक्षा स्वाभाविक होते हुए भी नाना द्रव्यों के मिश्रण से उत्पन्न होने के कारण कार्यधर्म ही कहा जायेगा। उस अनादिकालीन मिट्टीरूप स्कन्ध में अन्य पुद्गल परमाणु भी जो आकर के मिल जाते हैं, उनमें वह मृत्तिकात्व धर्म उत्पन्न हो जाता है तथा जो परमाणु उस मिट्टी से निकल जाते हैं, उनका तब वह पूर्व में सम्मिलित होने से उत्पन्न हुआ मृत्तिकात्व धर्म नष्ट हो जाता है। इसका मतलब यह हुआ कि किसी भी स्कन्धरूपता के आधार पर पैदा होनेवाली पर्याय का रूप परमाणु द्रव्य से स्वत:सिद्धरूप से नहीं पाया जाता है। यह बात दूसरी है कि उसमें इस जाति की स्वत:सिद्ध योग्यता पायी जाती है कि यदि दूसरे अणु द्रव्यों या स्कन्ध द्रव्यों के साथ किसी अणु द्रव्य का मिश्रण हो जाता है तो वह अणु उसरूप परिणम जाता है। इससे यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि अणुरूप द्रव्य में तो घटरूप कार्य की उपादानता नहीं मानी जा सकती है, केवल मिट्टीरूप स्कन्ध में ही घट की उपादानता का अस्तित्व सम्भव दिखाई देता है। प्रत्यक्ष देखने में आता है कि घट की उपादानता को प्राप्त यह मिट्टी अपने-आप तो अवश्य घटरूप परिणत नहीं होती है और कुम्हार द्वारा दण्ड, चक्र आदि की सहायता से घटानुकूल व्यापार करने पर पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल आदि के क्रम से अथवा इनकी क्षणिक पर्यायों के क्रम से अवश्य घटरूप परिणत हो जाती है। इस तरह इस अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर यह निश्चित हो जाता है कि घट कार्य के प्रति अपनी स्वभाविक योग्यता के अनुसार उपादानता को प्राप्त मिट्टी, कुम्हार आदि अनुकूल निमित्तों के सहयोग से ही उत्पन्न होनेवाली उक्त क्रमिक पर्यायों के बिना घटरूप परिणत नहीं हो सकती

है। इसके साथ ही यह भी देखने में आता है कि यदि मिट्टी अच्छी नहीं है तो चतुर कुम्हार उससे अच्छा सुन्दर घड़ा नहीं बना सकता है और मिट्टी अच्छी भी हो लेकिन यदि कुम्हार चतुर न हो अथवा उसके सहायक दण्ड, चक्र आदि में कुछ गड़बड़ी हो तो भी घड़ा सुन्दर नहीं बन सकता है। अलावा इसके यह भी देखने में आता है कि घड़ा बनाते हुए कुम्हार के सामने कोई बाधा आ जाती है और तब उसे यदि अपना घड़ा बनाने रूप व्यापार बन्द कर देना पड़ता है तो उसके साथ उस घड़े का बनना भी बन्द हो जाता है और कदाचित् यह भी देखने में आता है कि कोई दूसरा व्यक्ति आकर दण्ड का प्रहार उस बनते हुए घड़े पर कर देता है तो बनते-बनते भी घड़ा फूट जाता है, फिर चाहे घट निर्माण की अन्तिम क्षणवर्ती कार्यरूप पर्याय से अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्याय ही वह क्यों न हो।

ऐसा भी देखने में आता है कि घट का उत्पत्ति क्रम चालू रहते हुए बीच की किसी भी अवस्था में किसी भी क्षण वह घट फूट भी जाता है, इसी प्रकार ऐसा भी देखने में आता है कि घट का निर्माण कार्य समाप्त हो जाने के बाद भी वह किसी भी क्षण फूट जाता है। अब आप जो यह मानते हैं कि घट की सम्पन्न अन्तिम पर्याय से अव्यवहित पूर्व क्षणवर्तीपर्याय से नियम से घट की उत्पत्ति होती है तो इसका आशय यह हुआ कि आपकी मान्यता के अनुसार घटोत्पत्ति का कार्य चालू रहते हुए यदि कदाचित् किसी अवस्था में उसका विनाश भी होना हो तो वह विनाश घट की सम्पन्न अन्तिम पर्याय से अव्यवहित पूर्व क्षणवर्तीपर्याय से भी अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय तक ही हो सकेगा। इसी प्रकार घट का निर्माण कार्य समाप्त हो जाने के अनन्तर भी आपकी मान्यता के अनुसार घट के विनाश की बराबर सम्भावना बनी रह सकती है, लेकिन घट का निर्माण कार्य चालू रहते हुए जब घट की निष्पन्न अन्तिम क्षणवर्ती पर्याय से अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्याय उपस्थित हो जायेगी तो आपकी इस मान्यता के अनुसार कि 'घट की निष्पन्न अन्तिमक्षणवर्तीपर्याय से अव्यवहित पूर्वक्षणवर्तीपर्याय से नियम से घट की उत्पत्ति होती है' उसके विनाश की कतई संभावना नहीं रहेगी। लेकिन यह मान्यता आगम का स्पष्ट प्रमाण न होने से स्वीकार नहीं की जा सकती है। और यदि आप समझते हैं कि उसका विनाश तो घट की निष्पन्न अन्तिम क्षणवर्तीपर्याय से अव्यवहित पूर्व क्षणवर्तीपर्याय में भी हो सकता है तो फिर इस तरह तो आपकी यह मान्यता समाप्त ही हो जायेगी कि 'घट की निष्पन्न अन्तिम क्षणवर्तीपर्याय से अव्यवहित पूर्व क्षणवर्तीपर्याय के अनन्तर नियम से घट की उत्पत्ति होती है।' सबसे अधिक

विचारणीय बात तो यह है कि खान में पड़ी हुई मिट्टी से लेकर घट निर्माण की अन्तिम क्षणवर्तीपर्याय तक की प्रत्येक पर्याय की अव्यवहित पूर्व क्षणवर्तीपर्याय से जब उस पर्याय की उत्पत्ति नियम से होने पर नियम आप मानते हैं तो किसी भी पर्याय की अवस्था में दण्ड प्रहार आदि के द्वारा घट का विनाश नहीं होना चाहिए, लेकिन विनाश की संभावना का अनुभव तो प्रत्येक व्यक्ति के लिये प्रत्येक वस्तु के प्रत्येक कार्य की प्रत्येक अवस्था में प्रत्येक क्षण होता ही रहता है।

आपकी जो यह मान्यता है कि कार्य से अव्यवहित पूर्व क्षणवर्तीपर्याय में वस्तु के पहुँच जपने पर नियम से कार्य की उत्पत्ति होगी, अन्यथा जैन संस्कृति की वस्तु के परिणमन स्वभाव की मान्यता ही समाप्त हो जायेगी, सो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि हमारे आगमसम्मत सिद्धान्त के अनुसार जिस वस्तु में होने वाले जिस कार्य के अनुकूल निमित्त जब जहाँ होंगे, तब तहाँ उन निमित्तों के सहयोग से उस वस्तु में उस वस्तु की उपादानशक्ति के अनुसार वह कार्य अवश्य ही होगा। इसका मतलब यह है कि वस्तु का परिणमन तो प्राकृतिक ढंग से हमेशा होता ही रहता है, वह कभी बन्द नहीं होता। परन्तु उसमें विवक्षित परिणमन या तो उपादानशक्ति के अभाव में अथवा अनुकूल निमित्त सामग्री के सहयोग के अभाव में और अथवा बाधक सामग्री के सद्भाव में अवश्य नहीं होता। तात्पर्य यह है कि उस समय उस वस्तु में होनेवाले स्वप्रत्यय परिणमन का तो कोई विरोध करता ही नहीं है और न विरोध करना ही चाहिये, साथ ही उस समय विवक्षित परिणमन के अनुकूल अथवा प्रतिकूल जैसे निमित्तों का सहयोग उस वस्तु को प्राप्त होता है, उसके आधार पर वह वस्तु अपनी उपादानशक्ति के अनुसार अपने स्व-परप्रत्यय परिणमन करती ही है।

आगे आपने अपने इस मन्तव्य की पुष्टि में कि 'जब मिट्टी घट पर्याय के परिणमन के सन्मुख होती है, तब दण्ड, चक्र और पौरुषेय प्रयत्न की निमित्तता स्वीकृत की गयी है, अन्य काल में वे निमित्त नहीं होते' प्रमेयकमलमार्तण्ड का भी प्रमाण उपस्थित किया है, जो निम्न प्रकार है -

किं ग्राहकप्रमाणाभावाच्छक्तेरभावः अतीन्द्रियत्वाद् वा? तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः कार्योत्पत्त्यन्यथानुपपत्तिजनितानुमानस्यैव तद्ग्राहकत्वात्। ननु साग्रयधीनोत्पत्तिकत्वात् कार्याणां कथं तदन्यथानुपपत्तिः यतोऽनुमानात्तत्सिद्धिः स्यात् इत्यसमीचीनं यतो नास्माभिः सामग्रयाः कार्यकारित्वं प्रतिषिध्यते किन्तु प्रतिनियतायाः सामग्रयाः प्रतिनियतकार्यकारित्वं

अतीन्द्रियशक्तिसद्भावमन्तरेणासंभाव्यमित्यसावष्यम्युपगंतव्या।

– प्रमेयकमलमार्तण्ड 2, 2, पृ. 197

इस उद्धरण से और इसका जो हिन्दी अर्थ आपने किया है, उससे हमारा कोई विरोध नहीं है। इस उद्धरण के आगे एक दूसरा उद्धरण भी प्रमेयकमलमार्तण्ड का ही आपने दिया है, जो निम्न प्रकार है –

यच्चोच्यते-शक्तिर्नित्या अनित्या वेत्यादि। तत्र किमयं द्रव्यशक्तौ पर्यायशक्तौ वा प्रश्नः स्यात्, भावानां द्रव्यपर्यायशक्त्यात्मकत्वात्। तत्र द्रव्यशक्तिर्नित्यैव, अनादिनिधन-स्वभावत्वाद् द्रव्यस्य। पर्यायशक्तिस्त्वनित्यैव, सादिपर्यवसानत्वात् पर्यायाणाम्। न च शक्तेर्नित्यत्वे सहकारिकारणानपेक्षयैवार्थस्य कार्यकारित्वानुषंगः, द्रव्यशक्तेः केवलायाः कार्यकारित्वानभ्युपगमात्। पर्यायशक्तिसमन्विता हि द्रव्यशक्तिः कार्यकारिणी, विशिष्ट-पर्यायपरिणतस्यैव द्रव्यस्य कार्यकारित्वप्रतीतेः। तत्परिणतिश्चास्य सहकारिकारणापेक्षया इति पर्यायशक्तेस्तदैव भावान्न सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसंगः सहकारिकारणापेक्षावैयर्थ्यं वा।

– प्रमेय. 2, 2 पृ. 207

इसका भी जो हिन्दी अर्थ आपने किया है, उससे और इस उद्धरण से भी हमारा कोई विरोध नहीं है। चूँकि दोनों उद्धरणों का हिन्दी अर्थ अपने किया है, अतः यहाँ पर नहीं लिखा जा रहा है। उसे आपके द्वितीय उत्तर में ही देख लेना चाहिए।

अब यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि जब हमारे और आपके मध्य प्रमेयकमलमार्तण्ड के उल्लिखित दोनों उद्धारणों की प्रमाणता को स्वीकार करने में विवाद नहीं है तथा उन दोनों ही उद्धारणों का जो हिन्दी अर्थ आपने किया है, उनसे भी हमें विरोध नहीं है तो फिर विवाद का आधार क्या है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उक्त दोनों उद्धारणों का हिन्दी अर्थ ठीक करके भी उसका अभिप्राय ग्रहण करने में गलती कर दी है।

उक्त दोनों उद्धरणों में से प्रथम उद्धरण का अभिप्राय यह है कि यद्यपि प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति साधन सामग्री की अधीनता में ही हुआ करती है, परन्तु प्रत्येक प्रकार की सामग्री से प्रत्येक प्रकार का कार्य उत्पन्न न होकर सामग्री विशेष से कार्य विशेष के उत्पन्न होने का जो नियम लोक में देखा जाता है, इसके आधार पर ही अतीन्द्रियशक्ति को स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। तात्पर्य यह है कि घट की उत्पत्ति मिट्टी से ही होती है, घट के

साधनभूत तन्तुओं से कदापि घट की उत्पत्ति नहीं होती। इसी प्रकार मिट्टी से घट के उत्पन्न होने में कुम्हार का व्यापार ही अपेक्षित होता है, जुलाहे का व्यापार अपेक्षित नहीं होता, यह जो नियम लोक में देखा जाता है, यह नियम उपादान और निमित्तभूत वस्तुओं में अपने-अपने ढंग की अतीन्द्रियशक्ति को स्वीकार किये बिना नहीं बन सकता है, अत: उपादानभूत वस्तु में कार्य विशेषरूप से परिणत होने की और निमित्तभूत वस्तु में उस उपादानभूत वस्तु को उसकी उस कार्यरूप परिणति में सहयोग देने की अपने-अपने ढंग की पृथक्-पृथक् अतीन्द्रियशक्ति का सद्भाव स्वीकार करना आवश्यक है।

इसी प्रकार दूसरे उद्धरण का अभिप्राय यह है कि प्रतिनियत कार्य के प्रति प्रतिनियत वस्तु ही उपादानकारण होती है। जैसे घटरूप कार्य के प्रति मिट्टी ही उपदानकारण होती है, यह तो ठीक है। परन्तु स्थूल पर्यायों के विभाजन की अपेक्षा यह मिट्टी जब तक कुशूल रूप पर्याय को प्राप्त नहीं हो जाती है, तब तक अथवा क्षणिक पर्यायों के विभाजन की अपेक्षा वह मिट्टी जब तक कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायरूपता को नहीं प्राप्त हो जाती है, तब तक घट कार्यरूप से परिणत नहीं हो सकती है। इस प्रकार मिट्टी में पाया जानेवाला मृत्तिकात्वरूप वस्तु-धर्म उसकी (मिट्टी की) घट रूप पर्याय की उत्पत्ति में यद्यपि कारण होता है; परन्तु जब तक यह मृत्तिकात्वरूप वस्तु-धर्म कुशूल पर्यारूपता से अथवा कार्याव्यवहित पूर्व क्षणवर्तीपर्यायरूपता से समन्वित नहीं हो जाता, तब तक वह मिट्टी घट-कार्य रूप से परिणत नहीं हो सकती है। चूँकि मिट्टी की कुशूल पर्यायरूपता अथवा कार्याव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्यायरूपता निमित्तों के सहयोग की अपेक्षा रखती है, अत: मिट्टी को जिस समय अनुकूल निमित्तों का सहयोग प्राप्त हो जाता है, उस समय में ही वह मिट्टी कुशलरूपता अथवा कार्याव्यवहित पूर्व क्षणवर्तीपर्यायरूपता को प्राप्त होती है। इस तरह कार्य में न तो सर्वदा उत्पत्ति का प्रसंग उपस्थित हो सकता है और न सहकारी कारण की व्यर्थता ही सिद्ध होती है।

अब आप अपने गृहीत अभिप्राय के साथ दोनों उद्धरणों के ऊपर लिखित अभिप्रायों का मिलान करेंगे तो आपको अभिप्राय के ग्रहण करने में अपनी गलती का पता सहज ही में लग जायेगा।

आपने जो अभिप्राय ग्रहण किया है और जिसे हम ऊपर उद्धृत कर आये हैं – यह है कि 'मिट्टी घट-पर्याय के परिणमन के सन्मुख होती है, तब दण्ड, चक्र और पौरुषेय प्रयत्न की निमित्तता स्वीकृत की गयी है, अन्य काल में वे निमित्त नहीं स्वीकार किये गये हैं।'

मालूम पड़ता है कि उक्त उद्धारणों का यह अभिप्राय आपने दूसरे उद्धारण में पठित 'तदैव' पद के आधार पर ही ग्रहण किया है, परन्तु आपको मालूम होना चाहिये कि उस उद्धरण में 'तदैव' पद का अभिप्राय यही है कि 'मिट्टी को जिस समय निमित्तों का सहयोग प्राप्त होता है, उस समय में ही वह मिट्टी कुशूल पर्यायरूपता अथवा कार्याव्यवहित पूर्व क्षणवर्तीपर्यायरूपता को प्राप्त होती है।'

इस प्रकार हमारे द्वारा और आपके द्वारा गृहीत दोनों पर्यायों में जमीन-आसमान का अन्तर देखने के लिये मिलता है, क्योंकि जहाँ आपके अभिप्राय के आधार पर निमित्त की कार्य के प्रति व्यर्थता सिद्ध होती है, वहाँ हमारे अभिप्राय के आधार पर निमित्त की कार्य के प्रति सार्थकता ही सिद्ध होती है अर्थात् आपका अभिप्राय जहाँ यह बतलाता है कि जब उपादान कार्यरूप परिणत होने के लिये तैयार रहता है, तब निमित्त हाजिर रहता है वहाँ हमारा अभिप्राय यह बतलाता है कि जब निमित्तों का सहयोग उपादान की कार्योत्पत्ति के लिये प्राप्त होता है, उस समय में ही कार्य की उत्पत्ति होती है। जैसे साईकिल को आप चलाइये, उस पर बैठ जाइये और उसे चलाते जाइये, साईकिल चलती जायगी और आपको भी यह अभिलाषित स्थान पर पहुँचा देगी।

आपने जो यह लिखा है कि दण्ड, चक्र आदि में निमित्तता उसी समय स्वीकार की गई है, जब मिट्टी घट-पर्याय के परिणमन के सन्मुख होती है, अन्य काल में वे निमित्त नहीं स्वीकार किये गये हैं। इस विषय में हमारा कहना यह है कि कुम्हार, दण्ड, चक्र आदि में घट के प्रति निमित्त कारणता का अस्तित्व उपादानभूत वस्तु की तरह नित्यशक्ति के रूप में तो पहले भी पाया जाता है, क्योंकि कायोत्पत्ति के लिये उपादानभूत वस्तु के संग्रह की तरह निमित्तभूत वस्तु का भी लोक में संग्रह किया जाता है। यह बात दूसरी है कि उपादान और निमित्त दोनों ही प्रकार की वस्तुओं का उपयोग कार्योत्पत्ति के अवसर पर ही हुआ करता है, इसलिये आपका वैसा लिखना भी गलत है।

बड़े खेद की बात है कि आपने अपने पक्ष के समर्थन में जहाँ-जहाँ और जितने आगम के उद्धरण दिये हैं, उनमें सर्वत्र इसी प्रकार की गलतियाँ आपने की हैं। हमारी आपसे विनय है कि आगम के वचनों का अभिप्राय बिल्कुल स्वाभाविक ढंग से आगम के दूसरे वचनों के साथ समन्वयात्मक पद्धति को अपनाते हुए प्रकरण आदि को लक्ष्य में रखकर वाक्य विन्यास, पदों की सार्थकता, ग्रन्थकर्ता की विषय मर्मज्ञता, साहित्यिक ढंग और भाषा

पांडित्य आदि उपयोगी बातों को लक्ष्य में रखकर ही ग्रहण कीजिये, अन्यथा इस तरह की प्रवृत्ति का परिणाम जैन संस्कृति के लिये आगे चलकर बड़ा भयानक होगा, जिसके लिये यदि जीवित रहे तो हम और आप सभी पछतवेंगे। अस्तु।

आगे आपने लिखा है कि 'सहाकारी कारण सापेक्ष विशिष्ट पर्यायशक्ति से युक्त द्रव्यशक्ति ही कार्यकारिणी मानी गयी है, केवल उदासीन या प्रेरक निमित्तों के बल पर मात्र द्रव्यशक्ति से ही द्रव्य में कार्य नहीं होता' यह तो आपने ठीक लिखा है परन्तु इसके आगे आपने जो यह लिखा है कि 'यदि द्रव्यशक्ति को बाह्य निमित्तों के बल से कार्यकारी मान लिया जाये तो चने से भी गेहूँ की उत्पत्ति होने लगे।'

इस विषय में हमें यह कहना है कि पर्यायशक्ति की अपेक्षा रहित केवल द्रव्यशक्ति को निमित्तों के बल पर हम भी कार्यकारी नहीं मानते हैं, किन्तु हम आपके समान ऐसा भी नहीं मानते कि कार्य निमित्त की अपेक्षा रहित केवल विशिष्ट पर्यायशक्ति से युक्त द्रव्यशक्ति मात्र से ही उत्पन्न हो जाया करता है तथा ऐसा भी नहीं मानते कि सहकारी कारण की सापेक्षता का अर्थ केवल इतना ही होता है कि सहकारी कारण की उपस्थिति बहाँ पर नियम से रहा ही करती है, उसका वहाँ पर कभी अभाव नहीं होता। हम तो ऐसा मानते हैं कि एक तो उस पर्यायशक्ति की उत्पत्ति सहकारी कारणों के सहयोग से ही होती है, दूसरे, पूर्व पर्यायशक्ति विशिष्ट द्रव्यशक्ति निमित्तों का वास्तविक सहयोग मिलने पर ही उत्तर पर्यायरूप कार्य को उत्पन्न करती है और फिर उस उत्तर पर्यायशक्ति विशिष्ट द्रव्यशक्ति भी यदि निमित्तों का अनुकूल सहयोग मिल जावे तो उस उत्तर पर्याय से भी उत्तर पर्याय को उत्पन्न कर देती है तथा यदि अनुकूल निमित्तों का सहयोग प्राप्त नहीं होता तो वर्तमान पर्यायशक्ति से विशिष्ट द्रव्यशक्ति उस पर्याय से उत्तर क्षणवर्ती विवक्षित पर्याय को उत्पन्न करने में सर्वथा ही असमर्थ रहेगी? फिर तो उससे उसी कार्य की उत्पत्ति होगी जिसके अनुकूल उस समय निमित्त उपस्थित होंगे। इसलिए आपने जो प्रकृत में चने से गेहूँ की उत्पत्ति के प्रसक्त होने की आपत्ति हमारे सामने उपस्थित की है, उस आपत्ति का हमारे सामने उपस्थित करना कुछ अर्थ नहीं रखता है, क्योंकि **अन्य अनेक शक्तियों के रहते हुए भी चने में गेहूँ के उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है।**

आगे आपने 'यदि द्रव्यशक्ति को बाह्य निमित्तों के बल से कार्यकारी मान लिया जाये तो चने से भी गेहूँ की उत्पत्ति होने लगे' इस आपत्ति के उपस्थित करने में जो यह हेतु दिया

है कि 'क्योंकि गेहूँ स्वयं द्रव्य नहीं है किन्तु पुद्गलद्रव्य की एक पर्याय है, अतएव गेहूँ पर्यायविशिष्ट पुद्गलद्रव्य बाह्य कारण सापेक्ष गेहूँ के अंकुरादि कार्यरूप से परिणत होता है। यदि विशिष्ट पर्यायरहित द्रव्य सामान्य से निमित्तों के बल पर गेहूँ की अंकुरादि पर्यायों की उत्पत्ति मान ली जाये तो जो पुद्गल चनारूप है, वे पुद्गल होने से उनसे भी गेहूँरूप पर्यायों की उत्पत्ति होने लगेगी।'

इसमें हमारा कहना यह है कि आपने गेहूँ पर्याय विशिष्ट पुद्गलद्रव्य को बाह्य कारणसापेक्ष होने पर ही गेहूँ के अंकुरादि कार्य रूप से परिणत होना लिखा है, सो यह यदि आपने बुद्धिभ्रम से न लिखकर बुद्धिपूर्वक ही लिखा है तो इससे तो कार्य के प्रति निमित्तकारण की सार्थकता का ही समर्थन होता है। इस तरह आपके द्वारा स्वीकृत कार्य के प्रति निमित्तकारणता की अंकिचित्करता का आप ही के द्वारा खण्डन हो जाता है, क्योंकि हम भी तो यही कहते हैं कि गेहूँ से जो गेहूँ की अंकुरादिरूप से पर्याय बनती है, वह बाह्य निमित्तों का सहयोग मिलने पर ही बनती है अर्थात् यदि बाह्य निमित्तों के सहयोग के अभाव में ही गेहूँ से उक्त अंकुरादिरूप पर्याय की उत्पत्ति स्वीकार की जाती है तो फिर कोठी में रखे हुए गेहूँ से भी निमित्त की सहायता के बिना उक्त अंकुरादिरूप पर्याय की उत्पत्ति होने लगेगी। तात्पर्य यह है कि कोठी में रक्खे हुए गेहूँ में हमारे समान अपने भी गेहूँ की अंकुरोत्पत्ति की योग्यता (उपादानशक्ति) को उक्त लेख द्वारा स्वीकार कर लिया है, क्योंकि उक्त लेख में आपने यही तो लिखा है कि गेहूँ पर्याय विशिष्ट पुद्गलद्रव्य बाह्य कारण सापेक्ष गेहूँ के अंकुर आदि कार्यरूप परिणत होता है। अब यदि कोठी में रक्खे हुए उस गेहूँ से गेहूँ का अंकुर उत्पन्न नहीं हो रहा है तो इसका कारण सिर्फ बाह्य निमित्तों के सहयोग का अभाव ही हो सकता है, अन्य कोई नहीं। इस प्रकार कार्य के प्रति जब निमित्तकारण की आपही सार्थकता सिद्ध कर देते हैं तो वह जैसे अकिंचित्कर नहीं रह जाता है, वैसे ही वह कल्पनारोपित भी नहीं रहता है। हमारा प्रयास आपसे इतनी ही बात स्वीकृत कराने का है।

वैसे आपके इस मन्तव्य से हम सहमत नहीं हो सकते हैं कि 'पुद्गलरूप द्रव्यशक्ति ही गेहूँरूप पर्यायविशिष्ट होकर गेहूँरूप पर्याय को उत्पन्न करती है—ऐसा कार्यकारणभाव यहाँ पर स्वीकार किया गया है' किन्तु गेहूँ नाम का पुद्गलद्रव्य अनुकूल निमित्त के सहयोग से गेहूँरूप अंकुरोत्पत्ति के योग्य विशिष्ट पर्याय को प्राप्त होने पर अनुकूल निमित्त सहयोग से ही गेहूँरूप अंकुरोत्पत्ति अपने में कर लेता है, ऐसा ही कार्य कारणभाव यहाँ पर ग्रहण करना

उचित है। अत: इस रूप से भी चने से गेहूँ की उत्पत्ति के प्रसक्त होने की आपत्ति उपस्थित नहीं होती है।

यह जो आपने कहा है कि 'गेहूँ स्वयं द्रव्य नहीं है, किन्तु पुद्‌गलद्रव्य की एक पर्याय है' सो इसके विषय में भी हमारा कहना यह है कि गेहूँ एक पुद्‌गलद्रव्य की पर्याय नहीं है, किन्तु अनेक पुद्‌गलद्रव्य मिश्रित होकर एक गेहूँरूप स्कन्ध पर्यायरूपता को प्राप्त हुए हैं, इसलिए जिस तरह आत्मा कर्म-नोकर्मरूप पुद्‌गलों के साथ मिश्रित होकर दोनों का एक पिण्ड बना हुआ है, उसी प्रकार नाना अणुरूप पुद्‌गलद्रव्यों का भी परस्पर मिश्रण होकर एक गेहूँरूप पिण्ड बन गया है। आगम में यद्यपि पुद्‌गल स्कन्धों को पुद्‌गलद्रव्य की पर्याय भी कहा गया है, परन्तु इसका आशय इतना ही है कि नाना अणुरूप द्रव्यों ने मिलकर अपनी एक स्कन्ध पर्यायरूप स्थिति बना ली है। यदि आप गेहूँ आदि स्कन्धों की पुद्‌गलद्रव्य की पर्याय स्वीकार करते हैं तो यह हमारे लिए तो अनिष्ट नहीं है। परन्तु ऐसा मानने पर आपके सामने बन्धरूप संयोग की वास्तविक स्थिति स्वीकार करने का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा, लेकिन श्री पण्डित फूलचन्दजी जैन ने अपनी जैनतत्त्वमीमांसा पुस्तक में संयोग को अवास्तविक ही स्वीकार किया है, वह कथन निम्न प्रकार है—

'जीव की संसार और मुक्त अवस्था है और वह वास्तविक है - इसमें सन्देह नहीं। पर इस आधार से कर्म और आत्मा के संश्लेष सम्बन्ध को वास्तविक मानना उचित नहीं है। जीव का संसार उसकी पर्याय में ही है और मुक्ति भी उसी की पर्याय में है, ये वास्तविक है और कर्म तथा आत्मा का संश्लेष सम्बन्ध उपचरित है। स्वयं संश्लेष सन्बन्ध यह शब्द ही जीव और कर्म के पृथक्-पृथक् होने का ख्यापन करता है।'

- जैनतत्त्वमीमांसा, विषय प्रवेश प्रकरण, पृ. 18

यहाँ पर उन्होंने (पं. फूलचन्दजी ने) संश्लेष सम्बन्ध को उपचरित माना है और उपचरित शब्द का अर्थ आप सब कल्पनारोपित ही करते हैं।

अब उक्त कथन के अनुसार कार्यकारणभाव का वास्तविक आधार क्या है ? इस पर थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक जान पड़ता है।

मिट्टी घट का कारण है—इस वाक्य का अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि मिट्टीरूप पर्यायशक्ति विशिष्ट पुद्‌गलरूप द्रव्यशक्ति घट का कारण है, किन्तु उक्त वाक्य का यही अर्थ समझना चाहिए कि स्थूल पर्यायों की अपेक्षा घटरूप कार्याव्यवहित पूर्ववर्ती कुशूल पर्यायशक्ति

से विशिष्ट तथा क्षणिक पर्यायों की अपेक्षा घटरूप कार्याव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्यायशक्ति से विशिष्ट मिट्टीरूप द्रव्यशक्ति घट का कारण है। इसी प्रकार गेहूँ गेहूँ की अंकुरोत्पत्ति में कारण है – इस वाक्य का यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि गेहूँरूप पर्यायशक्ति विशिष्ट पुद्गलरूप द्रव्यशक्ति गेहूँ की अंकुरोत्पत्ति में कारण है, किन्तु उक्त वाक्य का यही अर्थ समझना चाहिए कि स्थूल पर्यायों की अपेक्षा गेहूँ की अंकुरोत्पत्तिरूप कार्याव्यवहित पूर्ववर्ती खेत में वपन रूप पर्यायशक्ति विशिष्ट तथा क्षणिक पर्यायों की अपेक्षा गेहूँ की अंकुरोत्पत्ति रूप कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायशक्ति विशिष्ट गेहूँरूप द्रव्यशक्ति ही गेहूँ की अंकुरोपत्ति में कारण है।

इसका कारण यह है कि घटरूप कार्य के उत्पन्न होने में मिट्टी पुद्गलद्रव्य की पर्यायरूप से कारण नहीं बन रही है, किन्तु स्वयं एक पौद्गलिक द्रव्यरूप से ही बन रही है। इसी प्रकार गेहूँ की अंकुरोत्पत्तिरूप कार्य के उत्पन्न होने में गेहूँ भी पुद्गलद्रव्य की पर्यायरूप से कारण नहीं बन रहा है, किन्तु स्वयं एक पौद्गलिक द्रव्यरूप से ही कारण बन रहा है। इस तरह घट की उत्पत्ति में मिट्टी में विद्यमान पुद्गलत्त्व नाम का द्रव्यांश द्रव्यशक्तिरूप से कारण न होकर उस मिट्टी में ही विद्यमान मृत्तिकात्व नाम का द्रव्यांश ही द्रव्यशक्तिरूप से कारण होता है और तब स्थूल पर्यायों की अपेक्षा मिट्टी का घटरूप कार्याव्यवहित पूर्ववर्ती कुशूलरूप पर्यायांश तथा क्षणिक पर्यायों की अपेक्षा उस मिट्टी का ही घटरूप कार्याव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्यायरूप पर्यायांश पर्यायशक्ति रूप से कारण होता है। इसी प्रकार गेहूँ की अंकुरोत्पत्ति में गेहूँ में विद्यमान पुद्गलत्व नाम का द्रव्यांश द्रव्यशक्तिरूप से कारण न होकर उस गेहूँ में ही विद्यमान गेहूँपना (गोधूमत्व धर्म) नाम का द्रव्यांश ही द्रव्यशक्तिरूप से कारण होता है और तब स्थूल पर्यायों की अपेक्षा गेहूँ का गेहूँ की अंकुरोत्पत्ति का कार्याव्यवहित पूर्ववर्ती खेत में वपनरूप पर्याययांश तथा क्षणिक पर्यायों की अपेक्षा उस गेहूँ का ही गेहूँ की अंकुरोत्पत्तिरूप कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायरूप पर्यायांश पर्यायशक्तिरूप से कारण होता है।

उपर्युक्त कथन से जब यह बात सिद्ध हो जाती है कि हमारे मतानुसार घड़े की उत्पत्ति मिट्टी से ही होती है और गेहूँ के अंकुर की उत्पत्ति गेहूँ से ही होती है तो चने से गेहूँ के अंकुर की उत्पत्ति की प्रसक्ति होने की जो आपत्ति आपने हमारे समक्ष उपस्थित की है, उसका निरसन अपने आप ही हो जाता है। इस प्रकार जो कार्यकारणभाव की व्यवस्था जैन संस्कृति के

अनुसार आगम प्रमाणों के आधार पर बनती है, उसका रूप निम्न तरह से समझना चाहिए-

चूँकि मिट्टी आदि स्कन्धों की स्थिति परम्परा के रूप में अनादिकाल से ही चली आ रही है और इसी तरह अनन्तकाल तक चली जानेवाली है और जब मिट्टी आदि स्कन्ध उल्लिखित कथन के आधार पर द्रव्य ही सिद्ध होते हैं तो उनमें रहनेवाले मृत्तिकाल आदि द्रव्यांश भी नित्य ही सिद्ध होते हैं। मृत्तिका से घट की उत्पत्ति में यह मृत्तिकात्व धर्म ही मिट्टी में पायी जानेवाली नित्य उपादानशक्ति है। यह उपादानशक्ति खान में पड़ी हुई मिट्टी में भी पायी जाती है, लेकिन चूँकि खान में पड़ी हुई उस मिट्टी से खान में पड़े-पड़े अपने आप घट का बनना असम्भव है, अत: उक्त उपादानशक्ति की जाँच करके कुम्हार खान में पड़ी हुई उस मिट्टी को घड़ा बनाने के उद्देश्य से अपने घर ले आता है और यहीं से फिर कुम्हार के व्यापार के सहयोग से उस मिट्टी की घट निर्माण के अनुकूल स्थूल पर्यायों की अपेक्षा उत्तरोत्तर विकासरूप पिण्ड, स्थास, कोश और कुशूल आदि अवस्थाएँ तथा क्षणिक पर्यायों की अपेक्षा एक-एक क्षण की एक-एक पर्याय के रूप में उत्तरोत्तर विकासरूप अवस्थाएँ चालू हो जाती हैं। ये सब पिण्डादिरूप स्थूल अवस्थाएँ या क्षण-क्षण की सूक्ष्म अवस्थाएँ एक के बाद एक के क्रम से कुम्हार के क्रमिक व्यापार के अनुसार हुआ ही करती हैं, अत: इन्हें घट की उत्पत्ति के अनुकूल उस मिट्टी को घट की अनित्य उपादानशक्ति के रूप से ही आगम में स्वीकार किया गया है। प्रमेयकमलमार्तण्ड के '**यच्चोच्यते**' इत्यादि कथन का अभिप्राय यही है।

इसी प्रकार घट निर्माण की स्वाभाविक योग्यता को धारण करने वाली खान की मिट्टी में घट निर्माण के उद्देश्य से किये जानेवाले कुम्हार के दण्डादिसापेक्ष व्यापार के सहयोग से घट निर्माण के अनुकूल पिण्डादि नाना क्षणवर्ती स्थूल पर्यायों अथवा क्षण-क्षण में पर्यायमान सूक्ष्म पर्ययों का उत्तरोत्तर विकास के रूप में उत्तर पर्याय का उत्पाद तथा पूर्व पर्याय का विनाश होता हुआ अन्त में घट का निर्माण हो जाता है और तब उस घट निर्माण की समाप्ति के साथ ही कुम्हार अपना भी व्यापार समाप्त कर देता है। यही प्रकिया गेहूँ से गेहूँ की अंकुरोत्पत्ति के विषय में तथा सभी कार्यों के विषय में भी लागू होती है।

तात्पर्य यह है कि मिट्टी से घट के निर्माण में कुशल कुम्हार सर्वप्रथम खान में पड़ी हुई उस मिट्टी में घटरूप से परिणत होने की जिस योग्यता की जाँच कर लेता है, उस योग्यता का नाम ही मिट्टी में विद्यमान घट निर्माण के यिल नित्य उपादानशक्ति है, क्योंकि यह स्वभावत: उस मिट्टी में पयी जाती है। कुम्हार इस योग्यता को उसमें पैदा नहीं करता है, इसी

को अभिमुखता, सन्मुखता, उत्सुकता आदि शब्दों से आगम में पुकारा गया है। खान में पड़ी मिट्टी में उक्त प्रकार की योग्यता जाँच करने के अनन्तर उस मिट्टी को घर लाकर कुम्हार उसमें स्वाभाविक रूप से विद्यमान उस योग्यता के आधार पर दण्ड, चक्र आदि आवश्यक अनुकूल सामग्री की सहायता से अपने व्यापार द्वारा उस मिट्टी से निम्न क्रमपूर्वक घट का निर्माण कर देता है—

कुम्हार का वह व्यापार पहले तो उस मिट्टी को खान से घर लानेरूप ही होता है, फिर वह उसे घट निर्माण के अनुकूल तैयार करने में अपना व्यापार करता है। इसके अनन्तर उस कुम्हार के व्यापार से ही वह मिट्टी पिण्ड बन जाती है और फिर उसी कुम्हार के व्यापार के सहारे से ही वह मिट्टी क्रम से स्थास, कोश और कुशूल बनकर अन्त में घट बन जाती है। इस प्रक्रिया में कुम्हार के व्यापार का सहयोग पाकर उस मिट्टी में क्रमशः पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल और घटरूप से उत्तरोत्तर जो परिवर्तन होते हैं, मिट्टी में होने वाले इन परिवर्तनों में से पूर्व-पूर्व के परिवर्तन को आगे-आगे के परिवर्तन के लिये योग्यता, अभिमुखता, सन्मुखता या उत्सुकता आदि नामों से पुकारी जानेवाली अनित्य उपादानशक्ति के रूप में आगम द्वारा प्रतिपादित किया गया है। पूर्व का परिवर्तन हो जाने पर ही उत्तर का परिवर्तन होता है, अतः पूर्व परिवर्तन को उत्तर परिवर्तन के लिये उपादान कहा गया है और चूँकि ये सब परिवर्तन दण्डादि अनुकूल निमित्तों के सहयोग से होनेवाले कुम्हार के व्यापार के सहारे पर ही हुआ करते है तथा इनमें पूर्व परिवर्तन का रूप ही कुम्हार के व्यापार द्वारा बदलकर उत्तर परिवर्तन का रूप विकसित होता है, अतः इन्हें अनित्य माना गया है।

इसका मतलब यह हुआ कि खान में पड़ी हुई मिट्टी में जो मृत्तिकात्व धर्म पाया जाता है वह उसका निजी स्वभाव है और चूँकि उसके आधार पर ही घट निर्माण की भूमिका प्रारम्भ होती है एवं घट का निर्माण हो जाने पर भी उसका नाश नहीं होता है, अतः उसे घट निर्माण की नित्य उपादानशक्ति में अन्तर्भूत करना चाहिये तथा इसके अनन्तर कुम्हार के व्यापार के सहारे पर क्रम से जो जो परिवर्तन उस मिट्टी में होते जाते है, वे सब परिवर्तन पूर्व-पूर्व परिवर्तन के कार्य और उत्तर-उत्तर परिवर्तन के लिये कारण है, अतः इन्हें घट निर्माण की अनित्य उपादान-शक्ति में अन्तर्भूत करना चाहिए। किन्तु यहाँ पर इतना विशेष समझना चाहये कि इन सब परितर्वनों में अन्तिम परिवर्तन घट निर्माण की सम्पन्नता को ही माना गया है। कारण कि कुम्हार के व्यापार का अन्तिम लक्ष्य वही रहता है, अतः उसका अन्तर्भाव

केवल कार्यों में ही होता है, कारणों में नहीं। यही कारण है कि उसकी निष्पन्नता के साथ ही कुम्हार अपना व्यापार भी बन्द कर देता है।

इन सब परिवर्तनों को यहाँ पर जैसा पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल और घटरूप स्थूल परिवर्तनों में विभक्त किया गया है वैसा ही चाहो तो एक-एक क्षणवर्ती परिवर्तनों के रूप में भी उन्हें विभक्त कर सकते हो, क्योंकि प्रश्न इस बात का नहीं है कि इन सब परिवर्तनों का विभाजन पिण्डादि स्थूल पर्यायों के रूप में किया जाय अथवा क्षणिक पर्यायों के रूप में किया जाय? किन्तु प्रश्न यह है कि ये सब परिवर्तन एक के बाद एक करके अपने आप होते चले जाते है या जैसे-जैसे कुम्हार का व्यापार आगे होता जाता है, वैसे-वैसे ये परिवर्तन भी आगे बढ़ते जाते हैं? उक्त प्रश्न का समाधान अनुभव, तर्क और आगम प्रमाण के आधार पर हमने अपनी प्रतिशंका का में किया है, वह यह है कि उक्त सभी परिवर्तन कुम्हार के व्यापार के सहारे पर ही हुआ करते हैं, अपने आप नहीं। अत: उपादानगत योग्यता को लक्ष्य में रखते हुए जब जैसे निमित्त मिलते हैं, वैसा ही परिणमन वस्तु की अपनी योग्यता के अनुसार हुआ करता है- यह मान्यता गलत नहीं है। इतना ही नहीं, कार्य के प्रति उभय कारणों का जो आगम में स्वीकृति की गयी है, उसकी सार्थकता भी इसी ढंग से हो सकती है, अन्यथा नहीं। यह सब पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है।

आपका कहना है कि 'मुख्य विवाद उपादान का है, क्योंकि उपादान की कार्योत्पत्ति के लिये तैयारी हो जाने पर निमित्त मिलते ही है।' लेकिन हमारा कहना- जैसा कि ऊपर सिद्ध किया जा चुका है, यह है कि कार्योत्पत्ति के लिये उपादान की तैयारी निमित्तों के बल पर ही हुआ करती है।

यद्यपि केवल स्व-प्रत्ययता के आधार पर होनेवाली कार्य-विधि की परम्परा धाराप्रवाहरूप से अनादिकाल से चली आ रही है और अनन्तकाल तक वह चलती ही जायगी। षड्गुण हानि-वृद्धिरूप से परिणमन की परम्परा का अन्तर्भाव इसी कार्य-विधि में होता है। इसीप्रकार स्वपर प्रत्ययता के आधार पर होनेवाली कार्य-विधि की बहुत-सी परम्परा भी ऐसी हो रही है, जो अनादिकाल से धाराप्रवाह रूप से चली आ रही है और अनन्त काल तक चलती ही आयेगी। जैसे परिणमनशील वस्तुओं के निमित्त ने आकाश, धर्म, अधर्म तथा काल द्रव्यों के स्वभावों में जो परिणमन होता रहता है, वह इसी कोटि में आता है, क्योंकि वह स्वपरप्रत्यय होता हुआ अनादि काल से धाराप्रवाहरूप से चलता आ रहा है और

अनन्त काल तक इसी रूप में चलता ही जायगा। लोक के सामने समस्या इन दोनों प्रकार के परिणमनों की नहीं है, परन्तु स्वपरप्रत्ययता के आधार पर ही होनेवाली घटादि कार्यविधि की परम्परा ऐसी नहीं है जो अनादि काल से अनन्त काल तक धाराप्रवाहरूप से चलनेवाली हो, क्योंकि घटादि कार्यविधि की परम्परा लोक में और ही देखने में आती है। जैसे खान में मिट्टी अनादिकाल से पड़ी हुई चली आ रही है और यह निर्विवाद है कि अनादिकाल से अब तक खान में पड़े रहते हुए उससे घटरूप पर्याय का निर्माण स्वत: अथवा स्व और पर के सहयोग से न तो हुआ, न कभी होनेवाला है। इसके विपरीत यह बात अवश्य देखने में आती है कि खान में पड़ी हुई उस मिट्टी में से कुछ मिट्टी को कुम्हार अपनी आवश्यकता और आकांक्षा के आधार पर बनाने के उद्देश्य से यथावसर अपने घर लाता है और जब वह कुम्हार घट कार्य के निर्माण के लिये सहायतारूप अपना व्यापार देता है, तब उस मिट्टी से घट कार्य का निर्माण भी होता हुआ देखा जाता है। घट का वह निर्माणरूप कार्य कुम्हार के व्यापार के सहारे पर होता हुआ तब तक चलता रहता है, जब तक या तो घट कार्य का निर्माण सम्पन्न नहीं हो जाता अथवा कुम्हार के व्यापार के सहारे पर ही तब तक होता हुआ देखने में आता है, जब तक कि चालू निर्माण कार्य के मध्य में दण्ड आदि के प्रहार से वह फूट नहीं जाता है। निर्माण कार्य के समाप्त हो जाने पर अथवा बीच ही में उसके नष्ट हो जाने पर उसमें दूसरे ही प्रकार की कार्यविधि की परम्परा दूसरे निमित्तों के सहयोग से उसकी अपनी योग्यता के अनुसार चालू हो जाती है। यही कारण है कि इस प्रकार कार्यविधि की परम्परा में परिवर्तन हो जाने के सबसे पुरानी और जीर्ण-शीर्ण वस्तुएँ भी नवीनता का रूप लेकर सामने आती रहती हैं। अब यदि निमित्त का उपयोग इस कार्य विधि में न माना जाय, केवल उपादान के अपने बल पर ही उसे स्वीकार कर लिया जाय तो ऐसी हालत में उसमें कार्य से कार्यान्तर का विभाग करना असंभव हो जायगा तथा कोई पुरानी वस्तु कभी और किसी भी हालत में नवीनता को प्राप्त नहीं हो सकेगी।

आगे आपका कहना है कि 'ऐसा है नहीं कि निश्चय उपादान हो और निमित्त न मिलें' फिर आगे आप कहते हैं कि 'इसी बात को असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा यों कहा जाता है कि जब जैसे निमित्त मिलते हैं, तब वैसा कार्य होता है।'

अपने इस कथन से आप यह निष्कर्ष निकाल लेना चाहते हैं कि यद्यपि उपादान स्वयं अपनी सामर्थ्य के आधार पर ही कार्य निष्पन्न कर लेता है, उसे अपनी कार्यनिष्पत्ति

में निमित्तों का सहयोग लेने की आवश्यकता नहीं रहा करती है। परन्तु निश्चय उपादान के रहते हुए चूँकि वहाँ पर निमित्त नियम से उपस्थित रहा करते हैं, अत: वस्तुस्थिति वैसी न रहते हुए भी केवल बोलने में ऐसा आता है कि जब जैसे निमित्त मिलते हैं, तब वैसा कार्य होता है।

विचार करने पर मालूम पड़ता है कि निमित्त की अकिंचित्करता और कल्पनारोपितता को सिद्ध करने के लिये आपका यह प्रयास बिल्कुल व्यर्थ है। आगे इसी बात को स्पष्ट किया जा रहा है—

स्वपरप्रत्यय परिणमन रूप कार्यों में स्व अर्थात् उपादान के साथ-साथ पर अर्थात् निमित्त के सहयोग की आवश्यकता रहा करती है- इस बात को पूर्व में अत्यन्त स्पष्टता के साथ बतला दिया गया है तथा इस विषय के समर्थन में राजवार्तिक का निम्नलिखित प्रमाण भी देखने योग्य है, जिसमें कार्य के प्रति निमित्तपने के आधार पर धर्म और अधर्मद्रव्यों की सिद्धि की गयी है —

कार्यस्यानेकोपकरणसाध्यत्वात् तत्सिद्धेः ।।३९ ।। इह लोके कार्यमनेकोपकरणसाध्यं दृष्टं, यथा मृत्पिण्डो घटकार्यपरिणामप्राप्तिं प्रति गृहीताभ्यन्तरसामर्थ्यः बाह्यकुलाल-दुण्ड-चक्र-सूत्रोदक-कालाकाशद्यने-कोपकरणापेक्षः घटपर्यायेणाविर्भवति, नैकएव मृत्पिण्डः कुलालादिबाह्यसाधनसन्निधानेन बिना घटात्मनाविर्भवितुं समर्थः, तथा पतत्रिप्रभृति द्रव्यं गतिस्थितिपरणामप्राप्तिं प्रत्यभिमुखं नान्तरेण बाह्यानेककारणसन्निधिं गतिं स्थितिं चावाप्तुमलमिति तदुपग्रहकारणधर्माधर्मास्तिकायसिद्धिः । *- अध्याय 5, सूत्र 10, वार्तिक 31*

अर्थ - कार्य की सिद्धि अनेक उपकरणों (कारणों) से होने के कारण धर्म तथा अधर्म दोनों द्रव्यों का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। लोक में भी यही बात देखने में आती है- जैसे जिस मिट्टी के पिण्ड में घट कार्य परिणमन के योग्य स्वाभाविक सामर्थ्य विद्यमान है, वह बाह्य कुम्हार, दण्ड, चक्र, सूत, जल, काल और आकाशादि अनेक कारणों को सहायता से ही घटरूप परिणत होता है। केवल मिट्टी का पिण्ड अकेला कुम्हार आदि बाह्य साधनों के सहयोग के बिना घटरूप से परिणत होने में समर्थ नहीं होता है। वैसे ही पक्षी आदि द्रव्य गति और स्थितिरूप परिणमन की अपने में योग्यता रखते हुए भी, बाह्य अनेक कारणों के सहयोग के बिना गति और स्थितिरूप परिणमन को प्राप्त नहीं हो सकते हैं, इसलिए इनके सहायक कारणों के रूप में धर्म और अधर्म द्रव्यों का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

राजवार्तिक के इस उद्धरण से यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि 'निमित्तों का समागम उपादान की कार्यरूप से परिणत होने की तैयारी हो जाने पर हो ही जाता है'- ऐसा नियम नहीं बनाया जा सकता है, किन्तु यह तथा आगम के और दूसरे प्रमाण यही बात बतलाते हैं कि उपादान को जब निमित्तों का सहयोग प्राप्त होगा, तभी उपादान की नित्य द्रव्यशक्ति विशिष्ट वस्तु की जिस पर्यायशक्तिविशिष्टता को आप तैयारी शब्द से ग्रहण करना चाहते हैं, वह तैयारी होगी और तभी कार्य हो सकेगा।

आप कहते हैं कि उपादान से कार्योत्पत्ति के अवसर पर निमित्त उपस्थित तो अवश्य रहते हैं, परन्तु उनका सहयोग उपादान से होनेवाली कायोत्पत्ति में बिल्कुल नहीं होता है और इसीलिए आप कहते हैं कि 'उक्त अवसर पर रहनेवाली निमित्तों की नियमित उपस्थिति को असद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा से यों कहा जाता है कि 'जब जैसे निमित्त मिलते हैं, तब वैसा कार्य होता है।'

इस कथन से हम आपके अभिप्राय को यों समझे हैं कि आपकी दृष्टि में असद्भूत-व्यवहारनय वह कहलाता है, जिसका प्रतिपाद्य अथवा ज्ञाप्य विषय या तो बिल्कुल न हो और यदि हो तो वह असद्भूत अर्थात् असत्य हो।

परन्तु यह बात निश्चित ही जानना चाहिए कि ऐसा एक भी नय जैनागम में नहीं बतलाया गया है, जिसका प्रतिपाद्य या ज्ञाप्य विषय या तो बिल्कुल नहीं है और यदि है भी तो वह असद्भूत अर्थात् असत्य ही है, क्योंकि यदि किसी नय का कोई विषय ही निर्धारित नहीं है तो वह नय कैसा? और यदि उसका कोई विषय निर्धारित है तो उसे अवस्तुभूत या असत्य या असत्य कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि यदि अवस्तुभूत पदार्थ को भी नय का विषय माना जायगा तो उस हालत में आकाश के फूल तथा गधे के सींग भी नय का विषय होने लगेंगे। इसीलिए असद्भूतव्यवहारनय के विषय को भी वास्तविक ही स्वीकार करना होगा। अत: विचारणीय बात यह है कि ऐसा कौन-सा वास्तविक पदार्थ है, जो असद्भूत व्यवहारनय का विषय होता है।

यह बात पूर्व में ही स्पष्ट की जा चुकी है कि प्रकृत प्रकरण कार्यकारणभाव का है और चूँकि स्वपरप्रत्यय परिणमनरूप कार्य में दो तरह से कार्यकारणभाव पाया जाता है - एक तो स्वप्रत्ययता को लेकर उपादानोपादेयभाव के आधार पर और दूसरा परप्रत्ययता को लेकर निमित्तनैमित्तिक भाव के आधार पर। इस प्रकार स्वपर प्रत्यय परिणमनरूप कार्य जहाँ

उपादानोपादेयभाव की विवक्षा से उपादानभूत वस्तु के आश्रय से उत्पन्न होने के कारण उपादेय है, वहाँ पर निमित्त-नैमित्तिकभाव की विवक्षा से निमित्तभूत वस्तु के सहयोग से उत्पन्न होने के कारण नैमित्तिक भी है। अत: स्वपरप्रत्यय परिणमनरूप उस कार्य में उपादान की अपेक्षा उपादेयभाव तथा निमित्त की अपेक्षा नैमित्तिकभाव, ऐसे दो धर्म देखने को मिल जाते हैं। इनमें से उपादेयभाव उसमें उपादानभूत वस्तु के आश्रित होने के कारण जहाँ निश्चयरूप है, वहाँ नैमित्तिकभाव उसमें निमित्तभूत वस्तु के आश्रित न होने के साथ-साथ उसकी सहायता से उत्पन्न होने के कारण व्यवहाररूप है। इस प्रकार स्वपरप्रत्यय परिणमनरूप कार्य में निश्चय और व्यवहार दोनों धर्मों का समावेश होने के कारण वह स्वपरप्रत्यय परिणमन कथंचित् अर्थात् अपने उक्त निश्चयस्वरूप की अपेक्षा वचन तथा ज्ञानरूप निश्चयनय का विषय होता है और वही स्वपरप्रत्यय परिणमन कथंचित् अर्थात् अपने उक्त व्यवहार स्वरूप की अपेक्षा वचन तथा ज्ञानरूप व्यवहारनय का विषय होता है।

यह बात भी हम पूर्व में बतला चुके हैं कि निश्चयरूप अर्थ और व्यवहाररूप अर्थ ये दोनों ही पदार्थ के अंश हैं, यही कारण है कि ये दोनों अंश क्रमश: निश्चय और व्यवहार दोनों नयों के परस्पर सापेक्ष होकर ही विषय होते हैं, अर्थात् जहाँ वस्तु के निश्चयरूप अर्थांश का प्रतिपादन वचनरूप निश्यचयनय द्वारा किया जाता है, वहाँ पर वचनरूप व्यवहारनय द्वारा प्रतिपादित व्यवहाररूप अर्थांश का नियम से आक्षेप होता है। इसी प्रकार जहाँ वस्तु के व्यवहार रूप अर्थांश का प्रतिपादन वचन रूप व्यवहारनय द्वारा किया जाता है, वहाँ पर वचनरूप निश्चय नय द्वारा प्रतिपादित निश्चयरूप अर्थांश का नियम से आक्षेप होता है। यही प्रक्रिया ज्ञानरूप निश्चय और व्यवहार नयों द्वारा ज्ञाप्य निश्चय और व्यवहाररूप अर्थांशों का ज्ञान करने के विषय में भी लागू कर लेना चाहिए।

यदि एक अर्थांश के प्रतिपादन अथवा ज्ञान के साथ दूसरे अर्थांश का प्रतिपादन अथवा ज्ञान न हो तो ऐसी हालत में सिर्फ एक का प्रतिपादक वचननय अथवा ज्ञायक ज्ञाननय दोनों ही गलत हो जायेंगे। यहाँ पर स्पष्टीकरण के लिये यह दृष्टान्त दिया जा सकता है कि वस्तु की नित्यता का प्रतिपादन द्रव्यत्वरूप से निश्चयनयात्मक वचन द्वारा तथा उसका ज्ञान भी द्रव्यत्वरूप से निश्चय नयात्मक ज्ञान द्वारा यदि होता है तो इन्हें तभी सत्य माना जा सकता है, जबकि पर्यायरूप से उसी अनित्यता का व्यवहारनयात्मक वचन द्वारा होनेवाला प्रतिपादन और व्यवहारनयात्मक ज्ञान द्वारा होने वाला ज्ञान भी हमारे लक्ष्य में हो। इसी प्रकार वस्तु की

अनित्यता का प्रतिपादन पर्यायरूप से व्यवहारनयात्मक वचन द्वारा तथा उसका ज्ञान भी पर्यायरूप से व्यवहानयात्मक ज्ञान द्वारा यदि होता है तो इन्हें भी तभी सत्य माना जा सकता है, जबकि द्रव्यत्वरूप से उसकी नित्यता का निश्चयनयात्मक वचन द्वारा होनेवाला प्रतिपादन और निश्चयनयात्मक ज्ञान द्वारा होनेवाला ज्ञान भी हमारे लक्ष्य में हो। ऐसा न होकर यदि अनित्यता से निरपेक्ष केवल नित्यता का या नित्यता से निरपेक्ष केवल अनित्यता का प्रतिपादन किसी वचन द्वारा हो रहा हो, इसी तरह अनित्यता से निरपेक्ष केवल नित्यता का या नित्यता से निरपेक्ष केवल अनित्यता का ज्ञान किसी ज्ञान द्वारा हो रहा हो तो इस प्रकार के वचन तथा ज्ञान दोनों ही नयात्मक नहीं रहेंगे, क्योंकि इनके विषयभूत नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों ही पदार्थ के अंश के रूप में नहीं किन्तु पूर्ण पदार्थ के रूप में ही वचन द्वारा प्रतिपादित होंगे और ज्ञान द्वारा ज्ञात होंगे। तब ऐसी हालत में यदि उस नित्यता में अभेदात्मक रूप से अनित्यता का अथवा उस अनित्यता में अभेदात्मक रूप से ही नित्यता का अंश यदि समाया हुआ होगा तो उनके प्रतिपादक वचनों तथा उनके ज्ञापक ज्ञानों को नय कोटि में अन्तर्भूत न करके प्रमाणकोटि में ही अन्तर्भूत करना होगा और यदि वस्तु में नित्यता के द्वारा अनित्यता का अथवा अनित्यता के द्वारा नित्यता का सर्वथा लोप किया जा रहा होगा तो उस हालत में उनके प्रतिपादक वचनों तथा ज्ञापक ज्ञानों को प्रमाणभासों की कोटि में पटक देना होगा, क्योंकि पदार्थ न तो सर्वथा नित्य ही है और न सर्वथा अनित्य ही है।

इसका तात्पर्य यह है कि जब वस्तु जैन मान्यता के अनुसार कथंचित् अर्थात् निश्चय (द्रव्यत्व) रूप से नित्य मानी गयी है तो इसका आशय यह भी है कि वह कथंचित् अर्थात् व्यवहार (पर्याय) रूप से अनित्य भी है। इसी प्रकार जब वस्तु जैन-मान्यता के अनुसार कथंचित व्यवहार (पर्याय) रूप से अनित्य मानी गयी है तो इसका आशय यह भी है कि वह कथंचित् अर्थात् निश्चय (द्रव्यत्व) रूप से नित्य भी है। इस प्रकार जैन मान्यता के अनुसार जब निश्चयनय वस्तु की नित्यता को विषय करता है तो उसी समय व्यवहारनय से वस्तु की अनित्यता भी गृहीत होना चाहिए तथा जब व्यवहारनय वस्तु की अनित्यता को विषय करता है तो उसी समय निश्चयनय से वस्तु की नित्यता भी गृहीत होना चाहिये। यदि ऐसा नहीं होता है तो सम्पूर्ण नय व्यवस्था ही गड़बड़ा जायेगी।

प्रकृत में इस विवेचन का उपयोग यह है कि यदि आप व्यवहारनय की अपेक्षा से इस कथन को सही मान लेते हैं कि 'जब जैसे निमित्त मिलते हैं, तब वैसा कार्य होता है' तो इसका आशय यही होता है कि आप निमित्त को कार्य के प्रति सहायकरूप से वास्तविक

कारण मानते हैं और जब आपकी दृष्टि में भी निमित्तकारण की वास्तविकता सिद्ध हो जाती है तो फिर आपका यह कथन गलत सिद्ध होता है कि 'जब-जब विवक्षित कार्य के योग्य पर्यायशक्ति से युक्त द्रव्यशक्ति होती है, तब-तब उस कार्य के अनुकूल निमित्त मिलते ही हैं।' फिर तो आपको यही स्वीकार करना होगा कि द्रव्यशक्तिविशिष्ट वस्तु अपने में निमित्तों के सहयोग से उत्पन्न पर्यायशक्ति से युक्त होती हुई आगे की पर्यायशक्ति को निमित्तों के सहयोग से ही अपने में उत्पन्न करती है और जहाँ पर पहुँचने के बाद जिस विवक्षित पर्यायशक्ति उत्पत्ति के अनुकूल निमित्त नहीं मिल पाते हैं या विरोधी निमित्तों का सहयोग मिल जाता है तो उस विवक्षित कार्य की उत्पत्ति वहाँ पर न होकर जैसे निमित्तों का योग मिलता है, उसके अनुसार ही उस वस्तु की पर्यायशक्ति का उस समय विकास होता है, क्योंकि वस्तु में एक साथ अनेक पर्यायों के विकास की शक्तियाँ स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहा करती हैं, जिनका विकास अपने-अपने अनुकूल निमित्त-कारणों के आधार पर हुआ करता है।

इसलिए जिस प्रकार स्वपरप्रत्यय परिणमनरूप कार्य में उपादानोपादेय की विवक्षा से उपादानभूत वस्तु के आश्रय से उत्पन्न होने के कारण अपने ढंग की वास्तविकता को लिए हुए उपादेयतारूप धर्म विद्यमान रहता है, उसीप्रकार निमित्तनैमित्तिकभाव की विवक्षा से निमित्तभूत वस्तु के सहयोग से उत्पन्न होने के कारण अपने ढंग की वास्तविकता को लिये हुए नैमित्तिकतारूप धर्म भी विद्यमान रहता है।

यदि आप हमसे कहें कि स्वपरप्रत्ययरूप परिणमन में पाया जानेवाला नेमित्तिकतारूप धर्म वास्तविक है तो फिर उसे असद्भूत व्यवहारनय का विषय नहीं कहना चाहिए, क्योंकि आगम में व्यवहार को भी जब सद्भूत और असद्भूत ऐसे दो भेदों में विभक्त किया गया है तो इसका फलितार्थ यही हो सकता है कि सद्भूतव्यवहार को भले ही वास्तविकता की कोटि में रख लिया जावे परन्तु असद्भूतव्यवहार को तो वास्तविकता की कोटि में रखना असंगत ही है। कारण कि '**असद्भूत व्यवहार**' पद में पठित '**असद्भूत**' शब्द ही उसकी अवास्तविकता को बतला रहा है।

इसके विषय में हमारा कहना यह है कि स्वपरप्रत्यय परिणमन में निमित्तकारण की उपयोगिता को तो विस्तार से सिद्ध किया जा चुका है; अब केवल एक ही बात स्पष्ट करने के लिये रह जाती है कि जब निमित्तकारण वास्तविक है तो उसे असद्भूत व्यवहार की कोटि में क्यों रख दिया गया है ?

इसका भी स्पष्टीकरण इस प्रकार से करना चाहिए कि आगम में सत्ता को वस्तु का निजधर्म या स्वभाव अंगीकार किया गया है, इसलिए सद्‌भूतधर्म वही हो सकता है, जो वस्तु का निज धर्म हो। इसके अनुसार कार्यकारणभाव के प्रकरण में वस्तु के परिणमन में पाया जानेवाला उपादेयतारूप धर्म चूँकि वस्तु के अपने अन्दर ही उत्पन्न होता है, अत: उसे तो सद्‌भूत ही कहना होगा और वस्तु के उसी परिणमन में पाया जानेवाला नैमित्तिकतारूप धर्म वस्तु के अपने अन्दर उत्पन्न होकर भी सहायक अन्य वस्तु के सहारे पर ही वस्तु में उत्पन्न होता है, अत: आगन्तुक होने के कारण उसे असद्‌भूत कहना अयुक्त नहीं है।

एक बात और है कि यदि असद्‌भूत व्यवहारनय का विषय अवास्तविक अर्थात् कल्पनारोपित होकर अभावात्मक ही है तो फिर उसके (असद्‌भूत व्यवहारनय के) उपचरित असद्‌भूत व्यवहारनय और अनुपचरित असद्‌भूत व्यवहारनय ऐसे दो भेद करना असंगत ही हो जायेगा। कारण कि अभावात्मक वस्तु में उपचरित और अनुपचरित का भेद होना असंभव ही है।

बृहद्द्रव्यसंग्रह में असद्‌भूतव्यवहारनय के उक्त अनुपचरित असद्‌भूतव्यवहारनय और उपचरित असद्‌भूतव्यवहारनय दो भेद मानकर उनके अलग-अलग उदाहरण देने का आशय यही है कि बृहद्द्रव्यसंग्रह के कर्त्ता की दृष्टि से असद्‌भूतव्यवहारनय का विषय असद्‌भूतव्यवहार अभावात्मक वस्तु न होकर भावात्मक वस्तु ही है। दोनों का अन्तर भी बिल्कुल स्पष्ट मालूम पड़ रहा है अर्थात् जीव में पाया जानेवाला ज्ञानावरणादि आठ कर्मों तथा औदारिक आदि शरीरों का कर्तृत्व अनुपचरित असद्‌भूतव्यवहार है और उसमें (जीव) में पाया जानेवाला घट-पटादि पदार्थों का कर्तृत्व उपचरित असद्‌भूत व्यवहार है। इस भेद का कारण यह है कि ज्ञानावरणादि कर्मों और औदारिक आदि शरीरों का निर्माण जीव अपने से अपृथक् रूप में ही किया करता है तथा घट-पटादि का निर्माण वह अपने से पृथक्‌रूप में किया करता है।

यदि कहा जाय कि तत्त्वार्थसूत्र के सूत्र '**सद्द्रव्यलक्षणम्**' (अ. 5, सू. 29) के अनुसार सत्त्व वस्तु का निज स्वरूप होते हुए भी उसे तत्त्वार्थसूत्र के सूत्र '**उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्**' (अ. 5, सू. 30) के अनुसार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाववाला स्वीकार किया गया है। इसका फलितार्थ यह है कि वस्तु में परिणमन स्वभाव से ही हुआ करता है। उसमें निमित्तकारण के सहयोग की आवश्यकता को स्वीकार करना अयुक्त ही है।

तो इस विषय में हमारा कहना यह है कि **'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'** इस सूत्र के अनुसार वस्तु परिणमनस्वभाववाली है – यह तो ठीक है, परन्तु वह परिणमन स्वप्रत्यय के सामन स्वपरप्रत्यय भी होता है। इसका निषेध तो उक्त सूत्र से होता नहीं है। यही कारण है कि वस्तु के स्वपरप्रत्यय परिणमनों की सत्ता आगम में स्वीकार की गयी है तथा जैनतत्त्वमीमांसा में श्री पं. फूलचन्द्रजी ने और प्रश्न नं. 11 में आपने भी वस्तु के स्वपरप्रत्यय परिणमनों को स्वीकार किया है। अत: आपके द्वारा अपने प्रत्युत्तर में यह लिखा जाना कि –

'जब प्रत्येक द्रव्य सद्रूप है और उसकी उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य स्वभाववाला माना गया है तो ऐसी अवस्था में उसके उत्पाद–व्यय को अन्य द्रव्य के कर्तृत्व पर छोड़ दिया जाय और यह मान लिया जाय कि अन्य द्रव्य जब चाहें उसमें किसी भी कार्य को उत्पन्न कर सकता है तो यह उसके स्वतंत्र सत् स्वभाव पर आघात ही है' – असंगत ही है। आपकी परिणमन की स्वपरप्रत्ययता भले ही विडम्बना प्रतीत होती हो, परन्तु यह व्यवस्था आगम के साथ–साथ प्रत्यक्ष के और तर्क के भी प्रतिकूल नहीं है। यह बात पूर्व में विस्तापूर्वक सिद्ध की जा चुकी है।

आचार्यों ने जो प्रत्येक कार्य में अपने उपादान के साथ अन्तर्व्याप्ति और निमित्तों के साथ बहिर्व्याप्ति स्वीकार की है, उसका आशय यही है कि उपादान चूँकि कार्यरूप परिणत होता है, अत: उसके साथ कार्य की अभिन्नता होने के कारण वहाँ अंतरंग व्याप्ति बतलायी गयी है और निमित्त चूंकि कार्यरूप परिण्त नहीं होता, वह तो केवल कार्योत्पत्ति में सहयोगी होता है, इसलिए उसके साथ कार्य की पृथकता बनी रहने के कारण वहाँ बहिर्व्याप्ति स्वीकार की गयी है। पूर्व में हम बतला भी चुके हैं कि उपादान की कार्य के साथ एकद्रव्य प्रत्यासत्तिरूप कारणता पायी जाती है, इसलिए वहाँ अन्तर्व्याप्ति आगम में स्वीकार की गयी है और निमित्त की कार्य के साथ कालप्रत्यासत्तिरूप कारणता पायी जाती है, इसलिए वहाँ बहिर्व्याप्ति आगम में स्वीकार की गयी है। अन्तर्व्याप्ति उपादान की कार्य के साथ तन्मयता की सूचना देती है, लेकिन बहिर्व्याप्ति निमित्त की कार्य के साथ यद्यपि तन्मयता का निषेध करती है तो भी अन्वय–व्यतिरेक के आधार पर उसके संयोग को कार्योत्पत्ति के लिये जब आवश्यक बतलाया गया है तो यही एक कारण है कि आचार्यों को निमित्त की कार्य के साथ बहिर्व्याप्ति स्वीकार करनी पड़ी है। आप यह भी सोचिये कि उपादान की महत्ता कार्य के प्रति तब तक रहा करती है, जब तक कार्य विद्यमान रहता है, लेकिन निमित्त की महत्ता तभी तक

रहा करती है, जब तक कार्य उत्पन्न नहीं हो जाता। कार्य के उत्पन्न हो जाने पर फिर निमित्त की कुछ महत्ता नहीं रह जाती है। यही कारण है कि लोक में उपादान का महत्त्व इस दृष्टि से आंका जाता है कि कार्य कहाँ तक स्थायी रह सकता है। लेकिन निमित्त का महत्त्व तब तक लोक में आँका जाता है, जब तक कार्य सुन्दरता के साथ उत्पन्न नहीं हो जाता। इस विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि 'अन्तर्व्याप्ति के आधार पर कार्य का उपादान ही केवल वास्तविक कारण है, बहिर्व्याप्ति के आधार पर कार्य का निमित्त वास्तविक कारण नहीं है, ऐसी मान्यता भ्रमपूर्ण ही है।'

आगे आपने लिखा है कि 'द्रव्य अन्वयी होने के कारण जैसा नित्य है, उसी प्रकार व्यतिरेकी स्वभाववाला होने से प्रत्येक समय में वह उत्पाद-व्यय स्वभाव वाला भी है, अतएव प्रत्येक समय में वह कार्य का उपादान भी है और कार्य भी है। पिछली पर्याय की अपेक्षा जहाँ वह कार्य है, अगली पर्याय के लिये वहाँ वह उपादान भी है।'

तो ऐसा मानने में हमारा कोई विरोध नहीं, हम भी ऐसा ही मानते हैं और वस्तु के स्वप्रत्यय परिणमनों में तो यही प्रक्रिया चालू रहती है, परन्तु वस्तु के जिन परिणमनों में जब विलक्षणता की उद्‌भूति हो जाती है, तब उन परिणमनों में उस विलक्षणता के आधार पर परिणमनों का स्वतंत्र क्रम ही चालू हो जाता है। ऐसी यह विलक्षणता उनमें स्वत: नहीं होती है, वह तो तद्‌नुकूल निमित्तों के सहारे पर ही हुआ करती है। जैसे खान में पड़ी हुई मिट्टी का प्रतिक्षण परिणमन हो रहा है और फिर वही मिट्टी कुम्हार के घर पर कुम्हार के तदनुकूल प्रयत्न करने पर आ जाती है तो यह तो क्षेत्र परिवर्तन इस मिट्टी का हुआ, वह क्या खान में पड़ी हुई मिट्टी की क्षणिक पर्यायों के क्रम से हुआ ? तथा उस मिट्टी का आगे चलकर कुम्हार के प्रयत्न से ही जो पिण्ड बन गया और इसके भी आगे कुम्हार के ही प्रयत्न से उस मिट्टी की स्थास, कोश और कुशूल के क्रम से घट पर्याय बनी अथवा कुम्हार ने अपनी इच्छा से उसकी घट पर्याय न बनाकर सकोरा आदि दूसरी नाना प्रकार की पर्यायें बना दीं और या किसी ने आकर अपने दण्ड प्रहार से विवक्षित पर्याय को नष्ट कर दूसरी पर्याय में उस मिट्टी को पहुँचा दिया तो ये सब विलक्षण-विलक्षण पर्यायें क्या मिट्टी की क्षणिक क्रमिक पर्यायों के आधार पर ही बन गयीं अथवा उस पर्याय के अनुकूल निमित्तों की सहायता से ही ये पर्यायें उत्पन्न हुईं। इन सब बातों पर पूर्व में विस्तार से प्रकाश डालकर हम प्रत्यक्ष, तर्क और आगम प्रमाणों के आधार पर विस्तारपूर्वक यह भी बतला आये हैं कि मिट्टी में विद्यमान

घटरूप परिणमन की योग्यता के आधार पर होते हुए भी, यह सब करामात निमित्तों की है, इसलिए आपका यह लिखना ही कि 'संतान क्रम की अपेक्षा प्रत्येक समय में उसे (वस्तु को) उभयरूप (कार्य और कारणरूप) होने के कारण निमित्त भी प्रत्येक समय में उसी क्रम से मिलते रहते हैं' केवल सम्यक् मान्यता नहीं है। इसे सम्यक् मान्यता तो तब कहा जा सकता है जबकि जो निमित्त मिलते हैं उन्हें, जैसा कि आपने स्वयं स्वीकार कर लिया है, चाहे वे पुरुष के योग और रागभाव से प्राप्त हों अथवा चाहे विस्रसा प्राप्त हों, कार्योत्पत्ति में उपयोगी स्वीकार कर लिया जावे, क्योंकि यदि कार्योत्पत्ति में उनके उपयोग को स्वीकार नहीं किया जाता तो आपकी इस मान्यता का भी फिर कोई अर्थ नहीं रह जाता कि 'उस समय में नियत उपादान के अनुसार होनेवाले नियत कार्यों के नियत निमित्त मिलते अवश्य है।' क्योंकि क्यों मिलते हैं ? किसलिये मिलते हैं ? या पुरुष उनके मिलाने का क्यों प्रत्यन करता है ? इत्यादि समस्याएँ तो आपके सामने आपकी इस मान्यता को कि 'उपादान से ही कार्य उत्पन्न हो जाता है, निमित्त तो वहाँ पर अकिंचित्कर ही बना रहता है' – खण्डित करने के लिये तैयार खड़ी हैं।

आगे आप फिर लिखते हैं कि 'विविध लौकिक उदाहरणों को उपस्थित कर जो अपनी चित्तवृत्ति के अनुसार कार्यकारण परम्परा को बिठाने का प्रयत्न किया जाता है, वह युक्तियुक्त नहीं है और न आगम संगत है।'

इसके विषय में हमारा कहना है कि उदाहरण लौकिक हों चाहे आगमिक हों, उनके विषय में देखना तो यह है कि वे उदाहरण, अनुभव, तर्क तथा आगम प्रमाणों के विरुद्ध तो नहीं है ? यदि वे उदाहरण आपकी दृष्टि से अनुभव, तर्क तथा आगम प्रमाणों के विरुद्ध हैं तो उनकी इस प्रमाण विरुद्धता को दिखलाना आपका कर्त्तव्य था, जबकि हम अनुभव, तर्क और आगम प्रमाणों से उन उदाहरणों की संगति पूर्व में बतला चुके हैं।

आपने चित्तवृत्ति के अनुसार कार्यकारणपरम्परा को बिठाने में असंगति बतलाने के लिये भी आचार्य अमृतचन्द्र के समयसार कलश का '**आसंसारत एव धावति**' इत्यादि 55वाँ पद्य प्रमाणरूप से उपस्थित किया है।

इसके विषय में भी हमारा कहना यह है कि इससे निमित्तों के साथ कार्य के वास्तविक कार्यकारणभाव का निषेध नहीं होता है और न इस तरह के कार्यकारणभाव के निषेध करने की आचार्य महाराज की दृष्टि ही है। इस पद्य से तो वे केवल इस बात का ही निषेध करना चाहते हैं कि लोक में अधिकांश ऐसी प्रवृत्ति देखी जाती है कि प्राणी मोहकर्म

के उदय के वशीभूत होकर अपने निमित्त से होनेवाले कार्यों में अपने अन्दर अहंकार का विकल्प पैदा करता रहता है जो मोह भाव होने के कारण बन्ध का कारण है, अतएव त्याज्य है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि अपने निमित्त से होने वाले कार्यों में अपनी निमित्तता का भान होना असत्य है। यदि अपने निमित्त से होनेवाले कार्यों में अपनी निमित्तता का ज्ञान भी असत्य हो जाय तो फिर मनुष्य किसी कार्य के करने में प्रवृत्त भी कैसा होगा? कुम्हार को यदि समझ में आ जाय कि घड़े का निर्माण खान में पड़ी हुई मिट्टी से अपनी क्रमवर्ती क्षणिक पर्यायों के आधार पर स्वतः समय आने पर हो जायेगा तो फिर उसमें तदनुकूल पुरुषार्थ करने की भावना ही जाग्रत क्यों होगी? इसी प्रकार एक शिक्षक को यदि यह समझ में आ जावे कि छात्र अपनी क्रमवर्ती क्षणिक पर्यायों के आधार पर स्वतः ही समय आने पर पढ़ लेगा तो फिर उसे तदनुकूल पुरुषार्थ करने की भावना क्यों जाग्रत होगी? इन सब कथन का रहस्य यह है कि निमित्तों के सहारे पर कार्य निष्पन्न होता है, वह सिद्धान्त ठीक है, इसका जिसे ज्ञान होता है, वह भी ठीक है और इस ज्ञान के अनुसार जो कार्योत्पत्ति के लिये तदनुकूल पुरुषार्थ करता है, वह भी ठीक है। परन्तु कार्योत्पत्ति के लिये उपयोगी अपनी निमित्तता के आधार पर यदि कोई मनुष्य उक्त विषय में अहंकारी बन जाता है तो आचार्य अमृतचन्द्र ने उक्त कलश पद्य द्वारा यह दर्शाया है कि ऐसा अहंकार करना बुरा है और वह कर्मबन्ध का कारण है। विवेकी सम्यग्दृष्टि पुरुष कार्य के प्रति अपना निमित्तरूप वास्तविक ज्ञान और व्यापार करते हुए भी वे कभी अहंकारी नहीं बनते हैं, किन्तु दूसरों द्वारा किये गये उपकार के प्रति हमेशा कृतज्ञ ही रहा करते हैं। आचार्य विद्यानन्दी ने अपने अन्य आप्तपरीक्षा का आदि में मंगलाचरण करते हुए यही लिखा है कि '**न हि कृतमुपकार साधवो विस्मरंति**' अर्थात् साधु (सम्यग्दृष्टि) पुरुष अन्य द्वारा कृत उपकार को कभी नहीं भूलते हैं। इसे पंचास्तिकाय (रायचन्द्र ग्रन्थमाला पृ. 5 पर) श्री जयसेनाचार्य ने भी उद्धृत किया है।

आगे आप लिखते हैं कि स्वामी समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा में और भट्टाकलंकदेव तथा आचार्य विद्यानन्दी ने अष्टशती और अष्टसहस्री में '**दोषावरणयोर्हानिः**' इत्यादि कथन उक्त (कार्य केवल उपादानकारण से ही निष्पन्न हो जाया करता है, निमित्त तो वहाँ केवल अपनी हाजिरी दिया करते हैं) तथ्य को ध्यान में रखकर ही किया है, क्योंकि उक्त आचार्यों ने '**उपादानस्य उत्तरीभवनात्**' इत्यादि कथन उक्त कार्यकारण परम्परा को ध्यान में रखकर ही किया है।

आपके इस लेख में आपके द्वारा यह माना जाना कि '**उपादानस्य उत्तरीभवनात्**' यह कथन उक्त आचार्यों का है, सो तो ठीक है, क्योंकि उपादान ही उत्तर पर्यायरूप परिणत होता है। परन्तु वह उत्तर पर्याय, निमित्तसापेक्ष उत्पन्न नहीं होती है, ऐसा निर्णय तो उक्त वाक्य से नहीं किया जा सकता है। और जब '**दोषावरणयोर्हानि**' इत्यादि कारिका की टीका अष्टसहस्त्री में भी श्री स्वामी विद्यानन्दी ने निमित्तों की उपयोगिता को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है तो 'कार्य केवल उपादान के बल पर ही उत्पन्न हो जाता है' इसकी सिद्धि के लिये '**दोषवरणयोर्हानिः**' इत्यादि इस कारिका का और इसकी टीका अष्टशती तथा अष्टसहस्री का प्रमाणरूप से आपके द्वारा उपस्थित किया जाना गलत ही है। अष्टसहस्री का वह कथन निम्न प्रकार है -

वचनसामर्थ्यादज्ञानादिर्दोषः स्वपरणामहेतुः (अष्टशती)। न हि दोष एव आवरणमिति प्रतिपादने कारिकाया दोषावरणयोरिति द्विवचनमसमर्थम्। ततस्तत्सामर्थ्यादावरणात् पौद्गलिकज्ञानावरणादिकर्मणो भिन्नस्वभावस्वा-ज्ञानादिर्दोषोऽभ्यूह्यते। तद्धेतुः पुनरावरणं कर्म जीवस्य पूर्वस्वपरिणामश्च। स्वपरिणामहेतुकः स्वाज्ञानादिरिन्त्ययुक्तं, तस्य कादाचित्कत्वविरोधाज्जीवत्वादिवत्। परपरिणामहेतुक एवेत्यपि न व्यवतिष्ठते, मुक्तात्मनोऽपि तत्प्रसंगात्। सर्वस्य कार्यस्योपादानसहकारिसामग्रीजन्यतयोपगमात्तथा प्रतीतेश्च। तथा च दोषो जीवस्य स्वपरपरिणाम-हेतुकः, कार्यत्वात् माषपाकवत्।

अर्थ - आचार्य समन्तभद्र ने कारिका में '**दोषावरणयोः**' ऐसा द्विवचन पद का प्रयोग किया है, इसलिये आवरणरूप पौद्गलिक ज्ञानावरणादि कर्मों से भिन्न ही अज्ञानादि दोषों को जानना चाहिए। उन अज्ञानादि दोषों की उत्पत्ति का हेतु आवरण कर्म तथा जीव के अपने पूर्व परिणाम को जानना चाहिए। अज्ञानादि दोष केवल जीव के स्वपरिणामनिमित्तक ही है - ऐसी मान्यता ठीक नहीं है, क्योंकि इस तरह से तो उन अज्ञानादि दोषों में जीवत्वस्वभाव की तरह अनादिनिधनता की प्रशक्ति हो जाएगी। इसलिये यदि परपरिणाम निमित्तक ही अज्ञानादि दोषों को माना जाय, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस तरह से मुक्त आत्माओं में भी अज्ञानादि दोषों की आपत्ति का प्रसंग उपस्थित हो जायगा। दूसरी बात यह है कि सम्पूर्ण कार्यों की उत्पत्ति उपादान और सहकारी कारण सामग्री से ही देखी जाती है तथा प्रतीति भी ऐसी ही होती है, इसलिये जीव में जो अज्ञानादि दोष उत्पन्न होते हैं, वे स्व अर्थात् उपादान और पर अर्थात् सहकारी दोनों कारणों के बल पर ही उत्पन्न होते हैं, क्योंकि वे कार्य हैं, जिस

तरह की कार्य होने की वजह से उड़द का पाक उपादान और निमित्त उभय कारणों के बल पर होता हुआ देखा जाता है।

उड़द का दृष्टान्त ऊपर भी राजवार्तिक के एक उद्धरण में दिया गया है।

भगवान् कुन्दकुन्द ने '**जीवपरिणामहेदुं**' इत्यादि कथन द्वारा उपादान और निमित्त इस प्रकार दोनों कारणों के बल से कार्योत्पत्ति को स्वीकार किया है, अत: उनके उस कथन से आपके पक्ष की पुष्टि होना असंभव ही है। असंख्यात प्रदेशी जीव को जब जैसा शरीर मिलता है, तब उसे उस रूप परिणमना पड़ता है' आगम के इस कथन को स्वीकार करते हुए आपने आगे जो यह लिखा है कि 'यहाँ भी उपादान और निमित्तों की उक्त प्रकार से कार्यकारणपरम्परा को स्वीकार कर लेने पर ही सम्यक् व्यवस्था बनती है।' इस कथन के समर्थन में जो हेतुरूप कथन आपने अपने उत्तर में किया है कि 'क्योंकि उपादानरूप जीव में स्वयं परिणमन की योग्यता है, अत: यह शरीर को निमित्तकर स्वयं संकोच-विस्ताररूप परिणमता है।' इसमें जीव के संकोच-विस्ताररूप परिणमन को उसकी अपनी तदनुकूल योग्यता के आधार पर स्वीकार करके भी, उसमें आप यदि अन्वय तथा व्यतिरेक के आधार पर शरीर की सहकारिता को भी स्वीकार कर लेते हैं तो हमारे तथा आपके मध्य कार्य-कारणभाव को लेकर कोई विवाद ही नहीं रह जाता है, परन्तु दु:ख इस बात का है कि आगे अन्त में आपने 'तादृशी जायते बुद्धि' इत्यदि पद्य का उल्लेख करके अपनी गलत मान्यता को ही पुष्ट करने का प्रयत्न किया है और जब आप इस पद्य को भट्टाकलंकदेव से समर्थित कहते हैं तो हमारे आश्चर्य का फिर कोई ठिकाना ही नहीं रह जाता है। इन्हीं बातों को हम आगे स्पष्ट कर रहे हैं। वह पद्य पूरा निम्न प्रकार है—

तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः।
सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता।।

आपने इसका जो अर्थ किया है, वह निम्न प्रकार है—

जैसी होनहार होती है, उसके अनुसार बुद्धि हो जाती है, पुरुषार्थ भी वैसा होने लगता है और सहायक कारण (निमित्तकारण) भी वैसे मिल जाते हैं।

स्वामी समन्तभद्र ने जो आप्तमीमांसा लिखी है, उसमें उन्होंने तत्त्वव्यवस्था को अनेकान्त और स्याद्वाद को दृष्टि में रखकर ही स्थापित किया है। इस आप्तमीमांसा के अष्टम

परिच्छेद में स्वामी समन्तभद्र ने 88, 89, 91 आर 91वीं कारिकाओं द्वारा दैव और पुरुषार्थ दोनों से मिलकर अर्थसिद्धि हुआ करती है, इस सिद्धान्त का विवेचन किया है।

प्रथम कारिका में उन्होंने केवल देवमात्र से अर्थसिद्धि माननेवालों के विषय में जो कुछ लिखा है, उसका भाव यह है कि पुरुषार्थ के बिना केवल दैवमात्र से यदि अर्थसिद्धि स्वीकार की जाय तो दैव की उत्पत्ति में जो पुण्य और पापरूप आचरण (पुरुषार्थ) को कारण माना जाता है, उसकी संगति किस प्रकार होगी ? यदि कहा जाय कि दैव की उत्पत्ति उससे पूर्ववर्ती दैव से मान लेने पर पुरुषार्थ से दैव की उत्पत्ति को असंगति का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होगा तो इस तरह दैव से दैवान्तर की उत्पत्ति परम्परा चालू रहने के कारण मोक्ष के अभाव का ही प्रसंग उपस्थित हो जायगा तथा पुण्यरूप, पापरूप और धर्मरूप जीव का पुरुषार्थ निरर्थक ही हो जायेगा।

द्वितीय कारिका में उन्होंने केवल पुरुषार्थमात्र से अर्थसिद्धि मानने वालों के विषय में जो कुछ लिखा है उसका भाव यह है कि दैव के बिना केवल पुरुषार्थमात्र से यदि अर्थसिद्धि स्वीकार की जाय तो पुरुषार्थ की उत्पत्ति में जो दैव को कारण माना जाता है, उसकी संगति किस प्रकार होगी ? यदि कहा जाय कि पुरुषार्थ की उत्पत्ति को भी पुरुषार्थ से मान लेने पर दैव से पुरुषार्थ की उत्पत्ति की असंगति का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होगा तो इस तरह से फिर सभी प्राणियों में पुरुषार्थ की समान सार्थकता का प्रसंग उपस्थित हो जायगा जो कि अयुक्त होगा। कारण कि अनेक प्राणियों द्वारा समान पुरुषार्थ करने पर भी जो फल वैषम्य देखा जाता है, वह दैव को अर्थसिद्धि में कारण माने बिना संगत नहीं हो सकता है।

तृतीय कारिका में उन्होंने दैव और पुरुषार्थ दोनों से ही पृथक्-पृथक् अर्थसिद्धि माननेवालों के विषय में जो कुछ लिखा है, उसका भाव यह है कि किसी अर्थसिद्धि में दैव को और किसी अर्थसिद्धि में पुरुषार्थ को कारण मानने की संगति स्याद्वाद सिद्धान्त को स्वीकार किये बिना संभव नहीं हो सकती है, अत: जो लोग स्याद्वाद सिद्धान्त के विरोधी है, उनके मत से किसी अर्थ सिद्धि में दैव को और किसी अर्थसिद्धि में पुरुषार्थ को कारण माना जाना संगत नहीं हो सकता है।

इसी तृतीय कारिका में आगे उन्होंने दैव और पुरुषार्थ दोनों ही में युगपत् अर्थसिद्धि की साधनता रहने के कारण अवक्तव्यता के ऐकान्तिक सिद्धान्त स्वीकार करने वालों के

विषय में जो कुछ लिखा है, उसका भाव यह है कि अवक्तव्यता के इस सिद्धान्त को अवक्तव्य शब्द से प्रतिपादन करने पर स्ववचनविरोधरूप दोष का प्रसंग उपस्थित होता है।

इसके बाद अन्त में चतुर्थ कारिका द्वारा उन्होंने दैव और पुरुषार्थ दोनों की पृथक्-पृथक् रूप से वक्तव्यता और अपृथकरूप से अवक्तव्यता के आधार पर सप्तभंगी का प्रदर्शन करते हुए जैन संस्कृति द्वारा मान्य परस्परसापेक्ष दैव और पुरुषार्थ उभय में अर्थसिद्धि की समान बलवाली साधनता का निष्ठापन किया है।

अष्टसहस्री में आप्तमीमांसा की 88वीं कारिका की व्याख्या करते हुए अन्त में आचार्य विद्यानन्दी ने मोक्ष की सिद्धि को भी दैव और पुरुषार्थ दोनों के सहयोग से ही प्रतिपादित किया है। वह कथन निम्न प्रकार है—

मोक्षस्यापि परमपुण्यातिशयचारित्रविशेषात्मकपौररुषाभ्यामेव संभवात्

अर्थ - ...परम पुण्य का अतिशय तथा चारित्र विशेषरूप पुरुषार्थ दोनों के सहयोग से मुक्ति की भी प्राप्ति हुआ करती है।

इस प्रकार स्वामी समन्तभद्र द्वारा प्रस्थापित तथा श्रीमद् भट्टाकलंकदेव और आचार्य विद्यानन्दी द्वारा दृढ़ता के साथ समर्थित जैन संस्कृति में मान्य अर्थसिद्धि की उक्त दैव और पुरुषार्थ उभयनिष्ठ साधनता के प्रकाश में श्रीमद् भट्टाकलंकदेव ने आप्तमीमांसा की कारिका 89 की टीका करते हुए अष्टशती में '**तादृशी जायते बुद्धिः**' इत्यादि उल्लिखित पद्य उद्धृत किया है और भट्टाकलंकदेव के अभिप्राय को न समझकर उन्हीं का बल पाकर श्री पं. फूलचन्द्रजी ने अपनी जैन तत्त्वमीमांसा पुस्तक में तथा आपने अपने प्रत्युत्तर में कार्य की सिद्धि केवल समर्थ उपादान से ही हो जाया करती है, निमित्त वहाँ पर अकिंचित्कर ही रहा करते हैं, इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिये उक्त पद्य उद्धृत किया है।

इस पद को लेकर हमें यहाँ पर इन बातों का विचार करना है कि यह पद्य जैन संस्कृति की मान्यता के विरुद्ध क्यों है और यदि विरुद्ध है तो फिर श्रीमदकलंकदेव ने इसका उद्धरण अपने ग्रन्थ अष्टशती में किस आशय से किया है तथा जैन संस्कृति में मान्य कारण व्यवस्था के साथ उसका मेल बैठता है तो किस तरह बैठता है ? इतना ही नहीं, इसके साथ हमें इस बात का भी विचार करना है कि इसकी सहायता से श्री पं. फूलचन्द्रजी और आप कारण व्यवस्था सम्बन्धी अपने पक्ष की पुष्टि करने में कहाँ तक सफल हो सके हैं।

यह तो निश्चित है कि '**तादृशी जायते बुद्धिः**' इत्यादि रूप से ग्रंथित उक्त पद आपके द्वारा प्रतिपादित उल्लिखित अर्थ के आधार पर प्राणियों की अर्थसिद्धि के विषय में जैन संस्कृति द्वारा मान्य दैव और पुरुषार्थ की सम्मिलित कारणता का प्रतिरोध ही करता है। कारण कि उक्त पद्य के उक्त अर्थ से यही ध्वनित होता है कि प्राणियों की अर्थसिद्धि केवल भवितव्यता के अधीन है और यदि उस अर्थसिद्धि में प्राणियों की बुद्धि, व्यवसाय एवं अन्य सहायक कारणों की अपेक्षा होती भी हो तो वे बुद्धि, व्यवसाय आदि सभी कारण भी उक्त पथ के उक्त अर्थ के अनुसार भवितव्यता की अधीनता में ही प्राप्त हुआ करते हैं।

चूँकि उक्त व्यवस्था जैन संस्कृति में मान्य नहीं है, किन्तु जैन संस्कृति की मान्यता के अनुसार प्राणियों के प्रत्येक अर्थ की सिद्धि में दैव और पुरुषार्थ दोनों ही परस्पर के सहयोगी बन कर समानरूप से कारण हुआ करते हैं, अतः उक्त पद्य की जैन संस्कृति की मान्यता के साथ विरोध की स्थिति निर्विवाद हो जाती है। इससे यह बात भी अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि जैन संस्कृति की मान्यता के विरुद्ध होने के कारण इस पद्य को आपके द्वारा अपने पक्ष की पुष्टि में प्रमाणरूप से उपस्थित किया जाना अनुचित ही है।

श्रीमदकलंकदेव ने उक्त पद्य का उद्धरण जो आप्तमीमांसा की ८९वीं कारिका की अष्टशती में दिया है, उसमें उनका आशय इससे साक्षात् अपने पक्ष की पुष्टि का न होकर केवल पुरुषार्थ से अर्थसिद्धि मानने वाले दर्शन के खण्डन करनेमात्र का ही है। यही कारण है कि उक्त पद्य को उन्होंने जैन संस्कृति का अंग न मानकर केवल लोकोक्ति के रूप में ही स्वीकार किया है। यह बात उनके (श्रीमदकलंकदेव के) द्वारा उक्त पद्य के पाठ के अनन्तर पठित 'इति प्रसिद्धेः' वाक्यांश द्वारा ज्ञात हो जाती है।

तात्पर्य यह है कि श्रीमदकलंकदेव उन लोगों से जो दैव की उपेक्षा करके केवल पौरुषमात्र से प्राणियों की अर्थसिद्धि मानते हैं, यह कहना चाहते हैं कि एक ओर तो तुम दैव के बिना केवल पुरुषार्थ से ही अर्थ की सिद्धि मान लेते हो और दूसरी ओर यह भी कहते हो कि अर्थसिद्धि में कारणभूत बुद्धि व्यवसायादि की उत्पत्ति का संप्राप्ति भवितव्यता से ही हुआ करती है।

इस प्रकार बुद्धि व्यवसायादि की उत्पत्ति अथवा संप्राप्ति में दैव की कारणता प्राप्त हो जाने से परस्पर विरोधी मान्यताओं को प्रश्रय प्राप्त हो जाने के कारण केवल पुरुषार्थ से ही अर्थसिद्धि हो जाती है। यह मान्यता खण्डित हो जाती है।

एक बात और है कि उक्त पद्य का जो अर्थ आपने किया है, वह स्वयं ही एक तरह से आपकी इस मान्यता का विरोधी है कि 'कार्य केवल भवितव्यता (समर्थ उपादान) से ही निष्पन्न हो जाया करते हैं, निमित्त उसमें अकिंचित्कर ही रहा करते है।' क्योंकि उक्त पदार्थ हमें इस बात का संकेत देता है कि कोई भी कार्य भवितव्यता (उपादान शक्ति) के साथ-साथ बुद्धि, व्यवसाय आदि कारणों का सहयोग प्राप्त हो जाने पर ही निष्पन्न होता है। केवल इतनी विशेषता उससे अवश्य प्रगट होती है कि बुद्धि, व्यवसाय आदि सभी दूसरे कारण भवितव्य के अनुसार ही प्राप्त हुआ करते हैं। लेकिन इस तरह से बुद्धि, व्यवसाय आदि में कारणता का निषेधक नहीं कहा जा सकता है।

यदि कहा जाय कि उक्त पद्य जब उक्त प्रकार से भवितव्यता के साथ-साथ बुद्धि व्यवसाय आदि को भी कार्य के प्रति कारण बतला रहा है तो फिर उसे जैन संस्कृति में मान्य कारण व्यवस्था का विरोधी कहना ही गलत है। तो इस विषय में हमारा कहना यह है कि पद्य में कार्य के प्रति भवितव्यता के साथ-साथ कारणभूत बुद्धि, व्यवसाय आदि का उल्लेख किया गया है, उनकी उत्पत्ति अथवा संप्राप्ति को उसी भवितव्यता की दया पर छोड़ दिया गया है, जो इस कार्य की जननी है। बस, यही उसमें असंगति है और इसलिए वह जैन संस्कृति की मान्यता के विरुद्ध है, क्योंकि जिस भवितव्यता से कार्य की उत्पत्ति होती है, उसी भवितव्यता से उस कार्य में कारणभूत बुद्धि, व्यवसाय आदि की उत्पत्ति अथवा सम्पत्ति को जैन संस्कृति में मान्य नहीं कहा गया है। कारण कि कार्य की उत्पत्ति जिस भवितव्यता से होती है, उसी भवितव्यता से कारणभूत बुद्धि, व्यवसाय आदि की उत्पत्ति अथवा संप्राप्ति की स्वीकृति का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है अर्थात् जब वह भवितव्यता ही कार्योत्पत्ति के साथ-साथ उसमें कारणभूत बुद्धि, व्यवसाय आदि को भी जुटा देती है तो फिर अकेली भवितव्यता ही कार्य को उत्पन्न कर सकती है, अत: उसकी उत्पत्ति के लिये बुद्धि, व्यवसाय आदि साधनों की आवश्यकता नहीं रहना चाहिए।

यदि आप कहें कि इसीलिए ही कार्य की उत्पत्ति आपके मत में केवल उपादान से स्वीकार की गयी है। तो इस पर हमारा कहना यह है कि उक्त पद्य भी जब भवितव्यता के साथ बुद्धि, व्यवसाय आदि की उपयोगिता को कार्यसिद्धि में स्वीकार कर रहा है तो इस पद्य को कार्यकारणभाव की आपके लिये मान्य व्यवस्था का समर्थक कैसे कहा जा सकता है?

श्री पं. फूलचन्द्रजी ने तो जैनतत्त्वमीमांसा के उपादान-निमित्तमीमांसा प्रकरण में

पृ. 67 पर पंडितप्रवर टोडरमलजी के मोक्षमार्गप्रकाशक अधिकार 3, पृ. 81 का उद्धरण देकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि **'तादृशी जायते बुद्धिः'** इत्यादि पद्य में प्रतिपादित कारणव्यवस्था को जैन संस्कृति में भी इसी ढंग से स्वीकार किया जाता है, क्योंकि पं. प्रवर टोडरमलजी ने भी अपने कथन में कार्य के प्रति कारणभूत बुद्धि, व्यवसाय आदि को भवितव्यता की अधीनता पर ही छोड़ दिया है। उनका यह कथन निम्न प्रकार है—

जो इनकी सिद्धि होय तो कषाय उपशमनतें दुःख दूर होइ जाइ सुखी होइ। परन्तु इनकी सिद्धि इनके किये उपायन के अधीन नाहीं, भवितव्य के आधीन है, जातें अनेक उपाय करते देखिये है अर सिद्धि न हो है। बहुरि उपाय बनना भी अपने आधीन नहीं, भवितव्य के अधीन है। जातें अनेक उपाय करना विचारै और एक भी उपाय न होता देखिये है। बहुरि काकतालीयन्याय करि भवितव्य ऐसी हो होय जैसा आपका प्रयोजन होइ तैसा ही उपाय होइ अर तातैं कार्य की सिद्धि भी होइ जाइ तो तिस कार्य सम्बन्धी कोई कषाय का उपशम होइ।

पं. फूलचन्द्रजी ने पंडितप्रवर टोडरमलजी के इस कथन के विषय में अपना मंतव्य भी वहीं पर लिख दिया है कि यह 'पं. प्रवर टोडरमलजी का कथन है- मालूम पड़ता है कि उन्होंने (पं. प्रवर टोडरमलजी ने) **'तादृशी जायते बुद्धिः'** इत्यादि इस श्लोक को ध्यान में रखकर ही यह कथन किया है, इसलिये इसे उक्त अर्थ के समर्थन में ही जानना चाहिए।'

इस विषय में हमारा कहना यह है कि पं. फूलचन्द्रजी पं. प्रवर टोडरमलजी के उल्लिखित कथन से जो उक्त अर्थ फलित कर रहे हैं वह ठीक नहीं है, क्योंकि हम बतला आये हैं कि जैन संस्कृति में केवल भवितव्य से कार्यसिद्धि न मानकर भवितव्य और पुरुषार्थ दोनों के परस्पर सहयोग से ही कार्यसिद्धि मानी गयी है। इसीलिए जैन संस्कृति के इस सिद्धान्त को ध्यान में रखकर ही पं. प्रवर टोडरमलजी के कथन का आशय निकालना चाहिये।

पुनश्च इसी मोक्षमार्गप्रकाशक में पं. टोडरमलजी ने भवितव्यता और पुरुषार्थ का दूसरे ढंग से निम्न प्रकार कथन किया है—

काललब्धि या होनहार तो किछु वस्तु नहीं। जिस काल विषें कार्य बने सोई काललब्धि और जो कार्य भया सोई होनहार। बहुरि जो कर्म का उपशमादिक है, सो पुद्‌गलकी शक्ति है। ताका आत्मा कर्त्ता-हर्ता नाहीं। बहुरि पुरुषार्थ उद्यम करिए है, सो यहु आत्म का कार्य है। तातै आत्मा को पुरुषार्थ करि उद्यम करने का उपदेश दीजिए है। तहाँ यह आत्मा जिस

कारणते कार्यसिद्धि अवश्य होय, तिस कारणरूप उद्यम करै, तहाँ तो अन्य कारण मिलें ही मिलें, अर कार्य की सिद्धि ही होय। बहुरि जिस कारण से कार्यसिद्धि होय अथवा नाहीं भी होय, तिस कारणरूप उद्यम करे, तहाँ अन्य कारण मिले तो कार्य सिद्ध होय, न मिले तो सिद्ध न होय। सो जिनमत विषें जो मोक्षका उपाय कहा है, सो इसते मोक्ष होय ही होय। तातें जो जीव पुरुषार्थ करि जिनेश्वर के उपदेश अनुसार मोक्ष का उपाय करे है ताके काललब्धि वा होनहार भी भया और कर्म का उपशमादि भया है, तो यहु ऐसा उपाय करे है तातें जो पुरुषार्थ करि मोक्षका उपाय करे है ताके सर्व कारण मिले ऐसा निश्चय करना अर वाके अवश्य मोक्ष की प्राप्ति ही है।

श्री पं. फूलचन्द्रजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक के जो वाक्य उद्धृत किये हैं, उसका अर्थ उपरोक्त वाक्यों को ध्यान में रखकर करना चाहिए।

यह भी बात है कि पं. प्रवर टोडरमलजी के उक्त कथन से यह तो प्रगट होता नहीं कि कार्य की सिद्धि केवल भवितव्य से ही हो जाती है, उसमें पुरुषार्थ अपेक्षित नहीं रहता है। वे तो अपने उक्त कथन से इतनी ही बात कहना चाहते हैं कि कितने ही उपाय करते जाओ, यदि भवितव्य अनुकूल नहीं है तो कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती है। लेकिन यह निष्कर्ष तो कदापि नहीं निकाला जा सकता है कि यदि भवितव्य अनुकूल है तो बिना पुरुषार्थ के ही अर्थ की सिद्धि हो सकती है।

जैसे मिट्टी में पट बनने की योग्यता नहीं है तो जुलाहा आदि निमित्त सामग्री का कितना ही योग क्यों न मिलाया जावे, उस मिट्टी से पट का निर्माण असंभव ही रहेगा, लेकिन इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकाला जा सकता है कि मिट्टी में घट निर्माण की योग्यता विद्यमान है तो कदाचित कुम्भकार आदि निमित्त सामग्री के सहयोग के बिना ही घट का निर्माण हो जायगा। सत्य बात तो यह है कि एक ओर तो मिट्टी में घट निर्माण की योग्यता के अभाव में जुलाहा आदि निमित्त सामग्री का सहयोग मिट्टी से पट निर्माण में सर्वदा असमर्थ ही रहेगा और दूसरी ओर उस मिट्टी से घट का निर्माण भी तभी संभव होगा, जब कि उसे कुम्भकार आदि निमित्त सामग्री का अनुकूल सहयोग प्राप्त होगा और जब कुम्भकार आदि निमित्त सामग्री का अनुकूल सहयोग प्राप्त नहीं होगा, तब अन्य प्रकार की अनुकूल निमित्त सामग्री का सहयोग मिलने के सबब तदनुकूल अन्य प्रकार के कार्यों की निष्पत्ति होते हुए भी उस मिट्टी से घट का निर्माण कदापि संभव नहीं होगा।

पं. प्रवर टोडरमलजी के उक्त कथन का यह भी अभिप्राय नहीं है कि अमुक मिट्टी से चूँकि घट का निर्माण होना है, अत: उसकी प्रेरणा से कुम्भकार तदनुकूल व्यापार करता है, क्योंकि यह बात अनुभव के विरुद्ध है। लोक में कोई भी व्यक्ति किसी भी कार्य के करते समय यह अनुभव नहीं करता है कि अमुक वस्तु से चूँकि अमुक कार्य निष्पन्न होना है, इसलिये मेरा व्यापार तदनुकूल हो रहा है। वह तो कार्योत्पत्ति के अवसर पर केवल इतना ही जानता है कि अमुक वस्तु से चूँकि अमुक कार्य सम्पन्न हो सकता है और तब इस आधार पर वह प्रयोजनवश तदनुकूल व्यापार करने लगता है और यही कारण है कि वस्तुगत कार्य योग्यता का कदाचित् ठीक-ठीक ज्ञान न हो सकने के कारण अथवा स्वगत कार्य कर्तृत्व की अकुशलता के कारण या दूसरी सहकारी सामग्री के ठीक-ठीक अनुकूलता न होने अथवा वाचक सामग्री के उपस्थित हो जाने पर अनेकों बार व्यक्ति के हाथ में असफलता ही रह जाया करती है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भवितव्यता हो और तदनुकूल उपाय किये जायें तो विवक्षित कार्य की सिद्धि नियम से होगी तथा भवितव्यता हो लेकिन उपाय न किये जावें या प्रतिकूल उपाय किये जावें तो कार्य की सिद्धि नहीं होगी। इसी तरह कार्य की सिद्धि के लिये उपाय तो किये जावें लेकिन तदनुकूल भवितव्यता नहीं है तो भी कार्य की सिद्धि नहीं होगी। अलावा इसके यह भी विकल्प संभव है कि भवितव्यता हो, तदनुकूल उपाय भी किये जावें, लेकिन साथ में बाधक सामग्री भी वहाँ पर विद्यमान हो तो भी कार्य की सिद्धि नहीं होगी।

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पंडित फूलचन्द्रजी पं. प्रवर टोडरमलजी के कथन से जो '**तादृशी जायते बुद्धिः**' इत्यादि पद्य का समर्थन कर लेना चाहते हैं, वह ठीक नहीं है। यद्यपि पं. प्रवर टोडरमलजी ने अपने उल्लिखित कथन में यह अवश्य लिखा है कि—

'**बहुरि उपाय बनना भी अपने आधीन नाहीं भवितव्यके अधीन है**' परन्तु इससे भी पं. फूलचन्द्रजी के इस अभिप्राय का समर्थन नहीं होता है कि 'जो भवितव्यता कार्य की जनक है वही भवितव्यता उस कार्य में कारणभूत बुद्धि, व्यवसाय आदि की भी जनक है।'

हमारे इस कथन का स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि पं. टोडरमलजी के कथन में सामान्यतया चेतनरूप और अचेतनरूप सभी तरह के कार्यों की उपादान शक्ति को नहीं ग्रहण किया गया है, इसलिये ऐसी भवितव्यता जीव के पारिणामिकभावरूप भव्यत्व या अभव्यत्व

हो सकते हैं अथवा कर्म के यथासंभव उदय, उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय से प्राप्त कार्यसिद्धि के अनुकूल जीव की योग्यता हो सकती है।

अब यहाँ पर ध्यान इस बात पर देना है कि मान लीजिये, किसी व्यक्ति में धनी बनने की योग्यता है लेकिन केवल योग्यता का सद्‌भाव होने मात्र से तो वह व्यक्ति धनी नहीं बन जायेगा। यही कारण है कि ऐसी मान्यता जैन संस्कृति की नहीं है, अतः जैन संस्कृति की मान्यता के अनुसार उस व्यक्ति को धनी बनने के लिये अपनी बुद्धि का तदनुकूल उपयोग करना होगा, पुरुषार्थ भी उसी जाति का करना होगा और उसमें तदनुकूल अन्य सहकारी कारण भी अपेक्षित होंगे।

यह जो कहा जाता है कि उस व्यक्ति में पायी जानेवाली धनी बनने की योग्यता ही **'तादृशी जायते बुद्धिः'** इत्यादि पद्य के आशय के अनुसार बुद्धि, पुरुषार्थ तथा अन्य सहकारी साधन सामग्री को संगृहीत कर लेगी तो यह कथन अनुभव विरुद्ध होने के कारण जैन संस्कृति के विरुद्ध है, यह बात हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं। इतना होने पर भी हम यह मानते हैं कि जैन संस्कृति के अनुसार भी व्यक्ति में बुद्धि का उद्‌भव तदनुकूल ज्ञानावरण के क्षयोपशमरूप योग्यता (भवितव्यता)का ही कार्य है और यही बात पुरुषार्थ के विषय में भी कही जा सकती है कि वह भी तदनुकूल कर्म के क्षयोपशमरूप भवितव्यता का ही कार्य है। इसलिये पं. प्रवर टोडरमलजी ने जो यह लिखा है कि **'उपाय बनना अपने आधीन नाहीं, भवितव्यके आधीन है'** वह न तो असंगत है और न जैन संस्कृति के ही विरुद्ध है। कारण कि प्राणियों की अर्थसिद्धि में जो भी बुद्धि, व्यवसाय (पुरुषार्थ) आदि उपाय अपेक्षित रहते हैं, वे सब उपाय अपने-अपने अनुकूल ज्ञानावरण आदि के क्षयोपशम आदि रूप भवितव्यता के ही कार्य हुआ करते हैं।

इस प्रकार यदि यही दृष्टि यदि **'तादृशी जायते बुद्धिः'** इत्यादि पद्य का अर्थ करने में अपना ली जावे तो फिर इसके साथ भी जैन संस्कृति में मान्य कारणव्यवस्था का कोई विरोध नहीं रह जाता है।

अन्त में थोड़ा इस बात पर भी विचार करना चाहिये कि यदि बुद्धि, व्यवसाय आदि सभी कारण कलाप की जननी या संग्राहिका वही भवितव्यता है जो कार्य की जननी होती है तो इसका अर्थ यह हुआ कि हमारा कार्य करने का संकल्प भी उसी भवितव्यता के

अनुकूल ही होना चाहिये। हमारी बुद्धि पर, हमारे पुरुषार्थ पर और अन्य सहकारी साधन सामग्री पर तो उस भवितव्यता का आधिपत्य हो, केवल हमारे संकल्प पर उसका आधिपत्य न हो, यह बात बहुत अटपटी मालूम पड़ती है। इस तरह मनुष्य चाहता है तो कुछ है, और हो कुछ जाता है यह स्थिति कदापि उत्पन्न नहीं होना चाहिये।

एक और भी अर्थ '**तादृशी जायते बुद्धिः**' इत्यादि पद्य का होता है, वह यह है कि जिस कार्य के अनुकूल वस्तु में उपादान शक्ति हुआ करती है, समझदार व्यक्ति उस वस्तु से उसी कार्य को सम्पन्न करने की बुद्धि (भावना) किया करता है और वह पुरुषार्थ (व्यवसाय) भी तदनुकूल ही किया करता है तथा वह वहाँ पर तदनुकूल ही अन्य सहायक साधन सामग्री को जुटाता है।

इस तरह उक्त पद्य का यदि यह अर्थ स्वीकार कर लिया जाय तो भी इसके साथ जैन संस्कृति की कारण व्यवस्था का विरोध नहीं रह जाता है, लेकिन यह बात तो निश्चित समझना चाहिये कि '**तादृशी जायते बुद्धिः**' इत्यादि पद्य का कोई भी अर्थ क्यों न कर लिया जाय, यदि वह अर्थ जैन संस्कृति की मान्यता के अनुकूल होगा तो उससे आपके 'भवितव्यता से ही कार्य की सिद्धि हो जाया करती है, निमित्त वहाँ पर अकिंचित्कर ही रहा करते है' इस मत की पुष्टि नहीं होगी और जैसा अर्थ आपने उक्त पद्य का किया है यदि उसे ही पद्य का सही अर्थ माना जाय तो जैन संस्कृति की मान्यता के विरुद्ध होने के कारण उसका आपके द्वारा प्रमाणरूप से उपयोग करना अनुचित माना जायगा।

कुछ विचारणीय बातें

जिस प्रकार स्त्री अपने गर्भाशय में गर्भधारण करके संतान उत्पन्न करती है, परन्तु उस गर्भ के धारण करने के लिये पुरुष का निमित्त उसको अनिवार्य आवश्यक होता है। सती, विधवा और अवन्ध्या स्त्री इस कारण सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकती, क्योंकि उसको पुरुष का निमित्त नहीं मिलता।

उपादान के अन्दर अनन्त शक्तियाँ विद्यमान हैं और जब जिस शक्ति के विकास के योग्य निमित्त मिल जाते हैं, तब वह शक्ति विकास को प्राप्त हो जाती है। रसोईया परांत में गेहूँ का आटा माढ़ कर रक्खे हुए है। भोजन करने वाले की इच्छानुसार वह उसी आटे में से कभी रोटी बनाता है, कभी पुड़ी बनाता है और कभी परायठा बनाता है। रसोइया इन सब

चीजों को बराबर आवश्यकतानुसार बदल-बदल कर बनाता चला जाता है। भोजन करनेवाले भोजन भी करते जाते हैं। उक्त रोटी, पुड़ी और परायठे के निमित्त यथायोग्य अलग-अलग भी हैं और एक भी है। यहाँ पर विचारणीय बात नाना शक्तियों की है कि जितना गेहूँ पीसा गया, वह एक ही चक्की से पीसा गया और उस सम्पूर्ण आटे में पिसे हुए गेहूँ के प्रत्येक दाने का अंश समा गया और उस सभी आटे को पानी डालकर माढ़ दिया गया। इस तरह गेहूँ के प्रत्येक दाने का अंश रोटी में पहुँचा, पुड़ी में पहुँचा और परायठे में भी पहुँचा, इससे सिद्ध हुआ कि गेहूँ के प्रत्येक दाने में रोटी बनने की शक्ति थी, पुड़ी बनने की शक्ति थी और परायठा बनने की शक्ति थी। विकास उसकी उस शक्ति का हुआ जिसके विकास के लिये रसोइया की इचछाशक्ति, बुद्धिशक्ति और श्रमशक्ति का योग प्राप्त हुआ।

आप लोगों को तत्त्वचर्चा में आये प्रश्नों का उत्तर लिखना है, वह न तो केवल आत्मा के द्वारा लिखा जा सकता है, क्योंकि आत्मा स्वयं अशरीरी है। उसके हाथ, पैर, आँख, अंग-उपांग नहीं है। इसी तरह प्रश्नों का उत्तर लिखने के लिये जहाँ आपको हाथ, आँख आदि शरीर के अवयवों की आवश्यकता है, वहाँ उनके साथ प्रकाश, लेखनी, स्याही, कागज आदि बाह्य साधनों की भी आवश्यकता है। इनमें से आवश्यक किसी एक साधन की कमी रह जाय तो प्रश्नों का उत्तर नहीं लिखा जा सकेगा। इसके सिवाय विघ्न करनेवाले प्रतिबन्धक कारणों का अभाव भी मिलना चाहिये, रात्रि में लिखते समय बिजली फैल हो जावे, दीपक बुझ जावे, शरीर में भयानक वेदना उत्पन्न हो जावे तो प्रश्नों का उत्तर लिखना असंभव हो जायगा।

मनुष्य जब पैदल चलता है तो उसकी गति धीमी होती है, जब वह तांगे पर सवार होकर यात्रा करता है, तब वह अपने लक्ष्य पर जल्दी पहुँच जाता है, जब वह साइकल से जाता है तो तांगे की अपेक्षा और भी शीघ्र अपने लक्ष्य पर पहुँच जाता है। दूरवर्ती नगर में पहुँचने के लिये वह रेलगाड़ी से जाता है, तब और शीघ्र पहुँच जाता है। यदि और भी शीघ्र पहुँचने की इच्छा होती है तो वह मोटर द्वारा सफर करता है और अत्यन्त शीध्र पहुँचने के लिये हवाई जहाज का भी उपयोग करता है। स्वर्गीय सम्राट् पंचमजार्ज सन् 1992 में इंगलैण्ड से दिल्ली आये थे, तब हवाई जहाज नहीं थे, अत: समुद्री जहाज में बैठ कर आये थे और एक मास में भारत पहुँचे थे। अभी 2-3 वर्ष पहले जब उनकी पौत्री साम्राज्ञी एलजावेथ भारत आयीं, तब वे एक ही दिन में हवाई जहाज द्वारा इंगलैण्ड से भारत पहुँच गयीं थीं। कुछ समय बाद जब अतिस्वन (सुपर सोनिक) विमान चालू हो जायेंगे तब लन्दन से दिल्ली की यात्रा

4-5 घंटे की रह जायगी। आज अमेरिका और रूस में चंद्रमा पर पहुँचने की होड़ लगी हुई है। उपादान अपने विकास में निमित्तों के कितने अधीन है, इसका पता उपर्युक्त उदाहरणों से सहज ही में लग जाता है।

मुद्गरादिव्यापारानन्तरं कार्योत्पादवत् कारणविनाशस्यापि प्रतीतेः, विनष्टो घट उत्पन्नानि कपालानीति व्यवहारद्वयसद्भावात्। *- अष्टसहस्री, पृ. 200, कारिका 53*

अर्थ - मुद्गर आदि के व्यापार के अनन्तर घट का विनाश और कपालों का उत्पादन होता हुआ देखा जाता है।

यहाँ पर इतना आशय लेना है कि मुद्गर की घट के विनाश और कपालों के उत्पाद में निमित्तता स्वीकार की गयी है। आगे अष्टसहस्री पृ. 200 पर ही लिखा है—

तस्मादयं विनाशहेतुर्भावमभावीकरोतीति न पुनरकिंचित्करः।

अर्थ - इसलिये घटविनाश का हेतुभूत मुद्गर भावात्मक पदार्थ को अभावात्मक बना देता है तो इसे अकिंचित्कर कैसे कहा जा सकता है।

इस कथन से निमित्तकारण की अकिंचित्करता का स्पष्ट खण्डन हो जाता है। इससे सम्बन्ध रखनेवाला बहुत सा विवेचन और आगमप्रमाण प्रश्न संख्या 1, 5, 8, 10, 11 और 17 में भी मिलेंगे। अतः कृपया वहाँ पर देखने का कष्ट कीजियेगा।

●

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्।।

शंका - 6

मूल प्रश्न 6 - उपादान की कार्यरूप परिणति में निमित्त कारण सहायक होता है या नहीं ?

प्रतिशंका-3 का समाधान

इस प्रश्न का पहली बार उत्तर देते हुए हमने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अ. 5, सू. 16, पृ. 410 के आधार से यह स्पष्ट कर दिया था कि 'निश्चयनय से प्रत्येक द्रव्य के उत्पादादिक विस्रसा होकर भी व्यवहारनय से ही वे सहेतुक प्रतीत होते हैं। इस पर प्रतिशंका 2 उपस्थित करते हुए अपर पक्ष ने कार्य में योग्य द्रव्यशक्ति को अन्तरंग कारण और बलाधान में सहायक को बहिरंग कारण बतला कर लिखा था कि- 'जब-जब शक्ति व्यक्तिरूप से आती है तब-तब निमित्त की सहायता से ही आती है।' इसी सिलसिले में अपर पक्ष ने अपने पक्ष के समर्थन में मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण उपस्थित करते हुए सिद्धान्त विरुद्ध अनेक बातें लिखकर और कुछ आगम प्रमाण उपस्थित कर उसके बाद लिखा था कि पदार्थ में क्रिया की शक्ति है और वह रहेगी, किन्तु पदार्थ क्रिया तभी करेगा, जब बहिरंग कारण मिलेंगे। जब तक बहिरंग कारण नहीं मिलेंगे, वह क्रिया नहीं कर सकता, अर्थात् व्यक्ति रूप में नहीं सकती, जिसके द्वारा शक्ति व्यक्ति रूप में आती है या जिसके बिना शक्ति व्यक्ति रूप में नहीं आ सकती, वही बहिरंगकारण या निमित्तकारण है या वही बलाधान निमित्त है।

आगे अपर पक्ष ने परमत में प्रसिद्ध भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र में लिखे गये रस के लक्षण को प्रमाण रूप में उपस्थित कर यह भी लिखा था कि 'इससे स्पष्ट है कि मानव हृदय में विभिन्न प्रकार के रसों की उत्पत्ति ही बहिरंग साधनों की देन है' आदि।

इस प्रकार अपर पक्ष ने अपनी उक्त प्रतिशंका में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि जब भी कार्य के योग्य द्रव्यशक्ति कार्यरूप होती है, तब वह बहिरंग साधनों के द्वारा ही कार्यरूप परिणमती है, अन्यथा नहीं। अपन पक्ष ने इस प्रतिशंका द्वारा अपने पक्ष के समर्थन में वैदिक धर्मानुयायी भरतमुनि का एक ऐसा भी प्रमाण आगम रूप में उपस्थित किया है, जिसे आगम नहीं माना जा सकता। मालूम पड़ता है कि अपर पक्ष इस सीमा को मानने के

लिये भी तैयार नहीं है कि इष्ट विषय की पुष्टि में मूल परम्परा के अनुरूप आचार्यों द्वारा निबद्ध किये गये शास्त्रों के ही प्रमाण दिये जाय। यही कारण है कि कहीं उसकी ओर से लौकिक प्रमाण देकर अपने विषय की पुष्टि करने का प्रयत्न किया गया है और कहीं उसे वैज्ञानिक दृष्टिकोण बतलाकर अपने विषय को पुष्ट किया है। हम नहीं कह सकते कि अपर पक्ष ने अपने पक्ष के समर्थन के लिये यह मार्ग क्यों अपनाया है, जबकि आगम से प्रत्येक विषय का समुचित उत्तर प्राप्त किया जा सकता है।

हम अपना द्वितीय उत्तर लिखते समय इन सब बातों में तो नहीं गये। मात्र आगम प्रमाणों के आधार से पुनः यह सिद्ध किया कि उपादान केवल द्रव्यशक्ति न होकर अनन्तर पूर्व पर्याययुक्त द्रव्य का नाम उपादान है। वह किसी के द्वारा परिणमाया न जा कर स्वयं अपने कार्य को करता है और जब वह अपने कार्य को करता है, तब अन्य बाह्य सामग्री उसमें निमित्त होती है। उस उत्तर में हमने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि आगम में बाह्य सामग्री को निमित्त और कार्यकारी व्यवहारनय की अपेक्षा बतलाया गया है और अंत में भट्टाकलंकदेव के द्वारा प्रतिपादित '**तादृशी जायते बुद्धिः**' इत्यादि कारिका उपस्थित कर यह सिद्ध कर दिया है कि भवितव्यता के अनुसार बुद्धि होती है, वैसा ही प्रयत्न होता है और सहायक भी उसी के अनुरूप मिलते हैं।

किन्तु जान पड़ता है कि अपर पक्ष आगमिक कार्य–कारण पद्धति में अपने पक्ष का समर्थन नहीं समझता। उस पक्ष का यह दृष्टिकोण पांचवें प्रश्न पर उपस्थित की गई प्रतिशंका 3 से बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। वहाँ उस पक्ष ने केवलज्ञान की अपेक्षा आगम प्रतिपादित हमारे अभिप्राय को स्वीकार करके भी श्रुतज्ञान की अपेक्षा विवाद को नया मोड़ देते हुए लिखा है कि 'भगवान् के ज्ञान में' जिस काल में जिस वस्तु का जैसा परिणमन झलका है, वह उसी प्रकार होगा। प्रत्येक सम्यग्दृष्टि की ऐसी ही श्रद्धा होती है। इसलिए केवलज्ञान के विषय के अनुसार तो सभी कार्य नियत क्रम से ही होते हैं और सम्यग्दृष्टि जीव श्रद्धा भी ऐसी ही रखता है। किन्तु श्रुतज्ञानी के इतने मात्र से सब समस्याएँ हल नहीं हो जातीं, इसलिए श्रुतज्ञान के विषय के अनुसार कुछ कार्य नियत क्रम से भी होते हैं और कुछ कार्य अनियत क्रम से भी होते हैं – ऐसा अनेकान्त ही ठीक है।

अपर पक्ष द्वारा पाँचवे प्रश्न पर प्रतिशंका 3 जिस आधार पर उपस्थित की गई है, उसका यह सार है। इससे अपर पक्ष का ऐसा कहना मालूम पड़ता है कि अपर पक्ष प्रत्येक

वस्तु को अनेकान्त स्वरूप मात्र अपने माने हुए श्रुतज्ञान की अपेक्षा ही मानना चाहता है, केवलज्ञान की अपेक्षा नहीं। दूसरी बात यह भी मालूम होती है कि सभी द्रव्यों के सभी कार्य होते तो नियत क्रम से ही हैं। यही कारण है केवलज्ञान उनको उसी रूप में जानता है। परन्तु अपर पक्ष के श्रुतज्ञान में वे उस रूप में नहीं झलकते। मात्र इसीलिए कुछ कार्य नियतक्रम से होते हुए प्रतीत होते हैं और कुछ कार्य अनियतक्रम से होते हुए प्रतीत होते हैं। उक्त वक्तव्य में अपर पक्ष ने कौनसा श्रुतज्ञान लिया है, लौकिक श्रुतज्ञान या सम्यक् श्रद्धानुसारी सम्यक् श्रुतज्ञान? इसका उसकी ओर से उक्त प्रतिशंका में यद्यपि कोई स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। किन्तु सम्यक् श्रद्धा विहीन जो श्रुतज्ञान होगा, वह लौकिक ही होगा, यह स्पष्ट है।

जहाँ तक प्रकृत प्रतिशंका से सम्बन्ध है सो उसमें भी अपर पक्ष का वही दृष्टिकोण कार्य कर रहा है। इसे उपस्थित करते हुए अपर पक्ष ने पहले तो 'निमित्तकारणता व्यवहारनय से है' इसे स्वीकार कर लिया है, किन्तु यहाँ व्यवहार शब्द का वाच्य क्या है, इसमें उसे विवाद है। हम अपने पिछले उत्तर में बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा 8 का उद्धरण देकर प्रकृत में व्यवहार का अर्थ असद्भूतव्यवहार है, यह आगम प्रमाण के साथ बतला आये हैं, परन्तु अपर पक्ष यह कहकर कि हम व्यवहार का अर्थ कल्पनारोपित करते हैं, मुख्य विषय से विचारकों की दृष्टि हटाना चाहता है।

1. व्यवहारनय और उसका विषय

जैसाकि यहाँ की गई सूचना से ज्ञात होता है, अपर पक्ष ने व्यवहार और निश्चय इन दोनों शब्दों का पृथक्-पृथक् स्थल पर प्रकरणानुसार क्या अर्थ इष्ट हैं, इसका विचार प्रश्न 17 की प्रतिशंका 3 में किया है, सो इस विषय पर तो विशेष विचार हम वहीं करेंगे। मात्र प्रकृत में प्रकरणानुसार उसकी ओर से इस प्रतिशंका में जो व्यवहारनय और निश्चयनय के लक्षण स्वीकार किए गए हैं, वे यथार्थ न होकर कल्पनारोपित कैसे हैं, इसका यहाँ सर्वप्रथम विचार अवश्य कर लेना चाहते हैं। इससे प्रकृत में व्यवहार रूप अर्थ और निश्चय रूप अर्थ क्या होना चाहिए—इसका भी यथार्थ बोध हो जायेगा। अपर पक्ष ने व्यवहार नय और निश्चय नय का लक्षण करते हुए लिखा है—

निश्चय रूप अर्थसापेक्ष व्यवहाररूप अर्थ का प्रतिपादक वचन व्यवहारनय और व्यवहाररूप अर्थसापेक्ष निश्चयरूप अर्थ का प्रतिपादक वचन निश्चयनय कहलाने योग्य है। इसी प्रकार निश्चयरूप अर्थसापेक्ष व्यवहारूप धर्म का ज्ञापक ज्ञान व्यवहारनय और व्यवहाररूप

अर्थ सापेक्ष निश्चयरूप अर्थ का ज्ञापक ज्ञान निश्चयनय कहलाने योग्य है। पहिले दोनों वचननय के और दूसरे दोनों ज्ञाननय के भेद जानना चाहिए।

यह अपर पक्ष द्वारा उपस्थित किये गये व्यवहारनय और निश्चयनय के लक्षण हैं। किन्तु इन लक्षणों की पुष्टि में कोई आगमप्रमाण अपर पक्ष ने नहीं दिया है। इनका सांगोपांग विचार करते हुए सर्वप्रथम हम आचार्यों ने व्यवहार पद का क्या अर्थ स्वीकार किया है, इस बात पर दृष्टिपात करते हैं। आलापपद्धति में व्यवहार पद का अर्थ करते हुए लिखा है—

अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहारः। असद्भूतव्यवहार एवोपचारः, उपचारादप्युपचारं यः करोति स उपचरितासद्भूतव्यवहारः। गुणिगुणिनो पर्याय-पर्यायिणोः स्वभावस्वभाविनोः कारणकारकिणोर्भेदः सद्भूव्यवहारस्यार्थः। द्रव्ये द्रव्योपचारः पर्याये पर्यायोपचारः गुणे गुणोपचारः, द्रव्ये गुणोपचारः, द्रव्ये पर्यायोपचारः, गुणे द्रव्योपचारः गुणे पयार्योपचारः पर्याये द्रव्योपचारः पर्याये गुणोपचार इति नवविधोऽसद्भूतव्यवहारिस्यार्थो द्रष्टव्यः।

अर्थ - अन्यत्र प्रसिद्ध धर्म का अन्यत्र आरोप करना असद्भूतव्यवहार है। असद्भूतव्यवहार का नाम ही उपचार है। उपचार के बाद भी उपचार को जो करता है, वह उपचरितासद्भूतव्यवहार है। गुण-गुणी का पर्याय-पर्यायी का, स्वभाव-स्वभाववान् का और कारक-कारकवान् का भेद सद्भूतव्यवहार का अर्थ है। द्रव्य में द्रव्य का उपचार, पर्याय में पर्याय का उपचार, गुण में गुण का उपचार, द्रव्य में गुण का उपचार, द्रव्य में पर्याय का उपचार, गुण में द्रव्य का उपचार, गुण में पर्याय का उपचार, पर्याय में द्रव्य का उपचार और पर्याय में गुण का उपचार; इस तरह नौ प्रकार का असद्भूतव्यवहार का अर्थ जानना चाहिए।

यह आलापपद्धति का वचन है। इसमें असद्भूतव्यवहाररूप अर्थ उपचरित असद्भूत -व्यवहाररूप अर्थ और सद्भूतव्यवहाररूप अर्थ क्या है—इसका स्पष्ट शब्दों में निर्देश किया गया है और साथ में यह भी बतला दिया गया है कि असद्भूतव्यवहार का नाम ही उपचार है। यहाँ सद्भूतव्यवहाररूप अर्थ से प्रयोजन नहीं है। इसलिए असद्भूतव्यवहाररूप अर्थ को आगम प्रमाण के साथ स्पष्ट करते हैं—

घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत्।
जीवो वर्णादिमज्जीवजल्पनेऽपि न तन्मयः॥४०॥

घी का घड़ा कहने पर भी घड़ा घीमय नहीं है, उसी प्रकार जीव वर्णादिमान् है—ऐसा कहने पर भी जीव वर्णादिमान् नहीं है।

यहाँ घड़े में घी रखा है, अतएव घी का संयोग देखकर व्यवहारीजन उसे घी का घड़ा कहते हैं, यह असद्भूत व्यवहार का उदाहरण है। यदि कोई अज्ञानी जीव इतने मात्र से घड़े को मिट्टी का न समझकर उसे यथार्थरूप में घी का ही समझने लगे तो उसकी ऐसी समझ को मिथ्या ही कहा जायेगा।

घड़े तो बहुत प्रकार के होते हैं और उनमें नाना वस्तुएँ भरी रहती हैं। अतएव लोक में अन्य वस्तुओं से भरे हुए घड़ों का वारण करने के लिए विवक्षित वस्तु के आलंबन से इस प्रकार का व्यवहार किया जाता है। जो व्यवहार उपचरित होने पर भी सप्रयोजन होने के कारण लोक में ग्राह्य माना जाता है और **लौकिकजनों को परमार्थ का ज्ञान कराने के लिए आगम में भी इसे स्वीकार किया गया है।** स्पष्ट है कि यदि ऐसे व्यवहार से निश्चय का ज्ञान हो तो ही इस प्रकार का व्यवहार करना उपयोगी है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए अनगारधर्मामृत अध्याय एक में कहा है—

कर्त्राद्या वस्तुनो भिन्ना येन निश्चयसिद्धये।
साध्यन्ते व्यवहारोऽसौ निश्चयस्तदभेददृक् ॥102॥

जिससे निश्चय की प्रसिद्धि के लिए वस्तु से भिन्न कर्त्ता आदिक जाने जाते हैं, वह व्यवहार है और उन कर्त्ता आदिक की वस्तु से अभिन्न प्रतिपत्ति का नाम निश्चय है ॥102॥

यह आगम प्रमाण है। इसमें स्पष्ट बतलाया गया है कि जिससे निश्चय की सिद्धि हो, उसी का नाम व्यवहार है और इसीलिए उपचरित होने पर भी भी आगम में वह स्वीकार किया गया है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर जब हम निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के ऊपर दृष्टिगत करते हैं तो हमें इस बात के समझने में देर नहीं लगती कि उपादानकारण से भिन्न अन्य वस्तु में किया गया निमित्त व्यवहार असद्भूत होने के कारण उपचरित क्यों माना गया है। यहाँ जिस वस्तु में निमित्त व्यवहार किया गया है, वह अन्य द्रव्य के विवक्षित कार्य का यथार्थ कारण तो नहीं है, फिर भी उसकी उस कार्य के उपादानकारण के साथ, कालप्रत्यासत्तिरूप बाह्य व्याप्ति अवश्य है और इसी कारण उपादान में रहनेवाला जो कारण धर्म, उसकी सिद्धि इसके द्वारा हो जाती है, इसीलिए इस बाह्य वस्तु में भी निमित्त अर्थात् कारण धर्म का उपचार कर लिया जाता है। यही उपचार असद्भूतव्यवहार का अर्थ है और जो ज्ञान ऐसे अर्थ को

जानता है, उस ज्ञान को असद्भूतव्यवहारनय कहते हैं। यह असद्भूतव्यवहारनय का तात्पर्य है।

यह तो प्रथम उपचार हुआ। अब यदि उपादानभूत वस्तु में रहनेवाले कर्त्ता आदि धर्मों का निमित्त रूप से स्वीकृत अन्य वस्तु में आरोप किया जाता है तो ऐसा एक उपचार के बाद भी पुनः उसी वस्तु में किया गया उपचार रूप अर्थ उपचरित असद्भूतव्यवहारनय का विषय होगा। आचार्य कुन्दकुन्द ने सामान्यतया समयसार गाथा 105 में इसी उपचरित असद्भूतव्यवहार का निर्देश किया है, किन्तु यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि जीव का और कर्मों का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध रूप से पहले से ही संश्लेष सम्बन्ध चला आ रहा है, इसलिए जीव के राग-द्वेष आदि परिणामों को निमित्त कर जो कर्मबन्ध होता है, वहाँ जीव के परिणामों में कर्मो को करने रूप कर्त्ताधर्म का उपचार ही मुख्य है। अतएव जीव ने कर्मों को किया, ऐसा कहना अनुपचरित असद्भूतव्यवहार ही होगा। समयसार गाथा 105 में इसी अभिप्राय की मुख्यता से उपचार शब्द का प्रयोग हुआ है।

तात्पर्य यह है कि **जहाँ पर संश्लेष सम्बन्ध नहीं है, वहाँ तो एक वस्तु के कर्त्ता आदि धर्म का दूसरी वस्तु में आरोप करने का नाम उपचरित असद्भूतव्यवहार है और जहाँ पर निमित्त-नैमित्तिक भाव से परस्पर संश्लेष सम्बन्ध है, वहाँ पर एक वस्तु के कर्त्ता आदि धर्म का दूसरी वस्तु में आरोप करने का नाम अनुपचरित असद्भूतव्यवहार है।** उक्त अर्थ को स्पष्ट करते हुए बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा आठ में लिखा है—

मनोवचनकायव्यापारक्रियारहितनिजशुद्धात्मतत्त्वभावनाशून्यः सन्ननुपचरितासद्भूत व्यवहारेण ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मणामादिशब्देनौदारिकवैक्रियिकाहारकत्रयाहारादिषट् पर्याप्तियोग्यपुद्गलपिण्डरूपनोकर्मणां तथैवोपचरिततासद्भूतव्यवहारेण बहिर्विषयघट-पटादीनां च कर्त्ता भवति।

मन वचन और काय के व्यापार से होनेवाली क्रिया से रहित ऐसा जो निज शुद्धात्मतत्त्व उसकी भावना से रहित हुआ यह जीव अनुपचरित असद्भूतव्यवहार की अपेक्षा ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों का, आदि शब्द से औदारिक, वैक्रियक और आहारक तीन शरीर और आहार आदि छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलपिण्डरूप नोकर्मों का तथा उपचरित असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा बाह्य विषय घट-पट आदि का कर्त्ता होता है।

यहाँ प्रश्न यह है कि जिसमें किसी दूसरी वस्तु या उसके गुण-धर्म का उपचार किया

जाता है, उसमें तदनुरूप कोई न कोई धर्म अवश्य होना चाहिए, अन्यथा उस वस्तु में किसी दूसरी वस्तु का या उसके गुण-धर्म का उपचार करना नहीं बन सकता? उदाहरणार्थ उसी बालक में सिंह का उपचार करके उसे सिंह कहा जा सकता है, जिस बालक में सिंह के समान किसी अंश में क्रौर्य और शौर्य आदि गुण देखे जाते हैं? सो इसका समाधान यह है कि जिस वस्तु में निमित्त व्यवहार किया जाता है या निमित्त मानकर कर्त्ता आदि व्यवहार किया जाता है, उस वस्तु में स्वयं उपादान होकर किये गये अपने कार्य की अपेक्षा यथार्थ कारण धर्म भी पाया जाता है और यथार्थ कर्त्ता आदि धर्म भी पाये जाते हैं, इसलिए उसमें अन्य वस्तु के कार्य की अपेक्षा कारण धर्म और कर्त्ता आदि धर्मों का उपचार करने में कोई बाधा नहीं आती। यह वस्तुस्थिति है, इसको ध्यान में रखकर ही प्रकृत में व्यवहार का क्या अर्थ है, इसका निर्णय करना चाहिए। जिसका विशेष विचार हमने पूर्व में किया ही है।

- तत्त्वार्थवार्तिक, अ. 1, सू. 5, वार्तिक 27

2. सम्यक् निश्चयनय और उसका विषय

यह तो सम्यक् व्यवहाररूप अर्थ और उसे ग्रहण करनेवाले सम्यक् नय का खुलासा है। अब प्रकृत में निश्चयरूप अर्थ और उसको ग्रहण करनेवाले नय का खुलासा करते हैं—

प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वभाव होने के कारण जैसे स्वभाव से ध्रौव्य है, वैसे ही स्वभाव से उत्पाद-व्यय स्वभाववाली भी है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए आप्तमीमांसा में स्वामी समन्तभद्र लिखते हैं—

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात्।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत्॥57॥

हे भगवन्! आपके मत में सत् अपने सामान्य स्वभाव की अपेक्षा न तो उत्पन्न होता है और न अन्वय धर्म की अपेक्षा व्यय को ही प्राप्त होता है। फिर भी उसका उत्पाद और व्यय होता है, सो यह पर्याय की अपेक्षा ही जानना चाहिए, इसलिए सत् एक ही वस्तु में उत्पादादि तीनरूप है, यह सिद्ध होता है।

इस प्रकार प्रत्येक वस्तु के स्वभाव से ध्रौव्य होकर भी उत्पाद-व्ययरूप सिद्ध होने पर यहाँ यह विचार करना है कि वह उत्पाद-व्यय स्वयंकृत है या परकृत है या उभयकृत है? परकृत तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि दोनों की एक सत्ता नहीं है। भिन्न सत्ता होकर भी उससे दूसरी वस्तु में परिणमन रूप कार्य मानने पर परस्पर विरोध आता है, क्योंकि भिन्न सत्ता

होने के कारण उससे भिन्न परसत्ता में कार्य का किया जाना नहीं बन सकता और अपने से भिन्न परसत्ता में कार्य करना स्वीकार करने पर दोनों की भिन्न सत्ता नहीं बन सकती। यही कारण है कि आचार्यों ने सर्वत्र निश्चय से एक द्रव्य या उसके गुणधर्म को दूसरे द्रव्य या उसके गुणधर्म के कार्य का वास्तविक कर्त्ता स्वीकार नहीं किया है। दूसरे द्रव्य का वह उत्पाद-व्यय उभयकृत भी नहीं हो सकता, क्योंकि कोई भी कार्य जब परकृत नहीं सिद्ध होता, ऐसी अवस्था में वह उभयकृत तो सिद्ध हो ही नहीं सकता। अतएव परमार्थ से प्रत्येक कार्य स्वयंकृत ही होता है, ऐसा यहाँ निश्चय करना चाहिए। इस प्रकार प्रत्येक कार्य के स्वयंकृत सिद्ध होने पर उसमें अपने-अपने कार्यों की अपेक्षा वास्तविक कारण धर्म और कर्त्ता आदि धर्मों की भी सिद्धि हो जाती है। प्रत्येक द्रव्य में कर्त्ता आदि धर्म वास्तविक है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए सर्वार्थसिद्धि अ. 1, सू. 1 में लिखा है—

पश्यति दृश्यतेऽनेन दृष्टिमात्रं वा दर्शनम्। जानाति ज्ञायतेऽनेन ज्ञातिमात्रं वा ज्ञानम्। चरति चर्यतेऽनेन चरणमात्रं वा चरित्रम्। नन्मेवं स एव कर्त्ता स एव करणमित्यायातम्, तच्च विरुद्धम्? सत्यम्, स्वपरिणाम-परिणामिनोर्भेदविवक्षायां तथाभिधानात्। यथाग्निर्दहतीन्धनं दाहपरिणामेन। उक्तः कर्त्रादिसाधनभावः पर्याय-पर्यायिणोरेकानेकत्वं प्रत्यनेकान्तोपपत्तौ स्वातन्त्र्य-पारतन्त्र्यविवक्षोपपत्तेरेकस्मिन्नप्यर्थे न विरुध्यते, अग्नौ दहनादिक्रियायाः कर्त्रादिसाधनभाववत्।

जो देखता है, जिसके द्वारा देखा जाता है या देखना मात्र दर्शन है। जो जानता है, जिसके द्वारा जाना जाता है या जानना मात्र ज्ञान है तथा जो आचरण करता है, जिसके द्वारा आचरण किया जाता है या आचरण करना मात्र चारित्र है।

शंका - इस प्रकार वही कर्त्ता और वही करण यह प्राप्त हुआ और वह विरुद्ध है?

समाधान - सत्य है। स्वपरिणाम और परिणामी की भेद विवक्षा में वैसा कथन किया गया है। जैसे अग्नि दाह परिणाम के द्वारा ईधन को जलाती है।

पर्याय और पर्यायी में एकत्व और अनेकत्व के प्रति अनेकान्त होने पर स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य की विवक्षा की जाने से एक ही अर्थ में कहा गया कर्त्ता आदि साधनभाव विरोध को प्राप्त नहीं होता। जैसे अग्नि में दहनादि क्रिया की अपेक्षा कर्त्तादि साधन भाव बन जाता है।

इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए प्रवचनसार गाथा 16 में कहा है—

तह सो लद्धसहावो सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो।
भूदो सयमेवादा हवदि सयंभू त्ति णिद्दिट्ठो॥ 16॥

इस प्रकार वह आत्मा स्वभाव को प्राप्त सर्वज्ञ और सर्व लोक के अधिपतियों द्वारा पूजित स्वयमेव होता हुआ स्वयंभू है – ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है॥ 16॥

यद्यपि इस गाथा में मात्र एक निश्चय कर्त्ता का निर्देश है – ऐसा प्रतीत होता है, परन्तु गाथा में आया हुआ 'स्वयमेव' पद निश्चयरूप छहों कारकों को सूचित करता है। यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्र और आचार्य जयसेन ने अपनी-अपनी टीका में निश्चय रूप छहों कारकों का निर्देश किया है। अपनी-अपनी टीका के अन्त में उक्त दोनों आचार्य क्रमशः लिखते हैं—

1. अतो न निश्चयतः परेण सहात्मनः कारकत्वसम्बन्धोऽस्ति, यतः शुद्धात्मस्वभावलाभाय सामग्रीमार्गणव्यग्रतया परतन्त्रैर्भूयते।

1. इसलिए निश्चय से पर के साथ आत्मा का कारक रूप सम्बन्ध नहीं है, जिससे कि शुद्धात्मस्वभाव की प्राप्ति के लिए सामग्री ढूँढ़ने की व्यग्रता से जीव परतन्त्र होते हैं।

2. इत्यभेदषट्कारकीरूपेण स्वतः एव परिणममाणः सन्नयमात्मा परात्मस्वभावकेवलज्ञानोत्पत्तिप्रस्तावे यति भिन्नकारकं नापेक्षते ततः स्वयंभूर्भवतीति भावार्थः।

3. इस प्रकार अभेद षट्कारक रूप से स्वतः ही परिणमन करता हुआ यह आत्मा, परमात्मा स्वभाव केवलज्ञान की उत्पत्ति के प्रस्ताव में यतः भिन्न कारक की अपेक्षा नहीं करता, अतः स्वयंभू होता है।

उक्त दोनों आचार्यों के उक्त उल्लेखों से जहाँ यह ज्ञात होता है कि निश्चय से एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है, वहाँ यह भी ज्ञात होता है कि प्रत्येक द्रव्य में स्वभाव पर्याय की उत्पत्ति कारकान्तर निरपेक्ष एकमात्र निश्चय षट्कारकों के आलम्बन से ही होती है। इससे यह भी फलित हो जाता है कि जहाँ पर इस जीव के विकल्प में पर की अपेक्षा होती है, वहाँ पर रागादि विभाव पर्याय की उत्पत्ति होती है।

साथ ही तथ्य रूप में यहाँ इतना और समझ लेना चाहिए कि प्रत्येक द्रव्य और उनके गुण तथा पर्यायों का स्वरूप परस्पर सापेक्ष न होकर स्वतःसिद्ध होता है। मात्र इनका व्यवहार ही परस्पर सापेक्ष किया जाता है। यदि इनके स्वरूप को परस्पर सापेक्ष माना जाय तो इनमें

से एक का भी अस्तित्व नहीं बन सकता। यहाँ जिस तथ्य का निर्देश द्रव्य, गुण और पर्याय को लक्ष्य में रखकर किया है, वही तथ्य कर्तृत्वादि धर्मो के विषय में भी जान लेना चाहिए।

यद्यपि पर्यायें स्वकाल के सिवाय अन्य काल में कथंचित् असत् होती हैं, इसलिए पर्यायार्थिकनय से उनमें परस्पर व्यतिरेक दिखलाने के अभिप्रायवश उनकी उत्पत्ति में कारकों का व्यापार स्वीकार किया गया है, यह ठीक है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि अपने-अपने काल में उनका वह स्वरूप किसी अन्य से जायमान हुआ है, क्योंकि उत्पादादि त्रिरूपमयता यह प्रत्येक द्रव्य का स्वत:सिद्ध स्वरूप है, अन्यथा वह द्रव्य का स्वरूप नहीं बन सकता।

इस प्रकार वस्तु के स्वरूप और उसमें रहनेवाले कर्त्ता आदि धर्मों की अपेक्षा विचार करने पर प्रत्येक वस्तु का स्वरूप और कर्त्ता आदि धर्म निश्चयरूप प्रमाणित होते हैं और उनको जाननेवाला ज्ञान निश्चयनय संज्ञा की प्राप्त होता है। निश्चयनय के कथन में अभेद की मुख्यता है, इतना यहाँ विशेष समझना चाहिए।

इसप्रकार निश्चय और व्यवहाररूप अर्थ क्या है तथा उन्हें ग्रहण करनेवाले नयों का स्वरूप क्या है—इस बात का प्रकृत में हमने जो प्रमाणसहित विवेचन किया है, उसी विषय को स्पष्ट करते हुए पंडितप्रवर टोडरमलजी अपने मोक्षमार्ग प्रकाशक में लिखते हैं—

तहाँ जिन आगम विषै निश्चय-व्यवहाररूप वर्णन है। तिन विषै यथार्थका नाम निश्चय है, उपचार का नाम व्यवहार है। *- अधिकार 7, पृ. 280*

व्यवहार अभूतार्थ है। सत्य स्वरूप की न निरूपै है। किसी अपेक्षा उपचारकरि अन्यथा निरूपै है। बहुरि शुद्धनय जो निश्चय है, सो भूतार्थ है, जैसा वस्तु का स्वरूप है, तैसा निरूपै है। *- अधिकार 7, पृ. 369*

एक ही द्रव्य के माव की तिस स्वरूप ही निरूपण करना, सो निश्चयनय है। उपचारकरि तिस द्रव्य के भावकौ अन्य द्रव्य के भावस्वरूप निरूपण करना, सो व्यवहार है।

- अधिकार 7, पृ. 369

3. निश्चयनय में व्यवहार रूप अर्थ की सापेक्षता का निषेध

इस प्रकार निश्चयनय, व्यवहारनय और उनके विषयों का प्रकृत में उपयोगी निरूपण करके तत्काल उनकी परस्पर सापेक्षता एवं निरपेक्षता के विषय में विचार करते हैं। आप्तमीमांसा कारिका 108 में प्रत्येक वस्तु को अनेकान्त स्वरूप न मानकर सर्वथा सद्रूप या सर्वथा,

असद्रूप, सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य आदि मानने पर उनको ग्रहण करनेवाला नयज्ञान मिथ्या कैसे है और कथञ्चित् रूप उन धर्मों द्वारा वस्तु को ग्रहण करनेवाला नयज्ञान समीचीन कैसे है, इसका विचार किया गया है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु परस्पर विरुद्ध अनेक धर्म वाली होने पर भी जो नय दूसरे धर्म की अपेक्षा किये बिना मात्र एक धर्मस्वरूप वस्तु को स्वीकार करता है, वह नय मिथ्यानय माना गया है और जो नय इतर धर्मसापेक्ष एक धर्म द्वारा वस्तु को ग्रहण करता है, वह सम्यक् नय माना गया है। यह वस्तुस्थिति है। इसके प्रकाश में प्रकृत में विचार करने पर विदित होता है कि प्रत्येक वस्तु में जो कर्त्ता आदि अनेक कारक धर्म हैं, वे वस्तु से द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा अभिन्न हैं, क्योंकि जो द्रव्य की सत्ता है, वही उन धर्मों की सत्ता है। अतएव अभेदरूप से वस्तु को ग्रहण करनेवाला जो नय है वह निश्चयनय है तथा संज्ञा, प्रयोजन और लक्षण आदि की अपेक्षा भेद उपजाकर इन धर्मों द्वारा वस्तु को ग्रहण करनेवाला जो नय है वह सद्भूत व्यवहारनय है। इस प्रकार एक ही वस्तु में कथञ्चित् अभेद तथा कथञ्चित् भेद की विवक्षा होने पर इन नयों की प्रवृत्ति होती है, इसलिए ये दोनों ही नय सम्यक् नय हैं।

अब रहा असद्भूत व्यवहारनय, सो उसका विषय मात्र उपचार है, जो पर को आलम्बन कर होता है, इसलिए उसकी अपेक्षा उक्त दोनों नयों में सापेक्षता किसी भी अवस्था में नहीं बन सकती। यदि अपर पक्ष ने समयसार की रचना शैली पर थोड़ा भी ध्यान दिया होता तो उसने अपनी इसी प्रश्न की प्रतिशंका 3 में जो निश्चयनय और व्यवहारनय के लक्षण स्वीकार किये हैं, उन्हें वह भूलकर भी स्वीकार न करता। इसके लिए समयसार गाथा 84 और 85 पर दृष्टिपात कीजिए। समयसार गाथा 84 में पहले आात्मा को व्यवहारनय से पुद्गल कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता बतलाया गया है, किन्तु यह व्यवहार असद्भूत है, क्योंकि अज्ञानियों का अनादि संसार से ऐसा प्रसिद्ध व्यवहार है, इसलिए गाथा 85 में दूषण देते हुए निश्चयनय का अबलम्बन लेकर उसका निषेध किया गया है। इसी प्रकार गाथा 98 में व्यवहारनय से घट, पट, रथ आदि द्रव्य तथा नाना प्रकार की इन्द्रियाँ, कर्म और नोकर्म इत्यादि कार्यों का कर्ता आत्मा को बतला कर गाथा 99 में दूषण देते हुए उस असद्भूत व्यवहारनय का निषेध किया गया है। यद्यपि गाथा 100 में अज्ञानी आत्मा के योग और उपयोग को घट, पट आदि कार्यों का उपचरित असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा निमित्तकर्त्ता कहकर इसी बात को दृढ़ किया है, क्योंकि उसी गाथा की टीका में ऐसा लिखा है कि '**तथापि**

न परद्रव्यात्मककर्मकर्त्ता स्यात्।' उसका तात्पर्य यह है कि अज्ञानी अपने को परद्रव्य की पर्याय का निमित्तकर्त्ता मानता है, परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के कर्म का यथार्थ कर्त्ता क्यों नहीं है। एतद्विषयक सिद्धान्त का उद्‌घाटन करते हुए गाथा 103 में आचार्य लिखते हैं—

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं॥ 103॥

जो द्रव्य अपने जिस द्रव्य स्वभाव में तथा गुण में वर्तता है, वह अन्य द्रव्य में तथा गुण में संक्रमित नहीं होता। इस प्रकार अन्य में संक्रमित नहीं होता हुआ वह उस अन्य द्रव्य को कैसे परिणमा सकता है अर्थात् कभी नहीं परिणमा सकता॥ 103॥

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को क्यों नहीं परिणमा सकता—इसके कारण का निर्देश करते हुए इसी गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि प्रत्येक **वस्तुस्थिति की सीमा अचलित है, उसका भेदना अशक्य है। अतएव प्रत्येक वस्तु अपनी-अपनी सीमा में ही वर्तती है।** कोई भी वस्तु अपनी-अपनी सीमा का उल्लंघन कर अन्य वस्तु में प्रवेश नहीं कर सकता, इसलिए एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को परिणमाता है, यह कथनमात्र है जो व्यवहारनय की भाषा का अवलम्बन लेकर बोला जाता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए स्वयं आचार्य महाराज गाथा 107 में लिखते हैं—

उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणाम ए दि गिण्हदि य।
आदा पुग्गलदव्वं ववहारणयस्स वक्तव्वं॥ 107॥

आत्मा, पुद्‌गलद्रव्य के परिणाम को उत्पन्न करता है, करता है, बाँधता है, परिणमाता है तथा ग्रहण करता है—ऐसा व्यवहारनय (असद्‌भूत व्यवहारनय) का कथन है॥ 107॥

यहाँ ऐसा समझना चाहिए कि एक द्रव्य की पर्याय का दूसरा द्रव्य उत्पादक है; इस प्रकार यहाँ किया गया यह उत्पादादिरूप व्यवहार उपचार कैसा है, इसे राजा प्रजा का दृष्टान्त देकर गाथा 108 तथा उसकी टीका में ऐसा लिखा है कि '**तथापि न परद्रव्यात्मककर्मकर्त्ता स्यात्**' तथापि परद्रव्यात्मक कर्म का कर्त्ता नहीं है। सो उसका तात्पर्य यह है कि अज्ञानी जीव अपने को परद्रव्य की पर्याय का निमित्तकर्त्ता मानता है, किन्तु वस्तुस्थिति यह नहीं है।

इस प्रकार उक्त कथन से यह फलित हुआ कि अपर पक्ष ने जो यह लिखा है कि

'व्यवहाररूप अर्थ सापेक्ष निश्चयरूप अर्थ को जाननेवाला ज्ञान निश्चयनय है।' सो उसका ऐसा लिखना यथार्थ नहीं है, किन्तु जो **ज्ञान एक ही द्रव्य के भाव को उसी का जानता है और उपचाररूप अर्थ का निषेध करता है, वह निश्चयनय है,** क्योंकि प्रत्येक वस्तु का वस्तुत्व ही ऐसा होता है कि जो अपने स्वरूप का उपादान करता है और अन्य का अपोहन करता है। यदि प्रत्येक वस्तु में इस प्रकार की व्यवस्था करने का गुण न हो तो उस वस्तु का वस्तुत्व ही नहीं बन सकता। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर युक्त्यनुशासन श्लोक 42 की टीका में आचार्य विद्यानन्दि लिखते हैं—

स्वपररूपोपादानापोहनव्यवस्थापाद्यत्वाद्वस्तुनो वस्तुत्वस्य।

स्वरूप के उपादान और पररूप के अपोहन को व्यवस्था करना ही वस्तु का वस्तुत्व है।

प्रत्येक द्रव्य भावाभावात्मक माना गया है। यह प्रत्येक वस्तु का स्वरूप है। वह उभयरूपता वस्तु में है, इसकी सिद्धि करने के लिए ही यह कहा गया है कि प्रत्येक द्रव्य स्वचतुष्टय की अपेक्षा भावरूप है और परचतुष्टय की अपेक्षा अभावरूप है। इसका यदि कोई यह अर्थ करे कि स्वचतुष्टय की अपेक्षा वस्तु का स्वरूप भावरूप है और परचतुष्टय की अपेक्षा उसका स्वरूप अभावरूप है तो उसका ऐसा अर्थ करना संगत नहीं है, क्योंकि कोई भी धर्म किसी भी वस्तु में स्वरूप से स्वत:सिद्ध होता है। हाँ, अपेक्षा विशेष का आलम्बन लेकर उन धर्मों की सिद्धि करना दूसरी बात है। आचार्य भट्टाकलंकदेव अष्टसहस्री पृ. 195 में लिखते हैं—

अन्यस्य कैवल्यमितस्य वैकल्यं, स्वभावपरभावाभ्यां भावाभावव्यवस्थितेर्भावस्य।

किसी एक का अकेला होना उसमें दूसरे की विकलता (रहितपना) है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ स्वभाव और परभाव की अपेक्षा भावाभावरूप व्यवस्थित है।

इससे स्पष्ट है कि निश्चय कथन स्वरूपनिष्ठ व्यवस्था करनेवाला होने के कारण जहाँ अपने स्वरूप का प्रतिपादन करता है, वहाँ वह अपने से भिन्न अन्य का निषेध भी करता है। भगवान् कुन्दकुन्द ने समयसार गाथा 272 में इसी तथ्य को ध्यान में रखकर निश्चयनय को प्रतिषेधक और व्यवहारनय को प्रतिषेध्य बतलाया है। यद्यपि वहाँ उनके कथन में इससे भी आगे जाकर मर्म की बात कही गई है, किन्तु उस कथन में यह भाव पूरी तरह से निहित है,

क्योंकि उस गाथा द्वारा जितना भी पराश्रित व्यवहार है, उस सबका निषेध किया गया है, इसलिए यह सिद्धान्त स्थिर हुआ कि **निश्चयनय व्यवहार रूप अर्थ की अपेक्षा किए बिना स्वतन्त्र रूप से अपने ही अर्थ का कथन करता है।**

परन्तु उक्त प्रकार के व्यवहारनय के विषय में स्थिति इससे कुछ भिन्न प्रकार की है, क्योंकि जैसा कि हम पण्डितप्रवर आशाधरजी के अनगारधर्मामृत का '**कर्त्राद्या वस्तुनो भिन्नाः**' इत्यादि श्लोक को उद्‌धृत कर आये हैं, उससे यह बात बहुत ही अच्छी तरह से ज्ञात हो जाती है कि जो व्यवहार, निश्चय का ज्ञान कराता है वह व्यवहार ही आगम में स्वीकार किया गया है। अतएव **व्यवहारनय उपचरित अर्थ को ग्रहण करनेवाला होने के कारण वह अनुपचरित अर्थ की प्रसिद्धि करता हुआ ही सार्थक है।** अन्यथा यह मिथ्यानय ही ठहरेगा, क्योंकि कोई भी नय व्यवहार से भी तब तक सन्नय कहलाने का अधिकारी नहीं है, जब तक वह परमार्थभूत अर्थ की प्रसिद्धि नहीं करता। यहाँ पर उपादान कारण और उसमें रहनेवाले कर्त्ता आदि धर्म ये परमार्थभूत अर्थ हैं और इनकी प्रसिद्धि का कारण होने से कालप्रत्यासत्तिवश बाह्य द्रव्य में आरोपित किया गया निमित्त धर्म और कर्त्ता आदि धर्म ये अपरमार्थभूत अर्थ हैं। अत: ये कालप्रत्यासत्ति होने से परमार्थभूत अर्थ की प्रसिद्धि करते हैं, इसलिए इन्हें ग्रहण करनेवाला नय व्यवहार से सम्यक् नय माना गया है।

इस प्रकार प्रकृत में अपने प्रतिषेधक स्वभाव के कारण व्यवहाररूप अर्थ का निषेध करता हुआ ही निश्चयनय क्यों तो मात्र निश्चयरूप अर्थ को ग्रहण करता है और प्रतिषेध्य स्वभाव होकर भी व्यवहारनय क्यों व्यवहार में प्रयोजनीय माना गया है—इसका यहाँ सांगोपांग विचार किया। इससे अपर पक्ष के उस कथन का सुतरां निरास हो जाता है जिसका निर्देश हम पूर्व में कर आये हैं अर्थात् प्रकृत में व्यवहारनय और निश्चयनय के जिन लक्षणों आदि का निर्देश अपर पक्ष ने किया है, वे स्वमतिकल्पित होने से ठीक नहीं हैं, यह पूर्वोक्त कथन से सुस्पष्ट हो जाता है।

४. द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप कारणता का निषेध

अपर पक्ष ने अपनी इसी प्रतिशंका उपादान में द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप कारणता का विधान करते हुए लिखा है—

'तात्पर्य यह है कि कार्यकारणभाव के प्रकरण में दो प्रकार की कारणता का विवेचन

आगम ग्रन्थों में पाया जाता है – एक द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप और दूसरी कालप्रत्यासत्तिरूप। इनमें से जो वस्तु स्वयं कार्यरूप परिणत होती है अर्थात् कार्य के प्रति उपादानकारण होती है, उसमें कार्य के प्रति द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप कारणता पाई जाती है, क्योंकि वहाँ पर कारणरूप धर्म और कार्यरूप धर्म दोनों ही एक द्रव्य के आश्रय से रहनेवाले धर्म हैं।'

यह द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप कारणता के विषय में अपर पक्ष का वक्तव्य है। अपर पक्ष ने इसी एक ही क्या समस्त प्रतिशंकाओं की इमारत मात्र इसी एक मान्यता पर खड़ी की है। अपनी इसके पूर्व की प्रतिशंका में भी उसकी ओर से द्रव्यशक्तिरूप उपादानकारण का निर्देश किया गया था। किन्तु वह सब कथन आगमविरुद्ध अतएव काल्पनिक कैसे हैं, इसका विचार हम प्रतिशंका 2 के उत्तर के समय ही कर आये हैं। फिर भी अपर पक्ष अपनी उसी मान्यता को दुहराने में प्रयत्नशील है, इसका हमें आश्चर्य है। किन्तु उस पक्ष की इस एकान्त मान्यता पर पुनः सांगोपांग विचार करना आवश्यक समझकर यहाँ विचार किया जाता है।

जैनदर्शन में प्रत्येक वस्तु को सामान्य-विशेषात्मक स्वीकार किया गया है, क्योंकि जो वस्तु केवल सामान्यात्मक होगी या केवल विशेषरूप, उसमें अर्थक्रिया का बनना असम्भव है। यही कारण है कि सभी आचार्यों ने प्रमाणदृष्टि से केवल द्रव्यप्रत्यासत्ति को उपादानकारण न मानकर अनन्तर पूर्व पर्याययुक्त द्रव्य को उपादानकारण स्वीकार किया है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. 69 में लिखा है—

पर्यायविशेषात्मकस्य द्रव्यस्योपादानत्वप्रतीतेः, घटपरिणमनसमर्थपर्यायात्मक-मृद्द्रव्यस्य घटोपादानत्त्ववत्।

पर्यायविशेषात्मक द्रव्य में ही उपादानता प्रतीत होती है, घट परिणमन में समर्थ पर्यायात्मक मिट्टी द्रव्य में घट की उपादानता के समान।

यह आगमवचन है। इसमें द्रव्यप्रत्यासत्ति के समान पर्यायप्रत्यासत्ति में भी उपादान-कारणता स्वीकार की गई है, केवल द्रव्यप्रत्यासत्ति में नहीं। फिर नहीं मालूम कि अपर पक्ष केवल द्रव्यप्रत्यासत्ति में ही उपादानकारणता कैसे स्वीकार करता है, यदि उस पक्ष का कहना हो कि जिस समय विविक्षित कार्य होता है, द्रव्यप्रत्यासत्ति तो उसी समय की ली गई है, पर्याय प्रत्यासत्ति के लिए ऐसा कोई नियम नहीं है। इस पर हमारा कहना यह है कि प्रत्यासत्ति का अर्थ ही जब 'अति सन्निकट होना' है, ऐसी अवस्था में पर्यायप्रत्यासत्ति का

अर्थ ही विवक्षित कार्य की अनन्तरपूर्वपर्याय ही होगा, अन्य नहीं और यही कारण है कि आगम में सर्वत्र अनन्तरपूर्व पर्याययुक्त द्रव्य को ही उपादानकारण कहा है। इस विषय का विशेष विचार अष्टसहस्त्री, पृ. 210 में विस्तार के साथ किया है। वहाँ लिखा है—

असाधारणद्रव्यप्रत्यासत्तिः पूर्वाकारभावविशेषप्रत्यासत्तिरेव च निबन्धनमुपादानत्वस्य स्वोपादेयं परिणामं प्रति निश्चीयते।

असाधारण द्रव्यप्रत्यासत्ति और पूर्वाकार भावविशेषप्रत्यासत्ति ही उपादानपने का कारण होकर अपने उपादेय परिणाम के प्रति निश्चित होती है।

आगे इसी विषय को स्पष्ट करने के अभिप्राय से आचार्य विद्यानन्द ने उक्त सिद्धान्त के समर्थन में 'तदुक्तं' लिखकर दो श्लोक उद्धृत किये हैं। जो इस प्रकार हैं—

त्यक्तात्यक्तात्मरूपं यत्पूर्वापूर्वेण वर्तते।
कालत्रयेऽपि तद् द्रव्यमुपादनमिति स्मृतम्।।

जो द्रव्य तीनों कालों में अपने रूप को छोड़ता हुआ और नहीं छोड़ता हुआ पूर्वरूप से और अपूर्वरूप से वर्त रहा है, वह उपादानकारण है - ऐसा जानना चाहिए।

यहाँ पर द्रव्य को उपादान कहा गया है। उसके विशेषणों पर ध्यान देने से विदित होता है कि द्रव्य का न तो केवल सामान्य अंश उपादान होता है और न केवल विशेष अंश उपादान होता है। किन्तु सामान्यविशेषात्मक द्रव्य ही उपादान होता है। द्रव्य के केवल सामान्य अंश को और केवल विशेष अंश को उपादान मानने में जो आपत्तियाँ आती हैं, उनका निर्देश स्वयं आचार्य विद्यानन्द ने एक दूसरा श्लोक उद्धृत करके कर दिया है। वह श्लोक इस प्रकार है—

यत् स्वरूपं त्यजत्येव यन्न त्यजति सर्वथा।
तन्नोपादानमर्थस्य क्षणिकं शाश्वतं यथा॥

जो अपने स्वरूप को छोड़ता ही है वह (पर्याय) और जो अपने स्वरूप को सर्वथा नहीं छोड़ता वह (सामान्य) अर्थ (कार्य) का उपादान नहीं होता। जैसे क्षणिक और शाश्वत।

यद्यपि सर्वथा क्षणिक और सर्वथा शाश्वत कोई पदार्थ नहीं है। परन्तु जो लोग पदार्थ को सर्वथा क्षणिक मानते हैं, उनके यहाँ जैसे सर्वथा क्षणिक पदार्थ कार्य का उपादान नहीं हो सकता और जो लोग पदार्थ को सर्वथा शाश्वत् मानते हैं, उनके यहाँ जैसे सर्वथा शाश्वत् पदार्थ कार्य का उपादान नहीं हो सकता, उसी प्रकार द्रव्य का केवल सामान्य अंश कार्य का

उपादान नहीं होता और न केवल विशेष अंश कार्य का उपादान होता है। यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

इस प्रकार पूर्वोक्त समय कथन पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि केवल द्रव्यप्रत्यासत्ति और केवल पर्यायप्रत्यासत्ति उपादानकारणरूप से स्वीकृत न होकर द्रव्यपर्यायप्रत्यासत्ति को ही उपादानकारण आचार्यों ने स्वीकार किया है। हम अपने पिछले उत्तरों में प्रमेयकमलमार्त्तण्ड पृ. 200 से '**यच्चोच्यते शक्तिर्नित्याऽनित्या वेत्वादि।**' इत्यादि वचन उद्धृत कर यह सिद्ध कर आये हैं, तथापि अपर पक्ष ने पुनः उसी प्रश्न को उठाया है, इसलिए यहाँ पर इस विषय का पुनः विचार किया गया है।

हम यह मानते हैं कि आगम ग्रन्थों में स्वतः परिणामसमर्थ द्रव्य को अनुग्रहाकांक्षी लिखा है और इस अपेक्षा को ध्यान में रखकर व्यवहारनय से सापेक्षता का भी उल्लेख किया गया है। निश्चयनय से विचार करने पर तो विदित होता है कि प्रत्येक द्रव्य स्वयं परिणामस्वभाव है और परनिरपेक्ष होकर परिणमता है। इससे यह निश्चय हो जाता है कि प्रत्येक द्रव्य में प्रत्येक समय का कार्य होता है तो स्वयं उसी के द्वारा ही होता है किन्तु जब वह कार्य होता है, तब अन्य बाह्य जिस सामग्री के साथ उसकी बाह्य व्याप्ति का नियम है, उसमें असद्भूतव्यवहार नय से कारण और कर्त्ता आदि धर्मों का उपचार किया जाता है। इस उपचार का जो प्रयोजन है, उसका निर्देश हम पूर्व में कई बार कर आये हैं। प्रतीक्षा कोई किसी की नहीं करता, अन्तरंग-बहिरंग सामग्री का विस्रसा या प्रयोग से सहज ही योग मिलता रहता है। ऐसी ही परसापेक्षता जैनदर्शन में स्वीकार की गई है। अधीनतारूप परसापेक्षता जैनदर्शन में स्वीकृत नहीं है, क्योंकि अधीनतारूप परसापेक्षता के स्वीकार करने पर वस्तुव्यवस्था ही नहीं बन सकती।

एक बात और है और वह यह है कि जैन-शास्त्रों में अनेक स्थलों पर व्यवहारनय की मुख्यता से यह भी कथन उपलब्ध होता है कि बाह्य सामग्री के अभाव में अकेला उपादानकारण अपना कार्य करने में समर्थ नहीं है। जैसे तत्त्वार्थवार्तिक अध्याय 5, सूत्र 17 में व्याख्या करते हुए यह लिखा है—

नैक एव मृत्पिण्डः कुलालादिबाह्यसाधनसन्निधानेन बिना घटात्मनाविर्भवितुं समर्थः।

सो यह कथन निश्चय उपादान की अपेक्षा न होकर व्यवहार उपादान को लक्ष्य में रखकर ही किया गया है क्योंकि उक्त उल्लेख में दो बार उपादान कारण का निर्देश किया गया

है। प्रथम बार तो '**मृत्पिण्डः घटकार्यपरिणामप्राप्तिं प्रति गृहीताभ्यन्तरसामर्थ्यः**' इन शब्दों द्वारा किया गया है और दूसरी बार '**मृत्पिण्डः**' मात्र इतना ही कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि प्रथम बार निश्चय उपादान को सूचित कर यह बतलाया गया है कि विवक्षित कार्य के निश्चय उपादान के होने पर बाह्य सामग्री होती ही है तथा व्यवहार उपादान के काल में विवक्षित कार्य की बाह्य-आभ्यन्तर सामग्री नियम से नहीं होती। अतः प्रत्येक कार्य में बाह्याभ्यन्तर सामग्री की समग्रता नियम से होती है, यह सिद्ध होता है। परमागम में जीव-पुद्गलों की गति-स्थिति के निमित्तरूप से धर्म और अधर्मद्रव्य को स्वीकार करने का यही कारण है। इसके विशेष खुलासा के लिए तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. 68 का यह कथन अवलोकनीय है।

तत एवोपादानस्य लाभे नोत्तरस्य नियतो लाभः, कारणानामवश्यं कार्यवत्त्वाभावात्। समर्थस्य कार्यवत्त्वमेवेति चेन्न, तस्येहाविवक्षितत्वात्। तद्विवक्षायां तु पूर्वस्य लाभे नोत्तरं भजनीयमुच्यते, स्वयमविरोधात्। इति दर्शनादीनां विरुद्धधर्माध्यासाविशेषेप्युपादानोपादेय भावादुत्तरं पूर्वास्तितानियतं, न तु पूर्वमुत्तरास्तित्वगमकम्।

इसलिए ही उपादान की प्राप्ति से उत्तर की प्राप्ति नियत नहीं है, क्योंकि कारण नियम से कार्य वाले नहीं होते।

शंका - समर्थ कारण कार्य वाला होता ही है ?

समाधान - ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि उसकी यहाँ पर विवक्षा नहीं है। उसकी विवक्षा होने पर तो पूर्व की प्राप्ति होने पर उत्तर भजनीय नहीं कहा जाता, क्योंकि स्वयं अविरोध है। इस प्रकार दर्शनादिक के विरुद्ध धर्मध्यान की अविशेषता होने पर भी उपादान-उपादेय भाव होने से उत्तर-पूर्व के अस्तित्व पर नियत है, परन्तु पूर्व-उत्तर के अस्तित्व का गमक नहीं है।

यह आगम वचन है। इसमें जहाँ व्यवहार उपादान की चर्चा की है, वहाँ निश्चय उपादान का भी निर्देश किया है। अनन्तर पूर्व पर्याययुक्त द्रव्य का नाम ही निश्चय उपादान है। ऐसी अवस्था में पहुँचने के पूर्व जहाँ वह विवक्षित उपादेय का गमक नहीं होता, वहाँ ऐसी अवस्था में पहुँचने पर वह अपने उपादेय का नियम से नियामक होता है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। उपादेय तो अपने उपादान का गमक होता ही है, उपादान भी अपने उपादेय का नियामक होता है, ऐसा अभिप्राय यहाँ समझना चाहिए। यही कारण है कि आचार्य

विद्यानन्दि ने अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. 64 में उभयावधारण का निर्देश करते हुए यह वचन कहा है—

निश्चयनयात् तूभयावधारणमपीष्टमेव, अनन्तरसमयनिर्वाणजननसमर्थानामेव सद्दर्शनादीनां मोक्षमार्गत्वोपपत्तेः परेषां अनुकूलमार्गताव्यवस्थानात्। एतेन मोक्षस्यैव मार्गो मोक्षस्य मार्ग एवेत्युभयाववधारणमिष्टं प्रत्यायनीयम्।

निश्चयनय से तो उभयतः आवधारण करना इष्ट ही है, क्योंकि अनन्तर समय में निर्वाण को उत्पन्न करने में समर्थ ही सम्यग्दर्शनादिक के मोक्षमार्गपने की उत्पत्ति होने से दूसरों के अनुकूल मार्गपने की व्यवस्था होती है। इससे मोक्ष का ही मार्ग है या मोक्ष का मार्ग ही है, इस प्रकार उभयतः अवधारण करना इष्ट है - ऐसा निश्चय करना चाहिए।

इस कथन से चार बातों का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है—

१. अनन्तर पूर्व पर्याययुक्त द्रव्य नियम से अपने कार्य का नियामक होता है और उससे जायमान कार्य उसका नियम से गमक होता है। यह निश्चय उपादान-उपादेय की व्यवस्था है।

२. इसके पूर्व वह उस कार्य का व्यवहार उपादान कहलाता है। यह विवक्षित कार्य का नियामक नहीं होता, क्योंकि व्यवहारनय से ऐसा कहा जाता है। जैसे मिट्टी को घट का उपादान कहना यह व्यवहारनय का वक्तव्य है। परन्तु उस मिट्टी से, जिसे हमने घट का उपादान कहा है, घट बनेगा ही, ऐसा निश्चय नहीं। यह द्रव्यशक्ति को लक्ष्य में रखकर कहा गया है, घट की अनन्तर पूर्व पर्याययुक्त द्रव्य को लक्ष्य में रखकर नहीं।

३. निश्चय उपादान के अपने कार्य के सन्मुख होने पर कार्यकाल तदनुकूल बाह्य सामग्री का विस्रसा या प्रयोग से योग मिलता ही है।

४. व्यवहार उपादान कुछ विवक्षित कार्य का निश्चय उपादान नहीं होता, इसलिए वह प्रत्येक समय में जिस-जिस कार्य का निश्चय उपादान होता जाता है, उस-उस कार्य को करता है और उस-उस समय में बाह्य सामग्री भी उस-उस कार्य के अनुकूल मिलती है और इस प्रकार क्रम से उसके विवक्षित कार्य की अपेक्षा निश्चय उपादान की भूमिका में आने पर वह नियम से विवक्षित कार्य को जन्म देता है तथा प्रयोग से या विस्रसा उसके अनुकूल बाह्य सामग्री भी उस कार्य के समय उपस्थित रहती है।

ये कार्य-कारणभाव के अकाट्य नियम हैं, जिनका आगम में यत्र-तत्र विस्तार के

साथ निर्देश किया गया है। इसके लिए तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. 71 का '**न हि द्रयादिसिद्धक्षणैः**' इत्यादि कथन अवलोकन करने योग्य है। इस कथन में व्यवहार उपादान और निश्चय उपादान, इन दोनों का सुस्पष्ट शब्दों में विवेचन किया गया है। यदि अपर पक्ष इस कथन के आधार से पूरे जिनागम का परामर्श करने का अनुग्रह करे तो उसे वस्तुस्थिति को समझने में कठिनाई न जाये।

इस प्रकार इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपादानकारण को केवल द्रव्यप्रत्यासत्ति रूप न स्वीकार कर असाधारण द्रव्यप्रत्यासत्ति और अनन्तरपूर्वपर्यायरूप प्रतिविशिष्ट भावप्रत्यासत्ति, इन दोनों के समवाय को ही उपादान कारण रूप से स्वीकार किया है। यह निश्चय उपादान का स्वरूप है, अन्य नहीं। पूरे जिनागम का भी यही अभिप्राय है।

5. बाह्य सामग्री दूसरे के कार्य का यथार्थ कारण नहीं

अपर पक्ष ने अपनी प्रतिशंका में यह भी लिखा है कि 'क्या जो वस्तु स्वयं कार्यरूप परिणत न होकर कार्यरूप परिणत होनेवाली अन्य वस्तु को कार्यरूप से परिणत होने में सहायक होती है अर्थात् निमित्तकारण होती है, उसमें कार्य के प्रति द्रव्य प्रत्यासत्तिरूप कारणता का तो अभाव ही पाया जाता है, क्योंकि वहाँ पर कार्यरूप धर्म तो तो अन्य वस्तु में रहा करता है और कारणरूप धर्म अन्य वस्तु में ही रहा करता है। तब ऐसी स्थिति में उन कार्यभूत और कारणभूत दोनों वस्तुओं में कालप्रत्यासत्ति के आधार पर ही कार्यकारणभाव स्वीकार किया जा सकता है, द्रव्यप्रत्यासत्ति के रूप में नहीं, अर्थात् जिसके अनन्तर जो अवश्य ही उत्पन्न होता है और जिसके अभाव में जो अवश्य ही उत्पन्न नहीं होता है - ऐसा कालप्रत्यासत्तिरूप कारणता का लक्षण ही वहाँ पर घटित होता है।' आदि।

यह अपर पक्ष का वक्तव्य है। इसमें जो यह स्वीकार किया गया है कि एक द्रव्य के कार्य का कारण धर्म सहकारी सामग्री में ही रहा करता है, सो यही यहाँ पर मुख्य रूप से विचारणीय है। आचार्य विद्यानन्दि ने बाह्य सामग्री को कारण व्यवहारनय से कहा है। वे तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अ. 5, सू. 16 पृ. 409 में लिखते हैं—

धर्मादयः पुनराधेयास्तथाप्रतीतेः व्यवहारनयाश्रयणादिति।

परन्तु धर्मादिक द्रव्य आधेय है, क्योंकि व्यवहारनय से वैसी प्रतीति होती है।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्वामी व्यवहारनय से है इस बात का निर्देश करते हुए तत्त्वार्थवार्त्तिक अध्याय 1, सूत्र 7 में लिखा है—

व्यवहारनयवशात् सर्वेषाम्॥ 7॥

जीवादीनां सर्वेषां पदार्थानां व्यवहारनयवशाज्जीवः स्वामी।

व्यवहारनय से सबका स्वामी है॥ 7॥

जीवादि सब पदार्थों का व्यवहारनय से जीव स्वामी है।

आगे उसी सूत्र की व्याख्या में व्यवहारनय से साधन का निर्देश करते हुए लिखा है—

औपशमिकादिभावसाधनश्च व्यवहारतः॥ 9॥

व्यवहारनयवशात् औपशमिकादिभावसाधनश्चेति व्यपदिश्यते। च शब्देन शुक्र-शोणिताहारादिसाधनश्च।

व्यवहारनय से औपशमिक आदि भावसाधनवाला जीव है॥ 9॥

व्यवहारनय से औपशमिक आदि भाव साधनवाला जीव कहा जाता है। वार्तिक में पठित 'च' शब्द के शुक्र शोणित और आहारादि साधनवाला जीव है – ऐसा यहाँ जानना चाहिए।

इस प्रकार जहाँ-जहाँ आगम में अन्य द्रव्य को निमित्त हेतु, आलम्बन, प्रत्यय, उदासीनकारण और प्रेरक कारण कहा है, वहाँ सर्वत्र यह कथन व्यवहारनय अर्थात् असद्भूत व्यवहारनय या उपचारितासद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा से ही किया गया है, ऐसा यहाँ जानना चाहिए। इका विशेष खुलासा हम इसी उत्तर में पहले कर आये हैं। इसलिए **एक-द्रव्य के कार्य का कारण धर्म दूसरे द्रव्य में यथार्थ रूप में रहता हो, यह तो कभी भी सम्भव नहीं है।** आचार्य विद्यानन्दि ने कार्य के साथ जो सहकारी कारणों की कालप्रत्यासत्ति स्वीकार की है, सो उसका आशय इतना ही है कि **जिस बाह्य सामग्री में प्रयोजन विशेष को ध्यान में रखकर कारण व्यवहार किया जाता है, उसका उस कार्य के साथ एक काल में होने का नियम है।** जैसे जब जीव के क्रोध परिणाम होता है, उस समय क्रोध नामक द्रव्यकर्म का उदय नियम से होता है। यही यहाँ पर कालप्रत्यासत्ति जाननी चाहिए। ऐसी कालप्रत्यासत्ति सब द्रव्यों के सब कार्यों में उस-उस कार्य की बाह्य सामग्री के साथ नियम से पाई जाती है। इसमें कहीं किसी प्रकार का व्यत्यय नहीं पड़ता और इसीलिए हरिवंशपुराण सर्ग 25 में यह वचन उपलब्ध होता है—

अभ्यन्तरस्य सानिध्ये हेतोः परिणतेर्वशात्।
बाह्यो हेतुर्निमित्तं हि जगतोऽभ्युदये क्षये॥ 61॥

परिणति के वश से अभ्यन्तर हेतु की निकटता होने पर जगत् के अभ्युदय और क्षय में बाह्य हेतु निमित्तमात्र है।

यह वस्तुस्थिति है। यदि बाह्य सामग्री में अन्य द्रव्य के कार्य की कारणता यथार्थ मानी जाती है तो उन दोनों की दो सत्ता न होकर एक सत्ता मानना अनिवार्य हो जावेगा, क्योंकि कोई द्रव्य और उसका गुणधर्म अपनी सत्ता को छोड़कर दूसरे द्रव्य और उसके गुणधर्म की सत्तारूप त्रिकाल में नहीं होता, क्योंकि उन दोनों का परस्पर में अत्यन्ताभाव है। इसी तथ्य को लक्ष्य में रखकर आचार्य कुन्दकुन्द ने व्यवहारनय से घट-पट आदि का कर्त्ता आत्मा को स्वीकार करके भी, यह कथन समीचीन क्यों नहीं है, इसका निर्देश करते हुए समयसार गाथा 99 में लिखा है—

जदि सो परदव्वाणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज।
जम्हा णतम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता॥ 99॥

यदि वह आत्मा, परद्रव्यों को करे तो नियम से वह परद्रव्यों के साथ तन्मय हो जाये। अतः तन्मय नहीं होता, इसलिए वह उनका कर्त्ता नहीं होता।

अपर पक्ष यहाँ पर यह कह सकता है कि परद्रव्य दूसरे द्रव्य के कार्य का उपादान कर्त्ता भले ही न हो, निमित्तकर्त्ता तो होता ही है। सो यहाँ पर प्रश्न यह है कि जिसे अपर पक्ष निमित्तकर्ता के रूप में वास्तविक मानता है, उसकी वह क्रिया स्वयं अपने में होती है या अपनी सत्ता को छोड़कर जिसका वह निमित्तकर्त्ता कहलाता है, उसमें होती है। अपनी सत्ता को छोड़कर कोई भी द्रव्य अन्य द्रव्य की सत्ता में प्रवेश करके उसके कार्य की क्रिया को कर सकता है, यह कथन तो अपर पक्ष को भी मान्य नहीं होगा। अतएव यही सिद्धान्त स्थिर होता है कि एक मात्र कालप्रत्यासत्ति को दृष्टि में रखकर ही बाह्य सामग्री में कारणता का उपचार किया गया है। अतएव बाह्य सामग्री में जो निमित्तकारणता स्वीकार की गई है, उसे वास्तविक न मानकर उपचरित ही मानना चाहिए।

जैसे कृत्तिकानक्षत्र का उदय अन्तर्मुहूर्त्त बाद शकटनक्षत्र के उदय का नियम से ज्ञापक है, क्योंकि इन दोनों के उदय में ऐसा नियम पाया जाता है कि कृत्तिकानक्षत्र का उदय होने पर अन्तर्मुहूर्त्त बाद नियम से शकट नक्षत्र का उदय होगा; वैसे ही विवक्षित कार्य के होने में जो सामग्री व्यवहार से निमित्त होती है, उन दोनों के एक काल में होने का नियम है। इसी का नाम कार्य की कारण के साथ बाह्य व्याप्ति है और इसे ही कार्य के प्रति कारण की

अनुकूलता व समग्रता कहते हैं। अतएव बाह्य सामग्री दूसरे द्रव्य के कार्य का यथार्थ कारण न होने पर भी वह उसका उपचरित कारण कहा गया है और इसी आधार पर उसका कार्य के साथ अन्वय-व्यतिरेक भी बन जाता है, तब व्यवहारनय से यह कहने में आता है कि उपादानकारण हो और बाह्य सामग्री न हो तो कार्य नहीं होता। यहाँ पर उपादानकारण का अर्थ व्यवहार उपादानकारण लेना चाहिए, निश्चय उपादानकारण नहीं। इस विषय का विशेष खुलासा हमने शंका पाँच के तृतीय उत्तर में विस्तार से किया है, इसलिए उसे वहाँ से जान लेना चाहिए। यहाँ शकट और कृत्तिकानक्षत्र का उदाहरण कार्यकारणभाव की दृष्टि से नहीं दिया है, केवल क्रम का ज्ञान कराने के अभिप्राय से दिया है।

6. तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक के उल्लेख का तात्पर्य

अपर पक्ष ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृष्ठ 151 का एक उल्लेख उपस्थित कर हमारे कथन की अप्रामाणिकता घोषित करते हुए अपने कथन को बड़ी संजीदगी के साथ प्रामाणिक घोषित करने का प्रयत्न किया है, किन्तु उस पक्ष ने जिस उद्धरण को उपस्थित कर अपनी कल्पना को प्रामाणिक घोषित किया है, उसी उद्धरण के बाद आये हुए इस वाक्य पर यदि वह दृष्टिपात करता तो सम्भव था कि वह अपने विचारों को परिवर्तित करने के लिए प्रस्तुत हो जाता। आचार्य विद्यानन्दि ने द्विष्ठ कार्यकारणभाव को व्यवहारनय से यद्यपि पारमार्थिक बताकर कल्पनारोपितपने का निषेध किया है, परन्तु वहीं पर वे संग्रहनय और ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा उसे कल्पनामात्र भी प्रसिद्ध कर रहे हैं। सो क्यों? क्या दो का सम्बन्ध वास्तविक नहीं है, जिससे संग्रहनय और ऋजुसूत्रनय उसे कल्पनामात्र बतलाकर उसका निषेध करते हैं। स्पष्ट है कि व्यवहारनय का अर्थही प्रकृत में असद्भूत व्यवहारनय है और असद्भूत व्यवहार को आचार्य ने उपचार कहा ही है। इसके लिए आलापपद्धति का प्रमाण हम पूर्व में ही दे आये हैं। इससे सिद्ध हुआ कि बाह्य सामग्री को अन्य द्रव्य के कार्य का निमित्त कहना उपचार है और उस कार्य को बाह्य सामग्री का नैमित्तिक कहना यह भी उपचार है। इस प्रकार निमित्त-नैमित्तिक भाव के उपचरित सिद्ध होने पर, उपादान-उपादेय भाव ही वास्तविक ठहरता है, निमित्त-नैमित्तिक भाव नहीं। फिर भी आचार्य विद्यानन्दि ने जो द्विष्ठ कार्यकारणभाव को कल्पनारोपितपने का निषेध करके पारमार्थिक कहा है, सो उसका कारण अन्य है। बात यह है कि किसी का किसी में उपचार धर्माविशेष को देखकर ही किया जाता है। जैसा कि हम तत्त्वार्थवार्त्तिक अध्याय 1 सूत्र 5 का उल्लेख दे करके बतला आये हैं कि जिस बालक में

सिंह के समान अंशत: क्रौर्य और शौर्य आदि गुण पाये जाते हैं उसी में ही सिंह का उपचार कर '**माणवकोऽयं सिंह:**' 'यह बालक सिंह है' यह कहा जाता है। उसी प्रकार जिस बाह्य सामग्री में निमित्त व्यवहार किया जाता है, उसमें भी उपादान के समान अपने कार्य के कर्त्ता आदि कारण धर्म को देखकर और उपादान के कार्य के साथ उसकी अन्वय-व्यतिरेक रूप बाह्य व्याप्ति को देखकर यह व्यवहार किया जाता है कि यह सामग्री इस कार्य का कारण है। यहाँ पर बाह्य सामग्री में जो कारणता का व्यवहार किया गया है वह तो उपचरित ही है, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु उसमें अपने उपादेयभूत कार्य की जो कारणता पाई जाती है, वह वास्तविक है और इसी प्रकार जिस कार्य की वह बाह्य सामग्री निमित्तकारण कही गई है, वह कार्य भी अपने उपादान की अपेक्षा वास्तविक ही है, कल्पनारोपित नहीं। चूँकि व्यवहारनय इन्हीं दोनों को दूसरे रूप में स्वीकार करता है, इसलिए यहाँ पर आचार्य विद्यानन्दि ने द्विष्ठ संबंधरूप कार्यकारणभाव को व्यवहारसे कल्पनारोति न कहकर वास्तविक कहा है। आचार्य विद्यानन्दि ने ऐसे कार्यकारणभाव को संग्रहनय और ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा जिन शब्दों में कल्पनामात्र बतलाया है, उनके वे शब्द इस प्रकार हैं—

संग्रहर्जुसूत्रनयाश्रयणे तु न कस्यचित्कश्चित्सम्बन्धोऽन्यत्र कल्पनामात्रात् इति सर्वमविरुद्धं।

आशय यह है कि प्रत्येक उपादान-उपादेय के साथ प्रत्येक निमित्त-नैमित्तिक की एक तो कालप्रत्यासत्ति है जो कल्पनारोपित न होकर यथार्थ है।

दूसरे जिसमें निमित्त व्यवहार किया गया है, उसमें अपने क्रियमाण कार्य की अपेक्षा कारण, कर्त्ता आदि धर्म पाये जाते हैं और जिसमें नैमित्तिक व्यवहार किया गया है, उसमें अपने उपादानकारण की अपेक्षा कर्म-धर्म पाया जाता है। ये भी कल्पनारोपित न होकर वास्तविक हैं।

तीसरे जिस बाह्य सामग्री में निमित्तकर्त्ता या निमित्तकारण धर्म का आरोप किया जाता है, उसके सदृश प्राय: उपादेय कार्य होता है जो कल्पनारोपित न होकर वास्तविक है। यही कारण है कि आचार्य विद्यानन्दि ने व्यवहारनय की अपेक्षा भी द्विष्ठ कार्यकारणभाव को कल्पनारोपित न लिखकर वास्तविक लिखा है।

पर इसका अर्थ यह नहीं कि बाह्य सामग्री में किये गये निमित्तव्यवहार को इसी प्रकार उपादान के कार्यरूप उपादेय में किये गये नैमित्तिक व्यवहार को वास्तविक मान लिया जाय।

अतएव तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक के उक्त उल्लेख में जो अर्थ निहित है, उसे ध्यान में रखकर ही यहाँ पर उसका अर्थ करना चाहिए। इस प्रकार तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक के उक्त उल्लेख का क्या अभिप्राय है, इसका यहाँ खुलासा किया।

7. उपचार पद के अर्थ का स्पष्टीकरण

यहाँ पर अपर पक्ष ने उपचार का अर्थ निमित्त-नैमित्तिकभाव किया है इस प्रकार निमित्त-नैमित्तिकभाव को यथार्थ मानकर हमें सलाह दी है कि हम भी उनकी इस मान्यता को स्वीकार कर लें, किन्तु जब हम आगम में कहाँ किस अर्थ में उपचार पद का प्रयोग हुआ है, इस पर सम्यक् रूप से दृष्टिपात करते हैं तो हमें कहना पड़ता है कि अपर पक्ष की हमें दी गई यह सलाह उचित नहीं है। इसके लिए हम अपर पक्ष के सामने कुछ ऐसे प्रमाण रख देना चाहते हैं, जिससे उसे इस बात के समझने में सहायता मिले कि जहाँ एक वस्तु के गुणधर्म का दूसरी वस्तु में आरोप किया जाता है, वहाँ उपचारपद की प्रवृत्ति होती है। इसके लिए कुछ प्रमाणों पर दृष्टिपात कीजिए—

1. अतएव न मुख्याः स्वस्य प्रदेशा इति चेन्न, मुख्यकार्यकारणदर्शनात्। तेषामुपचरितत्वे सदयोगात्। न ह्युपचरितोऽग्निः पाकादावुपयुज्यमानो दृष्टस्तस्य मुख्यत्वप्रसंगात्।

- तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ. 403

2. ततः कालमा स्वतो वृत्तिरेवोपचारतो वर्तना, वृत्तिवर्तकयोर्विभागाभावान्मुख्य-वर्तनानुपपत्तेः। *- तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ. 414*

3. भूतादिव्यवहारोऽतः कालः स्यादुपचारतः। *- तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ. 419*

4. द्रव्येष्वपि गुणास्तदुपचरिता एव भवन्तु विशेषाभावादित्ययुक्तं, क्वचिन्मुख्यगुणाभावे तदुपचारायोगात्। *- तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ. 440*

5. अज्ञानरूपस्यापि प्रदीपादेः स्वपरपरिच्छितौ साधकतमत्वोपलम्भात्तेन तस्याऽव्याप्ति -रित्यप्ययुक्तम्, तस्योपचारात्तत्र साधकतमत्वव्यवहारात्। *- प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, पृ. 8*

1. शंका - अतएव स्व के प्रदेश मुख्य नहीं है ?

समाधान - नहीं, क्योंकि मुख्य कार्य-कारण देखा जाता है। उनके उपचरित होने पर कार्य-कारणभाव नहीं बन सकता। उपचरित अग्नि पाकादिक के उपयोग में आती हुई नहीं देखी जाती, अन्यथा उसे मुख्य अग्निपने का प्रसंग प्राप्त होता है।

2. इसलिए काल परमाणु स्वतः वृत्ति होने के कारण उपचार से वर्तना है, क्योंकि वृत्ति और वर्तक में विभाग का अभाव होने से मुख्य वर्तना नहीं बन सकती।

3. अतः भूतादि व्यवहार उपचार से काल है।

4. शंका - द्रव्यों में भी जो गुण हैं, उपचरित ही रहे आवें, क्योंकि कोई विशेषता नहीं है ?

समाधान - यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि कहीं मुख्य गुणों का अभाव होने पर उनका उपचार नहीं बन सकता।

5. शंका - यद्यपि दीपक अज्ञानरूप है तो भी उसकी स्व-पर परिच्छिति में साधकतमपने की उपलब्धि होने से उसके साथ उसकी अव्याप्ति प्राप्त होती है।

समाधान - यह कहना अयुक्त है, क्योंकि उपचार से उसमें साधकतमपने का व्यवहार किया गया है।

ये आगम के कुछ प्रमाण हैं। जिनमें यह स्पष्टरूप से बतलाया गया है कि जो वास्तविक न होकर भी प्रयोजनादि को ध्यान में रखकर दूसरी वस्तु के गुण-धर्म के नाम पर व्यवहार पदवी को प्राप्त होता है, उसकी आगम में उपचार संज्ञा रखी गई है। अतः आगम में असद्भूतव्यवहार और उपचार इन दोनों पदों का एक ही अर्थ है। इनमें अर्थभेद नहीं है, इसलिए आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार गाथा ५६ की टीका में व्यवहारनय का व्याख्यान करते हुए '**इह हि .... परभावं परस्य विदधाति।**' इन शब्दों द्वारा व्यवहारनय के विषय में स्पष्टीकरण किया है। पण्डितप्रवर जयचन्दजी ने व्यवहारनय उसको कहा है जो दूसरे के भावों को दूसरों के कहता है। उक्त गाथा की टीका में उनके शब्द हैं—

यहाँ पर व्यवहारनय, पर्यायाश्रित होने से पुद्गल के संयोगवश अनादिकाल से प्रसिद्ध जिसकी बन्ध पर्याय है, ऐसे जीव के कसूम के लाल रंग से रंगे हुए सफेद वस्त्र की तरह औपाधिक वर्णादि भावों को आलम्बनकर प्रवर्तती है, इसलिए वह व्यवहार नय दूसरे के भावों को दूसरों के कहती है।

इस प्रकार आगम में उपचार पद का क्या अर्थ लिया गया है, इसका यहाँ स्पष्टीकरण किया। हमें आशा है कि अपर पक्ष ने जो उपचार का अर्थ निमित्त-नैमित्तिकभाव किया है उसके स्थान में वह '**अन्य वस्तु के गुणधर्म को दूसरी वस्तु में आरोपित करना इसका नाम**

उपचार है' इसको ही उपचार पद का अर्थ स्वीकार करेगा। और इस प्रकार वह '**जो नय अन्य वस्तु के गुण-धर्म को अन्य वस्तु के कहता है या ग्रहण करता है, वह व्यवहार असद्भूत व्यवहारनय है**' इस अभिप्राय को भी स्वीकार करेगा।

8. बन्ध-मोक्ष व्यवस्था

इसी प्रसंग में अपर पक्ष ने आचार्य विद्यानन्दि के तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में आये हुए 14, 15 और 16 संख्याक वार्तिकों के आधार पर चर्चा करते हुए '**ततः सकलकर्मविप्रमोक्षो**' इत्यादि उल्लेख उपस्थित कर जो बन्ध-मोक्षादि व्यवस्था को वास्तविक मानने की सूचना की है, सो इस सम्बन्ध में निवेदन यह है कि आगम में द्रव्य और भाव के भेद से बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सबको दो-दो प्रकार का बतलाया है। उनमें से भावबन्ध, भावसंवर, भावनिर्जरा और भावमोक्ष ये चारों स्वयं जीव की अवस्था होने से या उस पर्याय विशिष्ट स्वयं जीव होने से ये स्वयं जीव ही हैं, ऐसा मानना यथार्थ ही है। इसका न तो हमने कहीं निषेध किया है और न निषेध किया ही जा सकता है। सम्भव है कि अपर पक्ष भी इस वस्तुस्थिति को स्वीकार करेगा। इतना अवश्य है कि जीव के राग-द्वेष आदि भावों को निमित्त कर जो कार्मणवर्गणाओं में कर्मरूप परिणाम होता है, उसे आगम में द्रव्य बन्ध कहा है। इसी प्रकार द्रव्यसंवर, द्रव्यनिर्जरा और द्रव्यमोक्ष का स्वरूप जान लेना चाहिए। सो इन्हें आगम में जहाँ जिस रूप में निर्दिष्ट किया है, उनको उस रूप में जानना ही यथार्थ जानना है, किन्तु इसके स्थान में यदि कोई श्रुतज्ञानी जीव, जीव के राग-द्वेष आदि परिणामों में रुकने को वास्तविक बन्ध न समझकर कार्मणवर्गणाओं के राग-द्वेष आदि परिणामों को निमित्त कर हुए ज्ञानावरणादि कर्म परिणाम को जीव का वास्स्वविक बन्ध समझने की चेष्टा करे तो उसे सच्चा श्रुतज्ञानी नहीं कहा जा सकता। अतएव प्रकृत में यही समझना चाहिए कि निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को उपचरित स्वीकार करने से बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था में बाधा आना सम्भव नहीं है, किन्तु इसके स्थान में यदि निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को वास्तविक मान लिया जाय तो अवश्य ही बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था भंग हो जायगी, क्योंकि वैसी अवस्था में दो या दो से अधिक द्रव्यों का संयोग वास्तविक सिद्ध हो जाने पर वे सब द्रव्य मिलकर एक हो जावेंगे। इसलिए नानात्व की व्यवस्था न बन सकने से किसका बन्ध और किसका मोक्ष? यह सब व्यवस्था गड़बड़ा जावेगी। अतएव यदि अपर पक्ष आगमोक्त बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था को स्वीकार करना चाहता है तो उसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को भी आगम के अनुसार उपचरित स्वीकार

कर लेना चाहिए। आचार्य विद्यानन्दि द्विष्ठ कार्य-कारणभाव को निश्चयनय से परमार्थभूत नहीं निर्दिष्ट कर रहे हैं, किन्तु वे व्यवहारनय से ही उसे परमार्थभूत कह रहे हैं। सो आगम में जैसे नामसत्य, स्थापनासत्य, जनपदसत्य, सम्मतिसत्य आदि का निर्देश किया गया है और उस रूप में इन्हें मानने में बाधा भी नहीं आती है। यदि कोई सम्यग्ज्ञानी जीव उस रूप में उन नामादि व्यवहारों को जानकर कथन करता है तो उसका वह जानना या कथन करना मिथ्या नहीं माना जाता है। ऐसी अवस्था में अपर पक्ष ही बतलावे कि जो सम्यग्ज्ञानी जीव निमित्त-नैमित्तिक व्यवहार को उपचरित रूप से स्वीकार करता है, उसका वैसा स्वीकार करना मिथ्या कैसे माना जायेगा ? अतएव प्रकृत में यही समझना चाहिए कि आगम में **जिस वस्तु को जिस रूप में स्वीकार किया गया है, उसको उसी रूप में ग्रहण करना, यही सच्चा सम्यग्ज्ञान है और अन्यथा रूप से ग्रहण करना, यही मिथ्याज्ञान है।**

आचार्य विद्यानन्दि ने उक्त वार्तिकों द्वारा क्षणिकैकान्त और नित्यैकान्त का निरास कर बन्ध-मोक्ष व्यवस्था कैसे बनती है और व्यवहारनय से साध्य-साधनभाव का क्या स्थान है इसका सम्यक् प्रकार से विचार किया है, सो इसे समझकर ही उसका निर्णय करना यही प्रत्येक सम्यग्ज्ञानी जीव का कर्तव्य है। इस विषय को स्पष्ट रूप से समझने के लिए तत्त्वार्थवार्तिक अ. 1, सूत्र 2 का यह वचन पर्याप्त होगा—

स्व-परनिमित्तत्वादुत्पादस्येति चेत् ? न, उपकरणमात्रत्वात्॥ 11॥

स्यादेदत् स्वपरनिमित्त उत्पादो दृष्टः। यथा घटस्योत्पादो मृन्निमित्तो दण्डादिनिमित्तश्च। तस्मात्तस्यापि मोक्षकारणत्वमुत्पद्यते इति ? तन्न, किं कारणम् ? उपकरणमात्रत्वात्। उपकरणमात्रं हि बाह्यसाधनम्। किञ्च-

आत्मपरिणामादेव तद्रसघातात्॥ 12॥

यदिदं दर्शनमोहाख्यं कर्म तदात्मगुणघाति, कुतश्चिदात्म-परिणामादेवोपक्षीणशक्तिकं सम्यक्त्वाख्यां लभते। अतो न तदात्मपरिणामस्य प्रधानं कारणम्, आत्मैव स्वदशक्त्या दर्शनपर्यायेणोत्पद्यत इति तस्यैव मोक्षकारणत्वं युक्तम्।

प्रश्न - उत्पाद स्व-परनिमित्तक होता है ?

उत्तर - नहीं, क्योंकि बाह्यसाधन उपकरणमात्र हैं॥ 1॥

यदि कोई कहे कि उत्पाद स्व-परनिमित्तक देखा गया है। जैसे घट का उत्पाद

मिट्टीनिमित्तक और दण्डादिनिमित्तक होता है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन का उत्पाद आत्मनिमित्तक और सम्यक्त्व पुद्गलनिमित्तिक होता है। इसलिए सम्यक्त्व पुद्गल में भी मोक्ष की कारणता बन जाती है, उसका ऐसा कहना ठीक नहीं है। सम्यक्त्व पुद्गल उपकरण मात्र है। बाह्य साधन नियम से उपकरण मात्र है।

आत्मा के परिणाम से ही उसका रस घात होता है॥ 12॥

जो यह दर्शनमोह नाम का कर्म है, वह आत्मा के गुण का घाती है। अतएव किसी आत्मपरिणाम को ही निमित्त कर उपक्षीण शक्तिवाला होकर वह सम्यक्त्व इस संज्ञा को प्राप्त होता हे। इसलिए वह आत्मा के परिणाम का प्रधान हेतु नहीं है। आत्मा ही अपनी शक्ति से दर्शनपर्याय रूप से उत्पन्न होता है, इसलिए उसी के मोक्ष की कारणता युक्त है।

इस प्रकार इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक द्रव्य स्वयं अपनी शक्ति के बल से उपादान होकर प्रत्येक समय में अपनी नई पर्याय को उत्पन्न करता है और पुरानी पर्याय का ध्वंस करता है। हमने अपने प्रथम उत्तर में तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के जिस उद्धरण का उल्लेख कर यह सिद्ध किया है कि निश्चयनय से प्रत्येक द्रव्य स्वयं उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वभाववाला होने से उसमें उत्पाद व्यय की व्यवस्था विस्रसा ही बनती है और व्यवहारनय से ही उसका उत्पाद-व्यय सहेतुक प्रतीत होता है, सो हमारा यह कथन तत्त्वार्थवार्तिक के उक्त उल्लेख को दृष्टि में रखते हुए साधु ही प्रतीत होता है। हम तो अपर पक्ष से ही यह आशा लगाये हुए हैं कि वह भी प्रत्येक उपादान को अनेक योग्यतावाला न स्वीकार करके मात्र प्रतिनियत योग्यतावाला स्वीकार करके ही प्रतिनियत कार्य की व्यवस्था को मान्य करते हुए निमित्त-नैमित्तिक व्यवहार को उपचरित स्वीकार कर लेगा। आचार्य विद्यानन्दि अपनी अष्टसहस्री पृ. 112 में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की स्वाभावान्तर निरपेक्ष रूप से जो व्यवस्था कर रहे हैं, उस पर भी थोड़ा दृष्टिपात कीजिए। इससे वस्तुस्थिति को हृदयङ्गम करने में विशेष सहायता मिलेगी।

स्वयमुत्पित्सोरयि स्वभावान्तरापेक्षणे विनश्वरस्यापि तदपेक्षणप्रसङ्गात्। एतेन स्थास्नोः स्वभावान्तरानपेक्षणमुक्तं, विस्रसा परिणामिनः कारणान्तरानपेक्षोत्पादादित्रयव्यस्था-नात्तद्विशेषे एव हेतुव्यापारोपगमात्।

यदि स्वयं उत्पन्न होनेवाला पदार्थ स्वभावान्तर की अपेक्षा करे तो विनाश होनेवाले को

भी स्वभावान्तर की अपेक्षा करने का प्रसङ्ग उपस्थित होता है। इस कथन से स्थानशील पदार्थ स्वभावान्तर की अपेक्षा नहीं करता, यह कह दिया गया है, क्योंकि विस्रसा परिणमन करनेवाले पदार्थों में कारणान्तर निरपेक्ष होकर उत्पादादित्रय की व्यवस्था है। उनके विशेष में ही हेतु का व्यापार स्वीकार किया गया है।

यह स्वामी विद्यानन्दि का वचन है। इससे हम यह बात अच्छी तरह से जान लेते हैं कि प्रत्येक उत्पाद में जो बाह्य ओर आभ्यन्तर हेतु की स्वीकृति है, उसका अभिप्राय क्या है। उत्पाद-स्वभाव से उत्पाद है, वह कथञ्चित् व्यय और ध्रौव्य रूप भी है। व्यय स्वभाव से व्यय है, वह कथञ्चित् उत्पाद और ध्रौव्य स्वरूप भी है। ध्रौव्य स्वरूप से ध्रौव्य है, वह कथञ्चित् उत्पाद और व्यय स्वरूप भी है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की यह व्यवस्था स्वभावत: परनिरपेक्ष होकर स्वत:सिद्ध है। फिर भी जो हेतु का व्यापार स्वीकार किया गया है, वह केवल एक पर्याय से दूसरी पर्याय में व्यतिरेक दिखलाने के लिए ही स्वीकार किया गया है। कथन थोड़ा सूक्ष्म और वस्तुस्पर्शी है। हमें भरोसा है कि अपर पक्ष इसके हार्द को हृदयङ्गम करेगा। इससे अपर पक्ष को यह भी समझने में सहायता मिलेगी कि '**येन कारणेन यत्कार्यं जायते तेनैव तत्कार्यं, न तु कारणान्तरेण।**' जिस कारण से अर्थात् उपादानकारण से बाह्य सामग्री को निमित्त कर जो कार्य उत्पन्न होता है, उस कारण से ही अर्थात् उपादानकारण से ही बाह्य सामग्री को निमित्तकर वह कार्य उत्पन्न होता है, कारणान्तर से नहीं। अष्ट. स. टी. 14, पृ. 112

हमने अपने दूसरे उत्तर को लिखते हुए तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के एक उद्धरण में आये हुए '**सहेतुकत्व प्रतीतेः**' पद में पठित '**प्रतीतेः**' पद की ओर अपर पक्ष का ध्यान आकृष्ट किया था। किन्तु अपर पक्ष ने उसके अभिप्राय को ग्रहण न कर उस पर टिप्पणी करना ही उचित समझा है। हम आशा करते हैं कि वह पुन: उस ओर ध्यान देने की कृपा करेगा। इसके हार्द को समझने के लिए हम समयसार गाथा 98 की आत्मख्याति टीका में आये हुए '**प्रतिभाति**' पद की ओर अपर पक्ष का पुन: ध्यान आकृष्ट करते हैं। इसकी टीका में कहा गया है कि यह जीव अपने विकल्प और हस्तादि क्रियारूप व्यापार द्वारा घट आदि परद्रव्य स्वरूप बाह्य कर्म को करता हुआ प्रतिभासित होता है, इसलिए यह उसका व्यामोह ही है।

स्पष्ट है कि परद्रव्य के किसी भी कार्य में बाह्य सामग्री निश्चय की प्रतीति का हेतु होने से व्यवहार कारण रूप से ही स्वीकार की गई है। यही पूरे जिनागम का सार है। इससे बन्ध-मोक्ष व्यवस्था जिनागम में किस रूप में स्वीकार की गई है, इसका स्पष्टीकरण हो जाता है।

9. जगत का प्रत्येक परिणमन क्रमानुपाती है

अपरपक्ष ने हमारे पिछले इस कथन पर टिप्पणी की है, जिसमें हमने बतलाया था कि अपर पक्ष की मान्यता ऐसी प्रतीत होती है कि 'जब जैसे निमित्त मिलते हैं, तब वैसा कार्य होता है।' हमारा यह वक्तव्य अपर पक्ष को बहुत खला है और इसलिए उस पर उसने अपनी तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की है। किन्तु इससे हमारे उस कथन की सार्थकता में अणुमात्र भी फरक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि जब अपर पक्ष प्रत्येक उपादान को अनेक योग्यतावाला मानकर निमित्तों के बल से कार्य की उत्पत्ति होने का विधान करता है, ऐसी अवस्था में एक तो उसे वही मानना होगा कि जब जैसे निमित्त मिलते हैं, तब वैसा कार्य होता है, क्योंकि उपादान अनेक योग्यतावाला होने से उससे क्या कार्य उत्पन्न हो, इसमें उसका वस्तुतः कुछ भी कर्त्तव्य नहीं रह जाता। कार्यरूप में जो कुछ भी फल सामने आता है, उसे निमित्त का ही परिणाम समझना चाहिए। यदि अपर पक्ष कहे कि 'उपादान भले ही अनेक योग्यतावाला रहा आवे, परन्तु प्रत्येक कार्य का निमित्त सुनिश्चित है, इसीलिए उसके बल से प्रत्येक समय में सुनिश्चित कार्य की ही उत्पत्ति होती है' इसलिए 'जब जैसे निमित्त मिलते हैं, तब वैसा कार्य होता है' जो यह आरोप हमारे (अपर पक्ष के) ऊपर किया जाता है वह ठीक नहीं है। सो अपर पक्ष का उक्त दोष से बचने के लिए यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार प्रत्येक समय के कार्य के सुनिश्चित निमित्तों के स्वीकार कर लेने पर निमित्तों के आधार पर एकान्त नियति को मानने का प्रसङ्ग उपस्थित होता है। जिस दोष से वह अपने को बचा नहीं सकता। वह पक्ष आगम के बल का नाम लेकर घोषणा चाहे जो करे, लेखनी उसकी है। किन्तु जब तक वह प्रतिनियत कार्य के प्रतिनियत उपादान को नहीं स्वीकार कर लेता, तब तक वह अपने को उक्त दोषों से नहीं बचा सकता। स्वपर सापेक्ष कार्य होता है, इस कथन में जैसे कार्य सुनिश्चित हैं, वैसे ही उसकी सामग्री भी सुनिश्चित मान लेनी चाहिए। यह वस्तु स्वभाव है कि प्रत्येक कार्य में बाह्य और आभ्यन्तर सुनिश्चित सामग्री की समग्रता रहती ही है।

अपरपक्ष ने पुनः मिट्टी को उदाहरण रूप में उपस्थित कर उससे जायमान कार्यों की मीमांसा की है। वह बाह्य सामग्री के व्यापार को तो प्रत्यक्ष देखता है, इसलिए उस आधार पर कार्य की व्यवस्था करना चाहता है। किन्तु कौन मिट्टी किस काल में किस प्रकार के परिणमन की योग्यतावाली है, इसे अपने इन्द्रिय प्रत्यक्ष से नहीं जानता; इसलिए उसमें नाना तर्कणाएँ लगाता है।

यह तो सुनिश्चित है कि इस जगत का परिणमन अनादिकाल से होता हुआ चला आ रहा है। एक द्रव्य में अब तक जितने भी परिणमन हुए हैं, उतने ही परिणमन अन्य सब द्रव्यों में भी हुए हैं। इस दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो न तो किसी द्रव्य में कम परिणमन हुए हैं और न अधिक ही। और इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य के अब तक जितने परिणमन हुए हैं, उतने बार ही उन परिणमनों की निमित्तभूत बाह्य आभ्यन्तर सामग्री की समग्रता भी मिली है। इसमें भी न न्यूनता हुई और न अधिकता ही। यह जगत के परिणमन का क्रम है। भविष्य में भी यह क्रम इसी प्रकार चालू रहेगा। उसमें भी न कमी होगी और न अधिकता ही। इस प्रकार जब हम इस क्रम को दृष्टि पथ में रखकर विचार करने लगते हैं तो यह स्पष्ट होने में देरी नहीं लगती कि वर्तमान समय में जिस किसी भी द्रव्य का जो उपादान-उपादेय योग और निमित्त-नैमित्तिक योग चल रहा है, वह पूर्वोक्त विधि से क्रमानुपाती ही है। हाँ, यदि यह होता कि कोई द्रव्य कभी परिणमन करें और कभी न करे तो अवश्य ही कार्य-कारण आदि की सब व्यवस्था में अनियतपने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता, किन्तु ऐसा तो है नहीं, क्योंकि सभी पदार्थ नियत क्रम से ही परिणमन करते हुए चले आ रहे हैं, अतएव प्रत्येक समय में प्रत्येक कार्य को सुनिश्चित निमित्त-नैमित्तिक व्यवस्था के समान उपादान-उपादेय व्यवस्था भी सुनिश्चित ही प्राप्त होती है। आगम में निमित्त-नैमित्तिक दृष्टि से इसका विचार तो बहुत ही कम किया है। मात्र उपादान-उपादेय दृष्टि से इसका विचार विशेष रूप से किया गया है। प्रत्येक द्रव्य का प्रत्येक परिणमन कैसे क्रमानुपाती है, इसका निर्देश करते हुए अष्टसहस्री पृ. 100 में लिखा है—

ऋजुसूत्रनयार्पणाद्धि प्रागभावस्तावत्कार्यस्योपादानपरिणाम एव पूर्वोऽनन्तरात्मा। न च तस्मिन् पूर्वानादिपरिणामसन्ततौ कार्यसद्भावप्रसंगः, प्रागभावविनाशस्य कार्यरूपतोपगमात्। 'कार्योत्पादः क्षयो हेतोः' इति वक्ष्यमाणत्वात्। प्रागभावतत्प्रागभावादेस्तु पूर्व-पूर्वपरिणामस्य सन्तत्यानादेर्विवक्षितकायरूपत्वाभावात्। न च तत्रास्येरेतराभावः परिकल्प्यते, येन तत्पक्षोपक्षिप्तदूषणावतारः स्यात्। नाप्येवं प्रागभावस्यानादित्वविरोधः, प्रागभाव-तत्प्रागभावादेः प्रागभावसन्तानस्यानादित्वोपगमात्। न चात्र सन्तानिभ्य-स्तत्त्वान्यत्वपक्षयोः सन्तानो दूषणार्हः, पूर्व-पूर्वप्रागभावात्मकभावक्षणानामेवापरामृष्टभेदानां सन्तानत्वाभिप्रायात्। सन्तानिक्षणापेक्षया तु प्रागभावस्यानादित्वाभावेऽपि न दोषः, तथा ऋजुसूत्रनयस्येष्ट त्वात्। तथास्मिन् पक्षे पूर्वपर्यायाः सर्वेऽप्यनादिसन्ततयो घटस्य प्रागभाव इति वचनेऽपि न प्रागनन्तरपर्यायनिवृत्ताविव तत्पूर्वपर्यायनिवृत्तावपि घटस्योत्पत्तिप्रसंगः, येन तस्यानादित्वं

पूर्वपर्यायनिवृत्तिसन्ततेरप्यनादित्वादापद्यते, घटात्पूर्वक्षणानामशेषाणामपि तत्प्रागभाव-रूपाणामभावे घटोत्पत्त्यभ्युपगमात्। प्रागनन्तरक्षणानिवृत्तौ तदन्यतमक्षणानिवृताविव सकलतत्प्रागभावनिवृत्त्यसिद्धेर्घटोत्पत्तिप्रसंगाभावात्। आदि।

ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा तो प्रागभाव कार्य का पूर्व अनन्तर परिणामस्वरूप उपादान ही है। और उसके प्रागभाव होने पर उससे पूर्व अनादि परिणाम सन्तति में कार्य के सद्भाव का प्रसंग आता है, सो भी बात नहीं है, क्योंकि प्रागभाव का विनाश कार्यरूपता है, ऐसा स्वीकार किया है। 'कार्य का उत्पाद ही व्यय है, एक हेतुक होने से' ऐसा आगे कहेंगे भी। प्रागभाव, उसका प्रागभाव इस प्रकार पूर्व-पूर्व परिणाम सन्तति के अनादि होने से उसमें विवक्षित कार्यरूपता का अभाव है। उसमें इतरेतराभाव को कल्पना करना ठीक नहीं, जिससे कि उसके पक्ष में दिये गये दूषणों का अवतार होवे। और इस प्रकार प्रागभाव को अनादि होने का भी विरोध नहीं है, क्योंकि प्रागभाव, उसका प्रागभाव आदि इस प्रकार प्रागभाव की सन्तान का अनादिपना स्वीकार किया है। और यहाँ पर सन्तानियों से सन्तान भिन्न है कि अभिन्न है, इस प्रकार दो पदा उपस्थित होने पर सन्तान दूषण के योग्य भी नहीं है, क्योंकि भेदों को न स्पर्श करते हुए पूर्व-पूर्व प्रागभावस्वरूप भावक्षणों में ही सन्तानपने का अभिप्राय है। सन्तानी क्षण की अपेक्षा से तो प्रागभाव के अनादिपने के अभाव में भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा वैसा इष्ट है। तथा इस पक्ष में अनादि सन्तति रूप सभी पूर्व पर्याय घट का प्रागभाव है, ऐसा वचन होने पर भी जिस प्रकार प्राक् अनन्तर पर्याय की निवृत्ति होने पर घट की उत्पत्ति होती है, उस प्रकार उससे पूर्व पर्यायों की निवृत्ति होने पर भी घट की उत्पत्ति का प्रसंग नहीं उपस्थित होता, जिससे कि पूर्व पर्यायों की निवृत्ति रूप सन्तति के अनादि होने से घट को भी अनादिता प्राप्त हो जाय, क्योंकि घट से उसके प्रागभावरूप जितने भी पूर्व क्षण हैं, उन सभी के अभाव होने पर घट की उत्पत्ति स्वीकार की है, कारण कि जिस प्रकार उनमें से किसी एक क्षण की निवृत्ति नहीं हुई तो उस (घट) के समस्त प्रागभावों की निवृत्ति सिद्ध नहीं होती, उसी प्रकार प्राक् अनन्तर क्षण की निवृत्ति नहीं होने पर घट की उत्पत्ति का प्रसंग नहीं उपस्थित होता।

यह पूरे कार्य-कारणभाव पर प्रकाश डालने वाला अष्टसहस्री का वचन है। इस द्वारा यह स्पष्ट बतलाया गया है कि मिट्टी द्रव्य की पर्याय सन्तति में घट की उत्पत्ति का जो स्वकाल है, उसी काल में घट की उत्पत्ति होती है, अन्य काल में नहीं। यदि कोई प्रजापति

घटोत्पत्ति के अनुकूल क्रिया करते हुए रुक जाता है तो उसका वह रुकना अकस्मात् न समझ कर अपनी पर्याय सन्तति में क्रमानुपाती ही समझना चाहिए और उस समय से मिट्टी के पिण्ड में घटोत्पत्ति के अनुरूप परिणाम न होकर अन्य परिणाम होता है, सो उसे भी उक्त आगम प्रमाण के प्रकाश में क्रमानुपाती ही समझना चाहिए। यह वस्तुव्यवस्था है, किन्तु इसे न स्वीकार कर अपर पक्ष अपनी मानसिक कल्पनाओं के आधार पर जो नाना विकल्प करता है, सो यह उसका वस्तुव्यवस्था में हस्तक्षेप ही कहा जायेगा। किसी भी द्रव्य का कोई भी कार्य पर के ऊपर अवलम्बित नहीं है। आचार्य अकलंकदेव के शब्दों में बाह्यसामग्री तो उपकरण मात्र है। यदि एक समय में अनेक उपादान शक्तियाँ आगम में स्वीकार की गई होतीं और जिसके अनुरूप पर का सहयोग मिलता उसका विकास आगम स्वीकार करता तो भले ही पर के सहयोग के अभाव में उपादान शक्तियाँ लुप्त पड़ी रहतीं और वे पर के सहयोग की प्रतीक्षा करती रहतीं, किन्तु आगम में तो जितना कार्य होता है, मात्र उतना ही निश्चय उपादानकारण स्वीकार किया गया है, अतएव उपादान शक्तियों के न तो लुप्त पड़े रहने का प्रश्न उपस्थित होता है और न ही उनके पर की प्रतीक्षा करते रहने का ही प्रश्न उपस्थित होता है। कोई मिट्टी यदि घड़ा नहीं बनती तो उसके घड़ा रूप परिणमने का स्वकाल नहीं आया, इसलिए वह घड़ा नहीं बनती, पर के कारण नहीं, क्योंकि घटोत्पत्ति में पर तो निमित्त मात्र है। मिट्टी को लाने वाला कुम्भकार कौन ? उसकी क्रियावतीशक्ति का विपाक काल आने पर ही उसका स्थानान्तरण होता है, उसमें पर तो उपकरणमात्र है। सर्वार्थसिद्धि के देवों में क्रियावतीशक्ति भी है, वैसा कर्मोदय भी है, फिर भी उनका सातवें नरक तक गमन नहीं होता। क्यों ? क्योंकि उनके क्रियावतीशक्ति का वैसा विपाक त्रिकाल में नहीं है। जिसे अपर पक्ष पुरुषार्थ कहता है, वह प्रकृत में प्राणी की इहचेष्टा को छोड़कर और क्या वस्तु हैं, इसका वह स्वयं विचार करे। सो क्या उसके सब कार्य इहचेष्टा पर निर्भर हैं ? यदि नहीं तो वह अन्य द्रव्य के कार्य में हस्तक्षेप के ही कार्य-कारणभाव की प्रतिष्ठा का स्वप्न क्यों देखता है ? **किसी के भी बल का प्रयोग अपने में होता है, पर में नहीं।**

यह तो हमारी आपकी और हमारे-आपके समान दूसरे जनों की समझ भर है कि हम सब किसी भी वस्तु का योग मिलने पर उसमें सम्भव द्रव्यशक्तियों को लक्ष्य में रख कर उसे विवक्षित कार्य का निश्चय उपादान मान लेते हैं। पर क्या, हमारे मानने मात्र से वह विवक्षित कार्य का निश्चय उपादान हो जाता है। यदि ऐसा होने लगे तो किसी को भी निराश न होना पड़े।

यह सुनिश्चित सत्य है कि **जब निश्चय उपादान अपने कार्य के सन्मुख होता है तो कार्य होता ही है।** प्रत्येक द्रव्य का प्रत्येक समय में इसी सिद्धान्त के आधार पर कार्य होता आ रहा है, हो रहा है और होता रहेगा। अब अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय में मिथ्यादृष्टि जीव पहुँचता है तो वह नियम से अगले समय में सम्यग्दर्शन को उत्पन्न करता है। वही जीव यदि सम्यक्त्व और संयम के अनुरूप अध:करणादि परिणाम कर अनिवृत्तिकरण के अन्त में पहुँचता है तो नियम से अगले समय में सम्यक्त्व और अप्रमत्तभाव को उत्पन्न करता है। यह प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है कि जब वह निश्चय उपादान की भूमिका में आता है तो अगले समय में अपने अनुरूप कार्य को नियम से उत्पन्न करता है। और क्रमानुपाती नियम के अनुसार अन्य बाह्य सामग्री उसमें निमित्त होती है। ऐसी अनादि वस्तुव्यवस्था है। हमारे संकल्प-विकल्प हमारे अज्ञान का फल है। उसके रहते हुए संकल्प-विकल्प ही तो होंगे, अपरपक्ष सम्भवत: इसे भूल जाता है। यह राग-द्वेषरूप परिणति का फल है जो अज्ञान की भूमिका में नियम से होती है, इसलिए सब द्रव्यों में प्रत्येक समय में होनेवाले कार्यों की कसौटी व्यक्ति के संकल्प-विकल्प को बनाने का प्रयत्न न करें, इतना ही हमारा आपसे निवेदन है। प्रत्येक कार्य अन्त: बहि: सामग्री के सद्भाव में होता है, यह हम पहले ही लिख आये हैं, इसलिए 'समय आने पर विवक्षित कार्य स्वत: सम्पन्न हो जायगा' यह लिखना उचित नहीं है। प्रत्येक मनुष्य कार्य सम्पन्नता के विषय में प्रत्येक कार्य के होने के जो प्राकृतिक नियम हैं, उनको ध्यान में रखकर ही विचार करता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उसके विचार करने पर और बाह्य उठाधरी करने पर जिस कार्य के विषय में उसने विचार किया है, वह कार्य हो ही जाता है, क्योंकि जो भी कार्य होता है वह बाह्याभ्यन्तर सामग्री की समग्रता में ही होता है। विकल्प और योग ये उस व्यक्ति के कार्य हैं। सो वे भी अपनी बाह्याभ्यन्तर सामग्री की समग्रता में होते है। कभी भी कोई विकल्प और कोई योग क्रिया हो जाय, ऐसा नहीं है। वे भी क्रमानुपाती ही होते हैं। उपादान स्वयं यह वस्तु है जो परिणमन करके अपने कार्य को उत्पन्न करता है। उसमें बाह्य सामग्री प्रवेश करके क्रिया करने में असमर्थ है, अतएव निश्चय से बाह्य सामग्री परद्रव्य का कार्य करने में अकिंचित्कर ही है। कार्य के साथ उसका अन्वय-व्यतिरेक दिखलाने के लिए ही उसे व्यवहार से परद्रव्य के कार्य का करनेवाला स्वीकार किया है, यह बात दूसरी है।

अपर पक्ष ने गेहूँ को उदाहरण बनाकर कार्य-कारण परम्परा की जिस प्रक्रिया का

निर्देश किया है, वह प्रत्येक कार्य में बाह्य और आभ्यन्तर सामग्री की समग्रता को ही सूचित करता है। कार्य में बाह्य सामग्री की समग्रता नहीं होती, यह तो हमारा कहना है नहीं। हम ही क्या, आगम ही जब इस बात को सूचित करता है कि प्रत्येक कार्य में बाह्य-आभ्यन्तर सामग्री की समग्रता होती है। ऐसी अवस्था में जो प्रत्येक कार्य में उभय सामग्री की समग्रता का निर्देश किया है, उसका आशय क्या है, विचार इस बात का होना चाहिए, किन्तु अपरपक्ष इस मूल बात को भूलकर या तो स्वयं दूसरी बातों को सिद्ध करने में उलझ जाता है या फिर हमें मुख्य प्रश्न को अनिर्णीत रखने के अभिप्राय से दूसरी बातों में उलझा देना चाहता है। सो उसकी इस पद्धति को श्लाघ्य नहीं कहा जा सकता। आगम में बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार की सामग्री में कारणता निर्देश किया गया है, यह सच है। परन्तु वहाँ किसमें किस प्रकार की कारणता का निर्देश किया गया है, इस बात पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि बाह्य सामग्री को में जो कारणता का निर्देश किया है, वह केवल कार्य के साथ उसकी अन्वय-व्यतिरेक रूप बाह्य व्याप्ति को दिखलाकर उसके द्वारा जिसके साथ उस (कार्य) की आभ्यन्तर व्याप्ति है, उसका ज्ञान कराने के लिए ही किया गया है और 'यदनन्तरं यद्भवति तत्सहकारिकारणम्' यह वचन भी इसी अभिप्राय से लिखा गया है। जबकि आगम का यह वचन है कि कोई भी द्रव्य एक साथ दो क्रियाएँ नहीं कर सकता और साथ ही जबकि आगम का यह भी वचन है कि प्रत्येक द्रव्य अपने स्वचतुष्टय को छोड़कर अन्य द्रव्य के स्वचतुष्टय रूप नहीं परिणमता। **ऐसी अवस्था में एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के कार्य का कारण है या कर्त्ता, करण और अधिकरण आदि है, यह कथन उपचरित ही तो ठहरेगा।** इसे वास्तविक कैसे कहा जा सकता है?—इसका अपर पक्ष स्वयं ही विचार करे।

एक ओर तो अपर पक्ष इस तथ्य को स्वीकार कर लेता है कि 'गेहूँ अंकुर का तभी उपादान है जब वह गेहूँ रूप अंकुर को उत्पन्न करने के सन्मुख होता है' और दूसरी ओर वह यह भी लिखने से नहीं चूकता कि 'कोई-कोई दाने उक्त प्रकार की योग्यता का अपने अन्दर सद्भाव रखते हुए भी बाह्य जलादि साधनों के अनुकूल सहयोग का अभाव होने से अंकुररूप से उत्पन्न होने की अवस्था से वंचित रह जाते हैं।' आदि। सो अपर पक्ष का ऐसा परस्पर विरुद्ध कथन इस बात को सूचित करता है कि अपर पक्ष वस्तुत: आगम में प्रतिपादित निश्चय उपादान के लक्षण को स्वीकार नहीं करना चाहता। यह बात अपर पक्ष अच्छी तरह से जानता है कि आगम में केवल योग्यता को ही उपादानकारण रूप से न स्वीकार कर कार्य की अव्यवहित पूर्व पर्याय युक्त द्रव्य को उपादानकारण रूप से स्वीकार किया गया है। अतएव

केवल योग्यता के आधार पर जो भी आपत्तियाँ अपर पक्ष उपस्थित करता है, वे सब प्रकृत विचारणा में दोषाधायक नहीं मानी जा सकतीं। हाँ, अपर पक्ष यदि कोई ऐसा आगम प्रमाण उपस्थित कर सके जिससे यह सिद्ध हो कि जिस कार्य का जो उपादानकारण है, उसके उस कार्य के सन्मुख होने पर भी बाह्य सामग्री के अभाव में वह कार्य नहीं हुआ तब तो यह माना जा सकता है कि उस उपादान में उस कार्य के करने की योग्यता भी थी और वह उपादान अपने कार्य को करने के लिए उद्यत भी था, पर बाह्य सामग्री का अभाव होने से वह कार्य नहीं हुआ। अन्यथा अपर पक्ष अपनी कल्पनाओं का चाहे जैसा ताना बाना बुनता रहे, उससे कार्य-कारण की जो आगमिक परस्परा निर्दिष्ट की गई है, उस पर आँच आने वाली नहीं।

अपर पक्ष ने तत्त्वार्थवार्तिक अ. 5, सू. 2 के कुछ प्रमाण दिये हैं, जिनके द्वारा उत्पाद-व्यय की सिद्धि स्व-परप्रत्यय की गई है। सो वे प्रमाण हमें ही क्या, सबको मान्य होंगे। उनकी प्रमाणिकता का न तो हमने कहीं निषेध ही किया है और न निषेध किया ही जा सकता है, क्योंकि वहाँ निश्चय पक्ष के साथ व्यवहार पक्ष का स्वीकार करने की विवक्षावश उक्त प्रकार से निर्देश किया गया है। जैसे अनुभव में आता है, तर्क से भी सिद्ध होता है और आगम भी कहता है कि प्रत्येक कार्य बाह्य और आभ्यन्तर सामग्री की समग्रता में होता है, वैसे ही यह भी अनुभव में आता है, तर्क से भी सिद्ध होता है और आगम तो कहता ही है कि प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समय में अपनी-अपनी क्रिया स्वतन्त्र रूप से करता है, अपनी-अपनी क्रिया के करने में कोई किसी के आधीन नहीं। व्याकरण शास्त्र में '**स्वतन्त्रः कर्त्ता**' यह वचन भी इसी अभिप्राय से लिखा गया है। जैनदर्शन का तो यह हार्द है ही। अन्यथा मोक्षविधि नहीं बन सकती। इसी प्रकार यह भी अनुभव में आता है, तर्क से भी सिद्ध होता है और जिनागम कहता ही है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप न तो परिणमता है और न दूसरे द्रव्य को परिणमाता है। ऐसी अवस्था में अपर पक्ष ही यह निर्णय करे कि इन दोनों में किसे परमार्थभूत माना जाय दोनों मिलकर एक कार्य करते हैं, इसे या प्रत्येक द्रव्य अपना कार्य स्वयं करता है इसे? अरिहन्त होने के पूर्व बारहवें गुणस्थान में क्षीणकषाय जीव के शरीर में अवस्थित सब निगोदिया और त्रस जीवों का अभाव हो जाता है, इसके पहले नहीं। सो अपर पक्ष के मतानुसार उन जीवों के अभाव का प्रेरक निमित्त कर्त्ता क्षीण कषाय जीव को ही मानना पड़ेगा, क्योंकि जीव के क्षीणकषाय होने पर ही उनका अभाव होता है, अन्यथा नहीं। ऐसा नियम भी है कि '**यदनन्तरं यद्भवति तत्तत्सहकारिकारणम्**' इसीप्रकार साधु के ईर्यापथपूर्वक गमन करते

हुए उनके पग को निमित्त कर जीव वध होने पर भी यही आपत्ति प्राप्त होती है। इतना ही क्यों, अरिहन्तों के अरिहन्त अवस्था की प्राप्ति का सहकारी कारण सात धातुओं से रहित शरीर आदि को भी मानना पड़ेगा। जो जीव अन्त:कृतकेवली होते हैं, सो उनके लिए भी यही कहा जायगा कि उपसर्गादि के कारण वे केवली हुए हैं, क्योंकि अपर पक्ष के मतानुसार उपादान तो अनेक योग्यतावाला होता है। इनमें से कौन योग्यता कार्यरूप से परिणत हो, यह बाह्य सामग्री पर ही अबलम्बित है, यही नियम सिद्ध होने के लिए भी लागू होगा। यहाँ अपर पक्ष यह तो कह नहीं सकता कि कहीं पर उपादान एक योग्यतावाला होता है और कहीं पर अनेक योग्यतावाला होता है, क्योंकि नियम, नियम है। वह कहीं के लिए एक हो और कहीं के लिए दूसरा ऐसा नहीं हो सकता। मिट्टी से घट बनने के लिए या गेहूँ से अंकुर उगने के लिए कार्य-कारण के जो नियम अपर पक्ष मानता है, वे ही नियम उसे सब कार्यों में स्वीकार करने होंगे।

अपर पक्ष कुम्हार के व्यापारपूर्वक मिट्टी में घट को उत्पन्न हुआ देखकर यदि मिट्टी को घट का स्वयं कर्त्ता नहीं स्वीकार करना चाहता तो उसे गमन करते हुए साधु के गमन रूप व्यापारपूर्वक किसी जन्तु के मरण का कर्त्ता स्वयं उस जन्तु को नहीं मानना होगा, जैसे घट की उत्पत्ति कुम्भकार के व्यापारपूर्वक प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती है, उसी प्रकार जन्तु का मरण साधु के गमनरूप व्यापारपूर्वक दृष्टिगोचर हुआ है। अतएव जिस प्रकार घट का कर्त्ता कुम्भकार माना जाता है, उसी प्रकार जीव वध को करनेवाला साधु ही माना जाना चाहिए, क्योंकि दोनों जगह न्याय समान है। और यह कहा नहीं जा सकता कि साधु के पग से जीव का वध हो नहीं सकता। क्योंकि जो बात प्रत्यक्ष देखने में आती है, उसका अपलाप करना सम्भव नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष को अप्रमाण नहीं माना जा सकता, यह अपर पक्ष का कथन है।

यदि अपर पक्ष कहे कि साधु के चित्त में जीव वध का अभिप्राय न होने के कारण वह जीव वध का करनेवाला नहीं माना जा सकता तो उसके इस कथन से यही निष्कर्ष निकलता है **कि अभिप्राय में करने का विकल्प होने के कारण ही कुम्हार को घट का कर्त्ता कहा गया है। वस्तुतः एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता नहीं होता।** सो ठीक ही है। आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार गाथा 144 की टीका में लिखा भी है—

विकल्पक: परं कर्त्ता विकल्पः कर्म केवलम्।
न जातु कर्तृकर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति॥ 95॥

विकल्प करनेवाला ही केवल कर्त्ता है और विकल्प ही केवल कर्म है (अन्य कोई कर्त्ता-कर्म नहीं है), जो जीव विकल्प सहित है, उसका कर्त्ताकर्मपना कभी नष्ट नहीं होता।

यह आगम वचन है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि संसारी जीव के परद्रव्य में कार्य करने का विकल्प केवल राग के कारण होता है। वह उसका वास्तविक कर्त्ता नहीं हो सकता और यही कारण है कि आगम में सर्वत्र बाह्य सामग्री में कारण व्यवहार को उपचरित ही कहा गया है और इसीलिए एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ निश्चय से कर्तृ-कर्म भाव का निषेध किया गया है। इसी तथ्य को सरल शब्दों में व्यक्त करते हुए आचार्य जयसेन समयसार गाथा 76 की टीका में लिखते हैं -

तत एतदायाति पुद्गलकर्म जानतो जीवस्य पुद्गलेन सह निश्चयेन कर्तृकर्मभावो नास्तीति।

इससे यह सिद्ध हुआ कि पुद्गलकर्म को जाननेवाले जीव का पुद्गल के साथ निश्चय से कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है।

अतएव उन्हीं जयसेन आचार्य के समयसार गाथा 82 की टीका में आये हुए वचनों के अनुसार यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र रूप से अपने कार्य का कर्त्ता है। बाह्य सामग्री तो उसमें निमित्तमात्र है। आचार्य श्री का वह वचन इस प्रकार है—

यथा यद्यपि समीरो निमित्तं भवति तथापि निश्चयनयेन पारावार एव कल्लोलान् करोति परिणमति च।

यथा - यद्यपि समीर निमित्त है तो भी निश्चयनय से समुद्र ही कल्लोलों को करता है और कल्लोलरूप परिणमता है।

आचार्य विद्यानन्दि ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. 55 में - '**नापि सहकारिकारणमुपादान-समयसमकालत्वाभावात्।**'

यह वचन लिखकर यह प्रसिद्ध किया है कि प्रत्येक उपादान के काल में ही उसके परिणमन के सम्मुख होने पर उसकी सहकारी सामग्री होती है। इसलिए यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक कार्य की अपने नियत उपादान के साथ अन्तर्प्राप्ति और नियत बाह्य सामग्री के साथ बाह्य व्याप्ति होने के कारण जागत का प्रत्येक परिणमन क्रमानुपाती ही होता है। तभी तो आचार्य विद्यानन्दि का तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. 76 में प्रतिपादित यह वचन मुमुक्षुजनों के हृदय में श्रद्धा का विषय बना हुआ है—

प्रत्यासन्नमुक्तीनामेव भव्यानां दर्शनमोहप्रतिपक्षः सम्पद्यते नान्येषाम्, कदाचित्कारणा-सन्निधानात्।

आसन्न भव्य जीवों को ही दर्शनमोह का प्रतिपक्षभूत सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, अन्य जीवों को नहीं, क्योंकि नियत काल को छोड़कर अन्य काल में कारणों का मिलना सम्भव नहीं है।

10. परिणामाभिमुख्य पद का अर्थ

इसी प्रसङ्ग में अपर पक्ष ने तत्त्वार्थवार्तिक का '**यथा मृदः स्वयमन्तर्घटभवन-परिणामाभिमुख्ये**' इत्यादि वचन में आये हुए '**परिणामाभिमुख्य**' पद का अर्थ करते हुए लिखा है कि -

'यदि मिट्टी में घटरूप से परिणमन करने की योग्यता हो तो दण्ड, चक्र और कुम्भार का पुरुषार्थ आदि घट निर्माण में मिट्टी के वास्तविक रूप में सहायक मात्र हो सकते हैं और यदि मिट्टी में घटरूप से परिणमन होने की योग्यता विद्यमान न हो तो निश्चित है कि दण्ड, चक्र और कुम्भार का पुरुषार्थ आदि उस मिट्टी को घट नहीं बना सकते हैं अर्थात् उक्त दण्ड, चक्र आदि मिट्टी में घट निर्माण की योग्यता को कदापि उत्पन्न नहीं कर सकते हैं।' आदि।

आगे इसी विषय को स्पष्ट करते हुए अपर पक्ष ने लिखा है कि - राजवार्तिक के उक्त कथन में पठित '**आभिमुख्य**' शब्द सामान्य रूप से घट निर्माण की योग्यता के सद्भाव का ही सूचक है। इसी तरह उसमें पठित '**निरुत्सुकत्व**' शब्द भी सामान्य रूप से घट निर्माण की योग्यता के अभाव का ही सूचक है। यही कारण है कि घटोत्पत्ति होने की योग्यता के अभाव में कार्योत्पत्ति के अभाव की सिद्धि के लिए राजवार्तिक के उक्त कथन में '**शर्करादिप्रचितो मृत्पिण्डः**' पद द्वारा बालुका मिश्रत मिट्टी का उदाहरण श्रीमदकलंकदेव ने दिया है। यदि उनकी दृष्टि में यह बात होती कि उपादानकारणता तो केवल उत्तरक्षणवर्ती कार्यरूप पर्याय से अव्यवहितपूर्व क्षणवर्ती पर्याय में ही होती है और उससे कार्य भी नियम से हो जाता है तो फिर उन्हें (श्रीमदकलंकदेव को) घट निर्माण की योग्यतारहित बालु का मिश्रित मिट्टी का उदाहरण न देकर कायोत्पत्ति से सान्तर पूर्ववर्ती द्वितीयादि क्षणों की पर्याय में कथंचित् रहनेवाली घट निर्माण की योग्यता-सम्पन्न मिट्टी का ही उदाहरण देना चाहिए था। लेकिन चूँकि श्रीमदकलंकदेव ने बालुका मिश्रित मिट्टी का ही उदाहरण प्रस्तुत किया है जिसमें कि घट

निर्माण की योग्यता का सर्वथा ही अभाव पाया जाता है। सो इससे यही मानना होगा कि राजवार्तिक के उक्त कथन से जो 'अभिमुख्य' शब्द पड़ा है, उसका अर्थ घट निर्माण की सामान्य योग्यता का सद्भाव ही सही है। इसी प्रकार उसी कथन में पड़े हुए 'निरुत्सुकत्व' शब्द का अर्थ, घट निर्माण की सामान्य योग्यता का अभाव ही सही है।' आदि।

ये अपरपक्ष द्वारा प्रस्तुत की गई प्रतिशंका के दो अंश हैं। इनमें अपर पक्ष ने '**परिणामाभिमुख्य**' पद का अर्थ योग्यता किया है, जबकि इस पद का अर्थ **परिणाम अर्थात् पर्याय की सन्मुखता** होता है। इस पद के पूर्व '**अन्तः घटभवन**' पद भी आया हुआ है जिसका अर्थ '**भीतर से घट के होने रूप**' होता है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि आचार्य भट्टालंकदेव ने उक्त पद का अर्थ भीतर से घट पर्यय की सन्मुखता किया है। पता नहीं कि अपर पक्ष ने '**परिणामाभिमुख्य**' पद का अर्थ योग्यता कैसे किया है। इस सम्बन्ध में अपर पक्ष का कहना है कि यदि भट्टाकलंकदेव को '**परिणामाभिमुख्य**' पद का अर्थ **पर्याय की सन्मुखता** इष्ट होता तो वे तत्त्वार्थवार्तिक के उक्त कथन में '**शर्करादिप्रचितो मृत्पिण्ड**', उदाहरण उपस्थित न कर घट से पूर्ववर्ती सान्तपर्यायों का निर्देश करते, किन्तु अपर पक्ष यहाँ इस बात को भूल जाता है कि भट्टाकलंकदेव ने यह उल्लेख ही बाह्य सामग्री में निमित्तमात्रता को सूचित करने के लिए लिपिबद्ध किया है। घट की जो पूर्ववर्ती सान्तर पर्यायें हैं, उनके होने में कुम्भकार आदि की निमित्तता तो है ही और वे घट के प्रागभाव रूप हैं। अतएव आचार्य महाराज कुम्भकारादि में निमित्तमात्रता को सिद्ध करने के लिए अन्योन्याभाव को ध्यान में रखकर उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। बालुका बहुल मिट्टी का पिण्ड यद्यपि द्रव्यदृष्टि से घट रूप होने की योग्यता रखता है, क्योंकि जैसा दूसरा मिट्टी का पिण्ड है, वैसा ही यह भी मिट्टी का पिण्ड है, परन्तु बालुका बहुल मिट्टी के पिण्ड में घट होने की पर्यायरूप योग्यता नहीं है और यही कारण है कि भट्टाकलंकदेव ने बाह्य सामग्री में स्पष्टरूप से निमित्तमात्रता को सूचित करने के लिए बालुका बहुल मिट्टी के पिण्ड को उदाहरण बनाया है। वे इस उदाहरण द्वारा यह सिद्ध कर रहे हैं कि यदि उपादानगत योग्यता के रहने पर केवल बाह्य सामग्री के बल से घटादि कार्यों की उत्पत्ति मानी जाय तो बालुका बहुल मिट्टी में भी बाह्य सामग्री के बल से घट की उत्पत्ति हो जानी चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता। इससे स्पष्ट विदित होता है कि प्रत्येक कार्य में बाह्य सामग्री निमित्तमात्र है। स्पष्ट है कि इस उल्लेख द्वारा आचार्य महाराज यही सूचित कर रहे हैं कि जब प्रत्येक द्रव्य किसी विवक्षित कार्य को अनन्तर पूर्व पर्याय की भूमिका में आता है, तभी वह

उस कार्य का उपादान बनता है। व्यवहारनय से बाह्य सामग्री में कारणता स्वीकार की जाय यह दूसरी बात है, परन्तु निश्चयनय से तो स्वयं मिट्टी भीतर से घट भवन के सन्मुख होकर घटरूप से परिणमती है। यदि पर्यायार्थिक निश्चयनय से विचार किया जाय तो स्वयं घट अपने अवयवों से निष्पन्न होता है, अन्य किसी से नहीं, यह सुनिश्चित है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर भट्टाकलंकदेव तत्त्वार्थवार्तिक अध्याय 1, सूत्र 33 में ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा विवेचन करते हुए लिखते हैं—

कुम्भपर्यायसमये च स्वावयवेभ्यः एव निर्वृत्तेः।

और घट पयार्य के समय में घट अपने अवयवों से ही निवृत्त होता है।

इसी प्रसंग में अपर पक्ष ने उपादानकारण का विचार करते हुए जो अन्त में मिट्टी को घट का उपादानकारण बतलाया है और साथ ही काल को उदाहरण रूप में प्रस्तुत करके जो घड़ी, घंटा, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास और वर्ष आदि को वास्तविक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, सो इस सम्बन्ध में निवेदन यह है कि आगम में व्यवहार कथन और निश्चय कथन, इस तरह दोनों प्रकार से विवेचन दृष्टिगोचर होता है। उनमें से जो निश्चय कथन है, वह यथार्थ है और जो व्यवहार कथन है, वह उपचरित है। मिट्टी को घट का उपादान कहा जाय। इतना ही क्यों ? यदि कोई पुद्गल को घट का उपादान कहना चाहता है तो इसमें हमें आपत्ति नहीं। किन्तु जब उपचरित और अनुपचरित की दृष्टि से विचार किया जाता है, तब निश्चय से घट के अव्यवहित पूर्वपर्याय युक्त मिट्टी ही घट का उपादानकारण होगी, अन्य नहीं। हाँ, यदि व्यवहारनय का अवलम्बन लेकर योग्यता की दृष्टि से विचार किया जाता है तो मिट्टी तो घट का उपादान कहलायेगी ही और वह मिट्टी भी घट का उपादान कहलायेगी जो बालुका बहुल है। इतना ही क्यों, वे सब पुद्गल घट के उपादान कहलायेंगे जो घट की योग्यता से सम्पन्न हैं।

यही बात काल के विषय में भी जान लेनी चाहिए। समय यह काल की पर्याय है। जैसे जीव की एक समय की पर्याय क्रोध या क्षमारूप होती है वैसा ही समय भी काल की एक पर्याय है। यह वास्तविक है, किन्तु उसके बाद जो निमिष, घड़ी, घंटा, दिन, सप्ताह और पक्ष आदि का व्यवहार होता है, वह उपचरित है। यह इसी से स्पष्ट है कि भारतीय परम्परा में कोई पक्ष 15 दिन का होता है और कोई पक्ष 16 दिन का भी। इसी प्रकार लगभग ढाई वर्ष निकल जाने के बाद अधिक मास आता है और कभी-कभी क्षयमास भी आता है।

पश्चिमीय सभ्यता में प्रत्येक चौथे वर्ष का फरवरी 29 दिन का होता है। अब राष्ट्रीय पञ्चाङ्ग की व्यवस्था बनी है, उसके अनुसार कालगणना की कोई सरल पद्धति सोची गई है। सो ये सब स्वयं वास्तविक तो नहीं हैं, मात्र लोकव्यवहार के लिए इन सबको स्वीकृति मिली हुई है। इसी का नाम उपचरित है। अपर पक्ष यदि इन सब तथ्यों पर दृष्टिपात करने की कृपा करे तो उसे विवाद करने का अवसर ही न मिले। एक समय पर्याय का व्यय होने पर दूसरी समय पर्याय का उत्पाद होता है और दूसरी समय पर्याय के व्यय के बाद तीसरी समय पर्याय का उत्पाद होता है। प्रथम समय में काल की जो समय पर्याय होती है, वह दूसरे समय में नहीं रहती और दूसरे समय की तीसरे समय में नहीं रहती। प्रत्येक समय की ये समय पर्यायें यथार्थ हैं। मात्र प्रत्येक समय का ज्ञान कराने के लिए पंचास्तिकाय गाथा 25 की आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीका में यह कहा गया है कि – '**परमाणुप्रचलनायत्तः समयः**' परमाणु के गमन के आश्रित समय है, सो इसका अर्थ यह नहीं कि वह परमाणु के गमन के आधीन होकर उत्पन्न होता है। इसका तात्पर्य इतनाा ही है कि एक परमाणु को एक प्रदेश पर से दूसरे प्रदेश पर मन्दगति से जाने में जितना काल लगता है, एक समय का उतना परिमाण है और इसी के आधार पर इसे व्यवहारकाल कहा है। जो काल की एक पर्याय होने से सद्भूत व्यवहार रूप ही है। किन्तु दो समय से लेकर अन्य जितनी काल की गणना है, वह कालद्रव्य में वर्तमान अर्थात् पर्याय रूप से सद्भूत न होने पर भी लोक में व्यवहार पदवी को प्राप्त है, इसलिए वह असद्भूत व्यवहार ही है।

अपरपक्ष ने क्षायोपशमिक मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का प्रश्न उठाकर यह लिखा है कि 'वस्तु की समयवर्ती अखण्ड पर्याय को ग्रहण करने में सर्वथा असमर्थ ही रहा करते हैं। इन ज्ञानों का विषयवस्तु की कम से कम अन्तर्मुहूर्तवर्ती पर्यायों का समूह ही एक पर्याय के रूप में होता है। इस प्रकार इन ज्ञानों की अपेक्षा मिट्टी, पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल और घट में उपादानोपादेय व्यवस्था असंगत समूह नहीं मानी जा सकती है।' सो इस सम्बन्ध में यही निवेदन है कि यह जो अन्तर्मुहूर्तवर्ती नाना पर्यायों का समूह कहा गया है, वह क्या एक समय में होता है या उत्पाद व्यय के क्रम से अन्तर्मुहूर्त तक नाना पर्याय होकर अन्त में हम पर्यायों का समूह—ऐसा व्यवहार करते हैं, इसलिए यह व्यवहार तो असद्भूत ही है। हाँ, केवलज्ञान प्रत्येक वस्तु की जो समयवर्ती एक-एक पर्याय को पृथक्-पृथक् रूप से जानता है, सो वहाँ पर प्रत्येक पर्याय पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा निश्चय रूप होकर भी परमपारिणामिकभाव

को ग्रहण करनेवाले निश्चयनय की अपेक्षा सद्भूत व्यवहाररूप कही गई है। क्या इसे हमने कहीं अवास्तविक, उपचरित एवं कल्पनारोपित अतएव अवस्तुभूत कहा है या लिखा है, जिससे कि यह आकाशकुसुम या खरविषाण के समान अवस्तु होकर केवलज्ञान का विषय न बन सके। केवलज्ञान में जो जिस काल में जिस रूप में अवस्थित है, रहे हैं या रहेंगे, वे सब पदार्थ युगपत् झलकते हैं। वे यह अच्छी तरह से जानते हैं कि इतने परमाणु अपने परिणमन द्वारा परिणमते हुए स्कंध पदवी को प्राप्त हुए हैं। केवलज्ञान की महिमा क्षायोपशमिक ज्ञानों की अपेक्षा बहुत बड़ी है। यह आगमानुसारी हमारा मत है कि जिस प्रकार द्रव्य स्वयं सत् है, गुण भी स्वयं सत् है, उसी प्रकार प्रत्येक समय में होनेवाली पर्यायें भी स्वयं सत् हैं। यदि अपर पक्ष स्वयं इस बात का विचार करे कि हम किसको सद्भूत मानते हैं और किसको असद्भूत तो उसकी ओर से ऐसा आरोपात्मक कथन न होता। प्रत्येक द्रव्य स्वयं अपने में, अपने लिये, अपने द्वारा, अपने बल से अपनी पूर्व पर्याय से निवृत्त होकर उत्तर पर्याय को जन्म देता है। मतिज्ञानी और श्रुतज्ञानी जीवों को यदि प्रत्येक समय की इन पर्यायों का ज्ञान नहीं होता है तो इतने मात्र से उनका असद्भाव नहीं माना जा सकता। यदि उन्हें अन्तर्मुहूर्त बाद पर्यायों की विलक्षणता का ज्ञान होता है तो इतने मात्र से प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त के भीतर प्रत्येक समय की पर्याय में जो विलक्षणता आती है, वह कार्यकारणपद्धति से आने के कारण वे उनके सद्भाव को अस्वीकार नहीं कर सकते। किन्तु वे श्रुत के बल से यही निर्णय करते हैं कि यह हमारे ज्ञान का दोष है कि हम प्रत्येक समय में होनेवाली पर्याय एवं उसके कारणकलाप को नहीं जान पाते। प्रत्येक श्रुतज्ञानी जीव आगम और लोक सम्मत पद्धति से यह जानकर कि किस उपादान से कैसा बाह्य संयोग मिलने पर क्या कार्य होता है, उसके उपक्रम में लगता अवश्य है। परन्तु उस काल में उस उपादानभूत वस्तु से वही कार्य होगा, यह नहीं कहा जा सकता। यहाँ उपादान शब्द का प्रयोग व्यवहारनय से किया गया है। हमें दुख है कि अपर पक्ष स्वभावरूप और विभावरूप सभी पर्यायों की उत्पत्ति केवल निमित्त कारणों से मानने की चेष्टा करता है, तभी तो उसकी ओर से स्वभाव पर्यायरूप सम्यक्त्व की उत्पत्ति निमित्त कारणों से होती हुई लिखी गई है। परन्तु चाहे स्वभावपर्याय हो या विभावपर्याय, उसकी उत्पत्ति स्वयं अपने से ही होती है, उसमें बाह्य सामग्री निमित्त हो यह दूसरी बात है। हम नहीं कहते कि केवली भगवान ने देखा है, मात्र इसीलिए मिट्टी में उससे विलक्षण पिण्ड पर्याय की उत्पत्ति हुई है। वह तो मात्र ज्ञाता-दृष्टा है। उसमें स्वयं जो प्रत्येक समय में पर्याय होती है, उसे भी वह जानता और देखता है और अन्य द्रव्यों मे जो प्रत्येक समय में पर्यायें

होती हैं, उन्हें भी वह मात्र जानता और देखता है। जब यह अकाट्य नियम है कि मिट्टी कब किसको निमित्त कर पिण्ड रूप पर्याय बनेगी, तब वह उसी समय अपनी सुनिश्चित बाह्य सामग्री को निमित्त कर पिण्ड रूप बनती है। यही आगमसम्मत पद्धति है। भारतवर्ष में अनेक लौकिक दर्शन प्रसिद्ध हैं। उनमें से कोई (बौद्ध) असत् से सत की उत्पत्ति मानते हैं, कोई (ब्रह्मवादी) एक सत् से मिथ्या जगत की उत्पत्ति मानते हैं, कोई (न्याय-वैशेषिक) सत् से उसमें असत् कार्य की उत्पत्ति मानते हैं और कोई (सांख्य) सत् से सत् कार्य की उत्पत्ति मानते हैं। इस प्रकार एकान्त का आग्रह करनेवाले ये विविध मान्यतावाले दर्शन हैं। किन्तु इन सबने इस तथ्य को एक स्वर से स्वीकार किया है कि अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पदार्थ उपादान या समवायी कारण कहलाता है। इसलिए प्रकृत में जो तत्त्वार्थवार्तिक का '**यथा मृदः**' इत्यादि वचन अपरपक्ष ने उद्धृत किया है, सो उसका वही आशय समझना चाहिए जो हमारा अभिप्राय है, क्योंकि स्वयं आचार्य अकलंकदेव इसी ग्रन्थ के अध्याय 1 सूत्र 2 में सम्यग्दर्शन की चर्चा करते हुए लिखते हैं—

स्वपरनिमित उत्पादो दृष्टो यथा घटस्योत्पादो मृन्निमित्तो दण्डादिनिमित्तश्च तथा सम्यग्दर्शनोत्पाद आत्मनिमित्तः सम्यक्त्वपुद्गलनिमित्तश्च, तस्मात्तस्यापि मोक्षकारणत्व-मुपपद्यते इति ? तन्न, किं कारणं ? उपकरणमात्रत्वात्। उपकरणमात्रं बाह्यसाधनम्।

स्व-पर निमित्तक उत्पाद देखा गया है, जैसे घट का उत्पाद मिट्टीनिमित्तक और दण्डादिनिमित्तक होता है; उसी प्रकार सम्यग्दर्शन का उत्पाद आत्मनिमित्तक और सम्यक्त्व पुद्गलनिमित्तक होता है। इसलिए उसमें भी मोक्षकारणता बन जाती है ? यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सम्यक्त्व पुद्गल उपकरणमात्र है। बाह्य साधन नियम से उपकरणमात्र है।

यह आचार्यवचन है जो उसी आशय की पुष्टि करता है जिसका निर्देश उन्होंने '**यथा मृदः**' इत्यादि वचन में किया है।

11. उपादान का सुनिश्चित लक्षण यथार्थ है

अब हम प्रतिशंका के उस अंश पर विचार करते हैं जिसमें अपरपक्ष ने उपादान के सुनिश्चित लक्षण को सदोष बतलाने के अभिप्राय को प्रतिशंका को मूर्तरूप दिया है। अव्यवहित पूर्व पर्याययुक्त द्रव्य का नाम उपादान है, इस लक्षण का सभी आचार्यों ने निर्देश किया है, किन्तु इस लक्षण के आधार से अव्यवहित पूर्व-पूर्व पर्याय में उपादानता बनती जाने से अपर पक्ष उसे सदोष मानता है। उसका कहना है कि 'जो मिट्टी परमाणुओं से बनी है, उन

परमाणुओं में एकरूपता स्वीकार करने से आगमविरोध उपस्थित हो जायेगा।' किन्तु ऐसा स्वीकार करने पर भी आगम विरोध नहीं आता, क्योंकि आगम में प्रागभाव का प्रागभाव इस प्रकार प्रागभाव अनादि सान्त स्वीकार किया है। पूरा उद्धरण पहले ही दे आये हैं। अतएव उसे यहाँ नहीं दे रहे हैं। किन्तु अपर पक्ष ने उपादान की अपेक्षा इस प्रश्न को यहाँ उपस्थित किया है, इसलिए आवश्यक समझकर उसका आशयमात्र यहाँ दे रहे हैं। उसमें बतलाया है कि—

कार्य के पूर्व अनन्तर परिणामस्वरूप उपादान को ही प्रागभाव कहते हैं। ऐसा प्रश्न होने पर कि अनन्तर पूर्व परिणामस्वरूप उपादान को प्रागभाव मान लेने से उसके पूर्व कार्य के सद्भाव का प्रसंग उपस्थित होता है। समाधान करते हुए आचार्य लिखते हैं कि प्रागभाव का विनाश ही कार्य है। अतएव उसके पहिले कार्य का सद्भाव नहीं स्वीकार किया है तो उसके पहले उस कार्य की अपेक्षा क्या स्थिति रहती है—इस प्रश्न का समाधान करते हुए आचार्य लिखते हैं कि प्रागभाव, उसका प्रागभाव, इस प्रकार पूर्व-पूर्व परिणाम सन्तति के अनादि होने से उसमें विवक्षित कार्यरूपता का अभाव ही है। अन्त में निष्कर्ष को फलित करते हुए आचार्य लिखते हैं कि इन सब प्रागभावों की सन्तति में से तब तक अन्तिम प्रागभाव का अभाव नहीं हो जाता, जब तक विवक्षित कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। इससे स्पष्ट है कि अन्तिम प्रागभाव का अभाव होने पर ही विवक्षित कार्य होता है।

सम्भवत: कोई यह शंका करे कि ऐसा मानने पर प्रत्येक परमाणु को भूतादि चतुष्टयरूप कैसे स्वीकार किया गया है, सो उस प्रश्न का समाधान यह है कि प्रागभाव सन्तति अनादि होने से बहुत बड़ी है, अतएव उसके मध्य में कभी किसी परमाणु को जलस्वरूप बनने का, कभी उसी परमाणु को वायुरूप बनने का और कभी उसी परमाणु को अग्निरूप बनने का भी अवसर आना सम्भव है, इसको कौन वारण कर सकता है? इससे न तो उसकी प्रागभाव सन्तति में ही बाधा आती है और न ही वर्तमान में जो उसका पृथ्वीरूप दिखलाई देता है, इसमें ही बाधा आती है। परमाणु की क्रम से होनेवाली पर्यायों में ये सब अवस्थाएँ सम्भव हैं अथवा वर्तमान काल के पूर्व उक्त चारों प्रकार की अवस्थाओं में से किसी परमाणु की मात्र पृथ्वी रूप, किसी परमाणु की मात्र पृथ्वी और जलरूप, किसी परमाणु की मात्र पृथ्वी, जल और अग्निरूप तथा किसी परमाणु की पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुरूप अवस्थायें होना भी सम्भव है। कोई एक नियम नहीं। जिसकी जब जैसी उपादान योग्यताएँ रही होंगी, तब उनका अतीत काल में वैसा परिणमन हुआ होगा। जो परिणमन हुआ होगा, वह नियत क्रम से ही हुआ होगा। अल्पज्ञानी जीव अनादिकाल से लेकर अब तक

किसका क्या परिणमन हुआ होगा, इसे भले ही न जान सके, परन्तु इतने मात्र से उस परमाणु के नियत क्रम से होनेवाले परिणमन में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। अतएव अपर पक्ष की ओर से पंचास्तिकाय गाथा 78 आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीका को आधार बनाकर जो उपादान के उक्त लक्षण को सदोष बतलाया गया है, वह ठीक नहीं है। आचार्य महाराज अपनी उक्त टीका में परमाणु की परिणमन सम्बन्धी इस विचित्रता का निर्देश करते हुए स्वयं लिखते हैं—

ततः पृथिव्यप्तेजोवायुरूपस्य धातुचतुष्कस्यैक एव परमाणुः कारणं परिणामवशात्। विचित्रो हि परमाणोः परिणामगुणः क्वचित्कस्यचित् गुणस्य व्यक्ताव्यक्तत्वेन विचित्रां परिणतिमादधाति।

इसलिए पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु रूप चार धातुओं का परिणाम के कारण एक ही परमाणु कारण है, क्योंकि परमाणु का विचित्र परिणाम गुण कहीं किसी गुण की व्यक्ताव्यक्तता द्वारा विचित्र परिणति को धारण करता है।

यह वही आगम प्रमाण है जिसे अपर पक्ष ने अपने पक्ष के समर्थन में समझकर निर्दिष्ट किया है। किन्तु जैसा कि हम पूर्व में बतला आये हैं, उससे एक परमाणु के कालभेद से पृथ्वी आदि अनेक अवस्थारूप परिणमन करने पर भी उपादान के अव्यवहित पूर्व पर्याय युक्त द्रव्यरूप लक्षण के स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं उपस्थित होती।

अपरपक्ष की ओर से यहाँ पर अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्याय में उपादानकारणता रूप सामर्थ्य को लेकर जो यह पृच्छा की गई है कि 'उक्त पर्याय में उक्त प्रकार की सामर्थ्य के उत्पन्न होने का कारण क्या है' और फिर उसे कार्याव्यवहित पूर्व क्षणवर्तित्वरूप धर्म बतलाकर यह लिखा है कि 'वह तो कार्य सापेक्ष धर्म है, अत: जब तक कार्य निष्पन्न नहीं हो जाता, तब तक उस अव्यवहित पूर्व पर्याय में कार्याव्यवहित पूर्व क्षणवर्तित्वरूप धर्म हो नहीं सकता है, इसलिए यदि कहा जाय कि कार्योत्पत्ति की स्वाभाविक अतीन्द्रिय योग्यता ही सामर्थ्य शब्द का वाच्य है तो फिर हमारा कहना है कि इस प्रकार की सामर्थ्य तो मिट्टी की कुशूल, कोश, स्थास, पिण्डरूप पर्यायों में तथा इनके भी पहले की सामान्य मिट्टी रूप अवस्था में भी पायी जाती है, इसलिए घट कार्य के प्रति इन सबको उपादानकारण मानना असंगत नहीं है।' आदि।

सो इस प्रश्न का समाधान यह है कि ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्याय में उपादानकारणता रूप स्वरूप स्वत:सिद्ध है। यह इसका कार्य है और यह इसका

उपादानकारण है – ऐसा व्यवहार मात्र परस्पर सापेक्ष है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य समन्तभद्र अपनी आप्तमीमांसा में लिखते हैं—

धर्म-धर्म्यविनाभावः सिद्ध्यत्यन्योन्यवीक्षया।
न स्वरूपं स्वतो ह्येतत् कारक-ज्ञापकांगवत्॥ 75॥

धर्म और धर्मी का अविनाभाव परस्पर सापेक्ष रूप से सिद्ध होता है, स्वरूप नहीं, क्योंकि वह कारकांग और ज्ञापकांग के समान नियम से स्वत:सिद्ध है॥ 75॥

इस प्रकार अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्याय में उपादानकारणता रूप स्वरूप के स्वत:सद्धि हो जाने पर उससे पूर्व-पूर्ववर्ती पर्यायों में वह कारणरूप धर्म आगम में किस रूप में स्वीकार किया गया है, इसका विचार करना है। आगम में इसका विचार करते हुए बतलाया है कि अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय युक्त द्रव्य निश्चय उपादानकारण है। समर्थ उपादानकारण इसी का दूसरा नाम है। तथा इससे पूर्व-पूर्ववर्ती पर्याय युक्त द्रव्य व्यवहार उपादानकारण है। असमर्थ उपादानकारण इसी का दूसरा नाम है। तथा इसकी पुष्टि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. 71 के '**न हि द्वयादिसिद्धक्षणैः**' इत्यादि वचन से भली प्रकार हो जाती है। इसमें व्यवहार उपादान का स्वरूप बतलाते हुए उसे असमर्थ उपादानकारण कहा गया है और निश्चय उपादान का स्वरूप बतलाते हुए उसे समर्थ उपादानकारण कहा गया है। आचार्य महाराज इसी उल्लेख द्वारा इस बात को स्पष्ट रूप से सूचन करते हैं कि जो समर्थ उपादानकारण होता है, वह नियम से अपने कार्य को जन्म देता है। किन्तु जो असमर्थ उपादानकारण होता है, उससे समर्थ उपादानजन्य कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतएव इस कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि जिस प्रकार की उपादानता अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्याययुक्त द्रव्य में होती है, उस प्रकार की उपादानता इसके पूर्व उस द्रव्य में कभी भी सम्भव नहीं है। इसलिए सभी आचार्यों ने निश्चय उपादानकारण का एकमात्र यही लक्षण स्वीकार किया है जो युक्तियुक्त है।

12. परमाणु में योग्यता आदि का विचार

इसी प्रसंग में अपर पक्ष ने दो या दो से अधिक परमाणुओं के संयोग से बनी हुई स्कन्ध रूप पर्याय की चर्चा करते हुए लिखा है कि 'वह स्कन्ध नाना द्रव्यों के परस्पर मिश्रण से ही बना हुआ है। अतएव मिट्टी में पाया जानेवाला मृतिकात्व धर्म मिट्टी की अपेक्षा स्वाभाविक होते हुए भी नाना द्रव्यों के मिश्रण से उत्पन्न होने के कारण कार्य ही कहा जायेगा।'

यह अपर पक्ष के वक्तव्य का अंश है। इसमें अपर पक्ष ने मृत्तिकात्व धर्म मिट्टी की अपेक्षा स्वाभाविक बतलाकर भी उसे नाना द्रव्यों के मिश्रण से उत्पन्न होने के कारण एक मात्र कार्यधर्म कहा है, किन्तु अपर पक्ष का यह कथन आगम विरुद्ध होने से भ्रामक ही है, क्योंकि प्रत्येक परमाणु में यदि स्कन्ध योग्यता और मिट्टी रूप परिणमने की योग्यता स्वाभाविक न मानी जाये और केवल उसे संयोगजन्य माना जाये तो कोई भी परमाणु अपनी स्वाभाविक योग्यता के अभाव में स्कन्ध रूप या मिट्टी रूप त्रिकाल में नहीं परिणम सकता।

तत्त्वार्थवार्तिक अध्याय 5 सूत्र 1 में यह प्रश्न उठाया गया है कि परमाणु पूरण-गलन स्वभाव वाला न होने के कारण उसे पुद्गल नहीं कहा जा सकता। आचार्य अकलंकदेव ने इस प्रश्न का समाधान करते हुए लिखा है कि - पहले या भविष्य में वह पूरणगलनरूप पर्याय को प्राप्त हुआ था या होगा, इसलिए शक्ति की अपेक्षा परमाणु को पुद्गल कहने में कोई बाधा नहीं आती। वह उल्लेख इस प्रकार है—

अथवा गुण उपचारकल्पनम् पूरणगलनयोः भवित्वात् भूतत्वाच्च शक्त्यपेक्षया परमाणुषु पुद्गलत्वोपचारः।

यह तो परमाणु को पुद्गल क्यों कहा गया, इसका विचार है। आगे इस बात का विचार करना है कि परमाणु में मिट्टी रूप शक्ति होने के कारण मिट्टी में मिट्टी रूप धर्म पाया जाता है या केवल नाना पुद्गलों के मिश्रण से उसमें वह धर्म उत्पन्न होता है। आचार्य अमृतचन्द्र पंचास्तिकाय की टीका में शब्द की अपेक्षा इसका विचार करते हुए लिखते हैं—

एवमयमुक्तगुणवृत्तिः परमाणुः शब्दस्कंधपरिणतिशक्तिस्वभावात् शब्दकारणम्।

ऐसा यह उक्त गुणवाला परमाणु शब्द स्कन्ध रूप से परिणत होने की शक्तिरूप स्वभाव वाला होने से शब्द का कारण है।

इससे स्पष्ट विदित होता है कि जिस प्रकार परमाणु शब्दरूप परिणमन की शक्ति से युक्त होता है, उसी प्रकार इससे यह भी सिद्ध होता है कि वह मिट्टी रूप परिणमन की शक्ति से भी युक्त होता है। अतएव मिट्टी में पाया जानेवाला मृतिकात्व धर्म नाना स्कन्धों के परस्पर मिश्रण से ही उत्पन्न होता है, ऐसे एकान्त को न स्वीकार करके उसे शक्ति की अपेक्षा नित्य ही मानना चाहिए। साथ ही उसे जो एकान्त से कार्यधर्म कहा गया है, वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि कोई भी द्रव्य किसी अवस्था में न तो केवल कार्य ही स्वीकार किया गया है और

न केवल कारण ही। अपने पूर्व पर्याय की अपेक्षा जो कार्य होता है, अपनी उत्तर पर्याय की अपेक्षा वह कारण भी होता है।

इस दृष्टि से विचार करने पर यह भी विदित हो जाता है कि पुद्गलों की स्कन्ध अवस्था में जो-जो पर्यायें उत्पन्न होती हैं, वे सब शक्तिरूप से परमाणु में विद्यमान हैं। यह प्रत्येक परमाणु का स्वत:सिद्ध स्वरूप है। अपरपक्ष के वक्तव्य के पढ़ने से विदित होता है कि वह प्रत्येक परमाणु में ऐसी योग्यता तो मानता है कि एक परमाणु दूसरे परमाणु या स्कन्ध के साथ संयोग को प्राप्त होकर उस रूप परिणत जाता है। किन्तु जिस जाति के स्कन्ध रूप वह परमाणु परिणमा, उस प्रकार की शक्ति वह परमाणु में स्वीकार नहीं करता, इसका हमें आश्चर्य है। परमाणु में घट रूप कार्य की व्यवहार उपादानता का भी निषेध वह इसी अभिप्राय से करता है। जो शक्ति मूल द्रव्य में न हो वह उसके उत्तर कार्यों में उत्पन्न हो जाए, यह सम्भव तो नहीं है, परन्तु अपर पक्ष अपनी कल्पना में इसे मूर्तरूप देने के लिए अवश्य ही सन्नद्ध है।

जहाँ बाह्य दृष्टिवाले को प्रत्यक्ष में ऐसा भासित होता है कि मिट्टी अपने आप घटरूप नहीं परिणम रही है, वहाँ भेददृष्टिवाले को यह भासित होता है कि कुम्हार की क्रिया कुम्हार में हो रही है और मिट्टी की क्रिया मिट्टी में हो रही है। यदि मिट्टी की क्रिया में कुम्हार की क्रिया निमित्त है तो कुम्हार की उस समय होनेवाली क्रिया में मिट्टी भी निमित्त है। अपर पक्ष कह सकता है कि कुम्हार अपनी हस्तादि क्रिया को मिट्टी के अभाव में भी कर सकता है, इसलिए कुम्हार स्वयं अपनी क्रिया कर रहा है, मिट्टी उसमें निमित्त नहीं है। किन्तु बात ऐसी तो नहीं है, क्योंकि जैसी क्रिया मिट्टी के संयोग में उसकी होती है, वैसी अन्य काल में दिखलाई नहीं देती। फिर भी यदि विचार के लिए इसे स्वीकार कर लिया जाय तो प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उसका बाह्य कारण कौन ? यदि केवल कर्मोदय को उसका बाह्य कारण माना जाता है तो कर्मोदय भी एक कार्य है, उसके बाह्य कारण का भी अनुसंधान करना होगा। किन्तु वहाँ अन्य कोई कारण तो दिखलाई देता नहीं, सिवाय मिट्टी के; इसलिए यही मानना होगा कि उस समय मिट्टी में जो क्रिया हो रही है, उसे निमित्त कर कर्मोदय हुआ और कर्मोदय को निमित्त कर कुम्भकार की बाह्य क्रिया हुई और अन्त में कुम्भकार को निमित्त कर मिट्टी में क्रिया हुई। इस प्रकार परस्पराश्रयता प्राप्त होने से अंत में यही मानना उचित है कि प्रत्येक द्रव्य अपनी क्रिया का स्वयं कर्ता है। अन्य द्रव्य तो उसमें निमित्तमात्र है। इस प्रकार प्रत्येक कार्य के साथ बाह्याभ्यन्तर सामग्री का अन्वय-व्यतिरेक बन जाने के कारण, कार्य-कारण परम्परा सुव्यवस्थित बन जाती है।

यह हम मानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति योग्य उपादान और योग्य बाह्य सामग्री के संयोग का विकल्प करता है, कदाचित् योगक्रिया भी उसके तदनुकूल होती है। परन्तु इन दोनों के करने पर भी जैसी वह चाहता है, वैसी बाह्याभ्यन्तर सामग्री विवक्षित कार्य के लिए मिलती ही है, ऐसा कोई नियम नहीं। कदाचित् मिलती है और कदाचित् नहीं भी। यदि मिल भी गई तो जैसा वह चाहता है, वैसा कार्य होता है, इसका भी कोई नियम नहीं। कदाचित् होता है और कदाचित् नहीं भी होता है। सो क्यों? इसके उत्तर की यदि छानबीन की जाये तो अन्त में यही स्वीकार करना पड़ता है कि जिस वस्तु का जिस काल में जिसको निमित्त कर, जो परिणमन होना होगा, वह अवश्य होगा। जिसे हम करनेवाला कहते हैं और करानेवाला कहते हैं वह तो अपने-अपने विकल्प और योगक्रिया का ही धनी है। यदि अपर पक्ष इस निर्णय पर पहुँच जाये तो प्रकृत में उसने घट कार्य को विवक्षित कर जितने भी विकल्प प्रस्तुत किये हैं, उनकी निस्सारता समझने में उसे देर न लगे।

अपर पक्ष आगमसम्मत कार्यकारणभाव को ठीक न समझकर अपने द्वारा कल्पित किये गये कार्यकारणभाव के सिद्धान्त को आगमसम्मत बतलाता अवश्य है, परन्तु प्रत्येक निश्चय उपदान में अनेक योग्यताएँ होती हैं, उसमें से जिस योग्यता के अनुकूल बाह्य सामग्री प्राप्त होती है या मिलायी जाती है, उसके अनुसार उस समय कार्य होता है—न तो यह सिद्धान्त हमें कहीं आगम में दृष्टिगोचर हुआ और न ही यह सिद्धान्त ही आगम में दृष्टिगोचर हुआ कि यदि अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्याय के उपस्थित होने पर कारणान्तरों की विकलता हो या बाधक सामग्री उपस्थित हो या दोनों उपस्थित हों तो कार्य नहीं होगा। हमने आगम की बहुत छानबीन की, किन्तु हमें यह सिद्धान्त भी दृष्टिगोचर न हो सका कि प्रत्येक द्रव्य में ऐसे भी परिणमन होते हैं जो स्वप्रत्यय ही होते हैं, उनमें कालादि द्रव्यों की भी निमित्तता नहीं है। अपरपक्ष इन सब सिद्धान्तों को आगमसम्मत मानता है, किन्तु इनकी पुष्टि में अभी तक वह कोई विधायक आगम उपस्थित करने में असमर्थ रहा, जहाँ स्वप्रत्यय की प्रधानता से विचार किया गया है उसे एकान्त से उस पक्ष ने स्वीकार कर लिया और जहाँ अन्य प्रकार से विचार किया गया है, वहाँ उसे उस प्रकार से स्वीकार कर लिया। यह उसके विचार करने की पद्धति है। पूरे जिनागम में एकरूपता उपस्थित हो इसकी ओर उसका ध्यान ही नहीं है।

वह प्रमेयकमलमार्तण्ड के '**किं ग्राहकप्रमाणाभावात्**' तथा '**यच्चोच्यते**' इन दोनों प्रमाणों को स्वीकार हो सकता है, किन्तु उन प्रमाणों द्वारा जो तथ्य प्रगट किये गये हैं, उन्हें

निष्कर्ष रूप में स्वीकार नहीं करना चाहता। जब यह नियम है कि प्रत्येक कार्य में बाह्याभ्यन्तर सामग्री की समग्रता होती ही है, उसमें अपवाद नहीं। ऐसी अवस्था में प्रत्येक कार्य के सम्मुख द्रव्य के होने पर 'यदि बाह्य सामग्री न हो या बाधक कारण उपस्थित हो जाये—इत्यादि प्रश्नों को अवकाश ही कहाँ रहता।' आचार्यों ने इन बातों की चर्चा की अवश्य है, पर वह बुद्धि द्वारा सुनिश्चित किया गया कारण ही कार्य के अनुमान ज्ञान में हेतु हो सकता है, इस बात को ध्यान में रखकर ही की है। उक्त दोनों प्रमाणों में तो उक्त बातों की चर्चा ही नहीं है। जब प्रत्येक कार्य विशिष्ट पर्याययुक्त विशिष्ट द्रव्य के होने पर अपनी प्रतिनियत बाह्य-सामग्री को निमित्तकर होता है तो आगम में कोई दूसरी बात कही गई है और लोक में कोई दूसरी बात देखी जाती है, ऐसा न होकर वस्तुस्थिति यह है कि प्रतिनियत काल में ही प्रतिनियत कार्य होता है। तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक के द्वितीय उद्धरण में यही तथ्य प्रकाश में लाया गया है। आचार्य विद्यानन्दि अष्टसहस्त्री पृ. 111 में लिखते हैं—

तथा कारणकार्यपरिणामयोः कालप्रत्यासत्तेरसत्त्वेऽनभिमतकालयोरिवाभिमत-कालयोरपि कार्यकारणभावासत्त्वादुभयोर्निरुपाख्यतापत्तिः।

उसी प्रकार कारण परिणाम और कार्य परिणाम में कालप्रत्यासत्ति के नहीं होने पर जैसे अनभिमत कालभावी दो पर्यायों में कार्यकारणभाव का अभाव है, उसी प्रकार अभिमत कालभावी दो पर्यायों में भी कार्यकारणभाव का अभाव होने से दोनों का अभाव प्राप्त होता है।

इससे स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार अपर पक्ष जब निमित्त मिलते हैं, तब कार्य होता है—यह लिखकर विवक्षित काल में ही विवक्षित कार्य होता है, इसका निषेध करता है वैसा आगम का अभिप्राय नहीं है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के द्वितीय उद्धरण में '**तदैव**' पद इसी तथ्य को सूचित करता है, क्योंकि उपादान के अपने कार्यरूप व्यापार के समय बाह्य सामग्री का योग रहने का एकान्त नियम रहने के कारण उक्त उल्लेख में उक्त पद्धति से उस तथ्य को प्रकाश में लाया गया है।

हमने उन दोनों उद्धरणों का जो आशय है, वही लिया है। हम अच्छी तरह से जानते हैं कि हमारे और आपके अभिप्राय में जमीन आसमान का अन्तर है। जहाँ हमारा यह अभिप्राय है कि प्रत्येक समय में प्रत्येक द्रव्य समर्थ उपादानकारण होकर अपने प्रतिनियत कार्य को नियम से जन्म देता है और उसके होने में प्रतिनियत बाह्य सामग्री का योग नियम से मिलता है, वहाँ आपका यह अभिप्राय है कि प्रत्येक उपादान अनेक योग्यताओंवाला होता है, इसलिए

उसे जैसी बाह्य सामग्री का सानिध्य मिलता है, वैसा कार्य होता है। उस उपादान से कौन कार्य हो, यह बाह्य सामग्री पर अवलम्बित है। घुमा-फिराकर अनेक प्रकार से आप अपने अभिप्राय को लिपिबद्ध कर रहे हैं, पर उन सबका आशय पूर्वोक्त ही है। अपने आशय के अनुरूप उसकी पुष्टि में स्पष्ट प्रमाण न मिल सकने के कारण ही अपर पक्ष को यह प्रयास करना पड़ रहा है। इस प्रकार हमारे और आपके कथन में जो भेद है, वह स्पष्ट है।

आगे अपर पक्ष ने हमें लक्ष्य कर लिखा है कि 'दण्ड, चक्र आदि में निमित्तता उसी समय स्वीकार की गई है जब मिट्टी घट पर्याय के परिणमन के सन्मुख होती है, अन्यकाल में वे निमित्त नहीं स्वीकार किए गये हैं। इस विषय में हमारा कहना यह है कि कुम्हार, दण्ड, चक्र आदि में घट के प्रति निमित्तकारणता का अस्तित्व उपादानभूत वस्तु की तरह नित्य शक्ति के रूप से तो पहले ही पाया जाता है, क्योंकि कार्योत्पत्ति के लिए उपादानभूत वस्तु के संग्रह की तरह निमित्तभूत वस्तु का भी लोक में संग्रह किया जाता है।' किन्तु अपर पक्ष का यह लिखना कल्पनामात्र है, क्योंकि कुम्हार सदा कुम्हार नहीं बना रहता, इसी प्रकार दण्डादिक वस्तुएँ भी सदा ही उस पर्यायरूप से नहीं रहती हैं। उपादान-उपादेयभाव एक द्रव्य में स्वीकार किया गया है, इसलिए उसमें द्रव्यार्थिकनय से पहले भी उपादानता शक्तिरूप में स्वीकार की गई है, किन्तु यह स्थिति बाह्य सामग्री की नहीं है। यही कारण है कि तत्त्वार्थवार्तिक, अध्याय 1, सूत्र 33 में जब कुम्हार शिविका आदि पर्यायों के होने में निमित्त हो रहा है, तब उसे कुम्हार कहने का निषेध करते हुए लिखा है—

कुम्भकाराभावः शिविकादिषर्यायकरणे तदभिधानाभावात्। कुम्भपर्यायसमये च स्वावयवेभ्य एव निर्वृत्तेः।

कुम्भकार का अभाव है, क्योंकि शिविका आदि पर्यायों के करते समय उसे कुम्हार शब्द से नहीं कहा जा सकता और कुम्भपर्याय के समय में अपने अवयवों से ही वह (कुंभ) निर्वृत्त हुआ है।

इससे यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि **किसी भी वस्तु में अन्य द्रव्य के कार्य करनेरूप निमित्तकारणता नाम का धर्म नित्य शक्तिरूप से नहीं पाया जाता। यह केवल व्यवहारमात्र है।** यदि अपर पक्ष घट निर्माण के पहले भी कुम्हार शब्द का प्रयोग करना चाहता है तो भले करे, हम भी ऐसा प्रयोग करते हैं। परन्तु वह लोकपरिपाटी मात्र है। जयधवला पुस्तक 7, पृ. 313 में इसी आशय को स्पष्ट करते हुए लिखा भी है—

पाचओ भुंजइ त्ति णिव्वावारावत्थाए वि किरियिणिमित्तववएसुवलंभादो।

जैसे पाचक (रसोइया) भोजन करता है, यहाँ पाचन क्रिया के अभाव में भी क्रियानिमित्तक पाचक शब्द उपलब्ध होता है।

हमें आशा है कि अपर पक्ष उक्त उल्लेखों के प्रकाश में बाह्य वस्तु में निमित्त व्यवहार को यथार्थ न मानकर उसे उपचरित स्वीकार कर लेगा।

यहाँ अपर पक्ष ने बड़ी संजीदगी के साथ खेद व्यक्त करते हुए जो यह लिखा है कि 'आगम के वचनों का अभिप्राय बिल्कुल स्वाभाविक ढंग से आगम के दूसरे वचनों के साथ समन्वयात्मक पद्धति को अपनाते हुए प्रकरण आदि को लक्ष्य में रखकर वाक्यविन्यास, पदों की सार्थकता, ग्रन्थकर्त्ता की विषयमर्मज्ञता, साहित्यिक ढंग और भाषा पाण्डित्य आदि उपयोगी बातों को लक्ष्य में रखकर ही ग्रहण कीजिए, अन्यथा इस तरह की प्रवृत्ति का परिणाम जैन संस्कृति के लिये आगे चलकर बड़ा भयानक होगा, जिसके लिए यदि जीवित रहे तो हम और आप सभी पछतावेंगे।'

किन्तु इन शब्दों में तो नहीं, सुस्पष्ट और मधुर शब्दों में इस विषय में हम अपर पक्ष से यह निवेदन कर देना चाहते हैं कि आवेश में न आकर वह अपने शब्दों पर स्वयं ध्यान दे। यदि उसके मन में सचमुच में समन्वय की भावना है तो उसे निश्चय और व्यवहार के जो लक्षण आगम में स्वीकार किये गये हैं, उन्हें ध्यान में रखकर प्रतिनियत कार्य का प्रतिनियत उपादान स्वीकार करके कार्य-कारण भाव को संगति बिठला लेनी चाहिए, इससे उत्तर और दूसरा समन्वय का मार्ग क्या हो सकता है। यह आगमानुमोदित मार्ग है। **केवलज्ञान के विषय से श्रुतज्ञान के विषय को भिन्न बतलाकर लौकिक मान्यताओं को आगमरूप से स्वीकार कराने का अभिप्राय रखना, यह कोई समन्वय का मार्ग नहीं है।**

आगे अपर पक्ष ने हमारे कथन को स्वीकार करे हुए अन्त में जो यहा लिखा है कि 'किन्तु हम आपके समान ऐसा भी नहीं मानते कि कार्य निमित्त की अपेक्षा रहित केवल विशिष्ट पर्याय शक्ति से युक्त द्रव्यशक्ति मात्र से ही उत्पन्न हो जाया करता है तथा ऐसा भी नहीं मानते कि सहकारी कारण की सापेक्षता का अर्थ केवल इतना ही होता है कि सहकारी कारण की उपस्थिति वहाँ पर नियम से रहा करती है, उनका वहाँ कभी अभाव नहीं होता। हम तो ऐसा मानते हैं कि एक तो उस पर्यायशक्ति की उत्पत्ति सहकारी कारणों के साहयोग से ही होती है; दूसरे, पूर्व पर्यायशक्ति विशिष्ट द्रव्यशक्ति निमित्तों का वास्तविक सहयोग मिलने पर

ही उत्तर पर्यायरूप कार्य को उत्पन्न करती है और फिर उस उत्तर पर्यायशक्ति विशिष्टि द्रव्यशक्ति भी यदि निमित्तों का अनुकूल सहयोग मिल जावे तो उस उत्तर पर्याय से भी उत्तर पर्याय को उत्पन्न कर देती है तथा यदि अनुकूल निमित्तों का सहयोग प्राप्त नहीं होता तो वर्तमान पर्यायशक्ति से विशिष्ट द्रव्यशक्ति उस पर्याय से उत्तरक्षणवर्ती विवक्षित पर्याय को उत्पन्न करने में सर्वदा ही असमर्थ रहेगी। फिर तो उससे उसी कार्य की उत्पत्ति होगी, जिसके अनुकूल उस समय निमित्त उपस्थित होंगे।' आदि।

वह अपर पक्ष का कार्य-कारणभाव के विषय में वक्तव्य है। बौद्धदर्शन विधि की सिद्धि में स्वभाव हेतु और कार्य हेतु इन दो को ही स्वीकार करता है, कारण हेतु को गमक नहीं मानता। उसका कहना है कि कारण का कार्य के साथ अविनाभाव न होने के कारण वह उसकी सिद्धि का हेतु नहीं हो सकता, क्योंकि जितने भी कारण होते हैं, वे नियम से कार्य वाले होते ही हैं -ऐसा कोई नियम नहीं है। जिसकी सामर्थ्य अप्रतिबद्ध है, ऐसा कारण तो कार्य का नियम से गमक होगा ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि सामर्थ्य अतीन्द्रिय होती है, इसलिए उससे किस कार्य को जन्म मिलेगा, इसका ज्ञान करना अशक्य है। यह बौद्धदर्शन का वक्तव्य है। इसी के उत्तरस्वरूप आचार्य माणिक्यनन्दि ने अपने परीक्षामुख अ. 3 में **'रसादेकसामग्र्यनुमानेन'** इत्यादि 56 संख्याक सूत्र लिपिबद्ध कर यह कहा है कि ऐसा कारणरूप हेतु अपने कार्य का गमक होता ही है, जो अप्रतिबद्ध सामर्थ्यवाला हो तथा कारणान्तरों की विकलता से रहित हो। इसकी टीका करते हुए लघु अनन्तवीर्य लिखते हैं—

न ह्यनुकूलमात्रमन्त्यक्षणप्राप्तं वा कारणं लिङ्गमिष्यते येन मणिमन्त्रादिना सामर्थ्य-प्रतिबन्धात्कारणान्तरवैकल्येन वा कार्यव्यभिचारित्वं स्यात्, द्वितीयक्षणे कार्यप्रत्यक्षीकरणे नानुमानानर्थक्यं वा; कार्याविनाभावितया निश्चितस्य विशिष्टकारणस्य छत्रादेर्लिंगत्वेनांगी-करणात्। यत्र सामर्थ्याप्रतिबन्धः कारणान्तरावैकल्पयं निश्चीयते तस्यैव लिंगत्वं नान्यस्येति नोक्तदोषः।

हम अनुकूलमात्र (लक्षणवाले) कारण को या अन्त्यक्षण प्राप्त (लक्षणवाले) कारण को लिंग अर्थात् साध्य की सिद्धि में हेतु नहीं कहते, जिससे कि मणि-मन्त्रादिक के द्वारा सामर्थ्य का प्रतिबन्ध होने से अथवा कारणान्तरों की विकलता होने से वह (विवक्षित) हेतु कार्य (विवक्षित कार्य) के साथ व्याभिचारीपने को प्राप्त हो अथवा द्वितीय क्षण में कार्य के प्रत्यक्ष करने से अनुमान की व्यर्थता हो, क्योंकि हमने कार्य के साथ अविनाभावरूप से

निश्चित विशिष्ट कारणरूप छत्रादिक को लिंगरूप से (अनुमानज्ञान में हेतुरूप से) स्वीकार किया है। जिसमें सामर्थ्य का अप्रतिबन्ध और कारणान्तरों का अवैकल्य निर्णीत होता है, उसी के लिंगपना (अनुमानज्ञान में हेतुपना) है, अन्य के नहीं, इसलिए प्रकृत में उक्त दोष का प्रसंग नहीं प्राप्त होता।

लोक में और आगम में प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों के साथ अनुमानज्ञान भी प्रमाणरूप से स्वीकार किया गया है। इसमें जिस वस्तु का ज्ञान किया जाता है, वह परोक्ष होती है और जिसको हेतु बना कर ज्ञान किया जाता है, वह वस्तु इन्द्रिय प्रत्यक्ष होती है। ऐसी स्थिति में यदि हमें इस मिट्टी से अगले समय में क्या कार्य होगा, इसका ज्ञान करना है तो हमें सर्वप्रथम साधनभूत बाह्याभ्यन्तर सामग्री के ऊपर दृष्टिपात करना होगा, इसके बिना इस उपादान से अगले समय में क्या कार्य होगा, वह अनुमान नहीं कर सकते। इसी तथ्य को आचार्य ने उक्त टीका वचन द्वारा स्पष्ट किया है। बाह्य सामग्री द्वारा परोक्षभूत कार्य का निर्णय करने के लिए उनका कहना है कि वहाँ पर एक तो वही बाह्य सामग्री होनी चाहिए, जिससे परोक्षभूत निश्चित कार्य की सूचना मिले, उससे विरुद्ध कार्य को सूचित करनेवाली बाह्य सामग्री वहाँ पर नहीं होनी चाहिए। दूसरे, वहाँ पर उपस्थित बाह्य सामग्री से परोक्षभूत जिस कार्य की सूचना मिलती हो, उसमें कमी नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार तो कारण को हेतु बना परोक्षभूत कार्य का अनुमान करनेवाला व्यक्ति सम्यक् प्रकार से बाह्य सामग्री का विचार कर ले और इसी प्रकार वह जिस आभ्यन्तर सामग्री को परोक्षभूत कार्य की अन्त्यक्षण प्राप्त आभ्यन्तर सामग्री समझ रहा है, उसका भी विचार कर ले। यहाँ ऐसा न हो कि है तो वह अन्य कार्य की अन्त्यक्षण प्राप्त सामग्री और अपनी बुद्धि से वह समझ बैठा है, उससे भिन्न दूसरे कार्य की अन्यत्क्षण प्राप्त सामग्री। इस प्रकार बाह्य-आभ्यन्तर सामग्री के आधार पर परोक्षभूत कार्य का अनुमान करनेवाला व्यक्ति यदि परोक्षभूत कार्य की अविनाभूत बाह्याभ्यन्तर सामग्री को ठीक तरह से जान सका तो निश्चित समझिये कि ऐसी सामग्री को हेतु बनाकर परोक्षभूत तदनुरूप जिस कार्य का अनुमान किया जायगा, वह यथार्थ ही ठहरेगा।

यहाँ ऐसा समझना चाहिए कि प्रत्येक कार्य की बाह्याभ्यन्तर सामग्री सुनिश्चित है। वह प्रत्येक समय में युगपत् प्राप्त होती रहती है, उसके प्राप्त होने में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती। यही कारण है कि प्रत्येक समय में अपनी-अपनी बाह्याभ्यन्तर सामग्री के अनुरूप कार्य की उत्पत्ति होती रहती है। बाह्याभ्यन्तर सामग्री को हेतु बनाकर परोक्षभूत कार्य

का अनुमान करते समय वहाँ पर उपस्थित हुई सब प्रकार की सामग्री के आधार पर निर्णय करने की दिशा में प्रयत्न करना अन्य बात है और वहाँ पर उपस्थित हुई सब प्रकार की सामग्री में से परोक्षभूत कार्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखनेवाली सामग्री को जानकर, उसके आधार पर अगले समय में नियम से उत्पन्न होनेवाले कार्य का अनुमान कर लेना अन्य बात है। वस्तुतः उक्त टीकावचन में कार्यकारणभाव का विचार नहीं किया गया है। वहाँ तो परोक्षभूत कार्य का अनुमान करते समय जिस बाह्याभ्यन्तर सामग्री को हेतु बनाया जाये, उसका विचार कितनी गहराई से करना चाहिए, मात्र इसका विचार किया गया है। तभी तो आचार्य ने निष्कर्षरूप में यह वचन लिखा है – **कार्याविनाभावितया निश्चितस्य विशिष्ट-कारणस्य छत्रादेलिंगत्वेनांगीकरणात्।** तात्पर्य यह है कि **जिस कारण का जिस कार्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है, यतः उससे उसी कार्य की उत्पत्ति होगी, अतः ऐसा सुनिश्चित कारण ही परोक्षभूत कार्य का अनुमान कराने में साधन बन सकता है, अन्य नहीं।** यह उक्त समय कथन का तात्पर्य है।

अपर पक्ष अनुमान प्रकरण की इस मीमांसा को कार्य–कारणभाव की मीमांसा में कैसे ले गया और उस आधार पर उसने असंगत अनेक तर्कणाएँ उपस्थित कर उसे जटिल कैसे बना दिया, इसका हमें आश्चर्य है। कार्य–कारण का विचार करना अन्य बात है और विवक्षित कार्य का अनुमान करते समय किस स्थिति में कौन कारण हेतु हो सकता है, इसे समझना अन्य बात है। इससे कार्य–कारणभाव की नियत शृंखला में कहाँ बाधा उपस्थित होती है, इसका अपर पक्ष स्वयं विचार करे। अनुमान करने की दृष्टि से कोई कार्य अपनी विवक्षा में हो और बाह्याभ्यन्तर सामग्री दूसरे कार्य की उपस्थित हो, फिर भी हम उससे भिन्न किसी दूसरी सामग्री को देखकर विवक्षित कार्य का अनुमान करें तो हमारा अनुमान ज्ञान ही असत्य सिद्ध होगा, इससे नियत कार्य–कारण परम्परा में आँच आनेवाली नहीं। स्पष्ट है कि उक्त टीका को ख्याल में रखकर यहाँ पर अपर पक्ष ने कार्य–कारणभाव के सम्बन्ध में जो कुछ भी लिखा है, वह केवल भ्रम उत्पन्न करने का एक प्रयास मात्र ही है।

हमने अपने पिछले उत्तर में लिखा है कि **'गेहूँ पर्यायविशिष्ट पुद्गल द्रव्य बाह्यकारण सापेक्ष गेहूँ के अंकुरादि कार्यरूप से परिणत होता है।'** इस पर अपर पक्ष का कहना है कि **'यह यदि बुद्धि भ्रम से न लिख कर बुद्धिपूर्वक ही लिखा है तो इससे तो कार्य के प्रति निमित्तकारण की सार्थकता का ही समर्थन होता है।'** आदि।

किन्तु हम यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि हमारे उक्त वाक्य के आधार से अपर पक्ष ने यहाँ पर जो कुछ भी अभिप्राय व्यक्त किया है, वह यथार्थ नहीं है, क्योंकि हमने उक्त वचन मात्र द्रव्य योग्यता को उपादान माननेवाले अपर पक्ष के इस मत का निरसन करने के अभिप्राय से ही लिखा है। यदि अपर पक्ष उक्त वचन के आधार से यह फलित करना चाहता है, जैसा कि उसकी ओर से फलित किया गया है, कि गेहूँ पर्याय विशिष्ट सभी पुद्गलद्रव्य अंकुर से लेकर आगे के कार्यों के उपादान हैं तो उसके द्वारा उक्त वाक्य के आधार से ऐसा फलित कियाा जाना भ्रमपूर्व है, क्योंकि यहाँ पर 'अंकुरादि' पद में आया हुआ 'आदि' पद प्रकारवाची है। इसलिए इससे यह फलित होता है कि जो गेहूँ जिस समय जिस पर्याय के सन्मुख होता है, उस समय वह उसका उपादान होता है, अन्य का नहीं। आगम का भी यही अभिप्राय है और इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर उक्त वचन लिखा गया है। कोठे में रखा हुआ गेहूँ इसलिए अंकुर को उत्पन्न नहीं करता, क्योंकि उससमय वह अंकुर का उपादान न होकर अन्य कार्य का उपादान है। वस्तुतः बाह्य सामग्री अंकुर को उत्पन्न करने में अकिंचित्कर है।

अब रही बाह्य कारण सापेक्षता की बात सो इस वचन द्वारा मात्र व्यवहार (उपचरित) पक्ष को स्वीकार किया गया है। जिस समय गेहूँ अंकुर को उत्पन्न करता है, उस समय उसके बाह्य उपकरण कैसे होते हैं, यह बात उक्त वचन द्वारा स्पष्ट की गई है, क्योंकि बाह्य सामग्री उपकरणमात्र हैं - ऐसा आचार्यों का भी अभिप्राय है। **उपकरणमात्रं हि बाह्यसाधनम्** (तत्त्वार्थवार्तिक अ. 1, सू. 2)। बाह्य सामग्री उपादान की क्रिया करके उसमें उसके कार्य को उत्पन्न कर देती है, ऐसा यदि अपर पक्ष सहायक का अर्थ करता है तो वह आगम, तर्क और अनुभव सब के विरुद्ध है, क्योंकि एक द्रव्य अपनी सत्ता को लाँघकर दूसरे द्रव्य की सत्ता में प्रवेश करे, यह सर्वथा असम्भव है।

अपर पक्ष ने 'पुद्गलरूप द्रव्यशक्ति ही गेहूँरूप पर्याय विशिष्ट होकर गेहूँरूप पर्याय को उत्पन्न करती है।' इसे हमारी मान्यता बतलाकर उसका खण्डन करते हुए अपने अभिप्राय की पुष्टि करनी चाही है। किन्तु वह सब कथन पूर्वोक्त कथन के प्रकाश में सुतरां खण्डित हो जाता है, क्योंकि एक द्रव्य का कार्य दूसरे द्रव्य के सहयोग से होता है, यह उपचार वचन है, जो केवल दोनों की कालप्रत्यासत्ति को सूचित करता है। तभी तो आचार्य कुन्दकुन्द ने व्यवहारनय से आत्मा, पुद्गलकर्म को करता है, इस कथन को सदोष बतलाते हुए समयसार गाथा 85 में उसका निरसन किया है।

हमने अपने पिछले उत्तर में लिखा है कि **'गेहूँ, पुद्गलद्रव्य की एक पर्याय है।'** किन्तु अपर पक्ष ने इसे भी अपनी टीका का विषय बनाया है। हम उसके उत्तरस्वरूप इतना ही संकेत कर देना चाहते हैं कि **गेहूँ एक पुद्गलद्रव्य की पर्याय है, ऐसा न तो हमने लिखा है और न है ही।** आगम के अनुसार वस्तुस्थिति यह है कि प्रत्येक पुद्गल परमाणु में सकन्धरूप होने की योग्यता है, इसलिए वे **'द्व्यधिकादिगुणानां तु'** सिद्धान्त के अनुसार स्कन्धरूप परिणम कर गेहूँरूप व्यंजनपर्यायपने को स्वयं प्राप्त होते है।

अगर पक्ष ने यहाँ पर किसी बहाने संयोग की चर्चा करते हुए तथा अपनी दृष्टि से कार्य-कारण भाव के वास्तविक आधार पर को बतलाते हुए अन्त में यह निष्कर्ष फलित किया है कि 'घटरूप कार्य के उत्पन्न करने में मिट्टी पुद्गलद्रव्य की पर्यायरूप से कारण नहीं बन रही है, किन्तु स्वयं एक पौद्गलिक द्रव्यरूप से ही बन रही है' आदि।

यहाँ पर अपर पक्ष ने अपने उक्त अभिप्राय को ध्यान में रखकर जो कुछ भी लिखा है, वह केवल द्रव्य योग्यता को उपादान मानने पर आने वाली आपत्ति का वारण करने के लिए लिखा है। हमारी तरफ से यह आपत्ति उपस्थित की गई थी 'यदि उपादान का अर्थ द्रव्य योग्यता करके बाह्य सामग्री के बल पर प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति मानी जाती है तो चना से गेहूँ की उत्पत्ति हो जानी चाहिए।' स्पष्ट है कि अपर पक्ष अपने प्रस्तुत कथन द्वारा उसी आपत्ति का परिहार करने की चेष्टा कर रहा है और अपने इसी अभिप्राय की पुष्टि के लिए उसके द्वारा मिट्टी आदि स्कन्धों को अवस्थित मानकर अनादि-अनन्त सिद्ध करके नित्य भी सिद्ध किया गया है । किन्तु अपर पक्ष का है यह सब कथन भ्रमोत्पादक ही। कारण कि एक तो मिट्टी आदि पुद्गल स्कन्ध न तो सर्वदा एक समान बने रहते हैं, उनमें प्रति समय अगणित नये परमाणुओं का संघात और पुराने परमाणुओं का भेद होता रहता है। दूसरे उनमें जो मिट्टी आदिरूप से अन्वय प्रतिभासित होता है, उसका मुख कारण सदृश परिणाम ही है, अन्वय धर्म नहीं। तीसरे, जो स्कन्ध वर्तमान में मिट्टी आदिरूप है, वही स्कन्ध अपने संघात और भेद स्वभाव के कारण जलादिरूप भी परिणम जाता है। यह अनुभव में आता है कि जो गेहूँ वर्त्तमान में गेहूँरूप से प्रतिसमय परिणम रहा है, वही मनुष्यादि द्वारा भुक्त होने के बाद खाद बनकर चना आदिरूप से भी परिणत जाता है, इसलिए मिट्टी आदि स्कन्ध को नित्य मानकर उपादान का अर्थ मात्र द्रव्ययोग्यता करके अपने पक्ष का समर्थन करना ठीक नहीं है। चाहे परमाणुरूप पुद्गल हों या उनकी स्कन्ध पर्यायरूप मिट्टी आदि, उनसे उत्तरकाल में जो भी

कार्य होता है, वह असाधारण द्रव्य योग्यता और प्रतिविशिष्ट पर्याय योग्यता इन दोनों के योग में ही होता है और इसी आधार पर उनके प्रत्येक समय के कार्य में विभाजन होता जाता है। खान में पड़ी हुई मिट्टी दूसरे समय में या अन्तर्मुहूर्त आदि काल तक अन्य किसी परिणामरूप हुए बिना मात्र घट पर्याय को ही उत्पन्न करे, तब तो यह करना शोभा देता है कि 'मिट्टी पुद्गलद्रव्य की पर्यायरूप से कारण नहीं बन रही है, किन्तु स्वयं एक पौद्गलिक द्रव्यरूप से ही बन रही है।' मिट्टी स्वयं पुद्गलद्रव्य नहीं है, किन्तु अनन्त पुद्गल द्रव्यों की स्कन्धरूप एक पर्याय है, अत: वह प्रतिसमय सदृश परिणाम द्वारा प्रतिविशिष्ट पर्याय होकर ही उत्तर कार्य की उत्पत्ति में कारण बनती है और यही कारण है कि उससे जायमान उत्तर कार्यों में मिट्टी व्यवहार गौण होता जाता है। साथ ही जैसे पुद्गल से जायमान सब कार्यों में पुद्गल का अन्वय देखा जाता है, उस प्रकार मिट्टी से परिणाम प्रत्ययवश जायमान सब कार्यों में मिट्टी का अन्वय नहीं देखा जाता। पुद्गल अन्य किसी परिणाम को नहीं उत्पन्न करता है, क्योंकि उससे जो भी पर्याय होती है, वह पुद्गलरूप ही होती है, किन्तु यह स्थिति मिट्टी की नहीं है। यही कारण है कि मिट्टी आदि को स्वतन्त्र द्रव्य न स्वीकार कर पुद्गलों की मात्र स्कन्धरूप पर्याय स्वीकार किया है। स्पष्ट है कि मिट्टी को जो घट की उत्पत्ति में कारण कहा गया है, वह प्रत्येक समय के सदृश परिणामवश ही कारण कहा गया है, अन्वय धर्म के कारण नहीं। सदृश परिणाम में अन्वय धर्म का व्यवहार करना, यह उपचार है। प्रयोजनवश आचार्यों ने भी ऐसे व्यवहार को स्वीकार कर कथन किया है, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु वहाँ पर उनकी दृष्टि इस द्वारा द्रव्यशक्ति का ज्ञान कराना मात्र रही है। उस पर से अपने गलत अभिप्राय को फलित करना उचित नही है। स्कन्धों में पुद्गल यह व्यवहार है, इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द पंचास्तिकाय में लिखते है—

वादनसुहुमगदाणं खंधाणं पुग्गलो त्ति ववहारो।
ते होंति छप्पयारा तेलोक्कं जेहिं णिप्पण्णं॥ 76॥

बादर और सूक्ष्मरूप से परिणत स्कन्धों को पुद्गल कहना, यह व्यवहार है। वे छह प्रकार के हैं, जिनसे तीन लोक निष्पन्न है॥ 76॥

यह आचार्य वचन है। इससे स्पष्ट है कि पुद्गल के पर्यायरूप विवक्षित स्कन्ध को पुद्गल कहना, यह कथन जबकि व्यवहार है, ऐसी अवस्था में मिट्टी को पौद्गलिक द्रव्य मानकर मिट्टी रूप द्रव्य योग्यता को घटोत्पत्ति में कारण कहना व्यवहार कथन तो ठहरेगा ही।

यहाँ सर्वप्रथम मिट्टी में पुद्गल का व्यवहार कर मिट्टी को सर्वथा पुद्गल स्वीकार किया गया है और फिर इस आधार पर मिट्टी में विद्यमान मृत्तिकात्वरूप पर्यायधर्म की द्रव्य योग्यतारूप से नित्य मानकर घट कार्य में द्रव्य योग्यता को कारण कहा गया है। इससे सिद्ध होता है कि अपर पक्ष का यह समस्त कथन व्यवहारनय की मुख्यता से ही किया गया है, अतएव इससे सिद्ध होता है कि अपर पक्ष का यह समस्त कथन व्यवहारनय की मुख्यता से ही किया गया है, अतएव यहाँ पर अपर पक्ष ने जितना भी विवेचन किया है, वह सब व्यवहार कथन ही है, यथार्थ कथन नहीं ऐसा जानना चाहिए।

अपर पक्ष ने यहाँ पर यह भी लिखा है कि 'खान से लेकर घट बनने तक मिट्टी की सब अवस्थाएँ कुम्भकार के व्यापार के अनुसार ही हुआ करती हैं' किन्तु यहाँ पर प्रश्न यह है कि मिट्टी की उन अवस्थाओं को उत्पन्न कौन करता है – कुम्भकार या स्वयं मिट्टी? यदि कुम्भकार मिट्टी की उन पर्यायों को उत्पन्न करता है, यह कहा जाये तो परिणामी से परिणाम अभिन्न होने के कारण मिट्टी की सब अवस्थाओं में और कुम्भकार में अभेद प्राप्त होता है। यदि मिट्टी स्वयं कर्त्ता होकर अपनी पर्यायों को उत्पन्न करती है, यह कहा जाये तो कुम्भकार के व्यापार के सहयोग से खान से लेकर घट बनने तक के मिट्टी के सब कार्य होते हैं, इसका क्या तात्पर्य है यह स्पष्ट होना चाहिए। क्या उक्त कथन का यह तात्पर्य है कि कुम्भकार के व्यापार के अभाव में मिट्टी के उक्त कार्य नहीं होते या कुम्भकार के व्यापार के द्वारा मिट्टी के उक्त कार्य होते हैं, ये दो प्रश्न हैं? इनमें से प्रथम पक्ष तो इसलिए ठीक नहीं, क्योंकि कुम्भकार का व्यापार कुम्भकार में होता है और मिट्टी का व्यापार मिट्टी में होता है, एक के व्यापार में दूसरे के व्यापार का सर्वथा अभाव है। इस दृष्टि से यदि यह कहा जाये कि खान से लेकर घट बनने तक मिट्टी ने जितने भी कार्य किये हैं, वे सब निश्चय से परनिरपेक्ष ही किये हैं तो इसमें कोई अत्युक्ति न होकर यथार्थता ही है। कुम्भकार भले ही मिट्टी में कार्य करने का विकल्प करे और अपना योग व्यापार करे। मिट्टी को तो उसकी खबर भी नहीं। वह तो मात्र अपने-अपने काल में होनेवाले व्यापार में रत रहती है, क्योंकि प्रत्येक समय में अपना व्यापार करना, यह उसका स्वभाव है। ऐसा नियम है कि कोई किसी के स्वभाव को बना नहीं सकता।

यदि कहा जाये कि मिट्टी को भले ही खबर न हो, कुम्भकार को तो खबर है कि मेरे द्वारा अमुक प्रकार का व्यापार करने पर मिट्टी को अमुक प्रकार से परिणमना ही पड़ेगा। तो

इस पर प्रश्न यह है कि कुम्भकार कभी भी किसी भी प्रकार से उसे परिणमा सकता है या उसके अमुक प्रकार से परिणमने का काल आने पर वह उसे उस प्रकार से परिणमाता है ? प्रथम पक्ष के स्वीकार करने पर तो सभी द्रव्यों के सभी परिणमन न केवल पराधीन प्राप्त होते हैं, अपितु उनके परिणमन का कोई क्रम नियत करना भी कठिन हो जाता है। इतना ही क्यों ? यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में किसी भी समय किसी भी प्रकार के परिणाम को उत्पन्न कर सकता है तो वह उस दूसरे द्रव्य को अपने रूप बना ले अर्थात् जड़ को चेतन बना ले, ऐसा स्वीकार करने में बाधा ही क्या रह जाती है, इसका अपर पक्ष विचार करे।

यदि अपर पक्ष कहे कि जड़ को चेतन बनाना दूसरी बात है और दूसरे द्रव्य में किसी भी समय किसी भी प्रकार के परिणाम को उत्पन्न कर देना दूसरी बात है। तो इस पर हमारा कहना यह है कि प्रत्येक द्रव्य में जो पर्याय उत्पन्न होती है, वह द्रव्य से कथंचित् अभिन्न होने के कारण द्रव्य ही तो है, इसलिए जबकि दूसरा द्रव्य दूसरे द्रव्य में कभी भी और किसी भी परिणाम को उत्पन्न कर सकता है तो उसे नये द्रव्य के उत्पन्न करने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए।

इस पर यदि अपर पक्ष कहे कि जिस द्रव्य में जिस काल में जो परिणाम होना होता है, उस काल में वही परिणाम होता है, इसमें सन्देह नहीं, पर उसे उत्पन्न करती है, सहकारी सामग्री ही, क्योंकि वह स्वयं उत्पन्न होने में सर्वथा असमर्थ है। तो इस पर हमारा कहना यह है कि वह सहकारी सामग्री दूसरे द्रव्य में उस परिणाम को कैसे उत्पन्न करती है, उसके भीतर घुसकर उसे उत्पन्न करती है या बाहर रहकर ही उसे उत्पन्न कर देती है ? भीतर घुसना तो सम्भव नहीं, क्योंकि एक द्रव्य के स्वचतुष्टय का दूसरे द्रव्य के स्वचतुष्टय में त्रैकालिक अत्यन्ताभाव है। सहकारी सामग्री बाहर रहकर दूसरे द्रव्य में कार्य कर देती है, यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि सहकारी सामग्री जबकि दूसरे द्रव्य से सर्वथा पृथक् बनी रहती है तो फिर वह उसमें उसका कार्य कैसे कर सकती है अर्थात् नहीं कर सकती। इसलिए प्रकृत में अपर पक्ष को यही स्वीकार कर लेना चाहिए कि जड़ या चेतन प्रत्येक द्रव्य अपना कार्य करने में स्वयं समर्थ है, इसलिए जिस कार्य का जो काल है, उस काल में वही कर्त्ता बन कर अपने में उसे उत्पन्न करता है। अन्य के द्वारा कार्य होता है या अन्य दूसरे-को उत्पन्न करता है, ग्रहण करता है, छोड़ता है या परिणमाता है, यह सब व्यवहार कथन है। आगम में यह कथन प्रयोजनवश किया गया है और प्रयोजन है इष्टार्थ का ज्ञान कराना, क्योंकि जिसे सहकारी

सामग्री कहते हैं, उसके कार्य के साथ उपादान के कार्य की अन्वय-व्यतिरेक समधिगम्य बाह्य व्याप्ति है अर्थात् दोनों के एक काल में होने का नियम है, इसलिए इसे कल्पनारोपित नहीं कहा जा सकता। यदि उपचरित कथन को अपर पक्ष के मतानुसार कल्पनारोपित अर्थात् चंडूखाने की गप मान ली जाय तो जगत् का समस्त व्यवहार नहीं बन सकेगा। फिर तो श्री जिनमन्दिर में जाकर देवपूजा करना भी कल्पनारोपित मानना पड़ेगा, क्योंकि प्रतिमा में स्थापना तो अपर पक्ष के मतानुसार कल्पनारोपित ठहरी, फिर उसके आलम्बन से पूजा कैसी ? यदि कोई किसी को पत्र लिखे तो लिख नहीं सकता है, क्योंकि व्यवहार के लिए जो उसका नाम रखा गया है, वह तो कल्पनारोपित है। ऐसी अवस्था में नाम लेकर किसी को पत्र लिखना व्यर्थ ही ठहरेगा। अपर पक्ष को उपचरित कथन को कल्पनारोपित लिखते समय थोड़ा जगत के अन्य समस्त व्यवहारों का विचार करना चाहिए। इतना तो हम निश्चयपूर्वक लिख सकते हैं कि **अपर पक्ष ने यहाँ पर कुम्भकार और मिट्टी को आलम्बन बनाकर जो कार्य-कारणभाव का रूपक उपस्थित किया है, वह मात्र एकान्तरूप प्ररूपता होने से कल्पनारोपित अवश्य है। परन्तु जिनागम में निश्चय-व्यवहार का पृथक्कारण कर जो प्ररूपणा की गई है, वह किसी भी अवस्था में कल्पनारोपित नहीं है। अतः कोई भी कार्य किसी दूसरे के सहारे पर नहीं होता है—ऐसा निश्चय यहाँ करना चाहिए। दूसरे के सहारे का कथन करना मात्र व्यवहार है, जो उपचरित होने से यथार्थ पदवी को नहीं प्राप्त हो सकता।**

प्रत्येक द्रव्य स्वयं सत् है और द्रव्य का लक्षण है, गुण-पर्यायवाला, इसलिए द्रव्य के स्वयं सत् सिद्ध होने पर गुण और पर्याय भी स्वयं सत् सिद्ध होते हैं। यत: पर्याय व्यतिरेकी स्वभाववाला है, अत: जिस पर्याय का जो स्वकाल है, उस काल में उसे परनिरपेक्ष स्वयं सत् ही जानना चाहिए, अन्यथा द्रव्य और गुणों का अस्तित्व ही नहीं बन सकता। इसलिए अपर पक्ष का यह लिखना कि 'कार्योत्पत्ति के लिए उपादान की तैयारी निमित्तों के बल पर ही हुआ करती है।' आगम विरुद्ध ही समझना चाहिए। वस्तुत: कोई किसी की तैयारी नहीं करता, एक द्रव्य में जिसके बाद जो होता है, उसे उपादानकारण कहते हैं और होनेवाले को कार्य कहते हैं तथा उस कार्य की जिसके साथ बाह्य व्याप्ति होती है, उसे सहकारी कारण कहते हैं और होनेवाले को कार्य कहते हैं। भेद विवक्षा में प्रथम कथन सद्भूत व्यवहारनय का विषय है और दूसरा कथन असद्भूत व्यवहारनय का विषय है।

अपर पक्ष ने कार्यों का विभाजन करते हुए उसे तीन प्रकार का बतलाया है – षड्गुणी

हानि-वृद्धिरूप परिणमन को स्वप्रत्यय परिणमन। इस परिणमन में अपर पक्ष मात्र निश्चय पक्ष को ही स्वीकार करता है, व्यवहार पक्ष को नहीं स्वीकार करता, यत: यह एकान्त कथन है; इसलिए इसे आगमसम्मत नहीं माना जा सकता।

दूसरे प्रकार के कार्यों में वह धर्मादि चार द्रव्यों के परिणमनों का अन्तर्भाव करता है। इन्हें वह स्व-पर प्रत्यय परिणमन लिखकर उनका नियत क्रम से होना मानता है। किन्तु जबकि वह घटादि कार्यों का अनियत क्रम से होना मानता है और उनकी निमित्तता इन द्रव्यों के परिणमनों में स्वीकार करता है तो न तो इनका नियत क्रम से होना ही बन सकता है और न ही ये परिणमन स्व-पर प्रत्यय होने के कारण स्वभाव पर्याय संज्ञा को ही प्राप्त हो सकते हैं, क्योंकि आगम में 'स्व-परप्रत्यय' पद में 'पर' शब्द ऐसी निमित्त व्यवहार के योग्य बाह्य सामग्री के अर्थ में आता है, जो विभाव पर्याय के होने में निमित्त है। अतएव धर्मादि द्रव्यों के परिणमनों को स्व-परप्रत्यय लिखना आगमपरम्परा के विरुद्ध होने से इस कथन को भी आगमसम्मत नहीं माना जा सकता।

तीसरे प्रकार के कार्यों में वह घटादि कार्यों की परिगणना करता है। किन्तु ये सब कार्य अपने-अपने कार्यकाल में प्राप्त होनेवाले प्रायोगिक और वैस्रसिक निमित्तों को प्राप्त कर स्वयं होते रहते हैं। **न तो उपादानकारण कार्यों की प्रागभावरूप अवस्था को छोड़कर अन्य काल में बनता है और न ही बाह्य सामग्री भी अन्य काल में निमित्त व्यवहार पदवी को प्राप्त होती है।** इन दोनों के एक साथ होने का सहज योग है, इसलिए जिस काल में घटादिरूप जो कार्य होता है, वह अपने-अपने काल का उल्लंघन कभी नहीं करता। **'व्यतिरेकिण: पर्याया:'** इस नियम के अनुसार अपनी-अपनी सीमा के भीतर सभी पर्यायों में व्यतिरेककीपना आगम में स्वीकार किया गया है। केवल विभावपर्यायों में ही व्यतिरेकीपना होता हो, ऐसा आगम का अभिप्राय नहीं है। अतएव इन्द्रिगोचर पूर्व पर्यायों की अपेक्षा उत्तर पर्यायों में यदि कुछ विलक्षणता दृष्टिगोचर होती है तो उसे उस द्रव्य का ही कार्य समझना चाहिए, बाह्य सामग्री का कार्य नहीं। स्पष्ट है कि प्रकृत में अपर पक्ष ने इस सम्बन्ध में जो कुछ भी लिखा है, वह आगम का आशय न होने से इसे भी आगम सम्मत नहीं माना जा सकता। इस सम्बन्ध में विशेष विचार पूर्व में किया ही है।

आगे अपर पक्ष ने तत्त्वार्थवार्तिक अ. 5, सू. 17, वार्तिक 31 के आधार से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि 'निमित्तों का समागम उपादान की कार्यरूप से परिणत होने की

तैयारी हो जाने पर हो ही जाता है, ऐसा नियम नहीं बनाया जा सकता, किन्तु यह तथा आगम के और दूसरे प्रमाण यही बतलाते है कि उपादान को जब निमित्तों का सहयोग प्राप्त होगा, तभी उपादान की नित्य द्रव्यशक्ति विशिष्ट वस्तु को जिस पर्यायशक्ति विशिष्टता को आप तैयारी शब्द से ग्रहण करना चाहते है, वह तैयारी होगी और तभी कार्य हो सकेगा।'

यह अपर पक्ष का वक्तव्य है। इसे ध्यान में रखकर हम उस प्रमाण की छानबीन कर लेना चाहते हैं। तत्त्वार्थवार्तिक का उक्त प्रकरण धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य के अस्तित्व की सिद्धि का है। प्रत्येक कार्य स्वकाल में होता है, इसकी सिद्धि के उपाय दो हैं—अभ्यन्तर साधन और बाह्य साधन। अभ्यन्तर साधन प्रत्येक द्रव्य का स्वलक्षण-आत्मभूत साधन हुआ करता है और बाह्य साधन परलक्षण-अनात्मभूत साधन हुआ करता है। प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समय में अपना कार्य करे और उसका आत्मभूत साधन उस समय न हो, यह आगमज्ञ किसी भी विवेकी की समझ में आने योग्य बात नहीं है। जिसे यहाँ पर प्रत्येक द्रव्य में प्रति समय कार्य का साधनभूत स्वलक्षण कहा है, उसका प्रत्येक समय में होना ही उसकी तैयारी है। इसके सिवा किसी भी विवक्षित कार्य की अपेक्षा अन्य जितनी तैयारी कही जाती है, वह विकल्प का विषय है। यह तो प्रत्येक द्रव्य के स्वलक्षणभूत अन्तरंग साधन की मीमांसा है। बाह्य साधन के विषय में यह मीमांसा है कि प्रत्येक द्रव्य के प्रत्येक समय में अपने-अपने कार्य के सन्मुख होने पर उसका अनात्मभूत लक्षणरूप बाह्य साधन निमय से होता है। आभ्यन्तर साधन हो और बाह्य साधन न हो, यह भी सही है तथा अन्तरंग साधन हो और कार्य न हो, यह भी नहीं है। प्रत्येक समय में अन्तरंग-बहिरंग साधनों की युति नियम से होती है और इनसे जिस कार्य के होने की सूचना मिलती है, वह कार्य भी नियम से होता है।

अपर पक्ष का कहना है कि 'उपादान को अपने कार्य के अनुकूल तैयारी होने पर भी यदि निमित्तों का सहयोग नहीं मिलता तो कार्य नहीं होता।' किन्तु उसका यह कथन विवक्षा की अपेक्षा है या प्रत्येक द्रव्य के प्रत्येक समय में होनेवाले परिणाम की अपेक्षा है—इसका उस पक्ष की ओर से कोई खुलासा नहीं किया गया है। यदि विवक्षा की अपेक्षा उक्त कथन है, तो यह मान्यता की बात हुई, इसका प्रत्येक द्रव्य के प्रत्येक समय में होनेवाले क्रियालक्षण या भावलक्षण परिणाम से कोई सम्बन्ध नहीं है। दूसरा व्यक्ति चाहता है कि इस शक्कर का लड्डू बने। इसके लिए वह अपने विकल्पों के अनुसार उपाय योजना भी करता है, बाह्य परिकर भी उसकी इच्छानुसार प्रवर्तन करता हुआ प्रतीत होता है। किन्तु उस शक्कर की यदि

किसी कालावधि के मध्य लड्डू रूप नहीं परिणमना है तो उसकी इच्छा उत्पन्न होकर भी विलीन हो जाती है। इचछा किसी कार्य के होने में निमित्त अवश्य है, किन्तु द्रव्य में होनेवाले परिणम के साथ यदि उसका मेल बैठ जाये तो ही निमित्त है, अन्यथा नहीं। इसलिए विवक्षा के आधार पर यह सोचना कि 'उपादान की अपने कार्य के अनुकूल तैयारी होने पर भी यदि निमित्तों का सहयोग नहीं मिलता तो कार्य नहीं होता।' कोरी कल्पना है।

यदि प्रत्येक द्रव्य में प्रत्ये समय में होनेवाले परिणाम की अपेक्षा अपर पक्ष का उक्त कथन हो तो उसे आगम का ऐसा प्रमाण उपस्थित करना चाहिए था जो अपर पक्ष के उक्त अभिप्राय की पुष्टि में सहायक होता। किन्तु आगम की रचना अपर पक्ष के उक्त प्रकार के विकल्पों की पुष्टि के लिए नहीं हुई है, वह तो प्रत्येक द्रव्य के स्वरूप उद्घाटन और कार्य-कारणभाव के सुनिश्चित लक्षणों के निरूपण में चरितार्थ है। यह आगम ही है कि अनन्तर पूर्वोत्तर दो क्षणों में ही कारण-कार्यभाव देखा जाता है (प्रमेयरत्नमाला 3, 57)। यत: प्रत्येक समय में प्रत्येक द्रव्य अपना कार्य करता ही है, उसे उस समय अपना कार्य करने के लिए बाह्य सामग्री की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती, क्योंकि उसके अनुकूल बाह्य सामग्री का उपस्थित रहना अवश्यंभावी है, इसलिए प्रत्येक द्रव्य में प्रत्येक समय में होनेवाले परिणाम को ध्यान में रखकर अपर पक्ष का यह सोचना कि 'उपादान की अपने कार्य के अनुकूल तैयारी होने पर भी यदि निमित्तों का सहयोग मिलता तो कार्य नहीं होता।' कल्पनामात्र है।

अपर पक्ष तत्त्वार्थवार्तिक के (अ. 5, सू. 17 वा. 31) उक्त उल्लेख से जिस आशय को फलित करने की कल्पना करता है, वह उक्त उल्लेख का अभिप्राय नहीं है। उस द्वारा तो मात्र बाह्य साधन की पुष्टि की गई है, क्योंकि जब यह आगम है कि प्रत्येक कार्य में बाह्य और आभ्यन्तर उपाधि की समग्रता होती है। ऐसी अवस्था में प्रत्येक कार्य में आभ्यन्तर साधन के समान बाह्य साधन को स्वीकार करना भी आवश्यक हो जाता है। आचार्य समन्तभद्र ने मोक्षमार्ग के लिए यद्यपि आभ्यन्तर साधन को पर्याप्त कहा है (स्वयंभूस्तो. का. 59) पर यह उपयोग में किसका आलम्बन लेना मोक्षमार्गो के लिए आत्यावश्यक है, इस अपेक्षा से कहा है। आचार्य ने निमित्त व्यवहार के योग्य बाह्य सामग्री का परिहार वहाँ पर भी नहीं किया है। विवक्षा में प्रयोजनवश एक को गौण करना और दूसरे को मुख्य करना अन्य बात है और एक के द्वारा सिद्धि मानकर दूसरे का निषेध करना अन्य बात है। बाह्यदृष्टिवाले मिथ्यादृष्टि जीव सदा बाह्य साधनों का अवलम्बन लिए रहते हैं और उनसे लौकिक तथा पारमार्थिक

कार्यों की सिद्धि मानते हैं। आचार्य कहते हैं कि बाह्य आलम्बन तो संसार परिभ्रमण का कारण है, मोक्षमार्गों के लिए वह स्वभावानुकूल आत्म-पुरुषार्थ जागृत करने में सहायक नहीं। यदि वह यथार्थ में अपने जीवन में मोक्षमार्ग या मोक्ष की प्रसिद्धि करना चाहता है तो उसे अपने त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव का अवलम्बन लेना ही पर्याप्त है। उसे बाह्य साधनों की उठाधरी के विकल्प से बचना ही होगा, तभी उसमें मोक्षकार्य की प्रसिद्धि हो सकती है, अन्यथा नहीं।

इस प्रकार इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्त्वार्थवार्तिक के उक्त उल्लेख के आधार से अपर पक्ष ने जो आशय फलित किया है, वह अपर पक्ष की कोरी मन की कल्पना है। जब प्रत्येक कार्य के बाह्य और अभ्यान्तर दो प्रकार के साधन हैं तो प्रत्येक कार्य में उन्हें स्वीकार करना लाजिमी हो जाता है। यही तत्त्वार्थवार्तिक के उक्त उल्लेख का आशय है। प्रसंगसंगत होने से हम यहाँ यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि षड्गुणी हानि-वृद्धिरूप परिणमन मात्र स्वप्रत्यय होता है, यह कथन यद्यपि आगम विरुद्ध कथन है, फिर भी इस आगम विरुद्ध कथन के उत्थापन के कार्य का साहस जैसे अपर पक्ष कर सकता है और इस प्रकार बाह्य साधन सामग्री के बिना ही वह केवल उपादान के बल से घोषणा करता हुआ तत्त्वार्थवार्तिक के उक्त उल्लेख का उल्लंघन करता हुआ भी नहीं डरता, सचमुच में वैसा साहस करना हमारे बूते के बाहर है। **हमें निश्चय पक्ष के समान व्यवहार पक्ष का पूरा ध्यान है और इसलिए हम निश्चय और व्यवहार पक्ष का वही अर्थ करते हैं जो आगम को इष्ट है, कल्पना के ताना-बाना बुनना हमारा कार्य नहीं।**

13. असद्भूत व्यवहारनय का स्पष्टीकरण

इसी प्रसंग से अपर पक्ष ने असद्भूत व्यवहारनय का भी विचार किया है। उसका कहना है कि 'नय वही हो सकता है जिसका विषय सद्भूत हो। असद्भूत अर्थ को ग्रहण करनेवाला नय ही नहीं हो सकता। यदि नय असद्भूत अर्थ को भी विषय करता है तो उसके द्वारा आकाश कुसुम या गधे के सींग का भी ग्रहण होना चाहिए। यत: कोई भी नय आकाशकुसुम या गधे के सींग को नहीं ग्रहण करता, अत: प्रत्येक नय सद्भूत अर्थ को ही विषय करता है, इसे स्वीकार कर लेना चाहिए।' अपने इस विषय की पुष्टि में उस पक्ष की ओर से द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा द्रव्य कथंचित् नित्य है और पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा द्रव्य कथंचित् अनित्य है, यह उदाहरण उपस्थित किया गया है। किनतु अपर पक्ष इस बाित को

भूल जाता है कि प्रत्येक द्रव्य में रहनेवाले नित्यत्व और अनितत्व धर्म जहाँ सद्भूत है, वहाँ दो द्रव्यों के आश्रय से प्रयोजनवश स्वीकार किये गये निमित्तत्व और नैतित्तकत्व धर्म सद्भूत नहीं है, क्योंकि एक द्रव्य के धर्म को दूसरे द्रव्य में सत्स्वरूप स्वीकार करने पर उसमें दूसरे द्रव्य की सत्ता भी स्वीकार करनी पड़ती है और इस प्रकार दो द्रव्यों में एकता प्राप्त हो जाती है, जिसे स्वीकार करना तर्क, आगम और अनुभव के सर्वथा विरुद्ध है। यही कारण है कि आगम में असद्भूत व्यवहार का लक्षण करते हुए लिखा है कि **अन्यत्र प्रसिद्ध धर्म का अन्यत्र समारोप करना असद्भूत व्यवहार है। उपचार भी इसी का दूसरा नाम है।** आलाप पद्धति में 'असद्भूत व्यवहारनय भिन्न वसतु को विषय करता है।' यह लक्षण भी इसी अभिप्राय से किया गया है। आलाप पद्धति के पूर्वोक्त कथन में और इस कथन में कोई अन्तर नहीं है, दोनों का आशय एक ही है। एक द्रव्य के धर्म का दूसरे द्रव्य के निराधार और निष्प्रयोजन आरोप करना असद्भूत व्यवहारनयाभास है और साधार सप्रयोजन आरोप करना समीचीन नय है। आकाश में वृक्ष के फूल का या गधे के सिर में गाय आदि के सींग का आरोप करना एक तो निष्प्रयोजन है। दूसरे आकाश में फूल के सदृश और गधे के सिर में सींग के सदृश कोई धर्म भी नहीं पाया जाता, इसलिए आकाश में फूल का और गधे के सिर में सींग का आरोप करना किसी भी अवस्था में सम्भव नहीं है। जहाँ यह ठीक है, वहाँ घटादि कार्यो में कुम्भकारादि के नैमित्तिकत्व धर्म का ओर कुम्भकारादि में घटादि के निमित्तत्व धन का समारोप करना भी ठीक है, क्योंकि एक द्रव्य की जिस परिणति के साथ दूसरे द्रव्य की जिस परिणति का नियम से एक साथ होने का योग है, उसकी सूचना उससे हो जाती है। इसी को कालप्रत्यासत्ति कहते है। साथ ही प्रत्येक द्रव्य में अपना-अपना निमित्तत्व (कारणत्व) और नैमित्तिकत्व (कार्यत्व) धर्म भी पाया जात है, यही कारण है कि आगम में असद्भूत व्यवहारनय के विषय को उपचरित बतलाया गया है। ये सब तथ्य अपर पक्ष के लिए अनवगत हों, ऐसी बात नहीं है, फिर नहीं मालूम कि वह क्यों ऐसे मार्ग का अनुसरण कर रहा है, जिससे आगम के अर्थ का विपर्यास होना सम्भव है।

वृहद्द्रव्यसंग्रह में असद्भूत व्यवहारनय के उपचरित और अनुपचरित ये तो भेद किये गये है, इसमें सन्देह नहीं, पर वहाँ इसके इन दो भेदों के करने का कारण क्या है—यह भी उस उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है। वहाँ परस्पर अवगाहनरूप संश्लेष सम्बन्ध को दिखलाने के लिए असद्भूत व्यवहार के पूर्व विशेषण रूप में अनुपचरित शब्द का प्रयोग हुआ है और

जहाँ इस प्रकार का एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध न होते हुए भी प्रयोजनवश कर्त्ता-कर्म आदि धर्मो का (एक-दूसरे में) समारोप किया गया है, वहाँ असद्भूत व्यवहार के पूर्व विशेषणरूप में उपचरित शब्द का प्रयोग हुआ है। इसी तथ्य को दूसरे रूप में आलापपद्धति में इन शब्दों में व्यक्त किया है—

तत्र संश्लेषरहितवस्तुसम्बन्धविषय उपचरितासद्भूतव्यवहारः, यथा देवदत्तस्य धनम्। संश्लेषरसहितवस्तुसम्बनध-विषयोऽनुपचरितासद्भूतव्यवहारः, यथा जीवस्य शरीरमिति।

उनमें से संश्लेषरहित वस्तुओं के सम्बन्ध को विषय करनेवाला उपचरित असद्भूत व्यवहार है, जेसे देवदत्त का धन। तथा संश्लेषसहित वस्तुओं के सम्बन्ध को विषय करनेवाला अनुपचरित असद्भूत व्यवहार है, जैसे जीव का शरीर।

यहाँ न तो देवदत्त का धन में रागभाव को छोड़कर अन्य कोई मेरापन है और न ही जीव का शरीर में रागभाव को छोड़कर अन्य कोई मेरापन है। जैसे धन पुद्गलद्रव्य का परिणाम है वैसे ही शरीर भी पुद्गलद्रव्य का परिणाम है। जीव तो चेतनद्रव्य है ही, देवदत्त नामवाला जीव भी चेतनद्रव्य है। अतएव इनका पुद्गल द्रव्यस्वरूप धन या शरीर के साथ वास्तविक क्या सम्बन्ध हो सकता है। अर्थात् कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। फिर भी देवदत्त धन को और जीव शरीर को मेरा मानता है, सो उसका एकमात्र कारण रागभाव ही है। अतएव देवदत्त और जीव का सच्चा संयोग रागभावरूप ही है, धन और शरीररूप नहीं। धन और शरीर का संयोग कहना उपचरित है तथा रागभाव का संयोग कहना यथार्थ है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए मूलाचार प्रथम भाग गाथा 48 की टीका में लिखा है -**अनात्मनीनस्यात्मभावः संयोगः।**

अनात्मीय वस्तुओं में आत्मभाव होना संयोग है।

इससे स्पष्ट है कि जीव में द्रव्यकर्म और शरीर का कर्तृत्व असद्भूत व्यवहाररूप अर्थात् उपचरित ही है, क्योंकि असद्भूत व्यवहार और उपचार, इन दोनों का एक ही आशय है। फिर भी इनमें एक क्षेत्रावगाहरूप संश्लेष का ज्ञान कराने के लिए यहाँ परा विशेषणरूप में अनुपचरित शब्द का प्रयोग हुआ है। किन्तु कुम्भकार ओर घट में एकक्षेत्रावगाहरूप भी संश्लेष सम्बन्ध नहीं है, इसलिए कुम्भकार में घट के कर्तृत्व की उपचरितासद्भूत व्यवहाररूप अर्थात् उपचरितोपचाररूप बतालाया है। बृहद्द्रव्यसंग्रह का आशय स्पष्ट है। समयसार आत्मख्याति गाथा 56 की टीका, नयचक्र संग्रह तथा आलाप पद्धति के कथन के प्रकाश में बृहद्द्रव्यसंग्रह के उक्त उल्लेख को पढ़ने पर अपर पक्ष को भी यह आशय स्पष्ट हो जायेगा, ऐसा

हमें विश्वास है। हाँ, यदि वह उक्त आगम प्रमाणों को लख्य में लिये बिना अपने मन से बृहद्द्रव्यसंग्रह के उक्त उल्लेख का दूसरा अर्थ करता है, जैसा कि उसकी ओर से प्रस्तुत प्रतिशंका में किया गया है तो उसका कोई चारा नहीं। हर अवस्था में हम तो यही अर्थ करेंगे जिसे समग्र आगम एक स्वर से स्वीकार करता है। आचार्य समन्तभद्र आप्तमीमांसा में लिखते हैं—

सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते॥ 15॥

ऐसा कौन है जो स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा सभी पदार्थों को सत्स्वरूप ही नहीं मानता और पररूपादि चतुष्टय की अपेक्षा असत्स्वरूप ही नहीं मानता, क्योंकि ऐसा स्वीकार नहीं करने पर, तत्त्व की अवस्था ही नहीं बन सकती॥ 15॥

इससे स्पष्ट है पृथक्भूत घट का कारणधर्म कुम्भकार में नास्तिरूप ही है और इसी प्रकार कुम्भकार का कार्य धर्म घट में नास्तिरूप ही है। निश्चय से (यथार्थ में) न कुम्भकार, घट का कर्त्ता है और न घट, कुम्भकार का कर्म है। समयसार आदि परमागम .... सत्य का उद्घाटन करता है। धन्य है वह जिनवाणी ओर धन्य है वे महापुरुष जिन्होंने इस परम सत्य का उद्घाटन कर जड़-चेतन प्रत्येक द्रव्य की स्वतन्त्रता और परिपूर्णता का मार्ग प्रशस्त किया है। यह वस्तुस्थिति है। इसे हृदय से स्वीकार करके जो व्यवहार पक्ष को जानने के इच्छुक हैं, उन्हें व्यवहार पक्ष का आशय और प्रयोजन समझने में देर नहीं लगती। उपचरित अर्थ को कल्पनारोपित कह कर उड़ाना अन्य बात है और अधिकतर लोक व्यवहार उपचरित अर्थ के आलम्बन से चलता है, इसे स्वीकार कर वस्तुस्थिति को हृदयंगम कर लेना अन्य बात है।

अपर पक्ष का कहना है कि '**ज्ञानावरणादि कर्मों और औदारिक आदि शरीरों का निर्माण जीव अपने से अपृथक् रूप में ही किया करता है तथा घट-पटादि का निर्माण वह अपने से पृथक् रूप में किया करता है।**' किन्तु अपर पक्ष का ऐसा लिखना कैसे असंगत है, इसके लिए समयसार कलश के इस वचन पर दृष्टिपात कीजिए—

कर्तृत्वं वन स्वभावोऽस्य चितो वेदियितृत्ववत्।
अज्ञानादेव कर्तायं तदभावादकारकः॥ 194॥

जैसे परपदार्थों का भोगना आत्मा का स्वभाव नहीं है, उसी प्रकार परपदार्थों का निर्माण करना भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। वह अज्ञान से ही कर्त्ता है, अज्ञान का अभाव होने पर अकर्त्ता है॥ 194॥

यहाँ यह **प्रश्न** किया जा सकता है कि अब तक यह जीव अज्ञानी है, तब तक तो उसे कर्म, नोकर्म और घटादि पदार्थों का कर्त्ता (निर्माण करनेवाला) मानना चाहिए। **समाधान** यह है कि अज्ञान से भी वह द्रव्यकर्मादि पदार्थों का निर्माण नहीं कर सकता। यहाँ उसे जो कर्त्ता कहा गया है, वह अपने विकल्पों का ही कर्त्ता कहा गया है, द्रव्यकर्म, नोकर्म और घटादि पदार्थों का नहीं। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए समयसार कलश में लिखा है—

विकल्पकः परं कर्ता विकल्पः कर्म केवलम्।
न जातु कर्तृ-कर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति॥ 95॥

विकल्प करनेवाला जीव ही केवल कर्त्ता है और विकल्प ही केवल कर्म (कार्य) है। जो जीव विकल्पसहित है, उसका कर्त्ता-कर्मपना कभी नष्ट नहीं होता॥ 95॥

इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

योगोपयोगायोस्त्वात्मविकल्पव्यापारयोः कदाचिदज्ञानेन करणादात्मपि कर्तास्तु तथापि न परद्रव्यात्मककर्मकर्ता स्यात्।

अपने विकल्प और व्यापाररूप योग तथा उपयोग (रागादिविकारयुक्त चैतन्यपरिणाम) को कदाचित् अज्ञान से करने के कारण उनका आत्मा भी कर्त्ता रही, तथापि परद्रव्यस्वरूप कर्म, नोकर्म और घट-पटादि कार्यों का वह त्रिकाल में निर्माण करनेवाला नहीं हो सकता।

इस प्रकार आचार्य वचन तो यह है कि जीव द्रव्यकर्म, नोकर्म और घट-पटादि पदार्थों का त्रिकाल में निर्माण नहीं कर सकता और अपर पक्ष कहता ही नहीं, लिखता भी है कि 'यह जीव अपने से अपृथक् रूप में द्रव्य कर्मों और औदारिक शरीरों का तथा पृथक् रूप में घट-पटादि का निर्माण किया करता है।' ऐसी अवस्था में सहज ही यह प्रश्न उठता है कि इनमें से किसे प्रमाण माना जाये? आचार्यों के पूर्वोक्त कथन को या अपर पक्ष के कथन को? पाठक विचार करें।

अपर पक्ष कहेगा कि आचार्यों ने उक्त वचनों द्वारा द्रव्यकर्म, नोकर्म ओर घट-पटादि पदार्थों का आत्मा निश्चय कर्त्ता है—ऐसा मानने का निषेध किया है, निमित्तकर्त्ता मानने का नहीं? समाधान यह है कि आगम में द्रव्य कर्मादि का निमित्तकर्त्ता अज्ञान से जो आत्मा को कहता है, वह किस नय की अपेक्षा कहा है इस तथ्य का विचार करने पर विदित होता है कि जहाँ-जहाँ इस प्रकार का कथन किया गया है, वह असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा ही

किया गया है और असद्भूत व्यवहार का अर्थ है—एक द्रव्य के गुण-धर्म को दूसरे द्रव्य पर आरोपित करना। उपचार भी इसी का नाम है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ-जहाँ एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का निमित्त कर्त्ता, प्रेरक कर्त्ता, परिणमानेवाला आदि शब्दों द्वारा कहा गया है, वह मात्र उपचारनय का आश्रय लेकर ही कहा गया है। वृहद्द्रव्यसंग्रह के उक्त उल्लेख का भी यही आशय है। अतएव अपर पक्ष के इस कथन को कि 'ज्ञानावरणादि कर्मों और औदारिक आदि शरीरों का निर्माण जीव अपने से अपृथक्रूप में ही किया करता है तथा घट-पटादि का निर्माण वह अपने से पृथक्रूप में किया करता है—यथार्थ न मानकर हमारे इस कथन को कि जब प्रत्येक द्रव्य सद्रूप है और उसको उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वभाववालाा माना गया है तो ऐसी अवस्था में उसके उत्पाद-व्यय को तत्त्वत: स्वयंकृत मान लेना ही श्रेयस्कर है। फिर भी इसके विरुद्ध उसे अन्य द्रव्य के कर्तृत्व पर छोड़ दिया जाये और यह मान लिया जाये कि अन्य द्रव्य जब चाहे उसमें किसी भी कार्य को उत्पन्न कर सकता है तो यह उसके स्वतन्त्र स्वभाव पर आघात ही है।'

आगे अपर पक्ष ने उपादान की कार्य के साथ अन्तर्व्याप्ति और निमित्त व्यवहार के योग्य बाह्य सामग्री की कार्य के साथ बाह्य व्याप्ति की चर्चा करके उपादान की कार्य के प्रति एक द्रव्य प्रत्यासत्तिरूप कारणता स्वीकार की है। किन्तु जब कि अपर पक्ष अपनी प्रतिशंका में यह स्वीकार करता है कि 'ज्ञानावरणादि कर्मों का और औदारिक आदि शरीरों का निर्माण जीव अपने से अपृथक् यप में ही किया करता है।' ऐसी अवस्था में उसका यह लिखना कि 'आचार्यों ने .... प्रत्येक कार्य में अपने .... निमित्तों के साथ बाह्य व्याप्ति स्वीकार की है'—कहाँ तक संगत कहा जा सकता है। क्या इस प्रकार परस्पर विरुद्ध कथन करते हुए वह पक्ष स्वयं अपने को आगम विरुद्ध कथन के रूप में अनुभव नहीं करता—इसका उस पक्ष को स्वयं विचार करना चाहिए। साथ ही उसे आगम का ऐसा प्रमाण देना था जहाँ उपादान की अपने कार्य के प्रति एक द्रव्य-प्रत्यासत्ति रूप कारणता बतलाई गई हो। किन्तु न तो ऐसा कोई आगम ही है, और न ऐसा ही है कि कार्य के प्रति उपादान की अन्तर्व्याप्ति का जैसा अर्थ और निमित्त व्यवहार के योग्य बाह्य सामग्री का जैसा अर्थ वह पक्ष करता है, वह भी आगम में स्वीकार किया गया है। जीव और पुद्गल अपने परलक्षी क्रिया-परिणाम के कारण जब पर से सम्पृक्त की भूमिका में विद्यमान रहता है, तब अपने क्रिया-परिणाम के काल में परका नियम से क्या क्रिया-परिणाम होता है, वह घोषित करना ही बाह्य व्याप्तिरूप अन्वय-

व्यतिरेक का प्रयोजन है। यही कारण है कि आचार्यों ने प्रत्येक कार्य के प्रति पर में निमित्तता को कालप्रत्यासत्ति के रूप में स्वीकार किया है। पर की प्रत्येक कार्य के प्रति उपकारी, सहायक, निमित्तकर्त्ता, परिणमानेवाला आदि शब्दों से जो कुछ भी कहा गया है, वह सब इसी अभिप्राय से कहा गया है। यदि स्वभावपर्याय ओर विभावपर्याय में कोई अन्तर है तो इतना ही है कि स्वभावपर्याय परलक्षी परिणमन नहीं है, जबकि विभावपर्याय परलक्षी परिणमन है। इस प्रकार इस विवेचन से स्पष्ट है कि प्रकृत में अन्तर्व्याप्ति और बाह्य व्याप्ति आदि की चर्चा करते हुए अपर पक्ष ने जो कुछ लिखा है, वह यथार्थ नहीं है।

हमने लिखा था कि 'द्रव्य अन्वयी होने के कारण जैसा नित्य है, उसी प्रकार व्यतिरेकी स्वभाववाला होने से प्रत्येक समय में वह उत्पाद-व्यय स्वभाववाला भी है, अतएव प्रत्येक समय में वह कार्य का उपादान भी है और कार्य भी। पिछली पर्याय की अपेक्षा जहाँ वह कार्य है, अगली पर्याय के लिए वहाँ वह उपादान भी है।'

इस पर अपर पक्ष कहता है कि 'हम भी ऐसा मानते हैं।' किन्तु यह बात नहीं है, क्योंकि यदि वह ऐसा मानता होता तो वह पक्ष उपादान में मात्र एक द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप कारणता को स्वीकार न कर, एक द्रव्य-भावप्रत्यासत्तिरूप कारणता को स्वीकार कर लेता, क्योंकि आचार्यों ने भी एक द्रव्य-भावप्रत्यासत्तिरूपता को ही उपादानकारण सर्वत्र स्वीकार किया है। आचार्य विद्यानन्दि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. 68 पर लिखते हैं—

दर्शनपरिणामपरिणतो ह्यत्मा दर्शनम्, तदुपादानम्, विशिष्टज्ञानपरिणामस्य निष्पत्तेः। पर्यायमात्रस्य निरन्वयस्य जीवादिद्रव्यमात्रस्य च सर्वथोपादानत्वायोगात् कूर्मरोमादिवत्।

दर्शन परिणाम से परिणत आत्मा नियम से दर्शन है, वह उपादान है, क्योंकि उससे विशिष्ट ज्ञानपरिणाम की उत्पत्ति होती है। जैसे कूर्मरोमादि असत् होने से उपादान नहीं हो सकते, उसी प्रकार निरन्वय पर्यायमात्र और जीवादि द्रव्यमात्र किसी भी प्रकार उपादान नहीं हो सकते।

यह समर्थ उपादान का स्वरूप है। यदि वह इस स्वरूप को हृदय से स्वीकार कर ले तो ही उसकी ओर से हमारे पूर्वोक्त कथन का स्वीकार कहा जायेगा और ऐसी अवस्था में उसकी ओर से यहाँ पर जो कुछ भी कल्पनावश लिखा गया है, उसे वह पक्ष स्वयं बदल देगा। तब वह पक्ष इस तथ्य को हृदय से स्वीकार कर लेगा कि 'प्रत्येक समय में प्रत्येक द्रव्य में न तो केवल एक द्रव्य प्रतयासत्तिरूप से उपादानता है और न ही केवल भावप्रत्यासत्तिरूप

से उपादानता है। किन्तु एक द्रव्य-भाव प्रत्यासत्ति में उपादानकारणता होने से जिस समय जो द्रव्य उभयरूप से उपादान बन कर जिस कार्य के सन्मुख होता है, उस समय उसमें निमित्त व्यवहार के योग्य बाह्य सामग्री का सहज योग मिलता ही है।'

अपर पक्ष पूछता है कि 'यह जो क्षेत्र परिवर्तन इस मिट्टी का हुआ, वह क्या खान में पड़ी हुई उस मिट्टी की क्षणिक पर्यायों के क्रम से हुआ?' समाधान यह है कि जीव और पुद्गल में दो प्रकार की शक्ति आगम स्वीकार करता है - एक क्रियावतीशक्ति और दूसरी भववतीशक्ति। यही कारण है कि इन दोनों द्रव्यों में यथासम्भव दो प्रकार का भाव स्वीकार किया गया है—एक परिस्पन्दात्मक और दूसरा अपरिस्पन्दात्मक। इनमें से परिस्पन्दात्मक भाव को क्रिया कहते हैं और अपरिस्पन्दात्मक भाव को परिणाम कहते हैं। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए तत्त्वार्थवार्तिक अ. 5, सू. 22 वार्तिक 21 में लिखा है—

द्रव्यस्य हि भावो द्विविधः - परिस्पन्दात्मकः अपरिस्पन्दात्मकश्च। तत्र परिस्पन्दात्मकः क्रियेत्याख्यायते इतरः परिणामः।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. 398 में भी क्रिया का यही लक्षण करते हुए लिखा है—

द्रव्यस्य हि देशान्तरप्राप्तिहेतुः पर्यायः क्रिया, न सर्वः।

इस प्रकार भाव के दो प्रकार के सिद्ध हो जाने पर यहाँ पर गति और स्थिति का विचार करना है। इसका लक्षण बतलाते हुए सवार्थसिद्धि अ. 5, सू. 17 में कहा है—

देशान्तरप्राप्तिहेतुर्गतिः।

जो देशान्तर की प्राप्ति में हेतु है, उसका नाम गति है।

उक्त सूत्र की व्याख्या के प्रसंग में तत्त्वार्थवार्तिक में गति का लक्षण इस प्रकार किया है—

द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः परिणामो गतिः।1। द्रव्यस्य बाह्यान्तरहेतुसन्निधाने सति परिणममानस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः परिणामो गतिरित्युच्यते।

द्रव्य के देशान्तर में प्राप्ति के हेतुभूत परिणाम का नाम गति है।1। बाह्य और अभ्यान्तर हेतु के सन्निधान होने पर परिणमन करते हुए द्रव्य के देशान्तर में प्राप्ति के हेतुभूत परिणाम को गति कहा जाता है।

गति के विषय में विचार करते हुए हमें क्रिया के स्वरूप पर विस्तार से दृष्टिपात करना

होगा। इस सम्बन्ध में तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक अ. 5, सू. 22 में लिखा है—

परिस्पन्दात्मको द्रव्यपर्यायः संप्रतीयते।
क्रिया देशान्तरप्राप्तिहेतुर्गत्यादिभेदकृत्॥ 3॥

गत्यादि भेद को करनेवाली देशान्तर प्राप्ति में हेतुभूत जो परिस्पन्दात्मक द्रव्यपर्याय है, उसे क्रिया जानना चाहिए॥ 39॥

यह परिस्पन्दात्मक क्रिया जीवों और पुद्गलों दो द्रव्यों में ही होती है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए प्रवचनसार में लिखा है—

पुद्गलास्तु परिस्पन्दस्वभावत्वात्परिस्पन्देन भिन्नाः संघातेन संहताः पुनर्भेदेनोत्पद्यमाना-वतिष्ठमानभज्यमानाः क्रियावन्तश्च भवन्ति। तथा जीवा अपि परिस्पन्दस्वभावत्वात्परिस्पन्देन नूतनकर्मनोकर्मपुद्गलेभ्यो भिन्नास्तैः सह संघातेन संहताः पुनर्भेदनोत्पद्यमानावतिष्ठमान-भज्यमानाः क्रियावन्तश्च भवन्ति॥ 129॥

पुद्गल तो क्रियावाले भी होते हैं, क्योंकि परिस्पन्द स्वभाव के होने से परिस्पन्द के द्वारा, पृथक् अवस्थित पुद्गल संघातरूप से और संघातरूप पुद्गल पुनः भेदरूप से उत्पन्न होते हैं, ठहरते हैं और नष्ट होते हैं तथा जीव भी क्रियावाले होते हैं, क्योंकि परिस्पन्द स्वभाववाले होने से परिस्पन्द के नवीन कर्म और नोकर्म से भिन्न जीव उनके साथ मिलने से तथा उनके साथ मिले हुए जीव पुनः भिन्न होने से वे उत्पन्न होते हैं, ठहरते हैं और नष्ट होते हैं॥ 129॥

इन प्रमाणों से ज्ञात होता है कि पुद्गलों और जीवों की जो परिस्पन्द लक्षण क्रिया होती है, गति भी उसी का विशेष है। इसलिए यहाँ भी जो प्रतिसमय परिस्पन्दरूप परिणाम होता है, उसका बाह्य हेतु काल है तथा उसके क्षेत्र से क्षेत्रान्तररूप होने में बाह्य हेतु धर्मद्रव्य है।

इस प्रकार उक्त विवेचन से यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि जीवों और पुद्गलों में जो भी क्रियालक्षण परिणाम और भावलक्षण परिणाम होता है, वह सब क्षणिक पर्यायों के क्रम से ही होता है। इन्हीं दोनों प्रकार के परिणामों के कारण दो परमाणु मिलकर द्व्यणुक बनते हैं। अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध बनने का भी यही तरीका है। मिट्टी उसका अपवाद नहीं। अपनी क्रियालक्षण या भावलक्षण पर्याय सन्तति में वह जिस समय क्षेत्रान्तरित होनेरूप या पिण्ड, स्थासादि बननेरूप कार्य का उपादान होती है, उस समय वह अपने परिणमने के अनुरूप प्रायोगिक या वैस्रसिक बाह्य निमित्तों को प्राप्त कर स्वयं परिणमती रहती है।

बुद्धिदोषवश यदि कोई मिट्टी आदि की प्रतिसमय होनेवाली इस आन्तरिक क्रियालक्षण और भावलक्षण उपादान योग्यता को न जानकर केवल बाह्य सामग्री के आधार से उसमें होनेवाले कार्यों की सिद्धि करता है तो वह वस्तुतः एकान्त से व्यवहारपक्ष का आग्रही होने से कार्य-कारण परम्परा के प्रति अनभिज्ञ ही कहा जायेगा। स्पष्ट है कि मिट्टी का खेत से कुम्भकार को निमित्त कर क्षेत्रान्तरित होना, जलादि को निमित्त कर पिण्डरूप परिणमना, कुम्भकार, चक्र, चीवरादि को निमित्त कर स्थासादिरूप परिणमते हुए घटरूप बनना या दण्डादि को निमित्त कर अनेक भागों में विभक्त होना आदिरूप जिस समय जो भी क्रिया लक्षण या भाव लक्षण परिणाम होता है, वह उस-उस समय के उपादान के अनुसार ही होता है और उस-उस समय निमित्त व्यवहार के योग्य बाह्य सामग्री भी उस-उस परिणाम के अनुकूल मिलती है। किसी भी द्रव्य में ऐसा एक भी परिणाम नहीं होता जो प्रतिसमय होनेवाले परिणामक्रम के अन्तर्गत न आता हो। **एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के किसी प्रकार की करामात कर सके - ऐसा तो त्रिकाल में सम्भव नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में करामात करता है, यह कहना तो अति दूर की बात है, ऐसी करामात तो एक ही द्रव्य भिन्न समय में स्थित होकर उससे भिन्न समय के कार्य की अपेक्षा स्वयं अपने में नहीं कर सकता।** उत्पादादि त्रिलक्षण वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है, उसमें चारा किसका। प्रत्येक उत्पाद-व्यय लक्षण परिणाम अपने-अपने काल में होता है, इसके लिए प्रवचनसार गाथा 99 की आचार्य अमृतचन्द्रकृत टीका द्रष्टव्य है। वहाँ लिखा है—

तथैव ते परिणामाः स्वावसरे स्वरूपपूर्वरूपाभ्यामुत्पन्नोच्छन्नत्वात्सर्वत्र परस्परानुस्यूति-सूत्रितैकप्रवाहतयानुतपन्नप्रलोनत्वाच्च संभूतिसंहारध्रौव्यात्मकमात्मानं धारयन्ति।

उसी प्रकार वे परिणाम अपने काल में स्व-रूप से उत्पन्न और पूर्व-रूप से विनष्ट होने के कारण तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति से सूत्रित एक प्रवाहपने की अपेक्षा अनुत्पन्न-अविनष्ट होने के कारण उत्पत्ति, संहार और ध्रौव्यस्वरूप को धारण करते हैं।

इस उल्लेख में आया हुआ '**स्वावसरे**' पद ध्यान देने योग्य है। जब कि द्रव्य-पर्यायात्मक प्रत्येक उपादान अपने प्रतिनियत कार्य का सूचक है और उनकी उत्पत्ति में प्रतिनियत बाह्य सामग्री का ही योग मिलता है, ऐसी अवस्था में प्रत्येक कार्य प्रतिनियत काल में ही होता है, यही उक्त वचन से सुनिश्चित ज्ञात होता है। आगम से तो इसमें सन्देह करने के लिए कोई गुंजाइश रहती नहीं, तर्क और अनुभव से भी यही सिद्ध होता है। विशेष स्पष्टीकरण पूर्व में विस्तार से किया है।

अपर पक्ष प्रत्येक कार्य के प्रति बाह्य सामग्री का उपयोग जानना चाहता है, सो उसका यह उपयोग तो त्रिकाल में नहीं हो सकता कि वह अपने से भिन्न दूसरे द्रव्य के कार्य को स्वयं कर्त्ता बनकर उत्पन्न करे। हाँ, उसका इतना उपयोग अवश्य है कि उससे हमें दूसरे द्रव्य में उस समय होनेवाले कार्य की सूचना अवश्य मिल जाती है। इससे हम यह जान सकते हैं कि इस समय इस प्रकार का उपादान होकर इस द्रव्य ने अपना यह कार्य किया है। कोई भी अल्पज्ञानी रागी मनुष्य जितने रूप में इस अवस्था को जानता है, उतने रूप में यह बाह्याभ्यन्तर सामग्री को विकल्प और योगक्रियारूप से जुटाने का प्रयत्न अवश्य करता है। बाह्याभ्यन्तर सामग्री का उसके विकल्प और योगक्रिया के अनुरूप योग मिलना और न मिलना उसके हाथ में नहीं है। इच्छानुसार बाह्याभ्यन्तर सामग्री का योग मिल गया तो रागवश अपनी सफलता मानता है, अन्यथा खेदखिन्न होता है। वह जानता है कि अमुक कुम्भकार अच्छा घड़ा बनाता है। उसकी प्रार्थना को कुम्भकार स्वीकार भी कर लेता है। वह वैसी योजना भी करता है, फिर भी उसकी इच्छानुसार घड़ा नहीं बनता या बनाता ही नहीं, क्यों? इसलिए नहीं कि बाह्य सामग्री नहीं थी। बल्कि इसलिए कि मिट्टी की उस समय घटरूप परिणमने की द्रव्य-पर्यायरूप उपादान योग्यता ही नहीं थी। कुम्भकार विचारा या अन्य बाह्य सामग्री उसमें क्या कर सकते थे? इसी को कहते हैं उपादान के कार्य में निमित्त-व्यवहार के योग्य बाह्य सामग्री का अकिंचित्करपना। ऐसी अवस्था में अपर पक्ष ही बतलावे कि अपर पक्ष ने अपनी कल्पना से जो समस्याएँ खड़ी की हैं, वे हमारे निश्चयनय से किये गये इस कथनरूप कि 'उपादान से ही कार्य उत्पन्न हो जाता है, निमित्त तो वहाँ पर अकिंचित्कर ही बना रहता है।' खण्डन करती है या मण्डन? विचार कर देखा जाय तो अपर पक्ष ने जो समस्याएँ खड़ी की हैं, उनसे हमारे उक्त कथन का मण्डन ही होता है, खण्डन नहीं।

हमने अपने पिछले उत्तर में लिखा थाा कि 'लौकिक उदाहरणों को उपस्थित कर अपनी चित्तवृत्ति के अनुसार कार्यकारण परम्परा को बिठलाना उचित नहीं है।' तथा इसी प्रसंग में हमने समयसार कलश का 'आसंसारत एव धावति' इत्यादि कलश भी उपस्थित किया था।

इस पर अपर पक्ष का कहना है कि 'लोक में अधिकांश ऐसी प्रवृत्ति देखी जाती है कि प्राणी मोहकर्म के उदय के वशीभूत होकर अपने निमित्त से होनेवाले कार्यों में अपने अन्दर अहंकार का विकल्प पैदा करता रहता है, जो मोहभाव होने के कारण बन्ध का कारण है, अतएव त्याज्य है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि अपने निमित्त से होनेवाले कार्यों

में अपनी निमित्तता का ज्ञान होना असत्य है। यदि अपने निमित्त से होनेवाले कार्यों में अपनी निमित्तता का ज्ञान भी असत्य हो जाय तो फिर मनुष्य किसी कार्य के करने में प्रवृत्त भी कैसे होगा? कुम्हार को यदि समझ में आ जाये कि घड़े का निर्माण खान में पड़ी हुई मिट्टी से अपनी क्रमवर्ती क्षणिक पर्यायों के आधार पर स्वतः समय आने पर हो जायगा तो फिर उसमें तदनुकूल पुरुषार्थ करने की भावना ही जागृत क्यों होगी?' आदि।

समाधान यह है कि किस कार्य में कौन निमित्त है, इसका ज्ञान होना अन्य बात है और उपादान को मात्र द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप स्वीकार करके, जब जैसे बाह्य निमित्त मिलते हैं, तब उनके अनुसार कार्य होता है, ऐसा मानना अन्य बात है। कोई भी समझदार कुम्भकार घटनिर्माण का विकल्प भी करता है, तदनुकूल व्यापार भी करता है और इसके लिए घट के योग्य मिट्टी का परिग्रह भी करता है। तदनुकूल आगे के व्यापार में भी जुटता है, पर उसे यह ज्ञान होता है कि यह मिट्टी घट पर्याय से परिणत होनेवाली होगी तो ही होगी, में तो निमित्तमात्र हूँ और घट कार्य में तब निमित्तमात्र हूँ जब मिट्टी स्वयं घट कार्य के सन्मुख हो। मिट्टी के संग्रह में निमित्त होते समय, उसे अपने घर तक क्षेत्रान्तरित होने में निमित्त होते समय तथा जल और मिट्टी के संयोग आदि में निमित्त होते समय जो मेरे मन में घट बनाने का विकल्प है और उस विकल्प को ध्यान में रखकर जो मैं अपने को वर्तमान में घट बनाने का निर्माता कहता हूँ, वह केवल भावी नैगमनय की उपेक्षा असद्भूत व्यवहार वचन ही कहता हूँ। इस प्रकार जिसे भूतार्थ का ज्ञान है, वही अनेक असत् विकल्पों से अपनी रक्षा कर सकता है, अन्य नहीं और वह ही अनेक असत् विकल्पों को निमित्त कर होनेवाले बन्ध से अपनी रक्षा कर सकता है, अन्य नहीं। मिट्टी ही स्वयं घट बनती है, अन्य नहीं। पर वह किस अवस्था में घट बनती है, इसे विवेकी अच्छी तरह जानते हैं। विवेकी यह भी अच्छी तरह जानते हैं कि घट पर्याय के सन्मुख हुई मिट्टी ही घट का उपादान है, खान में पड़ी हुई मिट्टी नहीं। यदि कोई कुम्भकार खान में पड़ी हुई मिट्टी को वर्तमान में घट का उपादान समझ ले तो अपनी ऐसी खोटी समझ के लिए स्वयं पश्चाताप करना पड़ेगा या वह निर्णय कर ले कि इसे मेरी इच्छानुसार परिणमना पड़ेगा तो भी उसे कदाचित् पश्चाताप करना पड़ेगा।

कोई मूढ़ छात्र, अध्यापक के मुख से पाठ सुने, उनकी सेवा करे, 'न हि कृतमुपकारं' इत्यादि वचन का अक्षरशः पालन करे, परन्तु स्वयं अभ्यास न करे तो वह मूढ़ ही बना रहेगा, स्वयं विद्वान् न बन सकेगा। अध्यापक तो तब निमित्तमात्र है, जब वह छात्र अपनी मूढ़ता को छोड़ कर स्वयं अभ्यास के सन्मुख होता है। इसी प्रकार प्रकृत में जानना चाहिए।

कुम्भकारादि तब निमित्तमात्र है, जब मिट्टी स्वयं अपने उत्तरोत्तर होनेवाले परिणामों द्वारा स्वयं घट परिणाम के सन्मुख होकर घटरूप परिणमती है। अपर पक्ष ने जितने उदाहरण दिये हैं वे सब लौकिक इसलिए हैं, क्योंकि वह पक्ष अपनी रुचि से उपादान को एक द्रव्य प्रत्यासत्तिरूप लिखकर उसे आगम सिद्ध करना चाहता है और उसे आधार बनाकर कार्यकारणभाव की व्यवस्था बनाना चाहता है। स्पष्ट है कि अपर पक्ष ने '**आ संसारत एव**' इत्यादि कलश के आधार पर जो विचार प्रस्तुत किये हैं वे कार्य-कारणभाव की यथार्थ व्यवस्था को स्पर्श नहीं करते, अतः त्याज्य हैं। यद्यपि उक्त कलश का आशय अन्तस्तम का उच्छेद करनेवाला होने से अतिमूढ़ है, परन्तु यहाँ पर हमने प्रयोजनीय मात्र इतना आशय लिया है। उसका यथार्थ अर्थ ग्रहण करने पर तो 'मैं इस कार्य में निमित्त हूँ' यह विकल्प भी बन्ध का कर्त्ता होने से हेय है। यह जीव भूतार्थ के परिग्रह द्वारा स्वयं ज्ञानपन होकर बन्धन से मुक्त हो जाये, तब तो कहना होगा कि इसने आत्मनिधि का ही साक्षात्कार कर लिया। वहाँ इस विकल्प को स्थान कहाँ। अस्तु।

हमने अपने पिछले उत्तर में '**उपादानस्य उत्तरोभवनात्**' का आशय स्पष्ट किया था। अपर पक्ष का कहना है कि 'वह उत्तर पर्याय निमित्तसापेक्ष उत्पन्न नहीं होती ऐसा निर्णय तो उक्त वाक्य से नहीं किया जा सकता है।' अपने इसी कथन की पुष्टि में अपर पक्ष ने '**वचनसामर्थ्याद-ज्ञानादिर्दोषः**' (अष्ट. पृ. 51) इत्यादि वचन भी उद्धृत किया है।

यद्यपि अपर पक्ष ने इस वचन को अपने पक्ष में समझकर उपस्थित किया है, परन्तु इससे यथार्थ पर प्रकाश पड़ने में बड़ी सहायता मिलती है, इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि इसमें एक द्रव्यप्रत्यासत्ति को उपादान न कहकर अपने पूर्व (अनन्तर पूर्व) परिणाम को उपादान कहा गया है। यहाँ पर 'पूर्वस्वपरिणाम' पद से जहाँ असाधारण द्रव्यप्रत्यासत्ति का ज्ञान हो जाता है, वहाँ समनन्तर पूर्व पर्यायप्रत्यासत्ति का भी ग्रहण हो जाता है। ऐसी अवस्था में प्रत्येक समय में उस-उस पर्याययुक्त द्रव्य अगले समय का उपादान होता है और जिसका वह उपादान होता है, उससे अगले समय में उसी कार्य को जन्म देता है तथा कार्यकाल में बाह्य सामग्री भी उसी के अनुकूल मिलती है। इस तथ्य की पुष्टि होकर प्रत्येक कार्य का स्वकाल निश्चित हो जाता है। अपर पक्ष यदि इस तथ्य को स्वीकार कर ले तो प्रत्येक कार्य में निमित्त व्यवहार के योग्य बाह्य सामग्री का क्या स्थान है, इसका निर्णय करने में आसानी हो जाये।

आगम में 'बाह्य दण्डादिसापेक्ष मिट्टी ही स्वयं' ऐसा कथन आता है। इस पर से अपर

पक्ष का ख्याल है कि उपादान को निमित्त व्यवहार के योग्य बाह्य सामग्री को तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है, जब तक वह प्राप्त न हो जाये। किन्तु देखना यह है कि आगम में 'बाह्य दण्डादिसापेक्ष' यह या इसी प्रकार के अन्य वचन किस दृष्टि से लिखे गये हैं। क्या कोई भी वस्तु अपना कार्य करते समय सहकारी मानकर अन्य बाह्य सामग्री की प्रतीक्षा करती है या यह नयवचन है ? जो मात्र इस बात को सूचित करता है कि अमुक प्रकार के कार्य में अमुक प्रकार की आभ्यन्तर उपाधि के साथ अमुक प्रकार की बाह्य उपाधि नियम से होती है। आगम (पंचास्तिकाय गाथा 100) में व्यवहारकाल को 'परिणामभव' कहा है। इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

तत्र व्यवहारकालो निश्चयकालपर्यायरूपोऽपि जीवपुद्गलानां परिणामेनावच्छिद्य-मानत्त्वात्तत्परिणामभव इत्युपगीयते। जीवपुद्गलानां परिणामस्तु बहिरंगनिमित्तभूत-द्रव्यकालसद्भावे सति सम्भूत्वाद् द्रव्यकालसम्भूत इत्ययमिधीयते। तत्रेदं तात्पर्यम् व्यवहार कालो जीवपुद्गलपरिणामेन निश्चीयते, निश्चयकालस्तु तत्परिणामान्यथानुपपत्त्येति।

वहाँ व्यवहारकाल, निश्चयकाल को पर्यायस्वरूप होकर भी जीवों और पुद्गलों के परिणाम से ज्ञात होने के कारण 'वह जीवों और पुद्गलों के परिणाम से उत्पन्न होता है' ऐसा कहा जाता है। तथा जीवों और पुद्गलों का परिणाम तो बहिरंग निमित्तभूत द्रव्यकाल के सद्भाव में उत्पन्न होने के कारण 'द्रव्यकाल से उत्पन्न हुआ है' ऐसा कहा जाता है।

पंचास्तिकाय गाथा 23 की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसी विषय को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

यस्तु निश्चयकालपर्यायरूपी व्यवहारकालः स जीवपुद्गलपरिणामेनाभिव्यज्य-मानत्वाततत्तदायत्तएवाभिगम्यत ऐवति।

और जो निश्चयकाल की पर्यायरूप व्यवहारकाल है, वह जीव-पुद्गलों के परिणाम से अभिव्यज्यमान होने के कारण उस (जीव-पुद्गल के परिणाम) के अधीन ही है - ऐसा ज्ञात होता ही है।

अब देखना यह है कि यहाँ पर जो व्यवहारकाल को जीव-पुद्गलों के परिणाम से उत्पन्न होनेवाला या उनके परिणाम के अधीन कहा गया है, वह एक समयमात्र व्यवहारकाल कितना है, इस बात का ज्ञान करने के अभिप्राय से कहा गया है या यथार्थ में व्यवहारकाल की उत्पत्ति जीव-पुद्गलों के परिणाम से होती है, यह जताने के लिए कहा गया है। दूसरा

पक्ष तो ठीक नहीं, क्योंकि स्वयं आचार्य ने पूर्वोक्त उल्लेख द्वारा उसका निषेध किया है। प्रथम पक्ष के स्वीकार करने पर यही सिद्ध होता है कि किस कार्य के होने में कौन बाह्य वस्तु निमित्त व्यवहार को प्राप्त होती है या जिस समय जो भी कार्य होता है, उसका ज्ञान बाह्य और आभ्यन्तर उपाधि के द्वारा होने के कारण उनके साथ कार्य के अन्वय-व्यतिरेक का ज्ञान करने के लिए व्यवहारनय से आगम में '**उभयनिमित्तसापेक्ष**' या '**बाह्यदण्डादिनिमित्तसापेक्ष**' इत्यादि कथन किया गया है।

किसी भी कार्य में अन्य किसी की अपेक्षा रहती हो—ऐसा तो वस्तुस्वरूप ही नहीं है, वह तो स्वत:सिद्ध होता है। उदाहरण के लिए सद्सत्यस्वरूप वस्तु को लीजिए। वस्तु का यह स्वरूप है, जो नियम से परनिरपेक्ष है। फिर भी वस्तु में अस्तित्व धर्म की सिद्धि स्वचतुष्टय की अपेक्षा की जाती है और नास्तित्व धर्म की सिद्धि परचतुष्टय की अपेक्षा की जाती है। इसका अर्थ यह नहीं कि प्रत्येक वस्तु में अस्तित्व धर्म स्वचतुष्टय की अपेक्षा रहता है और नास्तित्व धर्म परचतुष्टय की अपेक्षा रहता है। यदि ऐसा माना जाये तो सद्सत्स्वरूप वस्तु ही नहीं बनेगी। अत: प्रत्येक वस्तु को सद्सत्स्वरूप परनिरपेक्ष सत्सिद्ध मानना चाहिए। यही कथन परमार्थ सत्य है, अन्य सब व्यवहार हैं। उसी प्रकार प्रकृत में जानना चाहिए।

यही कारण है कि कर्त्ता, कर्म और क्रिया इन तीनों में वस्तुपने से अभेद सूचित करके परमागम ने इस परमार्थ सत्य का उद्घाटन किया है कि जिस समय वस्तु जिसरूप परिणमती है, वह तन्मय होती है। इसे निश्चय कथन कहने का यही कारण है। किन्तु समय भेद से किस समय प्रत्येक वस्तु किस रूप परिणमती है, इसकी सिद्ध का उपाय क्या—यह बतलाने के लिए आगम में बाह्य और आभ्यन्तर उपाधि के आधार से उसकी सिद्धि की गई है और यह कहा गया है कि जिस बाह्य और आभ्यन्तर उपाधि के साथ जिस कार्य द्रव्य का अन्वय-व्यतिरेक मिले, उसे उसका कारण कहना चहिए और इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर आगम में यह वचन उपलब्ध होता है कि – '**यदनन्तरं यद्भवति तत्तत्कारणमितरत्कार्यम्।**' स्पष्ट है कि कार्य की सिद्धि की विवक्षा में '**उभयनिमित्तसापेक्ष**' इत्यादि वचन प्रयोजनवान् है, स्वरूप के उद्घाटन में नहीं। निश्चयनयवचन स्वरूप उद्घाटन करता है, इसलिए यथार्थ है और व्यवहारनयवचन स्वरूप का उद्घाटन न करके उसका कर्त्ता पर को कहता है, इसलिए उपचरित है। इसमें भेद विवक्षा में सद्भूत व्यवहारवचन का तथा सर्वथा भेदविवक्षा में असद्भूत व्यवहारवचन का दोनों का परिग्रह हो जाता है। यह सापेक्ष कथन का थोड़े में

खुलासा है। इसे स्पष्ट रूप से समझने के लिए अपर पक्ष आप्ततमीमांसा कारिका 75 और उस पर लिखी गई अष्टशती तथा अष्टसहस्री टीका पर दृष्टिपात करेगा - ऐसा हमें विश्वास है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने **'जीवपरिणामहेदु'** यह वचन इसलिए नहीं लिखा है कि जीव के परिणाम कर्म को उत्पन्न करते हैं और कर्म, जीव के परिणामों को उत्पन्न करते हैं। किन्तु किस जीव के परिणाम के साथ कर्म की और किस कर्म परिणाम के साथ जीव परिणाम के होने की बाह्य व्याप्ति है, मात्र इसकी सिद्धि इस वचन द्वारा की गई है और तभी यथार्थता का ज्ञान कराते हुए अगली गाथा में यह लिख दिया है कि कर्म, जीवपरिणाम को उत्पन्न नहीं करता और जीव, कर्मपरिणाम को उत्पन्न नहीं करता। जो जिसकी सिद्धि का हेतु है, उसमें निमित्त व्यवहार करना अन्य बात है और उसे उसका यथार्थ कर्त्ता मान बैठना अन्य बात है। यह तो महामिथ्यात्व है।

इसी प्रसंग में अपर पक्ष ने लिखा है कि—'असंख्यातप्रदेशी जीव को जब जैसा शरीर मिलता है, तब उसे उस रूप परिणमना पड़ता है।' और साथ ही इसे आगम कथन बतलाकर यह भी लिख दिया है कि 'इसे हम स्वीकार करते हैं।' इसका हमें आश्चर्य है। वास्तव में यह हमारा कथन नहीं है, किन्तु अपर पक्ष की उस मान्यता का संक्षिप्त उल्लेख है, जिसका निर्देश अपर पक्ष ने इसी प्रश्न के द्वितीय दौर के समय अपनी प्रतिशंका में किया है जो इस प्रकार है—'तीसरी बात यह है कि असंख्यात प्रदेशी जीव, शरीरपरिमाण के छोटे-बड़े होने से आकार में छोटा-बड़ा बन जाता है। यदि जीव को शरीर के प्रभाव से रहित माना जायेगा, तब यह बात भी नहीं बन सकेगी और इस प्रकार आगम का विरोध होगा।'

अपर पक्ष ने यहाँ पर अन्य जितना कुछ लिखा है, उसमें ऐसी कोई बात नहीं जिस पर विशेष ध्यान दिया जाये। अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर शरीरादि बाह्य सामग्री का कार्य के प्रति क्या स्थान है, इसका विस्तार के साथ खुलासा हमने किया ही है। अपर पक्ष यदि आगम को हृदयंगम करके विवाद समाप्त कर ले तो उसका हम स्वागत ही करेंगे। निमित्त व्यवहार के योग्य परद्रव्य दूसरे द्रव्य के कार्य में यत्किंचित् भी सहकारिता करता है—ऐसी मान्यता ही मिथ्या है। आगम की ऐसी ही आज्ञा है कि—

एवं च सति मृत्तिकायाः स्वस्वभावानतिक्रमान्न कुम्भकारः कुम्भस्योत्पादक एव, मृतिकैव कुम्भकारस्वभावमस्पृशन्ती स्वस्वभावेन कुम्भभावेनोत्पद्यते।

- समयसार गा. 372, आचार्य अमृतचन्द्रकृत टीका

ऐसा होने पर मिट्टी अपने स्वभाव को उल्लंघन नहीं करती, इसलिए कुम्हार घट का उत्पादक ही नहीं है, मिट्टी ही कुम्हार के स्वभाव को स्पर्श न करती हुई अपने स्वभाव कुम्भरूप से उत्पन्न होती है।

यदि अपर पक्ष '**जब कुम्हार घट बनाने का विकल्प कर रहा था तथा उसके अनुकूल व्यापार कर रहा था उस समय मिट्टी स्वयं घटरूप परिणमी इतना ही सहाकारिता का अर्थ करता है तो बात दूसरी है।**' आचार्यों ने इसे ही कालप्रत्यासत्ति शब्द द्वारा स्वीकार किया है।

अपर पक्ष ने '**तादृशी जायते बुद्धिः**' इस वचन की पेट भर आलोचना करते हुए इसे जैन संस्कृति की मान्यता के विरुद्ध घोषित किया है, इसे उस पक्ष का अतिसाहस ही कहा जाएगा। इस सम्बन्ध में उस पक्ष का कहना है कि—'पद्य में कार्य के प्रति भवितव्यता के साथ-साथ कारणभूत जिन बुद्धि व्यवसाय आदि का उल्लेख किया गया है, उनकी उत्पत्ति अथवा सम्प्राप्ति को उसी भवितव्यता की दया पर छोड़ दिया गया है जो इस कार्य की जननी है। बस, यही उसमें असंगति है और इसलिए वह जैन संस्कृति की मान्यता के विरुद्ध है।'

इस सम्बन्ध में हम अपर पक्ष से अधिक क्या कहें, इतना ही कहना चाहते हैं कि वह पक्ष व्यामोह में पड़कर यदि ऐसी गैरजिम्मेदारी की टीका न करता तो वह जैन संस्कृति की सबसे बड़ी सेवा होती। इसे जैन परम्परा के आधारस्तम्भ भगवान् अकलंकदेव ने एकान्त पुरुषवाद का निषेध करने के प्रसंग से उद्धृत किया है, इसे नहीं भूलना चाहिए और जब उन जैसे समर्थ आचार्य ने इसे उद्धृत किया है तो इसमें सन्देह नहीं कि उन्हें इसमें जैन मान्यता के समग्र बीज दृष्टिपात हुए होंगे। प्रत्येक कार्य के प्रति जितने भी कारण स्वीकार किये गये है, उनमें भवितव्यता या योग्यता मुख्य है, क्योंकि वह कार्य को उत्पन्न करने के लिए द्रव्यगत आन्तरिक शक्ति है। इसी तथ्य को स्वामी समन्तभद्र ने स्वयंभूस्तोत्र में इन शब्दों में स्वीकार किया है—

अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिंगा।
अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्तः संहत्य कार्येष्विति साध्ववादीः॥ 33॥

हेतुद्वय से उत्पन्न हुआ कार्य जिसकी पहिचान है - ऐसी यह भवितव्यता अलंघ्यशक्ति है। फिर भी मैं करता हूँ—ऐसे अहंकार से पीड़ित यह प्राणी सब सहकारी कारणों को मिलाकर भी कार्यों के सम्पन्न करने में अनीश्वर-असमर्थ है - यह आपने ठीक ही कहा है॥ 33॥

आचार्य समन्तभद्र ने इसमें 'तादृशी जायते' इस श्लोक के समान 'भवितव्यता' पर ही जोर दिया है। और देखिए—

तत्रापि हि कारणं कार्येणानुपक्रियमाणं यावत् प्रतिनियतं कार्यमुत्पादयति तावत्सर्वं कस्मान्नोत्पादयतीति चौद्ये योग्यतैव शरणम्। *- प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ. 237*

उसमें भी कारण कार्य से अनुपक्रियमाण होता हुआ जब तक वह प्रतिनियत कार्य को उत्पन्न करता है, तब तक सबको उत्पन्न क्यों नहीं करता—ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं कि योग्यता ही शरण है।

इसमें भी 'तादृशी जायते' इत्यादि श्लोक के समान भवितव्यता पर ही बल दिया गया है। और देखिए—

वतुरंगबलं कालः पुत्रा मित्राणि पौरुषम्।
कार्यकृत्तावदेवात्र यावद्दैवबलं परम्।।
दैवे तु विकले काल-पौरुषादिर्निरर्थकः।
इति यत्कथ्यते विद्भिस्तत्तथ्यमिति नान्यथा।।

इस लोक में जब तक दैव (भवितव्यता) का उत्कृष्ट बल है, तभी तक चतुरंग सेना, काल, पुत्र, मित्र और पौरुष ये कार्यकृत हैं। दैव के अभाव में काल और पौरुष आदि सब निरर्थक हैं—ऐसा जो विद्वान् जन कहते हैं, वह यथार्थ है, अन्यथा नहीं है।

- हरिवंश पुराण, सर्ग 52, श्लोक 71-72

इसी हरिवंश पुराण में और देखिए—

दिव्येन दह्यमानायां दहनेन तदा पुरि।
नूनं क्वापि गता देवा दुर्वारा भवितव्यता।।

उस समय द्वारिकापुरी के दिव्य अग्नि से जलते समय निश्चय से देव कहीं भी चले गये। भवितव्यता दुर्निवार है॥ सर्ग 77, 61॥

देखिये इसमें भवितव्यता दुर्निवार कहा गया है। क्या अपरपक्ष यह बतलाने की कृपा करेगा कि भट्टाकलंकदेव ने 'तादृशी जायते' इत्यादि श्लोक को उद्धृत कर उस द्वारा हरिवंशपुराण के इस कथन से अन्य नई क्या बात कही है? जिससे कि अपरपक्ष को वह श्लोक अत्यधिक खटका। वास्तव में देखा जाये तो उस श्लोक में जैन मान्यता का सार भरा

हुआ है। उस द्वारा पुरुषार्थ तथा अन्य साधन सामग्री को अस्वीकार नहीं किया गया है। ये सब भवितव्यता के अनुसार मिलते हैं, यही तथ्य उस द्वारा घोषित किया गया है। किन्तु अपर पक्ष को यही इष्ट नहीं है, क्योंकि वह केवल बाह्य साधन सामग्री के बल पर ही कार्य की उत्पत्ति को स्वीकार कराना चाहता है, इसके लिए उसकी ओर से उपादान के स्वरूप पर भी प्रबल प्रहार किया गया है। ऐसी अवस्था में उसके द्वारा भट्टाकलंकदेव जैसे समर्थ आचार्य द्वारा स्वीकृत उक्त श्लोक को यदि जैन संस्कृति के विरुद्ध घोषित किया जाये तो इसमें अनहोनी ऐसी कोई बात नहीं।

स्वामी समन्तभद्र ने अपनी आप्तमीमांसा में 'दैव' और 'पुरुषार्थरूप' अदृष्ट और दृष्ट सामग्री के आधार से अर्थसिद्ध में अनेकान्तगर्भ स्याद्वाद की स्थापना की, इसमें सन्देह नहीं। पर इसका 'तादृशी जायते' इत्यादि श्लोक के कथन के साथ विरोध कहाँ है ? यह हमारी समझ में नहीं आाया। यदि आप्तमीमांसा के कथन का उक्त श्लोक के कथन के साथ विरोध है - ऐसा माना जाये तो स्वयंभूस्तोत्र, प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा हरिवंशपुराण के जो प्रमाण हम अभी दे रहे हैं, उनके कथन के साथ भी आप्तमीमांसा के उक्त कथन का विरोध मानना पड़ेगा। क्या अपर पक्ष इसे स्वीकार करेगा ? वह इसे स्वीकार करे या न करे। किन्तु उस पक्ष के इस आचरण से जो स्थिति उत्पन्न हो गई है, उसका स्पष्टीकरण करना अपना कर्तव्य समझ कर यहाँ हमने उसे स्पष्ट किया है।

अपरपक्ष की ओर से यहाँ पर जो 88, 89, 90 और 91 इन चार कारिकाओं का आशय दिया गया है, उसमें से किसी कारिका के आशय में यद्यपि विप्रतिपत्ति हो सकती है, पर उसकी हम यहाँ विशेष चर्चा नहीं करेंगे। यहाँ इतना अवश्य कह देना चाहते हैं कि अपरपक्ष ने जो 'मोक्षस्यापि' इत्यादि वचन को उद्धृत कर उस द्वारा जो मोक्ष की उभयकारणता का निर्देश किया है, सो उस वचन में वह उभयरूप कारणता उपचरित और अनुपचरित इन दोनों दृष्टियों को ध्यान में रखकर ही वर्णित की गई है। ऐसी उभयरूप कारणता का निषेध न तो हमने कहीं किया ही है और न ही हो सकता है। चाहे अनन्त अगुरुलघुगुणों का षड्गुणी हानि-वृद्धिरूप कार्य हो या अन्य कोई कार्य हो, यह उभयरूप कारणता यथायोग्य सबमें पाई जाती है।

अपरपक्ष ने 'तादृशी जायते' इत्यादि श्लोक पर इन बातों को आधार बनाकर अपनी प्रतिशंका का कलेवर पुष्ट किया है —

1. यह पद्य जैन संस्कृति की मान्यता के विरुद्ध क्यों है ?

2. और यदि विरुद्ध है तो फिर श्री अकलंकदेव ने इसका उद्धरण अपने ग्रन्थ अष्टशती में किस आशय से दिया है ?

3. तथा जैन संस्कृति में मान्य कारण व्यवस्था के साथ उसका मेल बैठता है तो किस तरह बैठता है ?

4. इतना ही नहीं, इसके साथ हमें इस बात का भी विचार करना है कि इसकी सहायता से श्री पं. फूलचन्दजी और आप कारण व्यवस्था सम्बन्धी अपने पक्ष की पुष्टि करने में कहाँ तक सफल हो सके हैं ?

1. प्रथम प्रश्न की व्याख्या करते हुए अपरपक्ष का कहना है कि 'उक्त पद्य उसका हमने जो अर्थ किया है, उसके आधार पर प्राणियों को अर्थसिद्धि के विषय में जैन संस्कृति द्वारा मान्य दैव और पुरुषार्थ की सम्मिलित कारणता का प्रतिरोध ही करता है।'

समाधान यह है कि पद्य में मात्र प्रत्येक कार्य की बाह्याभ्यन्तर सामग्री किस आधार पर मिलती है, इतना ही विचार किया गया है, अत: उससे गौण-मुख्य भाव से अर्थसिद्धि में दैव और पुरुषार्थ को एक साथ स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं आती, अत: यह जैनदर्शन (जिसे अपरपक्ष जैन संस्कृति कहता है) उसका पोषक ही है। इसका अर्थ भी इसी आशय से किया गया है। स्पष्ट है कि उक्त श्लोक में जो अर्थ सन्निविष्ट है, उसका जैनदर्शन के साथ निर्विवादरूप से अविरोध ही सिद्ध होता है। अत: उसे प्रमाणरूप में उपस्थित करना सर्वथा उचित है।

2. दूसरे प्रश्न की व्याख्या करते हुए अपर पक्ष का कहना है कि 'उक्त पद्य साक्षात् अपने पक्ष की पुष्टि करता है, इस आशय से भट्टाकलंकदेव ने उसे उपस्थित न कर केवल पुरुषार्थ से अर्थसिद्धि माननेवाले दर्शन का खण्डन करने के अभिप्राय से उसे उपस्थित किया है।'

समाधान यह है कि एकान्त पुरुषार्थवाद के निरसन के लिए आचार्य ने उसे प्रमाणरूप में उपस्थित किया है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु वे मात्र उसे लोकोक्ति मानते रहे, इस बात का उनके समग्र कथन से समर्थन नहीं होता। उन्होंने तो उसे मान्य रखा ही। 'इति प्रसिद्धे:' लिखकर आचार्य विद्यानन्दि ने भी उसकी प्रामाणिकता पर अपनी मुहर लगा दी। यह प्राचीन किसी जैनाचार्य का ही वचन है, लोकोक्ति नहीं, यह उसकी रचना से ही सिद्ध होता है। कार्य

का नियामक उपादान ही होता है, बाह्य सामग्री नहीं—ऐसा स्वामी समन्तभद्र का भी अभिप्राय है। वह केन्द्र है। उसी के आधार पर कार्य-कारणभाव का पूरा चक्र घूमता है।

उक्त श्लोक में बुद्धि व्यवसायादि की उत्पत्ति विवक्षित भवितव्यता से होती है, यह नहीं कहा है, बल्कि यह कहा है कि जैसी भवितव्यता होती है, वैसी बुद्धि हो जाती है, पुरुषार्थ भी उसी के अनुकूल होता है और बाह्य साधन सामग्री भी उसी के अनुकूल मिलती है। अपरपक्ष की उक्त श्लोक में प्रयुक्त हुए शब्दों को ध्यान में रखकर ही उसकी व्याख्या करनी चाहिए। अपनी इच्छानुसार कुछ भी अर्थ करके उसे उक्त श्लोक का अर्थ बतलाना, यह विद्वत्सम्मत मार्ग नहीं कहा जा सकता। प्रतिनियत कार्य की भवितव्यता एक वस्तु है और उसके साथ उस कार्य की अन्य साधन सामग्री दूसरी वस्तु है। सब अपने-अपने प्रतिनियत कारणों से उत्पन्न होकर भी उनका भवितव्यता के साथ ऐसा सहज योग बनता है, जिससे प्रत्येक समय में प्रतिनियत कार्य की उत्पत्ति ही हुआ करती है, यही उक्त श्लोक का आशय है।

समर्थ उपादान प्रतिनियत कार्य की अपेक्षा प्रतिनियत पर्याययुक्त द्रव्य है। वह स्वयं कर्त्ता बनकर तन्मय होकर परिणमता है। बाह्य सामग्री का व्यापार उससे सर्वथा भिन्न अपने में ही हुआ करता है, इसलिए निश्चयनय से हमारा यह लिखना सर्वथा उचित ही है कि 'कार्य केवल भवितव्यता (समर्थ उपादान) से ही निष्पपन्न हो जाया करते हैं, निमित्त उसमें अकिंचित्कर ही रहा करते हैं।' जैसे उक्त श्लोक भवितव्यता के साथ बुद्धि आदि अन्य साधन सामग्री की सूचना देता है, वैसे हमारे द्वारा उल्लिखित उक्त वाक्य भी अन्य साधन सामग्री की सूचना स्पष्टत: दे रहा है। पूरे वाक्य पर दृष्टिपात कीजिए। **भवितव्यता के सिवाय अन्य सामग्री में व्यवहार से निमित्तता स्वीकार करके ही वह वाक्य लिखा गया है। जैसे वह श्लोक अन्य बाह्य सामग्री में व्यवहार से कारणता का निषेध नहीं करता, वैसे हम भी नहीं कर रहे हैं।** हमारा और उक्त श्लोक का आशय एक ही है।

अपरपक्ष ने भवितव्यता के अनुसार सब साधन सामग्री मिलती है, इसकी बड़ी-कड़ी आलोचना की है। उसे इस बात से बड़ा सन्ताप है कि उक्त श्लोक ने अन्य समस्त साधन सामग्री की भवितव्यता को दया पर छोड़ दिया है। किन्तु अपरपक्ष को ध्यान रखना चाहिए कि वस्तु व्यवस्था ही ऐसी है, इसमें न उक्त श्लोक का दोष है और न उसके रचयिता का ही। विवक्षित समय में यदि किसी की बुद्धि पढ़ने की होती है तो प्रश्न होता है कि उसी समय वैसी बुद्धि क्यों हुई ? अपर पक्ष कहेगा कि बाह्य-आभ्यन्तर सामग्री के कारण। उस

पर पुन: प्रश्न होता है कि उसी समय ऐसी बाह्याभ्यन्तर सामग्री क्यों मिली ? अपरपक्ष कहेगा कि प्रयत्न करने से। इस पर पुन: प्रश्न होता है कि उसका वैसा प्रयत्न बाह्यान्तर सामग्री के अनुसर हुआ या इसके बिना हो गया ? इस पर अपरपक्ष यही तो कहेगा कि उस समय वैसा प्रयत्न स्वयं नहीं हो गया, किन्तु बाह्याभ्यन्तर सामग्री के अनुसार हुआ। इस पर प्रश्न होता है कि उस बाह्याभ्यन्तर सामग्री में विवक्षित कार्य की तथा अन्य साधन सामग्री के वैसे परिणमने की भवितव्यता सम्मिलित है या नहीं ? अपरपक्ष इसका निषेध तो कर नहीं सकता। इस पर अपरपक्ष कहेगा कि भवितव्यता का अर्थ द्रव्यप्रत्यासत्ति है और वह अनेक योग्यतावाली होती है, इसलिए कौन योग्यता कार्यरूप परिणमे यह अन्य साधन सामग्री पर अवलम्बित है। इस पर पुन: प्रश्न होता है कि अन्य जितनी साधन सामग्री हैं, वह भी प्रत्येक-प्रत्येक समय में अनेक योग्यतावाली है, इसलिए उनमें से कौन योग्यता कार्य में सहकारी बने, इसे भी तो किसी दूसरी साधन सामग्री पर अवलम्बित मानना चाहिए ? इस पर अपरपक्ष कहेगा कि अन्य साधन सामग्री में तो प्रतिनियत पर्याय योग्यता से युक्त द्रव्य ही कारण होता है। तो इस पर आगम के अनुसार हमारा कहना है कि जैसे आप प्रतिनियत पर्याय योग्यता से युक्त द्रव्य को अन्य सामग्री के रूप में कारण मानते हो, वैसे ही प्रत्येक कार्य में प्रतिनियत पर्याययोग्यता से युक्त असाधारण द्रव्य को कारण मानो। इस प्रकार इतने विवेचन से स्पष्ट है कि उक्त श्लोक में जो भवितव्यता के अनुसार अन्य साधन सामग्री का मिलना लिखा है, वह यथार्थ ही लिखा है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पण्डित प्रवर टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक में जो कुछ लिखा है, उसका आशय वही है जो उक्त श्लोक का है तथा पं. फूलचन्द्र ने भी जैनतत्त्वमीमांसा में उसी का अनुसरण किया है। जैनदर्शन का सार भी यही है। अपरपक्ष ने जैनसंस्कृति किसे कहा, यह तो हम जानते नहीं, वह जाने। परन्तु जिसे वह पक्ष जैन संस्कृति मानता है, उसका अभिप्राय भी कोई दूसरा नहीं हो सकता, अन्यथा उसे जैन संस्कृति कहना परिहासमात्र होगा।

अपरपक्ष ने पण्डितप्रवर टोडरमलजी के एक दूसरे उल्लेख को उपस्थित कर लिखा है कि 'उन्होंने भवितव्यता और पुरुषार्थ का दूसरे ढंग से अर्थ किया है।' किन्तु यह बात नहीं है। जैसा कि अपर पक्ष के इस कथन से स्पष्ट हो जाता है - 'वे तो अपने उक्त कथन से इतनी ही बात कहना चाहते हैं कि कितने ही उपाय करते जाओ, यदि भवितव्यता अनुकूल नहीं है तो कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती है।'

यहाँ अपरपक्ष ने भवितव्यता को कार्यकारी स्वीकार कर लिया, इसकी हमें प्रसन्नता है। साथ ही उस पक्ष को इतना और स्वीकार कर लेना चाहिए कि इस भवितव्यता का प्रयोग दो अर्थों में होता है – एक मात्र द्रव्य योग्यता के अर्थ में और दूसरे द्रव्य-पर्याय योग्यता के अर्थ में। द्रव्य योग्यता का नाम ही व्यवहार उपादान है और द्रव्य-पर्याय योग्यता का नाम ही समर्थ या निश्चय उपादान है। मिट्टी में पट बनने की योग्यता तो है, किन्तु उसी अवस्थारूप परिणमते हुए उसमें पर्याय योग्यता नहीं आती, इसलिए जुलाहा मिट्टी से पट बनने में व्यवहार हेतु नहीं हो पाता और यदि उसी मिट्टी में प्रतिनियत उत्तर काल में घटरूप होने की पर्याय योग्यता आने वाली है तो वह अपने प्रतिनियत काल में कुम्भकार आदि को निमित्त कर नियम से घटरूप स्वयं परिणम जायेगी। पण्डितप्रवर टोडरमलजी के उक्त कथन का यही आशय है। पण्डितजी ने यह कथन मोक्षमार्ग की दृष्टि से लिखा है, पर प्रतिनियत योग्यता को भुलाया नहीं है। इस पर से यहाँ पर अपरपक्ष ने जो भी टीका की है, वह कैसे व्यर्थ है, यह सुतरां ज्ञात हो जाता है। उस पक्ष का जितना कुछ भी लिखना है, वह मात्र व्यवहार योग्यता को लक्ष्य में रख कर ही लिखना है अथवा अन्य कार्य के समर्थ उपादान को उससे विरुद्ध अन्य कार्य का कल्पित कर लिखना है। ऐसी अवस्था में कोई भी बतलावे कि उसके इस कथन को कार्य-कारणभाव की सम्यक् विवेचना कैसे कहा जा सकता है। वह पक्ष उपादान की अपेक्षा तो व्यवहार उपादान को सामने रखता है या विवक्षित कार्य के विरुद्ध दूसरे कार्य के उपादान को सामने रखता है और फिर बाह्य सामग्री के आधार पर इच्छानुसार विवेचना करना प्रारम्भ कर देता है। यही उसके विवेचन की शैली है जो अपरमार्थभूत होने से कार्य-कारणभाव का सम्यक् निर्णय करने में उसके लिए स्वयं बाधक सिद्ध होती है।

चूँकि भवितव्यता परोक्ष होती है, इसलिए निर्णय करने में गलती होती है और इसलिए व्यक्ति का प्रयत्न विवक्षित कार्य की सिद्धि में व्यवहार हेतु नहीं बन पाता। इसके विरुद्ध भवितव्यता के अनुसार जिस समय जो कार्य होना होता है, उसमें उसका प्रयत्न व्यवहार हेतु बन जाता है। प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव भी यही कहता है। अपरपक्ष ने यहाँ पर जो टीका की है, उससे भी ही सिद्ध होता है, अतएव **'तादृशी जायते'** इत्यादि श्लोक द्वारा जिस मान्य सिद्धान्त की घोषणा की गई है और जिसे पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने अपने मोक्षमार्गप्रकाशक में अपने शब्दों में स्वीकार किया है, वही सिद्धान्त परमार्थ सत्य का उद्घाटन

करनेवाला है—ऐसा यहाँ समझना चाहिए। इसी सिद्धान्त का समर्थन करते हुए पण्डितजी क्या लिखते हैं, यह उन्हीं के शब्दों में पढ़िए—

सो इनकी सिद्धि होय तो कषाय उपशमनेतैं दुःख दूर होइ जाइ, सुखी होइ। परन्तु इनकी सिद्धि इनके किये उपायनिके आधीन नाहीं, भवितव्य के आधीन है। जातैं अनेक उपाय करते देखिये है अर सिद्धि न हो है। बहुरि उपाय बनना भी अपने आधीन नाहीं, भवितव्य के आधीन है। जातैं अनेक उपाय करना विचारै और एक भी उपाय न होता देखिए। *- पृ. 81, अ. 3*

इससे पण्डितप्रवर टोडरमलजी के समग्र कथन का क्या आशय है, यह अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है। साथ ही इससे अपरपक्ष ने प्रकृत में जो टीका की है, वह भी व्यर्थ सिद्ध हो जाती है। इतना ही क्यों, उस पक्ष ने अपने विवेचन के आधार से जो निष्कर्ष फलित किया है, वह भी व्यर्थ सिद्ध हो जाता है, क्योंकि अपरपक्ष समर्थ उपादान के अनुकूल बाह्य सामग्री नहीं मिलती, इसकी पुष्टि में अभी तक एक भी आगम प्रमाण उपस्थित करने में सर्वथा असमर्थ रहा।

अपर पक्ष ने लिखा है कि 'पण्डितप्रवर टोडरमलजी के कथन में सामान्यतया चेतनरूप सभी तरह के कार्यों की उपादानशक्ति को नहीं ग्रहण किया गया है, इसलिए ऐसी भवितव्यता जीव के परिणामिकभावरूप भव्यत्व या अभव्यत्व हो सकते हैं अथवा कर्म के यथासम्भव उदय, उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय से प्राप्त कार्यासिद्धि के अनुकूल जीव की योग्यता हो सकती है।' और इस प्रकार अपना यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि 'पं. फूलचन्दजी, पण्डितप्रवर टोडरमलजी के कथन से जो '**तादृशी जायते बुद्धिः**' इत्यादि पद्य का समर्थन कर लेना चाहते हैं, वह ठीक नहीं है।'

किन्तु ऐसी टीका करते हुए क्या अपरपक्ष यह बतला सकता है कि चेतनरूप पदार्थों के लिए कार्यकारण भाव के नियम अन्य हैं और अचेतनरूप पदार्थों के लिए कार्यकारण भाव के नियम अन्य हैं? अर्थात् नहीं बतला सकता, क्योंकि समर्थ उपादान का सभी शास्त्रकारों ने जो लक्षण किया है, वह जीव-अजीव सबकी दृष्टि से ही किया गया है और इसी प्रकार बाह्य सामग्री की अपेक्षा जो व्यवहार हेतुओं के वैस्रसिक और प्रायोगिक—ये दो भेद आगम में बतलाये हैं, वे जीव-अजीव सभी के कार्यों की दृष्टि से ही किये गये हैं। इसके लिए अपरपक्ष श्लोकवार्तिक अ. 5, सू. 22 पर दृष्टिपात करने की कृपा करे। इससे स्पष्ट है कि

पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने जिस भवितव्यता का निर्देश किया है, वह सब द्रव्यों के सब कार्यों पर लागू होता है और उस आधार से हमने 'तादृशी जायते बुद्धिः' इत्यादि श्लोक का जो अर्थ किया है और उस पर से जो निष्कर्ष फलित किया है वह भी यथार्थ है। भवितव्यता जिस कार्य की हो, उसी को जन्म देती है और उसके साथ, व्यवहार हेतुरूप जो सामग्री होती है, वह भी नियम से मिलती है।

अपरपक्ष ने लिखा है – 'मान लीजिए – किसी व्यक्ति में धनी बनने की योग्यता है, लेकिन केवल योग्यता का सद्भाव होने मात्र से तो वह व्यक्ति धनी नहीं बन सकता।' आदि। इसका समाधान यह है कि जिस व्यक्ति में जितने काल में धनी बनने की योग्यता होगी, वह उतने काल में नियम से धनी बन जायेगा। उस काल के मध्य-अन्त तक उसे वैसी साधन सामग्री भी मिलेगी और उसका तदनुकूल व्यापार भी होगा। जैसे जो तद्भवमोक्षगामी जीव होता है, वह मनुष्य पर्याय को समाप्त कर नियम से मुक्त होता है तथा जन्म से लेकर अन्त तक प्रतिसमय उसे अन्तरंग-बहिरंग सामग्री भी वैसी मिलती जाती है और प्रयत्न भी उसी के अनुरूप होता रहता है। प्रत्येक कार्य के स्वकाल का अपना स्थान है, उसमें फेर-फार होना सम्भव नहीं है। अपने विकल्पों को पुष्ट करने के लिए वचनों का प्रयोग किसी भी प्रकार से भले ही किया जाये, किन्तु वस्तुस्थिति यही है। यह समग्र जैनदर्शन का आशय है। जैन संस्कृति उसके बाहर नहीं है। पण्डितप्रवर टोडरमलजी के कथन का भी यही आशय है और है यही आशय 'तादृशीजायते बुद्धिः' इसका भी; जबकि अपरपक्ष के कथनानुसार क्या बुद्धि, क्या व्यवसाय आदि सभी कार्य भवितव्यतानुसार होते हैं तो जैनदर्शन के हार्द को प्रकाशित करनेवाले उस श्लोक ने ही अपर पक्ष का क्या बिगाड़ा है, जिस कारण उसे अपरपक्ष का कोपभाजन होना पड़ा है? व्यक्ति जो संकल्प करता है, वह उस (संकल्प) की भवितव्यतानुसार करता है। वहाँ भी भवितव्यता ही उसकी जननी है। ऐसा तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म या स्थूलातिस्थूल ऐसा एक भी कार्य नहीं जो भवितव्यता का उल्लंघन कर होता हो। भवितव्यता का क्या पुरुषार्थ क्या, अन्य कुछ, सब पर आधिपत्य है। पृथक्-पृथक् विचार करने पर प्रत्येक कार्य की भवितव्यता भिन्न-भिन्न है। पर उन सबमें ऐसा सुमेल है, जिससे नित्य समय पर प्रत्येक कार्य होता रहता है, विरोधाभास उपस्थित नहीं होता।

अपरपक्ष ने '**तादृशी जायते बुद्धिः**' का एक यह अर्थ दिया है – 'जिस कार्य के अनुकूल वस्तु में उपादान शक्ति हुआ करती है, समझदार व्यक्ति उस वस्तु से उसी कार्य को

सम्पन्न करने की बुद्धि (भावना) किया करता है और वह पुरुषार्थ (व्यवसाय) भी तदनुकूल ही किया करता है तथा वह वहाँ पर तदनुकूल ही अन्य सहायक साधन सामग्री को जुटाता है।'

यहाँ पहले तो यह देखना है कि इस वस्तु में इस कार्य के अनुकूल उपादान शक्ति है, इसे वह समझदार व्यक्ति जानता कैसे है, क्योंकि शक्ति तो परोक्ष है। कदाचित् काकतालीय न्याय से जैसा उसने विचार किया, वैसा ही उत्तर काल में उसमें द्रव्य-पर्यायरूप उपादान शक्ति हुई और भावनानुसार कार्य हो गया तो बात दूसरी है, अन्यथा उस वस्तु में उस समझदार व्यक्ति को निमित्त कर जो-जो कार्य हुआ, वह सब उस वस्तु में अवस्थित भवितव्यतानुसार ही कहा जायेगा या नहीं ? यदि कहो कि भवितव्यतानुसार ही कहा जायेगा तो फिर '**तादृशी जायते बुद्धिः**' इस श्लोक के तात्पर्य से विरोध क्यों ? यदि कहो कि उस वस्तु में जो-जो कार्य हुआ वह उस वस्तु में अवस्थित भवितव्यतानुसार नहीं कहा जायेगा तो फिर यह कहना चाहिए कि चने से भी गेहूँ उत्पन्न किया जा सकता है। अब रही सहायक सामग्री को जुटाने की बात, सो यहाँ भी यही विचार करना है कि वह सहायक सामग्री अपनी भवितव्यतानुसार ही परिणमती है कि उस समझदार व्यक्ति के प्रत्यतानुसार ? वह सामग्री अपनी भवितव्यतानुसर परिणमे, इसका तो नियम है; समझदार व्यक्ति की इच्छानुसार परिणमे इसका नियम नहीं है। अत: 'जुटाना' यह कहना भी कथन मात्र ही है; अतएव अपरपक्ष ने उस पद्य का जो उक्त अर्थ किया है, वह तर्कसंगत नहीं है और न आगमसंगत ही है।

उक्त पद्य में बुद्धि, व्यवसाय और सहायक सामग्री का उल्लेख हुआ है। इसका आशय इतना ही है कि भवितव्यतानुसार कार्य होने में जहाँ ये सब होते हैं, वहाँ वे सब कार्य के प्रति व्यवहार से अनुकूल ही होते हैं। इस पद्य में समस्त बाह्य सामग्री का संकलन कर दिया गया है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि सभी कार्यों में व्यक्ति की बुद्धि और व्यवसाय व्यवहार हेतु है ही। जहाँ इनकी व्यवहारहेतुता है, वहाँ भवितव्यतानुसार ही है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

इस प्रकार समग्र कथन पर दृष्टिपात करने से यही निश्चित होता है कि निश्चयनय से सभी कार्य अपने-अपने उपादान के अनुसार ही होते हैं। वही स्वयं कर्त्ता बनकर इन्हें अपने से अभिन्न उत्पन्न करता है। बाह्य समग्री उसकी उत्पत्ति में सहायक है, यह कथन व्यवहारमात्र है। हमने इस दृष्टि को सामने रखकर ही उक्त पद्य का अर्थ किया है, इसलिए वह तो संगत है ही। यदि दृष्टि को गौण भी कर विचार किया जाये तो उस पद्य के शब्द ही स्वयं इस अर्थ का प्रकाशित कर देते हैं, क्योंकि सत्यार्थ को ध्यान में रखकर ही इस पद्य की रचना हुई है।

14. कुछ विचारणीय बातों के क्रमशः उत्तर

1. स्त्री का रज और पुरुष का वीर्य शरीर का उपादान है और उसे निमित्त कर जीव गर्भ में आता है। इस प्रकार इन दोनों में निमित्त-नैमित्तिकता बनती है। अपने-अपने कार्य के प्रत्येक उपादान है, एक-दूसरे के लिए निमित्त हैं। माता का गर्भाशय इनके लिए निमित्त है। इस प्रकार गर्भ में भ्रूण की वृद्धि होती है। अन्त में वह निसृत होता है, उसमें माता का उचित अवयव निमित्त होता है। माता के द्वारा भुक्त भोजन भी योग्य परिपाक के बाद इसमें यथायोग्य उपादान-निमित्त बनाता है। बन्ध्या स्त्री को पुरुष का निमित्त तो मिलता है, इसे अस्वीकार नहीं करना चाहिए। सन्तान के उत्पन्न न होने का अन्य कारण है। विधवा स्त्री में द्रव्य-पर्याय योग्यता न होने से वह ऐसे कार्य के लिए किसी भी रूप में निमित्त नहीं बनती। इस सम्बन्ध में अधिक लिखना उचित नहीं है।

2. समर्थ उपादान असाधरण द्रव्य प्रत्यासत्ति और प्रतिविशिष्ट पर्यायप्रत्यासत्तिरूप ही होता है। इसलिए उपादान में अनन्त शक्तियाँ होती हैं, यह लिखना ठीक नहीं। इसलिए किसी शक्ति के क्रम से विकास का प्रश्न ही नहीं उठता।

भोजन की सामग्री भवितव्यतानुसार परिणमती है, पुरुष की इच्छानुसार नहीं। वह तो उसमें निमित्तमात्र है। वह सामग्री सर्वथा एक भी नहीं। उसे एक कहना यह व्यवहार है। अतएव जिसे जिस रूप बनना होता है, उसे वैसे बाह्य निमित्तों का योग मिलता है। जो रसोईया या इच्छा रोटी में निमित्त है, वही रसोइया या इच्छा पुड़ी में निमित्त नहीं है। इसी प्रकार जो आटा पुड़ी बनता है, वही आटा रोटी नहीं बनता। यहाँ तो स्पष्टत: स्कन्धभेद है। अत: सब कार्य अपनी-अपनी भवितव्यतानुसार हो रहे हैं और उसी आधार पर निमित्त-नैमित्तिक योग मिल रहा है। यदि पुड़ी बनने में निमित्त होनेवाले रसोइया और उसकी इच्छा को तथा रोटी बनने में निमित्त होनेवाले रसोइया और उसकी इच्छा को सर्वथा एक मान लिया जाये तो उनको निमित्त कर बनी पुड़ी और रोटी में भेद नहीं बन सकेगा। स्पष्ट है कि जिस प्रकार पुड़ी और रोटी का उपादान पृथक्-पृथक् है, इसलिए उनसे पृथक्-पृथक् दो कार्य निष्पन्न हुए हैं। उसी प्रकार उनको निमित्तभूत बाह्य सामग्री भी पृथक्-पृथक् है। '**कारणनुविधायि ही कार्यम्**' ऐसा आगमवचन भी है।

3. कोई भी कार्य अनेक कारणसाध्य होता है। उसमें उपादान स्वयं कार्यरूप परिणमता है। वह उसका मुख्य-निश्चय कर्त्ता है और बाह्य सामग्री उसमें मात्र निमित्त है। प्रत्येक उपादान

किस अवस्था में किस रूप परिणता है, इसका नियम है। इसी नियम को ध्यान में रखकर प्रत्येक कार्य में बाह्य और आभ्यन्तर उपाधि की समग्रता स्वीकार की गई है। इच्छा, प्रकाश, कागज और लेखनी इनका परिणाम (पर्याय) अपने में होती है, स्याही में नहीं। स्याही शब्दरूप आकार बनने में उपादान है, अन्य सब व्यवहार हेतु हैं। इससे स्पष्ट है कि इच्छा, प्रकाश, कागज और लेखनी ने शब्दरूप आकार ग्रहण नहीं किया। स्याही ने स्वयं परिणम कर वह आकार धारण किया। यदि इच्छा आदि स्याही से तन्मय हो जावें तो ये उसे परिणमावे, सो होता नहीं, अत: ये स्याही को परिणमाते भी नहीं। ये स्याही को शब्दरूप परिणमाते हैं, यह उपचार कथन है। वस्तुस्थिति यह है कि स्याही स्वयं स्वकाल में इन इच्छा आदि की निमित्तकर शब्दरूप परिणम जाती है। कोई भी द्रव्य स्वसहाय होकर ही परिणमन करता है, पर से यदि दूसरे द्रव्य का परिणाम मान लिया जाये तो वह किसी भी द्रव्य का स्वभाव नहीं ठहरेगा और स्वभाव के अभाव में स्वभाववान् का अभाव हो जाने से द्रव्य के लोप का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा, जो अपरपक्ष को भी इष्ट नहीं होगा; अत: निश्चय से प्रत्येक कार्य स्वसहाय होता है, यही निश्चय करना ही श्रेयस्कर है। बिजली के अभाव में यदि स्याही शब्दरूप नहीं परिणम रही है तो उस समय उसमें शब्दरूप परिणमन की समर्थ उपादानता न होने से ही वह शब्दरूप नहीं परिणम रही है। इसे बिजली का अभाव ही सिद्ध कर देता है। **'विवक्षितस्वकार्यकरणेऽन्त्यक्षणप्राप्तत्वं हि सम्पूर्णम्'** विवक्षित अपने कार्य के करने में अन्त्यक्षण के प्राप्तपने का नाम ही सम्पूर्ण है। इससे स्पष्ट है कि स्याही जिस समय लिखित शब्दरूप परिणमती है, उसके अनन्तर पूर्व समय में ही वह उसकी समर्थ उपादान है और जो जिसका समर्थ उपादान होता है, वह उसे नियम से उत्पन्न करता है - ऐसा एकान्त नियम है - **समर्थस्य कारणस्य कार्यवत्त्वमेवेति** (त. श्लोक, पृ. 68)। जैसे अयोगी केवली के अन्तिम समय में समग्र रत्नत्रयरूप से परिणत आत्मा, मोक्ष कार्य का समर्थ उपादान है, इसलिए वह उसे नियम से उत्पन्न करता है और उसकी बाह्य सामग्री भी उसके अनुकूल रहती है, उसी प्रकार यहाँ भी ऐसा समझना चाहिए कि जब-जब स्याही शब्द रूप परिणाम की समर्थ उपादान बनती है, तब-तब वह नियम से कागज पर शब्दरूप परिणमन करती है और बाह्य सामग्री भी तदनुकूल उपस्थित रहती है। वह सहज योग है, जिसे कोई टाल नहीं सकता, अन्यथा किसी भी द्रव्य का स्वाश्रित परिणमन ही सिद्ध नहीं किया जा सकता और उसके अभाव में अपने पुरुषार्थ द्वारा मुक्ति की चर्चा करना ही व्यर्थ हो जायेगा। अतएव बिजली के बुझने पर या

शरीर में भयानक वेदना होने पर यदि स्याही का परिणमन, प्रश्नों का उत्तर लिखने रूप नहीं होता तो निश्चयनय से उस समय स्याही उस कार्य का समर्थ उपादान नहीं है, इसलिए ही वह कार्य नहीं होता, यह वस्तु के स्वरूप का उद्घाटन करनेवाला होने से यथार्थ कथन है और बिजली का अभाव होने से या शरीर में भयानक वेदना होने से प्रश्नों का उत्तर लिखना असम्भव हो गया—ऐसा कहना उसी अवस्था में व्यवहारपक्ष माना जा सकता है, जबकि वह निश्चय पक्ष की सिद्धि करनेवाला हो, अन्यथा वह वस्तु के स्वरूप को ढकनेवाला होने से अयथार्थपने की ही शोभा बढ़ावेगा। किसी व्यक्ति के बाह्य चारित्र हो और अन्तरंग चारित्र न हो, यह तो है, पर अन्तरंग चारित्र हो और बाह्य चारित्र न हो, यह नहीं होता। इससे सिद्ध है कि सर्वत्र अपना कार्य समर्थ उपादान ही करता है, बाह्य सामग्री तो निमित्तमात्र है।

4. कोई कीटाणु जब मरकर शरीर के एक भाग से दूसरे भाग में ऋजुगति से उत्पन्न होता है तो उसे एक समय लगता है, वही कीटाणु उसी शरीर के दूसरे भाग में यदि विग्रहगति से उत्पन्न होता है तो उसे दो समय लगते हैं। किन्तु वही कीटाणु यदि मनुष्य होने के बाद मरकर ऋजुगति से सातवें नरक में जन्म लेता है तो एक समय में छह राजु की दूरी पार कर लेता है और अशरीरी सिद्ध परमेष्ठी उसी एक समय में सात राजु की दूरी पार कर लेते हैं। यहाँ न तांगा है, न साइकिल और न ही मोटरकार, रेलगाड़ी, हवाई जहाज और अतिस्वन विमान ही। कोई अंतरंग कारण होना चाहिए, जिससे गति में यह विचित्रता आती है। परमाणु के विषय में तो आगम में यहाँ तक लिखा है कि मन्दगति से गमन करनेवाला परमाणु एक समय में आकाश के एक प्रदेश को ही लांघ पाता है, जबकि वही परमाणु तीव्रगति से गमन करके एक समय में लोकाकाश के चौदह राजु क्षेत्र को पार कर जाता है अर्थात् स्पर्श कर लेता है। वहाँ न तो ताँगा है, न मोटरकार है, न रेलगाड़ी है और न ही अतिशीघ्र गमन करनेवाला अन्य वाहन ही है। यहाँ तक कि कर्म और नोकर्म का संयोग भी नहीं है। फिर ऐसा क्यों होता है? इस पर अपरपक्ष ने कभी दृष्टिपात किया? अपरपक्ष कहेगा कि धर्मद्रव्य तो है, किन्तु इस पर हमारा कहना यह है कि एक तो वह आश्रय हेतु है, निमित्त कर्त्ता नहीं। दूसरे अपरपक्ष यह स्वीकार ही नहीं करता कि ये धर्मादिक चार द्रव्य प्रतिविशिष्ट (प्रतिनियत) पर्यायरूपी ही प्रतिविशिष्ट (प्रतिनियत) कार्य के लिए आश्रय हेतु होते हैं। ऐसी स्थिति में अन्य कोई हेतु तो होना चाहिए, जिसके कारण परमाणु की गति में यह विचित्रता देखी जाती है। स्पष्ट है कि यहाँ अन्य जो भी कारण हैं, उसी का नाम क्रियावतीशक्ति है। उसका जिस समय जैसा

परिणमन होता है, उसके अनुसार ही प्राणियों और पुद्गल की गति और आगति हुआ करती है। बाह्य साधन तो उपकरणमात्र हैं जो इस तथ्य को सिद्ध करते हैं कि इस समय इस जीव या पुद्गल की क्रियावतीशक्ति का परिणाम किस रूप में ही रहा है। जैसे कोई मनुष्य बाजार में भड़कीले कपड़े पहन कर जाता है तो वे उत्कट राग में निमित्त होकर भी यह सिद्ध करते हैं कि इस समय इसके कपड़ों के प्रति उत्कट राग है।

उसी बाह्य वस्तु में निमित्त व्यवहार होता है जो निश्चय की सिद्धि करे, यही परमागम का अभिप्राय है। इससे प्रत्येक द्रव्य की स्वतन्त्रता अक्षुण्य बनी रहती है और संसारी प्राणी को आगम में जो परतन्त्र बतलाया है, उसका क्या अभिप्राय है, यह भी समझ में आ जाता है। कर्म और नोकर्म किसी को परतन्त्र नहीं बनाते। परतन्त्र बनने में अपराधी स्वयं यह जीव ही है। उपयोग परिणामवाला यह जीव जब शुभ या अशुभ जिस भाव में उपयुक्त होता है, तब उसने वस्तुत: शुभ या अशुभभाव की ही परतन्त्रता स्वीकार की है, कर्म और नोकर्म की नहीं। किन्तु ऐसा नियम है कि शुभ या अशुभभाव परलक्षी परिणाम है, इसलिए जिसके लक्ष्य से ये परिणाम उत्पन्न होते हैं, व्यवहार से उनकी अपेक्षा यह जीव परतन्त्र कहा जाता है। जैसे किसी मनुष्य की अपनी स्त्री में अधिक आशक्ति देखकर अपरपक्ष उस मनुष्य को ही यह उपदेश देगा कि तुम्हें स्त्रीविषयक आशक्ति छोड़नी चाहिए। यदि यह मान लिया जाय कि स्त्री उसे परतन्त्र बनाती है तो उस मनुष्य को उपदेश देने से लाभ ही क्या? तब तो स्त्री को ऐसा उपदेश दिया जाना चाहिए कि तू इस मनुष्य को परतन्त्र क्यों बनाती है, इसे परतन्त्र बनाना छोड़ दे। इससे स्पष्ट है कि पर में राग करे या न करे इसमें प्रत्येक प्राणी को स्वतंत्रता है। यदि पर को लक्ष्य कर राग करता है तो परतंत्र होता है, अन्यथा नहीं। अब विचार कीजिए कि राग का कर्तृत्व जीव में रहा कि कर्म और नोकर्म में? राग कर्मस्वभाववाला है और उसका फल सुख-दु:ख है, इसलिए ये भी कर्मस्वभाववाले हैं। इसमें नोकर्म का भी अन्तर्भाव हो जाता है। जब यह जीव उन रूप से चेतता है, तब यह कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का कर्त्ता होता है। यह कर्तृत्व स्वयं उसने अपने अज्ञान से स्वीकार किया है, कर्म और नोकर्म में बलात् स्वीकार नहीं कराया है। ऐसी परिणति में वे तभी निमित्त हैं, जब वह इसरूप स्वयं परिणमता है, अन्यथा नहीं। इससे सिद्ध है कि जिस समय जैसी क्रियावतीशक्ति का परिणमन होता है, उस समय स्वयं कर्त्ता होकर यह जीव उस प्रकार की गति करता है, तांगा, साइकिल, मोटरकार, हवाई जहाज या अतिस्वन विमान तो निमित्तमात्र हैं।

अपरपक्ष ने यहाँ पर अष्टसहस्री पृ. 200 का उल्लेख अपने पक्ष के समर्थन की दृष्टि से उपस्थित किया है। किन्तु यह पक्ष इस उल्लेख के प्रकाश में अष्टसहस्री कारिका 10, पृ. 97 के इस उल्लेख पर भी दृष्टिपात करने की कृपा करें—

कार्यात्प्रागनन्तरपर्यायस्तस्य प्रागभावः। तस्यैव प्रध्वंसः कार्यं घटादिः।

कार्य से अनन्तरपूर्वपर्याय उसका प्रागभाव है तथा उसी का प्रध्वंस घटादि कार्य है।

यहाँ जो प्रागभाव का लक्षण किया है, वही समर्थ उपादान का भी लक्षण है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए, वही पृ. 100 में लिखा है—

ऋजुसूत्रनयार्पणादि, प्रागभावस्तावत्कार्यस्योपादानपरिणाम एव एर्वोऽनन्तरात्मा। न च तस्मिन् पूर्वानादिपरिणामसन्ततौ कार्यसद्भावप्रसंगः प्रागभावविनाशस्य कार्यरूपतोपगमात्।

ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा तो पूर्व अनन्तररूप कार्य का उपादान परिणाम ही प्रागभाव है और उसके ऐसा होने पर पूर्व अनादि परिणाम सन्तति में कार्य के सद्भाव का प्रसंग हो जायेगा, सो भी बात नहीं है, क्योंकि प्रागभाव का विनाश ही कार्यरूप स्वीकार किया है—

यह आगम वचन है जो स्वाश्रित कथन होने से यथार्थ पदवी को प्राप्त है। अपर पक्ष ने जो उद्धरण उपस्थित किया है, वह पराश्रित कथन होने से व्यवहार पदवी को प्राप्त है। इन दोनों कथनों को एक साथ मिलाकर अवलोकन करने पर अपने आप यह फलित हो जाता है कि **निश्चय-समर्थ उपादान के काल में ही उसका व्यवहार हेतु हुआ करता है।** इन दोनों के प्रत्येक समय में होने का ऐसा सहज योग हुआ करता है। जहाँ यह सहज योग प्रायोगिक होता है, वहाँ मात्र यह प्राणी ऐसा विकल्प करता है कि मैंने इन साधनों को जुटाया। यही उसके विचार की अपार्थता है। यदि वह इसका त्याग कर दे तो उसे ऐसा भास होने में देर न लगे कि अपने परिणामस्वभाव के कारण इनका यह परिणाम हुआ है, मैं तो उसमें निमित्तमात्र हूँ।

अपरपक्ष ने इसी आगम के पृष्ठ 200 का '**तस्मादय**' इत्यादि उद्धरण उपस्थित किया है। उसमें विनाश का हेतु अकिंचित्कर है, इस बात का निषेध किया गया है। यह तो अवलोकन करने से ही विदित हो जाता है कि यह प्रकरण बौद्धदर्शन के 'विनाश निर्हेतुक होता है' इस एकान्त मत का खण्डन करने के अभिप्राय से लिखा गया है। उसका कहना है कि प्रत्येक क्षण विनश्वरशील होने से स्वयं नष्ट हो जाता है, इसलिए उसे सहेतुक मानना

उचित है, किन्तु उसका उत्पाद स्वयं नहीं होता, उसकी उत्पत्ति कारणान्तरों से होती है। इसके लिए उस दर्शन ने चार प्रत्यय (कारण) स्वीकार किये है - समनन्तर प्रत्यय जो उत्तर क्षण की उत्पत्ति के काल में असत् है, इसलिए वह दर्शन असत् से सत् की उत्पत्ति मानता है। किन्तु पूर्व क्षण के विनाश होने पर उत्तर क्षण की नियम से उत्पत्ति होती है, इसलिए उस दर्शन ने उसे कारणरूप से स्वीकार किया है। इससे यह तो स्पष्ट हो गया कि उस दर्शन में वस्तुतः उपादानरूप कोई पदार्थ नहीं है। फिर प्रत्येक क्षण का उत्पाद होता कैसे है ? जैसे प्रत्येक क्षण का विनाश होना उसका स्वभाव है, वैसे स्वभाव उत्पाद होना उसका स्वभाव तो है नहीं; अतः उसकी उत्पत्ति सहेतुक होनी चाहिए। यही कारण है कि उस दर्शन ने समनन्तर प्रत्यय के समान उत्पाद के अन्य तीन कारण और स्वीकार किये हैं। वे हैं - आलम्बन प्रत्यय, सहकारी प्रत्यय और अधिपति प्रत्यय। इस आधार पर उस दर्शन का कहना है कि जैसे उत्पाद सहेतुक होता है, वैसे विनाश सहेतुक नहीं होता। अपने इस अभिप्राय का स्पष्ट करते हुए वह कहता है कि हेतु (मुद्गरादि के व्यापार) से कारण क्षण (समनन्तर प्रत्यय) का कुछ नहीं होता, यह स्वयं ही नष्ट होता है। इस पर आचार्य का कहना है कि कारण से कार्य का भी कुछ नहीं होता, वह भी स्वयं ही उत्पन्न होता है—ऐसा स्वीकार कर लेना चाहिए और ऐसी अवस्था में जैसे आप (बौद्ध) विनाश को निर्हेतुक मानते हो, उसी प्रकार उत्पाद को भी निर्हेतुक स्वीकार कर लेना चाहिए। यतः बौद्धदर्शन उत्पाद को निर्हेतुक मानने के लिए तैयार नहीं, इसलिए इस पर से आचार्य ने उसे यह स्वीकार करने के लिये बाध्य किया है कि '**तस्मानदयं विनाशहेतुर्भावमभावीकरोतीति न पुनरकिंचित्काः।**' इसलिए यह विनाश का हेतु भाव को अभाव रूप करता है तो यह अकिंचित्कर कैसे हो सकता है ?

यह उस कथन का आशय है, जिसे यहाँ अपरपक्ष ने अपने अभिप्राय की पुष्टि में उपस्थित किया है। बौद्धदर्शन प्रत्येक क्षण की उत्पत्ति पर से मानता है और उसका विनाश निर्हेतुक मानता है, इसलिए यहाँ उत्पत्ति के समान विनाश को भी पर से सहेतुक सिद्ध किया गया है। किन्तु वह स्थिति जैनदर्शन की नहीं है, क्योंकि यह दर्शन प्रत्येक द्रव्य को न केवल उत्पादरूप स्वीकार करता है, न केवल व्ययरूप स्वीकार करता है और न केवल ध्रौव्यरूप ही स्वीकार करता है, किन्तु ये तीनों वस्तु के अंश हैं और प्रत्येक द्रव्य इन तीन रूप रूप हैं, अतः जहाँ यह ध्रौव्यस्वभाव सिद्ध होती है, वहाँ वह उत्पाद-व्यय स्वभाव भी सिद्ध होती है, अतः निश्चय से उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की व्यवस्था विस्रसा है, इस दर्शन में यही मानना ही परमार्थ सत्य है। अन्य सब व्यवहार है। ●

प्रथम दौर

: १ :

नमः श्री वीतरागाय

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्।।

शंका - 7

केवली भगवान की सर्वज्ञता निश्चय से है या व्यवहार से ? यदि व्यवहार से है तो वह सत्यार्थ है या असत्यार्थ ?

समाधान-1

आगम में निश्चय-व्यवहारनय से केवली भगवान के स्वरूप का निर्देश करते हुए श्री नियमसारजी में लिखा है—

जाणदि पस्सदि सव्वं व्यवहारणयेण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं॥159॥

अर्थ - व्यवहारनय से केवली भगवान् सबको जानते और देखते हैं, निश्चयनय से केवलज्ञानी, आत्मा को जानता और देखता है॥ 159॥

इस पर यह शंका होती है कि जबकि आगम में केवली जिनका तीन लोक और त्रिकालवर्ती द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक सब पदार्थों का जानना व्यवहार से माना गया है, निश्चय से तो वे मात्र अपनी आत्मा को ही जानते हैं। ऐसी अवस्था में केवली जिन की सर्वज्ञता असद्भूत ही ठहरती है। अतएव मात्र यही कहना उपयुक्त होगा कि वस्तुतः सर्वज्ञ अपनी आत्मा के सिवाय अन्य किसी को नहीं जानते? यह एक शंका है, जिस पर यहाँ संक्षेप में विचार करना है। प्रश्न यह है कि केवली जिन की सर्वज्ञता पराश्रित है या स्वाश्रित? यदि वह मात्र पराश्रित है तो उसे असद्भूत ही माननी होगी और यदि वह स्वाश्रित भी है तो यहाँ यह देखना होगा कि

श्री नियमसारजी की उक्त गाथा में जो यह कहा है कि केवली जिन, निश्चय से अपनी आत्मा को जानते हैं, उसका क्या तात्पर्य है ?

यह तो सुनिश्चित है सत्य है कि जो धर्म लोक में पाया जाता है, उसी का एक द्रव्य के आश्रय से दूसरे द्रव्य पर आरोप किया जा सकता है। जिस धर्म का सर्वथा अभाव होता है, उसका किसी पर आरोप करना भी नहीं बनता। उदाहरणार्थ लोक में बन्ध्यासुत या आकाशकुसुम नहीं पाये जाते, अत: उनका किसी पर आरोप भी नहीं किया जा सकता। अतएव सर्वज्ञता नाम का धर्म कहीं पर होना चाहिए, तभी उसका पर की अपेक्षा आरोप करना संगत ठहरता है, अन्यथा यह व्यवहार ही नहीं बन सकता कि केवली जिन सबको जानते हैं। इसलिए प्रकृत में यह तो मानना ही होगा कि सर्वज्ञता नाम का धर्म कहीं न कहीं अवश्य रहता है। इस प्रकार जब इस धर्म के अस्तित्व के विषय में विचार करते हैं तो मालूम होता है कि नियमसार में निश्चय से जिसे आत्मज्ञता कहा है, उसमें सर्वज्ञता नाम का धर्म समाया हुआ है। केवली जिन में जो सर्वज्ञता है, उसे मात्र पर के आश्रय से स्वीकार करने पर तो वह असद्भूत ही ठहरती है, इसमें संदेह नहीं। किन्तु प्रकृत में ऐसा नहीं है, क्योंकि प्रत्येक आत्मा में एक सर्वज्ञत्व नाम की शक्ति है, जिसके आश्रय से केवली जिन में सर्वज्ञता स्वाश्रित स्वीकार की गई है। तात्पर्य यह है कि केवली जिन स्वभाव से तो सर्वज्ञ है ही, इसमें संदेह नहीं। फिर भी यदि सकल ज्ञेयों की अपेक्षा कथन किया जाता है तो भी व्यवहार से उनमें वह घटित होती है, यह नियमसार की उक्त गाथा का तात्पर्य है—

श्री समयसारजी के परिशिष्ट में सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्व शक्तियों के सद्भाव को स्वीकार करते हुए आचार्य श्री अमृतचन्द्र लिखते हैं—

विश्वविश्वसामान्यभावपरिणतात्मदर्शनमयी सर्वेदर्शित्वशक्ति:। विश्वविश्वविशेषभाव-परिणतात्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्ति:।

अर्थ – समस्त विश्व के सामान्य भाव को देखनेरूप से परिणत आत्मदर्शनमयी सर्वदर्शित्व शक्ति है तथा समस्त विश्व के विशेष भावों को जाननेरूप से परिणत आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्व शक्ति है।

इस प्रकार उक्त कथन से यह सिद्ध हो गया कि केवली जिन में जो सर्वज्ञता स्वीकार की गई है, वह जिस प्रकार पर की अपेक्षा घटित होती है, उसी प्रकार वह स्वभाव की अपेक्षा

भी बन जाती है, उसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है। यही कारण है कि परमात्मप्रकाश की टीका में उसका विचार करते हुए उसे अनेक प्रमाणों के माध्यम से केवली जिन में स्वीकार किया गया है। परमात्मप्रकाश की टीका का वह कथन इस प्रकार है—

आत्मा कर्मविवर्जितः सन् केवलज्ञानेन करणभूतेन येन कारणेन लोकालोकं मनुते जानाति हे जीव सर्वगत उच्यते तेन कारणेन। तथाहि - अयमात्मा व्यवहारेण केवलज्ञानेन लोकालोकं जानाति, देहमध्ये स्थितोऽपि निश्चयनयेन स्वात्मानं, जानाति, तेन कारणेन व्यवहारनयेन ज्ञानापेक्षया रूपविषये दृष्टिवत् सर्वगतो भवति न च प्रदेशापेक्षयेति। कश्चिदाह - यदि व्यवहारेण लोकलोकं जानाति तर्हि व्यवहारनयेन सर्वज्ञत्वं, न च निश्चयनयेनेति। परिहारमाह - यथा स्वकीयमात्मानं तन्मयेत्वेन जानाति तथा परद्रव्यं सन्मयत्वेन न जानाति, तेन कारणेन व्यवहारी भण्यते न च परिज्ञानाभावात्। यदि पुनर्निश्चयेन स्वद्रव्यवत् तन्मयो भूत्या परद्रव्यं जानाति तर्हि परकीयसुख-दुःख-राग-द्वेषपरिज्ञातो सुखी दुःखी रागी द्वेषी च स्यादिति महद् दूषणं प्राप्नोतीति। अत्र येनैव ज्ञानेन व्यापको भण्यते तदेवोपादेयस्यानन्त-सुखस्याभिन्नत्वादुपादेयमित्यभिप्रायः॥ 42॥

अर्थ - हे जीव! आत्मा कर्मों से मुक्त होकर कारणभूत केवलज्ञान के द्वारा जिस कारण से लोकालोक को जानते हैं, इस कारण वे सर्वगत कहे जाते हैं। यथा - यह आत्मा व्यवहार से केवलज्ञान के द्वारा लोकालोक को जानता है तथा देह में स्थित होकर भी निश्चयनय से अपने आत्मा को जानता है, इस कारण व्यवहारनय से ज्ञान की अपेक्षा रूपविषय में दृष्टि के समान सर्वगत है, प्रदेशों की अपेक्षा नहीं। कोई कहता है कि यदि व्यवहार से लोकालोक को जानता है तो व्यवहार से सर्वज्ञता बनी, निश्चयनय से नहीं? आगे इस शंका का समाधान करते हैं - केवली जिन जिस प्रकार अपने आत्मा को तन्मय होकर जानते हैं, उस प्रकार परद्रव्य को तन्मय होकर नहीं जानते, इस कारण व्यवहार कहा जाता है, परिज्ञान का अभाव होने से व्यवहार नहीं कहा गया है। यदि निश्चयनय से स्वद्रव्य को जानने के समान तन्मय होकर परद्रव्य को जानें तो परकीय सुख-दुःख, राग-द्वेष के परिज्ञान होने पर वे सुख-दुखी, रागी-द्वेषी हो जायें, यह महान् दूषण प्राप्त होता है। यहाँ पर एकमात्र जिस ज्ञान की अपेक्षा केवली जिनको व्यापक कहते हैं, मात्र वही ज्ञान उपादेयभूत अनन्तसुख से अभिन्न होने के कारण उपादेय है, यह अभिप्राय है।

द्वितीय दौर

: 2 :

शंका 7

प्रश्न यह था –

केवली भगवान् की सर्वज्ञता निश्चय से है या व्यवहार से ? यदि व्यवहार से है तो वह सत्यार्थ है या असत्यार्थ ?

प्रतिशंका 2

इसके उत्तर में आपने नियमसार गाथा 159 के अनुसार बतलाया है कि केवली भगवान् सब पदार्थों को व्यवहार से जानते हैं, अतः इनकी यह सर्वज्ञता असद्भूत है। ऐसा आपने प्रतिपादित किया है और असद्भूत शब्द का अर्थ आपने 'आरोपित' किया है।

फिर आप लिखते हैं कि चूँकि लोक में जो धर्म पाया जावे, उसी का आरोप दूसरे द्रव्य पर होता है, इसलिए आपने पूर्वोक्त गाथा 159 में निश्चयनय से प्रतिपादित आत्मज्ञता में सर्वज्ञता का सद्भाव स्वीकार किया है।

इस प्रकार आप केवली भगवान् में सर्वज्ञता को आत्मज्ञता की अपेक्षा वास्तविक मानकर उसी सर्वज्ञता को उन्हीं केवली भगवान् में सकल ज्ञेयों की अपेक्षा आरोपित कर लेते हैं, आपके इस कथन में दो बातें विचारणीय हो जाती हैं—

(1) आत्मज्ञता की अपेक्षा सर्वज्ञता का क्या रूप है ?

(2) उन्हीं केवली भगवान् में सकल ज्ञेयों की अपेक्षा से आरोपित सर्वज्ञता आपने स्वीकृत की है, उसकी संगति किस प्रकार हो सकती है ?

ये दो प्रश्न हमारे खड़े ही रहते हैं।

पुनश्च आपने जो निश्चय से सर्वज्ञता स्थापित करने के लिये श्री अमृतचन्द्रसूरि के प्रमाण का उल्लेख करते हुए समयसार के अनुसार जीव में सर्वदशित्व और सर्वज्ञत्व नाम की दो शक्तियाँ स्वीकृत की हैं, जो स्वाश्रित होने से निश्चयनय की अपेक्षा आत्मा की सर्वज्ञता की

घोषणा करती है यह; और दूसरा नियमसार के मत का आपने उल्लेख किया है। इस प्रकार के निरूपण से हमें अध्यात्मवादियों के दो मत प्राप्त हो जाते है। एक तो नियमसार ग्रन्थ की मूल गाथा और उसकी व्याख्या करने वाले श्रीपद्मप्रभमलधारी देव की मान्यता के अनुसार सर्वज्ञता आरोपित होने से आरोपित सर्वज्ञता समर्थित होती है और दूसरे श्री अमृतचन्द्रसूरि के व्याख्यानानुसार निश्चयनय से स्वाश्रित सर्वज्ञता समर्थित होती है, इसका समन्वय करने के लिये जो आपने आत्मज्ञता में सर्वज्ञता का अनतर्भाव करते हुए आत्मज्ञ में व्यवहारनय के विषयभूत सर्वज्ञता का आरोप बतलाया है, वह हमें युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता है।

विशेष विचार यह भी उत्पन्न होता है कि जब वास्तविक सर्वज्ञता का समर्थन करने के लिये श्री अमृतचन्द्रसूरि ने स्वाश्रित दो शक्तियाँ निरूपित की हैं, जिन्हें चेतननुगामी पर्याय शक्तियाँ कहा जा सकता है और उनके द्वारा सत्य सर्वज्ञता का साधन किया है। उसी के अनुसार अन्य चेतन व जड़ पदार्थों में जो कि कार्य-कारणभाव के रूप में प्राप्त होते हैं, उनमें भी ऐसी ही जन्यत्व या जनकत्वादिरूप शक्तियाँ यदि मानी जावें तो वे भी स्वाश्रित पर्याय शक्तियाँ क्यों नहीं मानी जा सकेंगी, क्योंकि अनन्त धर्मात्मक वस्तु में '**अनन्तशक्तित्वाद् भावानाम्**' इस सिद्धान्त के अनुसार उनके मानने में कोई विरोध नहीं रह जाता।

इस प्रकार आप उपस्थित समस्याओं के विषय में ठीक-ठीक प्रकाश डालेंगे। ●

मूलशंका - केवली भगवान की सर्वज्ञता निश्चय से है या व्यवहार से ? यदि व्यवहार से है तो वह सत्यार्थ है या असत्यार्थ ?

प्रतिशंका 2 का समाधान

इस प्रश्न के उत्तर में नियमसार तथा अन्य प्रमाणों के प्रकाश में निश्चय-व्यवहार से केवली जिन में सर्वज्ञता और आत्मज्ञता की स्थिति क्या है, यह स्पष्ट किया गया था। फिर भी प्रतिशंका 2 द्वारा उसी प्रश्न को पुनः विवाद का विषय बनाकर दो अन्य प्रश्न उपस्थित किये गये हैं। वे इस प्रकार हैं—

(1) आत्मज्ञता की अपेक्षा सर्वज्ञता का क्या रूप है ?

(2) उन्हीं केवली भगवान में सकल ज्ञेयों की अपेक्षा से आरोपित सर्वज्ञता आपने स्वीकृत की है, उसकी संगति किस प्रकार हो सकती है ?

ये दो प्रश्न हैं। इनका समाधान इस प्रकार है—

(1) पदार्थ तीन प्रकार के हैं - शब्दरूप, अर्थरूप और ज्ञानरूप। उदाहरणार्थ 'घट' यह शब्द घट शब्दरूप पदार्थ है। जल धारण करने में समर्थ 'घट' अर्थरूप घट पदार्थ है और 'घटाकार ज्ञान' घट ज्ञानरूप घट पदार्थ है। इस प्रकार घट पदार्थ के समान सर्व पदार्थ भी तीन प्रकार के हैं। सर्वप्रथम निश्चयनय की अपेक्षा विचार करने पर जब आत्मज्ञ केवली जिन केवलज्ञान के द्वारा ज्ञेयरूप से अपने आत्मा को जानते हैं, तब दर्पण के समान ज्ञेयाकाररूप परिणमन स्वभाव से युक्त और तद्रूप परिणत अपनी ज्ञानपर्याय को भी अपने से अभिन्नरूप से जानते हैं, इसलिए वे केवली जिन आत्मज्ञ होने के साथ-साथ स्वरूप से सर्वज्ञ हैं। यही स्वाश्रित सर्वज्ञता है। इस प्रकार विश्लेषण करने पर यह स्पष्टरूप से प्रतिभासित होता है कि जो आत्मज्ञता है, वही सर्वज्ञता है। निश्चयनय की अपेक्षा आत्मज्ञ कहो या (स्वाश्रित) सर्वज्ञ कहो दोनों का अर्थ एक है।

इसी आशय को ध्यान में रखकर श्री अमिगति आचार्य ने सामायिकपाठ में कहा है—

विलोक्यमाने सति यत्र विश्वं विलोक्यते स्पष्टमिदं विविक्तं।

आत्मा के अवलोकन करने पर जिसमें (आत्मा में) वह समस्त विश्व पृथक्-पृथक् स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होता है।

प्रकृत में उपयोगी श्री प्रवचनसारजी का यह उल्लेख द्रष्टव्य है—

अथैकस्य ज्ञायकभावस्य समस्तज्ञेयभावस्यभावत्वात् प्रोत्क्रीर्णलिखितनिखात-कीलिति-भज्जित-समावार्तित-प्रतिबिम्बितवत्तत्र क्रमपृवृत्तानन्तभूतभवद्भाविविचित्र-पर्यायप्राग्भारमगाधस्वभावं गम्भीरं समस्तमपि द्रव्यजातमेकक्षण एव प्रत्यक्षयन्तं...।

- गा. 200 टीका

अर्थ - अब, एक ज्ञायकभाव का समस्त ज्ञेयों के जानने का स्वभाव होने से क्रमशः प्रवर्तमान, अनन्त, भूत-वर्तमान-भावी विचित्र पर्यायसमूहवाले आगाधस्वभाव और गम्भीर समस्त दव्यमात्र को, मानो वे द्रव्य ज्ञायक में उत्कीर्ण हो गये हों, विचित्र हो गये हों, भीतर घुस गये हों, कीलित हो गये हों, डूब गये हों, समा गये हों, प्रतिबिम्बित हुए हों, इस प्रकार एक क्षण में ही जो (शुद्धात्मा) प्रत्यक्ष करता है..........।

प्रतिशंका के प्रारम्भ में हमारे मत के रूप में जो यह लिखा गया है कि 'केवली भगवान् सब पदार्थों को व्यवहार से जानते हैं, अतः उनकी यह सर्वज्ञता असद्भूत है - ऐसा आपने

प्रतिपादन किया है और असद्भूत शब्द का अर्थ आरोपित किया है' सो इस सम्बन्ध में वक्तव्य यह है कि हमने स्वयं शंका प्रस्तुत करते हुए शंका के रूप में यह लिखा है कि 'यदि वह मात्र पराश्रित है तो उसे असद्भूत मानना पड़ेगा।' जबकि हमने उसे (सर्वज्ञता को) स्वाश्रित सिद्ध किया है, तब ऐसी स्थिति में सर्वज्ञ में सर्वज्ञता सद्भूत ही है, उसे असद्भूत किसी भी प्रकार नहीं माना जा सकता। ऐसा ही आगम है और यही हमारा अभिप्राय है।

(2) इस प्रकार स्वरूप से सर्वज्ञता के सम्यक् प्रकार से घटित हो जाने पर जिस समय त्रिलोक और त्रिकालवर्ती बाह्य में अवस्थित समस्त ज्ञेयों की अपेक्षा उन्हें सर्वज्ञ कहा जाता है, तब उनमें यह सर्वज्ञता पर की अपेक्षा आरोपित की जाने के कारण उपचरित सद्भूत व्यवहार से सर्वज्ञता कहलाती है। जिस प्रकार दीपक स्वरूप से प्रकाशक धर्म के कारण प्रकाशक है, घटादि पदार्थों के कारण नहीं है; उसी प्रकार केवली जिन, स्वरूप से सर्वज्ञ हैं परपदार्थों के कारण नहीं, उक्त कथन का तात्पर्य है।

इस प्रकार प्रतिशंका में उल्लिखित दो प्रश्नों का सम्यक् निर्णय करने के बाद प्रतिशंका में अध्यात्मवादियों के जो फलितरूप में दो मतों का उल्लेख किया गया है, उसका आशय हमारी समझ में नहीं आया, क्योंकि अमृतचन्द्रसूरि का कोई स्वतन्त्र मत हो और नियमसार का स्वतन्त्र, ऐसा नहीं है। हमें तो यह पढ़कर बहुत आश्चर्य हुआ। वस्तुत: ज्ञान के लिए आगम में प्राय: सर्वत्र दर्पण का दृष्टान्त दिया गया है और उस द्वारा यह ज्ञान कराया गया है कि जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्बत करने की शक्ति स्वभाव से है, उसी प्रकार ज्ञान का ज्ञेयकाररूप परिणमन करना उसका अपना स्वभाव है। किन्तु जब इसका पर की अपेक्षा प्रतिपादन किया जाता है। जैसे यह कहना कि दर्पण में पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब दूसरे के कारण पड़ा है, तब वह व्यवहार कहलाता है। इसी प्रकार ज्ञान का ज्ञेयाकार परिणमन करना, उसका अपना स्वभाव है। किन्तु जब यह कहा जाता है कि ज्ञान का ज्ञेयाकार परिणमन ज्ञेयों के कारण हुआ है, तब वह व्यवहार कहलाता है, क्योंकि ऐसे कथन में वस्तु की स्वभावभूत योग्यता को गौणकर उसका पराश्रित कथन किया गया है, इसलिए वह व्यवहार है। आध्यात्म के स्वरूप का प्रतिपादन करनेवाला जितना भी आगम साहित्य उपलब्ध होता है, उसमें तो एकरूपता ही है। किन्तु यह भी निर्णीत है कि चारों अनुयोगों के आगम साहित्य में एकरूपता है। यहाँ यह निवेदन है कि जहाँ ठीक तरह से आशय समझ में न आये, वहाँ आगम के आशय को स्पष्ट समझने का प्रयत्न होना चाहिए। प्रमाणभूत आगम की मत के रूप में प्रस्तुत करना उपयोगी नहीं है।

अब रही जन्य-जनकत्व शक्ति की बात, सो प्रत्येक द्रव्य में स्वाश्रित जन्यत्व और जनकत्व शक्तियाँ हैं। छह निश्चय कारकों में निश्चय कर्त्ता-कर्म शक्ति का उल्लेख हुआ है, वह इसी अभिप्राय से हुआ है। इतना अवश्य है कि विवक्षित द्रव्य की जन्य-जनकत्वशक्ति उसी में पाई जाती है तथा अन्य द्रव्यों की भी अपने-अपने में पाई जाती है। एक द्रव्य में जन्यशक्ति हो और उसकी जनकशक्ति किसी दूसरे द्रव्य में हो ऐसी व्यवस्था वस्तुस्वरूप के प्रतिकूल है - ऐसा आगम का अभिप्राय है।

●

तृतीय दौर

: 3 :

शंका 7

मूल प्रश्न - 'केवली भगवान् की सर्वज्ञता निश्चय से है या व्यवहार से ? यदि व्यवहार से है तो वह सत्यार्थ है या असत्यार्थ ?'

प्रतिशंका 3

इसका उत्तर तथा प्रत्युत्तर देते हुए आपने इस प्रकार कहा है—

१. **जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवली भयवं।**
केवलवाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं॥ 159॥

अर्थ - व्यवहारनय से केवली भगवान् सबके जानते हैं और देखते हैं, निश्चयनय से केवलज्ञानी नियम से आत्मा को जानते और देखते हैं।

2. सर्वज्ञता नाम का एक धर्म है जो कहीं पर होना चाहिए, तभी पर की अपेक्षा आरोप करना ठहरता है।

3. आत्मज्ञता में सर्वज्ञता का धर्म समाया हुआ है।

4. केवली जिन में जो सर्वज्ञता है, उसे मात्र पर के आश्रय से स्वीकार करने पर तो वह असद्भूत ही ठहरती है, इसमें संदेह नहीं।

5. श्री समयसार के परिशिष्ट में सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्व शक्ति को स्वीकार किया है, जिससे स्वभाव की अपेक्षा सर्वज्ञता बन जाती है।

6. परमात्मप्रकाश को उद्धृत करके लिखा है 'केवली जिन जिस प्रकार अपनी आत्मा को तन्मय होकर जानते हैं, उस प्रकार परद्रव्य को तन्मय होकर नहीं जानते। इस कारण व्यवहार कहा जाता है, पर ज्ञान का अभाव होने से व्यवहार नहीं कहा गया है।'

7. श्री अमितगति आचार्य के सामायिक पाठ का श्लोक तथा प्रवचनसार गाथा 200 की टीका उद्धृत करते हुए कहा है कि एक ज्ञायकभाव का समस्त ज्ञेयों को जानने का स्वभाव होने से समस्त द्रव्यमात्र को एक क्षण में प्रत्यक्ष करता है, मानों वे द्रव्य ज्ञायक में उत्कीर्ण हो गये हों, चित्रित हो गये हों, भीतर घुस गये हों—इत्यादि।

8. स्वरूप से सर्वज्ञता घटित हो जाने पर जिस समय समस्त ज्ञेयों की अपेक्षा उन्हें सर्वज्ञ कहा जाता है, तब उनमें यह सर्वज्ञता पर की अपेक्षा आरोपित की जाने के कारण उपचरित सद्भूत व्यवहार से सर्वज्ञता कहलाती है।

9. जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्बित करने की योग्यता स्वभाव से है, उसी प्रकार ज्ञान का ज्ञेयाकाररूप परिणमन करना उसका स्वभाव है।

10. ज्ञान का ज्ञेयाकार परिणमन ज्ञेयों के कारण हुआ है, तब वह व्यवहार कहलाता है, क्योंकि ऐसे कथन में वस्तु की स्वभावभूत योग्यता को गौण कर उसका पराश्रित कथन किया गया है।

अब इन दश विषयों के सम्बन्ध में विचार किया जाता है—

1. आपने स्वयं सोलहवें प्रश्न के उत्तर में लिखा है—

'यह तो निर्विवाद सत्य है कि ज्ञायकभाव स्वपरप्रकाशक है। स्वप्रकाशक की अपेक्षा से आत्मज्ञ और परप्रकाशक की अपेक्षा सर्वज्ञ है। ज्ञायक कहने से ही ज्ञेयों की ध्वनि आ जाती है। आत्मा को ज्ञायक कहना सद्भूत व्यवहार है और परज्ञेयों की अपेक्षा ज्ञायक कहना, यह उपचरित सद्भूत व्यवहार है।'

'सर्वज्ञ' शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है (1) सर्व और (2) ज्ञ। 'सर्व' का अर्थ समस्त

और 'ज्ञ' का अर्थ जाननेवाला है। इस तरह सर्वं जानातीति सर्वज्ञः इस व्युत्पत्ति के अनुसार सबको जाननेवाला सर्वज्ञ है। सर्वज्ञ शब्द स्वयं परसापेक्ष का द्योतक है; परनिरपेक्ष का द्योतक नहीं है। इसीलिए श्री कुन्दकुन्द भगवान ने नियमसार गाथा 159 में कहा है कि 'व्यवहारनय से केवली भगवान् सबको जानते और देखते हैं। निश्चयनय की अपेक्षा केवली नियम से आत्मा को जानते और देखते हैं।' निश्चयनय की अपेक्षा केवलज्ञानी पर को नहीं जानते.... गाथा में पड़े हुए नियम शब्द से यह स्पष्ट कर दिया है।

2. चार घातिया कर्मों का क्षय हो जाने से आत्मा में क्षायिकज्ञान अर्थात् केवलज्ञान प्रकट हो जाता है। उस क्षायिकज्ञान में निश्चयनय से 'आत्मज्ञ' नाम का धर्म है और व्यवहारनय से 'सर्वज्ञ' नाम का धर्म है। इस प्रकार सर्वज्ञ नाम का धर्म अवश्य है किन्तु यह धर्म, परसापेक्ष है, जैसे घट का ज्ञान, पट का ज्ञान आदि। व्यवहारनय की अपेक्षा से केवली जिनमें सर्वज्ञता नाम का धर्म वास्तविक है, अतः केवली में सर्वज्ञता के आरोप अर्थात् मिथ्या कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं है। समयसार गाथा 362 की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने कहा भी है—

ननु सौगतोऽपि ब्रूते - व्यवहारेण सर्वज्ञः तस्य किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति ? तत्र परिहारमहासौगतादिमते यथा निश्चयापेक्षया व्यवहारो मृषा तथा व्यवहाररूपेण व्यवहारो न सत्य इति। जैनमते पुरः व्यवहारनयो यद्यपि निश्चयापेक्षया मृषा तथापि व्यवहाररूपेण सत्य इति।

अर्थ - प्रश्न - बौद्ध भी तो व्यवहार से सर्वज्ञ कहते हैं, उनको दूषण क्यों दिया जाता है ?

समाधान - बौद्धमत में जिस प्रकार की अपेक्षा व्यवहार झूठ है, उसी प्रकार व्यवहार से व्यवहार सत्य नहीं है, किन्तु जैन मत में व्यवहारनय यद्यपि निश्चय की अपेक्षा झूठ है, तथापि व्यवहाररूप से सत्य है।

इसलिए सर्वज्ञत्व धर्म आत्मा में व्यवहारनय से होने पर भी सत्य है, आरोपित अर्थात् मिथ्या कल्पना नहीं है। किसी एक वस्तु के धर्म की किसी नियमित अपेक्षा के आधार पर दूसरी वस्तु में कहना आरोपित कहलाता है, किन्तु उसी वस्तु के धर्म को उसी वस्तु में कहना आरोपित नहीं कहा जा सकता है। जब सर्वज्ञताशक्ति आत्मा की है, तब उसका आत्मा में कथन करना आरोपित कैसे कहला सकता है ? उस शक्ति का स्वरूप ही जब पर को जानना है, तब पर की अपेक्षा तो उसमें आवेगी ही। पर को जानने का नाम ही परज्ञता है। यहाँ पर हमारा प्रश्न सर्वज्ञत्व शक्ति की अपेक्षा से नहीं है क्योंकि वह तो निगोदिया जीव में भी है। किन्तु सर्वज्ञतारूप उस परिणति से है, वह परिणति सर्व परवस्तु के आश्रय से ही मानी जा सकती है। अतएव पर

(सर्वज्ञेय) आश्रित होने से व्यवहारनय का विषय हो जाता है। जैसे जीव में विभाजन परिणमन करने की अनादि पारिणामिक शक्ति है। यह शक्ति कर्मों से उत्पन्न नहीं हुई, क्योंकि निमित्तकारण शक्ति उत्पन्न नहीं कर सकते। इस शक्ति का विभावरूप परिणमन बाह्य निमित्त पाकर ही होता है। आपके सिद्धान्तानुसार यदि विभाव परिणमन को इस शक्ति की अपेक्षा से देखा जाये तो यह भी स्वाश्रित होने से निश्चय का विषय बन जायेगा। किन्तु ऐसा है नहीं। क्योंकि समयसार गाथा 56 में 'रागादि विभाव को जीव के है' ऐसा व्यवहारनय से कहा है।

3. केवली जिन में आत्मज्ञता और सर्वज्ञता ये दोनों धर्म भिन्न-भिन्न नयों की अपेक्षा से हैं अर्थात् आत्मज्ञता निश्चयनय की अपेक्षा से है और सर्वज्ञता व्यवहारनय की अपेक्षा से है अथवा आत्मज्ञता स्व अपेक्षा से है और सर्वज्ञता पर अपेक्षा से है। अत: आत्मज्ञता में सर्वज्ञता धर्म नहीं समा सकता है, किन्तु ये दोनों धर्म दो नयों की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न होते हुए भी केवली जिन में एक साथ रह सकते हैं।

4. सर्वज्ञता यद्यपि पर-सापेक्ष है, तथापि वह असद्भूत नहीं है, किन्तु यथार्थ है। जो धर्म पर-सापेक्ष है, उसे परसापेक्ष कहना तो सत्य है, वह असद्भूत कैसे हो सकता है? परसापेक्ष होने से असद्भूत व्यवहारनय का विषय होते हुए भी असत्यार्थ नहीं है। असद्भूत व्यवहारनय का लक्षण इस प्रकार है—

भिन्नवस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहारः। - आलापपद्धति

अर्थ - जो भिन्न वस्तु को विषय करे वह असद्भूतव्यवहारनय है।

निश्चयनय का विषय दो भिन्न वस्तु नहीं है, अत: निश्चयनय की अपेक्षा सर्वज्ञता नहीं है। किसी भी आगम में निश्चयनय की अपेक्षा सर्वज्ञता स्वीकृत नहीं की गई है। समयसार गाथा 272 की टीका में भी श्री अमृतसूरि ने कहा है—

आत्माश्रितो निश्चयनयः पराश्रितो व्यवहारनयः।

अर्थ - निश्चयनय आत्मा (स्व) के आश्रित है और व्यवहारनय पर के आश्रित है।

जयधवल पुस्तक 1, पृ. 23 पर कहा है—

आत्मार्थव्यतिरिक्तसहायनिरपेक्षत्वाद् वा केवलमसहायम्।

अर्थ - केवलज्ञान आत्मा और पदार्थ (ज्ञेय) से अतिरिक्त किसी इन्द्रियादि की सहायता

की अपेक्षा नहीं रखता है, इसलिए वह केवल असहाय है अर्थात् केवलज्ञान आत्मा और पदार्थ की अपेक्षा रखता है।

इस तरह चूँकि सर्वज्ञता में पदार्थ विषयता की अपेक्षा है, अत: वह पराश्रित होने से व्यवहारनय से है। इसी कारण प्रवचनसार में श्री कुन्दकुन्द भगवान् ने कहा - '**णाणं णेयपमाणनुद्दिट्ठं**' अर्थात् ज्ञान ज्ञेयप्रमाण कहा गया है। यद्यपि निश्चय से उसमें अनन्तानन्त लोकालोक को जानने की शक्ति है। (राजवार्तिक 1, 29) अर्थात् ऐसे अनन्तानन्त लोकालोक हों तो उन्हें भी जान सकता है, किन्तु सर्वज्ञता की अपेक्षा व्यवहारनय की दृष्टि में वह ज्ञान, ज्ञेय प्रमाण है।

7. समयसार परिशिष्ट में आत्मा की 47 शक्तियों का कथन है। उनमें से कुछ शक्तियाँ परापेक्षित भी हैं। जैसे पर की अपेक्षा रखनेवाली अकार्यकारणत्व शक्ति व अकर्तृत्व शक्ति, क्योंकि अन्य से न करने योग्य और अन्य का कारण नहीं—ऐसी अकार्यकारण शक्ति है और ज्ञातापने मात्र से भिन्न परिणाम के करने का अभावस्वरूप अकर्तृत्व नाम की शक्ति है। इसी प्रकार सर्व परज्ञेयों की अपेक्षा रखनेवाली सर्वदर्शित्व व सर्वज्ञत्व नाम की शक्तियाँ हैं। सर्वदर्शित्व और सर्वज्ञत्व में जो 'सर्व' शब्द है, वह स्वयं ही सर्व परपदार्थों की अपेक्षा का द्योतक है।

श्री कुन्दकुन्द भगवान ने समयसार में स्वभाव से सर्वज्ञता मानते हुए भी सर्वज्ञता को व्यवहारनय का ही विषय कहा है—

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ।
तह जाणओ दु ण परस्स जाणओ जाणओ सो दु॥ 356॥
एवं तु णिच्छयणयस्स भासियं णाण-दंसण-चरित्ते।
सुणु ववहारणयस्य य वतव्वं से समासेण॥ 360॥
जह परदव्वं सेडिदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं जाणइ णाया वि सएण भावेण॥ 361॥
एवं ववहारस्स दु विणिच्छओ णाण-दंसण-चरिते॥ 365॥

अर्थ - जैसे सेटिका (कली, खड़िया, मिट्टी) तो पर की नहीं है, सेटिका तो स्वयं सेटिका है, उसी प्रकार आत्मा, परद्रव्य का ज्ञायक नहीं है, ज्ञायक तो ज्ञायक ही है। इस प्रकार

ज्ञान-दर्शन-चारित्र में निश्चयनय का कथन है। संक्षेप में व्यवहारनय का कथन सुनो। जैसे सेटिका अपने स्वभाव से परद्रव्य दीवाल आदि को सफेद करती है, उसी प्रकार ज्ञाता भी अपने स्वभाव से परद्रव्य को जानता है। इस प्रकार ज्ञान-दर्शन-चारित्र के विषय में व्यवहारनय का निर्णय कहा।

गाथा की व्याख्या में श्री अमृतचन्द्रसूरि ने स्पष्ट लिखा है—

तथा तेन श्वेतमृत्तिकादृष्टान्तेन परद्रव्यं घटादिकं तोयं वस्तु व्यवहारेण जानाति।

अर्थ - खड़िया के दृष्टान्त से आत्मा, परद्रव्य घट आदि ज्ञेय वस्तु को व्यवहारनय से जानता है; स्वभाव से परद्रव्य को जानना भी व्यवहारनय का विषय है—ऐसा श्री कुन्दकुन्द भगवान् ने उपर्युक्त गाथाओं में तथा नियमसार गाथा 159 में स्पष्ट कहा है। भगवान् कुन्दकुन्द के वाक्यों का विरोध करते हुए आप सर्वज्ञता का निश्चय से कहने का क्यों प्रयत्न कर रहे हैं? क्या आप ऐसा इसलिए कहते हैं कि व्यवहारनय को सत्यार्थ मानना आपको इष्ट नहीं है? जिसको कि श्री अमृतचन्द्रसूरि ने अपनी व्याख्या में परमार्थ स्वीकार किया है।

6. परमात्मप्रकाश की टीका को उद्धृत करते हुए जो आपने यह लिखा है कि 'केवली जिन जिस प्रकार अपनी आत्मा को तन्मय होकर जानते हैं, उस प्रकार परद्रव्य को तन्मय होकर नहीं जानते, इस कारण व्यवहार है, परज्ञान का अभाव होने से व्यवहार नहीं कहा गया।' इससे भी सर्वज्ञता निश्चयनय का विषय नहीं ठहरता। परपदार्थ के साथ ज्ञान का तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। अपितु ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है, अत: दो द्रव्यों के सम्बन्ध होने से वह व्यवहारनय का ही विषय ठहरता है। इस प्रकार आपके प्रमाण के द्वारा ही आपका मत खण्डित हो जाता है अर्थात् परमात्मप्रकाश से भी सर्वज्ञता निश्चयनय का विषय सिद्ध नहीं होती, किन्तु व्यवहारनय का ही विषय सिद्ध होती है।

7. श्री अमितगति आचार्य के समाधि पाठ तथा प्रवचनसार गाथा 200 की टीका को उद्धृत करते हुए आपने जो लिखा है कि 'एक ज्ञायकभाव का समस्त ज्ञेयों को जानने का स्वभाव होने से सर्वज्ञ समस्त द्रव्यमात्र को एक क्षण में प्रत्यक्ष करता है, मानो वे द्रव्य ज्ञायक में उत्कीर्ण हो गये हों, चित्रित हो गये हों, भीतर घुस गये हों इत्यादि।' सम्भवत: इन वाक्यों द्वारा आप यह कहना चाहते हैं कि दर्पण की तरह ज्ञान भी ज्ञेयाकाररूप परिणम जाता है, सो आपका यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि दर्पण मूर्तिक है, जिसकी स्वच्छता मूर्तिक द्रव्य के आकार

व वर्णरूप परिणम जाती है, किन्तु आत्मा तो अमूर्तिक है। वह मूर्तिक पदार्थों के आकाररूप कैसे परिणम सकता है? ज्ञान ज्ञेयों को जानता है, यह बतलाने के लिये दर्पण का दृष्टान्त मात्र दिया गया है। ज्ञान ज्ञेयाकाररूप नहीं परिणमता है, इसका युक्ति सहित स्पष्ट उल्लेख प्रमेयकमलमार्तण्ड में किया गया है, जो इस प्रकार है—

विषयाकारधारित्वं च बुद्धरनुपपन्नम्, मूर्तस्व्यामूर्ते प्रतिबिम्बासंभवत्। तथाहि न विषयाकारधारिणी बुद्धिमूर्तत्वादाकाशवत्, यत्तु विषयाकारधारि तन्मूर्तं यथा दर्पणादि।

अर्थ – ज्ञान को विषयाकार धारण करनेवाला मानना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि घट पट आदि श्रेयभूत मूर्त पदार्थ का अमूर्तिक ज्ञान में प्रतिबिम्ब होना असम्भव है। ज्ञान, ज्ञेयाकार को धारण करनेवाला नहीं है क्योंकि वह अमूर्त है, जैसे आकाश। जो-जो ज्ञेयाकार (ज्ञेयों के प्रतिबिम्ब) को धारण करनेवाला होता है, वह मूर्त होता है, जैसे – दर्पण, जलादि। ज्ञान अमूर्त है, क्योंकि अमूर्त आत्मा का गुण है। जिस प्रकार आकाश में किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब नहीं बनता, क्योंकि स्वभाव से अमूर्त है, उसी प्रकार आत्मा भी अमूर्त है, अत: उसमें भी परपदार्थों के आकार का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता।

ऐसी ही विवेचना मूलाराधना और प्रमेयरत्नमाला में भी है।

यद्यपि ज्ञान को साकार कहा है, परन्तु वहाँ आकार का अर्थ प्रतिबिम्ब न होकर अर्थविकल्प लिया है। कहा भी है—**कम्मकत्तागारो आगारो तेण आगारेण सह वट्टमाणो उवजोगो सागारो त्ति।** – जयधवला, पृ. 338

अर्थात् कर्म-कर्तृत्व को आकार कहते हैं और उस आकार से सहित उपयोग साकार उपयोग कहलाता है।

यहाँ प्रमेयरत्नमाला के '**ज्ञानविषयभूतं वस्तु कर्मेत्यमिधीयते**' इस उल्लेख के अनुसार कर्म का अर्थ ज्ञेय लेना चाहिए, उसका विकल्प ज्ञान में आता है, अत: ज्ञान को साकार कहते हैं। यदि कहीं पर ज्ञान में ज्ञेयों के प्रतिबिम्ब अथवा ज्ञान की ज्ञेयाकार परिणति कही गई है तो उसका वहाँ इतना ही प्रयोजन है कि जिस प्रकार प्रतिबिम्ब ज्यों का त्यों पड़ता है उसी प्रकार ज्ञान ज्ञेयों को ज्यों का त्यों यथार्थ जानता है। इस जानने का नाम ही ज्ञेयाकार परिणति है। यदि यह मान लिया जावे कि ज्ञान में ज्ञेयों के प्रतिबिम्ब पड़ने पर ही ज्ञान ज्ञेयों को जानता है तो ज्ञान रस, गन्ध, स्पर्श को तथा अमूर्तिक पदार्थों को नहीं जान सकेगा, क्योंकि इनका प्रतिबिम्ब नहीं

पड़ता है और न ज्ञान रसादिरूप परिणम सकता है। प्रतिबिम्ब या छाया तो पुद्‌गलद्रव्य की पर्याय है, ज्ञान की नहीं। अत: अमितगति सामायिक पाठ तथा प्रवचनसार गाथा 200 की टीका से भी यह सिद्ध नहीं होता कि केवली जिन निश्चयनय की अपेक्षा सर्वज्ञ हैं।

आपने पदार्थ तीन प्रकार के लिखे—1. शब्दरूप, 2. अर्थरूप, 3. ज्ञानरूप। इनमें से शब्दरूप पदार्थ 'घट' शब्द और ज्ञानरूप पदार्थ जैसे घट को जानना रूप घटज्ञान, ये दोनों पदार्थ पराश्रित होने से व्यवहार के विषय है। जैसे घट में जलधारण हो सकता है, वैसे घट शब्द या घटज्ञान में जलधारण नहीं हो सकता। अन्न से पेट भर सकता है, भूख मिट सकती है, किन्तु अन्न शब्द से या अन्न के ज्ञानमात्र से पेट नहीं भर सकता, अत: शब्द व ज्ञान को पदार्थ व्यवहार से कहा गया है।

8. आपने कहा है 'स्वरूप से सर्वज्ञता घटित हो जाने पर जिस समय समस्त ज्ञेयों की अपेक्षा उन्हें सर्वज्ञ कहा जाता है, तब उनमें यह सर्वज्ञता पर की अपेक्षा आरोपित की जाने के कारण उपचरित सद्भूत व्यवहार से सर्वज्ञता कहलाती है।'

यहाँ विचारणीय बात यह है कि जब केवली जिन सर्वज्ञ हैं तो उनमें वही धर्म आरोपित नहीं हो सकता, अत: आपका उपर्युक्त कथन आपके द्वारा ही बाधित ही रहा है। फिर स्वरूप से सर्वज्ञता घटित भी नहीं होती, आत्मज्ञता ही घटित होती है। परपदार्थों और ज्ञान में परस्पर ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध है। यद्यपि ज्ञान ज्ञेयों को अपने स्वभाव से जानता है, तथापि ज्ञेयों के साथ ज्ञायक का सम्बन्ध व्यवहारनय से ही है। समयसार पृ. 448 पर गाथा 361 की टीका में श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने कहा भी है—

चेतयितापि ज्ञानगुणनिर्भरस्वभावः स्वयं पुद्‌गलादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममानः पुद्‌गलादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन् पुद्‌गलादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनो ज्ञानगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानः पुद्‌गलादिपरद्रव्यं चेतायितृनिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणमेनोत्पद्यमाननमात्मनः स्वभावेन जानीति व्यवह्रियते।

अर्थ - ज्ञानगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला चेतयिता भी स्वयं पुद्‌गलादि परद्रव्य के स्वभावरूप परिणमित न होता हुआ और पुद्‌गलादि परद्रव्यों को अपने स्वभावरूप परिणमित न करता हुआ पुद्‌गलादि परद्रव्य जिसमें निमित्त हैं—ऐसे अपने ज्ञानगुण से परिपूर्ण स्वभाव के द्वारा उत्पन्न होते हुए पुद्‌गलादि परद्रव्यों को अपने स्वभाव से जानता है—ऐसा व्यवहार किया जाता है।

आलापपद्धति में श्री देवसेनाचार्य ने कहा—

स्वभावस्याप्यन्यत्रोप्रचारादुपचरितस्वभावः। स द्वेधा-कर्मज-कर्म-स्वाभाविक-भेदात्। यथा जीवस्य मूर्तत्वमचेतनत्वं यथा सिद्धानां पराता परदर्शकत्वं च।

अर्थ - स्वभाव का अन्यत्र उपचार, सो उपचरित स्वभाव है। वह उपचरित स्वभाव, कर्मजनित और स्वभाविक के भेद से दो प्रकार का है, जैसे जीव के मूर्तपना तथा अचेतपना स्वभाव है, यह कर्मजनित उपचरित है और सिद्धों के पर को जानना (सर्वज्ञता) और पर को देखना (सर्वदर्शिता), यह स्वाभाविक उपचरित है।

इस प्रकार श्री देवसेनाचार्य ने भी सर्वज्ञता को उपचरितनय से ही बतलाया है। यदि उपचरितनय को न माना जाये और अनुपचरितनय का एकान्त पक्ष ग्रहण किया जाय तो परज्ञता (सर्वज्ञता) से विरोध आ जायेगा। इस ही को आलापपद्धति में इन शब्दों द्वारा कहा है—

उपचरितैकान्तपक्षेऽपि नात्मज्ञता संभवति नियमितपक्षत्वात्। तथात्मनोऽनुपचरित-पक्षेऽपि परज्ञतादीनां विरोधः स्यात्।

अर्थ - उपचरित एकान्त पक्ष में नियमित पक्ष होने से आत्मा के आत्मज्ञता सम्भव नहीं होती है। उसी प्रकार अनुपचरित एकान्त पक्ष में भी आत्मा के परज्ञता (सर्वज्ञता) का विरोध हो जायेगा।

प्रवचनसार गाथा 32 की टीका में जयसेनाचार्य ने कहा है—

व्यवहारनयेन पश्यति समन्ततः सर्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्जानाति च सर्वं निवशेषम्।

अर्थ - व्यवहारनय से वे भगवान् समस्त को सर्व द्रव्य क्षेत्र काल भावों के द्वारा देखते तथा जानते हैं।

इसी प्रकार गाथा 38 की टीका में भी यही कहा है—

परद्रव्यपर्यायं तु व्यवहारेण परिच्छिनत्ति।

अर्थ - व्यवहार से परद्रव्य और पर्यायों को जानते हैं।

जाणगभावों जाणदि अप्पाणं जाण णिच्छयणयेण।
परद्रव्यं ववहारा मइसुइओहिमणकेवलाधारं॥ 339॥

- नयचक्रसंग्रह, पृ. 119, माणिकचन्द्र ग्रंथमाला

अर्थ - ज्ञायकभाव मति-श्रुत-अवधि-मन:पर्यय-केवलज्ञान के आधार से निश्चयनय की अपेक्षा आत्मा को जानता है और परद्रव्य को व्यवहारनय से जानता है।

उपर्युक्त आगम प्रमाणों से यह सिद्ध है कि केवली जिनमें सर्वज्ञता व्यवहार से है, निश्चयनय से नहीं है। ज्ञानगुण की अपेक्षा आत्मा ज्ञायक है। निश्चयनय से आत्मा ज्ञानगुण के द्वारा स्वरूप की अर्थात् स्व को जानता है और व्यवहारनय से आत्मा उस ही ज्ञानगुण स्वभाव के द्वारा परद्रव्यों अर्थात् सर्व ज्ञेयों को जानता है। स्व में पर का अत्यन्ताभाव है और पर में स्व का अत्यन्ताभाव है। 'स्व' पररूप नहीं परिणमता और 'पर' स्वरूप (आत्मरूप) नहीं परिणमता।

9. इसका कारण ऊपर नं. 3 में किया जा चुका है।

10. आपने लिखा है कि 'ज्ञान का ज्ञेयाकार परिणमन ज्ञेयों के कारण हुआ है, तब वह व्यवहार कहलाता है, क्योंकि ऐसे कथन में वस्तु की स्वभावभूत योग्यता को गौण कर उसका पराश्रित कथन किया गया है।' सो आपका ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान ज्ञेयाकाररूप परिणमन नहीं करता। जैसा कि नं. 7 के विचार में ऊपर कहा जा चुका है। ज्ञेयों के जानने को ही ज्ञान का ज्ञेयाकाररूप परिणमन कहा जाता है। रस, गन्ध, शीत, ऊष्ण, हलका, भारी, नरम, कठोर आदि मूर्तिक गुण तथा धर्मादि अमूर्तिक द्रव्यों के गुणों का कोई आकार न होने से उन ज्ञेयों के आकाररूप ज्ञान नहीं परिणमता, किन्तु जानता है, क्योंकि जानना ज्ञान का स्वभाव है। ज्ञान अपने स्वभाव से सर्व ज्ञेयों को जानता है, इस कथन में स्वभाव गौण नहीं है, तथापि ज्ञेय परद्रव्य है, अत: यह कथन व्यवहारनय की अपेक्षा से है। ज्ञान ज्ञेयों को अपने स्वभाव से जानता अवश्य है, किन्तु आत्मा के प्रदेश या ज्ञान के अविभागप्रतिच्छेद ज्ञेयों के आकाररूप नहीं परिणमन करते। ऐसा ही श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने प्रवचनसार में कहा है—

णाणी णाणसहावो अत्था णेयप्पगा हि णाणिस्स।
रूवाणि व चक्खूणं णेवाण्णेण्णेसु वट्टंति॥ 28॥

अर्थ – आत्मा ज्ञानस्वभाव है और पदार्थ आत्मा के ज्ञेयस्वरूप है, जैसे कि रूप नेत्रों का ज्ञेय स्वरूप होता है, परन्तु वे एक दूसरे में नहीं वर्तते।

इस प्रकार व्यवहारनय से सर्वज्ञता सिद्ध हो जाने पर वह सत्यार्थ है, क्योंकि प्रत्येक नय अपने विषय ज्ञान कराने में सत्य है, असत्य नहीं है। कहा भी है—

ण च ववहारणओ चप्पलओ, तत्तो ववहाराणुसारिसिस्साणं पउत्तिदंसणादो। जो बहुजीवाणुग्गहकारी ववहारणओ सो चैव समस्सिदव्वो त्ति मणेणावहारिय गोदमथेरेण मंगलं तत्थ कथं। *– जयधवल, पु. 1, पृ. 8*

अर्थ – यदि कहा जाये कि व्यवहारनय असत्य है, सो भी ठीक है, क्योंकि उससे

व्यवहार का अनुसरण करनेवाले शिष्यों की प्रवृत्ति देखी जाती है, जो व्यवहारनय बहुत जीवों का अनुग्रह करनेवाला है, उसी का आश्रय करना चाहिए ऐसा मन में निश्चय करके गौतम स्थविर ने चौबीस अनुयोग द्वारों के आदि में मंगल किया है।

यहाँ सन्मतितर्क की निम्नांकित गाथा दृष्टव्य है—

णिययवयणिज्जसच्चा सव्वणया परवियालणे मोहा।
ते उण दिट्ठसमओ विभयइ सच्चे व अलिए वा॥ 128॥

अर्थ - ये सभी नय अपने-अपने विषय के कथन करने में समीचीन हैं और दूसरे नयों के निराकरण करने में मूढ़ हैं। अनेकान्त के ज्ञाता पुरुष यह नय सच्चा है और यह नय झूठा है, इस प्रकार का विभाग नहीं कर सकते।

यही गाथा जयधवाला पुस्तक 1, पृ. 257 पर निम्नांकित वाक्यों के साथ उद्धृत की गई है—

न चैकान्तेन नया मिथ्यादृष्टय एव, परपक्षानिराकरिष्णूनां सपक्ष (स्वपक्ष) सत्त्वावधारणे व्यापृतानां स्यात्सम्यग्दृष्टित्वदर्शनात्।

अर्थ - नय एकान्त से मिथ्यादृष्टि ही है, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जो नय परपक्ष का निराकरण नहीं करते हुए ही अपने पक्ष के अस्तित्व का निश्चय करने में व्यापार करते हैं, उनमें कथंचित् समीचीनता पायी जाती है।

उक्त गाथा का विशेषार्थ लिखते हुए श्री पं. फूलचन्द्रजी ने लिखा है—

'हर एक नय की मर्यादा अपने अपने विषय के प्रतिपादन करने तक सीमित है। इस मर्यादा में जबतक वे नय रहते हैं, तब तक वे सच्चे हैं और इस मर्यादा को भंग करके जब वे नय अपने प्रतिपक्षी नय के कथन का निराकरण करने लगते हैं, तब वे मिथ्या हो जाते हैं। इसलिए हर एक नय की मर्यादा को जाननेवाला और उनका समन्वय करनेवाला अनेकान्तज्ञ पुरुष दोनों नयों के विषय को जानता हुआ एक नय सत्य ही है और दूसरा नय असत्य ही है ऐसा विभाग नहीं करता। किन्तु किसी एक नय का विषय उस नय के प्रतिपक्षी दूसरे नय के विषय के साथ ही सच्चा है - ऐसा निश्चय करता है।'

नोट - निश्चयनय और व्यवहारनय का स्वरूप समझने के लिये अन्य प्रश्नों पर भी दृष्टि डालिये।

●

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलं।।

शंका 7

मूल प्रश्न 7- केवली भगवान की सर्वज्ञता निश्चय से है या व्यवहार से। यदि व्यवहार से है तो वह सत्यार्थ है या असत्यार्थ ?

प्रतिशंका 3 का समाधान

केवली जिन निश्चय से आत्मज्ञ हैं और व्यवहार से सर्वज्ञ हैं, इसका स्पष्टीकरण प्रथम और द्वितीय उत्तर में करते हुए पिछली प्रतिशंका में उठाये गये दो प्रश्नों का सम्यक् प्रकार से विचार पिछले उत्तर में कर आये हैं।

तत्काल प्रस्तुत प्रतिशंका के आधार से विचार करना है। इसमें 10 मुद्दे उपस्थित कर उनके आधार से प्रतिशंका को स्वरूप प्रदान किया गया है।

1. प्रथम मुद्दा उपस्थित करते हुए 16वें प्रश्न के उत्तर में हमारे द्वारा दिये गये वक्तव्य का अंश बतला कर ये वचन उपस्थित किये गये हैं—

'यह तो निर्विवाद सत्य है कि ज्ञायकभाव स्व-परप्रकाशक है। स्व-प्रकाशक की अपेक्षा से आत्मज्ञ और परप्रकाशक की अपेक्षा सर्वज्ञ है। ज्ञायक कहने से ही ज्ञेयों की ध्वनि आ जाती है। आत्मा को ज्ञायक कहना सद्भूत व्यवहार है और परज्ञेयों की अपेक्षा ज्ञायक कहना, यह उपचरित सद्भूत व्यवहार है।'

अब हमारे उस कथन को पढ़िए जिसे बदलकर अपरपक्ष ने उक्त रूप प्रदान किया है—

'अब यह देखना है कि जो यहाँ आत्मा को ज्ञायकरूप कहा है, सो वह पर की अपेक्षा ज्ञायक कहा है कि स्वरूप से ज्ञायक है। यदि एकान्त से यह माना जाता है कि वह पर की अपेक्षा ज्ञायक है तो ज्ञायकभाव आत्मा का स्वरूप सिद्ध न होने से ज्ञायकस्वरूप आत्मा का सर्वथा अभाव प्राप्त होता है। यह तो है कि ज्ञायकभाव स्वपरप्रकाशक होने से पर को जानता अवश्य है। पर वह पर की अपेक्षा मात्र ज्ञायक न होने से स्वरूप से ज्ञायक है। फिर भी उसे ज्ञायक कहने से उसमें ज्ञेय की ध्वनि आ जाती है, इसलिए उस पर ज्ञेय की विवक्षा लागू पड़ जाने से उसे उपचरित कहा है। इस प्रकार आत्मा को ज्ञायक कहना, यह सद्भूत व्यवहार है और उसे ज्ञेय

की अपेक्षा ज्ञायक ऐसा कहना यह उपचरित है। इस प्रकार जब ज्ञेय की अपेक्षा ऐसा कहा जाता है कि आत्मा ज्ञायक है, तब वह उपचरित सद्भूत व्यवहारनय का विषय होता है।'

इस प्रकार ये दो रूप (एक हमारे वक्तव्य का मूल रूप और दूसरा अपरपक्ष द्वारा उसका अपनी प्रस्तुत प्रतिशंका में परिवर्तन करके हमारा वक्तव्य बतला कर उपस्थित किया गया रूप) सामने है।

अपरपक्ष ने हमारे मूल वक्तव्य को परिवर्तित कर क्यों उपस्थित किया, इसका कारण है। बात यह है कि उसे निश्चयनय और व्यवहारनय परस्पर सापेक्ष होते हैं, यह बतलाना इष्ट है। किन्तु हमारे उक्त वक्तव्य से उस पक्ष के अभिप्राय की पुष्टि नहीं होती और साथ ही वह पक्ष यह भी बतलाना चाहता है कि ऐसा हम (उत्तर पक्ष) भी मानते हैं। यही कारण है कि उस पक्ष ने हमारे उक्त कथन को बदलकर उसे उक्त रूप प्रदान कर दिया। इससे उस पक्ष के दो अभिप्राय सिद्ध हो गये - एक तो उस वक्तव्य द्वारा उसे जो कहना था, वह कह दिया और दूसरे वह उस पक्ष का कहना न कहलाकर हमारा (उत्तर पक्ष) का कहना कहलाने लगा।

हम उसके द्वारा किये गये ऐसे प्रयास पर विशेष टीका-टिप्पणी तो नहीं करेंगे। किन्तु उस पक्ष द्वारा ऐसा गलत मार्ग अपनाया जाना ठीक नहीं इतना अवश्य कहेंगे।

उस पक्ष ने अपने इस अभिप्राय को सिद्ध करने के लिए 'सर्वज्ञ' शब्द की व्युत्पत्ति का भी सहारा लिया है। उसका कहना है कि 'सर्वज्ञ शब्द स्वयं परसापेक्ष का द्योतक है, परनिरपेक्ष का द्योतक नहीं है। इसीलिए श्री कुन्दकुन्द भगवान् ने नियमसार गाथा 159 में कहा है कि व्यवहार से केवली भगवान् सबको जानते और देखते हैं। निश्चयनय की अपेक्षा केवली नियम से आत्मा को जानते और देखते हैं। निश्चयनय की अपेक्षा केवलज्ञानी पर को नहीं जानते..... गाथा में पड़े हुए नियम शब्द से यह स्पष्ट कर दिया है।'

किन्तु अपर पक्ष का कथन ठीक नहीं, क्योंकि सकल द्रव्यों और उनकी पर्यायों का साक्षात् करना (प्रत्यक्ष जानना) यह केवलज्ञान या केवलज्ञानी का स्वरूप है। अष्टसहस्री पृ. 132 में लिखा है—

सकलप्रत्यक्षस्य सर्वद्रव्यपर्यायसाक्षात्करणं स्वरूपम्।

सब द्रव्यों और उनकी सब पर्यायों का साक्षात् करना, यह सकल प्रत्यक्ष का स्वरूप है।

भगवान् कुन्दकुन्द ने 'आत्मज्ञ' शब्द द्वारा इसी स्वरूप का कथन किया है, क्योंकि केवलज्ञानी (आत्मा) का प्रत्येक समय में इसी प्रकार जानने देखनेरूप का दूसरे की (प्रमेयों

की) अपेक्षा किये बिना स्वयं परिणमन होता है। अतएव केवली जिन निश्चयनय से आत्मा (स्व) को जानते हैं देखते हैं, यह सिद्ध हुआ। यहाँ पर '**अप्पाणं**' पद स्वप्रकाशक स्वरूप का सूचक है। यत: केवलज्ञानी अपने स्वरूप को जानता देखता है, अत: स्वपरस्वरूप सकल प्रमेयों को स्वयं जानता देखता है। यह निश्चयनय के कथन का तात्पर्य सिद्ध होता है। तीन लोक और त्रिकालवर्ती जितने प्रमेय हैं, उनको जानने-देखने का केवलज्ञान और केवलदर्शन का स्वयं परिणमन होता है। यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

यह निश्चयनय का वक्तव्य है। अब व्यवहार के वक्तव्य पर विचार कीजिए। इसे तो अपर पक्ष को भी स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रत्येक वस्तु का स्वरूप स्वत:सिद्ध होता है। यदि प्रत्येक वस्तु के स्वरूप की सिद्धि भी परसापेक्ष मानी जाये तो दोनों नहीं बनेंगे अर्थात् दोनों का अभाव हो जायेगा। यत: दोनों का अभाव मानना अपरपक्ष को भी इष्ट नहीं होगा, अत: प्रत्येक वस्तु के स्वरूप को स्वत:सिद्ध मान लेना ही श्रेयस्कर है। इस प्रकार प्रमाण और प्रमेय का स्वरूप स्वत:सिद्ध होने पर भी उनका व्यवहार परस्पर सापेक्ष होता है, क्योंकि प्रमाण के निश्चयपूर्वक प्रमेय का निश्चय होता है और प्रमेय के निश्चयपूर्वक प्रमाण का निश्चय होता है, अतएव परसापेक्ष ऐसे व्यवहार को ध्यान में रखकर जब कथन किया जाता है, तब यह कहा जाता है कि व्यवहार से केवली जिन सबको जानते-देखते हैं।

दोनों नयों के कथन का आशय एक ही है। यदि इनके कथन में अन्तर है तो इतना ही कि निश्चयनय स्वरूप की अपेक्षा जिस बात को कहता है, व्यवहारनय परसापेक्ष होकर उसी बात को कहता है, इसलिए निश्चयनय का कथन यथार्थ है, क्योंकि परनिरपेक्ष जो वस्तु का स्वरूप है, वही उसके द्वारा कहा गया है। किन्तु व्यवहारनय का कथन उपचरित है, क्योंकि परसापेक्ष वस्तु का स्वरूप तो नहीं है, लेकिन परसापेक्षरूप से उसकी सिद्धि की गई है।

अतएव अपर पक्ष का न तो 'स्वप्रकाशक की अपेक्षा से आत्मज्ञ और परप्रकाशक की अपेक्षा सर्वज्ञ है।' यही कहना आगमानुकूल है और न 'सर्वज्ञ शब्द स्वयं परसापेक्ष का द्योतक है, परनिरपेक्ष का द्योतक नहीं है।' इत्यादि लिखना ही आगमानुकूल है।

हमारा यह लिखना यथार्थ क्यों है, इसके लिए आप्तमीमांसा कारिका 73 और 75 पर तथा उनकी अष्टसहस्री टीका पर दृष्टिपात कीजिए।

2. अपरपक्ष ने अपने दूसरे मुद्दे में भी अपने प्रथम मुद्दे के कथन को ही दुहराया है, कोई नई बात नहीं कही है। अपर पक्ष का कहना है कि 'उस क्षायिकज्ञान में निश्चयनय से आत्मा नाम का धर्म है और व्यवहारनय से सर्वज्ञ नाम का धर्म है। इस प्रकार सर्वज्ञ नाम का धर्म अवश्य

है किन्तु यह धर्म परसापेक्ष है, जैसे घट का ज्ञान, पट का ज्ञान आदि। व्यवहारनय की अपेक्षा से केवली जिनमें सर्वज्ञता नाम का धर्म वास्तविक है, अत: केवली में सर्वज्ञता के आरोप अर्थात् मिथ्या कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं है।' आदि।

यह अपरपक्ष के वक्तव्य का कुछ अंश है। इस पर विचार करने के पहले व्यवहारनय के मुख्य दो भेदों के स्वरूप पर दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है। व्यवहारनय के मुख्य भेद दो हैं - असद्भूतव्यवहारनय और सद्भूतव्यवहारनय। अन्यत्र प्रसिद्ध धर्म का अन्यत्र समारोप करना यह असद्भूत व्यवहारनय है तथा गुण-गुणी, पर्याय-पर्यायी आदि का भेद दिखलाना सद्भूत व्यवहार है। - अलापपद्धति

स्व-पर को जानना ज्ञान का स्वरूप है। यहाँ अन्यत्र प्रसिद्ध धर्म का अन्यत्र आरोप नहीं किया गया है, इसलिए तो यह असद्भूत व्यवहारनय का विषय नहीं है तथा यहाँ स्वरूप कथन किया जा रहा है, कुछ गुण-गुणी आदि का भेद नहीं दिखलाया जा रहा है, इसलिए यह सद्भूत व्यवहारनय का भी विषय नहीं है। ऐसी अवस्था में वह तीसरा कौनसा व्यवहारनय है जिसकी अपेक्षा अपरपक्ष क्षायिकज्ञान में सर्वज्ञ नाम का धर्म स्वीकार करता है और फिर सर्वज्ञ में यह धर्म अस्तिरूप होकर भी उसे परसापेक्ष बतलाता है। किसी वस्तु का कोई धर्म उसका स्वरूप हो और फिर उसे परसापेक्ष कहा जाय, यह बड़ी विचित्र कल्पना है।

अपरपक्ष ने अपने अभिप्राय की पुष्टि में 'घट का ज्ञान, पट का ज्ञान' यह उदाहरण उपस्थित किया है। किन्तु घटज्ञान के काल में स्व-पर को जाननेरूप जो परिणाम हुआ, वह ज्ञान का स्वरूप है और स्वत:सिद्ध है। वह घट के रहने पर भी होता है और घट के न रहने पर भी होता है, अन्यथा केवलज्ञान तथा स्मृत्यादि ज्ञानों की व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी। इतना अवश्य है कि घट-पट में और ज्ञान में जो ज्ञाप्य-ज्ञापक व्यवहार होता है, वह परस्पर की अपेक्षा से ही सिद्ध होता है। यही कारण है कि हमने भेद विवक्षा में आत्मा को ज्ञायक कहना, इसे सद्भूत व्यवहारनय का विषय बतला कर ज्ञेय की अपेक्षा, उसे ज्ञायक कहना इसे उपचरित बतलाया है।

अपरपक्ष ने समयसार गाथा 362 की जयसेनाचार्य कृत टीका के '**ननु सौगतोऽपि**' इत्यादि अंश को उपस्थित कर लिखा है कि 'सर्वज्ञत्व धर्म आत्मा में व्यवहारनय से होने पर भी सत्य है, आरोपित अर्थात् मिथ्या कल्पना नहीं है।' सो इस सम्बन्ध में इतना ही कहना है कि सर्वज्ञता यह केवलज्ञान का स्वरूप है। अपरपक्ष जिस व्यवहारनय से उसे केवलज्ञान का धर्म बतलाता है, वह व्यवहारनय उस पक्ष की अपनी कल्पनामात्र है। इसका तो यह अर्थ हुआ कि वह पक्ष सर्वज्ञता को कल्पना में सत्य मानता है, वास्तव में सत्य नहीं मानता। यदि वह पक्ष

सर्वज्ञता को वास्तव में सत्य मानता है तो वह ऐसा क्यों लिखता है कि सर्वज्ञत्व धर्म आत्मा में व्यवहारनय से है। तब तो उस पक्ष की ओर से हमारे ही समान यही लिखा जाना चाहिए कि आत्मा में सर्वज्ञत्व धर्म यथार्थ में है। सर्वज्ञता यथार्थ कैसे है और सर्वज्ञता में आत्मज्ञता तथा आत्माज्ञता में सर्वज्ञता कैसे अन्तर्निहित है, इसका स्पष्टीकरण हम पिछले उत्तर में विशेषरूप से कर आये हैं।

अपरपक्ष ने लिखा है कि 'जब सर्वज्ञता शक्ति आत्मा की है, तब उसका आत्मा में कथन करना आरोपित कैसे कहला सकता है? उस शक्ति का स्वरूप ही जब पर को जानना है, तब पर की अपेक्षा तो उसमें आवेगी ही। पर को जानने का नाम ही परज्ञता है।'

समाधान यह है कि सर्वज्ञत्व शक्ति आत्मा की है। उसे आरोपित न तो हमने लिखा ही है और न वह आरोपित है ही। उस शक्ति का स्वरूप केवल पर को जानने का न होकर सबको जानने का है। यदि जिनदेव उस द्वारा केवल पर को जानें तो उस शक्ति में परज्ञता बने। किन्तु उस द्वारा वे सबको जानते हैं, इसलिए वह सर्वज्ञतारूप ही सिद्ध होती है।

अपरपक्ष का कहना है कि यहाँ पर हमारा प्रश्न सर्वज्ञत्वशक्ति की अपेक्षा से नहीं है, क्योंकि वह तो निगोदिया जीव में भी है। किन्तु सर्वज्ञतारूप उस परिणति से है, वह परिणति सर्व परवस्तु के आश्रय से ही मानी जा सकती है। अतएव पर (सर्व ज्ञेय) आश्रित होने से व्यवहारनय का विषय हो जाता है। आदि।

समाधान यह है कि निगोदिया आदि सब जीवों में जो सर्वज्ञत्व शक्ति है, उसकी परिणति ही तो सर्वज्ञता है। यह परिणति स्व-परप्रत्यय न होकर स्वप्रत्यय होती है, जो अपने परिणामस्वभाव के कारण प्रत्येक समय में त्रिकालवर्ती और त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों को युगपत् जानने में समर्थ है। अतएव सर्व परवस्तु के आश्रय से इसे स्वीकार करना तो आगमविरुद्ध है ही। किसी भी ज्ञान परिणति को ज्ञेय के आश्रय से मानना आगमविरुद्ध है। परीक्षामुख अ. 2, सू. 6 में कहा भी है – अर्थ और आलोक ज्ञान की उत्पत्ति के कारण नहीं है, क्योंकि वे परिच्छेद्य हैं। जैसे कि अन्धकार। अतएव हम जो यह भाव व्यक्त कर आये हैं कि 'आत्मा को ज्ञायक कहने से उसमें ज्ञेय की ध्वनि आ जाती है, इसलिए उस पर ज्ञेय की विवक्षा लागू पड़ जाती है, यही उपचार है' वह यथार्थ है। यहाँ इतना और समझना चाहिए कि सर्वज्ञता का विषय स्व-पर ज्ञेयरूप समस्त द्रव्यजात है, केवल परपदार्थ नहीं। अपरपक्ष यह जान ले कि जिसे निश्चय दृष्टि में (स्वरूपरमणता की दृष्टि में) आत्मज्ञ कहा है, उसे ही परसापेक्ष विवक्षा में सर्वज्ञ कहा है तो नियमसार की उक्त गाथा का तात्पर्य है, यह हृदयंगम करने में आसानी हो जाये।

समयसार में पर्यायार्थिकनय के विषय को गौणकर विवेचन किया गया है, क्योंकि वहाँ रागादिभावों से भिन्न आत्मा की प्रतीति कराना मुख्य है। इसलिए ही वहाँ गाथा 56 में रागादि को व्यवहारनय से जीव का बतलाया गया है, किन्तु जब रागादिरूप परिणमना, यह जीव का ही अपराध है, कर्म का नहीं, यह ज्ञान कराना मुख्य हुआ, तब इसका ज्ञान कराने के लिए कर्त्ता-कर्म अधिकार में निश्चय से उनका कर्त्ता जीव को ही कहा गया है। गा. 102। सर्वत्र विवक्षा देखनी चाहिए।

अतएव अपरपक्ष ने समयसार गाथा 56 को ध्यान में रखकर जो यह लिखा है कि 'आपके सिद्धान्तानुसार यदि विभाव परिणमन को इस शक्ति की अपेक्षा से देखा जाय तो यह भी स्वाश्रित होने से निश्चयनय का विषय बन जायगा। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि समयसार गाथा 56 में रागादि विभाव को जीव के हैं—ऐसा व्यवहार से कहा है।' सो उस पक्ष का ऐसा लिखना ठीक नहीं है।

3-9. तीसरे मुद्दे में पिछले कथन को ही दुहराया गया है। अपरपक्ष आत्मज्ञता और सर्वज्ञता ऐसे दो धर्म मानता है। किन्तु इस सम्बन्ध में विशद विवेचन पहले ही कर आये हैं, उससे स्पष्ट हो जायगा कि आत्मज्ञ और सर्वज्ञ के कथन में विवक्षाभेद ही है, अन्य कोई भेद नहीं। अतएव प्रकृत में आत्मज्ञ और सर्वज्ञ इन दोनों का एक ही तात्पर्य है - ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

4. किसी भी वस्तु में कोई भी धर्म परसापेक्ष नहीं होता। हाँ, धर्म धर्मी आदि का व्यवहार अवश्य ही परस्पर सापेक्ष होता है। यहाँ पर अपरपक्ष ने असद्भूत व्यवहार का लक्षण, आलाप पद्धति से दिया है। उसका आशय और उसी आलापपद्धति के '**अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्य**' इत्यादि कथन का आशय एक ही है। आगे समयसार गाथा 272 की आत्मख्याति टीका के आधार से निश्चयनय और व्यवहारनय का लक्षण दिया है। किन्तु प्रकृत में इन सबके आधार से चर्चा करने का कोई प्रयोजन नहीं है।

अपरपक्ष ने जयधवला पु. 1, पृ. 23 के आधार से यह सिद्ध करना चाहा है कि '**केवलज्ञान आत्मा और पदार्थ की अपेक्षा रखता है।**'

समाधान यह है कि ज्ञान ज्ञेय के कारण है या ज्ञेय ज्ञान के कारण है - ऐसा नहीं है, क्योंकि जैसे अभेद विवक्षा में निश्चयनय से और भेद विवक्षा में उपचरित सद्भूत व्यवहारनय से जीव और ज्ञान में परस्पर कार्य-कारण भाव बन जाता है, वैसे अन्यत्र ज्ञेय और ज्ञान में में उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से भी कार्यकारण भाव नहीं बनता। इन दोनों पर यदि कोई

व्यवहार लागू पड़ता है तो ज्ञाप्य-ज्ञापक व्यवहार ही लागू पड़ता है, अतएव जयधवला पु. 1, पृ. 23 के उक्त उद्धरण का यह अर्थ करना चाहिए कि केवलज्ञान आत्मसहाय होकर उत्पन्न होता है और परसहाय (परसापेक्ष) होकर उसमें ज्ञापक व्यवहार होता है। इसके सिवा इसका अन्य अर्थ फलित करना आगमानुकूल नहीं है। पर्यायार्थिकनय से देखा जाये तो केवलज्ञान स्वकाल में स्वयं उत्पन्न होता है, वह अन्य किसी की अपेक्षा नहीं रखता। हाँ, आत्मा और केवलज्ञान में धर्म-धर्मी व्यवहार अवश्य ही परस्पर सापेक्ष होता है। इस अपेक्षा से उक्त उद्धरण का यह अर्थ होगा कि केवलज्ञान में धर्म व्यवहार आत्मसापेक्ष होता है। आचार्य संक्षेप में निर्देश करते हैं। उसका आशय क्या, यह नय विवक्षा से ही समझा जा सकता है।

अपरपक्ष ने लिखा है कि 'इस तरह चूँकि सर्वज्ञता में पदार्थ विषयता की अपेक्षा है, अत: वह पराश्रित होने से व्यवहारनय से है।' आदि।

समाधान यह है कि सर्वज्ञता में पदार्थ विषयता की अपेक्षा नहीं होती। सर्वज्ञता और विषयभूत पदार्थों में ज्ञाप्य-ज्ञापक व्यवहार अवश्य किया जाता है। प्रवचनसार गाथा 23 में '**णाणं णेयममाणमुद्दिट्ठं**' इस वचन द्वारा प्रत्येक समय में केवलज्ञान परिणाम किस रूप होता है, इसका स्वरूपनिर्देश किया गया है। उस केवलज्ञान परिणाम के होने में ज्ञेय की अपेक्षा बनी रहती है। यह नहीं कहा गया है। जैसे प्रत्येक समय में ज्ञेय स्वयं है। यह केवलज्ञान के कारण वैसा नहीं है। उसी प्रकार प्रत्येक समय में केवलज्ञान परिणाम भी स्वयं है। वह ज्ञेय के कारण वैसा नहीं है। जबकि अपरपक्ष ने तत्त्वार्थवार्तिक 1/29 के आधार से केवलज्ञान में अनन्तानन्त लोकालोक को जानने की शक्ति निश्चयनय से स्वीकार कर ली है तो परिणामी से केवलज्ञान परिणाम अभिन्न होने के कारण जिस काल में आत्मा जिसरूप परिणमता है, वह तन्मय होकर ही परिणमता है, इस नियम के अनुसार सर्वज्ञता आत्मा में निश्चय से है अर्थात् उस काल में वह उसका स्वरूप है, ऐसा मान लेने में अपर पक्ष क्यों हिचकिचाता है। अपरपक्ष सर्वज्ञता को एक ओर तो स्वरूप भी मानता है और दूसरी ओर उसे व्यवहारनय से बतलाता है। इसे क्या कहा जाय? हम तो इसे तत्त्व की विडम्बना ही कह सकते हैं।

5. समयसार परिशिष्ट में 48 तो नहीं 47 शक्तियों का निर्देश अवश्य है। उनमें से अपरपक्ष ने अकार्यकारणत्व शक्ति और अकर्तृत्व शक्ति को परापेक्ष बतलाया है। इसी प्रकार सर्वदर्शित्व और सर्वज्ञत्व शक्तियों को भी परापेक्ष लिखा है। किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि जिस शक्ति का जैसा परिणाम (स्वरूप) होता है, उसका ही वहाँ निर्देश किया गया है। किसी की

सिद्धि में पर की अपेक्षा लगाना अन्य बात है। यह व्यवहार है जो यथार्थ ज्ञान करा देता है। पर किसी का स्वरूप परापेक्ष नहीं हुआ करता, इसका विशेष विचार पहले ही कर आये हैं।

समयसार गाथा 356 और 360 आदि में जो निश्चयनय और व्यवहारनय के कथन का निर्देश है, उसका आशय इतना ही है कि आत्मा निश्चय से ज्ञायक है। प्रत्येक समय में उसमें जो लोकालोक को जानने-देखनेरूप परिणाम होता है, वह स्वभाव से होता है, पर की अपेक्षा करके नहीं होता। जैसे भित्ती है, इसलिए सेटिका सफेदरूप परिणम रही है - ऐसा नहीं है, किन्तु वह स्वभाव से ही प्रत्येक समय में भित्ती की अपेक्षा किये बिना सफेदरूप परिणमती रहती है। उसी प्रकार समस्त ज्ञेय हैं, इसलिए लोकालोक को जानने-देखनेरूप ज्ञान-दर्शन परिणमत होता है, किन्तु आत्मा प्रत्येक समय में समस्त ज्ञेयों की अपेक्षा किये बिना स्वभाव से ही सकल ज्ञेयों को जानने-देखनेरूप परिणमता है। यह निश्चयनय का वक्तव्य है। फिर भी ज्ञाप्य-ज्ञापक व्यवहार को ध्यान में रखकर परसापेक्ष कथन किया जाता है। इसलिए व्यवहारनय से सर्वज्ञता है - ऐसा एकान्त न करके आत्मज्ञता और सर्वज्ञता, ये कथन के दो पहलू हैं - ऐसा समझना चाहिए। समयसार की उक्त गाथाओं का तथा उसकी टीका का यही आशय है।

जो घटादि को जाननेरूप स्वयं ज्ञानपरिणाम हुआ, उसी को आचार्य अमृतचन्द्र ने घटादि को व्यवहार से जानना कहा है। वह घटादि को जाननेरूप ज्ञानपरिणाम स्वभाव से हुआ है, घटादि के कारण नहीं हुआ है। फिर भी ज्ञाप्य-ज्ञापक व्यवहार परस्पर सापेक्ष होता है, इसी को व्यवहार से घटादि का जानना कहते हैं।

व्यवहारनय और उसका विषय क्या है, इसका भेदों सहित निर्देश आलापपद्धति और नयचक्रादि संग्रह आदि ग्रन्थों में सुस्पष्ट किया है, उससे आगम में उसे किसरूप में स्वीकार किया गया है और निश्चयनय से उसमें क्या भेद हैं - यह स्पष्ट हो जायेगा।

6. अपरपक्ष ने परमात्मप्रकाश टीका का जो आशय लिया है, उस सम्बन्ध में इतना लिखना ही पर्याप्त हो कि सर्वज्ञता केवलज्ञान का परानिपेक्ष स्वरूप है, वह ज्ञेयों से नहीं आई है। अतएव हमारे 'केवली जिन जिस प्रकार अपने आत्मा को तन्मय होकर जानते हैं, उस प्रकार परद्रव्य को तन्मय होकर नहीं जानते।' इस वाक्य का यह अर्थ हुआ कि केवली को तन्मय होकर जो ज्ञानपरिणाम हुआ, उसमें स्व-पर का जानना आ गया। अतएव सर्वज्ञता को यदि हम आत्मज्ञता से भिन्न नहीं कहते तो यथार्थ ही कहते हैं। अपरपक्ष एक ज्ञानपरिणाम को दो कहता है। एक ज्ञानपरिणाम को आत्मज्ञ कहकर उसे निश्चयनय का विषय बतलाया है और दूसरे को

सर्वज्ञ कहकर उसे व्यवहारनय का विषय बतलाता है, इसका हमें आश्चर्य है, क्योंकि वे दो नहीं हैं, विवक्षा भेद से कथन दो हैं, इसे अपरपक्ष स्वीकार ही नहीं करना चाहता और व्यवहारनय के विषय को परमार्थ सिद्ध करने के फेर में पड़कर सर्वज्ञता को ही एकान्त से व्यवहारनय का विषय बना देना चाहता है। किन्तु किसी भी वस्तु में कोई भी धर्म परसापेक्ष ही नहीं होता। अतएव परमात्माप्रकाश की टीका के आधार से हम जो कुछ लिख आये हैं, वह यथार्थ लिख आये हैं। उसमें ज्ञानस्वरूप का निर्देश करने के साथ ज्ञानपरिणाम पर से न उत्पन्न होकर भी उसमें पर के जाननेरूप व्यवहार कैसे होता है – यह स्पष्ट किया गया है।

7. अपरपक्ष ने सामायिक पाठ और प्रवचनसार गाथा 200 की टीका के आधार से हमारे कथन का 'सम्भवत:' पद लिखकर जो आशय फलित करना चाहा है, वह फलित न किया जाता तो ठीक होता, क्योंकि ज्ञान ज्ञेयाकार परिणमता है – ऐसा जब हम मानते ही नहीं, तब सम्भावना में उसकी चर्चा करना ही व्यर्थ है। फिर भी ज्ञान परिणाम को समझाने के लिए ज्ञान को साकार कहा ही जाता है – **साकारं ज्ञानम्।** किन्तु समझदार उसका वही आशय लेता है जो अभिप्रेत होता है। इसका कोई भी समझदार यह आशय नहीं लेता कि ज्ञेय को जानते समय ज्ञान घटाकर हो जाता है। तदुत्पत्ति, तदाकार और तदध्यवसाय ज्ञान होता है, यह सिद्धान्त बौद्धों का है, जैनों का नहीं। जब अपरपक्ष सर्वज्ञता को परसापेक्ष यथार्थ मानता है, तब अवश्य ही यह शंका होती है कि क्या यह पक्ष ज्ञेयों से ज्ञान की उत्पत्ति मानना चाहता है, जिसका कि आचार्यों ने दर्शनशास्त्र के ग्रन्थों में दृढ़ता से खण्डन किया है।

अपरपक्ष ने पदार्थ के तीन भेदों में से 'घट' शब्द और 'घटज्ञान' इन दोनों को पराश्रित माना है, जो ठीक नहीं, क्योंकि घट शब्द का परिणत शब्दवर्गणाएँ घट शब्दरूप से है, घट पदार्थ के कारण नहीं। इन दोनों वाच्य-वाचक व्यवहार अवश्य ही परस्पर सापेक्ष होता है। इसी प्रकार घट ज्ञानरूप परिणाम स्वत:सिद्ध है, घटपदार्थ के कारण ज्ञान का वैसा परिणाम नहीं हुआ है। हाँ, घट ज्ञान और घट में ज्ञाप्य-ज्ञापक व्यवहार अवश्य ही परस्पर सापेक्ष है। अपरपक्ष का कहना है कि ...... घट शब्द या घट ज्ञान में जल धारण नहीं हो सकता। .... अत: शब्द व ज्ञान को पदार्थ व्यवहार से कहा गया है। समाधान यह है कि घट शब्द और घट ज्ञान की स्वतन्त्र सत्ता है या नहीं ? यदि अपरपक्ष कहे कि उनकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है तो फिर उन्हें आकाश कुसुम के समान असत्स्वरूप ही मानना पड़ेगा। अपरपक्ष उन्हें आकाशकुसुम के समान असत्यस्वरूप तो मानेगा ही नहीं, इसलिए वह कहेगा कि उनकी ऐसे ही स्वतन्त्र सत्ता है, जैसे घट पदार्थ की,

तो फिर उन्हें घटपदार्थ के समान परमार्थस्वरूप मान लेने में अपरपक्ष को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यदि वे घटपदार्थ का कार्य नहीं कर सकते तो न कर सकें, उनका जो भी कार्य है, उसे तो वे करते ही हैं। इसलिए वे घटपदार्थ के समान परमार्थस्वरूप ही हैं – ऐसा यहाँ समझना चाहिए। अन्यथा घटपदार्थ को भी घट शब्द और घट ज्ञान का कार्य न कर सकने के कारण व्यवहार से पदार्थ स्वीकार करना पड़ेगा और इस प्रकार कोई भी पदार्थ परमार्थस्वरूप नहीं सिद्ध होगा। किन्तु यह ठीक नहीं, इसलिए लोक में जितने भी पदार्थ हैं, वे सभी के सभी स्वरूप से परमार्थस्वरूप हैं – ऐसा समझना चाहिए।

8. हमने जो यह लिखा है कि 'स्वरूप से सर्वज्ञता घटित हो जाने पर जिस समय समस्त ज्ञेयों की अपेक्षा उन्हें सर्वज्ञ कहा जाता है, तब उनमें यह सर्वज्ञता पर की अपेक्षा आरोपित की जाने के कारण उपचरित सद्भूत व्यवहार से सर्वज्ञता कहलाती है।' इसका अशय यह है कि वे स्वरूप से सर्वज्ञ हैं, क्योंकि सकल पदार्थ साक्षात्मकरणरूप से परिणमना, यह केवली का स्वरूप है। किन्तु व्यवहार पराश्रित होता है, इस वचन के अनुसार जब इस सर्वज्ञता को ज्ञेयों की अपेक्षा कहा जाता है, तब वह कथन व्यवहार हो जाता है। केवली का जो स्वरूप है, वह पर की अपेक्षा कहा गया यही कथन व्यवहार है, सर्वज्ञता स्वयं व्यवहार नहीं है। पर की अपेक्षा लगाकर कथन करना व्यवहार है। ज्ञेय स्वरूप से ज्ञेय हैं, ज्ञायक स्वरूप से ज्ञायक है। मात्र इनका व्यवहार परस्पर सापेक्ष है, इसलिए ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध व्यवहार से कहा गया है। परमार्थ से इनमें कोई सम्बन्ध नहीं है। अपरपक्ष ने समयसार गाथा 361 की टीका का जो उद्धरण दिया है, उसी से व्यवहार क्या है यह स्पष्ट हो जाता है। अपरपक्ष सर्वज्ञता को ही व्यवहारनय से कहना चाहता है जो केवली जिनका स्वरूप है और यथार्थ है। जबकि पर की अपेक्षा लगा कर उसका कथन करना यह व्यवहार से है। उक्त टीका में यही भाव व्यक्त किया गया है। अपर पक्ष ने जो आलापपद्धति का उद्धरण दिया है, उसमें परज्ञता और परदर्शिता को स्वाभाविक उपचरित बतलाया है। इसका अर्थ यही हुआ कि सर्वज्ञता और सर्वज्ञदर्शिता सिद्धों का स्वभाव है, किन्तु जब उसे पर की अपेक्षा लगाकर कहा जाता है, तब वह व्यवहार हो जाता है।

आत्मज्ञता और परज्ञता दो धर्म नहीं, विवक्षा भेद से दो कथन हैं। स्व की अपेक्षा जो आत्मज्ञता कहलाती है, उसे ही पर की अपेक्षा परज्ञता कहते हैं। ऐसा निर्णय करने पर ही एकान्त का परिहार हो सकता है। अन्यथा आलापपद्धति के जिस एकान्त का निर्देश किया है, उस दोष से यह पक्ष अपने को बचा नहीं सकता। हमें विश्वास है कि इतने स्पष्टीकरण के बाद अपरपक्ष अपने इस कथन को लौटा लेगा कि 'उस क्षायिक ज्ञान में निश्चयनय से आत्मज्ञ नाम का धर्म

है और व्यवहारनय से सर्वज्ञता का धर्म है। इस प्रकार सर्वज्ञ नाम का धर्म अवश्य है किन्तु वह परसापेक्ष है।' आदि। यदि वह पक्ष इस कथन को लौटा लें और यह स्वीकार कर ले कि जिसे स्व की अपेक्षा आत्मज्ञ कहते हैं, वही पर की अपेक्षा परज्ञ कहलाता है तो निश्चय-व्यवहारनय के कथन की सुसंगति बैठ जाये और एकान्त का परिहार होकर केवली जिनमें सर्वज्ञता यथार्थ सिद्ध हो जाये।

अपरपक्ष ने यहाँ प्रवचनसार गाथा 32 तथा 38 और नयचक्र संग्रह पृ. 119 के जो उद्धरण दिये हैं, वे सब परसापेक्ष कथन को ही व्यवहारनय का विषय सिद्ध कर रहे हैं, सर्वज्ञता व्यवहारनय से है - यह नहीं बतला रहे हैं।

यहाँ पर अपरपक्ष ने जो यह लिखा है कि 'स्व में पर का और पर में स्व का अत्यन्ताभाव है।' इसे पढ़कर हमें प्रसन्नता हुई। यह अकाट्य नियम है जो ज्ञेय-ज्ञायकभाव और कार्य-कारणभाव सब पर लागू होता है। इसका आशय यह है कि ज्ञेय ज्ञान को उत्पन्न करता नहीं, फिर भी ज्ञेय की अपेक्षा किये बिना ज्ञान का ऐसा परिणाम होता है जिसमें ज्ञेय ज्ञात हो जाते हैं। इसी प्रकार कुम्भकार मिट्टी में कुछ भी व्यापार करता नहीं, फिर भी कुम्भकार के व्यापार की अपेक्षा किये बिना मिट्टी स्वयं ऐसा परिणाम करती है कि घट बन जाता है। जिसने इस निश्चय पक्ष को ठीक तरह से समझा है, वही एक का दूसरे में अत्यान्ताभाव को समझ सकता है और तभी व्यवहार पक्ष क्या है, यह भी ध्यान में आता है।

10. हमने लिखा था कि 'ज्ञान का ज्ञेयाकार परिणमन ज्ञेयों के कारण हुआ है, तब वह व्यवहार कहलाता है, क्योंकि ऐसे कथन में वस्तु की स्वभावभूत योग्यता को गौणकर उसका पराश्रित कथन किया गया है।'

इस वचन में यद्यपि टीका लायक कोई बात तो नहीं है। फिर भी अपरपक्ष ने सर्व प्रथम 'ज्ञेयाकार परिणमन' इस पद को अपनी शंका का विषय बनाया है। जबकि अपरपक्ष यह जानता है कि आगम में ज्ञेय को जानने के अर्थ में ऐसा प्रयोग होता है। यथा - अथवा **चैतन्य -शक्तेर्द्वावाकारौ-ज्ञानाकारो ज्ञेयाकारश्च।** तत्त्वार्थवार्तिक अ. 1, सू. 6। **एवमात्माऽर्था -ज्ञान्योन्यवृत्तिमन्तरेणादि विश्वज्ञेयाकारग्रहणसमर्पणप्रवणाः।** प्रवचनसार गा. 28, सुरकृति टीका।

इतने पर भी जबकि इसकी चर्चा नं. 7 में की जा चुकी थी तो पुनः चर्चा को उठाना कहाँ तक उपयुक्त है, इसका वह स्वयं विचार करे।

हमने लिखा है कि 'ज्ञान का ज्ञेयाकार परिणमन ज्ञेयों के कारण हुआ है, तब वह व्यवहार कथन है।' आदि। सो यह उचित ही लिखा है, क्योंकि ज्ञेयों के कारण आत्मा ज्ञेयों को जानता है, ऐसी जो धारणा बनी हुई है, उसका परिहार करना इसका मुख्य प्रयोजन है। ज्ञान में सब ज्ञात होता है, यह व्यवहार नहीं है, यह तो ज्ञानपरिणाम का स्वरूपाख्यान है। जबतक इसमें पर की अपेक्षा नहीं लगाई जायेगी, तब तक इसे व्यवहार कथन मानना उचित नहीं है। भगवान् सबको जानते हैं, इसलिए उन्हें सर्वगत कहना एक तो यह व्यवहार है और दूसरे ज्ञान में सर्व पदार्थ ज्ञात होते हैं, इसलिए सकल ज्ञेयों की तद्गत कहना एक यह व्यवहार है। व्यवहार पराश्रित होता है, इसलिए जबतक पराश्रितपना नहीं दिखलाया जायेगा, तबतक कोई भी कथन व्यवहार कथन नहीं बनेगा। स्पष्ट है कि सर्वज्ञता केवलज्ञानी का स्वरूप है, वह पराश्रित नहीं वर्तता, अतएव वह आत्मज्ञतारूप ही है, क्योंकि केवली का प्रत्येक समय में जो ज्ञानपरिणाम होता है, वह अपने में अपने द्वारा ही होता है। परन्तु जब उसे अन्य ज्ञेय सापेक्ष कहा जाता है, तब उसका आशय होता है - केवली जिन व्यवहारनय से सबको जानते-देखते हैं।

इस पूरी प्रतिशंका को पढ़ने से हम तो केवल यह आशय समझे हैं कि जैसे बने वैसे व्यवहारनय को परमार्थरूप सिद्ध किया जाये। तभी तो अपरपक्ष ने क्षयिक ज्ञान में आत्मज्ञ और सर्वज्ञ नाम के दो धर्म स्वीकार किये और सर्वज्ञ धर्म का अस्तित्व पर सापेक्ष बतला कर सर्वज्ञता को व्यवहारनय का विषय बतलाया। ये दो धर्म क्षायिकज्ञान में हैं और उनमें से सर्वज्ञ नाम का धर्म व्यवहारनय से हैं, इसे सिद्ध करने के लिए उन्हें आगम प्रमाण देने की भी आवश्यकता नहीं ज्ञात हुई। यदि कोई पूछे कि अपरपक्ष ने ऐसा क्यों किया तो उसका उत्तर है कि जैसे बने वैसे व्यवहानय को परमार्थरूप सिद्ध किया जाये। किन्तु व्यवहारनय का कोई विषय ही नहीं है, वह केवल कल्पनामात्र है—ऐसा तो हमारी ओर से कहा ही नहीं गया और न ऐसा है ही। ऐसी अवस्था में उसकी पुष्टि में पुनः-पुनः '**ण च ववहारणओ चप्पलओ**' आदि प्रमाणों को देने की अपर पक्ष को आवश्यकता ही क्यों हुई इसका निर्णय वह स्वयं करे।

इस प्रकार प्रकृत में यही समझाना चाहिए कि प्रत्येक आत्मा में जो सर्वज्ञत्व नाम की शक्ति है, उसकी अपेक्षा केवली में सर्वज्ञता स्वाश्रित है और स्वाश्रितपने की अपेक्षा इसी को आत्मज्ञता कहते हैं। इसलिए केवली जिन निश्चयनय से आत्मज्ञ हैं - यह सिद्ध होता है और जब इसी का परसापेक्ष कथन किया जाता है, तब '**पराश्रितो व्यवहारः**' इस नियम के अनुसार यह सिद्ध होता है कि केवली जिन व्यवहारनय से सबको जानते देखते हैं।

●

प्रथम दौर

: 1 :

शंका - 8

दिव्यध्वनि का केवलज्ञान अथवा केवली आत्मा से कोई सम्बन्ध है या नहीं ? यदि है तो कौन सम्बन्ध है ? वह सत्यार्थ है या असत्यार्थ ? दिव्यध्वनि प्रामाणिक है या अप्रामाणिक ? यदि प्रामाणिक है तो उसकी प्रामाणिकता स्वाश्रित है या केवली भगवान की आत्मा के सम्बन्ध से ?

समाधान - 1

उत्तर- दिव्यध्वनि के स्वरूप का निर्णय करते समय सर्वप्रथम विचारणीय यह है कि उसकी उत्पत्ति कैसे होती है ? इसका स्पष्ट निर्देश करते हुए प्रवचनसार में कहा है—

ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य णियदेयो तेसिं।
अरहंताणं काले मायाचारो व्व इत्थीणं॥ 44॥

अर्थ - उन अरिहन्त भगवन्तों के उस समय खड़े रहना, बैठना, बिहार और धर्मोपदेश स्त्रियों के मायाचार के समान स्वाभाविक ही होता है॥ 44॥

इसकी टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

यथा हि महिलानां प्रयत्नमन्तरेणापि तथाविधयोग्यतासद्भावात् स्वभावभूत एव मायोपगुण्ठनावगुण्ठितो व्यवहारः प्रवर्तते तथाहि केवलिनां प्रयत्नमन्तरेणापि तथाविधयोग्यता -सद्भावात् स्थानमासनं विहरणं धर्मदेशना च स्वभावभूता एव प्रवर्तन्ते। अपि चाविरुद्धमेत-दम्भोधरदृष्टान्तात्। यथा खल्वम्भोधराकारपरिणतानां पुद्गलानां गमनवस्थानं गर्जनमम्बुवर्षं च पुरुषप्रयत्नमन्तरेणापि दृश्यन्ते तथा केवलिनां स्थानादयोऽबुद्धिपूर्वविका एव दृश्यन्ते, अतोऽमी स्थानादयो मोहोदयपूर्वकत्वाभावात् क्रियाविशेषा अपि केवलिनां क्रियाफलभूत-बन्धसाधनानि न भवन्ति॥ 44॥

अर्थ - जैसे स्त्रियों के प्रयत्न के बिना भी उस प्रकार की योग्यता का सद्भाव होने से

स्वभावभूत ही माया के ढक्कन से ढंका हुआ व्यवहार प्रवर्तता है, उसी प्रकार केवली भगवान के बिना ही प्रयत्न के उस प्रकार की योग्यता का सद्भाव होने से खड़े रहना, बैठना, विहार और धर्मदेशना स्वभावभूत ही प्रवर्तते हैं और यह बादल के दृष्टान्त से अविरुद्ध है। जैसे बादल के आकाररूप से परिणत हुए पुद्गलों का गमन, स्थिरता, गर्जन और जलवृष्टि पुरुष प्रयत्न के बिना भी देखी जाती है, उसी प्रकार केवली भगवान का खड़े रहना आदि अबुद्धिपूर्वक ही देखा जाता है। इसलिये यह स्थानादिक मोहोदयपूर्वक न होने से क्रियाविशेष होने पर भी केवली भगवान क्रिया फलभूत बन्ध के साधन नहीं होते॥ 44॥

तात्पर्य यह है कि केवली जिनके मोह का अभाव होने के कारण इच्छा का अभाव है और इच्छा का अभाव होने से बुद्धिपूर्वक प्रयत्न का भी अभाव है। फिर भी चार अघाति कर्मों के उदय का सद्भाव होने से उनके स्थान, आसन और विहाररूप काययोग सम्बन्धी क्रियाएँ तथा निश्चय-व्यवहार के धर्मोपदेश को लिए हुए दिव्यध्वनिरूप वचनयोग सम्बन्धी क्रिया सहज ही होती है। अतएव दिव्यध्वनि का तीर्थंकर प्रकृति आदि के उदय के साथ असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध मुख्यता से वहाँ पर स्वीकार किया गया है। कारण कि तीर्थंकर प्रकृति आदि का उदय स्वतन्त्र द्रव्य की अवस्था है और दिव्यध्वनि स्वतन्त्र द्रव्य की अवस्था है और दो या दो से अधिक द्रव्यों और उनकी पर्यायों में जो सम्बन्ध होता है, वह असद्भूत होता है।

अब रही दिव्यध्वनि की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता की बात, सो व्यवहार निश्चय मोक्षमार्ग, छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, नौ पदार्थ और सात तत्त्व आदि के यथार्थ निरूपण की उसकी सहज योग्यता होने से उसकी प्रामाणिकता स्वाश्रित है, परन्तु व्यवहारनय की अपेक्षा विचार करने पर वह पराश्रित कही जाती है। उसकी प्रामाणिकता स्वाश्रित है। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री अमृतचन्द्र समयसार गाथा 415 की टीका में कहते हैं—

यः खलु समयसारभूतस्य भगवतः परमात्मनोऽस्य विश्वप्रकाशकत्वेन विश्वसमयस्य प्रतिपादनात् स्वयं शब्दब्रह्मायमाणं शास्त्रमिदम्।

तात्पर्य है कि यह शास्त्र विश्व का प्रकाशक होने से विश्व समयस्वरूप समयसारभूत भगवान् आत्मा का प्रतिपादन करता है, इसलिए जो स्वयं शब्दब्रह्म के समान है।

इसी तथ्य को वे पुनः इन शब्दों में स्वीकार करते हैं—

स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैर्व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः।

स्वरूपगुप्तस्य न किञ्चिदस्ति कर्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः॥ 278॥

अर्थ – जिसने अपनी शक्ति से वस्तुतत्त्व को भलीभाँति कहा है – ऐसे शब्दों ने इस समय की व्याख्या की है, स्वरूपगुप्त अमृतचन्द्रसूरि का कुछ कर्तव्य नहीं है॥ 278॥

●

द्वितीय दौर

: 2 :

शंका – 8

प्रश्न यह था – दिव्यध्वनि का केवलज्ञान अथवा केवली आत्मा से कोई सम्बन्ध है या नहीं ? यदि है तो कौन सम्बन्ध है ? वह सत्यार्थ है या असत्यार्थ ? दिव्यध्वनि प्रामाणिक है या अप्रामाणिक ? यदि प्रामाणिक है तो उसकी प्रामाणिकता स्वाश्रित है या केवली भगवान् की आत्मा के सम्बन्ध से ?

प्रतिशंका – 2

उक्त प्रश्न के निम्नलिखित खण्ड हैं—

(1) दिव्यध्वनि का केवलज्ञान अथवा केवली आत्मा से कोई सम्बन्ध है या नहीं ?

(2) दिव्यध्वनि का केवलज्ञान अथवा केवली आत्मा के साथ कौन सम्बन्ध है ?

(3) दिव्यध्वनि का केवलज्ञान अथवा केवली के साथ सम्बन्ध सत्यार्थ है या असत्यार्थ ?

(4) दिव्यध्वनि प्रामाणिक है या अप्रामाणिक ?

(5) दिव्यध्वनि प्रामाणिक है तो उसकी प्रामाणिकता स्वाश्रित है या केवली भगवान् की आत्मा के सम्बन्धी ?

इनमें खण्ड नं. 1, 2 और 3 का आपने उत्तर नहीं दिया। अन्य खण्डों का उत्तर देते हुए यद्यपि आपने दिव्यध्वनि को प्रमाण माना है, लेकिन उसे स्वाश्रित प्रमाण माना है। यह सम्भव

नहीं है, क्योंकि शब्द जड़ पुद्‌गल की पर्याय होने से न तो प्रमाणरूप हो सकते हैं और न अप्रमाणरूप ही। शब्दों की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता वक्ता के ही आश्रित हुआ करती है। जैसा कि धवल पुस्तक 1, पृ. 72 पर कहा गया है—

वक्तृप्रामाण्याद्वचनप्रामाण्यम्।

अर्थ – वचनों की प्रमाणता वक्ता की प्रमाणता से होती है।

समन्तभद्रस्वामी ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में शास्त्र का लक्षण करते समय उसकी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए सर्वप्रथम उसे '**आप्तोपज्ञ**' होना बतलाया है। इसी प्रकार आचार्य माणिक्यनन्दि ने भी आगम का लक्षण करते समय उसे '**आप्तवचनादिनिबन्धन**' होना प्रकट किया है।

आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यमदृष्टेष्टाविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्॥ 9॥

– रत्नकरण्डश्रावकाचार

आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः।

– परीक्षामुख, अ. 2, सू. 94

समन्तभद्रस्वामी ने देवागमस्तोत्र की 78वीं कारिका में आगमसाधित वस्तु का लक्षण लिखते हुए उसके वक्ता को आप्त होना आवश्यक माना है। कारिका इस प्रकार है—

वक्तर्यनाप्ते यद्धेतोः साधयं तद्धेतुसाधितम्।
आप्ते वक्तरि तद्वाक्यात्साध्यमागमसाधितम्॥ 7॥

अर्थ – वक्ता के अनाप्त होने पर जो वस्तु हेतु से साध्य हैं, वह हेतु साधित है और वक्ता के आप्त होने पर उसके वचन से जो साध्य है, वह आगमसाधित है।

इसी देवागमस्तोत्र की ६वीं कारिका में भगवान् महावीर की निर्दोषता प्रमाणित करने के लिये समन्तभद्रस्वामी ने युक्ति और शास्त्र से अविरोधी वक्तृत्व को हेतुरूप से उपस्थित किया है। कारिका यह है—

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
अविरोधी यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते॥ 6॥

अर्थ – हे भगवान्! आप निर्दोष हैं, क्योंकि आपके वचन युक्ति और शास्त्र से अविरोधी

हैं। आपके वचन युक्ति और शास्त्र से अविरोधी इसलिये हैं कि आपका शासन प्रमाण से बाधित नहीं है।

आपने निमित्तकारण की उपेक्षा कर दिव्यध्वनि में मात्र स्वाभावसिद्ध सूचित किया है, वह विचारणीय है, क्योंकि आगम में उसे केवली का कार्य स्वीकृत किया है। इसके लिए धवल पुस्तक 1, पृ. 368 पर वीरसेनाचार्य के निम्नांकित वचन द्रष्टव्य हैं —

तत्र मनसोऽभावे तत्कार्यस्य वचसोऽपि न सत्त्वम्? इति चेत् न, तस्य ज्ञानकार्यत्वात्।

अर्थ - यहाँ कोई प्रश्न करता है कि जब केवली के मन का अभाव है, तब उसके कार्यरूप वचन का सद्भाव कैसे माना जा सकता है? यह प्रश्न ठीक नहीं है, क्योंकि वचन ज्ञान का कार्य है।

रत्नकरण्डश्रावकाचार में श्री स्वामी समन्तभद्र ने भी यही बात कही है—

अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शांति सतो हितम्॥ 7॥ (पूर्वार्द्ध)

अर्थ - केवलज्ञानी आप्त वीतराग होता हुआ भी आत्मप्रयोजन के बिना भव्य प्राणियों के हित का उपदेश देता है।

इस कथन से यह अभिप्राय निकलता है कि दिव्यध्वनि की प्रामाणिकता वस्तुतः केवलज्ञान अथवा केवलज्ञानी के आश्रित है, स्वाश्रित नहीं।

आपने वचनवर्गणा की स्वाश्रित प्रमाणता सिद्ध करने के लिये जो समयसार की अन्तिम 415 गाथा की श्री अमृतचन्द्रसूरि कृत टीका के वाक्यांश तथा अन्तिम कलश पद्य को उपस्थित किया है, उससे वचनवर्गणा की स्वाश्रित प्रमाणता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि एक तो उपर्युक्त प्रमाणों के अनुसार जैनागम में वचन को स्वाश्रित प्रमाणता नहीं स्वीकृत की गई है। दूसरी बात यह है कि अन्तिम कलश से श्री अमृतचन्द्रसूरि ने समयसार की टीका समाप्त करते हुए अपनी लघुता प्रकट की है व अपनी टीका में समयसार का माहात्म्य प्रकट किया है, सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया है। श्री अमृतचन्द्रसूरि ने स्वरचित पुरुषार्थसिद्ध्युपाय तथा तत्त्वार्थसार आदि में भी इसी पद्धति को अपनाया है।

आपने जो तीर्थंकर प्रकृति के उदय और दिव्यध्वनि का असद्भूत व्यवहारनय से निमित्त-नैमत्तिक सम्बन्ध प्रतिपादित किया है, वह संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि दिव्यध्वनि सामान्य केवली की भी खिरती है तथा हमारा प्रश्न भी सामान्यरूप से केवलज्ञान व केवलज्ञानी

आत्मा के साथ दिव्यध्वनि के सम्बन्ध विषयक है।

आपने धर्मदेशना (दिव्यध्वनि) की प्रवचनसार गाथा 44 के आधार पर जो केवली का स्वभावभूत प्रवर्तन बतलाया है, वह दिव्यध्वनि की स्वाश्रित प्रमाणता का विघातक है, क्योंकि उस गाथा तथा उसकी अमृतचन्द्रसूरि कृत टीका से दिव्यध्वनि केवली भगवान् की ही क्रिया सिद्ध होती है। इस गाथा में स्वाभावभूत का अर्थ बिना इच्छा से है। इस बात की पुष्टि श्रीसमन्तभद्राचार्य विरचित स्वयंभूस्तोत्र के निम्नलिखित पद्य से भी होती है—

कायवाक्यमनसां प्रवृत्तयो नाभवंस्तव मुनेश्चिकीर्षया॥ 75॥

अर्थ – हे भगवान्! आपकी मन, वचन और काय की प्रवृत्तियाँ बिना इच्छा के ही हुआ करती हैं।

इस तरह आपका कथन प्रमाणसंगत नहीं कहा जा सकता है।

अन्त में हमारा निवेदन है कि आप हमारे उल्लिखित प्रश्न के तीन खण्डों में उत्तर अवश्य देंगे।

'दो या दो से अधिक द्रव्यों और उनकी पर्यायों में जो सम्बन्ध है, वह असद्‌भूत ही होता है।' यह आपने लिखा है, इसमें असद्‌भूत पद से आपका आशय क्या झूठ से है या अन्य किसी अर्थ से? इसका भी अवश्य स्पष्टीकरण करेंगे।

●

शंका - 8

मूल प्रश्न – दिव्यध्वनि का केवलज्ञान अथवा केवली की आत्मा से कोई सम्बन्ध है या नहीं? यदि है तो कौन सम्बन्ध है? वह सत्यार्थ है या असत्यार्थ? दिव्यध्वनि प्रामाणिक है या अप्रामाणिक? यदि प्रामाणिक है तो उसकी प्रामाणिकता स्वाश्रित है या केवली भगवान् की आत्मा के सम्बन्ध से?

प्रतिशंका – 2 का समाधान

इसके उत्तरस्वरूप आचार्यवर्य कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्रसूरि के आगमप्रमाण देकर मीमांसा की गई थी। साथ ही उस आधार से यह बतलाया गया था कि उनकी दिव्यध्वनि स्वाभाविक होती है। प्रवचनसार की 44 नं. की गाथा में '**णियदयो**' शब्द आया है, उसका अर्थ

आचार्य अमृतचन्द्र ने 'स्वाभाविक' किया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने तो स्त्रियों की माया के समान उसे स्वभाविकी बतलाया है। साथ ही अमृतचन्द्रसूरि ने अपनी टीका में मेघ का दृष्टान्त देकर यहाँ 'स्वाभाविक' पद का क्या अर्थ है, यह और भी स्पष्ट किया है। लोक में पुरुष प्रयत्न के बिना अन्य जितने कार्य होते है, उनकी जिनागम में 'विस्रसा' कार्य स्वीकार किया गया है - देखो समयसार गाथा 406, सर्वार्थसिद्धि अ. 5, सू. 24।

यह तो सुविदित सत्य है कि केवली भगवान् के रागद्वेष और मोह का सर्वथा अभाव हो जाने के कारण परम वीतराग निश्चयचारित्र प्रगट हुआ है। इसलिये इच्छा में प्रयत्न के बिना ही उनकी धर्मोपदेश आदि की क्रिया होती है। इतना स्पष्टीकरण करने के बाद भी इस सम्बन्ध में मूल प्रश्न के खण्ड पाड़कर पुन: विशेष जानने की जिज्ञासा की गई है। प्रतिशंका के अनुसार उक्त प्रश्न के विभाग इस प्रकार हैं—

1. दिव्यध्वनि का केवलज्ञान अथवा केवली आत्मा के साथ कोई सम्बन्ध है या नहीं?

2. दिव्यध्वनि का केवलज्ञान अथवा केवली आत्मा के साथ कौन सम्बन्ध है?

3. दिव्यध्वनि का केवलज्ञान अथवा केवली के साथ सम्बन्ध सत्यार्थ है या असत्यार्थ?

4. दिव्यध्वनि प्रामाणिक है या अप्रामाणिक?

5. दिव्यध्वनि प्रामाणिक है तो उसकी प्रामाणिकता स्वाश्रित है या केवली भगवान् की आत्मा के सम्बन्ध से?

यहाँ इन शंकाओं का समाधान करने के पूर्व प्रकृत में उपयोगी कतिपय आवश्यक सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर देना आवश्यक प्रतीत होता है।

(अ) आत्मा व्याप्य-व्यापक भाव से तन्मयता का प्रसंग आने के कारण परद्रव्यों की पर्यायों का कर्त्ता नहीं है।

(आ) सामान्य आत्मा निमित्त-नैमित्तिक भाव से परद्रव्यों की पर्यायों का कर्त्ता नहीं है। अन्यथा नित्य निमित्तकर्तृत्व का प्रसंग आता है।

(इ) अज्ञानी जीव के योग और उपयोग (रागभाव) परद्रव्यों की पर्यायों के निमित्तकर्त्ता हैं।

(ई) आत्मा अज्ञानभाव से योग और उपयोग कर्त्ता है, तथापि परद्रव्यों की पर्यायों का कर्त्ता कदाचित् भी नहीं है।

(उ) आत्मा ज्ञानभाव से परद्रव्यों की पर्यायों का निमित्तकर्त्ता भी नहीं है।

ये मूल सिद्धान्त हैं, जिनका श्री समयसरजी की 99 और 100 नं. की गाथा और उनकी टीका में स्पष्टीकरण किया है। इसलिये प्रतिशंकारूप से उपस्थित किये गये पूर्वोक्त प्रश्नोत्तर विचार करते समय इन सिद्धान्तों को ध्यान में लेने की अत्यन्त आवश्यकता है। साथ ही यह नियम भी है कि अरिहन्त जिनकी दिव्यध्वनि के समय ओष्ठ, तालु आदि का व्यापार भी नहीं होता। कहा भी है—

यत्सर्वात्महितं न वर्णसहितं न स्पन्दितोष्टोदयं
नो वांछाकलितं न दोषमलिनं नोच्छ्वासमरुद्धक्रमम्।
शान्तयमर्षं विभैः समं पशुगणैराकर्णितं कर्णिभिः
तन्नः सर्वविदो विनष्टविपदः पायादपूर्वं वचः।।

इस श्लोक में आये हुये '**न वर्णसहितं न स्पन्दितोष्टोदयं**' ये दोनों पद ध्यान देने योग्य हैं। इनका तात्पर्य यह है कि दिव्यध्वनि अ, आ आदि स्वरवर्णों तथा क, ख आदि व्यंजनवर्णों से रहित होती है और दिव्यध्वनि के समय ओठ आदि का व्यापार भी नहीं होता। इसके साथ एक बात और है और वह यह कि उनकी औदयिकी क्रिया को प्रवचनसारजी में क्षायिकी बतलाया है। स्पष्टीकरण करते हुए प्रवचनसार गाथा 45 में कहा है—

पुण्यफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया।
मोहादीहिं विरहिया तम्हा सा खाइग त्ति मदा॥ 44॥

अरहन्त भगवान पुष्पफलवाले हैं और उनकी क्रिया औदयिकी है, मोहादि से रहित है, इसलिये वह क्षायिकी मानी गई है॥ 45॥

अर्हन्तः खलु सकलसम्यक्परिपक्वपुण्यकल्पपादपफला एव भवन्ति। क्रिया तु तेषां या काचन सा सर्वापि तदुदयानुभावसंभावितात्मसंभूतिया किलोदयक्यिेव। अथैवंभूतापि सा समस्तमहामोहमूर्धामिषिक्तस्कन्धावारस्यात्यन्तक्षये संभ्रातत्वान्मोहारागद्वेषरूपाणा-मुपरजंगकानामभावाच्चैतन्यविकारकारणतामनासादयन्ती नित्यमौदयिकी कार्यभूतस्य बन्धस्याकारणभूततया कार्यभूतस्य मोक्षस्य कारणभूततया च क्षायिक्येव कथं हि नाम नानुमन्येत। अधानुमन्येत चेत्तर्हि कर्मविपाकोऽपि न तेषां स्वभावविघाताय॥ 45॥

अर्थ – अरहन्त भगवान् जिनके वास्तव में पुण्यरूपी कल्पवृक्ष के समस्त फल भलीभांति परिपक्व हुए हैं, ऐसे ही हैं और उनकी जो भी क्रिया है, वह सब उस (पुण्य) के उदय के प्रभाव

से उत्पन्न होने के कारण औदयिकी ही है। किन्तु ऐसी होने पर भी वह सदा औदयिकी क्रिया महामोह राजा की समस्त सेना के सर्वथा क्षय से उत्पन्न होती है, इसलिये मोह, राग, द्वेषरूपी उपरंजकों का अभाव होने से चैतन्य के विकार का कारण नहीं होता, इसलिये कार्यभूत बन्ध की अकारभूतता से और कार्यभूत मोक्ष की कारणभूतता से क्षायिकी ही क्यों न माननी चाहिये? (अवश्य माननी चाहिये।) और जब क्षायिकी ही माने तब कर्मविपाक (कर्मोदय) भी उनके (अरहन्तों के) स्वभाव विघात का कारण नहीं होता। (यह निश्चित होता है।) ॥ 45 ॥

इस प्रकार इन प्रमाणों में ज्ञानों के ज्ञानभाव की दृष्टि से विचार करने पर विदित होता है कि ज्ञानी मात्र ज्ञानभाव का कर्त्ता है, वह परभाव का निमित्तकर्त्ता भी नहीं है। श्री समयसारकलश में कहा है—

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृताः सर्वे भावाः भवन्ति हि।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते॥ 67॥

अर्थ - ज्ञानी के समस्त भाव ज्ञान से रचित होते हैं और अज्ञानी के समस्त भाव अज्ञान से रचित होते हैं॥ 67॥

स्पष्ट है कि अरिहन्त भट्टारक केवलीजिन के केवलज्ञान की दृष्टि से विचार करने पर तो यही विदित होता है कि केवलज्ञान में जिस प्रकार अन्य अनन्त पदार्थ ज्ञेयरूपी प्रतिबिम्बित होते हैं, उसी प्रकार दिव्यध्वनि से परिणत होनेवाली भाषावर्गणाएँ भी प्रतिबिम्बित होती हैं। इसलिये केवलज्ञान की दिव्यध्वनि के प्रवर्तन में वही स्थिति रहती है, जो अन्य पदार्थों के परिणमन में रहती हैं अर्थात् केवली का उपयोग दिव्यध्वनि के प्रवर्तन के लिये उपयुक्त होता हो, ऐसा नहीं है। इसी प्रकार दिव्यध्वनि के लिये शरीर की क्रिया द्वारा वाचनिक प्रवृत्ति होना भी सम्भव नहीं है। फिर भी दिव्यध्वनि का प्रवर्तन तो होता ही है और अरिहन्त भट्टारक के तीर्थंकर प्रकृति के उदय के साथ चार अघाति कर्मों का उदय तथा योगप्रवृत्ति भी पाई जाती है। अतः इस दृष्टि से विचार करने पर यही निर्णीत होता है कि—

(1-2) केवलीजिन के साथ दिव्यध्वनि का योग अपेक्षा से निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है - ऐसा प्रवचनसार गाथा 45 की टीका में लिखा है।

(3) केवली और दिव्यध्वनि भिन्न-भिन्न चेतन और जड़ द्रव्य हैं, इसलिये उनका जो व्यवहार से निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध दिखलाया गया है, वह उपचरित सत्य है।

(4) केवली के सत्य और अनुभय – ये दो वचनयोग होते हैं, इसी प्रकार दिव्यध्वनि भी सत्य और अनुभवरूप होती है, क्योंकि उसके द्वारा सत्यार्थ और अनुभयरूप अर्थ का प्रकाशन होता है।

(5) दिव्यध्वनि की प्रामाणिकता और स्वाश्रितता को ठीक तरह से जानने के लिये जयधवला पुस्तक 1 का यह प्रमाण पर्याप्त है। वहाँ कहा है—

शब्दो अर्थस्य निःसम्बन्धस्य कथं वाचक इति चेत्? प्रमाणमर्थस्य निःसम्बन्धस्य कथं ग्राहकमिति समानमेतत्। प्रमाणार्थयोर्जन्यजनकलक्षणः प्रतिबन्धोऽस्तीति चेत् न, वस्तुसामर्थ्यस्यन्यतः समुत्पत्तिविरोधात्।

अत्रोपयोगी श्लोकः —

स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रमाणमिति गृह्यताम्।
न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते॥ 92॥

प्रमाणार्थयोः स्वभावत एव ग्राह्यग्राहकभावश्चेत्, तर्हि शब्दार्थयोः स्वभावत एव वाच्यवाचकभावः किमिति नेप्यते, अविशेषात्? यदि स्वभावतो वाच्यवाचकभावः किमिति पुरुषव्यापारमपेक्षते चेत्? प्रमाणेन स्वभावतोऽर्थसम्बन्धेन किमितीन्द्रियमालोको या अपेक्ष्यत इतिसमानमेतत्। शब्दार्थसम्बन्धः कृत्रिमत्वाद्वा पुरुषव्यापारमपेक्षते। *- जयधवला, पु. 6, पृ. 239*

शंका – शब्द का अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है तो वह अर्थ का वाचक कैसे हो सकता है?

समाधान – प्रमाण का अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है तो वह अर्थ का ग्राहक कैसे हो सकता है, यह भी समान है अर्थात् प्रमाण और अर्थ का कोई सम्बन्ध न होने पर भी जैसे वह अर्थ का ग्रहण कर लेता है, वैसे ही शब्द का अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध न रहने पर भी शब्द अर्थ का वाचक हो जाये, इसमें क्या आपत्ति है।

शंका – प्रमाण और अर्थ में जन्य-जनकलक्षण सम्बन्ध पाया जाता है?

समाधान – नहीं, क्योंकि वस्तु की शक्ति की अन्य से उत्पत्ति मानने में विरोध आता है। यहाँ इस विषय में उपयोगी श्लोक देते हैं—

सब प्रमाणों में स्वतः प्रमाणता स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि जो शक्ति पदार्थ में स्वतः विद्यमान नहीं है, वह अन्य के द्वारा नहीं की जा सकती है॥ 92॥

यदि प्रमाण और अर्थ में स्वभाव से ही ग्राह्यग्राहकभाव सम्बन्ध स्वीकार किया जाता है तो शब्द और अर्थ में स्वभाव से ही वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध क्यों नहीं मान लिया जाता है, क्योंकि जो आक्षेप और समाधान शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में विषय किये जाते हैं, वे सब प्रमाण और अर्थ के सम्बन्ध के विषय में भी लागू होते हैं, दोनों में कोई विशेषता नहीं है।

शंका - शब्द और अर्थ में यदि स्वभाव से ही वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध है तो फिर वह पुरुषव्यापार की अपेक्षा क्यों रखता है ?

समाधान - प्रमाण यदि स्वभाव से ही अर्थ से सम्बद्ध है तो फिर वह इन्द्रिय-व्यापार या आलोक की अपेक्षा क्यों करता है ? इस प्रकार शब्द और प्रमाण दोनों में शंका और समाधान समान है। फिर भी यदि प्रमाण की स्वभाव से ही पदार्थों का ग्रहण करनेवाला माना जाता है तो शब्द को भी स्वभाव से ही अर्थ का वाचक मानना चाहिये।

अथवा शब्द और पदार्थ का सम्बन्ध कृत्रिम है, इसलिये वह पुरुष के व्यापार की अपेक्षा रखता है—

इस प्रकार जयधवला के इस उल्लेख से निश्चित होता है कि वास्तव में दिव्यध्वनि की प्रामाणिकता स्वाश्रित है, क्योंकि यदि उसकी प्रामाणिकता स्वाश्रित नहीं मानी जाती है तो वह अन्य से उत्पन्न नहीं की जा सकती। फिर भी असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा विचार करने पर जैसा कि हम पूर्व में लिख आये हैं, वह तीर्थंकर आदि प्रकृतियों के उदय के निमित्त से होने से पराश्रित भी कही गई है। यहाँ पर तीर्थंकर प्रकृति के साथ आदि पद का उल्लेख अन्य केवलियों को लक्ष्य में रखकर किया गया है तथा योग की अपेक्षा सर्वज्ञदेव की भी उसमें निमित्तता है।

श्री अमृतचन्द्रसूरि ने समयसार के अन्त में शब्दागम के स्वरूप को बतानेवाले जो वचन लिखे हैं, उसमें केवल अपनी लघुता ही नहीं दिखलाई है, किन्तु शब्द की स्वाश्रित प्रमाणता को मुख्य कर ही वह वचन लिखा गया है। जैसा कि जयधवला के पूर्वोक्त प्रमाण से स्पष्ट है। इसी प्रकार **'अप्तोपज्ञं '** **'आप्तवचनादिनिबन्धन'** **'आप्ते वक्तरि'** **'युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्'** शब्दों का प्रयोग पूर्वोक्त अभिप्राय से ही किया गया है। इसी प्रकार समयसार गाथा 415 की टीका में शब्दब्रह्म की स्वत:प्रमाणता एक सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित है, न कि लघुताप्रकाशन के रूप में।

●

तृतीय दौर

: 3 :

शंका - 8

दिव्यध्वनि का केवलज्ञान अथवा केवली की आत्मा से कोई सम्बन्ध है या नहीं ? यदि है तो कौन सम्बन्ध है ? वह सत्यार्थ या असत्यार्थ ? दिव्यध्वनि प्रामाणिक है या आप्रामाणिक ? यदि प्रामाणिक है तो उसकी प्रामाणिकता स्वाश्रित है या केवली भगवन् की आत्मा के सम्बन्ध में ?

प्रतिशंका 3

इस प्रश्न के प्रथम उत्तर में आपने दिव्ध्वनि की उत्पत्ति के विषय में बहुत कुछ विवेचन किया, जब कि दिव्यध्वनि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रश्न नहीं था। उसके पश्चात् दिव्यध्वनि की स्वाश्रित प्रामाणिकता बतलाकर अपना उत्तर समाप्त कर दिया। दिव्यध्वनि का केवलज्ञान या केवली की आत्मा से सम्बन्ध विषयक प्रश्नों को आपने छुआ तक नहीं। हमने अपने प्रत्युत्तर में मूल प्रश्न के निम्न पाँच खण्ड करके आपसे पुन: उन प्रथम तीन खण्डों के उत्तर देने की ओर जोर दिया जिनको आपने अपने प्रथम उत्तर में ओझल कर दिया था और दिव्यध्वनि जड़ होने के कारण उसकी स्वाश्रित प्रामाणिकता का मण्डन करते हुए आर्षग्रन्थों के प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध किया था कि दिव्यध्वनि वक्ता केवलज्ञानी है और वक्ता की प्रमाणता से वचनों की प्रमाणता होती है तथा दिव्यध्वनि केवलज्ञान का कार्य है।

मूल प्रश्न के खण्ड—

1. दिव्यध्वनि का केवलज्ञान अथवा केवली की आत्मा से कोई सम्बन्ध है या नहीं ?
2. दिव्यध्वनि का केवलज्ञान अथवा केवली आत्मा के साथ कौन सम्बन्ध है ?
3. दिव्यध्वनि का केवलज्ञान अथवा केवली के साथ सम्बन्ध सत्यार्थ है या असत्यार्थ ?
4. दिव्यध्वनि प्रामाणिक है या अप्रामाणिक ?

5. दिव्यध्वनि प्रामाणिक है तो उसकी प्रामाणिकता स्वाश्रित है या केवली भगवान की आत्मा के सम्बन्ध से ?

आपने अपने द्वितीय उत्तर में भी प्रश्न के प्रथम तीन खण्डों का जो उत्तर दिया है, उसमें केवलीजिन और दिव्यध्वनि के सम्बन्ध को गोलमाल शब्दों में बतलाने का तो प्रयत्न किया गया है, किन्तु केवलज्ञान व केवली की आत्मा का दिव्यध्वनि से क्या सम्बन्ध है इस विषय में एक भी शब्द नहीं लिखा। इससे ज्ञात होता है कि आप प्रश्न के प्रथम तीन खण्डों का उत्तर देना नहीं चाहते, क्योंकि इनका यथार्थ उत्तर देने में आपकी मान्यता खण्डित हो जाती है। आपने हमारे इन आर्षग्रन्थों के प्रमाणों से कुछ प्रमाणों को तो सर्वथा ओझल कर दिया। हमने नाना आर्षग्रन्थ के प्रमाण देकर यह सिद्ध किया था कि दिव्यध्वनि की प्रमाणता वक्ता की प्रमाणता से है और केवलज्ञान का कार्य है, अत: दिव्यध्वनि में पराश्रित प्रमाणता है। मात्र चार प्रमाणों के एक दो शब्दों को लिखकर मात्र यह लिखा है – 'इसी प्रकार '**आप्तोपज्ञ**' '**आप्तवचनादिनिवंधन**' '**आप्ते वक्तरि**' '**युक्तिशाखाविरोधवाक्**' का प्रयोग पूर्वोक्त प्रकार से ही किया गया है।' इन चार प्रमाणों का इन गोलमाल शब्दों द्वारा मात्र उल्लेख किया गया है, उत्तर कुछ नहीं दिया गया है। इस प्रकार प्रश्न के खण्ड नं. 4 व 5 के विषय में भी हमारे प्रमाणों का उत्तर न देकर अपनी पूर्व मान्यता को ही पकड़े रहे। प्रथम उत्तर में आपने लिखा था 'दो या दो से अधिक द्रव्यों और उनकी पर्यायों में जो सम्बन्ध होता है, वह असद्भूत ही होता है।' हमने पूछा था कि सद्भूत से आपका क्या आशय है। किन्तु आपने इस विषय में एक अक्षर भी नहीं लिखा।

आपने अपने द्वितीय उत्तर में आगम विरुद्ध तथा अपनी मान्यता के विरुद्ध दो द्रव्यों तथा उनकी पर्यायों में परस्पर कर्त्ता-कर्म के कुछ सिद्धान्त लिख दिये हैं जो कि अप्रासंगिक है, क्योंकि कर्त्ता-कर्म सम्बन्धी मूल प्रश्न ही नहीं है। आपने प्रश्न नं. 1 के प्रथम उत्तर में यद्यपि निमित्तकर्त्ता को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया, किन्तु द्वितीय उत्तर में हेतु कर्त्ता अर्थात् निमित्तकर्त्ता स्वीकार कर लिया है। सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ के आधार पर कालद्रव्य को भी हेतु कर्त्ता स्वीकार कर लिया है। इतना ही नहीं, आपने प्रथम तथा द्वितीय उत्तर में निम्न शब्दों के द्वारा जीव को जड़द्रव्य का कर्त्ता स्वीकार कर लिया है। फिर भी आप इस प्रश्न के उत्तर में हेतुकर्त्ता को स्वीकार नहीं कर रहे हैं। इस प्रश्न के प्रथम उत्तर में आपने लिखा है – 'इसकी टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं।' 'आचार्य श्री अमृतचन्द्रजी समयसार गाथा 415 की टीका में कहते हैं' इस वाक्य में कर्त्ता तो आचार्य अमृतचन्द्र हैं, जो चेतन पदार्थ और कर्म जड़रूप

वाक्य है जो कि उनके द्वारा लिखे गये हैं और जिनकी आपने प्रमाण स्वरूप उद्धृत किया। आपने जो यह लिखा है – 'आचार्य अमृतचन्द्र लिखते है या कहते है' मात्र इसलिये लिखा है कि आपके द्वारा उद्भ्रत् किये गये वाक्यों में श्री अमृतचन्द्र आचार्य की प्रमाणता से प्रमाणता आ जावे, अन्यथा आपको इन पदों के लिखने की कोई आवश्यकता न थी। इसी प्रकार आपने द्वितीय उत्तर में निम्न पदों का प्रयोग किया है – 'आचार्यवर्य कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्रसूरि के आगम प्रमाण देकर मीमांसा की गई थी। उसका अर्थ आचार्य अमृतचन्द्र ने स्वाभाविक किया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने तो स्त्रियों को माया के समान बतलाया है। साथ ही अमृतचन्द्रसूरि ने अपनी टीका में मेघ का दृष्टान्त देकर यहाँ स्वाभाविक पद का क्या अर्थ है, यह और भी स्पष्ट कर दिया है।'' प्रयत्न के बिना ही उनके धर्मोपदेश आदि की क्रिया होती है।'' कहा भी है।'' श्री अमृतचन्द्रसूरि ने समयसार के अन्त में शब्दागम के स्वरूप को बताने वाले जो वचन लिखे है।' इन सब वाक्यों में शब्द पद वाक्य जड़रूप पदार्थों का कर्त्ता चेतनद्रव्य आचार्य महाराज हैं। इस प्रकार चेतनद्रव्य और जड़ पदार्थ में कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध आपके वचनों ही द्वारा सिद्ध हो जाता है।

श्री कुन्दकुन्द भगवान् ने समयसार की गाथा में '**वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवली-भणियं**' इन वाक्यों द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि इस समयप्राभृत के मूल कर्त्ता अर्थात् कहने वाले श्री केवली तथा श्रुतकेवली हैं और उत्तर ग्रन्थकर्त्ता मैं (कुन्दकुन्द आचार्य) हूँ।

गाथा 5 में '**दाएहं अप्पणो सविहवेण**' इन शब्दों द्वारा यह बतालाया गया है कि 'आत्मा के विभव द्वारा दिखलाता हूँ।' श्री अमृचन्द्राचार्य ने 'आत्मविभव' पद का इस प्रकार विवेचन किया है – 'इस लोक में प्रगट समस्त वस्तुओं को प्रकाश करने वाला और स्यात् पद से चिह्नत जो शब्दब्रह्म (अरहंत का परमागम) उसकी उपासना कर जिस विभव का जन्म हुआ है। समस्त विपक्ष (अन्यवादियों द्वारा ग्रहण की गई सर्वथा एकान्तरूप नयपक्ष) उनके निराकरण में समर्थ जो अतिनिस्तुष निर्वाधयुक्ति उसके अवलंबन से जिस विभव का जन्म है, निर्मल विज्ञान जो आत्मा उसमें अन्तर्निमग्न परम गुरु सर्वज्ञदेव अपर गुरु गणधरादिक से लेकर हमारे गुरुपर्यन्त उनकर प्रसादरूप से दिया गया जो शुद्धात्मतत्त्व का अनुग्रहपूर्वक उपदेश तथा पूर्वाचार्यों के अनुसार उपदेश उससे जिस विभव का जन्म है, निरन्तर क्षरता आस्वाद में आया और सुन्दर जो आनन्द, उससे मिला हुआ जो प्रचुरसंवेदनस्वरूप स्वयंवेदन उसका जिसका जन्म है, ऐसा जिस तिस प्रकार से मेरे ज्ञान का विभव है, उस समस्त विभव से दिखलाता हूँ।' इस प्रकार के ज्ञान के द्वारा श्री कुन्दकुन्द भगवान ने इस समयसार ग्रन्थ की रचना की है, इसीलिये

यह समयसार ग्रन्थ शब्दब्रह्म है, इसीलिये यह समयसार ग्रन्थ प्रामाणिक है। अक्षरों, शब्दों या वाक्यों के स्वयं मिल जाने से यदि इस ग्रन्थ की रचना हुई होती तो या मात्र काययोग से (जो कि विचारी पर्याय है) ज्ञान बिना इस समयसार ग्रन्थ की रचना हुई होती तो यह ग्रन्थ प्रमाणकोटि को प्राप्त न होता, इसीलिये अर्थात् ग्रन्थ की प्रमाणता सिद्ध करने के लिये श्री अमृतचन्द्राचार्य ने टीका में स्पष्ट कर दिया कि इस ग्रन्थ की रचना श्री कुन्दकुन्द भगवान् ने अपने ज्ञान के द्वारा की है।

श्री कुन्दकुन्द भगवान् ने भी प्रथम गाथा में यह स्पष्ट कर दिया कि मैं अपनी तरफ से कुछ नहीं कहता। किन्तु मैं भी वह ही चाहूँगा जो केवली या श्रुतकेवली ने कहा है।

इसी प्रकार गाथा 45, 46, 70 आदि गाथाओं में भी '**जिणा विंति, वण्णिदो जिणयरेहिं, भणिदो खलु सव्वदरसीहिं**' इत्यादि पदों के द्वारा यह बतलाया गया है कि यह जो कुछ भी मैं (कुन्दकुन्द आचार्य) कह रहा हूँ, वह जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

इसी प्रकार प्रवचनसार गाथा 42, 86, 87, 88 आदि तथा अन्य ग्रन्थों में भी कहा है।

फिर इस कथन के विरुद्ध अर्थात् श्री कुन्दकुन्द आचार्य के (मैं समयसार को कहता हूँ। केवल श्रुतकेवली ने कहा है, जिनेन्द्र ने कहा है।) इन वाक्यों के विरुद्ध तथा अपने (प्रथम गाथा की टीका में 'परिभाषण करूँगा' तथा गाथा पाँच की टीका में 'ज्ञानविभव से दिखलाता हूँ') इन वाक्यों के विरुद्ध टीका के अन्त में यह कैसे लिखते कि इस ग्रन्थ या टीका की स्वयं रचना हो गई।

समयसार गाथा 415 की टीका में इस समयसार की महिमा बतलाने के लिये तथा पदार्थ और शब्द का वाच्य-वाचक सम्बन्ध दिखलाने के लिये यह लिखा है - '**कैसा यह शास्त्र? समयसारभूत भगवान् परमात्मा के प्रकाशने वाला होने से जिसको विश्व समय कहते हैं उसके प्रकाश से आप स्वयं शब्दब्रह्म सरीखा है।**' *- समयसार, रायचन्द ग्रंथमाला, पृ. 541*

कलश 278 में मात्र अपनी निरभिमानता दिखलाने के लिये यह कहा है कि '**इस टीका में मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं है।**' श्री पं. जयचन्दजी ने भी इस कलश 218 के भावार्थ में कहा - '**ऐसा कहने से उद्धृतपने का त्याग पाता है।**' इन सब उल्लेखों को देखते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं—

जब हम जैन सिद्धान्त सम्मत पद और वाक्य के लक्षणों को देखते हैं जो पुरुष प्रयत्न

के बिना वे बनते ही नहीं है, तब अमृतचन्द्र सूरि महाराज के गम्भीर और सुललित पद वाक्य भी उनके ज्ञान प्रकर्ष के बिना कैसे बन सकते हैं जिनसे कि परम ब्रह्म-तत्त्व प्रतिपादक इस अध्यात्मशास्त्र की रचना हुई है। अत: उनका वह उल्लेख मात्र अपना लाघव बतलाने के लिये है।

श्री अमृतचन्द्र आचार्य स्वयं कलश 2 में कहते हैं कि **जो इस समयसार की व्याख्या (कथनी) से मेरी अनुभूति-अनुभवनरूप परिणति उसकी परम विशुद्धि समस्त रागादि विभाव परिणति रहित उत्कृष्ट निर्मलता हो। यह मेरी परिणति ऐसी है कि परपरिणति का कारण जो मोह नाम कर्म, उसका अनुभाव उदयरूप विपाक, उससे जो अनुभाव्य- रागादिक परिणामों की व्याप्ति है, उस कर निरन्तर कल्माषित मैली है। और मैं ऐसा कि द्रव्यदृष्टि कर तो मैं शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति हूँ।** *- समयसार, रायचन्द ग्रन्थमाला, पृ. 4-5*

दिव्यध्वनि की स्वश्रित प्रमाणता के लिये जो जयधवल पु. 1, पृ. 239 के वाक्य उद्धृत किये गये हैं, उनमें तो दिव्यध्वनि या केवली का नाममात्र को भी कथन नहीं है। उसमें तो मात्र प्रमाण और पदार्थ का ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध तथा शब्द और पदार्थों में वाच्य-वाचक सम्बन्ध दिखलाया गया है। इसके साथ यह स्पष्ट कर दिया है कि **'शब्द और पदार्थ की अर्थप्रतिपादकता कृत्रिम है, इसलिये वह पुरुष की व्यापार की अपेक्षा रखती है।'** अर्थात् शब्द ऐसा नहीं कहते कि हमारा यह अर्थ है या नहीं है, किन्तु पुरुषों के द्वारा ही शब्दों का अर्थ संकेत किया जाता है। इसीलिये लौकिक या आगम शब्दों की सहज योग्यता पुरुषों के द्वारा संकेत के आधीन ही पदार्थ का प्रकाशक मानना चाहिये, बिना संकेत के शब्द पदार्थ का प्रतिपादक नहीं होता। प्रमेय-कमलमार्तण्ड, पृ. 431। व्याख्याता के बिना वेद स्वयं अपने विषय का प्रतिपादक नहीं है, इसलिए उसका वाच्यवाचक भाव व्याख्याता के आधीन है। *- धवल, पृ. 1, पृ. 196*

जब शब्दों के द्वारा पदार्थों की प्रकाशकता ही पुरुषव्यापार की अपेक्षा रखता है तो उनमें स्वाश्रित प्रामाणिकता कैसे हो सकती है अर्थात् शब्दों में स्वाश्रित प्रामाणिकता नहीं है। इस प्रकार आपका दिव्यध्वनि को स्वाश्रित प्रमाण कहना आगम विरुद्ध है। उसमें केवलज्ञान की प्रमाणता से ही प्रमाणता आई है, क्योंकि वक्ता की प्रमाणता से वचनों में प्रमाणता आती है, ऐसा न्याय है। *- धवल, पु. 1, पृ. 196, जयधवल, पु. 1, पृ. 88*

असत्य वचन दो कारणों से बोला जाता है। प्रथम तो राग-द्वेष के कारण असत्य बोला जाता है, क्योंकि जिससे राग है, उसको लाभ पहुँचाने के कारण असत्य भाषण हो सकता है अथवा जिससे द्वेष है, उसको हानि पहुँचाने के लिये असत्य वचनों का प्रयोग होता है। दूसरे

अज्ञानता के वश असत्य वचन बोला जा सकता है, किन्तु केवली भगवान् के ये दोनों कारण नहीं हैं, अतः उनके दिव्यध्वनिरूप वचन प्रमाण है। कहा भी है—

रागाद् वा द्वेषाद् वा मोहाद् वा वाक्यमुच्यते अमृतम्।
यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृपकारणं नास्ति।।
आगमो ह्याप्तवचनमाप्तो दोषक्षयं विदुः।
त्यक्तदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद् हेत्वसम्भवात्।।

- धवल, पु. 3, पृ. 12

अर्थ - राग, द्वेष अथवा मोह से असत्य वचन बोला जाता है, परन्तु जिसके ये रागादि दोष नहीं रहते उसके असत्य वचन बोलने का कोई कारण भी नहीं पाया जाता। आप्तवचनों को आगम जानना चाहिये। जिसने जन्म-जरादि अठारह दोषों का नाश कर दिया है, उसे आप्त जानना चाहिये। इस प्रकार जो त्यक्त दोष होता है, वह असत्य वचन नहीं बोलता है, क्योंकि उसके असत्य वचन बोलने का कोई कारण ही सम्भव नहीं।

रागादि का अभाव भी भगवान् महावीर में असत्य भाषण के अभाव को प्रकट करता है, क्योंकि कारण के अभाव में कार्य के अस्तित्व का विरोध है और असत्य भाषण का अभाव भी आगम की प्रमाणता का ज्ञापक है। *- धवल, पु. 9, पृ. 108*

बीज पदों का जो प्ररूपक है, वह अर्थकर्त्ता कहलाता है। ग्रन्थ की प्रमाणता को बतलाने के लिये कर्त्ता की प्ररूपणा की जाती है। *- धवल, पु. 9, पृ. 127*

दिव्यध्वनि में मात्र योग ही कारण नहीं है, किन्तु केवलज्ञान भी निमित्तकारण है। इसीलिये दिव्यध्वनिरूप वचन केवलज्ञान का कार्य है 'तस्य ज्ञानकार्यत्वाद्।'

- धवल, पु. 1, पृ. 368

केवलज्ञान के निमित्त से उत्पन्न हुए पद और वाक्य प्रमाण हैं। *- जयधवल पु. 1, पृ. 44*

श्री वर्द्धमान भट्टारक द्वारा उपदिष्ट होने से द्रव्य आगम (दिव्यध्वनि) प्रमाण है।

- जयधवल, पु. 1, पृ. 73 व 83

जिनेन्द्र भगवान् के मुख से निकाल हुआ वचन अप्रमाण नहीं हो सकता।

- जयधवल पु. 5, पृ. 340

जिनेन्द्र देव अन्यथावादी नहीं होते। *- जयधवल, पु. 7, पृ. 127*

असत्य बोलने के कारणों से रहित जिनेन्द्र के मुख कमल से निकले हुए ये वचन हैं, इसलिये इन्हें अप्रमाण नहीं माना जा सकता। *- धवल, पु. 3, पृ. 26*

जिसने सम्पूर्ण भावकर्म और घातिया द्रव्यकर्म को दूर कर देने से सम्पूर्ण वस्तुविषयक ज्ञान को प्राप्त कर लिया है, वही आगम का व्याख्याता हो सकता है। *- धवल, पु. 1, पृ. 196*

जो केवलज्ञानपूर्वक उत्पन्न हुआ है, प्रायः अतीन्द्रिय पदार्थों को विषय करनेवाला है, अचिन्त्यस्वभावी और युक्ति के विषय से परे है, उसका नाम आगम है।

- धवल, पु. 6, पृ. 151

'सर्वज्ञ-वचनं तावदागमः' सर्वज्ञ के वचन आगम हैं। *- समयसार, गाथा 44 टीका*

समयणमुहुग्गदमट्ठं चतुग्गदिणिवारणं सणिव्वाणं।
एसो पणमिय सिरसा समयमियं सुणह वोच्छमि॥ 2॥

- पंचास्तिकाय

अर्थ - यह मैं कुन्दकुन्द आचार्य इस पंचास्तिकायरूप समयसार को कहूँगा। इसको तुम सुनो। श्रमण कहिये सर्वज्ञ वीरतरागदेव के मुख से उत्पन्न हुए पदार्थ समूह सहित वचन तिन को मस्तक से प्रमाण करके कहूँगा, क्योंकि सर्वज्ञ के वचन ही प्रमाणभूत हैं। इस कारण इनके ही आगम को नमस्कार करना योग्य है और इनका ही कथन योग्य है। वह आगम चार गतियों का निवारण करने वाला है तथा मोक्षफल करि सहित है।

सुत्तं जिणोवदिट्ठं पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं। *- प्रवचनसार, गाथा 34*

अर्थ - पुद्गल द्रव्यस्वरूप वचनों से जो जिन भगवान् का उपदेश किया हुआ है, वह द्रव्यश्रुत है।

जो आत्मा क्षुधा, तृषा आदि अठारह दोषों से रहित है, वह ही आप्त कहलाता है तथा उसी आप्त के वचन प्रमाण हैं। *- वसुनन्दिश्रावकाचार, गाथा 809*

साक्षात् विश्वतत्त्वज्ञाता के बिना साक्षात् निर्बाध मोक्षमार्ग का प्रणयन नहीं बन सकता।

- आप्तपरीक्षा, पृ. 261

आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः॥ 3,94॥ - परीक्षामुख

अर्थ - आप्त के वचन आदि से होनेवाले अर्थज्ञान को आगम कहते हैं।

वक्ता की प्रमाणता से वचन में प्रमाणता आती है। इस न्याय के अनुसार अप्रमाणभूत पुरुषों के द्वारा व्याख्यान किया गया आगम अप्रमाणता को कैसे प्राप्त नहीं होगा ? अवश्य प्राप्त होगा। *- धवल, पु. 1, पृ. 196*

यदि मात्र योग को ही वचनों की प्रामाणिकता का कारण माना जाये तो रागी-द्वेषी पुरुष के वचनों को भी प्रमाणता का प्रसंग आ जावेगा, किन्तु ऐसा है नहीं।

रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभासम् ॥ 6-51 ॥ *-परीक्षामुख*

अर्थ - रागी, द्वेषी और अज्ञानी मनुष्य के वचनों से उत्पन्न हुए आगम को आगमाभास कहते हैं।

इस प्रकार इन आगम प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है कि वीतराग सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि प्रामाणिकता केवलज्ञान के निमित्त से ही है, क्योंकि उनका केवलज्ञान प्रमाण है।

समयसार गाथा 99 और 100 का जो तात्पर्य आपने लिखा वह ठीक नहीं है। गाथा 99 तो व्याप्य-व्यापक अपेक्षा कर्त्ता-कर्म का कथन करती है। गाथा नं. 100 की टीका में पं. जयचन्दजी ने लिखा है - **यहाँ तात्पर्य ऐसा है कि द्रव्यदृष्टि कर तो कोई द्रव्य अन्य किसी द्रव्य का कर्त्ता नहीं है, परन्तु पर्याय दृष्टिकरि किसी द्रव्य का पर्याय किसी अन्य द्रव्य को निमित्त होता है। इस अपेक्षा से अन्य के परिणाम अन्य के परिणाम के निमित्तकर्त्ता कहे जाते हैं। परन्तु परमार्थ से द्रव्य अपने परिणाम का कर्त्ता है, अन्य के परिणाम का अन्य द्रव्य कर्त्ता नहीं है - ऐसा जानना ॥ 100 ॥**

आपके पाँच निष्कर्ष अनुसार तो यह चर्चा ही नहीं चल सकती, क्योंकि जो प्रश्न-प्रतिप्रश्न व उत्तर-प्रत्युत्तर आदि लिखितरूप से चल रहे हैं, परमार्थ से तो उनका कर्त्ता पुद्गल है। आपके निष्कर्ष के अनुसार व्याप्य-व्यापक भाव से तन्मयता का प्रसंग आने के कारण कोई भी आत्मा इन लिखित प्रश्नों-उत्तरों तथा प्रतिप्रश्नों-प्रत्युत्तरों आदि का कर्त्ता नहीं है। आपके निष्कर्ष के अनुसर सामान्य आत्मा भी निमित्त-नैमित्तिकभाव से इन प्रश्नोत्तरों प्रतिप्रश्न-प्रत्युत्तररूप पुद्गल द्रव्यपर्यायों का कर्त्ता नहीं है, अन्यथा नित्यकर्तृत्व का प्रसंग आ जायेगा। आपके निष्कर्ष के अनुसार अज्ञानी जीव के योग और उपयोग परद्रव्यों की पर्यायों के निमित्तकर्त्ता हैं, किन्तु आप अपने को अज्ञानी स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं, अत: आपके योग और उपयोग भी उत्तर-प्रतिउत्तररूप पुद्गलद्रव्य की पर्यायों के निमित्तकर्त्ता भी नहीं हैं। आपके निष्कर्ष (ई) के

अनुसार आत्मा अज्ञानभाव से योग और उपयोग का कर्त्ता है, तथापि परद्रव्यों की पर्यायों का कर्त्ता कदाचित् भी नहीं है। किन्तु आप अपने में अज्ञानभाव स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं; इसलिए आप अपनी पर्यायस्वरूप योग और उपयोग के भी कर्ता नहीं है। उत्तर-प्रतिउत्तररूप पुद्‌गलपरद्रव्य की पर्यायों के कर्ता तो कदाचित् भी नहीं है। आपके निष्कर्ष (उ) के अनुसार आत्मा अज्ञानभाव से परद्रव्यों की पर्यायों का निमित्तकर्त्ता नहीं है अर्थात् आप इन उत्तर प्रतिउत्तर के निमित्तकर्त्ता भी नहीं हैं। आपकी उपर्युक्त मान्यता अनुसार जब आपका इन उत्तर-प्रतिउत्तर से कोई सम्बन्ध ही नहीं रहा, मात्र पुद्‌गल के साथ इन उत्तर-प्रत्युत्तर का सम्बन्ध रह गया तो इन उत्तर-प्रयुत्तर के आधार से आपके साथ चर्चा चल नहीं सकती और पुद्‌गल जड़ है, उसके साथ चर्चा का कोई प्रसंग ही नहीं। इस प्रकार एक निमित्तकर्त्ता का स्वीकार न करने से सब विप्लव हो जायेगा और कोई व्यवस्था ही नहीं रहेगी।

प्रवचनसार गाथा 44 व 45 का जो आपने प्रमाण दिया है, उससे तो यह सिद्ध होता है कि अर्हंत भगवान् के राग-द्वेष-मोह का अभाव हो गया, अत: उनकी जितनी भी क्रिया हैं, वे बिना इच्छा के हैं, कर्मबन्ध की कारण नहीं और पूर्व कर्म उदय में आकर ज्ञेय को प्राप्त हो जाते हैं। इसमें दिव्यध्वनि की प्रमाणता या अप्रमाणता का प्रसंग ही नहीं। समयसार गाथा 67 का भी कोई सम्बन्ध इस प्रश्न से नहीं है। केवलज्ञान में पदार्थ प्रतिबिम्बित नहीं होते, क्योंकि प्रतिबिम्ब या छाया पुद्‌गल द्रव्य की पर्याय है (देखो प्रश्न नं. 7 पर हमारा दूसरा उत्तर), केवलज्ञान पदार्थों को जानता अवश्य है।

जो श्लोक आपने उद्‌धृत किया है, उसमें तो सर्वज्ञ के वचनों की '**सर्वात्महिते**', '**शान्त्यं**', '**विभैः समं पशुगणैराकर्णितं कर्णिभिः, विनष्टपिवदः**', '**पायात् सर्वविदः अपूर्व वचः**' इन विशेषणों द्वारा स्तुति की है अर्थात् 'सर्व आत्माओं का हित करने वाली, शान्तिरूप, पशुओं के कानों के द्वारा सुने जाते हैं, जिससे विपद विनष्ट हो जाती है, ऐसे सर्वज्ञ भगवान् के अपूर्व वचन हमारी रक्षा करो।' आगे आपने लिखा है कि 'सब प्रमाणों में स्वत: प्रमाणता स्वत: स्वीकार करनी चाहिये।' किन्तु जिस श्लोक के आधार पर यह लिखा गया है, वह श्लोक ज्ञान से संबंधित है, क्योंकि यह श्लोक ज्ञान-ज्ञेय के प्रकरण में आया है। इस श्लोक का दिव्यध्वनि से कोई सम्बन्ध नहीं है।

आपने लिखा है 'यदि दिव्यध्वनि की प्रामाणिकता स्वाश्रित नहीं मानी जाती है तो वह अन्य से उत्पन्न नहीं की जा सकती।' यदि आप हमारे पूर्व उत्तर में दिये गये 'वचनों की प्रमाणता

वक्ता की प्रमाणता से होती है' इस आर्ष वचन पर ध्यान देते तो आपको यह कठिनाई न पड़ती।

आगे आप लिखते हैं कि 'असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा विचार करने पर वह तीर्थंकर आदि प्रकृतियों के उदय के निमित्त से होने से दिव्यध्वनि की प्रामाणिकता पराश्रित भी है।' तीर्थंकर आदि प्रकृतियों के उदय से तो समवशरण गंधकुटि की रचना होती है। किसी भी प्रकृति के उदय से तो औदयिकभाव होगा या परद्रव्य का संयोग होगा, किन्तु प्रामाणिकता तो नहीं आ सकती । यदि कर्मोदय से प्रामाणिकता होती तो सिद्धों में जहाँ किसी भी कर्म का उदय नहीं प्रामाणिकता के अभाव का प्रसंग आ जायेगा। सो आपका वह लिखना 'तीर्थंकर आदि प्रकृति के उदय से दिव्यध्वनि में प्रमाणता पराश्रित है' ठीक नहीं है।

आपने लिखा है कि 'योग की अपेक्षा दिव्यध्वनि की प्रमाणिकता में सर्वज्ञदेव की भी निमित्तता है' सो यह सयुक्तिक प्रतिपादन नहीं है, क्योंकि वचन की प्रामाणिकता में ज्ञान की प्रकर्षता ही कारण मानी गई है। अन्यथा अज्ञानी मनुष्य के वचनों में भी प्रामाणिकता का प्रसंग आ जायेगा, क्योंकि वाग्योग तो उसके भी विद्यमान है। फलत: जब आप योग के माध्यम से सर्वज्ञदेव को निमित्त मानने के लिये तैयार हो गये हैं, तब केवलज्ञान को ही दिव्यध्वनि की प्रामाणिकता का कारण स्वीकार करना आगमसंगत है। सर्वार्थसिद्धि में पूज्यपादस्वामी ने श्रुत की प्रमाणता को बतलाते हुए वक्ता को ही कारण माना है—

त्रयो वक्तारः - सर्वज्ञस्तीर्थंकरः इतरो वा श्रुतकेवली आरातीपश्चेति। तत्र सर्वज्ञने परमर्षिणा परमाचिन्तयकेवलज्ञानविभूतिविशेषेण अर्थात् आगम उद्दिष्टः। तस्य प्रत्यक्षदर्शित्वात् प्रक्षीणदोषत्वाच्च प्रामाण्यम्। तस्य आक्षाच्छिष्यैर्बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तैर्गणधरैः श्रुतकेवलिभिरनु-स्मृतग्रन्थरचनमंगपूर्वलक्षणम्। तत्प्रमाणं तत्प्रामाण्यात्। आरातीयैः पुनराचार्यैः कालदोषत्संक्षिप्त-युर्मतिबलशिष्यानुग्रहार्थं दशवैकालिकाद्युपरिनवद्धम्। तत्प्रमाणमर्थतस्तदेवेदमिति क्षीरार्णवजलं घटगृहीतमिव।

– सर्वार्थसिद्धि, पं. फूलचन्द्रजी द्वारा संपादित संस्करण, पृ. 123

अर्थ – वक्ता तीन प्रकार के हैं – सर्वज्ञ तीर्थंकर या सामान्य केवली तथा श्रुतकेवली और आरातीय। इनमें से परम ऋषि सर्वज्ञ उत्कृष्ट और अचिन्त्य केवलज्ञानरूपी विभूति से युक्त हैं। इस कारण उन्होंने अर्थरूप से आगम का उपदेश दिया। ये सर्वज्ञ प्रत्यक्षदर्शी और दोषमुक्त है। इसलिये प्रमाण है। इनके साक्षात् शिष्य और बुद्धि के अतिशयरूप ऋद्धि से युक्त गणधर श्रुतकेवलियों ने अर्थरूप आगम का स्मरण कर अंग और पूर्व ग्रन्थों की रचना की। सर्वज्ञदेव की प्रमाणता से ये भी प्रमाण है तथा आरातीय आचार्यों ने कालदोष से जिनकी आयु, मति और

बल घट गया है – ऐसे शिष्यों का उपकार करने के लिये दशवैकालिक आदि ग्रन्थ रचे। जिस प्रकार क्षीरसागर का जल घट में भर लिया जाता है, उसी प्रकार ये ग्रन्थ भी अर्थरूप से वे ही हैं, इसलिये प्रमाण हैं।

●

मङ्गलं भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम्॥

शंका - 8

मूल प्रश्न 8 – दिव्यध्वनि का केवलज्ञान अथवा केवली की आत्मा से कोई सम्बन्ध है या नहीं? यदि है तो कौन सम्बन्ध है? वह सत्यार्थ है या असत्यार्थ? दिव्यध्वनि प्रामाणिक है या अप्रामाणिक? यदि प्रामाणिक है तो उसकी प्रामाणिकता स्वाश्रित है य केवली भगवान की आत्मा के सम्बन्ध से?

प्रतिशंका - 3 का समाधान

इस मूल प्रश्न का हम आगम और आगम को अनुसरण करने वाली युक्तिपूर्वक पिछले दो उत्तरों में सांगोपांग विचार कर आये हैं। साथ ही प्रतिशंका 2 में निर्दिष्ट तथ्यों पर भी विस्तार के साथ प्रकाश डाल आये हैं। हमने अपने पिछले उत्तरों में मूल प्रश्न को लक्ष्य में रखकर जो कुछ लिखा है, उसका सार यह है—

(1) केवलीजिन की दिव्यध्वनि निश्चय से स्वाश्रित प्रमाणरूप है, व्यवहार से पराश्रित प्रमाणरूप कही गई है।

(2) दिव्यध्वनि के प्रवर्तन में वचन योग तथा तीर्थंकर प्रकृति के उदय आदि निमित्त हैं, इस अपेक्षा से केवली जिन के साथ भी दिव्यध्वनि का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बन जाता है।

(3) यत: दो द्रव्यों की विवक्षित पर्यायों में कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध असद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा ही घटित होता है, इसलिए वह परमार्थ सत्य न होकर व्यवहार से सत्य माना गया है। उपचरित सत्य इसी का दूसरा नाम है।

इस स्पष्टीकरण से मूल प्रश्न के पाँचों उपप्रश्नों का समाधान हो जाता है। साथ ही आगम में कौन वचन किस नय की दृष्टि में रखकर लिखा गया है, वह भी सम्यक् प्रकार ज्ञात हो जाता

है। फिर भी अपरपक्ष परद्रव्य की किसी भी विवक्षित पर्याय में निमित्त की अपेक्षा किये गये कर्तृत्व व्यवहार की परमार्थभूत मानने के कारण न तो स्वाश्रित प्रमाणता को स्वीकार करता है, न निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को उपचरित मानना चाहता है और न ही कार्य के प्रति उपादान की अन्तर्व्याप्ति के साथ निमित्तों को बाह्य व्याप्ति के सुमेल को स्वीकार करना चाहता है। उस पक्ष का यदि कोई आग्रह प्रतीत होता है तो एक मात्र यही कि जिस किसी प्रकार कार्य के प्रति निमित्तों में परमार्थभूत कर्तृत्व सिद्ध होना चाहिये। इसके लिए यदि आगमसम्मत उपादान के स्वरूप में फेर-फार करना पड़े तो वह अपने तर्कों के बल पर उसे भी करने के लिए तैयार है। इसमें यह आगम की हानि नहीं मानता। यही कारण है कि उस पक्ष की ओर से प्रतिशंका 3 में पुन: उन्हीं 5 प्रश्नों को उपस्थित कर प्रतिशंका 2 में निर्दिष्ट तर्कों की पुष्टि करने का प्रयत्न किया गया है। अत: हम प्रतिशंका 2 और 3 को लक्ष्य में रखकर उन्हीं बातों पर नये सिरे से आगमप्रमाण के अनुसार प्रकाश डालने का पुन: प्रयत्न करेंगे।

1. केवली जिन के साथ दिव्यध्वनि का सम्बन्ध

जब हम केवली भगवान् या केवलज्ञान के साथ दिव्यध्वनि का क्या सम्बन्ध है और वह सत्यार्थ है या असत्यार्थ इस प्रश्न पर विचार करने लगते हैं, तब हमें दिव्यध्वनि के उत्पत्ति पक्ष पर भी विचार करना आवश्यक हो जाता है, क्योंकि दिव्यध्वनि पौद्गलिक भाषावर्गणाओं की व्यञ्जन पर्याय है, इसलिए उपादान की दृष्टि से भाषावर्गणाएँ ही दिव्यध्वनिरूप परिणमती हैं। इस प्रकार भाषावर्गणा और दिव्यध्वनि इन दोनों में उपादान-उपादेय सम्बन्ध है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का विचार दिव्यध्वनि की उत्पत्ति पक्ष को लक्ष्य में रखकर ही किया जा सकता है। अपरपक्ष केवली भगवान् और केवलज्ञान के साथ दिव्यध्वनि का क्या सम्बन्ध है, यह प्रश्न तो उपस्थित करता है, किन्तु जब इस प्रश्न को ध्यान में रखकर सम्बन्ध को स्पष्ट करने के अभिप्राय से दिव्यध्वनि की उत्पत्ति के ऊपर विचार किया गया तो वह अपनी मान्यता को कमजोर होता हुआ देखकर उसे छिपाने के लिए प्रतिशंका 3 में लिखता है—

'आपने अपने द्वितीय उत्तर में आगम विरुद्ध तथा अपनी मान्यता के विरुद्ध दो द्रव्यों तथा उनकी पर्यायों में परस्पर कर्त्ता-कर्म के कुछ सिद्धान्त लिख दिये हैं, जो कि अप्रासंगिक हैं, क्योंकि कर्त्ता-कर्म सम्बन्धी मूल प्रश्न ही नहीं है।' इत्यादि।

ऐसा लिखने के पूर्व अपरपक्ष ने हमारे उत्तर को गोलमाल बतलाया है तो इसका विचार तो उसे स्वयं करना है कि हमारा उत्तर गोलमाल है या उसका ऐसा लिखना गोलमाल है। एक

ओर तो वह '**शास्ता शास्ति सतो हितम्**' इत्यादि प्रमाण उपस्थित कर जिनदेव का वाणी के साथ कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध बतलाने का उपक्रम करता है और दूसरी ओर तथ्यरूप से कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध आदि पर प्रकाश डालने वाले तर्कसंगत प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं तो उसकी ओर से यह कहा जाता है कि प्रकृत में 'कर्त्ता-कर्मसम्बन्धी मूल प्रश्न ही नहीं है।' यदि यहाँ अपर पक्ष का प्रश्न कर्त्ता-कर्म सम्बन्धी नहीं था और वह उक्त प्रश्न द्वारा कोई दूसरा सम्बन्ध जानना चाहता था तो उसे प्रतिशंका 3 में हमें लक्ष्य कर यह वाक्य नहीं लिखना चाहिए था कि 'फिर भी आप इस प्रश्न के उत्तर में हेतु कर्त्ता को स्वीकार नहीं कर रहे है।' स्पष्ट है कि अपरपक्ष के मन में दिव्यध्वनि कर्म और भगवान् तीर्थंकर हेतु कर्त्ता (प्रेरककर्त्ता) यही भाव समाया हुआ है तथा प्रश्न भी इसी आशय से किया गया होना चाहिए।

साधारणत: हेतुकर्त्ता शब्द आगम में 3 अर्थों में प्रयुक्त हुआ है —

(1) एक तो वर्तना को काल का लक्षण बतला कर सर्वार्थसिद्धि आदि आगम में काल को हेतु कर्त्ता कहा है। यद्यपि काल उदासीन निमित्त है, पर इस अर्थ में भी हेतुकर्त्ता शब्द का प्रयोग होता है, यह इस प्रसंग में स्पष्ट किया गया है।

(2) दूसरे जो क्रियावान् द्रव्य अपनी क्रिया द्वारा अपर द्रव्य की क्रिया में निमित्त होते हैं उनके लिए भी पंचास्तिकाय गाथा 88 आदि आगम में हेतुकर्त्ता शब्द का प्रयोग हुआ है।

तथा (3) तीसरे जो सजीवधारी प्राणी अपने विकल्प और योग द्वारा परद्रव्य के कार्य में निमित्त होते हैं, उनके लिए भी हेतु कर्त्ता शब्द का प्रयोग समयसार गाथा 100 आदि आगम में किया गया है।

इस प्रकार 3 अर्थों में हेतुकर्त्ता शब्द का प्रयोग आगम में दृष्टिगोचर होता है। उनमें से किस अर्थ में अपरपक्ष केवलीजिन को दिव्यध्वनि के होने में हेतुकर्त्ता स्वीकार करता है, इसका स्वयं उसकी ओर से किसी प्रकार का स्पष्टीकरण नहीं किया गया, यह आश्चर्य की बात है। आगम में सब प्रकार के प्रमाण हैं और वे भिन्न-भिन्न अभिप्राय से लिखे गये हैं, परन्तु उन सबको एक जगह उपस्थित कर देने मात्र से वस्तु का निर्णय नहीं हो सकता। यहाँ तो यह विचार करना है कि केवली का दिव्यध्वनि के साथ योग के माध्यम से सम्बन्ध है या तीर्थंकर प्रकृति आदि के माध्यम से सम्बन्ध है या केवलज्ञान के माध्यम से सम्बन्ध है। मूल प्रश्न में केवलज्ञान अथवा केवली की आत्मा से दिव्यध्वनि का कोई सम्बन्ध है ? यह प्रश्न पूछा गया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि अपरपक्ष केवलज्ञान और केवली की आत्मा इन दोनों को एकरूप से स्वीकार करके

उनके साथ दिव्यध्वनि का सम्बन्ध जानना चाहता है। अब यदि प्रकृत में हेतुकर्त्ता शब्द का अर्थ विकल्प और योग किया जाता है तो इस प्रकार का हेतुकर्त्तारूप सम्बन्ध केवलज्ञान के साथ दिव्यध्वनि का नहीं बन सकता, क्योंकि केवली के योग का सद्भाव होने पर भी विकल्प का सर्वथा अभाव है, इसलिए योग और विकल्परूप निमित्त के अर्थ में यहाँ केवली को हेतुकर्त्ता कहना न तो अपरपक्ष को ही मान्य होगा और न प्रकृत में यह अर्थ किया ही गया है।

कदाचित् कहा जाये कि योग की अपेक्षा केवली को दिव्यध्वनि का हेतुकर्त्ता कहने में क्या हानि है ?—सो इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन यह है कि आचार्य अमृतचन्द्र ने प्रवचनसार गाथा 45 में केवली के गमन, स्थिति और दिव्यध्वनि आदि क्रियाओं के प्रवर्तन को जो स्वाभाविक कहा है सो वहाँ उनके कहने का यही अभिप्राय होना चाहिए कि यद्यपि दिव्यध्वनि के प्रवर्तन में वचन योग की प्रमुखरूप से निमित्तता है, फिर भी वचनयोग को विकल्प के अभाव में हेतुकर्त्ता कहना उचित नहीं है। उसके कई कारण हैं। यथा—

(1) केवली भगवान् केवलज्ञान से सदा उपयुक्त होते हैं। उनके उपयोग में जिस प्रकार अन्य समस्त त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती ज्ञेय प्रतिभासित होते हैं, उसी प्रकार दिव्यध्वनि भी प्रतिभासित होती है। दिव्यध्वनि के प्रवर्तन के लिए वे अलग से उपयुक्त नहीं होते। अतएव केवलज्ञान दिव्यध्वनि के प्रवर्तन का साक्षात् निमित्त नहीं हैं। तत्त्वार्थवार्तिक अध्याय 6, सूत्र 1 में वचन योग को क्षयनिमित्तक मानने पर जो आपत्ति आती है, उसका विचार करते हुए अन्त में यही फलित किया है कि चूँकि केवली की आत्मा क्रियाशील है, अतएव उनके 3 प्रकार की वर्णणाओं के आलम्बन की अपेक्षा प्रदेश परिस्पन्दरूप योग होता है। यह शंका इसलिए उठी कि ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय अयोगकेवली और सिद्धों के भी पाया जाता है। ऐसी अवस्था में यदि क्षय को वचनयोग का प्रमुख निमित्त माना जाता है तो अयोगकेवली और सिद्धों के भी वचनयोग होना चाहिए। किन्तु उनके वचनयोग नहीं होता, इससे स्पष्ट विदित होता है कि वचनयोग का प्रमुख कारण क्षय नहीं है, किन्तु वचन वर्गणाओं का आलम्बन ही वचनयोग का प्रमुख कारण है। तत्त्वार्थवार्तिक का वह पूरा उल्लेख इस प्रकार है—

यदि क्षयोपशमलब्धिभ्यन्तरहेतुः क्षये कथम्? क्षयेऽपि हि सयोगकेवलिनः त्रिविधो योगः इष्यते। अथ क्षयनिमित्तोऽपि योगः कल्प्यते, अयोगकेवलिनां सिद्धानां च योगः प्राप्नोति। नैष दोषः, क्रियापरिणामिनः आत्मनस्त्रिविधवर्गणालम्बनापेक्षः प्रदेशपरिस्पंदः सयोगकेवलिनो योगविधिर्विधीयते, तदालम्बनाभावात् उत्तरेषां योगविधिर्नास्ति।

यह उल्लेख अपने में बहुत स्पष्ट है। इसमें जिस प्रकार योग प्रवृत्ति का प्रमुख कारण 3 प्रकार की वर्गणाओं के आलम्बन को बतालाया है, उसी प्रकार दिव्यध्वनि का प्रमुख कारण भाषावर्गणाओं का आलम्बन ही हो सकता है, अन्य नहीं। यही कारण है कि हमने अपने प्रथम और द्वितीय उत्तर में योग के ऊपर विशेष जोर दिया था और साथ में यह भी लिखा था कि योग की अपेक्षा केवली या केवलज्ञान को निमित्त मानने में कोई हानि नहीं है। दिव्यध्वनि का खिरना केवली जिनके वचनयोग क्रिया को निमित्त कर होता है और वचन योग, वचनवर्गणाओं के अवलंबन पर निर्भर है। ऐसा केवली जिनके साथ दिव्यध्वनि का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध माना गया है। फिर भी विकल्प के अभाव में वचन योग को भी हेतु कर्त्ता कहना उचित नहीं है, क्योंकि वचन योग को हेतुकर्त्ता मान लेने पर जब-जब वचनयोग हो तब-तब दिव्यध्वनि होनी ही चाहिए, अन्यथा वचनयोग के साथ दिव्यध्वनि की बाह्य व्याप्ति नहीं बन सकती। स्पष्ट है कि दिव्यध्वनि अपने काल में होती है और वचनयोग उसका मुख्य निमित्त है, साथ ही भव्य जीवों का पुण्योदय, तीर्थंकर प्रकृति का उदय आदि भी दिव्यध्वनि के निमित्त है। ऐसा अपूर्व योग जिनदेव के केवलज्ञान विभूति से सम्पन्न होने पर भी मिलता है, इसलिए दिव्यध्वनि के होने में जिनदेव को भी निमित्त कहा जाता है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि जिनदेव स्वयं अन्य अल्पज्ञों के समान दिव्यध्वनि को प्रगट करने के लिए व्यापारवान् होते हैं। श्री गोम्मटसार जीवकाण्ड में लिखा है—

मणसहियाणं वयणं द्विट्ठं तप्पुब्बमिदि सजोगम्मि।
उत्तो मणोवयारेणिंदियणाणेण हीणम्हि॥ 72॥

मनसहित छद्मस्थ जीवों के वचन, मनपूर्वक देखे जाते हैं, इसलिए इन्द्रियज्ञान से रहित सयोगकेवली के उपचार से मन कहा है॥ 228॥

इस वचन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि केवली जिनके दिव्यध्वनि के लिए दत्तावधान हुए बिना ही अपने काल में वचनयोग आदि को निमित्त कर दिव्यध्वनि प्रकट होती है। पं. दौलतरामजी 'सकलज्ञेयज्ञायक' आदि स्तुति द्वारा उक्त तथ्य को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

भवि भागनि-वचिजोगे वसाय।
तुम धुनि ह्वै सुनि विभ्रम नसाय।।

(2) दूसरा कारण यह है कि केवलीजिन के दो प्रकार का ही वचनयोग होता है - सत्य वचनयोग और अनुभय वचनयोग। इसी प्रकार दिव्यध्वनि भी तदनुसार सत्य और अनुभय के

भेद से दो प्रकार की होती है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि दिव्यध्वनि का प्रमुख निमित्त योग को ही स्वीकार किया है। यदि केवलज्ञान, दिव्यध्वनि का प्रमुख निमित्त होता तो जिस प्रकार केवलज्ञान एकमात्र सत्यरूप स्वीकार किया गया है, उसी प्रकार दिव्यध्वनि भी केवलज्ञान के समान एक ही प्रकार की होती, किन्तु ऐसा नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि केवलीजिन का वचनयोग ही दिव्यध्वनि के खिरने में प्रमुख निमित्त है।

2. दिव्यध्वनि की प्रामाणिकता

मूल प्रश्न में प्रमुखरूप से दूसरा चर्चनीय विषय दिव्यध्वनि की प्रामाणिकता के विषय में ऊहापोह करना है। अपरपक्ष ने अपनी प्रतिशंका 2 और प्रतिशंका 3 में दिव्यध्वनि की प्रामाणिकता वक्ता की प्रामाणिकता के आधार पर स्थापित की है। साथ ही शब्दों, पदों और वाक्यों को कृत्रिम बतलाते हुए लिखा है कि 'शब्द और पदार्थ की अर्थ प्रतिपादकता कृत्रिम है, इसलिए वह पुरुष के व्यापार की अपेक्षा रखती है अर्थात् शब्द ऐसा नहीं कहते कि हमारा यह अर्थ है या नहीं है, किन्तु पुरुषों के द्वारा ही शब्दों का अर्थ संकेत किया जाता है। इसीलिए लौकिक या आगम शब्दों की सहज योग्यता पुरुषों के द्वारा संकेत के आधीन ही पदार्थ का प्रकाशक मानना चाहिए। बिना संकेत के शब्द, पदार्थ का प्रतिपादक नहीं होता (प्रमेय कमल मार्तण्ड, पृष्ठ 432) व्याख्याता के बिना वेद स्वयं अपने विषय का प्रतिपादक नहीं है, इसलिए उसका वाक्य-वाचक भाव व्याख्याता के आधीन है। *- धवल, पु. 1, पृ. 196*

जब शब्दों द्वारा पदार्थों की प्रकाशकता ही पुरुष व्यापार की अपेक्षा रखता है तो उनमें स्वाश्रित प्रामाणिकता कैसे हो सकती है अर्थात् शब्दों में स्वाश्रित प्रामाणिकता नहीं है। इसप्रकार आपका दिव्यध्वनि को स्वाश्रित प्रमाण कहना आगम विरुद्ध है। उसमें केवलज्ञान की प्रमाणता से ही प्रमाणता आई है, क्योंकि वक्ता की प्रमाणता से वचनों में प्रमाणता आती है - ऐसा न्याय है।' *- धवल 1, पृ. 196, जयधवल 1, पृ. 88*

शब्द की प्रामाणिकता पराश्रित कैसे है, इस बात को बतलाने वाला यह अपरपक्ष का वक्तव्य है। इस वक्तव्य द्वारा इन बातों पर प्रकाश डाला गया है—

(1) पुरुष के व्यापार की अपेक्षा रखने के कारण शब्दों में पदार्थों की अर्थप्रतिपादकता कृत्रिम है।

(2) शब्दों के द्वारा पदार्थों की प्रकाशकता पुरुष व्यापार की अपेक्षा रखता है, इसलिए उनमें स्वाश्रित प्रामाणिकता नहीं हो सकती।

(3) दिव्यध्वनि में केवलज्ञान की प्रमाणकता से प्रमाणता आयी है, इसलिए दिव्यध्वनि को स्वाश्रित प्रमाण कहना आगम विरुद्ध है।

(4) लौकिक या आगम शब्दों की सहज योग्यता पुरुषों के द्वारा संकेत के आधीन ही पदार्थ का प्रकाशक मानना चाहिए।

अब इन बातों पर क्रमश: विचार करते हैं—

(1)

आगम में 23 प्रकार की वर्गणाएँ बतलाई हैं। उनमें भाषावर्गणा का स्वतन्त्ररूप से उल्लेख किया गया है। तत, वितत आदि रूप से अनक्षारात्मक या अक्षरात्मक जितने भी शब्द सुनने में आते हैं, उन सब शब्दों की उत्पत्ति एकमात्र भाषावर्गणाओं से होती है। यह नहीं हो सकता कि कोई भी पुरुष अपने तालु आदि के व्यापार द्वारा ऐसी पुद्गल वर्गणाओं को भी शब्दरूप परिणमा सके जो भाषावर्गणारूप नहीं है। पुरुषों के तालु आदि व्यापार से भाषावर्गणाओं की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु जो भाषावर्गणाएँ स्वयं उपादान होकर शब्दरूप परिणत होती हैं, उनमें पुरुषों के तालु आदि का व्यापार निमित्तमात्र है, क्योंकि बाह्य और आभ्यन्तर उपाधि की समग्रता में कार्य की उत्पत्ति होती है, यह कार्य-कारणभाव को प्रगट करने वाला अकाट्य सिद्धान्त है, जो कि भाषावर्गणाओं के शब्दरूप कार्य के होने में भी लागू होता है, क्योंकि कोई भी कार्य इस सिद्धान्त का उल्लंघन कर होता होता हो – ऐसा नहीं है। ऐसी अवस्था में जब विवक्षित शब्दों की उत्पत्ति ही केवल पुरुष व्यापार से नहीं होती तो उनमें पदार्थों की अर्थप्रतिपादकता केवल पुरुष व्यापार से आती हो, वह त्रिकाल में सम्भव नहीं है। जो व्यक्ति निश्चय पक्ष का उलंघन कर केवल व्यवहार पक्ष के एकान्त का ही परिग्रह करता है, वही ऐसा कह सकता है कि 'शब्द और पदार्थ की अर्थ प्रतिपादकता कृत्रिम है, इसलिए वह पुरुष के व्यापार की अपेक्षा रखती है।' अन्य व्यक्ति नहीं। उपादानरूप शब्द वर्गणाओं में विवक्षित अर्थप्रतिपादन की योग्यता न हो और कोई पुरुष अपने व्यापार द्वारा वैसी अर्थप्रतिपादन क्षमता उत्पन्न कर दे, यह कभी भी नहीं हो सकता। भगवान् पुष्पदन्त भूतबलि शब्दगत इस सहज योग्यता का प्रतिपादन करते हुए धवला पु. 14, पृ. 550 में लिखते हैं—

सच्चभासाए मोसभासाए सच्चमोसभासाए असच्चमोसभासाए जाणि दव्वाणि घेत्तूण सच्चभासत्ताए मोसभासत्ताए सच्चमोसभासत्ताए असच्चमोसभासत्ताए परिणामेदूण णिस्सारंति जीवा ताणि भासादव्ववग्गणा णाम॥ 744॥

सत्यभाषा, मोषभाषा, सम्यमोषभाषा और असत्यमोषभाषा के जिन द्रव्यों को ग्रहण कर सत्यभाषा, मोषभाषा, सत्यमोभाषा और असत्यमोषभाषारूप से परिणमा कर जीव उन्हें निकालते हैं, उन द्रव्यों की भाषाद्रव्यवर्गणा संज्ञा है ॥ 744 ॥

इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए वीरसेन आचार्य अपनी धवला टीका में उक्त सूत्र की व्याख्या के प्रसंग से लिखते हैं—

भासादव्वग्गणासच्च-मोस-सच्चमोस-असच्चमोसभेदेण चउव्विहा। एवं चउव्विहत्तं कुदो णव्वदे ? चउव्विहभासाकज्जण्णहाणुववत्तीदो। चउव्विहभासाणं पाओग्गाणि जाणि दव्वाणि ताणि घेत्तूण सच्च-मोस-सच्चमोस-असच्चमोसभासाणं सरूवेण तालुवावदि-वारेण परिणमविय जीवा मुहादो णिस्सरेंति ताणि दव्वाणि भासादव्ववग्गणा णाम।

भाषा द्रव्यवर्गणा सत्य, मोष, सत्यमोष और असत्यमोष के भेद से 4 प्रकार की है।

शंका - यह 4 प्रकार की है - ऐसा किस प्रमाण से जाना जाता है।

समाधान - उसका 4 प्रकार का भाषारूप कार्य अन्यथा बन नहीं सकता है, इससे जाना जाता है कि वह 4 प्रकार की है।

4 प्रकार की भाषा के योग्य जो द्रव्य है, उन्हें ग्रहण कर तालु आदि के व्यापार द्वारा सत्यभाषा, मोषभाषा, सत्यमोषभाषा और असत्यमोषभाषारूप से परिणमा कर जीव मुख से निकालते हैं, अतएव उन द्रव्यों की भाषा द्रव्यवर्गणा संज्ञा है ॥ 744 ॥

यह आगम प्रमाण है। इसमें स्पष्ट बतलाया गया है कि जो भाषा सत्यरूप परिणमती है, जो भाषा असत्यरूप परिणमती है, जो भाषा उभयरूप परिणमती है और जो भाषा अनुभयरूप परिणमती है, उसका उस उस प्रकार का परिणमन न तो पुरुष के तालु आदि के व्यापार से उत्पन्न किया जा सकता है और न ही पुरुष की इच्छा अथवा ज्ञानविशेष से उत्पन्न किया जा सकता है। किन्तु जिस काल में सत्यादिरूप जिस प्रकार की भाषा उत्पन्न होती है, उस काल में वह सत्यादि भाषावर्गणागत अपने-अपने उपादान के अनुसार ही उत्पन्न होती है। मात्र उत्पत्ति के समय यथासम्भव पुरुष का तालु आदि का व्यापार तथा अन्य भव्यजीवों का पुण्योदय आदि निमित्त अवश्य है। इनका अनादिकाल से ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक योग चला आ रहा है। अतएव शब्दों में पदार्थों की अर्थप्रतिपादकता उनकी सहज योग्यता का सुफल है, अन्य तो उसमें निमित्तमात्र हैं - ऐसा यहाँ निश्चय करना चाहिये। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए आचार्य

माणिक्यनन्दि ने अपने परीक्षामुख नामक न्यायग्रंथ में लिखा है—

सहज्जयोग्यतासंकेतवशाद्धि शब्दादयः वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः ॥ *- अ. 3, सूत्र 100*

सहजयोग्यता के सद्भाव में संकेत के वश में शब्दादिक वस्तु प्रतिपत्ति के कारण है। *- अ. 3, सूत्र 100*

जिस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय में ज्ञायक और ज्ञाप्य शक्ति सहज पाई जाती है, वह किसी पुरुष का कार्य नहीं है, उसी प्रकार अर्थ (वस्तु) और शब्दों में प्रतिपाद्य और प्रतिपादक शक्ति सहज होती है, वह किसी पुरुष के तालु आदि के व्यापार से जायमान नहीं है, अतएव शब्दों में सहज ही प्रतिपादकता पाई जाती है और उसी से विवक्षित शब्द द्वारा प्रतिपाद्यभूत विवक्षित पदार्थ का प्रतिपादन किया जाता है। शब्दों द्वारा पदार्थों के प्रतिपादनरूप कार्यों में यद्यपि पुरुष के तालु आदि का व्यापार अवश्य ही निमित्त है, परन्तु उपादान के अभाव में पुरुष के तालु आदि व्यापार द्वारा अर्थप्रतिपादकतारूप शब्दकार्य की उत्पत्ति होती हो, यह कभी भी संभव नहीं है – ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

प्रत्येक शब्द स्वभाव से अपने प्रतिनियत अर्थ का ही प्रतिपादन करता है – ऐसा नियम है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए अष्टसहस्री, पृ. 136 में लिखा है—

निष्पर्यायं भावाभावभिधानं नाञ्जसैव विषयीकरोति शब्दशक्तिस्वाभाव्यात्, सर्वस्य पदस्यैकार्यविषयत्वप्रसिद्धेः। सदिति पदस्यासदविषयत्वात् असदिति पदस्य च सदविषयत्वात्, अन्यथा तदन्यतरप्रयोग संशयात्। गौरिति पदस्थापि दिशाद्यनेकार्य-विषयतया प्रसिद्धस्य तत्त्वतोऽनेकत्वात् सादृश्योपचारादेव तस्यैकत्वेन व्यवहरणात्, अन्यथा सर्वस्यैकशब्दा-वाच्यतापत्तेः प्रत्येकमप्यनेकशब्दप्रयोगबैफल्यात्। यथैव हिशब्दभेदाद् ध्रुवोऽर्थभेदस्तथार्थ-भेदादपि शब्दभेदः सिद्ध एव, अन्यथा वाच्यवाचकनियमे व्यवहारविलोपात्।

वचन क्रम के बिना भाव और अभाव को नियम से विषय नहीं करता, क्योंकि इस प्रकार की शब्द की शक्ति स्वभाव से ही है, सभी पद एक अर्थ को विषय करनेरूप से ही प्रसिद्ध हैं। कारण कि सत् इस पद का असत् अविषय है और असत् इस पद का सत् अविषय है, अन्यथा उनमें से किसी एक का प्रयोग करने पर संशय होना अवश्यंभावी है। यद्यपि 'गो' यह पद दिशादि अनेक अर्थों को विषय करने वाला प्रसिद्ध है, परन्तु वास्तव में 'गो' ये पद अनेक ही है, सादृश्य का उपचार करने से ही उस पद का एकरूप से व्यवहार होता है, अन्यथा सभी पदार्थों को एक शब्द के वाच्य होने की आपत्ति आती है। साथ ही प्रत्येक पदार्थ के लिए पृथक्–

पृथक् एक-एक शब्द का प्रयोग करना निष्फल ठहरता है। जिस प्रकार शब्द भेद के कारण निकय से अर्थभेद है, उसी प्रकार अर्थभेद के कारण शब्दभेद भी है - यह सिद्ध होता है। अन्यथा वाच्यवाचक नियम व्यवहार का लोप प्राप्त होता है।

इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए वहीं पृ. 137 में लिखा है—

तथा शब्दस्यापि सकृदेकस्मिन्नेवार्थे प्रतिपादनशक्तिर्न पुरनेकस्मिन्, संकेतस्य तच्छक्तिव्यपेक्षया तत्र प्रवृत्तेः। सेनावनादिशब्दस्यापि नानेकत्रार्थे प्रवृत्तिः, करितुरगरथपदति-प्रत्यासत्तिविशेषस्यैकस्य सेनाशब्दनाभिधानात्।

उसी प्रकार शब्द की भी एक बार एक ही अर्थ में प्रतिपादनशक्ति है, अनेक अर्थ में नहीं, क्योंकि संकेत उस शक्ति की अपेक्षा से ही उसमें प्रवृत्त होता है। सेना और वन आदि शब्द की भी अनेक अर्थ में प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि सेना शब्द के द्वारा हाथी घोड़ा, रथ और पदातिसम्बन्धी एक प्रत्यासत्ति विशेष ही कही जाती है।

इससे स्पष्ट है कि प्रतिनियत शब्द स्वभाव से ही अपने प्रतिनियत अर्थ का प्रतिपादन करता है।

हम अपने दूसरे उत्तर के अन्त में यह स्पष्ट कर आते हैं कि 'वास्तव में दिव्यध्वनि की प्रामाणिकता स्वाश्रित है, क्योंकि यदि उसकी प्रामाणिकता स्वाश्रित नहीं मानी जाती है तो वह अन्य से उत्पन्न नहीं की जा सकती। फिर भी असद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा विचार करने पर उसे निमित्तों की अपेक्षा पराश्रित कहा गया है।' किन्तु अपरपक्ष को हमारा यह कथन मान्य नहीं है। उसका कहना है कि 'शब्दों के द्वारा पदार्थों की प्रकाशकता पुरुषव्यापार की अपेक्षा रखता है, इसलिए उनमें स्वाश्रित प्रामाणिकता नहीं हो सकती। यह अपरपक्ष के कथन का सार है। इससे ऐसा विदित होता है कि अपरपक्ष शब्दगत सहज योग्यता को स्वीकर नहीं करना चाहता जो कि आगम में प्रतिपादित है। साथ ही इससे यह भी फलित होता है कि जो उपादान जिस कार्यरूप परिणमता है, उसमें उस कार्यरूप होने की योग्यता ही नहीं होती, मात्र निमित्तों के व्यापार द्वारा उपादान में उस प्रकार का कार्य हो जाता है। यदि अपरपक्ष का शब्दों में स्वाश्रित प्रामाणिकता के निषेध करने का यही तात्पर्य हो तो कहना होगा कि उपादान नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। जहाँ जो कार्य उत्पन्न होता है मात्र निमित्तों के बल से होता है। किन्तु आगम ऐसे मन्तव्य को स्वीकार नहीं करता, क्योंकि आगम का अभिप्राय है कि जिस समय जिस तालु आदि के व्यापार आदि को निमित्त कर जो शब्द उत्पन्न होता है, उसका यदि उपादान उसरूप

हो, तभी उस प्रकार के शब्द की उत्पत्ति हो सकती है और उसी में पुरुष के तालु आदि का व्यापार आदि निमित्त होता है। आगम में सत्यादिरूप चार प्रकार की पृथक्-पृथक् वर्गणाओं को स्वीकार करने का यही तात्पर्य है। यद्यपि अनेक स्थलों पर आगम में वक्ता की प्रमाणता से वचनों की प्रमाणता स्वीकार की गई है, यह हम भलीभाँति जानते हैं। परन्तु उसका इतना ही आशय है कि रागी-द्वेषी आदिरूप यदि वक्ता हो तो वह समीचीन प्रामाणिक भाषा की उत्पत्ति का निमित्त त्रिकाल में नहीं हो सकता। समीचीन प्रामाणिक भाषा की उत्पत्ति में उसी प्रकार का ही निमित्त होगा, अन्य प्रकार का नहीं। अतएव अनेकान्त को प्रमाण माननेवाले माहनुभावों को ऐसा ही निश्चय करना चाहिए कि उपादान की अपेक्षा शब्दों में स्वाश्रित प्रमाणता होती है और निमित्तों की अपेक्षा उनमें पराश्रित प्रामाणिकता का व्यवहार किया जाता है।'

(3)

'दिव्यध्वनि में केवलज्ञान की प्रमाणता से प्रमाणता आई है, इसलिए दिव्यध्वनि को स्वाश्रित प्रमाण कहना आगमविरुद्ध है।' यह जो अपरपक्ष का कथन है, उसका समाधान पिछले वक्तव्य से हो जाता है, क्योंकि जिस उपादान से जिस प्रकार का कार्य उत्पन्न होता है, उसमें उस प्रकार की योग्यता को स्वीकार किये बिना उस प्रकार का कार्य नहीं हो सकता। निमित्त भी उसी कार्य के अनुकूल होता है। तभी उसमें निमित्त व्यवहार की सार्थकता है। जैसे कुम्भ की उत्पत्ति के अनुकूल कुम्भकार का व्यापार होता है और कुम्भकार के व्यापार के अनुरूप मिट्टी में उपादान योग्यता होती है, उसी प्रकार प्रकृत में दिव्यध्वनि की उत्पत्ति के अनुकूल केवली जिनका वचनयोग व केवलज्ञान आदि होते हैं तथा इनके अनुरूप शब्दवर्गणाओं में उपादान योग्यता होती है। इसलिए **दिव्यध्वनि की प्रामाणिकता अपने उपादान की अपेक्षा स्वाश्रित है और निमित्त की अपेक्षा वह पराश्रित मानी गई है।** अतएव दिव्यध्वनि की स्वाश्रित प्रमाणता को आगम विरुद्ध कहना आगम की अवहेलना ही है। यह हम पूर्व में ही बतला आये हैं कि सत्यभाषा का उपादान सत्यभाषावर्गणा ही होता है और अनुभय भाषा का उपादान अनुभय भाषावर्गणा ही है। अतएव केवली जिनके दिव्यध्वनि के होने में सत्य और अनुभव भाषाओं का ही योग मिलता है, इसलिए केवली जिनके वचनयोग आदि को निमित्त कर उसी प्रकार की दिव्यध्वनि होती है, अन्य प्रकार की नहीं।

(4)

अपरपक्ष का यह भी कहना है कि 'लौकिक या आगम शब्दों की सहज योग्यता पुरुषों

के द्वारा संकेत के आधीन ही पदार्थ का प्रकाशक मानना चाहिए।' किन्तु उस पक्ष के इस कथन पर भी बारीकी से विचार किया जाता है तो इसमें अणुमात्र भी यथार्थता प्रतीत नहीं होती, क्योंकि एक ओर शब्दों में सहज योग्यता स्वीकार की जाए और दूसरी ओर उसे एकान्त से पुरुषों के द्वारा संकेत के आधीन मानी जाये, यह परस्पर विरुद्ध है। इसे तो शब्दों की सहज योग्यता की बिडम्बना ही माननी चाहिए। जबकि पूर्वाचार्यों ने सत्यादि के भेद से भाषावर्गणाएँ ही पृथक्-पृथक् मानी हैं। ऐसी अवस्था में उनसे उत्पन्न हुए शब्दों में केवल पुरुषों द्वारा किये गये संकेत के आधीन ही पदार्थों की प्रकाशकता बनती हो - ऐसा नहीं है। दिव्यध्वनि की यह विशेषता कि भाषा संकेत के आधार से उत्पन्न हुए शब्द वाच्यरूप जिस-जिस अर्थ के वाचक होते हैं, उसी उसी अर्थ का वे प्रतिपादन करते हैं। उनका प्रतिपादन पुरुषों की इच्छा पर अवलंबित नहीं है। यही कारण है कि आगम में जितने भी शब्दों का प्रयोग हुआ है, वे आर्हत प्रवचन के समान संतान की अपेक्षा अनादिनिधन माने गये हैं। ऐसा नहीं है कि भगवान् महावीर की दिव्यध्वनि में 'जीव' शब्द का प्रयोग अन्य अर्थ में हुआ है और भगवान् आदिनाथ की दिव्यध्वनि में उसका प्रयोग किसी दूसरे अर्थ में हुआ होगा। आगम की प्रमाणता भी इसी पर निर्भर है, वक्ताओं की इच्छाओं पर नहीं। इसी का नाम शब्दों की सहज योग्यता है। प्रामाणिक वक्ता इसी आधार पर उन उन शब्दों का प्रयोग करता है। भट्टाकलंकदेव तत्त्वार्थवार्तिक अध्याय 5 सूत्र 1 में लिखते हैं—

धर्मादयः संज्ञाः सामयिक्यः। 16। धर्मादयः संज्ञाः सामयिक्यो दृष्टव्याः। आर्हते हि प्रवचनेऽनादिनिधने अर्हदादिभिः यथाकालमभिव्यक्तज्ञानदर्शनातिशयप्रकाशैरव-द्योतितार्थसारे रूढा एताः संज्ञा ज्ञेयाः।

धर्मादिक संज्ञाएँ सामयिक हैं।१६। धर्मादिक संज्ञाएँ सामयिक जाननी चाहिए। अर्हन्तादिक के द्वारा उस-उस काल में प्रगट हुए ज्ञान-दर्शनातिशयरूप प्रकाश के द्वारा जिसमें पदार्थसार प्रकाशित किया गया है - ऐसे अनादिनिधन आर्हतप्रवचन में ये धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्‌गल आदि संज्ञाएँ रूढ़ जाननी चाहिए।

इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ. 429 में बतलाया है—

शब्दस्यानादिपरम्परातोऽर्थमात्रे प्रसिद्धसम्बन्धत्वात्, तेनागतसम्बन्धस्य घटादिशब्दस्य संकेतकरणात्।

शब्द का अनादि परम्परा से अर्थमात्र में सम्बन्ध प्रसिद्ध है, इसलिए तत्तत् अर्थ के साथ

सम्बन्ध को जानकर ही घटादि शब्द का प्रयोग किया जाता है।

दूसरे शब्दों में इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ. 431 में बतलाया है—

यत्नतो हि शब्दोऽर्थवत्त्वेतरस्वभावया परीक्षितोऽर्थं न व्यभिचरित इति।

यत्नपूर्वक अर्थवत्त्व और इतर स्वभावरूप से परीक्षित हुआ शब्द अर्थ के प्रति व्यभिचरित नहीं होता। अतएव प्रतिशंका 3 में एकान्त से यह लिखना कि शब्द अपने अर्थ को तो कहता नहीं; किस अर्थ में उसका प्रयोग किया जाये, यह वक्ता की इच्छा पर अवलम्बित है, ठीक नहीं है, क्योंकि जैसाकि पूर्वोक्त प्रमाणों से स्पष्ट है, अनादिकाल से उस-उस शब्द का प्रयोग जो-जो उसका वाच्य है, उस-उस अर्थ में होता आ रहा है, अतएव एक ओर तो शब्द में ऐसी उपादान योग्यता होती है कि वह विवक्षित अर्थ का ही प्रतिपादन करे और दूसरी ओर प्रामाणिक वक्ता भी कौन शब्द अनादिकाल से किस अर्थ का प्रतिपादन करता आ रहा है, इस बात को जानकर उसी अर्थ में उस शब्द का प्रयोग करता है। इस प्रकार अनादिकाल से शब्दों में जहाँ स्वाश्रित प्रमाणता चली आ रही है, वहाँ वह निमित्तों की अपेक्षा पराश्रित भी घटित की जाती है।

यद्यपि लोक में सदृशपने की अपेक्षा एक ही शब्द का प्रयोग सम्प्रदाय भेद से भिन्न-भिन्न अर्थ में होता हुआ देखा जाता है, इसलिए अपरपक्ष की ओर से यह आपत्ति उपस्थित की जा सकती है कि यदि शब्दों का प्रयोग केवल वक्ताओं की इच्छा पर अवलम्बित न होता तो सम्प्रदाय भेद से शब्दों के अर्थ में अन्तर नहीं पड़ना चाहिए था ? समाधान यह है कि ऐसे स्थलों पर गलत शब्दों के प्रयोग में उन-उन सम्प्रदाय वालों के अज्ञान को प्रमुख कारण मानना चाहिए। अतएव पूर्वोक्त कथनसे यही फलित होता है कि लौकिक और आगमिक शब्दों की सहज योग्यता पुरुषों के द्वारा किये गये संकेत के आधीन न होकर अपने-अपने उपादान के अनुसार होती है और इसी आधार पर लोक में तथा आगम में प्रत्येक शब्द, पदार्थ का प्रकाशक स्वीकार किया जाता है। हम पहले परीक्षामुख का '**सहजयोग्यता**' इत्यादि सूत्र उद्धृत कर आये हैं, सो उस द्वारा भी यही प्रसिद्ध किया गया है कि प्रत्येक शब्द के उपादानरूप से जो सहज योग्यता होती है, उसके अनुसार होनेवाले संकेत में वक्ता निमित्त है और इस प्रकार प्रत्येक शब्द अर्थप्रतिपत्ति का हेतु है। विविध भाषाओं के सम्मिलित शब्दकोषों तथा एक भाषा के एकार्थक नाना शब्दों को या नानार्थक एक शब्द को बतलानेवाले कोषों की सार्थकता भी इसी में है। स्पष्ट है कि अपने उपादान की अपेक्षा शब्दों में स्वाश्रित प्रमाणता स्वीकर करके ही उनमें निमित्तों की अपेक्षा पराश्रित प्रमाणता आगम में स्वीकार की गई है।

3. आगमप्रमाणों का स्पष्टीकरण

इस प्रकार शब्दों में प्रामाणिकता किस अपेक्षा से स्वाश्रित सिद्ध होती है और किस अपेक्षा से वह पराश्रित मानी गई है, इसका सप्रमाण स्पष्टीकरण करने के बाद अपरपक्ष ने अपने पक्ष के समर्थन के लिये आगम के जिन प्रमाणों को उद्धृत किया है, वे कहाँ किस अभिप्राय से दिये गये हैं, इसका स्पष्टीकरण किया जाता है—

(1)

मीमांसादर्शन प्रत्येक वर्ण को सर्वथा नित्य और व्यापक मानकर तथा ताल्वादि व्यापार से उनकी अभिव्यक्ति स्वीकार करके भी उन्हें कार्यरूप से अनित्य स्वीकार नहीं करता। प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ. 401 में मीमांसादर्शन के इस मत का निरास करने के अभिप्राय से ही यह कहा गया है कि 'शब्द ऐसा नहीं कहते कि हमारा यह अर्थ है या नहीं है, किन्तु पुरुषों के द्वारा ही शब्दों का अर्थ संकेत किया जाता है।' अतएव इस उद्धरण को उपस्थित कर एकान्त में शब्दों को पुरुषों द्वारा किये गये संकेतों के आधीन मानना ठीक नहीं है, अन्यथा अतिप्रसंग हो जायेगा। फिर तो केवलीजिन की दिव्यध्वनि द्वारा जो अर्थ प्ररूपणा होती है, उसे प्रत्येक श्रोता अपने अपने संकेत के अनुसर ही समझेगा, अतएव सबकी एकार्थ की प्रतिपत्ति नहीं बन सकेगी। केवली जिनकी वाणी में आया कि 'जीव है' इसे सुनकर एक श्रोता अपने द्वारा कल्पित संकेत के अनुसार समझेगा कि भगवान् का उपदेश है कि 'जीव नहीं है।' दूसरा उसी को सुनकर अपने द्वारा कल्पित संकेत के अनुसार समझेगा कि भगवान् का उपदेश है कि 'पुद्गल है।' और इस प्रकार वचनों की प्रमाणता सिद्ध न होने से आगम की प्रमाणता भी नहीं बनेगी। अतएव प्रकृत में यही मानना उचित है कि श्ब्द का अनादि परम्परा से अर्थमात्र में वाच्यवाचक सम्बन्ध है, अतएव अर्थ के साथ अवगत सम्बन्ध वाले घटादि शब्द का संकेत किया जाता है।

(प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ. 429)

(2)

मीमांसक दर्शन सर्वज्ञ की सत्ता स्वीकार नहीं करता, फिर भी वेदार्थ की यथार्थता और उसका यथार्थ प्रतिपादन मान लेता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर सर्वज्ञ की सत्ता स्वीकार कराने के अभिप्राय से धवला पु. 1, पृ. 196 में निमित्त की अपेक्षा यह कहा गया है कि '**वक्ता की प्रमाणता से वचनों में प्रमाणता आती है।**' इसलिए इस उल्लेख पर से दिव्यध्वनि की

स्वाश्रित प्रमाणता का निषेध नहीं होता, क्योंकि कार्य-कारण सिद्धान्त के अनुसार जैसा उपादान होता है, निमित्त भी उसी के अनुकूल होते हैं। इसलिए असर्वज्ञवादी को यही कहा जायेगा कि 'वक्ता की प्रमाणता से वचनों में प्रमाणता आती है।' पर इसे एकान्त मानना ठीक नहीं है, अतएव इस प्रमाण से भी दिव्यध्वनि की स्वाश्रित प्रमाणता आगमविरुद्ध घोषित की जा सकती।

(3)

जयधवला, पुस्तक 1, पृ. 88 द्वारा पूर्व-पूर्व प्रमाणता स्थापित कर अन्त में सर्वज्ञ की प्रमाणता स्वीकार की गई है, क्योंकि अल्पज्ञजनों के लिए कौन शब्द अपनी सहज योग्यता और तदनुसार अनादि परम्परा से आये हुए संकेत के अनुसार किस अर्थ का प्रतिपादन करता है, यह सर्वज्ञ की प्रमाणता स्वीकार करने से ही ज्ञात हो सकता है। अतएव इस वचन से भी दिव्यध्वनि की स्वाश्रित प्रमाणता का निरास नहीं किया जा सकता।

(4)

कार्य के प्रति निमित्त और उपादान की समव्याप्ति होती है और इसे ही कार्य के प्रति बाह्य और आभ्यन्तर उपाधि की समग्रता कहते हैं। अतएव जैसे उपादानों की अपेक्षा यह कथन किया जाता है कि सत्यभाषावर्गणारूप उपादान के अभाव में सत्यभाषा की उत्पत्ति नहीं हो सकती उसी प्रकार (ध. पु. 9, पृ. 108) निमित्त की अपेक्षा भी यह कहा जाता है कि 'रागादि का अभाव भी भगवान् महावीर में असत्य भाषण के अभाव को प्रकट करता है, क्योंकि कारण के अभाव में कार्य के अस्तित्व का विरोध है।' अतएव इस वचन से भी दिव्यध्वनि की स्वाश्रित प्रमाणता का निरास नहीं किया जा सकता। यही बात धवल पु. 3, पृ. 12 व 26, जयधवल पु. 1, पृ. 44, पृ. 72 व 82 तथा पु. 7, पृ. 127 से भी समर्थित होती है।

(5)

धवल पुस्तक 1, पृ. 368 में दिव्यध्वनि को जो ज्ञान का कार्य कहा है सो यह कथन भी निमित्त की अपेक्षा से ही किया है, क्योंकि केवली जिनके सत्य और अनुभय वचन योग के होने का नियम है, अतएव इस अपेक्षा से दिव्यध्वनि केवली जिन तथा केवलज्ञान का भी कार्य कहा जाता है, इसमें कोई विरोध नहीं है। राजवार्तिक का प्रमाण उपस्थित कर इस विषय का विशेष विचार पूर्व में ही कर आये हैं। श्री गोम्मटसार जीवकाण्ड का पूर्वोक्त प्रमाण भी उक्त तथ्य के समर्थन के लिए पर्याप्त है।

(6)

आगम में अर्थकर्त्ता के रूप में तीर्थंकर जिन तथा ग्रन्थकर्त्ता के रूप में गणधरदेव और आरातीय आचार्यों को बतलाया है। सर्वार्थसिद्ध, पृ. 123 में वक्ता के रूप में सर्वज्ञ तीर्थंकर, सामान्य केवली तथा श्रुतकेवली और आरातीय आचार्यों को बतलाया है। प्रतिशंका 3 में उक्त तथ्य को पुष्ट करने वाले कुछ आगमप्रमाण भी दिये गये हैं। इसलिए इस विषय पर भी विशद प्रकाश डाल देना आवश्यक है।

(1) जो सम्यग्दृष्टि जीव दुःखित संसारी प्राणियों को देखकर उनके उद्धार की भावना से ओतप्रोत होते हैं, उनके ही तीर्थंकर जैसी सातिशय पुण्यप्रकृति का बन्ध होता है। अनन्तर जब वे अपने अन्तिम भव में गुणस्थानक्रम से 4 घातिया कर्मों का नाश कर साक्षात् वीतराग सर्वज्ञ पद को प्राप्त करते हैं, तब उनके भव्य जीवों को परम आह्लाद करने वाली दिव्यध्वनि का प्रवर्तन होता है। यहाँ विचारणीय यह है कि कार्य-कारण परम्परा के अनुसार तीर्थंकर जिनकी दिव्यध्वनि के प्रवर्तन में प्रायोगिक निमित्त कहा जाये या विस्रसा निमित्त माना जाये। सर्वार्थसिद्धि अध्याय 5, सूत्र 24 में 2 प्रकार के बन्ध का निर्देश करते हुए लिखा है—

बन्धो द्विविधो वैस्रसिकः प्रायोगिकश्च। पुरुषप्रयोगानपेक्षो वैस्रसिकः। तद्यथा - स्निग्धरूक्षत्वगुणनिमित्तो विद्युदुल्काजलधाराग्नीन्द्रधनुरादिविषयः। पुरुषप्रयोगनिमित्तः प्रयोगिकः अजीवविषयो जीवाजीवविषयश्चेति द्विधा भिन्नः। तत्राजीवविषयो जतुकाष्ठादिलक्षणः। जीवाजीवविषयः कर्मनोकर्मबन्धः।

बन्ध के दो भेद हैं - वैस्रसिक और प्रायोगिक। जिसमें पुरुष का प्रयोग अपेक्षित नहीं है, वह वैस्रसिक बन्ध है। जैसे स्निग्ध और रूक्ष गुण के निमित्त से होने वाला बिजली, उल्का, मेघ, अग्नि और इन्द्रधनुष आदि का विषयभूत बन्ध वैस्रसिक बन्ध है और जो बन्ध पुरुष के प्रयोग के निमित्त से होता है, वह प्रायोगिक बन्ध है। इसके दो भेद हैं - अजीवसम्बन्धी और जीवाजीवसम्बन्धी। लाख और लकड़ी आदि का अजीव सम्बन्धी प्रायोगिक बन्ध है तथा कर्म और नोकर्म का जो जीव से बन्ध होता है, वह जीवाजीव सम्बन्धी प्रायोगिक बन्ध है। सर्वार्थसिद्धि के इस उद्धरण से यद्यपि बन्ध के दो भेदों का निर्देश किया गया है, तथापि इस पर से दो प्रकार के निमित्तों का सम्यक् ज्ञान होने में सहायता मिलती है। वे दो प्रकार के निमित्त हैं - विस्रसा निमित्त और प्रायोगिक निमित्त। जिन कार्यों के होने में पुरुष का योग और विकल्प इन दोनों की निमित्तता स्वीकार की गई है, वे प्रायोगिक कार्य कहलाते हैं। जैसे घट की उत्पत्ति

में कुम्भ का विकल्प और योग दोनों निमित्त हैं। इसलिए कुम्भ प्रायोगिक कार्य कहा जायेगा तथा विकल्प और योग प्रायोगिक निमित्त कहलायेंगे। यह तो प्रायोगिक निमित्तों का विचार है। इनसे भिन्न निमित्तों को विस्रसा निमित्त कहेंगे। तत्त्वार्थवार्तिक अ. 5, सूत्र 24 में विस्रसा शब्द के अर्थ पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

विस्रसा विधिविपर्यये निपातः। 8। पौरुषेयपरिणामापेक्षो विधिः, तद्विपर्यये विस्रसाशब्दो निपातो दृष्टव्यः।

यहाँ विधिरूप अर्थ से विपर्यय अर्थ में विस्रसा शब्द आया है जो निपातनात् सिद्ध है। 8। प्रकृत में पौरुषेय परिणामसापेक्ष विधि है, उससे विपरीत अर्थ में विस्रसा शब्द जानना चाहिए। जो विस्रसा शब्द निपातनात् सिद्ध है।

समयसार गाथा 406 की आचार्य जयसेनकृत टीका में प्रायोगिक और वैस्रसिक शब्दों के अर्थ का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

प्रायोगिकः कर्मसंयोगजनितः। वैस्रसिकः स्वभावजः।

कर्म के संयोग से उत्पन्न हुआ गुण प्रयोगिक कहलाता है तथा स्वभाव से उत्पन्न हुआ गुण वैस्रसिक कहलता है।

समयसार गाथा 100 पर दृष्टिपात करने पर जिन योग और विकल्प को उत्पादक हेतु या कर्त्ता निमित्त कहा गया है, उसी की प्रायोगिक संज्ञा है और तद् इतर शब्दों की वैस्रसिक संज्ञा है। इस दृष्टि से जब इस बात का विचार किया जाता है कि तीर्थंकर जिन दिव्यध्वनि के प्रवर्तन में क्या प्रयोगिक निमित्त हैं, तो विदित होता है कि उनके राग का सर्वथा अभाव होने के कारण उन्हें प्रायोगिक निमित्त कहना उपयुक्त न होगा। माना कि उनके कर्मनिमित्तक योग का सद्भाव पाया जाता है और उनके तीर्थंकर प्रकृति तथा शरीरादिक नामकर्म का उदय भी विद्यमान है, परन्तु उनके मन का (भाव मन का) अभाव होने के कारण जिस प्रकार की वचन प्रवृत्ति अन्य अस्मदादि साधारण जीवों के उपलब्ध होती है, उस प्रकार की वचन प्रवृत्ति उनके नहीं पाई जाने के कारण उन्हें दिव्यध्वनि के प्रवर्तन में अस्मदादि जनों के समान हेतु कर्त्ता कहना उचित न होगा। अतएव यही सिद्ध होता है जिस प्रकार कषाय के अभाव में केवलीजिन के योग की अपेक्षा शुक्ललेश्या का उपचार किया गया है या जिस प्रकार मनोपयोग के अभाव में केवलीजिन के सूक्ष्मकाययोग के काल में सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यान उपचार से माना गया है। उसी

प्रकार जो योगक्रिया कषाय के साथ अनुरंजित होकर प्रायोगिक हेतुकर्त्ता व्यपदेश को प्राप्त होती थी वही योग क्रिया दिव्यध्वनि के प्रवर्तन में हेतु है। इस अपेक्षा तीर्थंकर जिनको सर्वत्र आगम में अर्थकर्त्ता कहा गया है। यत: इस प्रकार की विशिष्ट योगक्रिया केवलज्ञान के सद्भाव में ही होती है। इस अपेक्षा से दिव्यध्वनि केवलज्ञान का कार्य भी आगम में कहा गया है। आगम में अनेक नयों की अपेक्षा अनेक प्रकार से प्रतिपादन किया गया है। श्रुतधरों का कर्त्तव्य है कि जहाँ जिस विवक्षा से जो कथन किया गया हो, उसे समझकर उसका व्याख्यान करें। इससे पूरे आगम में कैसे एक वाक्यता है, इसे समझने में सहायता मिलती है। सामान्य केवलियों की जहाँ भी कर्त्ता या व्याख्याता कहा गया है, वहाँ उसे इसी न्याय से जान लेना चाहिए।

(2) आरातीय आचार्यों को ग्रन्थकर्त्ता या व्याख्याता किस अपेक्षा कहा गया है, इसका स्पष्टीकरण यद्यपि पूर्व में किये गये प्रायोगिक शब्द के स्पष्टीकरण से हो जाता है, तथापि यहाँ इनके विषय में दो प्रकार से विचार करना इष्ट है - एक ज्ञानभाव की अपेक्षा और दूसरे रागपरिणति की अपेक्षा। ज्ञानभाव की अपेक्षा विचार करने पर जितनी भी स्वभाव परिणती जीव के होती है, उसमें परद्रव्य के कार्य के प्रति अणुमात्र भी निमित्तता घटित नहीं की जा सकती। अतएव इस अपेक्षा से उन्हें ग्रन्थकर्त्ता या व्याख्याता कहना सम्भव नहीं है। इस अपेक्षा से तो स्वयं शब्द वर्गणाएँ अपने परिणमनस्वरूप शक्ति के कारण शब्द, पद, वाक्यरूप परिणमन करती हुई ग्रन्थ विस्तार या प्रवचन विस्तार की हेतु होती हैं। उसमें ज्ञानी का ज्ञानभाव रंचमात्र भी कारण नहीं है। अन्यथा आयोग केवली और सिद्धों को भी वचन प्रवृत्ति में हेतु मानने का प्रसंग आएगा। यह निश्चयनय का वक्तव्य है। व्यवहारनय की अपेक्षा विचार करने पर तो जब -जब ज्ञानी सविकल्प अवस्था को प्राप्त होते हैं, तब-तब उनके चित्त में भव्यजीवों को उपदेश देने का भी विचार आता है और ग्रन्थ रचना की भी इच्छा जाग्रत होती है। यद्यपि इस अवस्था में भी वे स्वयं ऐसे राग के प्रति हेयबुद्धि ही रखते हैं, उसे उपादेय नहीं मानते फिर भी रागपूर्वक जो-जो कार्य होना चाहिए, वह होता अवश्य है। इसलिए इस अपेक्षा से वे उपेक्षा बुद्धिपूर्वक ग्रन्थ रचना के हेतुकर्त्ता और व्याख्याता भी कहे गये है। आचार्य कुन्दकुन्द प्रभृति महर्षियों ने यदि कहीं 'वोच्छामि' आदि शब्दों का प्रयोग अपने ग्रन्थों में किया है तो वह इसी अभिप्राय से किया है, इससे अपरपक्ष का जो यह कहना है कि आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार गाथा 415 की आत्मख्याति टीका और अन्तिम कलश में वचन की स्वाश्रित प्रमाणता न बतला कर मात्र उक्त उल्लेख द्वारा अपनी लघुता प्रगट की है, सो उस पक्ष का यह कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि

यथार्थरूप से विचार करने पर समयसार और उसकी आत्मख्याति टीका की जो रचना हुई है, वह शब्दों की अपनी तद्रूप परिणमनशक्ति का ही फल है, आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य अमृतचन्द्र तो उसमें राग और योग की अपेक्षा निमित्तमात्र है।

हमने अपने दूसरे उत्तर में समयसार गाथा 99 और 100 के आधार से जिन पाँच सिद्धान्तों की विवेचना की थी, उन पर अपरपक्ष ने जिस टोन में टीका की है, वह उपेक्षणीय ही है। फिर भी यहाँ हम जिन पाँच सिद्धान्तों का दूसरे उत्तर में निर्देश कर आये हैं, उनका सांगोपांग विचार कर लेना आवश्यक समझते हैं—

(1) समयसार गाथा 98 में व्यवहार से जिस कर्तृत्व का विधान किया है, वह व्यवहारीजनों का व्यामोह मात्र क्यों है, इसका स्पष्टीकरण गाथा 99 में करते हुए बतलाया है 'यदि आत्मा परद्रव्यों को करें तो वह उनके साथ नियम से तन्मय हो जए। परन्तु तन्मय नहीं होता इस कारण वह उनका कर्त्ता नहीं है।' इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य से यथार्थ कर्तृत्व का सर्वथा अभाव है। इस पर से यह सिद्धान्त फलित हुआ—

'आत्मा व्याप्य-व्यापकभाव से तन्मयता का प्रसंग आने के कारण परद्रव्यों की पर्यायों का कर्त्ता नहीं है।'

इस सिद्धान्त में आत्मा पद से उपादानरूप आत्मा का ग्रहण किया गया है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि निश्चय से न सही, व्यवहार से एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्त्ता मानने में आपत्ति नहीं है। समाधान यह है कि व्यवहार से निमित्तपने का ज्ञान कराने के लिए एक द्रव्य की दूसरे द्रव्य की विवक्षित पर्याय का उपचार से कर्त्ता कहा जाता है। इस कार्य का निश्चय कर्त्ता कौन है, वह ज्ञान कराना इसका प्रयोजन है।

(2) गाथा 100 में जीव परद्रव्य की पर्यायों का निमित्तनैमित्तिक भाव से भी कर्त्ता नहीं है, यह प्रतिपादन किया गया है। ऐसा प्रतिपादन करते हुए प्रकृत में जीव पद से द्रव्यार्थिकनय का विषयभूत आत्मा लिया गया है, क्योंकि यदि ऐसे जीव को परद्रव्यों की पर्यायों का निमित्त-नैमित्तिक भाव से कर्त्ता मान लिया जाये तो इसके सदाकाल एकरूप अवस्थित रहने के कारण सदा ही निमित्तरूप से कर्त्ता बनने का प्रसंग आयेगा। किन्तु कोई भी द्रव्यार्थिकनय का विषयभूत द्रव्य परद्रव्य की पर्याय की उत्पत्ति में व्यवहार हेतु नहीं होता - ऐसा एकान्त नियम है। अतएव इस पर से यह सिद्धान्त फलित हुआ कि—

सामान्य आत्मा निमित्तनैमित्तिकभाव से परद्रव्यों की पर्यायों का कर्त्ता नहीं है। अन्यथा नित्य निमित्तकर्तृत्व का प्रसंग आता है।

(3) ज्ञानी जीव के रागादिक का स्वामित्व नहीं है। इसलिए वह रागादिक के स्वामित्व के अभाव में परद्रव्यों की पर्यायों का निमित्त कर्त्ता नहीं बनता। साथ ही वह यह भी जानता है कि प्रत्येक द्रव्य का प्रतिसमय परिणमन करना उसका स्वभाव है, उसमें फेर-फार करना किसी के अधीन नहीं। अन्य द्रव्य तो उस उस परिणमन में निमित्तमात्र है। इसलिए इस पर से यह सिद्धान्त फलित हुआ कि—

अज्ञानी जीव के योग और उपयोग (विकल्प) परद्रव्यों की पर्यायों के व्यवहार से निमित्त कर्त्ता है।

(4) ज्ञान भाव के साथ अज्ञान भाव के होने का विरोध है। इस पर से यह सिद्धान्त फलित हुआ कि—

आत्मा अज्ञान भाव से योग और उपयोग का कर्त्ता है, तथापि परद्रव्यों की पर्यायों का कर्त्ता कदाचित् भी नहीं है ?

(5) ज्ञानभाव कहो या स्वभाव पर्याय दोनों का एक ही तात्पर्य है। इस पर से यह सिद्धान्त फलित हुआ कि आत्मा **ज्ञानभाव से परद्रव्यों की पर्यायों का भी निमित्तकर्त्ता नहीं है।**

ये 5 जिनागम के सारभूत सिद्धान्त हैं। इनके आधार से हमारा उपहास किया जा सकता है, किन्तु ये अमिट है। उपहास करने मात्र से इनको अप्रमाण नहीं ठहराया जा सकता। इसमें सन्देह नहीं कि विकल्प और योग का स्वामित्व स्वीकार कर मन में चर्चा करने का यदि उत्साह हुआ होगा तो ऐसी अवस्था में अपरपक्ष के द्वारा हमें अज्ञानी प्रसिद्ध करना सत्य का ही उद्घाटन कहलायेगा और यदि मोक्षमार्ग की प्रसिद्धि के सदभिप्रायवश ज्ञानभाव के प्रति आदर रखते हुए चर्चा सम्बन्धी कार्य हुआ होता तो अन्य के द्वारा हमें अज्ञानी कहे जाने पर भी, हम अज्ञानी नहीं बन जावेंगे। यह तो अपनी अपनी परिणति है, उसे वह स्वयं जान सकता है या विशेष ज्ञानी। **विज्ञेषु किमधिकम्।**

●

प्रथम दौर

: 1 :

शंका - 9

सांसारिक जीव बद्ध है या मुक्त ? यदि बद्ध है तो किससे बँधा हुआ है और किसी से बँधा हुआ होने से वह परतन्त्र है या नहीं ? यदि वह बद्ध है तो उसके बंधनों से छूटने का उपाय क्या है ?

समाधान - 1

सांसारिक जीव सद्भूतव्यवहार स्वरूप अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा अपने अज्ञानरूप राग, द्वेष और मोह आदि अशुद्धभावों से बद्ध है।

अयमात्मा सर्व एव तावत्सविकल्प-निर्विकल्पपरिच्छेदात्मकत्वादुपयोगमयः। तत्र यो हि नाम नानाकारान् परिच्छेद्यानर्थानासाद्य मोहं वा रागं वा द्वेषं वा समुपैति स नाम तैः परप्रतययैरपि मोह-राग-द्वेषैरुपरक्तात्मस्वभावत्वान्नील-पीत-रक्तोपाश्रयप्रत्ययनील-पीत-रक्तत्वैरुपरक्त-स्वभावः स्फटिकमणिरिव स्वयमेक एव तत्भावद्वितीयत्वाद् बन्धो भवति॥ 174।।

- प्रवचनसार, गाथा 174

अर्थ - प्रथम तो यह आत्मा सर्व ही उपयोगमय है, क्योंकि वह सविकल्प और निर्विकल्प प्रतिभास स्वरूप है। उसमें जो आत्मा विविधाकार प्रतिभासित होने वाले पदार्थों को प्राप्त करके मोह, राग अथवा द्वेष करता है, वह काला, पीला और लाल आश्रय जिनका निमित्त है, ऐसे कालेपन, पीलेपन और ललाई के द्वारा उपरक्त स्वभाव वाले स्फटिकमणि की भाँति पर जिनका निमित्त है ऐसे मोह, राग और द्वेष के द्वारा उपरक्त (विकारी) आत्मस्वभाव वाला होने से स्वयं अकेला ही बन्धरूप है, क्योंकि मोह, राग, द्वेषादि भाव इसका द्वितीय है॥ 174॥

असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा ज्ञानावरणादि आठ द्रव्यकर्मों तथा औदारिक शारीरिक नोकर्म के साथ बद्ध है।

यत्तावदत्र कर्मणां स्निग्धरूक्षत्वस्पर्शविशेषैरेकत्वपरिणामः स केवलपुद्गलबंधः। वस्तु जीवस्थौपाधिकमोह-राग-द्वेषपर्यायैरेकत्वपरिणामः स केवलजीवबन्धः। यः पुनः जीवकर्म-

पुद्गलयोः परस्परपरिणामनिमित्तमात्रत्वेन विशिष्टतरः परस्परावगाहः स तदुभयबन्धः ॥ 177 ॥

– प्रवचनसार, गाथा 177 टीका

अर्थ – प्रथम तो यहाँ, कर्मों का जो स्निग्धता-रूक्षतारूप स्पर्श विशेषों के साथ एकत्व परिणाम है, सो केवल पुद्गलबन्ध है और जीव का औपाधिक मोह, राग, द्वेषरूप पर्यायों के साथ जो एकत्व परिणाम है, सो केवल जीवबंध है और जीव तथा कर्म पुद्गल के परस्पर परिणाम के निमित्तमात्र से जो विशिष्टतर परस्पर अवगाह है, सो उभयबंध है अर्थात् जीव और कर्मपुद्गल एक-दूसरे के परिणाम में निमित्तमात्र होवें—ऐसा जो (विशिष्ट प्रकार का) उनका एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध है सो वह पुद्गल जीवात्मक बन्ध है।

तथा शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा परमपारिणामिकभावस्वरूप शुद्ध जीव के द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म का अभाव होने से वह सकल दोषों से विमुक्त है। श्री नियमसारजी की गाथा 45 की टीका में कहा भी है—

शुद्ध निश्चयनयेन शुद्ध जीवास्तिकायस्य द्रव्यभावनोकर्माभावात् सकलदोषनिर्मुक्तः।

अर्थ पूर्व में दिया ही है।

इस प्रकार सांसारिक जीव किस अपेक्षा बद्ध है और किस अपेक्षा से मुक्त (अबद्ध) है, आगम से इसका सम्यक् निर्णय हो जाने पर वह किससे बँधा हुआ है और किसी से बँधा हुआ होने के कारण वह परतन्त्र किस प्रकार है, इसका सम्यक् निर्णय हो जाता है। तात्पर्य यह है कि यदि अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा विचार करते हैं तो वह अज्ञानरूप अपने अशुद्धभावों से वास्तव में बद्ध है। उसे यदि बद्धता का अभाव करना है तो अपनी इसी बद्धता का अभाव करना है। उसका अभाव होने से जो असद्भूतव्यवहाररूप बद्धता कही गई है, उसका अभाव स्वयमेव नियम से हो जाता है, क्योंकि अशुद्ध निश्चय और व्यवहार के भावाभाव के सहगामी होने का सर्वत्र यही नियम है।

अतएव संसारी आत्मा में यदि परतन्त्रता की अपेक्षा विचार किया जाता है तो वह अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा अपने अज्ञानभाव से बद्ध होने के कारण वास्तव में परतन्त्र है और असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा विचार किया जाता है तो उसमें उपचरितरूप कर्म और नोकर्म की अपेक्षा भी परतन्तत्रा घटित होती है।

इस प्रकार संसारी आत्मा किस अपेक्षा किस प्रकार बँधा है, इसका सम्यक् निर्णय हो जाने पर उसके बंधनों से छूटने के उपाय क्या हैं? इसका सम्यक् निर्णय करने में देर नहीं लगती।

आगम में सर्वत्र यह तो बतलाया है कि यदि संसारी आत्मा अपने बद्ध पर्यायरूप राग, द्वेष और मोह आदि अज्ञानभावों का अभाव करने के लिये अंतरंग पुरुषार्थ नहीं करता है और केवल जिसे आगम में उपचार से व्यवहार धर्म कहा है, उसी में प्रयत्नशील रहता है तो उसके द्रव्यकर्मों की निर्जरा न होने के समान है। इसी आशय को ध्यान में रखकर श्री छहढाला में जो यह कहा है कि—

कोटि जन्म तप तपैं ज्ञान बिन कर्म झरें जे।
ज्ञानी के छिनमाँहि त्रिगुप्तितैं सहज टरैं ते।।

वह यथार्थ ही कहा है।

यह कथन केवल पण्डितप्रवर दौलतरामजी ने ही किया हो ऐसा नहीं है, किन्तु प्राचीन परमागम में भी इसका सम्यक् निरूपण हुआ है। आचार्यवर्य अमृतचन्द्र इसी आशय को व्यक्त करते हुए समयसारजी के कलश में कहते हैं—

रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्टया
नान्यद्द्रव्यं वीक्ष्यते किञ्चनापि।
सर्वद्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति
व्यक्तात्यन्तं स्वस्वभावेन यस्मात्॥ 239॥

अर्थ - तत्त्वदृष्टि में देखा जाये तो राग-द्वेष को उत्पन्न करनेवाला अन्य द्रव्य किञ्चित् मात्र भी दिखाई नहीं देता, क्योंकि सर्व द्रव्यों की उत्पत्ति अपने स्वभाव से ही होती हुई अन्तरंग में अत्यन्त प्रगट प्रकाशित होती है॥ 239॥

अतएव संसारी आत्मा को द्रव्य-भावरूप उभय-बंधनों से छूटने का उपाय करते समय निश्चय-व्यवहार उभयरूप धर्म का आश्रय लेने की आवश्यकता है। उसमें भी नियम यह है कि जब यह आत्मा अपने परम निश्चल परमात्मरूप ज्ञायकभाव का आश्रय लेकर सम्यक् पुरुषार्थ करता है, तब उसके अन्तरंग में निश्चय रत्नत्रयस्वरूप जितनी-जितनी विशुद्धि प्रगट होती जाती है, उसी के अनुपात में उसके बाह्य में द्रव्यकर्म का अभाव होता हुआ व्यवहार धर्म की भी प्राप्ति होती जाती है। यह ऐसा विषय नहीं है, जिन्हें करणानुयोग का सम्यग्ज्ञान है, उनकी विवेकशालिनी दृष्टि से ओझल हो। यही कारण है कि आचार्यवर्य अमृतचन्द्र समयसार कलश में सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि—

आसंसारातप्रतिपदमयी रागिणी नित्यमत्ताः
सुप्ताः यस्मिन्नपदमपदं तद्वि बुध्यध्वमन्धाः।
एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति॥ 138॥

अर्थ – हे अविवेकी प्राणियो! अनादि संसार से लेकर पर्याय, पर्याय में से रागी जीव सदा मत्त वर्तते हुए जिस पद में सो रहे हैं, वह पद (स्थान) अपद है, अपद है (तुम्हारा पद नहीं है) ऐसा तुम अनुभव करो। इस ओर आओ, इस ओर आओ। तुम्हारा पद यह है, तुम्हारा पद यह है, जहाँ शुद्ध अतिशय शुद्ध चैतन्यधातु निजरस की अतिशयता के कारण स्थायिभावत्व को प्राप्त है अर्थात् स्थिर है, अविनाशी है॥ 138॥

●

द्वितीय दौर

: 2 :

शंका – 9

हमारा प्रश्न था कि सांसारिक जीव बद्ध है या मुक्त? यदि बद्ध है तो किससे बँधा हुआ है और किसी से बँधा हुआ होने से वह परतन्त्र है या नहीं? यदि वह बद्ध है तो उसके बन्धन से छूटने का उपाय क्या है?

प्रतिशंका – 2

इस प्रश्न के उत्तर में आपने संसारी जीव को परतन्त्र तो माना है, किन्तु किस 'पर' (पदार्थ) के 'तन्त्र' (अधीन) संसारी आत्मा है, उस 'पर' का स्पष्ट उल्लेख आपके उत्तर में नहीं आया।

बन्ध का विवेचन करते हुए श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार में लिखा है—

जोगणिमित्तं गहणं जोगो मण-वयण-कायसंभूदो।
भावणिमित्तो बंधो भावो रदि-राग-दोस-मोहजुदो॥ 148॥

अर्थ – मन-वचन-काय के हलन, चलन से उत्पन्न हुआ आत्मप्रदेशों के परिस्पन्दरूप

योग होता है। उस योग से जो कार्मण वर्गणाओं का संसारी जीव को ग्रहण होता है, वह बन्ध है। वह कर्मबन्ध जीव के राग, द्वेष, मोह आदि भावों के निमित्त से होता है।

श्री अमृतचन्द्रसूरि ने इस गाथा की टीका में लिखा है—

बन्धस्तु कर्मपुद्गलानां विशिष्टशक्तिपरिणामेनावस्थानम्। तदत्र पुद्गलानां ग्रहणहेतुत्वाद् बहिरङ्गकारणं योगः। विशिष्टशक्तिस्थितिहेतुत्वादन्तरङ्गकारणं जीवभाव एवेति।

अर्थ - कर्मपुद्गलों का विशिष्ट शक्तिरूप (जीव को विकार बनानेरूप) परिणमन से आत्मप्रदेशों में अवस्थित होना बन्ध है। .... यहाँ पर कार्मणपुद्गलों के ग्रहण करने का बहिरङ्ग कारण योग है। स्थिति तथा अनुभाग का कारणभूत अन्तरङ्ग कारण जीव का कषायरूप भाव है।

राग-द्वेष-मोह परिणाम जीव की विकारी पर्याय है, जिसके साथ जीव का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है। रागादिरूप पर्याय के साथ जीव का बंध्य-बंधक सम्बन्ध नहीं हो सकता। अतः मोह, राग, द्वेष आदि पर्याय का जीव के साथ बन्ध कहना अयुक्त है। मोह, राग, द्वेष परिणाम, बन्ध के कारण हैं। कारण में कार्य का उपचार करके आगम में इनको भावबन्ध कहा है।

इस तरह पंचास्तिकाय गाथा 148 में द्रव्यबन्ध और भावबन्ध पर समुचित प्रकाश डाला है। तदनुसार द्रव्यकर्म (मोहनीय आदि कर्म) से भावकर्म (द्रव्यकर्म का निमित्त कारणभूत राग-द्वेष आदि) होता है और भावकर्म से द्रव्यकर्म होता है। इस तरह द्रव्यकर्म भावकर्म की परम्परा संसारी जीव के चलती रहती है और इसी को संसारचक्र कहते हैं।

श्री अमृतचन्द्रसूरि ने इसी विषय पर पञ्चास्तिकाय ग्रन्थ की 128-129-130वीं गाथा की व्याख्या करते हुए अच्छा प्रकाश डाला है—

इह हि संसारिणो जीवदनादिबन्धनोपाधिवशेन स्निग्धः परिणामो भवति। परिणामात्पुनः पुद्गलपरिणामात्मकं कर्म। कर्मणो नरकादिगतिषु गतिः। गत्यधिगमनादेहः। देहादिन्द्रियाणि। इन्द्रियेभ्यो विषयग्रहणं। विषयग्रहणाद्रागद्वेषौ। राग-द्वेषाभ्यां पुनः स्निग्धः परिणामः। परिणात्त्पुनः पुद्गल-परिणामात्मकं कर्म। कर्मणः पुननरिकादिगतिषु गतिः। तदत्र पुद्गलपरिणामनिमित्तो जीवपरिणामो जीवपरिणामनिमित्तश्च पुद्गलपरिणामः।

अर्थ - संसारी जीव अनादि काल से मोहनीय कर्म-उपाधि से स्निग्ध (रागादिरूप) होता है। उस स्निग्ध परिणाम से पुद्गल परिणामात्मक द्रव्यकर्म उत्पन्न होता है, द्रव्यकर्म के उदय से नरक आदि गतियों में गमन होता है, गति के कारण तदनुरूप शरीर मिलता है, शरीर से इन्द्रियाँ होती हैं, इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण होता है, विषय सेवन से राग-द्वेष होते हैं, राग-

द्वेष से आत्मा के परिणाम स्निग्ध होते हैं, उस स्निग्ध परिणाम से पौद्‌गलिक कर्मबन्ध होता है। .... इस तरह संसार में पुद्‌गल कर्म के निमित्त से जीव के रागद्वेषादि परिणाम होते हैं और जीव के रागद्वेषादि परिणाम से पुद्‌गल कर्मपरिणमन होता है।

मोहनीय आदि द्रव्यकर्म, राग-द्वेष आदि आत्मा के विकारी भावों के प्रेरक निमित्त कारण हैं और राग-द्वेष आदि आत्मा के विकृतभाव मोहनीय आदि द्रव्यकर्मबन्ध के प्रेरक निमित्त कारण हैं।

जब आत्मा के प्रबल पुरुषार्थ से द्रव्यकर्मों-मोहनीय आदि का क्षय होता है, तब विकार का निमित्तकारण हट जाने से आत्मा के राग-द्वेष आदि नैमित्तिक विकारभाव दूर हो जाते हैं। उस दशा में आत्मा की परतन्त्रता भी दूर हो जाती है।

तदनुसार आपने जो बन्ध और मुक्ति के विषय में लिखा है कि—

'वह (संसारी आत्मा) अज्ञानरूप अपने अशुद्ध भावों से बद्ध है। उसे (संसारी जीव को) यदि बद्धता का अभाव करना है तो अपनी उसी बद्धता का (अज्ञान आदि का) अभाव करना है। उसका अभाव होने से जो असद्‌भूतव्यवहाररूप बद्धता कही गयी है, उसका अभाव स्वयमेव नियम से हो जाता है।'

आपका यह बद्धता के अभाव का क्रम विचारणीय है, क्योंकि समयसार में—

सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवी मिच्छादिट्ठि त्ति णायव्वो॥ 161॥

णाणस्य पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि त्ति णायव्वो॥ 162॥

चारित्तपडिणिबद्धं कषायं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अचरितो होदि णायव्वो॥ 163॥

इन तीन गाथाओं द्वारा सम्यक्त्व का, ज्ञान का और चारित्र का प्रतिबन्धक कारण क्रम से मिथ्यात्व मोहनीय, ज्ञानावरण और चारित्रमोहनीय द्रव्यकर्म बतलाया है। उन प्रतिबन्धक निमित्तकारणोंरूप द्रव्यकर्मों के प्रभाव से आत्मा मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी और असंयमी होता है।

इसके अनुसार यह बात सिद्ध होती है कि मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयमरूप जीव के विकृतभाव दर्शनमोहनीय आदि द्रव्यकर्मरूप प्रतिबन्धक कारणों के द्वारा होते हैं।

अत: कार्य-कारणभाव के नियमानुसार जब प्रतिबन्धक निमित्त कारण दूर होते हैं, तब ही आत्मा के सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र गुण प्रकट होते हैं। जैसे कि रात्रि या काली आँधी, प्रबल घनपटल आदि प्रतिबन्धक कारणों के दूर हट जाने पर ही सूर्य का प्रकाश होता है। आसाम में लगातार 15-15 दिन तक वर्षा होती रहने से 15-15 दिन तक सूर्य बादलों से बाहर दिखाई नहीं देता।

इस कारण आपका यह लिखना कि पहले अज्ञानादि का नाश होता है, तदनंतर ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों का नाश अपने आप हो जाता है, विचारणीय है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने पञ्चास्तिकाय में इसके विरुद्ध लिखा है—

कम्मस्साभावेण य सव्वण्हू सव्वलोगदरसी य।
पावदि दंदियरहिदं अववावाहं सुहमणंतं॥ 151॥

गाथार्थ - द्रव्यकर्मों के अभाव से आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हो जाता है तथा इन्द्रियातीत-अव्याबाध अनन्त सुख प्राप्त करता है।

इस गाथा की टीका करते हुए श्री अमृतचन्द्रसूरि लिखते है—

ततः कर्माभावे स हि भगवान् सर्वज्ञः सर्वदर्शी व्युपरतेन्द्रियव्यापारोऽव्याबाधानन्तसुखश्च नित्यमेवावतिष्ठते।

टीकार्थ - इसलिए द्रव्यकर्मों का अभाव हो जाने पर वह आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अतीन्द्रिय अव्याबाध अनन्त सुखी सदा रहता है।

श्री अमृतचन्द्रसूरि तत्त्वार्थसार ग्रन्थ में लिखते हैं—

घातिकर्मक्षयोत्पन्नं केवलं सर्वभावगम्॥ 1-31॥

अर्थ - घातिकर्मों का क्षय हो जाने पर समस्त पदार्थों को जानने वाला केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

श्री वीरसेनाचार्य धवल सिद्धान्त ग्रन्थ में लिखते हैं—

तिरोहितस्य रत्नाभोगस्य स्वारवरणविगमत अविर्भावोपलम्भात्।

- धवल, पुस्तक 1, पृ. 52

अर्थ - तिरोति अर्थात् कर्म पटलों के कारण पर्यायरूप से अप्रकट रत्न (सम्यग्ज्ञान आदि)

समूह का अपने आवरण कर्म के अभाव हो जाने के कारण आविर्भाव पाया जाता है अर्थात् जैसे जैसे कर्म पटलों का अभाव होता जाता है, वैसे-वैसे ही अप्रकट रत्नसमूह प्रकट होता जाता है।

इन आर्षग्रन्थों के वाक्यों से यह बात प्रमाणित होती है कि द्रव्यकर्मों का क्षय हो जाने पर ही आत्मा के केवलज्ञानादि गुण प्रकट होते हैं।

इसलिए आपकी यह बात सिद्धान्त-अनुसार विपरीत क्रम है कि पहले भावकर्म यानी राग द्वेष मोह अज्ञान आदि का नाश होता है, तदनंतर मोहनीय आदि द्रव्यकर्मों का नाश होता है।

सिद्धान्तविरुद्ध इस विपरीत कार्यकारण मान्यता का सुधार आपेक्षित है।

आपने जो यह लिखा है कि 'आगम में सर्वत्र यह तो बतलाया है कि यदि संसारी आत्मा अपने बद्ध पर्यायरूप राग-द्वेष-मोह आदि अज्ञानभावों का अभाव करने के लिये अन्तरङ्ग पुरुषार्थ नहीं करता है और केवल जिसे आगम में उपचार से व्यवहारधर्म कहा है, उसी में प्रयत्नशील रहता है तो उसके द्रव्यकर्मों की निर्जरा न होने के समान है।' इसी आशय को ध्यान में रखकर श्री छहढाला में जो यह कहा है कि—

कोटि जन्म तप तपे , ज्ञान विन कर्म झरैं जे।
ज्ञानी के छिनमाहिं, त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते।।

आत्मशुद्धि की प्रक्रिया में आपकी यह मान्यता मेल नहीं खाती, क्योंकि आगमानुसार व्यवहारधर्म की प्रगति ही निश्चयधर्म की उपलब्धि कराती है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने आत्मशुद्धि के लिये द्रव्यप्रतिक्रमण (भूतकाल में जिन जड़ चेतन पदार्थों के निमित्त से राग ममता आदिरूप दोष लगा हो, उन पदार्थों का त्याग) और द्रव्य प्रत्याख्यान (भविष्य काल में होनेवाले राग-द्वेष आदि के विषयभूत जड़ चेतनरूप परपदार्थों का त्याग) पूर्वक भावप्रतिक्रमण और भावप्रत्याख्यान के क्रम पर प्रकाश डालते हुए श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने समयसार में लिखा है—

अप्पडिकमणं दुविहं अप्पच्चक्खणं तहेव विण्णेयं।
एएणुवएसेण य अकारओ वण्णिओ चेया॥ 283॥
अपडिक्कमणं दुविहं दव्वे भावे तहा अपच्चक्खाणं।
एएणुवएसेण य अकारओ वण्णिओ चेया॥ 284॥
जाय अपडिक्कमणं अपच्चखाणं च दव्वभावाणं।
कुव्वइ आदा तावं कत्ता सो होइ णायव्वो॥ 285॥

अर्थ - अप्रतिक्रमण (जड़-चेतन पदार्थों से भूतकालीन राग-द्वेष आदि का न छोड़ना) तथा अप्रत्याख्यान (जड़-चेतन पदार्थों के साथ होने वाले भविष्यकालीन राग-द्वेषादि भावों का न छोड़ना) द्रव्य और भाव के भेद से दो-दो प्रकार के हैं। उन दोनों (द्रव्य तथा भावरूप अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान) के त्याग देनेरूप इस उपदेश द्वारा आत्मा अकारक बतलाया गया है। जब तक आत्मा द्रव्य-भावरूप से अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान करता है, तब तक वह राग-द्वेष आदि का कर्त्ता है - ऐसा समझना चाहिए। इसकी टीका में श्री अमृतचन्द्रसूरि ने जो लिखा है, वह भी देखने योग्य है—

ततः परद्रव्यमेवात्मनो रागादिभावनिमित्तमस्तु, तथा सति तु रागादीनामकारक एवात्मा। तथापि यावन्निमित्तभूतं द्रव्यं न प्रतिक्रमति न प्रत्याचष्टे च .... यावत्तु भावं न प्रतिकामति न प्रत्याचष्टे तादत्तत्कतैव स्यात्। यदैवं निमित्तभूतं द्रव्यं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च तदैव नैमित्तिकभूतं भावं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च यदा .... साक्षादकत्तैव स्यात्।

अर्थ - इसलिए परद्रव्य (अन्य जड़ चेतन पदार्थ) ही आत्मा में राग-द्वेषादि भाव उत्पन्न करने के कारण है। यदि ऐसा न हो तो आत्मा रागादिभावों का अकर्ता ही हो जावे। फिर भी जब तक आत्मा रागद्वेषादि के निमित्तभूत परपदार्थों का प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान नहीं करता है, तब तक वह नैमित्तिकभूत राग-द्वेष आदि भावों का प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान नहीं कर सकता। जब तक वह अपने उन नैमित्तक भावों का प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान नहीं करता है, तब तक उन रागद्वेषादि भावों का कर्त्ता ही है। जब आत्मा निमित्तभूत परपदार्थों का प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान करता है, तब ही नैमित्तिकभूत (परपदार्थों के निमित्त से होनेवाले) रागद्वेषादि भावों का प्रतिक्रमण -प्रत्याख्यान करता है। जब भाव प्रतिक्रमण भाव प्रत्याख्यान करता है, तब ही वह आत्मा रागद्वेषादि का अकर्ता हो जाता है।

आचार्य कुन्दकुन्द तथा श्री अमृतचन्द्रसूरि के इस कथन से दो बातें सिद्ध होती हैं—

(1) रागद्वेष आदि विकृत परिणामों से मुक्ति पाने के लिये प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान आदि व्यवहारधर्म अति आवश्यक है।

(2) भावशुद्धि के लिये पहले परपदार्थों का त्याग करना परम आवश्यक है।

आपने जो अपने अभिप्राय की पुष्टि के लिये छहढाला की चौथी ढाल का पद्यांस (कोटि जन्म तप तपैं ज्ञान बिन कर्म झरैं जे। ज्ञानी के छिन माहि त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते) उपस्थित किया

है, वह आपके अभिप्राय के विरुद्ध जाता है, क्योंकि उससे यह सिद्ध नहीं होता कि 'सिर्फ ज्ञान द्वारा ही कर्मनिर्जरा होकर आत्मशुद्धि होती है। आप पद्य के अन्तिम अंश पर ध्यान दें। वहाँ कर्मनिर्जरा के लिये ज्ञान के साथ गुप्तिरूप व्यवहारचारित्र को भी अनिवार्य आवश्यक रखा है। अत: यदि उस पद्य का अभिप्राय केवल ज्ञान द्वारा ही कर्मनिर्जरा माना जायेगा तो ग्रन्थकार श्री पं. दौलतरामजी का इस पद्य सम्बन्धी अभिप्राय का घात होगा। उन्होंने तो व्यवहार धर्म को भी महत्त्व देते हुये इसी चौथी ढाल में श्रावक के 12 व्रतों का तथा छठी ढाल में मुनिचर्या के 28 मूलगुणोंरूप व्यवहारधर्म या व्यवहारचारित्र का पठनीय एवं मननीय सुन्दर विवेचन किया है। अत: यह पद्य आपके अभिप्राय के विरुद्ध है।'

ज्ञान सफल कब होता है

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार में भेदविज्ञान की सफलता पर प्रकाश डालते हुये लिखा है—

णादूण आसवाणं असुचित्तं विवरीयभावं च।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो॥ 72॥

अर्थ - आस्रव की अशुचिता (अपवित्रता), विपरीतता तथा दुखकारणता जानकर भव्य जीव उनको निवृत्ति (निवारण) करता है।

इसकी टीका में श्री अमृतचन्द्रसूरि लिखते हैं—

किं च यदिमात्मास्रवयोर्भेदज्ञानं किं वाऽज्ञानं? यद्यज्ञानं तदा तदभेदज्ञानान्न तस्य विशेषः। ज्ञानं चेत् किमास्रवेषु प्रवृत्तं, किमास्रवेषु निवृत्तं? आस्रवेषु प्रवृत्तं चेत्तदपि तदभेदज्ञानान्न तस्य विशेषः। आस्रवेभ्यो निवृत्तं चेत्तर्हि कथं न ज्ञानादेव बन्धनिरोधः। इति निरस्तोऽज्ञानांशः क्रियानयः। यत्त्वात्मास्रवयोर्भेदज्ञानमपि नास्रयेभ्यो निवृत्तं तज्ज्ञानमेव न भवतीति ज्ञानांशो ज्ञाननयोऽपि निरस्तः।

अर्थ - आत्मा और कर्म आस्रव में भेदज्ञान है तो वह ज्ञानरूप है या अज्ञानरूप? यदि अज्ञानरूप है तो वह आत्मा और आस्रव के अभेद ज्ञान से कुछ विशेष नहीं ठहरता। यदि वह ज्ञानरूप है तो क्या वह भेदज्ञान आस्रवों (आस्रव के कारणों) में प्रवृत्त है या निवृत्त है? यदि आस्रवों में प्रवृत्त है (आस्रव के कारणभूत विषय भोगों में लगा हुआ है) तो वह भेदज्ञानरूप नहीं, अभेदज्ञान से उसमें कुछ विशेषता नहीं (अर्थात् व्यर्थ है) यदि वह ज्ञान आस्रवों से निवृत्त

है तो उस ज्ञान से ही कर्मबन्ध का विरोध हो जायेगा। (कर्म आस्रव के कारणभूत) विषयभोगों-असंयम से निवृत्त होकर संयम सहित ज्ञान से कर्मबन्ध रुक जायेगा। जो भेदविज्ञान आस्रवों से (कर्म आस्रवों के कारणों से) निवृत्त नहीं होता, वह भेदज्ञान ही नहीं है।

इसका आशय यही है कि ज्ञान की सफलता केवल तत्त्व जानने में ही नहीं है, अपितु आस्रव के कारणभूत पाप क्रिया तथा विषय भोगों आदि से निवृत्त होकर व्यवहारधर्म आचरण करने से है।

संवर और कर्मनिर्जरा किस तरह

भेदविज्ञान का उद्देश्य आत्मा को कर्म-आस्रव तथा कर्मबन्ध से छुड़ाकर कर्मों का संवर और कर्मनिर्जरा करने का है, जिससे क्रमशः आत्मशुद्धि होते हुए मोक्ष प्राप्त हो सके। अतः तत्त्वज्ञान के साथ व्यवहार चारित्र भी जब आचरण में आता है, तब ही कर्मसंवर और कर्मनिर्जरा हुआ करती है। अकेला ज्ञान मुक्ति का या संवर निर्जरा का कारण त्रिकाल में भी नहीं है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने प्रवचनसार गाथा 7 में कहा है - **चारित्तं खलु धम्मो** अर्थात् वास्तव में धर्म है तथा च मोक्षपाहुड़ गाथा 57 में कहा है—

णाणं चरित्तहीणं दंसणहीणं तवेहिं सजुत्तं।
अण्णेसु भावरहियं लिंगग्गहणेण किं सौक्खं।।

अर्थ - जहाँ ज्ञान तो चारित्ररहित है, तप दर्शन (सम्यक्त्व) रहित है, आवश्यक आदि क्रिया रहित लिंग जो भेद है, उसमें सुख कहाँ है।

संस्कृत भाषा में आद्य सैद्धान्तिक सूत्रकार श्री उमास्वामी आचार्य तत्त्वार्थसूत्र में कहते हैं —

सगुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ॥ 9-2 ॥

अर्थ - वह कर्मसंवर गुप्ति, समिति, क्षमादि धर्म, अनित्यादि भावना, परीषहजय और सामायिक आदि चारित्र से होता है।

तपसा निर्जरा च ॥ 9-3 ॥

अर्थ - अन्तरंग बहिरंग तप से कर्मों की निर्जरा (अविवाक निर्जरा) होती है।

इन दोनों सूत्रों से भी प्रमाणित होता है कि व्यवहार चारित्र कर्मसंवर और कर्मनिर्जरा का कारण है।

अनंतबार मुनिव्रत धार

श्री पं. दौलतरामजी ने अपने छहढाला ग्रन्थ की चौथी ढाल में लिखा है—

मुनिव्रत धारि अनन्तवार ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायो।।

अर्थ – इस जीव ने अनन्तों बार मुनिव्रत धारण करके नौवें ग्रैवेयिक तक का अहमिन्द्र पद पा लिया, परन्तु भेदविज्ञान के बिना उसे (अतीन्द्रिय) सुख का लेशमात्र भी नहीं मिल सका।

इसमें दो बातें ध्वनित हो रही हैं – (1) तो यह कि ज्ञान की सफलता कोरे तत्त्वज्ञान से नहीं है, ज्ञान की सफलता भेदविज्ञान (सम्यग्ज्ञान) से है। (2) भेदविज्ञान की सफलता अथवा चारित्र की सफलता भेदविज्ञान के साथ है।

अणुव्रत महाव्रत आदि व्यवहार चारित्र प्रत्येक दशा में सफल है। यदि कोई मनुष्य अभव्य है, मिथ्यादृष्टि (द्रव्यलिंगी) है या दूरातिदूर भव्य है तो वह भी मुनिचर्या द्वारा अहमिन्द्र पद पा सकता है। इससे अधिक उन्नत पद पाने की उसमें योग्यता नहीं है। अत: ऐसे अभव्य आदि मुनियों के उद्देश्यों से श्री पं. दौलतरामजी ने यह पद्य लिखा है।

दूसरे – इस पद्य से यह बात भी प्रमाणित होती है कि मुक्ति के लिये भी अन्तरंग कारण (भव्यत्व सम्यक्त्वरूप उपादानकारण) तथा श्रावकधर्म–मुनिधर्मरूप व्यवहार चारित्ररूप बहिरंग निमित्त कारण की अनिवार्य आवश्कता है। यदि उन दोनों कारणों से एक भी कारण की कमी होगी तो मुक्ति न मिल सकेगी।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने व्यवहारचारित्र का कितनी दृढ़ता से समर्थन किया है। देखिये—

ण वि सिज्झइ वत्वधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो।
णग्गो वि मोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे॥ 23॥

– *सूत्रपाहुड*

अर्थ – जिनशासन के अनुसार यदि तीर्थंकर भी वस्त्रधारी असंयमी हो तो वह आत्मसिद्धि नहीं पा सकता।

धुव सिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेइ तवयरणं।
णाऊण धुवं कुज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि॥ 60॥

– *मोक्षपाहुड*

अर्थ – तीर्थंकर को उसी भव से नियम से मुक्ति होती है। तीर्थंकर को सम्यक्त्व के साथ तीन ज्ञान जन्म से तथा मुनिदीक्षा लेते समय मनःपर्ययज्ञान भी हो जाता है। इस तरह चार ज्ञानधारी होकर भी वे मुक्त होने के लिये तपश्चरण करते हैं – ऐसा जानकर ज्ञानी पुरुष को तपश्चरण अवश्य करना चाहिए।

आपने अपने लेख के अन्त में जो समयसार कलश के दो पद्य दिये हैं, वे श्री अमृतचन्द्रसूरि ने निश्चयनय की दृष्टि से लिखे हैं। किन्तु उन्होंने इन पद्यों से शुद्ध आत्मतत्त्व प्राप्त करने के लिये व्यवहारचारित्र का निषेध नहीं किया है। इसका प्रमाण उनका विरचित पुरुषार्थसिद्धियुपाय ग्रन्थ है, जिसमें कि सूरि ने अहिंसा धर्म का तथा श्रावकधर्म का सुन्दर विवेचन किया है। इसके सिवाय आध्यात्मिक आचार्य श्री कुन्दकुन्द तथा अमृतचन्द्रसूरि आजन्म मुनिचारित्र का आचरण करते रहे – यह वार्ता इस बात का प्रमाण है कि वे व्यवहारचारित्र की आत्मसुद्धि के लिये अनिवार्य आवश्यक समझते थे।

मुनिचारित्र के बिना धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान नहीं होते। सिद्धान्त की यह बात भी व्यवहारचारित्र की अनिवार्य आवश्यकता को प्रमाणित करती है।

विकार का कारण

द्रव्य में निष्कारण विभाव (विकार) नहीं होता है। विकार परनिमित्तक हुआ करता है, जैसे जल के शीतल स्वभाव में उष्णतारूप विकार अग्नि के निमित्त से होता है, इसी बात को श्री विद्यानन्दि स्वामी ने अष्टसहस्री ग्रन्थ में पत्र 51 पर लिखा है—

दीपावरणयोर्हानिर्निर्शिशेषास्त्यतिशायनात्।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥ 4 ॥

इन कारिका की व्याख्या करते हुए—

दोषो हि तावदज्ञानं ज्ञानावरणस्योदये जीवस्य स्याददर्शनं दर्शनावरणस्य, मिथ्यात्वं दर्शनमोहस्य, विविधमचारित्रमनेकप्रकारचारित्रमोहस्य...।

इत्यादि लिखा है, जिसका अर्थ यह है कि जीव के अज्ञानदोष ज्ञानावरणकर्म के उदय होने पर होता है, दर्शनावरणकर्म के उदय से अदर्शन, दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से मिथ्यात्व, चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से अनेक प्रकार का क्रोध, मान, राग-द्वेष आदि अचारित्र भाव होते हैं।

इसके अनुसार आत्मा के विकारी भाव ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों के निमित्त से ही होते हैं। इसी बात की पुष्टि श्री विद्यानन्दस्वामी ने आप्तपरीक्षा में भी की है।

न चायं भावबन्धो द्रव्यबन्धमन्तरेण भवति, मुक्तस्थापि तत्तप्रसङ्गात्।

- आप्तपरीक्षा, पृ. 5

अर्थ - यह भावबन्ध (राग-द्वेष अज्ञान आदि) द्रव्यबंध (ज्ञानावरण आदि कर्म के) बिना नहीं होता है, क्योंकि यदि बिना द्रव्यबंध के भावबन्ध हो तो मुक्त जीवों के भी राग-द्वेष आदि भावबन्ध के होने का प्रसंग आ जायेगा।

श्री विद्यानन्दस्वामी ने भावबन्ध और द्रव्यबन्ध के विषय में स्पष्टीकरण करते हुए आप्तपरीक्षा की '**भावकर्माणि**' आदि 114 वीं कारिका की व्याख्या में लिखा है—

तानि च पुद्‌गलपरिणामात्मकानि जीवस्य पारतन्त्र्यनिमित्तत्वात्, निगडादिवत्। क्रोधादिमिर्व्यभिचार इति इति चेत् न, तेषां जीवपरिणामानां पारतन्त्र्यस्वरूपत्वात्। पारतन्त्र्यं हि जीवस्य क्रोधादिपरिणामो न पुनः पारतन्त्र्यनिमित्तम्।

अर्थ - वे पौद्‌गलिक द्रव्यकर्म (ज्ञानावरणादि) आत्मा की परतन्त्रता के निमित्त कारण हैं, जैसे कि मनुष्य के पैरों में पड़ी बेड़ी मनुष्य की परतन्त्रता का कारण है।

शंका - क्रोधादि आत्मा के भाव (भावकर्म) भी आत्मा के बंध के कारण हैं, इसलिए उनके साथ व्यभिचार आता है?

समाधान - ऐसी बात नहीं है, क्योंकि आत्मा के क्रोधादि भाव स्वयं परतन्त्रतास्वरूप हैं, इसलिये आत्मा के वे भाव स्वयं परतन्त्ररूप हैं, आत्मा की परतंत्रता के निमित्त नहीं हैं।

- पृ. १४६

आचार्य महाराज ने उपर्युक्त विधान से यह बात स्पष्ट कर दी है कि आत्मा के राग-द्वेष आदि भाव मोहनीय आदि द्रव्यकर्म के निमित्त से हुआ करते हैं, बिना उन द्रव्यकर्मों के निमित्त के कभी नहीं होते। इसलिए द्रव्यकर्म आत्मा के रागादि भावकर्मों के उत्पन्न होने के निमित्त कारण हैं।

राग-द्वेष आदि परिणामों के निमित्त से मोहनीय आदि द्रव्यकर्मों का बन्ध हुआ करता है, इस कारण उन राग-द्वेष आदि आत्मा के विकारी भावों को भावबन्ध कहा गया है। तदनुसार द्रव्यबन्ध के निमित्त से भावबन्ध और भावबन्ध के निमित्त से द्रव्यबन्ध हुआ करता है।

इनमें से द्रव्यबन्ध परपदार्थ हैं और भावबन्ध अपना विकारी भाव है, अत: वह आत्मस्वरूप है। इसलिए आत्मा की परतन्त्रता का कारण परद्रव्यरूप द्रव्यकर्म ही मुख्यता से होता है और परद्रव्य होने के कारण वास्तव में आत्मा के साथ बन्ध उन ज्ञानावरण आदि कार्मण द्रव्य का हुआ करता है।

●

नम: श्री वीतरागाय

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्।।

शंका - 9

मूल शंका - सांसारिक जीव बद्ध है या मुक्त ? यदि बद्ध है तो किससे बँधा हुआ है और किसी से बँधा हुआ होने से वह परतन्त्र है या नहीं ? यदि वह बद्ध है तो उसके बन्धन से छूटने का उपाय क्या है ?

प्रतिशंका - 2 का समाधान

इस प्रश्न का उत्तर व्यवहारनय और निश्चयनय की अपेक्षा पूर्व में दे आये हैं। इसका आशय यह है - एक द्रव्य के गुण धर्म को अन्य द्रव्य का कहना, यह असद्भूतव्यवहारनय है और स्वाश्रित कथन करना, यह निश्चयनय है। इस प्रकार संक्षेप में ये इन दोनों नयों के लक्षण हैं। अतएव निश्चनय की अपेक्षा विचार करने पर आत्मा स्वयं अपने अपराध के कारण बद्ध है, अन्य किसी ने बलात् बाँध रखा हो और उसके कारण वह बँध रहा हो, ऐसा नहीं है। परन्तु असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा उसके उस अपराध को ज्ञानावरणादि कर्मों पर आरोपित कर यह कहा जाता है कि ज्ञानावरणादि कर्मों के कारण वह बद्ध है। यह वस्तुस्थिति है। इसका सम्यक् निर्णय अनेक प्रमाणों के साथ पिछले उत्तर में किया गया था। किन्तु प्रतिशंका २ को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि सांसारिक जीव बद्ध क्यों है, इसका मुख्य कारण ज्ञानावरणादि कर्मों को समझा जा रहा है। प्रतिशंका 2 में यह तो स्वीकार कर लिया है कि जब आत्मा के प्रबल पुरुषार्थ से द्रव्यकर्मों मोहनीय आदि का क्षय होता है, तब विकार का निमित्त कारण हट जाने से आत्मा के रागद्वेष आदि नैमित्तिक विकार भाव दूर हो जाते हैं। पर इसके साथ दूसरे स्थल पर उसी प्रतिशंका में यह भी लिखा है कि मोहनीय आदि द्रव्यकर्म, राग-द्वेष आदि आत्मा के

विभाव भावों के प्रेरक निमित्त कारण हैं और राग-द्वेष आदि आत्मा के विकृत भाव मोहनीय आदि द्रव्यकर्म बन्ध के प्रेरक निमित्त कारण हैं। इस प्रकार ये परस्पर विरुद्ध विचार एक ही लेख में प्रगट किये गये हैं। प्रेरक निमित्त का अर्थ यदि निमित्त कर्त्ता या निमित्त करण करके उसका अर्थ 'विशेष निमित्त' किया जाता है तब तो कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि कर्मों का उदय-उदीरणा आत्मा के राग-द्वेष आदि कार्य के विशेष निमित्त हैं और आत्मा के राग-द्वेष आदि विभाव भाव ज्ञानावरणादि कर्म परिणाम के विशेष निमित्त हैं। पर अभी तक प्रतिशंका से हम जो तात्पर्य समझ सके हैं, उससे यही ज्ञात होता है कि जो निमित्त बलात् कार्य के स्वकाल को छोड़कर आगे-पीछे परद्रव्य में कार्य उत्पन्न करता है, वह प्रेरक निमित्त है। यदि प्रतिशंका में किये गये विवेचन का यही अभिप्राय हो तो कहना होगा कि आत्मा को प्रबल पुरुषार्थ करने का कभी अवसर ही नहीं मिल सकेगा। कारण कि प्रत्येक समय में जिस प्रकार कर्मोदय-उदीरणा है, उसी प्रकार राग-द्वेष परिणाम भी है, अतः कर्म आत्मा को बलात् परतन्त्र रहेगा और राग-द्वेष परिणाम बलात् कर्मबन्ध कराता रहेगा। इस प्रकार प्रतिसमय आत्मा को कर्मों के अधीन होकर परिणमना पड़ेगा और नये-नये कर्मों को राग-द्वेष के अधीन होकर बँधना पड़ेगा। ऐसी अवस्था में यह आत्मा त्रिकाल में बन्धन से छूटने के लिये प्रबल पुरुषार्थ कभी नहीं कर सकेगा और प्रबल पुरुषार्थ के अभाव में मुक्ति की व्यवस्था नहीं बन सकेगी। तब तो जितने भी संसारी जीव हैं, वे सब मुक्ति के अभाव में संसारी ही बने रहेंगे। आगम में '**प्रेर्यमाणा पुद्गलाः**' इत्यादि वचन पढ़कर प्रेरक कारण स्वीकार करना अन्य बात है, पर उसका जिनागम में क्या अर्थ इष्ट है, इसे समझ कर सम्यक् निर्णय पर पहुँचना अन्य बात है।

यह तो शास्त्र के अभ्यासी सभी विद्वान् जानते हैं कि प्रत्येक द्रव्य स्वभाव से परिणमन से नित्य है। जिस प्रकार द्रव्य की अपेक्षा नित्यता उसका स्वभाव है, उसी प्रकार उत्पाद-व्ययरूपी परिणमन करना भी उसका स्वभाव है। जबकि उत्पाद-व्ययरूप से परिणमन करना उसका स्वभाव है, ऐसी अवस्था में उसे अन्य कोई परिणमावें, तभी वह परिणमन करे ऐसा नहीं है। इसका विशेष विचार श्री समयसारजी में सुस्पष्टरूप से किया गया है। विचार करते हुए वहाँ लिखा है—

यह पुद्गल द्रव्य जीव में स्वयं नहीं बँधा और कर्मभाव से स्वयं नहीं परिणमता। यदि ऐसा माना जाये तो वह अपरिणामी सिद्ध होता है और कार्मण वर्गणाएँ कर्मभाव से नहीं परिणमती होने से संसार का अभाव सिद्ध होता है अथवा सांख्यमत का प्रसंग आता है। जीव, पुद्गल द्रव्यों

को कर्मभाव से परिणमाता है – ऐसा माना जाये तो यह प्रश्न होता है कि स्वयं नहीं परिणमती हुई उन वर्गणाओं को चेतन आत्मा कैसे परिणमा सकता है अथवा यदि पुद्गल द्रव्य अपने आप ही कर्मभाव से परिणमन करता है – ऐसा माना जाये तो जीव कर्म को अर्थात् पुद्गल द्रव्य को कर्मरूप परिणमाता है – यह कथन मिथ्या सिद्ध होता है, इसलिये जैसे नियम से कर्मरूप (कर्त्ता के कार्यरूप से) परिणमन करने वाला पुद्गलद्रव्य कर्म ही है, इसी प्रकार ज्ञानावरणादिरूप परिणमन करनेवाला कार्मण पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि ही है – ऐसा जानो॥ 116 से 120॥

तथापि आगम में 'करता है, परिणमाता है, उत्पन्न करता है, ग्रहण करता है, त्यागता है, बाँधता है, प्रेरता है' इत्यादि प्रयोग उपलब्ध होते है। स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द ने बन्धाधिकार में बन्धरूप अवस्था में बन्ध को प्राप्त जीवद्रव्य की संसाररूप पर्याय कर्म और नोकर्म को निमित्त कर ही होती है इस तथ्य को समझाने के लिये '**जह फलितहमणी सुद्धो**' (278-279) इत्यादि दो गाथाएँ लिखते हुए '**परिणमाता है**' जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। इस पर से बहुत से मनीषी उन दोनों गाथाओं का आश्रय लेकर 'परिणमाता' है, इस पद को ध्यान में रखकर यह अर्थ फलित करते हैं कि प्रेरक निमित्तों की सामर्थ्य से दूसरे द्रव्य का विवक्षित कार्य स्वकाल को छोड़कर आगे-पीछे भी किया जा सकता है। वे प्रेरक निमित्तों की सार्थकता इसी में मानते हैं। किन्तु उनका उन गाथाओं के आधार से ऐसा अर्थ फलित करना क्यों तथ्ययुक्त नहीं है। यह हम स्वयं भगवान् कुन्दकुन्द के शब्दों में बतला देना चाहते हैं। वे कर्त्ता-कर्म अधिकार में इसी बोल का स्पष्टीकरण करते हुए स्वयं लिखते हैं—

उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य।
आदा पुग्गलदव्वं ववहारणस्स वत्तव्वं॥ 107॥

अर्थ – आत्मा पुद्गल-द्रव्य को उत्पन्न करता है, करता है, बांधता है, परिणमाता है और ग्रहण करता है, यह व्यवहारनय का कथन है।

इस गाथा की व्याख्या करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते है—

अर्थ खल्वात्मा न गृह्णाति न परिणमयति नोत्पादयति न करोति न वध्नाति व्याप्य-व्यापकभावाभावात् प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म। यत्तु व्याप्य-व्यापकभावाभवेऽपि प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्य च पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म गृह्णाति परिणमयत्युत्पादयति करोति बध्नाति चात्मेति विकल्पः स किलोपचारः।

अर्थ – यह आत्मा वास्तव में व्याप्य-व्यापकभाव के अभाव के कारण प्राप्य, विकार्य

और निर्वर्त्यरूप पुद्गल-द्रव्यात्मक कर्म को ग्रहण नहीं करता, परिणमित नहीं करता, उत्पन्न नहीं करता, न उसे करता है और न बांधता है, फिर भी व्याप्य-व्यापक भाव का अभाव होने पर भी प्रप्य, विकार्य और निर्वर्त्य पुद्गल-द्रव्यात्मक कर्म को आत्मा ग्रहण करता है, परिणमित करता है, उत्पन्न करता है, करता है और बांधता है इत्यादिरूप जो विकल्प होता है, वह वास्तव में उपचार है।

इससे विदित होता है कि जिनागम में '**परिणमाता है**' इत्यादि प्रयोगों का दूसरे मनीषी प्रेरक कारण मान कर जो अर्थ करते हैं, वह नहीं लिया गया है। भगवान् कुन्दकुन्द के समान आचार्य विद्यानन्दि भी इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए श्लोकवार्तिक में लिखते हैं—

ततः सूक्तं लोकाकाशधर्मादिद्रव्याणामाधाराधेयता व्यवहारनयाश्रया प्रतिपत्तव्या, बाधकाभावादिति। निश्चयनयात्र तेषामाधाराधेयता युक्ता, व्योमवद्धर्मादीनामपि स्वयपेऽवस्थानात्। अन्यस्यान्यत्र स्थितौ स्वरूपसंकरप्रसंगात्। स्वयं स्थानोरन्येन स्थितिकरण-मनर्थकम्, स्वयमस्थानोः स्थितिकरणमसंम्भाव्यं शशविषाणवत्। शक्तिरूपेण स्वयं स्थानाशीलस्यान्येन व्यतिरूपतया स्थितिः क्रियते इति चेत् तस्यापि व्यक्तिरूपा स्थितिः तत्स्वभावस्य वा क्रियते (अतत्स्यभावस्य वा)। न च तावत् तत्स्वभावस्य, वैयय्यर्थात् करण-व्यापारस्य। नाप्यतत्स्वभावस्य, खपुष्पवत्करणानुत्पत्तेः। कथमेवं उत्पत्तिविनाशयोः कारणम्? कस्यचित् तत्स्वभावस्यातत्स्वभावस्य वा केनचित् तत्करणे सितिपक्षोक्तदोषानुषंगादिति चेत्? न, कथमपि तन्निश्चयनयात् सर्वस्य विस्त्रसोत्पाद-व्यय-ध्रौव्यव्यवस्थितेः। व्यवहारनयादेव उत्पादादीनां सहेतुकत्वप्रतीतेः। *- श्लोकवार्तिक 4, 16, पृ. 410*

अर्थ - इसलिए यह अच्छा कहा कि लोकाकाश और धर्मादि द्रव्यों का आधाराधेयभाव व्यवहारनय से जानना चाहिए, क्योंकि इसका बाधक प्रमाण नहीं है। निश्चयनय से उनमें आधाराधेयभाव नहीं है, क्योंकि आकाश की तरह धर्मादि द्रव्यों का भी स्वरूप में अवस्थान है। तथा अन्य द्रव्य की अन्य द्रव्य में स्थिति मानने पर स्वरूपसंकरदोष प्राप्त होता है। स्वयं स्वरूपस्थित पदार्थ का दूसरे से स्थितिकरण होता है - ऐसा मानना निरर्थक है, क्योंकि स्वयं स्वरूप में उपस्थित पदार्थ का दूसरे के द्वारा स्थितिकरण ऐसे ही नहीं बनता जैसे शशविषाण का दूसरे के द्वारा स्थितिकरण नहीं बनता।

स्वयं शक्तिरूप से स्थानशील पदार्थ की अन्य व्यक्ति (प्रगट-पर्याय) रूप स्थिति करता है। यदि ऐसा माना जाता तो प्रश्न है कि वह दूसरा पदार्थ तत्स्वभाव वाले दूसरे पदार्थ की

व्यक्तिरूप स्थिति करता है या अतत्स्वभाववाले पदार्थ की। तत्स्वभाववाले की तो कर नहीं सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर करण-व्यापार की व्यर्थता होती है। अतत्स्वभाववाले की भी नहीं कर सकता, क्योंकि आकाशकुसुम जैसे नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार अतत्स्वभाव वाले पदार्थ की स्थिति करना भी नहीं बनता। यदि ऐसा है तो दूसरा पदार्थ उत्पत्ति और विनाश का कारण कैसे होता है ? क्योंकि तत्स्वभाववाले या अतत्स्वभाववाले किसी पदार्थ का किसी दूसरे के द्वारा करना मानने पर स्थिति पक्ष में जो दोष दे आये हैं, वे सब प्राप्त हो जायेंगे। नहीं, क्योंकि किसी भी प्रकार से निश्चयनय की अपेक्षा विचार करने पर सम्पूर्ण पदार्थों का विस्रसा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की व्यवस्था है। व्यवहारनय की अपेक्षा से विचार करने पर ही उत्पादादिक सहेतुक प्रतीत होते हैं।

इस प्रकार इन प्रमाणों से यह भलीभाँति सिद्ध होता है कि एक द्रव्य की विवक्षित पर्याय दूसरे द्रव्य की विवक्षित पर्याय में अणुमात्र भी हेर-फेर नहीं कर सकती। केवल कार्यजननक्षम योग्यता तथा निमित्त-उपादान की सम्व्याप्ति का ज्ञान न होने के कारण ही यह विकल्प होता है कि अमुक ने अमुक किया, वह न होता तो वह कार्य ही उत्पन्न नहीं हो सकता था, किन्तु पूर्वोक्त उल्लेखों से स्पष्ट है कि प्रत्येक कार्य अपनी उपादान शक्ति के बल पर ही होता है। इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए षट्खण्डागम जीवस्थानचूलिका, पृ. 164 में भी कहा है—

कुदो ? पयडिविसेसादो। ण च स्व्वाइं कज्जाइं एयंतेण वज्झत्थमवेक्खिय चे उप्पज्जंति, सालिबीजादो जवंकुरस्स वि उप्पत्तिप्पसंगा। ण च तारिसाई सव्वाइं तिमु वि कालेसु कहं वि अत्थि, जेसिं वबलेण सालिवीजस्य जवंकुरुप्पायणसत्ती होज्ज, अणवत्थापसंगादो। तम्हा कम्हि वि अंतरंगकारणादो चैव कज्जुप्पत्ती होदि त्ति णिच्छओ कायव्वो।

अर्थ - क्योंकि प्रकृतिविशेष होने से सूत्रोक्त इन प्रकृतियों का यह स्थितिबन्ध होता है। सभी कार्य एकान्त से बाह्य अर्थ की अपेक्षा करके नहीं उत्पन्न होते हैं, अन्यथा शालिधान्य के बीज से जौ के अंकुर की भी उत्पत्ति का प्रसंग प्राप्त होगा। किन्तु उस प्रकार के द्रव्य तीनों ही कालों में किसी भी क्षेत्र में नहीं हैं कि जिनके बल से शालिधान्य के बीज को जौ के अंकुररूप से उत्पन्न करने की शक्ति हो सके। यदि ऐसा होने लगे तो अनवस्था दोष प्राप्त होगा, इसलिए कहीं पर भी अर्थात् सर्वत्र अन्तरंग कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है - ऐसा निश्चय करना चाहिए।

यहाँ भिन्न टाईप के वाक्य ध्यान देने योग्य हैं। इस द्वारा दृढ़तापूर्वक आचार्य वीरसेन ने यह स्पष्ट कर दिया है कि सर्वत्र कार्य की उत्पत्ति मात्र अन्तरंग कारण से ही होती है। मात्र जिस

अन्य द्रव्य की विवक्षित पर्याय की उसके (कार्य के) साथ बाह्य व्याप्ति होती है, उसमें निमित्तता का व्यवहार किया जाता है।

इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य वीरसेन वेदनाभावविधानाद्यनुयोगद्वारों में कहते हैं—

तत्थ वि पहाणमंतरगं कारणं, तम्हि उक्कस्से संते बहिरंगकारणे थोवे वि बहुअणुभाग-धाददंसणादो, अंतरंगकारणे थोवे बहिरंगकारणे बहुए संते वि बहुअणुगघादाणुवर्लभादो।

- धवला, पु. 11, पृ. 36

अर्थ – उसमें भी अन्तरंगकारण प्रधान है, क्योंकि उसके उत्कृष्ट होने पर बहिरंग कारण के स्तोक रहने पर भी बहुत अनुभागघात देखा जाता है तथा अन्तरंग कारण के स्तोक होने पर बहिरंग कारण के बहुत होते हुए भी बहुत अनुभागघात नहीं उपलब्ध होता।

यह जिनागम का तात्पर्य है, जिससे वस्तुस्वभाव पर सम्यक् प्रकाश पड़ता है। पूर्व में प्रश्न नं. 6 एवं उसकी प्रतिशंकाओं के उत्तरस्वरूप लिखे गये लेखों में हमने जिनागम के इसी तात्पर्य को ध्यान में रखकर निश्चयनय और व्यवहारनय की अपेक्षा उत्तर दिया था। किन्तु हमें देखकर आश्चर्य हुआ कि निश्चयनय और व्यहारनय की अपेक्षा से जिनागम में जो सम्यक् व्यवस्था की गई है, उसे गौण कर और व्यवहारनय के विषय को मुख्य कर (निश्चयरूप) मानकर इस प्रतिशंका द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि कर्मों ने बलात् जीव को बांध रखा है। अपने अभिप्राय की पुष्टि में अन्य व्यवहारनय के सूचक प्रमाणों के साथ समयसार की '**सम्मतपडिणिबद्धं**' इत्यादि तीन गाथाएँ उपस्थित कर उनमें आये हुए 'मिच्छत्तं, अण्णाणं, और कसाय' पदों का अर्थ प्रतिशंका में मिथ्यात्व द्रव्यकर्म, ज्ञानावरणीय द्रव्यकर्म और चारित्रमोहनीय द्रव्यकर्म किया है, किन्तु यहाँ पर इन पदों का अर्थ मुख्यरूप से मिथ्यात्वभाव, अज्ञानभाव और कषायभाव लिये गये हैं। इनके निमित्तरूप कर्मों का यदि ग्रहण हुआ है तो गौणरूप से ही। पण्डितप्रवर राजमलजी ने इन तीन गाथाओं की टीका में आये हुए '**सन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि कर्म**' (109) इस कलश का अर्थ करते हुए 'कर्म' शब्द का अर्थ मुख्यरूप से जीव के भाव ही किया है। उसकी टीका का वचन इस प्रकार है—

.... इसौ छे जो कोई जीव तेने, तत् इदं कहतां सोई कर्म जो उपर ही कहयो थे, समस्तं अपि कहतां जावंत छै शुभ क्रियारूप अशुभ क्रियारूप अन्तर्जल्परूप बहिर्जल्परूप इत्यादि। करतूतीं रूप कर्म कहतां क्रिया अथवाज्ञानावरणादि पुद्गलकौ पिंड अशुद्ध जीव के परिणाम इसौ कर्म....।

– समयसार कलश टीका, पृ. 111 (सूरत वीर सं. 2457)

यद्यपि निमित्तों का सम्यग्ज्ञान कराने के लिये आगम में कर्मों की मुख्यता से व्यवहारनय प्रधान कथन बहुलता से आया है। इसमें सन्देह नहीं, परन्तु इस जीव के संसार का कारण इसका अपना अपराध ही है - ऐसा ज्ञान हुए बिना उस की अज्ञान, मोह, राग, द्वेष में अरुचि होकर स्वभाव का पुरुषार्थ नहीं हो सकता, इसलिए प्रत्येक संसारी जीव को निमित्तों के विकल्प से निवृत्त होकर यही निर्णय करना कार्यकारी है—

यदिह भवति रागद्वेषदोषप्रसूतिः
कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र।
स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्वबोधो
भवतु विदितमस्तं यात्वबोधोऽस्मि बोधः॥ 220॥

– ***समयसार कलश***

अर्थ – इस आत्मा में जो रागद्वेषरूप दोषों की उत्पत्ति होती है, उसमें परद्रव्य का कोई भी दोष नहीं है, वहाँ तो स्वयं अपराधी यह अज्ञान ही फैलता है, इस प्रकार विदित हो और अज्ञान अस्त हो जाये, मैं तो ज्ञान हूँ।

आगे चलकर इस प्रतिशंका में अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध किया गया है कि द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यान का त्याग पहिले होता है तथा भाव-अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान का त्याग बाद में होता है। इस बात को प्रमाणित करने के लिये समयसारजी गाथा 283-284-285 के उल्लेख दिये गये हैं तथा अमृतचन्द्रसूरिजी की टीका भी दी है। टीका से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि—

(1) रागद्वेष आदि विकृत परिणामों से मुक्ति पाने के लिये प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान आदि व्यवहारधर्म अति आवश्यक हैं।

(2) भावशुद्धि के लिये पहिले परपदार्थों का त्याग करना परम आवश्यक है।

दोनों निष्कर्ष संख्या में दो होकर भी एक ही भाव व्यक्त करते हैं। वे इस तात्पर्य को प्रकट करते हैं कि द्रव्य प्रतिक्रमण और द्रव्य प्रत्याख्यान अर्थात् व्यवहार धर्म या व्यवहार चारित्र या द्रव्यचारित्र मुख्य है।

पर बात ऐसी नहीं है। अमृतचन्द्रसूरि ने इसी टीका में द्रव्यत्याग के साथ ही भाव-त्याग जब तक नहीं होता, तब तक जीव को रागादि का कर्त्ता बताकर भावत्याग की मुख्यता को ही

स्वीकार किया है। जिससे यह सूचित होता है कि भावप्रतिक्रमण और भावप्रत्याख्यान के साथ जो द्रव्यप्रतिक्रमण और द्रव्य-प्रत्याख्यान होता है, वही जिनागम में मान्य है। टीका के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं—

यदैव निमित्तः भूतं द्रव्यं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च तदैव नैमित्तिकभूतं भावं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च, यदा तु भावं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च तदा साक्षादकर्तैव स्यात्।

अर्थ – जब वह निमित्तभूत द्रव्य का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान करना है तभी नैमित्तिकभूत भावों का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान करता है और जब इन भावों का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान होता है, तब वह साक्षात् अकर्ता ही है। ***– समयसार गाथा 283-284 टीका***

प्रतिशंका में 'व्यवहारचारित्र प्रत्येक दशा में सफल है' इस प्रतिज्ञा वाक्य के साथ जो तर्क दिए गये हैं, वे सम्यक् नहीं हैं, क्योंकि मिथ्यादृष्टि, अभव्य और दूरातिदूर भव्य जीव भी मुनिचर्या (व्यवहारचारित्र) के द्वारा अहमिन्द्र पद पा सकता है, जो मोक्षमार्ग की दृष्टि से मिथ्यादर्शन का सहभागी होने के कारण मिथ्याचारित्र का ही नाम पाता है। व्यवहार चारित्राभास तो उसे कह सकते हैं, पर व्यवहारचारित्र नहीं।

जहाँ व्यवहारचारित्र और निश्चयचारित्र में साधक-साध्यपना बताया है, वहाँ सम्यग्दर्शन पूर्वक व्यवहार चारित्र को व्यवहार से साधक ही बताया गया है, मिथ्याचारित्र को नहीं। अत: निश्चयचारित्र के साथ बाह्यचारित्र को ही व्यवहारचारित्र कहते हैं, वहाँ निश्चयचारित्र ही मुख्य है, क्योंकि वह आत्मा का वीतराग भाव है।

सर्वार्थसिद्धि (अ. 7, सू. 19) में पूज्यपादस्वामी ने यही व्यक्त किया है। वहाँ प्रश्न किया है कि ऐसा होने पर शून्यागार आदि में बसनेवाला मुनि अगारी और किसी कारण घर छोड़कर वन में बसनेवाला व्यक्ति अनगार माना जायेगा। वहाँ आचार्य उत्तर देते हैं कि—

नैष दोषः भावागारस्य विवक्षिततत्वात्।

अर्थात् अगार पद से भावागार ही अर्थ लिया गया है। आगे लिखा है कि—

वने वसन्नपि च गृहे बसन्नपि तदभावदनगार इति च भवित।

भावागार का त्याग अर्थात् जब अगार के प्रति रागभाव न रहे, तब वह घर में बैठा हो या वन में बसता ही 'अनगार' कहा जायेगा।

इस प्रकार विचार करने पर प्रतीत होता है कि जिनागम में सर्वत्र भावचारित्र या निश्चयचारित्र

की ही प्रधानता है, क्योंकि वह मोक्ष का साक्षात् हेतु है। उसके होने पर साथ में गुणस्थानपरिपाटी के अनुसार व्यवहारचारित्र होता ही है, उसका निषेध नहीं है। परन्तु ज्ञानी को सदा स्वरूपरमण की दृष्टि बनी रहती है, इसलिये मोक्षमार्ग में उसकी मुख्यता है। मोक्षमार्ग का तात्पर्य ही यह है। इस प्रतिशंका में प्रसंगवश इसी प्रकार की सम्बन्धित और भी अनेक चर्चाएँ हैं, परन्तु सब का समाधान उक्त कथन से हो जाता है, अत: यहाँ और विस्तार नहीं किया गया है।

●

तृतीय दौर

: 3 :

शंका - 9

मूल प्रश्न - सांसारिक जीव बद्ध है या मुक्त ? बद्ध है तो किससे बंधा हुआ है ? और किसी से बंधा हुआ होने से वह परतन्त्र है या नहीं ? यदि वह बद्ध है तो छूटने का उपाय क्या है ?

प्रतिशंका - 3

इस मूल प्रश्न के निम्न 4 खण्ड हो सकते हैं—

(अ) संसरी जीव बद्ध है या मुक्त ?

(आ) यदि बद्ध है तो किससे बंधा हुआ है ?

(इ) बंधा हुआ होने से वह परतन्त्र है या नहीं ?

(ई) यदि वह बद्ध है तो छूटने का उपाय क्या है ?

(अ) संसारी जीव बद्ध है या मुक्त ? इस प्रश्न के सम्बन्ध में आपने अपने प्रथम उत्तर में यह लिखा था कि 'शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा परमपारिणामिकभावस्वरूप शुद्ध जीव के द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म का अभाव होने से वह सकल दोषों से विमुक्त है।' इसके प्रमाण मे नियमसार गाथा 45 की टीका का वाक्य दिया गया। इसका उपर्युक्त प्रश्न से सम्बन्ध ही नहीं है, क्योंकि परमपारिणामिकभावस्वरूप शुद्ध जीव तीनों कर्मों व सकल दोषों से विमुक्त (रहित)

है। इसमें न बद्ध का कथन है और न मुक्त (बन्धपूर्वक मुक्त) का कथन है। 'यदि मुक्त से अबद्ध का अभिप्राय किया जावे तो मात्र अबद्ध का उत्तर हुआ, किन्तु फिर भी बद्ध के विषय में तो कोई उत्तर नहीं दिया गया। दूसरे उत्तर में भी इसके विषय में कुछ नहीं लिखा गया। आपके इस लिखने से यह जीव शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से विमुक्त (अबद्ध) है' यह भी सिद्ध हो जाता है कि व्यवहारनय से यह संसारी जीव बद्ध है। जैसा कि श्री अमृतचन्द्रसूरि ने कलश 25 में कहा है कि 'एकस्य बद्धो न तथा परस्य' अर्थात् 'यह जीव व्यवहारनय से बंधा है।' यह हमको भी इष्ट है।

(आ) यदि बंधा हुआ है तो किससे बंधा हुआ है?

इसके प्रथम उत्तर में आपने कहा था कि यह जीव सद्भूतव्यवहारनय से अपने रागादि भावों से बंधा हुआ है। असद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा ज्ञानावरणादि आठ द्रव्यकर्मों तथा औदारिक शरीर आदि नोकर्मों के साथ बद्ध है। इसके पश्चात् प्रसंग के बिना पुद्गलबंधादि का कथन किया। फिर कहा 'अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा जीव अज्ञानरूप अशुद्ध भावों से वास्तव में बद्ध है।' इस पर हमने यह लिखा था कि रागादिक तो कर्मोदयजनित व्यवहारनय से आत्मा के विकारी भाव हैं, जो बन्ध के कारण होने से भावबंध कहे जाते हैं, उनसे जीव का कथंचित् व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध तो है, क्योंकि विकारी पर्याय है। किन्तु स्वपर्याय के साथ बंध्य-बंधकभाव कदापि नहीं हो सकता। इसका आपने कोई उत्तर नहीं दिया। उसका अर्थ है कि वह आपको स्वीकृत है।

(इ) बंधा हुआ होने से वह परतन्त्र है या नहीं?

आपने प्रथम उत्तर में कहा था 'संसारी आत्मा अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा अपने अज्ञान भाव से बद्ध होने के कारण वास्तव में परतन्त्र है और असद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा उपचरितरूप से कर्म और नोकर्म की अपेक्षा भी परतन्त्रता घटित होती है।' इसके सम्बन्ध में हमने आप्तपरीक्षा कारिका 114 की टीका का प्रमाण देते हुए यह सिद्ध किया था कि आत्मा पौद्गलिक द्रव्यकर्मों के कारण परतंत्र ही रहा है और रागादि भाव परतन्त्रता स्वरूप है, इसलिये आत्मा के भाव स्वयं परतन्त्ररूप हैं, आत्मा की परतनत्रता के निमित्त नहीं हैं। इसका भी आपने कोई उत्तर नहीं दिया। इसका अर्थ है कि यह भी स्वीकार है।

मूल प्रश्न के इन तीनों खण्डों के प्रश्नोत्तर से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन तीन खण्डों के विषय में हममें और आपमें कोई मतभेद नहीं है।

असद्भूतव्यवहारनय का लक्षण प्रश्न उत्तर में है।

आपने इसी प्रश्न के अपने द्वितीय उत्तर में सर्वप्रथम असद्भूतव्यवहानय का लक्षण इस प्रकार किया है – 'एक द्रव्य के गुण-धर्म को अन्य द्रव्य का कहना यह असद्भूतव्यवहारनय है।' किन्तु प्रथम उत्तर में यह कहा था – असद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा ज्ञानावरणादि आठ द्रव्यकर्मों तथा औदारिक शरीरादि नोकर्म के साथ बंधा है अर्थात् दो भिन्न वस्तुओं का परस्पर सम्बन्ध असद्भूतव्यवहारनय का विषय है। इसी लक्षण को आपने आठवें प्रश्न में प्रथम उत्तर में इन शब्दों द्वारा लिखा है – 'दो या दो से अधिक द्रव्यों और उनकी पर्यायों में जो सम्बन्ध होता है, वह असद्भूत ही है।' इस प्रकार आपके द्वारा एक ही प्रश्न के दो उत्तरों में असद्भूत व्यवहानय के दो लक्षण कहे गये हैं। किन्तु यहाँ पर बन्ध का प्रकरण है और बन्ध दो भिन्न वस्तुओं में होता है। अतः इस प्रश्न में '**भिन्नवस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहारः**' अर्थात् भिन्न वस्तु जिसका विषय ही, वह असद्भूत व्यवहारनय है, वह लक्षण उपायोगी है। दूसरे यह लक्षण आध्यात्मिक दृष्टि से और '**स्वाश्रितो निश्रयः**' यह लक्षण भी आध्यात्मिक दृष्टि से है। अतः दोनों लक्षण अध्यात्मदृष्टि वाले लेने चाहिए। जब निश्चय का लक्षण अध्यात्मनय की अपेक्षा से ग्रहण किया जा रहा है तो व्यवहारनय का लक्षण भी अध्यात्मनय वाला होना चहिए।

चौथे खण्ड में यह प्रश्न शेष रहा गया कि छूटने का उपाय क्या है? इसका उत्तर भी बहुत सरल था कि 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र' छूटने का उपाय है। किन्तु यह उत्तर न देकर प्रथम उत्तर में यह लिखकर कि व्यवहार धर्म से जीव छूट नहीं सकता, व्यवहार धर्म का सर्वथा निषेध करना प्रारम्भ कर दिया। आपका ऐसा करना अप्रसांगिक था, क्योंकि निश्चय व व्यवहारधर्म सम्बन्धी स्वतंत्र प्रश्न नं. 4 है। फिर भी हमको इस पर लिखना पड़ा। अब द्वितीय उत्तर में आपने निश्चय-व्यवहारधर्म के साथ-साथ प्रेरकनिमित्त तथा नियति के नवीन प्रसंग उपस्थित कर दिये। यद्यपि निमित्त के लिये स्वतंत्र प्रश्न नं. 6 तथा नियति के लिये स्वतंत्र प्रश्न नं. 5 है। फिर भी उत्तरों में अप्रसांगिक कथनों से चर्चा जटिल बन जाती है और उलझन पैदा हो जाती है।

यह तो सुनिश्चित है कि व्यवहारधर्म साधन आँर निश्चयधर्म साध्य है। श्री कुन्दकुन्द भगवान् ने समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय आदि ग्रन्थों में तथा श्री अमृतचन्द्रसूरि व श्री जयसेन आचार्य ने श्री समयसार, श्री प्रवचनसार व श्री पंचास्तिकाय की टीकाओं में तथा श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने द्रव्यसंग्रह में, श्री ब्रह्मदेवसूरि ने बृहद्द्रव्यसंग्रह की टीका में तथा अन्य आचार्यों ने भी भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में यह कथन किया है कि व्यवहारधर्म तीर्थ या स्वर्णपाषाण है

और निश्चयधर्म तीर्थफल अथवा स्वर्ण है। इसका विस्तारपूर्वक विवेचन प्रश्न नं. 4 के प्रपत्र 2 में हो चुका है, जिसमें बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा 13 की टीका का प्रमाण देते हुए यह भी बतलाया गया है – जो निश्चय-व्यवहार को साध्य-साधकभाव से मानता है, वह सम्यग्दृष्टि है अर्थात् जो निश्चय-व्यवहार को साध्य-साधक भाव से नहीं मानता, वह मिथ्यादृष्टि है। इस सम्बन्ध में सर्व प्रमाण प्रश्न नं. 4 में दिये जा चुके हैं। उनको पुन: लिखकर उत्तर का कलेवर बढ़ाने से कुछ लाभ नहीं है। मात्र एक प्राचीन गाथा दी जाती है—

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह।
एएण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं॥

- समयसार, गाथा 12 की टीका

अर्थ – हे भव्यजीवो! यदि तुम जिनमत का प्रवर्तन करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों को मत छोड़ो, क्योंकि व्यवहारनय के बिना तो तीर्थ (साधन) का नाश हो जायेगा, निश्चय के बिना तत्त्व (साध्य) का नाश हो जायेगा।

इतना स्पष्ट आगम होने पर भी आप लिखते हैं – 'निश्चयरत्नत्रयस्वरूप जितनी विशुद्धि प्रगट होती जाती है, उसके अनुपात में उसके बाह्य में द्रव्यकर्म का अभाव होता हुआ व्यवहारकर्म की भी प्राप्ति होती जाती है।' आपका यह लिखना आगमविरुद्ध है। प्रथम तो द्रव्य कर्मोदय के अभाव में अन्तरंग विशुद्धता प्रगट होती है, क्योंकि मलिनता का कारण द्रव्यकर्मोदय है और कारण के अभाव में कार्य का भी अभाव हो जाता है। जैसे दीपक के अभाव में प्रकाश का भी अभाव हो जाता है, इसी प्रकार द्रव्यकर्मोदय के अभाव में मलिनता का अभाव हो जाने से विशुद्धता प्रगट हो जाती है। जिस प्रकार प्रकाश का अभाव दीपक के अभाव का ज्ञापक तो है, क्योंकि दीपक और प्रकाश में अविनाभाविसम्बन्ध है, किन्तु कारण नहीं है, उसी प्रकार अन्तरंग विशुद्धता कर्मोदय के अभाव का ज्ञापक तो है, किन्तु प्रकट कारण नहीं है। जैसे-जैसे कर्मपटलों का अभाव होता जाता है, वैसे-वैसे ही अप्रकट सम्यग्दर्शनादि रत्नसमूह होता जाता है। (धवल 1, पृ. 42) प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का क्या क्रम है, जिनको इसका ज्ञान है, वे भलिभांति जानते हैं कि मिथ्यात्वोदय में अनिवृत्तिकरण काल में प्रथम स्थिति के और द्वितीय स्थिति के मध्य के दर्शनमोहनीय निषेकों का अभाव हो जाने से अन्तराय में दर्शनमोहनीय का द्रव्य नहीं रहता और द्वितीय स्थिति के दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम हो जाने से प्रथम स्थितिकाल के समाप्त होने पर प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है, क्योंकि वहाँ पर

दर्शनमोहनीय का अभाव पहले ही हो चुका था (लब्धिसार)। दूसरे उपर्युक्त गाथा के विरुद्ध निश्चयरत्नत्रय को साधन और व्यवहाररत्नत्रय को साध्य बतलाया है। आप आगमविरुद्ध कार्यकारणभाव को विलोमरूप से कहते हैं, यही मतभेद का कारण है।

दूसरे उत्तर में 'निश्चय की अपेक्षा विचार करने पर जीव स्वयं अपने अपराध के कारण बद्ध है, अन्य किसी ने बलात् बाँध रखा है और उसके कारण वह बँध रहा हो-ऐसा नहीं है।' आपका ऐसा कथन आगमविरुद्ध है, क्योंकि निश्चयनय की दृष्टि में आत्मा बद्ध बँध नहीं है। जैसा कि समयसार गाथा 141 की टीका में श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने कहा है - 'जीव और पुद्गल कर्म की एक बन्ध पर्यायपने से देखने पर उनमें अत्यन्त भिन्नता का अभाव है, इसलिए जीव में कर्म बद्धस्पृष्ट है, ऐसा व्यवहार का पक्ष है। जीव को तथा पुद्गल को अनेक द्रव्यपने से देखने पर उनमें अत्यन्त भिन्नता है, इसलिए जीव में कर्म अबद्धस्पृष्ट है, यह निश्चयनय का पक्ष है।' इसी का कर्त्ताकर्माधिकार कलश नं. 25 में इन शब्दों में कहा है - '**एकस्य बद्धे न तथा परस्य**' अर्थात् व्यवहारनय की अपेक्षा आत्मा बद्ध है, निश्चयनय की अपेक्षा आत्मा बद्ध नहीं है। क्योंकि निश्चयनय का विषय दो द्रव्यों का या दो द्रव्यों की पर्यायों का सम्बन्ध नहीं है और अकेले जीव के बन्ध की उपपत्ति नहीं बनती, जैसा कहा भी है - '**स्वयं एकस्य पुण्यपापास्त्रव-संवरनिर्जराबंधमोक्षनुपपत्तेः।**' - समयसार गाथा १३ टीका

आप लिखते हैं - 'असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा उसके उस अपराध को ज्ञानावरणादि कर्मों पर आरोपित कर यह कहा जाता है कि ज्ञानावरणादि कर्मों के कारण यह बद्ध है।' असद्भूतव्यवहानय की अपेक्षा जीव ज्ञानावरणादि कर्मों से बद्ध है, यह बात सत्यार्थ है, किन्तु आपने इस सत्य सरल कथन को तरोड़-मरोड़कर आरोपित आदि शब्दों के प्रयोग द्वारा असत्य तथा जटिल बनाने का प्रयास किया है जो शोभनीय नहीं है। व्यवहार और निश्चय दो नय हैं और भगवान् का उपदेश भी इन दो नयों द्वारा हुआ है। दोनों ही नयों का विषय अपनी-अपनी नय की दृष्टि से सत्यार्थ है। किन्तु एक नय की दृष्टि से दूसरे नय का विषय न होने से उस दूसरे नय के विषय को अभूतार्थ कहा जाता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि दूसरे नय का विषय आकाश के पुष्प के समान सर्वथा असत्यार्थ है। इसी बात को श्री अमृतचन्द्रसूरि समयसार गाथा 14 में इन शब्दों द्वारा प्रकट करते हैं - अनादिकाल से बँधे हुए आत्मा को, पुद्गल कर्मों से बंधने-स्पर्शित होनेरूप अवस्था से अनुभव करने पर बद्धस्पृष्टता भूतार्थ है-सत्यार्थ है, तथापि पुद्गल से किंचित् मात्र भी स्पर्शित न होने योग्य आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने

पर बद्धस्पृशता अभूतार्थ है–अत्सत्यार्थ है अर्थात् जीव की एक ही बन्ध अवस्था को व्यवहार और निश्चय दो भिन्न–भिन्न दृष्टियों से देखने पर सत्यार्थ और असत्यार्थ दिखाई देती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि व्यवहारनय असत्यार्थ है या व्यवहारनय का विषय सर्वथा असत्यार्थ है। 'जीव ज्ञानावरणादि कर्मों से बद्ध है।' जब यह व्यवहारनय की दृष्टि से सत्यार्थ है तो उसमें जो आरोपादि शब्दों का प्रयोग हुआ है, वह विपरीत मान्यता के कारण हुआ है। श्री श्लोकवार्तिक पृ. 151 पर भी कहा है—

तदेवं व्यवहारनयसमाश्रयणे कार्यकारणभावो द्विष्ठः सम्बन्धः संयोगसमवायादि-वत्प्रतीतिसिद्धत्वात् पारमार्थिकः एव न पुनः कल्पनारोपितः, सर्वथाप्यनवद्यतवात्।

अर्थात् व्यवहारनय से दो पदार्थों मे रहनेवाला कार्य–कारणभाव परमार्थ है, काल्पनिक नहीं तथा सर्वथा निर्दोष है।

अन्य प्रश्नों के उत्तर में आपने भी व्यवहारनय के विषय को सत्यार्थ माना है।

'मोहनीय आदि द्रव्यकर्मों का क्षय होता है, तब विकार का निमित्त कारण हट जाने से आत्मा के रागद्वेष आदि नैमित्तिकभाव दूर हो जाते हैं व कर्म, रागद्वेष आदि आत्मा के विभाव भावों के प्रेरक निमित्तकारक हैं और रागद्वेष आदि आत्मा के विकृत भाव मोहनीय आदि द्रव्यकर्म के प्रेरक निमित्त कारण हैं।' इन दोनों कथनों को आप परस्पर विरुद्ध बतलाते हैं। किन्तु इन दोनों कथनों में कोई विरुद्धता नहीं है। जिस प्रकार का जितने अनुभाग के लिये घातिया कर्मों का उदय होता है, उसके अनुरूप आत्मा के परिणाम अवश्य होते हैं। इसका सविस्तार कथन प्रथम प्रश्न के द्वितीय प्रपत्र में हम कर चुके हैं। सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानवर्ती क्षपकश्रेणीवाले जीव के परिणाम बहुत विशुद्ध होते हैं और उदयागत मोहनीय कर्मों की शक्ति अतिसूक्ष्म होती है, किन्तु उस सूक्ष्म लोभ के अनुरूप आत्मा के परिणाम होते हैं, उदयागत घातिया कर्मों के अनुरूप आत्मा के परिणाम होते हैं, इसलिए कर्मों को प्रेरक कारण कहा है। सहकारी कारणों के सम्बन्ध सहित रागद्वेषरूप आत्म परिणाम से कर्मबन्ध होता है, अतः आत्मपरिणाम कर्मबन्ध के कारण हैं। कहा भी है—

प्रर्यते कर्म जीवेन जीवः प्रेर्यत कर्मणा।
एतयोः प्रेरको नान्यो नौ–नाविकसमानयोः॥ 106॥

- उपासकाध्ययन, पृ. 29, ज्ञानपीठ वनारस अथवा यशस्तिलकचम्पू

अर्थ - जीव कर्म को प्रेरित करता है और कर्म जीव को प्रेरित करता है। इन दोनों का

सम्बन्ध नौका और नाविक के समान है। कोई तीसरा इन दोनों का प्रेरक नहीं।

क्लेशय कारणं कर्म विशुद्धे स्वयमात्मनि।
नोष्णमम्बु स्वतः किन्तु तदौष्ण्यं बह्विसंश्रयम्॥ 247॥

- उपासकाध्ययन

अर्थ - आत्मा स्वयं विशुद्ध है और कर्म उसके क्लेश का कारण है। जैसे जल स्वयं गर्म नहीं होता, किन्तु आग के सम्बन्ध में उसमें गर्मी आ जाती है।

कर्मोदय क्लेश (राग-द्वेष-मोह) का कारण है। कर्मों का क्षय हो जाने पर अर्थात् कारण का अभाव हो जाने पर रागद्वेषादि कार्य का भी अभाव हो जाता है। मोक्षशास्त्र, अध्याय 10, प्रथम सूत्र में भी इसी प्रकार कहा है। जब दोनों कथन आगमानुकूल हैं, तब उनमें परस्पर विरोध आपको कैसे दृष्टिगोचर हो गया।

जिस निमित्त के अनुरूप कार्य हो, वह प्रेरक निमित्त है। न मालूम आपको यह कैसे ज्ञात हो गया कि जो निमित्त बलात् कार्य के स्वभाव को छोड़कर आगे-पीछे परद्रव्य में उत्पन्न करता हो, वह प्रेरक निमित्त है।

स्वकाल का अर्थ परिणमन है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभाव से प्रतिक्षण परिणमन करता रहता है। यह लक्षण सब द्रव्यों में घटित हो जाता है, इसलिए यह उनका स्वकाल है। इसी प्रकार श्रीमान् पं. फूलचन्द्रजी ने भी पंचाध्यायी पृ. 65 के विशेषार्थ में कहा है—

स्वकाल का अर्थ ग्रहण होने से उसका अर्थ परिणमन लिया गया है। जितने भी पदार्थ हैं, वे यद्यपि सदा ही परिणमनशील हैं, तथापि इस परिणमन की धारा में एकरूपता बनी रहती है, जीव का अजीव हो जाय या अजीव का जीव हो जाये - ऐसा कभी नहीं होता।

स्वकाल के इस लक्षण द्वारा आगे-पीछे का प्रश्न नहीं उठता। दूसरे आप भी जानते हैं और प्रत्यक्ष अनुभव में भी आता है कि विकारी पर्यायों का कोई काल सर्वथा नियत नहीं है। जिस समय उभय (अंतरंग-बहिरंग) निमित्ताधीन जो कार्य हो गया, वह ही उसका स्वकाल है। प्रतिसमय परिणमन करना द्रव्य का स्वभाव है, किन्तु अशुद्ध द्रव्य के अमुक समय अमुक ही पर्याय होगी - ऐसा सर्वथा नियत नहीं है। जब काल, सर्वथा नियत नहीं तो आगे-पीछे का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। इसका विशेष विवेचन प्रश्न नं. 5 में है।

आप लिखते है 'जिस प्रकार कर्मोदय-उदीरणा है, उसी प्रकार राग-द्वेष परिणाम भी है।

अत: कर्म आत्मा की बलात् परतन्त्र रखेगा और राग-द्वेष परिणाम बलात् कर्मबन्ध कराता रहेगा। ऐसी व्यवस्था में यह आत्मा त्रिकाल में बन्ध से छूटने के लिये प्रबल पुरुषार्थ कभी नहीं कर सकेगा और प्रबल पुरुषार्थ के अभाव में मुक्ति की व्यवस्था नहीं बन सकेगी।' जो कर्मशास्त्र से अनभिज्ञ है, उनकी इस प्रकार की शंका उठा करती है, किन्तु जो कर्मशास्त्र के विशेषज्ञ हैं, वे भलीभांति जानते हैं कि प्रत्येक समय में जो द्रव्यकर्म बंधता है, उसमें नाना वर्गणाएँ हैं और सभी वर्गणाओं में समान अनुभाग (फलदान शक्ति) नहीं होती, किन्तु भिन्न-भिन्न वर्गणाओं में भिन्न-भिन्न अनुभाग अर्थात् किसी वर्गणा में जघन्य, किसी में मध्यम और किसी में उत्कृष्ट अनुभाग होता है। मध्यम अनुभाग के अनेक भेद हैं और वर्गणा भी नाना है। इस प्रकार जिस समय जैसा अनुभाग उदय में आता है, उसके अनुरूप आत्मा के परिणाम होते हैं, क्योंकि कर्म के अनुभवन का नाम उदय है।

कर्मणामनुभवनमुदय:। उदयी भोज्यकाल:।

- प्राकृतपंचसंग्रह, पृ. 676, भारतीय ज्ञानपीठ

अर्थात् कर्म का अनुभवन उदय है और कर्म के भोगने का काल ही उदय है। हर समय एक प्रकार का उदय नहीं रहता, क्योंकि वर्गणाओं के अनुभाग में तारतम्यता पाई जाती है। जिस समय मन्द अनुभाग उदय में आता है, उस समय मन्द कषायरूप परिणाम होते हैं और उस समय ज्ञान व वीर्य का क्षयोपशम विशेष होने से आत्मा की शक्ति विशेष होती है। उस समय यदि यथार्थ उपदेश आदि का बाह्य निमित्त मिले और यह जीव तत्त्वविचारादि का पुरुषार्थ करे तो सम्यक्त्व हो सकता है। जैसे जिस समय नदी का बहाव मन्द होता है, उस समय मनुष्य यदि प्रयत्न करे तो पार हो सकता है। यह ही प्रश्न श्री ब्रह्मदेवसूरि के सामने भी उपस्थित हुआ था। उन्होंने बृहदद्रव्यसंग्रह गाथा 37 की टीका में इस प्रकार समाधान किया है, जो ध्यान देने योग्य है—

यहाँ शिष्य कहता है - संसारी जीव के निरन्तर कर्मबन्ध होता रहता है, इसी प्रकार कर्मों का उदय भी होता रहता है, शुद्ध आत्मध्यान का प्रसंग ही नहीं, तब मोक्ष कैसे हो सकता है? इसका उत्तर देते हैं - शत्रु की निर्बल अवस्था देखकर जैसे कोई बुद्धिमान विचार करता है कि वह मेरे मारने का अवसर है, इसलिए पुरुषार्थ करके शत्रु को मारता है। इसी प्रकार कर्मों की भी सदा एकरूप अवस्था नहीं रहती, स्थिति और अनुभाग की न्यूनता होने पर जब कर्म लघु अर्थात् मन्द होते हैं, तब बुद्धिमान् भव्य जीव, आगम भाषा से क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना,

प्रायोग्य और करण – इन पाँच लब्धियों से और अध्यात्मभाषा में निज शुद्धता के सम्मुख परिणाममयी निर्मल भावना विशेषरूप खड्ग से पौरुष करके कर्म शत्रु को नष्ट करता है।

इसी बात को इष्टोपदेश के टीकाकार ने भी इन शब्दों द्वारा कहा है—

कत्थं वि बलियो जीवो कत्थं वि कम्माइ हुंति वलियाइं।
जीवस्स य कम्मस्स य पुव्वविरुद्धाइ बइराइ॥

– इष्टोपदेश, गाथा 31 टीका

अर्थ – कभी जीव बलवान् होता है तो कभी कर्म बलवान् हो जाता है। इस तरह जीव और कर्मों का अनादि से वैर चला आ रहा है। इससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि सदाकाल कर्मोदय एक प्रकार का नहीं रहता, इसलिए जब जीव बलवान् होता है, तब जीव अपना हित चाहता है, जैसा कि इष्टोपदेश गाथा 31 में कहा है—

जीवो जीवहितस्पृहः।
स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे स्वार्थं को वा न वाञ्छति॥

अर्थात् जीव, जीव का हित चाहता है। सो ठीक ही है, अपने प्रभाव के बढ़ने पर अपने स्वार्थ को कौन नहीं चाहता अर्थात् जीव के बलवान् हो जाने पर जीव अपना अनन्तसुखरूपी हित करता है।

इन आगम प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है कि कर्म को प्रेरक निमित्तकारण मानने पर भी मोक्षरूपी पुरुषार्थ में कोई कठिनाई नहीं आती।

प्रेर्यमाणाः पुद्गलाः का जो वाच्य अर्थ है, वह ही जिनागम में इष्ट है, क्योंकि शब्दों का और अर्थ का परस्पर वाच्य–वाचक सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को स्वीकार न करके शब्दों का यदि अपनी इच्छानुसार अर्थ किया जायेगा तो सब विप्लव हो जायेगा, संसार में कोई व्यवस्था न रहेगी। '**प्रेर्यमाणाः**' शब्द से यदि आचार्यों को प्रेरक अर्थ का बोध कराना इष्ट नहीं था तो वे अन्य शब्द का प्रयोग कर सकते थे। अतः आपका यह लिखना '**आगम में प्रेर्यमाणाः पुद्गलाः**' इत्यादि वचन पढ़कर प्रेरक कारण स्वीकार करना अन्य बात है, पर उसका जिनागम में क्या अर्थ इष्ट है, इसे समझ कर सम्यक् निर्णय पर पहुँचना अन्य बात है। ठीक नहीं है, क्योंकि स्व इच्छा अनुसार अर्थ का अनर्थ करके अपनी गलत मान्यता को पुष्ट करना उचित नहीं है।

आपने जो समयसार गाथा 116 का टीकार्थ उद्धृत किया है, उससे यह सिद्ध नहीं होता

कि जीव परिणाम निमित्त बिना ही पुद्गलद्रव्य कर्मभावरूप परिणम जाता है। उसमें तो मात्र उन अन्य मतों का खण्डन किया है, जो द्रव्य को सर्वथा अपरिणामी अर्थात् नित्य कूटस्थ मानते हैं। यदि आपके अभिप्रायानुसार यह मान लिया जावे कि आत्मपरिणाम निमित्त बिना पुद्गल कर्मभावरूप परिणम जाता है तो समयसार गाथा 80-81 से विरोध आ जायगा जिसमें '**जीवपरिणामहेदु**' शब्द है।

'करता है, परिणमाता है, उत्पन्न करता है, ग्रहण करता है, त्यागता है, बाँधता है, प्रेरता है' इत्यादि शब्दों द्वारा आगम में प्राय: प्रेरकनिमित्त की सामर्थ्य को प्रकट किया है। स्वकाल का उत्तर ऊपर दिया जा चुका है। समसार गाथा 107 व उसकी टीका से स्पष्ट है कि वह गाथा निमित्तकारण की अपेक्षा से नहीं लिखी गई, किन्तु उपादान की अपेक्षा से लिखी गई है। जैसा कि टीका में 'व्याप्यव्यापक' शब्द से स्पष्ट है। इससे प्रेरक निमित्तकर्त्ता का खण्डन नहीं होता। निमित्तकर्त्ता को आपने अपने स्वयं प्रश्न नं. 1 व प्रश्न नं. 16 के उत्तर में स्वीकार भी किया है।

श्लोकवार्तिक पृ. 410 का कथन प्रेरक निमित्तकारण के विषय में नहीं है, किन्तु धर्मादि द्रव्यों के विषय में है जो अप्रेरक है। दूसरे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध निश्चयनय का विषय नहीं है, किन्तु व्यवहारनय का विषय है, क्योंकि दो या दो से अधिक भिन्न वस्तुओं का परस्पर सम्बन्ध व्यवहारनय का विषय है। जैसा कि '**भिन्नवस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहार:।**' आलापपद्धति में कहा है और आपने भी इसी प्रश्न के प्रथम उत्तर में माना है। इसलिये श्री श्लोकवार्तिक पृ. 410 पर यह स्पष्ट लिख दिया है कि 'व्यवहारनय की' अपेक्षा से विचार करने पर ही उत्पादादिक सहेतुक प्रतीत होते है। और पृ. 151 पर भी लिखा है - 'व्यवहारनय का आश्रय करने पर कार्य-कारणभाव दो पदार्थों में रहनेवाला भाव सिद्ध होता है। वह वास्तविक है, काल्पनिक नहीं है, सर्वथा निर्दोष है।'

धवल पु. 6, पृ. 162 में पुरुषवेद, हास्य रति तथा देवगति, समचतुरस्रसंस्थान आदि 11 शुभनामकर्म व उच्चगोत्र कर्मों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम बतलाया है और सूत्र 18 में नपुंसकवेद, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा तथा नरकगति, तिर्यग्यगति, एकेन्द्रियजाति, पंचेन्द्रियजाति आदि नामकर्म की प्रकृतियों व नीचगोत्र का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध बीस कोड़कोड़ी सागरोपम कहा है। इस पर प्रश्न स्वाभाविक है कि नोकषाय, नामकर्म व गोत्र की उत्तर-प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध एक समान होना चाहिए, यह विभिन्नता क्यों? इसका उत्तर री वीरसेनस्वामी ने पृ. 164 में दिया हे। उसका तात्पर्य यह है कि—

(1) सूत्र 16 की प्रकृतियों की अपेक्षा सूत्र 18 की प्रकृतियों में विशेषता है, इसलिए इनके उत्कृष्ट स्थिति बन्ध अन्तर है।

(2) सभी कार्य एकान्त से बाह्य अर्थ (कारण) की अपेक्षा करके हो नहीं उत्पन्न होते। इसलिए कहीं पर भी अंतरंग कारण से ही (उपादन कारण के समान) कार्य की उत्पत्ति होती है, ऐसा निश्चय करना चाहिए।

जहाँ पर शालि-धान्य के बीज से जौ की उत्पत्ति का निषेध करने से भी यह ही फलितार्थ होता है कि अंतरंग कारण से ही अर्थात् उपादानकारण के समान ही कार्य की उत्पत्ति होती है, क्योंकि—

उपादानकारणसदृशं कार्यं भवतीति वचनात्।

अर्थात् उपादानकारण के सदृश कार्य की उत्पत्ति होती है - ऐसा आगम का वचन है। नं. 2 में 'एकान्त से' शब्द पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस नं. 2 में उनकी मान्यता का निषेध किया गया है जो उपादान की शक्ति बिना ही मात्र निमित्तकारणों से कार्य की उत्पत्ति मानते हैं, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि निमित्तकारणों के बिना ही कार्य की उत्पत्ति हो जायेगी। 'एकान्त से' शब्द के प्रयोग की कोई आवश्यकता न थी। यद्यपि कार्य उपादान के सदृश होता है, तथापि ऐसा भी नहीं है- उस पर बाह्य कारणों का प्रभाव न पड़ता हो। वह के वही बीज होने पर भी भूमि की विपरीतता से निष्पत्ति (फल) की विपरीतता होती है, अर्थात् भूमि में उसी बीज का अच्छा अन्न उत्पन्न होता है और खराब भूमि में वही अन्न खराब हो जाता है या अन्न उत्पन्न ही नहीं होता (प्रवचनसार गाथा 255 की टीका)। इसी प्रकार वर्षा का जल एक ही प्रकार का है, किन्तु नीम के वृक्ष के सम्बन्ध से वह कटुक रसरूप परिणम जाता है और ईख के सम्बन्ध से वह मधुर रस रूप परिणम जाता है। इस प्रकार के अनेकों दृष्टान्त आगम में दिये गये हैं और प्रत्यक्ष भी अनुभव में आते हैं। इस प्रकार धवल पु. 6, पृ. 164 से निमित्तकारण का खण्डन नहीं होता, मात्र इतना सिद्ध होता है कि उपादान के सदृश कार्य होता है। लोहे के आभूषण बनेंगे और सुवर्ण से सुवर्ण के आभूषण बनेंगे, यह तो नियम है। किन्तु अमुक समय अमुक ही आभूषण बनेगा—ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि कार्य की उत्पत्ति अंतरंग ओर बहिरंग निमित्ताधीन है - ऐसा वस्तुस्वभाव है। (स्वयंभूस्तोत्र 60)। अत: यह लिखना 'सर्वत्र कार्य की उत्पत्ति मात्र अंतरंग कारण से ही होती है।' एकान्त मिथ्यात्व का द्योतक तथा आगम व प्रत्यक्षविरुद्ध है तथा स्ववचन बाधित भी है, क्योंकि आपने प्रश्न नं. 11 के प्रथम उत्तर में

स्वभाव पर्याय में कालादि साधारण निमित्त तथा विकारी पर्याय में विशेष स्वीकार किये है। इसी प्रकार अन्य प्रश्नों के उत्तर में भी आपने अंतरंग और बहिरंग दोनों कारणों से ही कार्य की उत्पत्ति स्वीकार की है। प्रश्न नं. 1 के द्वितीय उत्तर में आपने स्वयं लिखा है – 'ऐसा नियम है कि प्रत्येक द्रव्य के किसी भी कार्य के पृथक् उपादान कारण के समान उसके स्वतन्त्र एक या एक से अधिक निमित्तकारण भी होते हैं। इसी का नाम कारकसाकल्य है। और इसीलिए जिन आगम में सर्वत्र यह स्वीकार किया गया है कि उभय निमित्त से कार्य की उत्पत्ति होती है।'

आपने धवल पु. 12, पृ. 36 की कुछ पंक्तियों को उद्धृत करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि अंतरंग कारण प्रधान है। यदि वह पूर्ण प्रकरण दे दिया गया होता तो यह स्पष्ट हो जाता कि अंतरंग कारण से क्या प्रयोजन है। अब प्रश्न यह रह जाता है कि सर्वत्र अंतरंग कारण प्रधान है या इस विवक्षित स्थलपर प्रधान है ? सर्वप्रथम विवक्षित स्थल की मीमांसा की जाती है। पृ. 35 सूत्र 46 में यह कहा गया है कि '**भाव की अपेक्षा नामकर्म की जघन्य वेदना अनन्तगुणी है॥ 46॥**' इसके पश्चात् सूत्र 47 में यह कहा गया है कि '**उससे (नाकर्म की जघन्य वेदाना से) वेदनीयकर्म की जघन्य वेदना अनन्तगुणी है॥ 47॥**' वेदनीय कर्म जघन्य वेदना चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में होती है। जिसके असातावेदनीय का उदय होने के कारण सातावेदनीय का द्विचरम समय में क्षय हो गया है और चरम समय में मात्र असातावेदनीय रह गई है। और नामकर्म का जघन्य अनुभाग, हतसमुत्पत्तिक कर्मवाले सूक्ष्म निगोदिया जीव के होता है। इसपर यह शंका हुई कि वेदनीय कर्म (असाता वेदनीयकर्म) का अनुभाग क्षपकश्रेणी में संख्यात हजार अनुभाग काण्डकघातों के द्वारा प्राप्त हो चुका है, इसलिए जो चिरंतन अनुभाग की अपेक्षा अनन्तगुणा हीन होता हुआ अयोगकेवली के अन्तिम समय में एक निषेक का अवलम्बन लेकर स्थित है, वह भला जो क्षपकश्रेणी में घात को नहीं प्राप्त हुआ है और जो संसारी जीवों के काण्डकघातों के द्वारा अपने उत्कृष्ट की अपेक्षा अनन्तगुणा हीन है, ऐसे नामकर्म के अनुभाग से अनन्तगुणा कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर देते हुए श्री वीरसेन स्वामी लिखते हैं – वह कोई दोष नहीं है, क्योंकि केवल अकषाय परिणाम ही अनुभागघात का कारण नहीं है (अर्थात् कर्मों की फलदानशकित के घात का कारण नहीं है)। किन्तु प्रकतिगत शक्ति की अपेक्षा रखनेवाला परिणाम अनुभागघात का कारण है। उसमें भी अंतरंग कारण प्रधान है, उसके उत्कृष्ट होने पर बहिरंग कारण के स्तोक करने पर भी अनुभागघात बहुत देखा जाता है तथा अंतरंग के स्तोक रहने पर बहिरंग कारण के बहुत होते हुए भी अनुभागघात बहुत नहीं होता।

यहां पर यह विचार करना है कि अंतरंग कारण कौन है 'अकषाय परिणाम' या प्रकृतिगत शक्ति की अपेक्षा रखनेवाला परिणाम। अकषाय परिणाम तो जीव का है और 'प्रकृतिगत शक्ति की अपेक्षा रखनेवाला परिणाम' पुद्गल का है। यहाँ पर पुद्गल परिणाम को अन्तरंग परिणाम से ग्रहण किया है ओर जीव परिणाम को बहिरंग कारण ग्रहण किया है। जो मात्र आत्मपरिणाम से मोक्ष मानते हैं उनके लिये यह विचारणीय हो जता है कि द्रव्यकर्म की शक्ति भी अपेक्षित है, मात्र अकषाय परिणाम से ही कर्मों का घात सम्भव नहीं है।

इसी धवल पुस्तक 12 में सहकारी कारणों की प्रधानता स्वीकार की गई है—

शंका - एक परिणाम भिन्न कार्यों को करनेवाला कैसे होता है? नहीं, 'क्योंकि, सहाकरी कारणों के सम्बन्ध भेद से उसके भिन्न कार्यों के करने में कोई विरोध नहीं है।'

- पृ. 453

शंका - एक संक्लेश से असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागसम्बन्धी छह स्थानों का बन्ध कैसे बन सकता है?

उत्तर - वह कोई दोष नहीं, क्योंकि, अनुभागबन्धाध्यवसानों के असंख्यात लोकप्रमाण छह स्थानों से सहित सहकारी कारण के भेद के कारण, एक ही संक्लेश से सहकारी कारणों के भेदों की संख्या के बराबर अनुभाग स्थानों के बन्ध में कोई विरोध नहीं आता। *- पृ. 380*

'असंख्यात लोकामत्र उत्तर (बहिरंग) कारणों की सहायतायुक्त उत्कृष्ट अन्तिम एक विशुद्धि के द्वारा बांधे जानेवाले अनुभाग के स्थान असंख्यात लोकमात्र है।' *- पृ. 120*

इसी वेदनाभावविधानानुयोगद्वार के इन तीन कथनों से यह सिद्ध हो गया कि बाह्य सहकारी कारणों के भेद से एक ही परिणाम से नाना प्रकार का अनुभाग बन्ध होता है अर्थात् मात्र सहकारी कारणों के भेद से अनुभागबन्ध में अन्तर पड़ जाता है। यहाँ पर सहाकारी कारण की प्रधानता है। इस विषय में एकान्त नियम नहीं, किन्तु अनेकान्त है। कहीं पर अन्तरंग कारण की प्रधानता होती है तो कहीं पर सहकारी कारणों की प्रधानता होती है।

सहकारी कारणों की प्रधानता को स्पष्ट करते हुए श्री वीरसेन स्वामी धवल पु. 1 संतरूवणाणुयोद्दार सूत्र 121 की टीका में लिखते है—

'मात्र संयम ही मनःपर्ययज्ञान की उत्पत्ति का कारण नहीं है, किन्तु अन्य भी मनःपर्ययज्ञान की उत्पत्ति के कारण हैं, इसलिए उन दूसरे हेतुओं के न रहने से समस्त संयतों के मनःपर्ययज्ञान

उत्पन्न नहीं होता है। वे दूसरे कौन से कारण है ? विशेष जाति के द्रव्य, क्षेत्र, कालादि अन्य कारण है जिनके बिना संयतो के मन:पर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होता है।'

इस प्रकार 'मात्र उपादान कारण से ही कार्य की उत्पत्ति हो जाती है और बाह्य कारण अकिंचित्कर है, इस एकान्त मान्यता का इन आगम प्रमाणों से खण्डन हो जाता है।'

प्रश्न नं. 6 के उत्तरों की चर्चा तो यथास्थान की जा चुकी है। आपने यह लिखा है कि व्यवहार के विषय को निश्चयरूप मानकर उत्तर दिये गये हैं। इसमें यदि 'निश्चय' से अभिप्राय वास्तव का है तो हमको इष्ट है। यदि अभिप्राय निश्चयनय से है तो आपने निश्चयनय के स्वरूप पर दृष्टि नहीं दी। निश्चयनय की दृष्टि में न बंध है, न मोक्ष है। बन्ध तो व्यवहारनय का विषय है। आप बन्ध को भी निश्चयनय का विषय बनाकर बाह्य कारणों का लोप करना चाहते हैं जो कि आगम और प्रत्यक्ष से विरुद्ध है।

समयसार की '**सम्मत्तपडिणिबद्धं**' इत्यादि तीन गाथाओं में '**मिच्छतं अण्णाणं और कषायं**' का अभिप्राय द्रव्यकर्म से है, जैसा कि इन तीन गाथाओं की उत्थानि का, टीका तथा कलश 110 से स्पष्ट है। उत्थानिका इस प्रकार है—

कर्मणो मोक्षहेतुतिरोधाविभावत्वं दर्शयति।

अर्थ - आगे कर्म का मोक्ष के कारणभूत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रों का तिरोघायिपन दिखलाते है।

दूसरी टीका की उत्थानिका—

अथ पूर्व मोक्षहेतुभूतानां सम्यक्त्वादिजीवगुणानां मिथ्यत्वादिकर्मणा प्रच्छन्नं भवतीति कथितम्। इदानीं तद्गुणाधारभूतो गुणी जीवो मिथ्यात्वादिकर्मणा प्रचछाद्यते इति प्रकटीकरोति।

अर्थात् पूर्व गाथा 160 में '**सव्वणाणदरिसी कम्मरएण अवच्छण्णो**' (सबको जाननेवाला और देखनेवाला है तो भी कर्मरूपी रज से आच्छादित हुआ) पद के द्वारा यह बतलाया जा चुका है कि मोक्ष के कारण सम्यक्त्वादि जीवगुण मिथ्यात्व आदि कर्मों के द्वारा आच्छादित है। अब उन गुणों का आधारभूत गुणी जीव, मिथ्यात्वादि कर्मों द्वारा आच्छादित है, इस बात को प्रगट करते हैं। इन तीनों गाथाओं की टीका में श्री अग्रसेन आचार्य लिखते है—

शुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररूपं तद्व्यापारेणोपार्जितं वाशुभाशुभकर्म मोक्षकारणं न भवति।

अर्थात् शुभाशुभ मन-वचन-काय का व्यापार तथा उस व्यापार से उपार्जित शुभाशुभ कर्म मोक्ष के कारण नहीं होते।

शुभाशुभ मन-वचन-काययोग के द्वारा शुभाशुभ द्रव्यकर्म का आस्रव होता है—ऐसा तत्त्वार्थसूत्र अध्याय छह में कहा गया है। इस टीका से भी स्पष्ट है कि इन तीन गाथाओं में कर्म से अभिप्राय द्रव्यकर्म से है। इन गाथाओं के दूसरे कलश में आये हुए **'यावत्पादकमुपैति'** (जब तक कर्म विपाक का उदय है) तथा **'समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म'** (कर्म के उदय की जबरदस्ती से आत्मा के वश बिना कर्म उदय होता है)। इसी कलश की उत्थानिका में महान् विद्वान् तथा अनेकों ग्रन्थों के आगमानुकूल अनुवाद करनेवाले श्रीमान् पं. जयचन्द्रजी इस प्रकार लिखते है-

आगे अशंका उत्पन्न होती है कि अविरतसम्यग्दृष्टि आदि के जब तक कर्मोदय है, तब तक ज्ञान मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है।

इस उत्थानिका से भी यही ज्ञात होता है कि इन तीन गाथाओं में द्रव्यकर्म का प्रकरण है। कलश नं. 111 का जो अर्थ आपने दिया ळे उसमें भी ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्मपिण्ड पद द्रव्यकर्म का द्योतक है।

आप लिखते हैं कि 'यद्यपि निमित्तों का सम्यग्ज्ञान कराने के लिये आगम में कर्मों की मुख्यता से व्यवहार नयप्रधान कथन बहुलता से आया है, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु इस जीव को संसार का कारण इसका अपना आपराध है।' 'इसमें यद्यपि निमित्तों का सम्यग्ज्ञान कराने के लिये' ये शब्द किसी आगम के तो हैं नहीं, किन्तु आपकी निजी नवीन कल्पना है जो कि मान्य नहीं है। व्यवहारनय प्रधान इसलिए हैं कि दो भिन्न द्रव्यों का परस्पर सम्बन्ध व्यवहारनय का विषय है, निश्चयनय का विषय नहीं है - ऐसा आपको भी स्वीकार है। 'अपराध' सहेतुक है या निर्हेतुक ? यदि निर्हेतुक है तो वह जीव का स्वभाव हो जायेगा और नित्य हो जायेगा, क्योंकि जो स्व-परप्रत्यय नहीं, वह स्वाभाविक पर्याय है - ऐसा आपने प्रश्न नं. 4 व 11 के उत्तर में स्वीकार किया है। दूसरे जिसका कोई हेतु नहीं होता और विद्यमान है, वह नित्य है (आप्त परीक्षा पृ. 4 वीरसेवामन्दिर)। यदि अपराध सहेतुक है तो हेतु के अभाव के बिना अपराध का भी अभाव नहीं हो सकता। जैसा कि समयसार गाथा 283-285 की टीका में श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है- '**आत्मा आपसे रागादि भावों का अकारक है।**' इसलिए यह सिद्ध हुआ कि परद्रव्य तो निमित्त है और नैमित्तिक आत्मा के रागादिक भाव (अपराध) है। जब तक रागादिक का निमित्तभूत परद्रव्य का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान न करे, तब तक नैमित्तिकभूत रागादि

भावों (अपराधों) का प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान नहीं हो सकता? इसलिए अपराध के कारणरूप परद्रव्य का प्रथम त्याग होना चाहिए। उसके पश्चात् ही अपराध का दूर होना सम्भव है। यह सत्य है कि अपराध दूर हुए बिना कल्याण नहीं हो सकता, किन्तु उस अपराध के त्याग का मार्ग क्या है। पर-वस्तु के त्याग बिना अपराध का त्याग सम्भव नहीं है। दिगम्बरेतर समाज तो बाह्य त्याग बिना भी अपराध का त्याग मानते हैं। किन्तु दिगम्बर धर्म में तो प्रथम परद्रव्य का त्याग बतलाया है। अथवा पूर्व संस्कारवश कुछ दिगम्बरी भी इतर समाज के समान प्रथम अपराध त्याग को बतलाते हैं।

आपने कलश 220 अद्‌धृत किया। किन्तु वह तो एकान्तवादियों के लिये लिखा गया है जो मात्र परद्रव्य से ही रागद्वेष की उत्पत्ति मानते हैं। जैसा कि कलश नं. 211 में '**रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते**' (जो पुरुष राग की उत्पत्ति में परद्रव्य का ही निमित्तपना मानते है) इन शब्दों से स्पष्ट है। यदि ऐसा न माना जावे तो कलश नं. 220 का कलश नं. 16 बन्धाधिकार तथा टीका गाथा नं. 283-285 से विरोध का प्रसंग आ जावेगा, किन्तु एक ही ग्रन्थ में पूर्वापर विरोध सम्भव नहीं है।

आपने लिखा है कि दूराति-दूर भव्य भी मुनिचर्या (व्यवहारचारित्र) के द्वारा अहमिन्द्र पद पा सकता है, किन्तु आपका ऐसा लिखना आगमानुकूल नहीं है, क्योंकि दूरातिदूर भव्य को शीलवती विधवा का दृष्टान्त दिया गया है। अर्थात् जिस प्रकार शीलवती विधवा के पति का निमित्तकारण न मिलने से पुत्र की उत्पत्ति नहीं हो सकती, उसी प्रकार दूरातिदूर भव्य को गुरु उपदेश आदि का निमित्त न मिलने से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती; इसलिए दूरातिदूर भव्य जीव मुनिलिंग अथवा व्यवहारचारित्र धारणकर अहमिन्द्र नहीं हो सकते। दूरातिदूर भव्य-नित्यनिगोद में होते हैं, क्योंकि उनको कभी भी निमित्तकारण नहीं मिलेगा। जयधवल पु. 1, पृ. 381 पर कहा भी है- 'किन्हीं जीवों के अवस्थित विभक्तिस्थान (मोहनीय कर्म के 26 प्रकृतिकस्थान) अनादि अनन्त होता है, क्योंकि जो अभव्य है या अभव्यों के समान नित्यनिगोद को प्राप्त भव्य हैं, उनके अवस्थित स्थान के सिवाय भुजगार या अल्पतर स्थान (अन्य स्थान) नहीं पाये जाते हैं। इस प्रकार दूरातिदूर भव्य के विषय में आपका कथन आगमानुकूल नहीं है।'

'व्यवहारचारित्र प्रत्येक दशा में सफल है' ऐसा कहने से हमारा यह प्रयोजन रहा है कि जो भव्य है, उनके लिये तो व्यवहारचारित्र परम्परा मोक्ष का कारण है तथा निश्चय चारित्र का साधक है और जो अभव्य है, उनको कुगति में गिरने से बचाता है। इस विषय मं निम्न उपयोगी श्लोक है—

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्बत नारकं।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान्॥ 3॥

- इष्टोपदेश

अर्थ - व्रतों के द्वारा देवपद प्राप्त करना अच्छा है, किन्तु अव्रतों के द्वारा नरक पद प्राप्त करना अच्छा नहीं है। जैसे छाया और धूप में बैठनेवालों में अन्तर पाया जाता है, वैसे ही व्रत अव्रत के आचरण पालन करनेवालों में अन्तर पाया जाता है।

निश्चय-व्यवहारचारित्र की चर्चा प्रश्न नं. 4 के उत्तर में सविस्तार हो चुकी है। उसको पुनः यहाँ लिखने से पुनरुक्ति का दोष आ आयगा। इस सम्बन्ध में प्रश्न नं. 4 पर हमारा प्रपत्र देखना चाहिए।

आपने सर्वार्थसिद्धि 7।19 की टीका उद्धृत की है। उसमें आपने इन पदों पर ध्यान नहीं दिया है -

चारित्रमोहोदये सत्यगारसम्बन्धं प्रत्यनिवृत्तः परिणामो भावागारमित्युच्यते।

चरित्रमोह के उदय होने से (2) पर से सम्बन्ध का त्याग नहीं किया ऐसे जो परिणाम वे भावागार कहे जाते हैं। इससे तो आपके मत का ही खण्डन होता है- (1) कर्मोदय के होने पर आत्म-परिणाम होते हैं, यहाँ ऐसा कहा गया है, जो आपकी मान्यता के विरुद्ध है। (2) 'घर से सम्बन्ध का त्याग नहीं किया' (अर्थात् परवस्तु का त्याग नहीं किया) इससे भी यह सिद्ध हुआ कि परवस्तु का त्याग किये बिना भावों का त्याग नहीं हो सकता। यह ही तो श्री अमृतचन्द्रसूरि ने समसार गाथा 283-285 की टीका में कहा है। जिसको आप स्वीकार नहीं कर रहे हैं। भावागार का त्यागवाला घर में नहीं रह सकता, किन्तु शून्यागार में ठहर सकता है। आपने यहाँ पर अर्थ ठीक नहीं किया। आपने स्वयं अर्थ इस प्रकार किया था - **यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यहाँ पर भावागार विवक्षित है। चारित्रमोहनीय का उदय होने पर जो परिणाम घर से निवृत्त नहीं है, वह भावागार कहा जाता है। वह जिसके है वह वन में निवास करते हुए और घर में रहते हुए भी आगारी है और जिसके इस प्रकार का परिणाम नहीं, वह अनगार है।** (ज्ञानपीठ सर्वार्थसिद्धि पृ. 357) इस अर्थ में अनगार को घर में बैठना नहीं लिखा, जब कि वर्तमान अर्थ में अनगार को घर बैठन लिखा है जो आगम अनुकूल नहीं।

आप लिखते हैं कि 'निश्चयनयचारित्र होने पर व्यवहारचारित्र होता है।' यदि आपके कथनानुसार निश्चयचारित्रपूर्वक व्यवहारचारित्र माना जावेगा तो भावसंयमरूप सातवां गुणस्थान

होने पर वस्त्र त्याग, केशलोन्च, महाव्रत धारण आदि व्यवहारचारित्र की क्रिया होगी, जिसक अर्थ यह होगा कि सप्तम गुणस्थान वस्त्रधारी के हो जायगा और ऐसा होने से सवस्त्रमुक्ति सिद्ध हो जायगी जिसका दिगम्बर जैन आर्षग्रन्थों में खण्डन है। जिनके पूर्व संस्कार बने हुए हैं ऐसे दिगम्बर तो कह सकते हैं कि निश्चयचारित्र पूर्वक व्यवहार चारित्र होता है, किन्तु जिनको दिगम्बर जैन आर्षग्रन्थों पर श्रद्धा है, वे तो यह ही कहेंगे कि प्रथम केशलोंच, वस्त्रत्याग, महाव्रत आदि ग्रहण के द्वारा मुनिदीक्षा के होने पर सप्तम गुणस्थान सम्भव है।

जिसके किंचित्मात्र भी त्यागरूप चारित्र नहीं अर्थात् मद्य, मांस, मधु, नवनीत और पाँच उदम्बर फल का त्याग नहीं वे जिनधर्मोपदेश के भी पात्र नहीं हैं—

अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः॥ 74॥

- पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

अर्थ - अनिष्ट दुस्तर और पापों के स्थान इन आठों (5 उदुम्बर फल, मद्य, मांस, मधु) का त्याग करके निर्मल बुद्धिवाले पुरुष जिनधर्म के उपदेश के पात्र होते हैं।

मोक्ष प्राप्ति का बहुत सुन्दर उपाय श्री अमृतचन्द्रसूरि ने निम्न श्लोक द्वारा बतलाया है जिसमें निश्चय व व्यवहार को समान रखा है—

सम्यक्त्वचारित्रबोधलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः।
मुख्योपचाररूपः प्रापयति परे पदे पुरुषं॥ 222॥

- पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

अर्थ - निश्चय-व्यवहाररूप सम्यग्दर्शन-चारित्र-ज्ञानलक्षणवाला मोक्षमार्ग आत्मा को परम पद प्राप्त कराते है अर्थात् निश्चय-व्यवहार रूप धर्म ही बन्ध से छूटने का उपाय है।

नोट - इस विषय में प्रश्न नं. 4 का व्यवहार धर्म व निश्चय धर्म का विवरण देखिये।

●

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलं॥

शंका - 9

मूल प्रश्न 9 - सांसारिक जीव बद्ध है या मुक्त ? यदि बद्ध है तो किससे बँधा हुआ है और किसी से बँधा हुआ होने से वह परतन्त्र है या नहीं ? यदि वह बद्ध है तो उसके बन्धनों से छुटने का उपाय क्या है ?

प्रतिशंका - 3 का समाधान

1. उपसंहार

अपने प्रथम उत्तर में ही हमने यह स्पष्ट कर दिया था कि संसारी अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा बद्ध है और वह रागादि विकारी भावों से बद्ध है, असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा उसके बद्ध होने का व्यवहार है और इस अपेक्षा से वह ज्ञानावरणादि कर्मों से बद्ध है। शुद्ध निश्चयनय से वह सदा चैतन्यमूर्ति है, इसलिए इनसे बद्ध नहीं है। परतन्त्रता का विचार भी इसी प्रकार कर लेना चाहिए। बन्धन से छूटने के उपाय का निर्देश करते हुए बतलाया था कि अपने परम निश्चय परमात्मस्वरूव आत्मा का अवलम्बन लेने से तन्मय परिणमन द्वारा वह मुक्त होता है। साथ ही यह भी बतला दिया गया था कि **उसके अन्तरंग में निश्चय रत्नत्रय स्वरूप जितनी जितनी विशुद्धि प्राप्त होती जाती है, उसके अनुपात में इसके द्रव्य-भाव कर्म का भी अभाव होता जाता है।**

इस पर अपर पक्ष का कहना है कि 'जीव का राग-द्वेषादि भावों के साथ व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है, बन्ध्य-बन्धक सम्बन्ध नहीं।......... इसलिए जीव ज्ञानावरणादि कर्मों से बद्ध और परतन्त्र है। मोहनीय आदि द्रव्य-कर्म राग-द्वेषादि विकारी भावों के प्रेरक निमित्त कारण हैं तथा आत्मा के राग-द्वेष आदि विकृत भाव मोहनीय आदि द्रव्य कर्मबन्ध के प्रेरक निमित्त कारण है। जब आत्मा के प्रबल पुरुषार्थ से माहेनीय आदि द्रव्यकर्मों का क्षय होता है, तब विकार का निमित्त कारण हट जाने से राग-द्वेष आदि नैमित्तिक विकार भाव दूर हो जाते हैं। उस दशा में आत्मा की परतन्त्रता भी दूर हो जाती है।'आदि।

अपने दूसरे उत्तर में हमने अपने प्रथम उत्तर का तो समर्थन किया ही है, साथ ही पिछली प्रतिशंका में जिन विशेष बातों की चर्चा की गई है, उन पर भी विचार किया है। इसमें प्रेरक कारण का आशय क्या है, इस पर सुन्दर प्रकाश डाला गया है।

2. प्रतिशंका 3 का समाधान

प्रतिशंका 3 उपस्थित करते हुए अपर पक्ष ने मूल प्रश्न को चार खण्डों में विभाजित कर दिया है। इनमें से (अ) खण्ड का जो उत्तर हमने प्रथम और द्वितीय उत्तर में दिया है, वह नयविभाग को दिखलाते हुए दिया गया था। (आ) खण्ड का उत्तर भी उसी से हो जाता है।

(आ) इस खण्ड पर प्रकाश डालते हुए अपर पक्ष का कहना है कि 'रागादिक तो कर्मोदय जनित व्यवहारनय से आत्मा के विकारी भाव है, जो बन्ध के कारण होने से भावबन्ध कहे जाते हैं। उनसे जीव का कथंचित् व्याप्य-व्यपक सम्बन्ध तो है, क्योंकि विकार पर्याय है, किन्तु स्वपर्याय के साथ बन्ध्य-बन्धक सम्बन्ध कदापि नहीं हो सकता।'

समाधान यह है कि द्रव्यकर्म के उदय को निमित्तकर आत्मा में जो विकारी भाव रागादि उत्पन्न होते हैं, वे अशुद्ध निश्चयनय से जीव के ही है। अध्यात्म में शुद्ध निश्चयनय की मुख्यता है; इसलिए उन्हें वहाँ व्यवहारनय से जीव का कहा गया है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य जयसेन समयसार गाथा 57 की टीका में लिखते हैं—

***ननु वर्णादयी बहिरंगास्तत्र व्यवहारेण क्षीरनीरवत्संश्लेषसम्बन्धो भवतु नाचाभ्यन्तराणां रागादीनाम्, तन्नाशुद्धनिश्चयेन भावितव्यमिति? नैवम्, द्रव्यकर्मबन्धापेक्षया योऽसौ* असद्भूतव्यवहारस्तदपेक्षया तारतम्यज्ञापनार्थं रागादीनामशुद्धनिश्चयी भण्यते। वस्तुतस्तु शुद्धनिश्चयपापेक्षया पुनरशुद्ध निश्चयोऽपि व्यवहार एवेति भावार्थः।**

शंका - वर्णादिक बहिरंग है। वहाँ व्यवहार से क्षीर-नीर के समान संश्लेषण सम्बन्ध होओ, अभ्यन्तर रागादिक का यह सम्बन्ध नहीं बनता, वहाँ अशुद्ध निश्चय होना चाहिए?

समाधान - ऐसा नहीं, क्योंकि द्रव्यकर्म बन्ध की अपेक्षा तो असद्भूत व्यवहार है, उसकी अपेक्षा तारतम्य का ज्ञान कराने के लिए रागादि को अशुद्ध निश्चय कहा जाता है। वास्तव में तो शुद्ध निश्चय की अपेक्षा अशुद्ध निश्चय भी व्यवहार ही है, यह उक्त कथन का भावार्थ है।

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि रागादि जीव के हैं, इस कथन को जो व्यवहार कहा गया है, वह शुद्ध निश्चय की अपेक्षा अशुद्ध निश्चय भी व्यवहार है - इस तथ्य को ध्यान में रखकर ही कहा गया है। अपर पक्ष ने जीव में और रागादिक में व्याप्य-व्यापकभाव तो स्वीकार किया ही है; इसलिए वे अशुद्धनिश्चय से जीव के ही है ऐसा स्वीकार करने में भी अपर पक्ष को आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

अपर पक्ष का कहना है कि वे (रागादि भाव) 'बन्ध के कारण होने से भाव बन्ध कहे जाते है।' समाधान यह है कि वे मात्र बन्धके कारण होने से भावबन्ध नहीं कहे गये हैं, किन्तु वस्तुत: जीव उनके साथ एकत्व (तादात्म्य) रूप परिणत रहा है, इसलिए यथार्थ में जीव के साथ बद्ध होने से आगम में उन्हें भावबन्धरूप कहा गया है। धवला पु. 14, पृ. 2 में बन्ध का लक्षण करते हुए लिखा है—

दव्वस्स दव्वेण दव्व-भावाणं वा जो संजोगी समवाओ वा सो बंधो णाम।

द्रव्य का द्रव्य के साथ तथा द्रव्य और भाव का क्रम से जो संयोग और समवाय है, वह बन्ध कहलाता है।

इससे सिद्ध है कि रागादि भाव, द्रव्यकर्म बन्ध के कारण होने मात्र से भावबन्ध नहीं कहलाते, किन्तु एक तो वे जीव के भाव हैं और दूसरे जीव उनसे बद्ध है, इसलिए उन्हें भावबन्ध कहते हैं। अपर पक्ष इसके लिए धवला पु. 14 पर दृष्टिपात कर ले, सब स्थिति स्पष्ट हो जायेगी।

अपर पक्ष का कहना है कि 'स्वपर्याय के साथ बन्ध-बन्धक सम्बन्ध कदापि नहीं हो सकता।' समाधान यह है कि आगम में बन्ध के तीन भेद बतलाये हैं - पुद्गलबन्ध, जीवबन्ध और तदुभयबन्ध। इनका स्वरूप निर्देश हम प्रथम उत्तर में कर आये हैं। इनमे ंसे पुद्गलबन्ध और तदुभवबन्ध ये दोनों बन्ध असद्भूत व्यवहारनय से कहे गये है तथा जीवबन्ध अशुद्ध निश्चयनय का विषय है। प्रवचनसार गा. 189 की टीका में आचार्य जयसेन लिखते हैं—

किं च रागादीनेवात्मा करोति तानेव भंक्ते चेति निश्चयनयलक्षणमिदम्। अयं तु निश्चयनयो द्रव्यकर्मबन्धप्रतिपादका-सद्भूतव्यवहारनयापेक्षया शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको विवक्षितनिश्चय-स्तयैवाशुद्धनिश्चयश्च भण्यते। द्रव्यकर्माण्यात्मा करोति भुंक्ते चेत्यशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मका-सद्भूततव्यवहारनयो भण्यते।

रागादिक को ही आत्मा करता है और उन्हीं को भोगता है, यह निश्चयन का लक्षण है। किन्तु यह निश्चयनय द्रव्यकर्मबन्ध के प्रतिपादक असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा शुद्ध द्रव्य अर्थात् स्वाश्रित निरूपण स्वरूप विवक्षित निश्चयनय उसी प्रकार अशुद्धनिश्चयनय कहा जाता है। द्रव्यकर्मों को आत्मा करता है और भोगता है, इस प्रकार अशुद्धद्रव्य अर्थात् पराश्रित निरूपणस्वरूप असद्भूत व्यवहारनय कहा जाता है।

इससे स्पष्ट है कि जैसे जीव और कर्म में कर्त्ता-कर्मभाव तथा भोक्ता-भोग्य भाव असद्भूत

व्यवहानय का विषय है, वैसे ही इन दोनों में बन्ध्य-बन्ध्यकभाव यह भी असद्भूतव्यवहारनय का विषय है। असद्भूत व्यवहार का लक्षण है - भेद होने पर भी अभेद का उपचार करना।

प्रवचनसार गा. 188 को आचार्य जयसेनकृत टीका में कहा भी है—

भेदऽप्यभेदोपचारलक्षणेननासद्भूतव्यवहारेण बन्ध इत्यभिर्धायते।

इस प्रकार उक्त आगम प्रमाण के प्रकाश में विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि दो द्रव्यों में बन्ध्य-बन्धक सम्बन्ध यथार्थ तो नहीं है। किन्तु असद्भूतव्यवहानय की अपेक्षा दो द्रव्यों में परस्पर अत्यनत भेद होने पर भी अभेद का उपचार करके यह कहा जाता है। इसी तथ्य को वे प्रवचनसार गाथा 96 की टीका में स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

यथा वस्त्रं लोध्रादिद्रव्यैः कषायितं रञ्जितं सन्मञ्जीष्ठादिरङ्गद्रव्येण रञ्जितं सदभेदेन रक्तमित्युच्यते तथा वस्त्रास्थानीय आत्मा लोध्रादिद्रव्यस्थानीयमीहरागद्वेषैः कषायितो रञ्जितः परिणतो मञ्जीष्ठस्थानीयकर्मपुद्गलैः संश्लिष्टः सन् भेदेऽप्यभेदोपचारलक्षणेना-सद्भूतव्यवहारेण बन्ध इत्यभिधीयते।

जैसे वस्त्र लोध्रादि द्रव्यों से कषायित-रंजित होकर मजीठा आदि रंग द्रव्य से रंगा जाकर अभेद से रक्त ऐसा कहलता है उसी प्रकार वस्त्रस्थानीय आत्मा लोध्रादि द्रव्यस्थानीय मोह, राग, द्वेष से मोह राग द्वेषरूप परिणत होता हुआ मजीठास्थानीय कर्मपुद्गलों से संश्लिष्ट होकर भेद में भी अभेद का उपचार करके असद्भूतव्यवहारनय से बन्ध, ऐसा कहा जाता है।

इससे यह स्पष्ट है कि आत्मा कर्म पुद्गलों से बद्ध है, यह कथन असद्भूतव्यवहारनय का वक्तव्य होने से उपचरित ही है। वास्तविक बन्ध-बन्धक सम्बन्ध कोई दूसरा होना चाहिए, अतः आगे उसी का विचार करते हैं—

1. भावबन्ध के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए आचार्य अमृतचन्द्र पंचास्तिकाय गाथा 147 की टीका में लिखते हैं—

तदत्र मोहारागद्वेषस्निग्धः सुभोऽशुभो वा परिणामो जीवस्य भावबन्धः।

इसलिए यहाँ पर मोह, राग, द्वेष से स्निग्ध हुआ शुभ और अशुभ परिणाम जीव का भाव बन्ध है।

2. समयसार गाथा 74 की टीका में आचार्य जयसेन लिखते हैं—

एते क्रोधाद्यास्त्रवाः जीवेन सह निबद्धा सम्बद्धा औपाधिकाः।

ये क्रोधादि आस्रव जीव के साथ निबद्ध अर्थात् सम्बद्ध हैं, जो औपाधिक हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द ने उक्त गाथा में **'जीवणिबद्धा एए'** पद का प्रयोग किया है।

3. जीव का रागादिक के साथ बन्ध है, इसे स्पष्ट करते हुए प्रवचनसार गाथा 177 में लिखा है—

जीवस्स रागमादीहिं।

जीव का रागादिक साथ बन्ध है।

इस की सूरिकृत टीका में बतलाया है—

जीवस्यौपाधिकमोह-राग-द्वेषपर्यायैरेकत्वपरिणामः स केवलजीवबन्धः।

जीव का औपाधिक मोह, राग और द्वेषरूप पर्यायों के साथ जो एकत्व परिणाम है, वह केवल जीव बन्ध है।

4. बन्ध्य-बन्धकभाव जीव ओर उनके रागादिकभावों में किस प्रकार घटित होता है, इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र प्रवचनसार गाथा 175 की टीका में लिखते हैं—

अयमात्मा सर्व एव तावत्सविकल्पनिर्विकल्पपरिच्छेदात्मकत्वादुपयोगमयः। तत्र यो हि नाम नानाकारान् परिच्छेद्यानर्थानासाद्य मोहं वा रागं वा द्वेषं वा समुपैति स नाम तैः परप्रत्ययैरपि मोहरागद्वेषैरुपरक्तात्मस्वभावत्वान्नील-पीतरक्तोपाश्रप्रत्ययनीलपीतरक्तत्वै-रुपदक्तस्वभावः स्फटिकमणिरिव स्वयमेक एव सद्भावद्वितीयत्वाद्बन्धो भवति।

प्रथम तो यह आत्मा सर्व ही उपयोगमय है, क्योंकि वह सविकल्प और निर्विकल्प प्रतिभासस्वरूप है। उसमें से जो आत्मा विविधाकार प्रतिभासित होनेवाले पदार्थों को प्राप्त करके मोह, राग अथवा द्वेष करता है, वह नील, पीत और रक्त पदार्थों के आश्रय हेतुक नीलेपन, पीलेपन और ललाईरूप से उपरक्त स्वभाववाले स्फटिकमणि की भाँति यद्यपि जीव में मोह, राग और द्वेष पर को हेतु करके उत्पन्न हुए हैं तो भी उनसे उपरक्त आत्मस्वभाववाला होने से स्वयं अकेला ही बन्धरूप है, क्योंकि जीव के वे रागादिभाव उनके द्वितीय है।

5. अकेला जीव ही बन्ध है, इसे स्पष्ट करते हुए प्रवचनसार गाथा 188 की सूरिकृत टीका में लिखा है—

यथात्र सप्रदेशत्वे सति लोध्रादिभिः कषायित्वात् मज्जिष्ठरङ्गादिभिरुपश्लिष्टमेकं रक्तं दृष्टं

वासः तथात्मापि सप्रदेशत्वे सति काले मोहरागद्वेषैः कषायित्वात् कर्मरजोभिरुपश्लिष्ट एको बन्धो द्रष्टव्यः, शुद्धद्रव्यविषयत्वान्निश्चयस्य।

जैसे लोक में वस्त्र सप्रदेशी होने से लोध आदि से कसैला होता है और इसलिए वह मजीठादिके रंग से संश्लिष्ट होता हुआ अकेला ही रक्त देखा जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी सप्रदेशी होने से यथाकाल मोह, राग, द्वेष से कषायित (मलिन) होने के कारण कर्मरज से श्लिष्ट होता हुआ अकेला ही बन्ध है – ऐसा जानना चाहिए, क्योंकि निश्चय का विषय शुद्ध (अकेला) द्रव्य है।

6. इसी प्रवचनसार के परिशिष्ट में निश्चयनय से अकेला आत्मा ही बन्ध और मोक्षस्वरूप है, उसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

निश्चयनयेन केवलबध्यमानमुच्यमानबन्धमोक्षोचितस्निधरूक्षत्वगुणपरिणत-परमाणुबन्धमोखयोरद्वैतानुभूतिः।

अकेले बध्यमान और मुच्यमान ऐसे बन्ध-मोक्षोचित स्निग्धत्व औ रूक्षत्व गुण से परिणत परमाणु के समान निश्चयनय से एक आत्मा बन्ध और मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करनेवाला है।

ये कतिपय आगमप्रमाण है कि ये राग, द्वेष और मोहरूप जीवभाव यत: जीव के साथ बद्ध है, अत: अज्ञानभाव से परिणत यह आत्मा ही निश्चय से उनका बन्धक है। इस प्रकार जीव और रागादिभावों में भले प्रकार बन्ध्य-बन्धक सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है।

आत्मा में रागादि भाव उत्पन्न हों और वे भावबन्ध भी कहलावें, साथ ही पर का आश्रय कर आत्मा ही उन्हें उत्पन्न करे, फिर भी अज्ञानभाव से परिणत आत्मा को उनका बन्धक स्वीकार न करना युक्त-युक्त नहीं है।

विभाव शब्द का स्पष्टीकरण करते हुए अनगारवर्मामृत अध्याय 1 श्लोक 106 की टीका में लिखा है—

विभावो हि बहिरङ्गनिमित्तम्।

विभाव बहिरंग निमित्त को कहते हैं ।

इसलिए जितनी भी वैभावि पर्यायों उत्पन्न होती हैं, वे सब स्व-परप्रत्यय होने से रागादिक का व्यवहार हेतु पर को स्वीकार करने पर भी, निश्चय हेतु अज्ञानभाव से परिणत आत्मा को स्वीकार कर लेना ही उचित है। अत: एक द्रव्य बन्ध्य बन्धकभाव अपने गुणधर्मों के साथ निश्चय से बन जाता है। परमागम का भी यही अभिप्राय है।

इसलिए न तो अपर पक्ष का यह लिखना ही ठीक है कि 'किन्तु स्वपर्याय के साथ बन्ध्य-बन्धकभाव कदापि नहीं हो सकता।' क्योंकि ऐसा मानने पर सब कार्यों की उत्पत्ति केवल पर से माननी पड़ती है। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर सिद्धों में भी रागादिभावों के स्वीकार करने का अतिप्रसंग उपस्थित होता है।

और न अपर पक्ष का यह लिखना ही ठीक है कि 'इसका आपने कोई उत्तर नहीं दिया। इसका अर्थ है कि वह आपको स्वीकृत है।' क्योंकि जब कि हमने अपने प्रथम उत्तर में ही यह स्पष्ट कर दिया था कि 'संसारी जीव अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा अपने रागादि भावों से बद्ध है और असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा कर्मों से बद्ध है।' ऐसी अवस्था में संसारी जीव किस अपेक्षा बद्ध है और किससे किस प्रकार बद्ध है, इन दोनों खण्डों का उत्तर हो जाता है।

(इ) बंधा हुआ होने से यह परतन्त्र है या नहीं?

यह अपर पक्ष द्वारा उपस्थित किये गये मूल प्रश्न का तीसरा खण्ड है। हम इनका नयविभाग से उत्तर देते हुए प्रथम बार ही लिख आये हैं कि 'संसारी आत्मा अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा अपने अज्ञानभाव से बद्ध होने के कारण वास्तव में परतन्त्र है और असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा उपचरितरूप से कर्म और नोकर्म की अपेक्षा भी परतन्त्रता घटित होती है।' किन्तु नयविभाग से दिये गये सर्वांगपूर्ण इस उत्तर को अपर पक्ष सम्यक् नहीं मानना चाहता है। वैसे हमने जैसे 'सांसारिक जीव बद्ध है या मुक्त? यदि बद्ध है तो किससे बंधा हुआ है।' मूल प्रश्न के इन दो खण्डों का उत्तर देते हुए शुद्ध निश्चयनय के पक्ष को भी उपस्थित कर दिया था; उसी प्रकार संसारी आत्मा सर्वथा परतन्त्र नहीं है; नय विभाग से इस पक्ष को भी साथ में पस्थित कर देना चाहिए था। फिर भी हमने इस पक्ष को उपस्थित न कर संसारी जीव में किस नय से कैसी परतन्त्रता घटित होती है, मात्र इतना ही निर्देश किया था। संसारी जीव मात्र पर के कारण परतन्त्र है, इस एकान्त के स्वीकार करने पर न केवल मोक्षमार्ग की व्यवस्था गड़बड़ा जायेगी। किन्तु जीव के संसारी और मुक्त ये भेद भी नहीं बनेंगे और इस प्रकार जीवद्रव्य का अभाव हो जाने से अजीवद्रव्य का भी अभाव हो जायगा। इन्हीं सब बातों का विचार कर हमने नयविभाग से उक्त उत्तर दिया था।

किन्तु अपर पक्ष ने इस तथ्य को ध्यान में न लेकर और आप्तपरीक्षा के उद्धरण उपस्थित कर पिछली प्रतिशंका में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि 'आत्मा पौद्गलिक द्रव्यकर्मों

के कारण परतन्त्र हो रहा है और रागादिभाव परतन्त्रता स्वरूप हैं, इसलिए आत्मा के भाव स्वयं परतन्त्ररूप हैं। आत्मा के परतन्त्रता के निमित्त नहीं है।'

समाधान यह है कि आप्तपरीक्षा का उक्त कथन व्यवहारनय वचन है। उसके आधार से पौद्गलिक कर्मों को एकान्त से परतन्त्रता का कारण लेना उचित नहीं है। यथार्थ में आत्मा किस कारण से परतन्त्र हो रहा है, इस कथन के प्रसंग से निश्चय नयवचन का उल्लेख करते हुए वे (विद्यनन्दि) ही आचार्य तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक पृ. 444 में लिखते हैं—

कषायपरतन्त्रस्यात्मनः साम्परायिकास्त्रवः, तदपरन्त्रस्येयपिथास्त्रवः इति सूक्तम्।

कषाय से परतन्त्र हुए आत्मा के साम्परायिक आस्रव होता है और उससे परतन्त्र नहीं हुए आत्मा के ईर्यापथ आश्रव होता है, यह उचित ही कहा है।

इस पर पुन: प्रश्न हुआ कि एक आत्मा में परतन्त्रता बनती है और दूसरे में नहीं, इसका क्या कारण है? इसका समाधान करते हुए वे पुन: लिखते है—

कषायहेतुकं पंसः पारतन्त्रयं समन्ततः।
सत्त्वान्तरानपेक्षीह पद्ममध्यगभृंगवत्॥ 8॥
कषायविनिवृत्तौ तु पारतन्त्र्यं निवर्त्यते।
यथेह कस्यच्च्छान्तकषायावस्थितिक्षणे॥ 9॥

इस लोक में जैसे पद्य के मध्य स्थित भोंरे का परतन्त्रता कषायहेतुक होती है, उसी प्रकार इस जीव की सत्वान्तरापेक्षी समन्ततः परतन्त्रता कषायहेतुक होती है॥ 8॥ परन्तु कषाय के निकल जाने पर परतन्त्रता भी निकल जाती है। जैसे इस लोक में किसी के कषाय के शान्त होने पर उसी समय परतन्त्रता निकल जाती है॥ 9॥

यह वास्तविक कथन है। भ्रमर को कमल अपने आधीन नहीं बनाता है, किन्तु इसका मूल हेतु उसकी कषाय-कमलविषयक आशक्ति ही है। इसी प्रकार यह जीव कर्माधीन कषाय के कारण ही होता है, अतः निश्चय से परतन्त्रता का मूल कारण जीव की कषाय ही है।

अपर पक्ष एकान्त का परिग्रह कर और कषाय को परतन्त्र्यस्वरूप मानकर केवल कर्म को ही परतन्त्रता का हेतु मानना चाहता है जो युक्त नहीं है, क्योंकि परतन्त्रतारूप कोर्य की उत्पत्ति व्यवहार से जहाँ परहेतुक कही गई है वहाँ उसे निश्चय से स्वहेतुक ही जानना चाहिए। अष्टसहस्री पृ. 51 में जीव में अज्ञानादि दोषों की उत्पत्ति कैसे होती है, इसका निर्देश करते हुए लिखा है—

तद्धेतुः पुनरावरणं कर्म जीवस्य पूर्वस्वपरिणामश्च। स्वपरिणामहेतुक एवाज्ञानादिरित्य-युक्तम्, तस्य कादाचित्कत्वविरोधात्, जीवत्वादिवत्। परपरिणामहेतुक एवेत्थपि न व्यवतिष्ठते, मुक्तात्मनोऽपि तत्प्रसंगात्। सर्वस्य कार्यस्योपादानसहकारिसामग्री-जन्यतयोपगात्तया प्रतीतेश्च।

उन अज्ञानादि दोषों का हेतु तो आवरण कर्म और जीव का पूर्व स्वपरिणाम है। स्वपरिणामहेतुक ही अज्ञानादि दोष है, यह कहना अयुक्त है, क्योंकि ऐसा मानने पर उनके कादाचित्पने का विरोध होता है, जीवत्वादि के समान। **परपरिणामहेतुक ही अज्ञानादि दोष नहीं बन सकते क्योंकि ऐसा मानने पर उनका मुक्तात्माओं में भी सद्भाव मानने का प्रसंग उपस्थित होता है।** सभी कार्य उपादान और सहकारी सामग्री से उत्पन्न होते हुए स्वीकार किये गये हैं और वैसी प्रतीति होती है।

अपरपक्ष के प्रश्नों का पूर्ण उत्तर आगम की उक्त बड़े टाईप में मुद्रित पंक्तियों से हो जाता है।

इससे स्पष्ट है कि प्रकृत में आत्मा की परतन्त्रता का मुख्य हेतु जीव के कषायादि परिणामों को ही मानना उचित है, क्योंकि उनके होने पर ही पर में परतन्त्रता का की व्यवहारहेतुता स्वीकार की गई है, अन्यथा नहीं।

इस प्रकार अपर पक्ष ने अ., आ. और इ. इन तीन खण्डों के विषय में पूर्व पक्ष के रूप में जो विचार रखे हैं, वे ठीक नहीं हैं। अपर पक्ष जब तक स्वाश्रित निश्चय कथन की यथार्थता को स्वीकार नहीं करता और मात्र पराश्रित व्यवहार कथन के आधार पर की गई कार्य-कारण की व्यवस्था को असद्भूत व्यवहार (उपचरित) रूप नहीं स्वीकार करता तब तक मतभेद का समाप्त होना कठिन है।

हमने मूल प्रश्न में जितनी बातें पूछी गईं थीं उन सब का उत्तर दिया है। अपर पक्ष अपने मूल प्रश्न और अपनी पिछली प्रतिशंका को सामने रखकर पिछले दोनों उत्तरों पर दृष्टिपात करने की कृपा करें। **अपर पक्ष ने जयपुर** (खानियां) में 17 प्रश्न पूछे थे। उन सब का सम्मिलित उत्तर यह है कि आगम में इन प्रश्नों के उत्तर स्वरूप जितना भी स्वाश्रित विवेचन उपलब्ध होता है वह यथार्थ है, और जितना पराश्रित विवेचन उपलब्ध होता है, वह उपचरित है।

3. असद्भूत व्यवहारनय के विषय के स्पष्टीकरण

आलापपद्धति में असद्भूत व्यवहारनय के दो लक्षण कहे गये हैं—

१. अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणसमद्भूतव्यवहारः।

१. अन्यत्र प्रसिद्ध धर्म का अन्यत्र समारोप करना असद्भूत व्यवहार है।

२. भिन्नवस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहारः।

२. भिन्न वस्तु को विषय करना असद्भूत व्यवहार है।

प्रथम लक्षण के अनुसार नौ प्रकार के उपचार को परिगृहीत किया गया है और दूसरे लक्षण के अनुसार असद्भूत व्यवहार के भेद को विषय करनेवाला बतलाया गया है। ये दो लक्षण दो दृष्टियों से किये गये हैं। **प्रथम लक्षण के द्वारा अनादिरूढ़ लोकव्यवहार** की परमार्थ के साथ कैसे संगति बैठती है, इसकी व्यवस्था की गई है और दूसरे लक्षण के द्वारा मोक्षमार्ग में साधक को आत्मद्रव्य में भेदव्यवहार के प्रति कैसे दृष्टि होनी चाहिए, इसे स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार पृथक्-पृथक् प्रयोजनों को ध्यान में रखकर आगम में चारों प्रकार के व्यवहारों को दो प्रकार से निरूपित किया गया है।

हमने इसी प्रश्न के द्वितीय उत्तर में असद्भूतव्यवहारनय के प्रथम लक्षण को ध्यान में रखकर तो स्पष्टीकरण किया ही है। 8वें प्रश्न के प्रथम उत्तर में भी उसी दृष्टि को ध्यान में रखकर स्पष्टीकरण किया गया है। दोनों कथनों में शब्दभेद अवश्य है, पर दोनों का आशय एक ही है। दो भिन्न वस्तुओं का परस्पर जो भी सम्बन्ध कहा जायेगा, वह एक द्रव्य के गुण-धर्म को दूसरे का बतलाकर ही तो कहा जायेगा। स्पष्टीकरण इस प्रकार है - असद्भूत व्यवहार का लक्षण है - एक द्रव्य के गुणधर्म को अन्य द्रव्य का कहना।

उदाहरण- असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा ज्ञानावरणादि आठ द्रव्यकर्मों तथा औदारिक शरीरादि नोकर्म के साथ आत्मा बँधा है।

यद्यपि संसारी आत्मा वास्तव में अपने राग-द्वेषादि भावों से बद्ध है। तथापि ज्ञानावरणादि कर्मों और शरीरादि नोकर्म को निमित्तकर उनकी उत्पत्ति होती है, इसलिए निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को देखते हुए जीव इनसे बद्ध है - ऐसा व्यवहार किया जाता है। यहाँ जीव का अपने गुण-पर्यायों के साथ जो बद्धता धर्म उपलब्ध होता है, उसका ज्ञानावरणादि कर्मों आदि में आरोप कर आत्मा उनसे बद्ध है, यह कहा गया है।

प्रश्न 8 के प्रथम उत्तर में भी इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर ही 'दो या दो से अधिक द्रव्यों और उनकी पर्यायों में जो सम्बन्ध होता है, वह असद्भूत ही होता हे।' यह वचन लिखा गया है। दोनों का आशय एक है। भाषा वर्गणाओं में भाषारूप परिणमने की निमित्तिता (उपादान

कारणता) है, उसका आरोप तीर्थंकर आदि प्रकृतियों में करके उन्हें निमित्त कहा गया है और वाा़ी को नैमित्तिक। यही दो का सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध यद्यपि असद्भूत उपचरित है। फिर भी ऐसा व्यवहार नियम से होता है। उसका मुख्य कारण काल प्रत्यासत्ति है, क्योंकि बाह्य व्याप्ति का नियम इसी आधार पर बनता है।

इससे स्पष्ट है कि असद्भूत व्यवहार के हमारे द्वारा कहे गये ये दो लक्षण नहीं है, समझाने की दो पद्धतियाँ हैं।

2

अपर पक्ष का कहना है कि 'किन्तु यहाँ पर बन्ध का प्रकरण है और बन्ध दो भिन्न वस्तुओं में होता है।' अत: इस प्रश्न में- **भिन्नवस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहार:।**

अर्थात् भिन्न वस्तु जिसका विषय हो, वह असद्भूत व्यवहारनय है, यह लक्षण उपयोगी है। दूसरे यह लक्षण आध्यात्मिक दृष्टि से है और 'स्वाश्रितो निश्चय:' यह लक्षण भी आध्यात्मिक दृष्टि से है। अत: दोनों लक्षण अध्यात्मदृष्टिवाले लेने चाहिए। जब निश्चय का लक्षण अध्यात्मनय की अपेक्षा से ग्रहण किया जा रहा है तो व्यवहारनय का लक्षण भी अध्यात्मनय वाला लेना चाहिए।

समाधान यह है कि प्रत्येक वस्तु भेदाभेदस्वरूप है। वहाँ अभेद को विषय करनेवाला निश्चयनय है और भेद को विषय करनेवाला व्यवहारनय है—

तत्र निश्चयनयोऽभेदविषयी व्यवहारो भेदविषय:। *- आलापपद्धति*

आलापपद्धति में निश्चयनय और व्यवहारनय के ये लक्षण अध्यात्मदृष्टि से ही किये गये हैं। '**स्वाश्रितो निश्चयनय:**' इस लक्षण में भी स्व पद अभेद को ही सूचित करता है। हाँ '**पराश्रितो व्यवहारनय:**' इस लक्षणमें आया हुआ '**पर**' शब्द भेद व्यवहार को तो पर कहता ही है। किसी भी प्रकार के उपचार व्यवहार को भी पर कहता है। इसलिए इस लक्षण द्वारा जहाँ अनादिरूढ़ लोक व्यवहार का निषेध हो जाता है, वहाँ भेदव्यवहार का भी निषेध हो जाता है। इस प्रकार स्वाश्रित निश्चयनय के कथन में दोनों प्रकार का व्यवहार निषिद्ध है - ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

एक बात और है और वह यह कि आध्यात्मिक दृष्टि से व्यवहारनय के इस लक्षण में 'भिन्न वस्तु' पद से परद्रव्य और उनके गुणधर्मों का ग्रहण नहीं हुआ है। वे तो आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं ही, इसलिए उनका प्रश्न ही नहीं है। उनमें तो जिस किसी भी प्रकार स्व व्यवहार होता

है, उसका तो त्याग करना ही है। साथ ही एक आत्मा में गुणभेद वा पर्यायभेद द्वारा कथनरूप जितना भी व्यवहार होता है, आलम्बन की दृष्टि से उसकी भी उपेक्षा करनी है, क्योंकि धर्म-धर्मी का स्वभाव से अभेद है, तो भी संज्ञा, लक्षण आदि रूप से भेद उत्पन्न कर उन द्वारा समझाने के लिए अखण्ड वस्तु का कथन किया जाता है। अतएव प्रकृत में '**भिन्न वस्तु**' पद से कहे गये गुणभेद और पर्यायभेद का ही ग्रहण होता है, क्योंकि दृष्टि में अभेद की मुख्यता होने पर गुणभेद और पर्यायभेद भिन्न वस्तु हो जाती है।

आलापद्धति में इसी दृष्टि को साधकर उक्त दोनों नयों और उनके भेदों का निरूपण हुआ है, क्योंकि वहाँ '**भिन्न वस्तु**' पद से पर वस्तु का ग्रहण न होकर गुणभेद और स्वाश्रित पर्यायभेद का ही मुख्यता से ग्रहण हुआ है। ऐसी अवस्था में **आध्यात्मिक दृष्टि से जीव किससे बँधा है ? - ऐसा प्रश्न होने पर उसका यह उत्तर होगा कि उपचरित असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा जीव अपने रागादि भावों से बँधा है, क्योंकि जीव कर्मों से बँधा है, इसे तो आध्यात्मिक दृष्टि स्वीकार ही नहीं करती।** यही कारण है कि हमने प्रकृत में आगमिक दृष्टि को ध्यान में रखकर उक्त प्रश्न का समाधान किया है।

निश्चयनय और व्यवहानय के आलापपद्धति में ये लक्षण दिये है—

अभेदानुपचारतया वस्तु निश्चीयत इति निश्चयः। भेदोपचारतया वस्तु व्यवहियत इति व्यवहारः।

अभेद और अनुपचाररूप से वस्तु निश्चित की जाती है, यह निश्चय है तथा भेद और उपचाररूप से वस्तु व्यवहृत की जाती है, यह व्यवहार है।

दूसरी बात यह है कि अपर पक्ष ने अधिकतर प्रायः सभी प्रश्न दो द्रव्यों में निमित्त-नैमित्तिक व्यवहार की मुख्यता से किये हैं, इसलिए हमें आगमिक दृष्टि को ध्यान में रखकर उत्तर देना पड़ा। 16वें प्रश्न में अवश्य ही निश्चनय-व्यवहारनय के स्वरूप पर प्रकाश डालने के लिए कहा गया था, इसलिए उस प्रश्न का उत्तर लिखते समय हमने अवश्यक ही अध्यात्मदृष्टि को मुख्यता प्रदान की है। किन्तु उसके प्रति अपर पक्ष ने जैस उपेक्षा दिखलाई वह उस पक्ष द्वारा आगे उपस्थित किये गये दोनों प्रपत्रों से स्पष्ट है।

तीसरी बात यह है कि अध्यात्म में केवल आध्यात्मिक दृष्टि से ही व्यवहार का प्रतिपादन नहीं हुआ है। किन्तु आगमिक दृष्टि को ध्यान में रखकर भी व्यवहार का प्रतिपादन हुआ

है, क्योंकि **परमार्थ दृष्टिवाले के लिए दोनों प्रकार का व्यवहार हेय है यह ज्ञान कराना उसका मुख्य प्रयोजन है।** इसलिए भी हमने अपने उत्तरों में उक्त पद्धति को अपनाया है।

ऐसी अवस्था में अपर पक्ष के यह लिखने की कि 'जब निश्चय का लक्षण अध्यात्म की अपेक्षा से ग्रहण किया जा रहा है, तब व्यवहारनय का लक्षण भी अध्यात्मनयवाला लेना चाहिए।' कोई सार्थकता नहीं रह जाती।

4. कर्मबन्ध से छूटने का उपाय

(ई) यदि वह बद्ध है तो छूटने का उपाय क्या है?

यह मूल प्रश्न का चौथा खण्ड है। इसका उत्तर हमने निश्चय-व्यवहाररूप दोनों नयों से दिया था। प्रथम उत्तर में लिखा है—

1. 'आगम में सर्वत्र यह तो बतलाया है कि यदि संसारी आत्मा अपने बद्ध पर्यायरूप राग, द्वेष और मोह आदि अज्ञान भावों का अभाव करने के लिए अन्तरंग पुरुषार्थ नहीं करता है और केवल जिसे आगम में उपचार से व्यवहारधर्म कहा है, उसी में प्रयत्नशील रहता है तो उसके द्रव्यकर्मों की निर्जरा न होने के समान है।'

२. '**अतएव संसारी आत्मा को द्रव्य-भावरूप उभय बन्धनों से छूटने का उपाय करते समय निश्चय-व्यवहार उभयरूप धर्म का आश्रय लेने की आवश्यकता है।**' उसमें भी नियम है कि जब यह आत्मा अपने परम निश्चय परमात्मारूप ज्ञायकभाव का आश्रय लेकर सम्यक् पुरुषार्थ करता है, तब उसके अन्तरंग में निश्चय रत्नत्रयस्वरूप जितनी जिनती विशद्धि प्रगट होती जाती है, उसी के अनुपात में उसके बाह्य में द्रव्यकर्म का अभाव होता हुआ व्यवहार धर्म की भी प्राप्ति होती जाती है।

यह मूल प्रश्न के हमारे प्रथम उत्तर का वक्तव्यांश है। इसमें व्यवहारधर्म का निषेध किया गया है। फिर भी अपर पक्ष को इस उत्तर से सन्तोष नहीं है। अपर पक्ष का कहना है कि 'इसका उत्तर भी बहुत सरल था सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र छूटने का उपाय है।' किन्तु इतने सामान्य उत्तर से मूल समस्या का समाधान होना सरल न होने से ही हमें थोड़ा विस्तार से खुलासा करना आवश्यक प्रतीत हुआ। **बाह्य क्रिया आत्मा का स्वभाव धर्म नहीं है - ऐसा ज्ञान कराने से हानि नहीं होती। किन्तु स्वभाव सन्मुख हो आत्मपुरुषार्थ प्रकट होता है।** अपर पक्ष के सामने इसी की उपयोगिता स्पष्ट करनी है और इसी आशय से उक्त निरूपण प्रथम उत्तर में किया गया है।

अपर पक्ष समझता है कि हमने अपने प्रथम उत्तर में व्यवहारधर्म का सर्वथा निषेध किया है। किन्तु वस्तुस्थिति यह नहीं है। हमारे किस वाक्य से उस पक्ष ने यह आशय लिया, इनका उसकी ओर से कोई स्पष्टीकरण भी नहीं किया गया है। **साधक के सविकल्प दशा में प्रवृत्तिरूप व्यवहार धर्म होता है, इसका भला कौन समझदार निषेध करेगा।** हाँ, यदि 'व्यवहार करते-करते उससे निश्चयधर्म की प्राप्ति हो जाती है' - ऐसी जिसकी मान्यता है। साथ ही जो व्यवहारधर्म को निश्चयधर्म की प्राप्ति का यथार्थ साधन मानता है, उसका यदि निषेध किया जाता है और इसे ही अपर पक्ष व्यवहारधर्म का निषेध समझता है तो समझे। मात्र उस पक्ष की समझ से हमारा कथन सदोष हो जायेगा, ऐसा नहीं है।

उदाहरणार्थ एक 28 मूलगुणों का पालन करनेवाला मिथ्यादृष्टि है और दूसरा मिथ्यादृष्टि नारकी या देव है। ये दोनों यदि सम्यग्दृष्टि बनते हैं तो स्वभावसन्मुख होकर तीन करण परिणाम करके ही तो बनेंगे। इनके सम्यग्दृष्टि बनने का अन्य मार्ग नहीं है। अपर पक्ष से यदि पूछा जाय तो वह पक्ष भी यही उत्तर देगा। स्पष्ट है कि न तो व्यवहारधर्म करते-करते निश्चयधर्म की प्राप्ति होती है और न ही व्यवहारधर्म को निश्चयधर्म का यथार्थ साधन माना जा सकता है। अपर पक्ष को यदि स्वीकार करना है तो इसी तथ्य को स्वीाकार करना है। इसे स्वीकार करने पर उस पक्ष की यह समझ कि 'हम व्यवहारधर्म का सर्वथा निषेध कर रहे हैं' सुतरां दूर हो जायेगी।

हमने इस प्रश्न के उत्तर में निश्चयधर्म के साथ व्यवहारधर्म की भी चर्चा की है। इसे अपर पक्ष अप्रसांगिक समझता है। किन्तु ऐसी बात नहीं है, क्योंकि जब संसारी जीव के संसार से छूटने के उपाय का निर्देश किया जायेगा, तब निश्चयधर्म के साथ व्यवहारधर्म का निरूपण करना अनिवार्य हो जाता है। यदि अपर पक्ष प्रश्नों की सीमा में रहा आता तो लाभ ही होता। किन्तु उसकी ओर से सीमा का ध्यान ही नहीं रखा गया। लाचार होकर हमें प्रतिशंकाओं के आधार पर अपना उत्तर लिखने के लिये बाध्य होना पड़ा। उदाहरणार्थ अपने इसी तृतीय पत्रक में अपर पक्ष ने साध्य-साधकभाव की चर्चा छेड़ दी है जबकि इसके लिए प्रश्न नं. 4 है। इतना ही नहीं, अपर पक्ष ने इस प्रसंग में जिन तर्कों को रखा है, उनकी भी वह विविध प्रश्नों में अनेक बार चर्चा कर चुका है। ऐसी अवस्था में हमें उनका उत्तर लिखना पड़ता है, इसका इलाज नहीं।

अपर पक्ष ने अपने पिछले पत्रक में कर्म को राग-द्वेष आदि का प्रेरक निमित्त लिखा और राग-द्वेष को कर्म का प्रेरक निमित्त लिखा। यही कारण है कि हमें इसके सम्बन्ध में स्पष्टीकरण करना आवश्यक हो गया। कोई भी समाधान करनेवाला यदि प्रश्नकर्त्ता की प्रत्येक बात का

विचार न करें तो उससे सम्यक् समाधान होना कभी भी सम्भव नहीं है। भोजन के समय यदि व्यापार की चर्चा की जाती है तो कभी-कभी उसका उत्तर देना भी अनिवार्य हो जाता है। अपर पक्ष हमसे शिकायत करने की अपेक्षा अपने प्रपत्रों पर दृष्टिगत करने की कृपा करे, सब बातों का समाधान हो जायगा। संसारी प्राणी उलझन स्वयं उत्पन्न करता है और दोषी दूसरे को समझता है, इस मिथ्या व्यवहार का निषेध जितने जल्दी हो जाये, लाभकर ही है।

आचार्य कुन्दकुन्द, अमृतचन्द्रसूरि और जयसेन आचार्य आदि ने जहाँ भी व्यवहारधर्म को साधन और निश्चयधर्म को साध्य लिखा है वहाँ वह कथन समयसार गाथा 8 के विवेचन को ध्यान में रखकर ही किया है। व्यवहार धर्म, निश्चय धर्म का साधन का साधन है, इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यवहारधर्म निश्चयधर्म को उत्पन्न करता है। किन्तु उसका आशय इतना ही है कि व्यवहारधर्म निश्चयधर्म का व्यवहार से हेतु है। जो हेतु होता है, वह उसका साधन कहा जाता है और जो साधा जाता है, वह साध्य कहा जाता है। **इस प्रकार साधन-साध्यभाव व्यवहारधर्म -निश्चयधर्म में है, इसका निषेध नहीं है।** सम्यग्दृष्टि ऐसे ही साधन-साध्यभाव को दोनों में स्वीकार करता है, इसलिए वह सम्यग्दृष्टि है। किन्तु इससे अन्यथा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है, यह बृहद्द्रव्यसंग्रह के कथन का आशय है। व्यवहारधर्म को कर्ता कहना और निश्चय धर्म को उसका कर्म कहना, यह इन दोनों में निमित्त-नैमित्तिक व्यवहार का ज्ञान कराने के लिए आगम में असद्भूत व्यवहारनय की लक्ष्य में रखकर लिखा गया है। बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा 35 की टीका में लिखा है—

निश्चयेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजात्मतत्वभावनोत्पन्नसुखसुधारसस्वादवलेन समस्तशुभाशुभ रागादिविकल्प-निवृत्तिर्व्रतम्। व्याहारेण तत्साधकं हिंसानृतस्तेयाब्रह्म-परिग्रहाच्च यावज्जीवनिवृत्तिलक्षणं पंचविधं व्रतम्।

निश्चयनय की अपेक्षा विशुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वभावरूप निज आत्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न सुखरूपी अमृत के स्वाद के बल से समस्त शुभाशुभ रागादि विकल्पों से निवृत्त होना ब्रत है। तथा व्यवहारनय से उसका साधक हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह से यावज्जीवन निवृत्तिलक्षण पाँच प्रकार का व्रत है।

यह आगमवचन है। इसमें निश्चय व्रत का साधक दर्शन-ज्ञानस्वभावरूप निज आत्मतत्त्व की भावना को बतलाया गया है। यह निश्चय है और व्यवहारनय से इसका साधक अशुभ निवृत्तिरूप पाँच व्रतों को बतलाया गया है। यह व्यवहर कथन है। इससे स्पष्ट होता है कि

आगम में जहाँ भी व्यवहारधर्म को निश्चयधर्म का साधक लिखा है, वहाँ वह कथन असद्‌भूत व्यवहारनय की अपेक्षा से ही किया गया है। यद्यपि निश्चयधर्म की प्रतीति होती तो है शुभाशुभ विकल्प की निवृत्ति होने पर ही। ऐसा नहीं है कि अशुीारूप हिंसादिरूप विकल्प से निवृत्त होकर शुभरूप अहिंसादि विकल्प के सद्‌भाव में निश्चयधर्म की प्राप्ति हो जाती है या उससे निश्चयधर्म की प्राप्ति हो जाती है। जब भी उस (निश्चयधर्म) की प्राप्ति होती है, तब अशुभ के समान शुभ विकल्प से निवृत्त होकर स्वभावसन्मुख हो तत्स्वरूप परिणमन द्वारा ही होती है। परावलम्बी विकल्प तो इसकी प्राप्ति में किसी भी अवस्था में साधक नहीं हो सकता। फिर भी स्वाभावसन्मुख होने के पूर्व अशुभ विकल्प न होकर नियम से शुभ विकल्प होता ही है, इसलिए ही व्यवहारनय से व्यवहारधर्म को निश्चयधर्म का साधक कहा है। इससे यह ज्ञान होता है कि जो निश्चयधर्म की प्राप्ति के सन्मुख होता है, उसकी बाह्य भूमिका कैसी होनी चाहिए। स्वर्णपाषाण और स्वर्ण में जो साधक-साध्य भाव का निर्देश किया है, उसका भी यही आशय है।

हमने जो यह वचन लिखा है कि 'निश्चय रत्नत्रय स्वरूप जितनी विशुद्धि प्रगट होती जाती है, उसके अनुपात में उसके बाह्य में द्रव्यकर्म का अभाव होता हुआ व्यवहार धर्म की भी प्राप्ति होती जाती है।' वह दोनों का अविनाभाव सम्बन्ध कैसा है, यह दिखलाने के लिए ही लिखा है। पहले कोई नहीं होता, साथ-साथ होते हैं - यह लिखकर व्यवहार में सम्यक्पने की हेतुता का निर्देश किया गया है। जो व्यवहार पहले मिथ्या था वह निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति होने पर सम्यक् व्यवहार पदवी को प्राप्त हो जाता है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। जैसे जो ज्ञान पहले मिथ्या था, वह सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर सम्यक् हो जाता है; उसी प्रकार व्रतादि के आचरणरूप जो व्यवहार पहले मिथ्या था, वह निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति होने पर सम्यक् हो जाता है। इस को चाहे किन्हीं शब्दों में कहिए, हानि नहीं। इससे कार्य-कारणपरम्परा में किसी प्रकार का व्यत्पय उपस्थित नहीं होता। अन्यथा आचार्य अमृतचन्द्र समयसार गाथा 74 की टीका में यह कभी न लिखते—

यथा यथा विज्ञानघनस्वभावो भवति तथा तथास्त्रवेभ्यो निवर्तते।

जैसे-जैसे विज्ञानघनस्वभाव होता है वैसे-वैसे आस्त्रवों से निवृत्त होता है।

अपर पक्ष हमारे कथन को विलोमरूप से समझता है तो समझे। किन्तु क्यावह पक्ष इस कथन को भी विलोमरूप कहने का अभिप्राय रख सकता है ? कभी नहीं। आक्षेप करना अन्य बात है, पर पूरे जिनागम पर दृष्टि रखना अन्य बात है।

अपर पक्ष का कहना है कि 'अन्तरंग विशुद्धता कर्मोदय के अभाव का ज्ञापक तो है किन्तु कारण नहीं है।' यह पढ़कर हमें बड़ा आश्चर्य हुआ। यदि अपर पक्ष तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. 65 के इस वचन पर या इसी प्रकार के अन्य आगमवचनों पर दृष्टिपात कर लेता तो आग्रहपूर्ण ऐसा एकान्त वचन कभी न लिखता। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक का वह वचन इस प्रकार है—

तेनायोगिजिनस्थ्यान्त्यक्षणवर्त्ति प्रकीर्त्तितम्।
रत्नत्रयमशेषाघविघातकारणं ध्रुवम्॥ 47॥

इसलिए अयोगिजिन का अन्त्य क्षणवर्ती रत्नत्रय नियम से समस्त अघों का विघात करने वाला कहा गया है।

यहाँ पर 'अघ' पद नामादि अघातिकर्म और उनको निमित्त कर हुए भावों का सूचक है। कर्म हीनशक्ति होकर व उदीरित होकर झड़ जायें, इसी का नाम तो अविपाकनिर्जरा है और इसका कारण जीव का विशुद्ध परिणाम है, इसलिए जैसे-जैसे जीव का अन्तरंग विशुद्ध परिणाम होता जाता है, वैसे वैसे कर्मोदय का अभाव होता जाता है। इस सत्य को स्वीकार करने में अपर पक्ष को आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

पाँचवें गुणस्थान में यदि अप्रत्याख्यानावरण का सत्त्व रहते हुए भी उदय नहीं होता और उसका स्तिबुक संक्रमण होता रहता है तो इसका मुख्य कारण पाँचवें गुणस्थान की विशुद्धि ही है। मोक्षमार्ग में ऐसा ही कार्य-कारणभाव मुख्यता से घटित होता है। यह विलोम प्रतिपादन नहीं है।

धवला पु. 1, पृ. 52 में '**स्वावरण**' पद केवल द्रव्यकर्म को ही सूचित नहीं करता, किन्तु अन्तरंग में जो अविशुद्धि बनी हुई है, उसे भी सूचित करता है। आत्मा शुद्धोपयोग के बल से जैसे-जैसे अविशुद्धि को दूर करता जाता है, वैसे-वैसे उसके निमित्तभूत कर्मों का भी अभाव होता जाता है, यह उक्त उद्धरण का आशय है।

अपर पक्ष ने प्रथमोपशम सम्यक्तव की उत्पत्ति के क्रम का निर्देश किया है और साथ ही 'जिनको इसका ज्ञान है।' यह वचन भी लिखा है। इस पर हमें यह मान लेने में आपत्ति नहीं है कि अपर पक्ष को इसका विशेष ज्ञान है, हमें उतना ज्ञान नहीं है। पर कम ज्ञान के साथ ही यदि हम यह जानना चाहें कि अनिवृत्तिकरण में प्रथम स्थिति और द्वितीय स्थिति के मध्यवर्ती दर्शनमोहनीय के निषेकों का जो अन्तरकरण होता है उसका कारण आत्मोत्थ विशुद्धि है या

दर्शनमोहनीय का उदय ? तो यही उत्तर तो होगा कि वहाँ पर जो आत्मोत्थ विशुद्धि है, वह उसका कारण है। इसका आशय यह हुआ कि जैसे जैसे विशुद्धि में वृद्धि होती जाती है, वैसे-वैसे मिथ्यात्व का उदय उत्तरोत्तर क्षीण होता जाता है और अन्त में वहाँ के योग्य उत्कृष्ट विशुद्धि से युक्त आत्मा के होने पर जिस समय वह अपने पुरुषार्थ से सम्यक्तव को उत्पन्न करता है, उसी समय मिथ्यात्व परिणाम और उसके निमित्तभूत मिथ्यात्व कर्म के उदय का अभाव रहता है। वहाँ पर अन्तरायाम प्रमाण दर्शनमोहनीय का अभाव तो है ही – ऐसा यह योग है। इसी को कहीं बाह्य दृष्टि से भी विवेचित किया जाता है, उसमें आपत्ति नहीं। किन्तु उसका आशय क्या है, यह लेना चाहिए।

अपर पक्ष ने 'जइ जिणमयं पवज्जह' गाथा उद्धृत की है। उसमें व्यवहार और निश्चय दोनों की स्वीकृति है। इसका निषेध तो किसी ने किया नहीं है। जैसे व्यवहारनय से गुणस्थान-मार्गणास्थान आदिरूप भेदव्यवहार है, वैसे ही निश्चय से तत्त्व की भी स्वीकृति है।

तीर्थ का स्पष्टीकरण करते हुए स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है—

रयणत्तवसंजुत्तो जीवो वि हवेइ उत्तमं तित्थं।
संसारं तरइ जदो रयणत्तयदिव्वणावाए॥ 191॥

रत्नत्रय से युक्त जीव उत्तम तीर्थ है, क्योंकि वह रत्नत्रयरूपी दिव्य नाव से संसार को पार करता है॥ 191॥

इससे स्पष्ट है कि **वास्तव में तो निश्चय रत्नत्रययुक्त आत्मा ही उत्कृष्ट तीर्थ है। किन्तु उसके साथ जो व्यवहार रत्नत्रय होता है, उसे भी व्यवहार से तीर्थ कहना उपयुक्त है, क्योंकि निश्चय-व्यवहार का ऐसा ही योग है।**

अतएव उक्त गाथा पर से यदि कोई यह फलित करे कि बाह्य व्यवहार से परमार्थ की प्राप्ति हो जाती है, उसे स्वभाव का अवलम्बन लेकर एकाग्र होने की आवश्यकता नहीं है तो उक्त गाथा पर से ऐसा आशय फलित करना ठीक नहीं है। **अतएव भेदविज्ञानपूर्वक आत्मज्ञागृति ही कर्मबन्ध से छूटने का यथार्थ उपाय है – ऐसा यहाँ निर्णय करना चाहिए।**

5. निश्चय से जीव रागादि से बद्ध है, इस तथ्य का समर्थन

अपर पक्ष ने हमारे 'निश्चयनय की अपेक्षा विचार करने पर जीव जीव स्वयं अपने अपराध के कारण बद्ध है, अन्य किसी ने बलात् बाँध रखा हो और उसके कारण वह बंध रहा

हो – ऐसा नहीं है।' इस वचन को आगम विरुद्ध लिया है। अपर पक्ष ने यहाँ पर अपने पक्ष के समर्थन में जो प्रमाणउपस्थित किये हैं, उनमें शुद्ध निश्चयनय के विषय का निर्देश किया गया है। किन्तु यहाँ पर '**आत्माश्रितो निश्चयनयः**' इस लक्षण को ध्यान में रखकर उक्त वचन लिखा गया है। अज्ञानी जीव रागादिक रूप स्वयं परिणमता है, अन्य कोई उसे रागादि रूप परिणमाता नहीं। अतएव जीव के शुभाशुभ परिणाम भावबन्ध हैं और उनसे बद्ध है, इसे निश्चयस्वरूप मानने में आगम से कहाँ बाधा आती है, इसे अपर पक्ष ही जाने।

हम इसी उत्तर में प्रवचनसार गा. 189 की आचार्य जयसेनकृत टीका का उद्धरण दे आये हैं। उसमें रागादिक को ही आत्मा कर्ता है और उन्हीं को भोगता है, इसे निश्चयनय का लक्षण कहा गया है। इससे सिद्ध होता है कि अपरपक्ष ने जो उक्त वचन को आगम विरुद्ध लिखा है, सो उस पक्ष का ऐसा लिखना ही आगम विरुद्ध है। उक्त वचन आगम विरुद्ध नहीं है। इसके लिए द्रव्यसंग्रह की ववहारासुहदुक्खं इत्यादि गाथा देखिये।

अपरपक्ष ने समयसार गाथा 13 की टीका का सवयं एकरूप-इत्यादि वचन उद्धृत कर यह सिद्ध किया है कि अकेले जीव में बन्ध की उत्पत्ति नहीं हो सकती। समाधान यह है कि उक्त वचन द्वारा निश्चय-व्यवहार दोनों को स्वीकार किया गया है। उस द्वारा बन्धपर्याय की दृष्टि से यह बतलाया गया है कि जीव स्वयं रागादिरूप परिणमता है, अतएव रागादिरूप बन्ध पर्याय का निश्चय से वह स्वयं कर्त्ता है, अन्य द्रव्य उसका कर्त्ता नहीं। किन्तु जब भी वह रागादिरूप से परिणता है, तब उसको कर्म का आश्रय नियम से होता हे। इसी को अकेले जीव में बन्ध की उत्पत्ति नहीं होती है, यह कहा जाता है। उक्त वचन का इससे भिन्न कोई दूसरा आशय नहीं है। तभी तो समयसार में यह कहा है—

यदि जीव का कर्म के साथ ही रागादि परिणाम होता है अर्थात् यदि दोनों मिलकर रागादिरूप परिणमते है—ऐसा माना जाये तो इस प्रकार जीव और कर्म दोनों रागादिभाव को प्राप्त हो जायें। किन्तु रागादि रूप परिणाम तो अकेले जीव के ही होता है, अतएव कर्मोदयरूप निमित्त से भिन्न ही वह जीव का परिणाम है॥ 139-140॥

रागादिक का नाम भाव बन्ध है, इसे तो अपर पक्ष स्वीकार करेगा ही। ऐसा अवस्था में वह स्वयं निर्णय करे कि यह किसका परिणाम है और यथार्थ में इसे किसने किया है? उसका अपर पक्ष यही उत्तर तो देगा कि **उपादान रूप से इसे स्वयं जीव ने किया है, कर्म तो उसमें निमित्तमात्र है।** इससे सिद्ध हुआ कि **निश्चय से जीव अपने अपराध के कारण स्वयं रागादि**

भावों से बद्ध हो रहा है। यदि वह कर्म का आश्रय एवं पर में इष्टानिष्ट बुद्धि करना छोड़ दे तो उसके रागादिक विलय होने में देर न लगे।

6. उपचार तथा आरोप पद की सार्थकता

संसारी जीव ज्ञानावरणादि कर्मों से बद्ध है, ऐसा कहना असद्भूत व्यवहारनय का वक्तव्य है, इसे स्वीकार करके भी अपर पक्ष ने लिखा है कि 'किन्तु आपने इस सत्य सरल कथन को तरोड़-मरोड़ कर आरोपित आदि शब्दों के प्रयोग द्वारा असत्य तथा जटिल बनाने का प्रयास किया है जो शोभनीय नहीं है।' आदि।

समाधान यह है कि जब अपर पक्ष ने संसारी जीव ज्ञानावरणादि कर्मों से बद्ध है, इस कथन की असद्भूत व्यवहारनय का वक्तव्य स्वीकार कर लिया है तो उसे असद्भूत व्यवहारनय के लक्षण के अनुसार यह स्वीकार करने में हिचक नहीं होनी चाहिए कि आत्मा में जो अपने विकारी गुणपर्यायों के साथ बद्धता पाई जाती है, उसका ज्ञानावरणादि कर्मों पर आरोप करके यह कहा जाता है कि आत्मा ज्ञानावरणादि कर्मों से बद्ध है। ऐसा स्वीकार करना ही सत्यार्थ है। ऐसा स्वीकार कर लेने से सद्भूत व्यवहारनय और निश्चयनय से भिन्न असद्भूत व्यवहारनय के विषय की व्यवस्था बन जाती है। फिर तो उसे आकाशकुसुम के समान कल्पनारोपित घोषित करने की अपर पक्ष को आवश्यकता नहीं रह जायगी और और नय में सत्यार्थता भी उस पक्ष की प्रतीति में आ जायगी। असद्भूत व्यवहानय के लक्षण आदि के विषय में विशेष खुलासा इसी उत्तर में पहले ही कर आये है। इससे अपर पक्ष के ध्यान में यह अच्छी तरह आ जायगा कि तरोड़-मरोड़ कर अपर पक्ष ही अपना पक्ष रख रहा है, हम नहीं। अपर पक्ष यदि असद्भूत व्यवहार के लक्षण के आधार पर लिखता तो उसे हमारे द्वारा प्रयोग किये गये 'उपचार' शब्द और 'आरोप' शब्द की सार्थकता भी समझ में आ जाती। अपर पक्ष को स्मरण रखना चाहिए कि इन शब्दों का प्रयोग न किया जाय तो असद्भूत व्यवहार के विषय का स्पष्टीकरण करना सम्भव ही नहीं हो सकता।

अपर पक्ष का कहना है कि 'किन्तु एक नय की दृष्टि में दूसरे नय का विषय न होने से उस दूसरे नय के विषय को अभूतार्थ कहा जाता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि दूसरे नय का विषय आकाश के पुष्प के समान सर्वथा असत्यार्थ है।'

समाधान यह है कि असद्भूत व्यवहारनय का विषय आकाशपुष्प के समान सर्वथा

अत्यार्थ है, यह तो हमने कहीं लिखा नहीं है ओर न ऐसा है ही। यह शब्दयोजना तो अपर पक्ष ने की है, इसलिए इसमें संशोधन उसी को करना है। **फिर भी निश्चयनय वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन करता है, अतएव वह निषेधक धर्मवाला है और असद्भूत व्यवहारनय दूसरे के धर्म को उससे भिन्न वस्तु का कहाता है, इसलिए वह प्रतिषेध्य धर्मवाला है।** इसलिए आचार्यों ने निश्चयनय के विषय को सर्वज्ञ भूतार्थ ही कहा है तथा व्यवहारनय के विषय को एक दृष्टि से भूतार्थ और दूसरी दृष्टि से अभूतार्थ कहा है। जिसका निदर्शन आचार्य अमृतचन्द्र का वही वचन है जिसे अपर पक्ष यहाँ अपने पक्ष के समर्थन में उपस्थित किया है (समयसार गाथा 14 की टीका)। अपर पक्ष ने उक्त टीका वचन का आशय लिखने के बाद फलितार्थ रूप में जो यह वचन लिखा है कि 'अर्थात् जीव की एक ही बन्ध अवस्था को व्यवहार और निश्चय दो भिन्न भिन्न दृष्टियों से दखने पर सत्यार्थ और असत्यार्थ दिखाई देती है।' सो यह वचन उचित ही लिखा है। इसे अपर पक्ष ने किस आशय से लिखा है, यह तो हम जानते नहीं। किन्तु शब्दयोजना पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि जीव को एक ही बन्ध अवस्था अर्थात् **रागादिरूप जो बन्धपर्याय है, वह व्यवहारनय से सत्यार्थ है, सद्भूत है। किन्तु शुद्ध दृष्टि से असत्यार्थ है, क्योंकि शुद्धनय में भेदव्यवहार गौण है।**

इससे अपर पक्ष को यह स्पष्ट हो जायेगा कि असद्भूत व्यवहारनय के विषय का स्पष्टीकरण करते समय हमने जो 'आरोपादि' शब्दों का प्रयोग किया है, वह विपरीत मान्यता का फल है ? या अपर पक्ष स्वयं अपनी विपरीत मान्यता बनाकर ऐसा लिख रहा है। श्लोकवार्तिक पृ. 151 में आचार्य अमृतचन्द्र ने '**तदेवं व्यवहारनयसमाश्रययणे**' इत्यादि वचन किस आशय से लिखा है। इसके स्पष्टी करण के लिए उनके द्वारा प्रयुक्त '**व्यवहारनयसमाश्रयणे**' यह वचन ही पर्याप्त है। विशेष खुलासा पाँचवे-छठे प्रश्न के तृतीय उत्तर में किया गया है।

हमने अन्य किन प्रश्नों के उत्तर में व्यवहारनय के विषय को सत्यार्थ किस रूप में माना है, इसका अपर पक्ष ने हमारे कथन का कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया, इसलिए अपर पक्ष के 'अन्य प्रश्नों के उत्तर में आपने भी व्यवहारनय के विषय को सत्यार्थ माना है' इस कथन पर हमने विशेष विचार करना उचित नहीं समझा।

अपर पक्ष यदि प्रेरक निमित्तकारण का अर्थ व्यवहारनय से करणानिमित्त या कर्तानिमित्त करता है और इस मान्यता का त्याग कर देता है कि समर्थ उपादान अनेक योग्यताओंवाला होता है, इसलिए जब जैसे निमित्त मिलते हैं, उनके अनुसार कार्य होता है। तथा इस तथ्य को स्वीकार

कर लेता है कि उत्तर काल में जो कार्य होता है, उसे समर्थ उपादान उस कार्य के अनुरूप अपनी विवक्षित एक द्रव्य-पर्याय योग्यता से सम्पन्न होकर निश्चय से स्वयं उत्पन्न करता है, क्योंकि प्रतयेक कार्य उपादान के सदृश होता है - **उपादान सदृशं कार्यं भवतीति यावत्।** कारण कि उसके बाद वह उसी कार्य को उत्पन्न करने की सामर्थ्यवाला है, यह नियत है, तभी उन दोनों में उपादान-उपादेयभाव बनता है तो हमें स्व-परप्रत्यय पद में जो 'पर' शब्द का प्रयोग हुआ है, उसे प्रेरकनिमित्त कारण कहने में अणुमात्र भी आपत्ति नहीं है। उपासकाध्ययन श्लोक 106 में इसी आशय में 'प्रेयते' शथ्द का प्रयोग हुआ है। तथा 247 श्लोक में इसी अभिप्राय से कर्म को क्लेश का कारण कहा गया है। **निश्चय-व्यवहार की ऐसी युति है। मात्र इसी को बाह्याभ्यन्तर उपाधि की समग्रता कहते हैं।**

अपर पक्ष ने लिखा है कि जिस प्रकार का जितने अनुमाग को लिये घातिया कर्मों का उदय होता है, उससे आत्मा के परिणाम अवश्य होते है। किन्तु यह कथन ठीक नहीं है। इस विषय को स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द पंचास्तिकाय गाथा 57 में लिखते हैं—

कम्मं वेदयमाणे जीवो भावं करेदि जारिसयं।
सो तेण तस्य कत्ता हवदि त्ति य सासणे पढिदं॥ 57॥

कर्म को वेदता हुआ जीव जैसा भाव करता है, इससे वह उस (भाव) का कर्त्ता होता है ऐसा जिनशासन में कहा है॥ 57॥

इससे स्पष्ट है कि आत्मा अपना भाव करने में स्वतन्त्र है। उसमें कर्म की पराधीनता नहीं है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए उसकी टीका में आचार्य जयसेन लिखते है—

कर्म की वेदना वाला अर्थात् वीतराग निर्भर आनन्दलक्षण प्रचण्ड अखण्ड ज्ञानकाण्डपरिणत आत्म भावना से रहित होने के कारण और मन, वचन, काय लक्षण व्यापाररूप कर्मकाण्ड से परिणत होने के कारण जीव आप कर्त्ता होकर जैसे भाव (परिणाम) को करता है, वह जीव उसी करणभूत भाव के कारण कर्मभाव को प्राप्त हुए, उस रागादि भाव का कर्त्ता होता है - ऐसा शासन (परमागम) में कहा है। यह उक्त गाथा का तात्पर्य है।

- मूल टीका के आधार से

आचार्य अमृतचन्द्र उक्त गाथा की टीका करते हुए लिखते है—

अमुना यो येन प्रकारेण जीवेन भावः क्रियते स जीवस्तस्यभावस्य तेन प्रकारेण कर्ता भवतीति।

इस विधि से जीवे के द्वारा जिस प्रकार से जो भाव किया जाता है, वह जीव उस भाव का उस प्रकार से कर्त्ता होता है।

यहाँ '**येन प्रकारेण**' तथा '**तेन प्रकारेण**' पद ध्यान देने योग्य है। इन पदों द्वारा अपने भाव करने में जीव की स्वतन्त्रता घोषित की गई है। इसके साथ जीव की इतनी विशेषता और है कि पर को निमित्त कर उत्पन्न हुए इन भावों में यह जीव उपयुक्त हो या न हो, यह उसकी अपनी दूसरी विशेषता है। यह मोक्षमार्ग की चाबी है। मोक्ष के द्वार का उद्‌घाटन इसी चाबी से होता है। अन्य जितना कथन है, वह सब व्यवहार वचन है। आचार्य अमृतचन्द्र सम. सा. गा. 172 की टीका में लिखते हैं—

जो वास्तव में ज्ञानी है, उसके बुद्धिपूर्वक राग-द्वेष-मोहरूपी आस्त्रवभावों का अभाव है; इसलिए वह निरास्त्रव ही है। परन्तु इतनी विशेषता है कि वह ज्ञानी भी जब तक ज्ञान (आत्मा) की सर्वोत्कृष्ट भाव से देखने, जानने, अनुचरण करने के लिए अशक्त होता हुआ जघन्यभाव से ही ज्ञान (आत्मा) को देखता, जानता और अनुचरता है, तब तक उसके भी जघन्य भाव की अन्यथा उपाधि नहीं हो सकती, इससे अनुमीयमान अबुद्धिपूर्वक कर्मकलंक के विपाक का सद्‌भाव होने से पुद्‌गल कर्म का बंध होता है। अतः तब तक आत्मा (ज्ञान) को देखना चाहिए, जानना चाहिए और अनुचरणा चाहिए जब तक ज्ञान (आत्मा) का पूर्ण भाव है, उतना भले प्रकार देखने जानने और अनुचरण में आ जाये, तब से लेकर साक्षात् ज्ञानी होता हुआ वह आत्मा निरास्त्रव ही रहता है।

अपर पक्ष की इसी दृष्टि को ध्यान में लेना है। इसे ध्यान में लेने पर उस पक्ष का कौन कथन आगमानुकूल है और नहीं है तो क्यों नहीं है, वह भी उसके ध्यान में आ जायेगा।

अपर पक्ष यदि यह नहीं मानता है कि 'जो निमित्त बलात् कार्य के स्वकाल को छोड़कर आगे-पीछे पर द्रव्य में उत्पन्न करता हो, वह प्रेरक निमित्त है' तो हम उसका स्वागत करते हैं। ऐसी अवस्था में उसे पंचाध्यायी पृ. 95 का उद्धरण देने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। वहाँ स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव के निर्देश के प्रसंग से स्वकाल शब्द पर्याय के अर्थ में आया है। यहाँ विचार यह करना है कि पर्यायें तो अनन्त हैं और उनका लक्षण क्रमभावीपना है, इसलिए उनका उत्पाद-व्यय क्रमानुपाती होता है या नहीं? **इसी के समाधान स्वरूप उपादान के आधार पर यह स्पष्ट किया जाता है कि जितनी उत्पादरूप पर्यायें हैं, उनके उतने ही समर्थ उपादान हैं, इसलिए उनका उत्पाद क्रमानुपाती ही होता है और उनके व्यवहार हेतु भी**

क्रमानुपाती क्रम से उसी विधि से मिलते रहते हैं। निश्चय-व्यवहार को ऐसी ही युति है। इसी अवस्था में सम्यक् अनेकान्त बन सकता है, अन्यथा नहीं। अव्यवहित पूर्व समयवर्ती पर्याययुक्त द्रव्य समर्थ उपादान है और अव्यवहित उत्तर समयवर्ती पर्याययुक्त द्रव्य उसका उपादेय है, यह क्रम है। इसी क्रम से सब कार्य होते हैं। निमित्त व्यवहार के योग्य अन्य का संयोग भी इसी क्रम से मिलता है। इस क्रम को कोई महाशय अन्यथा नहीं कर सकता।

अभी अपर पक्ष उपासकाध्ययन का '**प्रेर्यते कर्म जीवेन**' इत्यादि वचन उद्धृत कर आया है। हम तो कर्मशास्त्र के विशेषज्ञ नहीं हैं। उसके विशेषज्ञ हमें अपर पक्ष को मानने में आपत्ति भी नहीं है। अतएव हम यदि यह जानना चाहे कि अपर पक्ष ने जो अपने पक्ष के समर्थन में उक्त उल्लेख उपस्थित किया है, वह सार्वकालिक नियम को ध्यान में रखकर उपस्थित किया है या इसे कादाचित्य नियम के रूप में उपस्थित किया है। यदि सार्वकालिक नियम समझकर उपस्थित किया है तो अपर पक्ष ने कर्मशास्त्र की विशेषता को प्रकाश में लाने के अभिप्राय से जो यह लिखा है कि 'किन्तु जो कर्मशास्त्र के विशेषज्ञ हैं वे भलीभाँति जानते हैं कि प्रत्येक समय में जो द्रव्यकर्म बँधता है उसमें नाना वर्गणाऐं होती हैं और सभी वर्गणाओं में समान अनुभाग (फलदान शक्ति) नहीं होती, किन्तु भिन्न-भिन्न वर्गणाओं में भिन्न-भिन्न अनुभाग अर्थात् किसी वर्गणा में जघन्य, किसी में मध्यम और किसी में उत्कृष्ट अनुभाग होता है। मध्यम अनुभाग के अनेक भेद हैं और वर्गणा भी नाना हैं। इस प्रकार जिस समय जैसा अनुभाग उदय में आता है, उसके अनुरूप आत्मा के परिणाम होते हैं।............. जिस समय मंद अनुभाग उदय में आता है, उस समय मंद कषायरूप परिणाम होते हैं और उस समय ज्ञान व वीर्य का क्षयोपशम विशेष होने से आत्मा की शक्ति विशेष होती है। उस समय यदि यथार्थ उपदेश आदि का बाह्य निमित्त मिले और यह जीव तत्त्वविचारादि का पुरुषार्थ करे तो सम्यक्त्व हो सकता है।' आदि। वह युक्तियुक्त नहीं ठहतरता, क्योंकि इसमें भी तीव-मन्द भाव से परस्पराश्रयता बनी रहने के कारण न तो आत्मा कर्मोदय के विरुद्ध पुरुषार्थ कर सकता है, न ही ज्ञान का उदय हो सकता है और न ही उपदेश आदि का बाह्य निमित्त मिल सकता है, क्योंकि कर्मोदयमात्र मोक्षमार्ग का प्रतिबन्धक है, अत: 'कर्मोदय बलात् राग-द्वेष को उत्पन्न करते हैं और राग-द्वेष बलात् कर्म का बन्ध कराते हैं' इस सिद्धान्त के स्वीकार करने पर मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ कभी नहीं बन सकेगा यह जो आपत्ति हमने दी है, वह उचित ही है।

यदि अपर पक्ष ने '**प्रेर्यते कर्म जीवेन**' इत्यादि वचन कादाचित्क नियम के रूप में

उपस्थित किया है तो इससे अपर पक्ष के इस सिद्धान्त का खण्डन हो जाता है कि 'कर्म जीव में बलात् राग-द्वेषादि को उत्पन्न करता है।'

अत: प्रकृत में यह सब कथन व्यवहारनय का वक्तव्य ही समझना चाहिए। ब्रह्मदेवसूरि ने बृहद्द्रव्यसंग्रह गा. 37 में जो कुछ लिखा है, वह ठीक ही लिखा है। उन्होंने एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में बलात् कार्य करता है, इस सिद्धान्त को स्वीकार करके वह वचन नहीं लिखा है, अतएव उनका वैसा लिखना उचित ही है। उनके लिखने का आशय ही इतना है कि यदि यह जीव कर्मोदय और इसके फल में उपयुक्त न हो तो वह संसारपरिपाटी से मुक्त हो सकता है।

अपर पक्ष ने इष्टोपदेश गाथा 31 की टीका से '**कत्थ वि बलिओ कम्मो**' यह वचन उद्धृत किया है। किन्तु इसका भी आशय इतना ही है कि जब तक यह जीव उदयाधीन होकर परिणमता है, तब तक **कर्म की बलवत्ता कही जाती है। कर्म ने उदयाधीन किया नहीं। वह स्वयं उसके आधीन हुआ है।** किन्तु जब यह जीव कर्मोदय में तन्मय न होकर अपने स्वभाव के सन्मुख होता है, तब आत्मा की बलवत्ता कही जाती है। इष्टोपदेश गा. 31 की समग्र टीका पर दृष्टिपात करने से यही भाव व्यक्त होता है।

अपर पक्ष ने लिखा है कि '**प्रेर्यमाणाः पुद्गला**' का जो वाच्य अर्थ है, वह ही जिनागम में इष्ट है, क्योंकि शब्दों का और अर्थ का परस्पर वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। किन्तु प्रश्न तो यही है कि '**प्रेर्यमाणाः**' पद का वाच्यार्थ क्या है ? इसे तो स्पष्ट किया नहीं और लम्बी-चौड़ी टीका कर डाली। इसी का नाम तो चतुराई है। जिनागम में तो इसका यह अर्थ है कि राग-द्वेष से मलीमस आत्मा के योग और विकल्प को निमित्तकार जो पुद्गल शब्दरूप से परिणमते हैं, वे प्रेर्यमाण पुद्गल कहलाते हैं। अच्छी बात है यदि अपर पक्ष इस वाच्य को स्वीकार कर लेता है और अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य में बलात् कार्य कर देता है, इत्यादि प्रकार की गलत मान्यता को त्याग देता है। ऐसी अवस्था में उसके द्वारा आगम का अर्थ करने में जो अनर्थ हो रहा है, उसका सुतरां त्याग हो जायेगा।

समयसार गाथा 116 आदि में जीव को जो परिणामी नित्य सिद्ध किया है, वह स्वमत का ही निरूपण है। परमत का खण्डन उसका लक्ष्य नहीं है। **प्रत्येक कार्य में बाह्य निमित्त का स्वीकार है, इसमें सन्देह नहीं। चाहे वह अगुरुलघुगुण का परिणमन हो या अन्य परिणमन, बाह्य निमित्त की स्वीकृति सर्वत्र है। किन्तु यह परिणामी स्वभाव में बाधा न आवे, इस रूप में ही है, अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य का बलात् कार्य करता है, इस रूप में नहीं। प्रत्येक परिणाम बाह्य**

निमित्त से मिलकर नहीं होता, उससे पृथक् रूप में उपादान में ही होता है, इसलिए उस परिणाम को उपादान ही उत्पन्न करता है, बाह्य निमित्त नहीं। समयसार गाथा 80, 81, 82 का यही आशय है। यही कारण है कि समयसार गाथा 107 में 'करता है, परिणमता है, उत्पन्न करता है, ग्रहण करता है, त्यागता है, बाँधता है' इत्यादि कथन को असद्भूत व्यवहारनय का वक्तव्य कहा है। अपर पक्ष इस गाथा के इस वचन पर दृष्टि डालने का कष्ट करे—

यत्तु व्याप्य-व्यापकभावाभावेऽपि प्राप्यं विकार्यं निर्वृत्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म गृह्णाति, परिणमयत्युत्पादयति करोति वध्नाति वात्मेति विकल्पः स किलोपचारः।

तथा व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव होने पर भी प्राप्य, विकार्य और निर्वृत्य पुद्गल द्रव्यात्मक कर्म को आत्मा ग्रहण करता है, परिणमाता है, उत्पन्न करता है, करता है और बाँधता है-इत्यादिरूप जो विकल्प होता है, वह उपचार है।

इससे अपर पक्ष का यह विचार है कि 'वह गाथा निमित्त कारण की अपेक्षता से नहीं लिखी गई, किन्तु उपादान की अपेक्षा से लिखी गई' उसका निरास हो जायेगा। गाथा में ही जब '**आदा**' पद कर्त्ता के अर्थ में और '**पुग्गलकम्मं**' पद कर्म के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ऐसी अवस्था में यह लिखना कि 'वह गाथा निमित्त कारण की अपेक्षा से नहीं लिखी गई, किन्तु उपादान की अपेक्षा से लिखी गई' बहुत बड़ा साहस है। टीका यही कहती है कि आत्मा और पुद्गल कर्म में व्याप्यव्यापक भाव नहीं है, फिर भी जो यह कहा जाता है कि 'आत्मा ने पुद्गल कर्म को उत्पन्न किया' वह अज्ञानी का विकल्पमात्र है, अतएव उपचरित कथन है, क्योंकि उपादान ही अपने कार्य को उत्पन्न करता है, अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य के कार्य को उत्पन्न नहीं करता। मात्र अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य के कार्य को उत्पन्न करता है।—ऐसा विकल्पमूलक व्यवहार होता है। हमने प्रश्न नं. 1 व 16 में निमित्तकर्त्ता की स्वीकृति समयसार गाथा 100 के अनुसार ही दी है। किन्तु इससे अपर पक्ष प्रेरक निमित्तकर्त्ता का स्वेच्छा से जैसा अर्थ करता है, उसका समर्थन नहीं होता। **विवाद शब्द प्रयोग में नहीं है, उसके अर्थ करने में है।**

किसी व्यक्ति को स्त्री आदि विषयों के आधीन देखकर स्त्री को उपदेश नहीं दिया जाता कि तुमने इसे अपने आधीन क्यों बना रखा है, किन्तु पुरुष को ही उसके यथार्थ कर्तव्य का भान कराया जाता है। इससे स्पष्ट है कि **यह जीव पर में आनन्द की मिथ्या कल्पनावश स्वयं विषयाधीन बनता है, विषय उसे पराधीन नहीं बनाते।** यहाँ जीव के पराधीन बनने में विषय

बाह्य निमित्त तो है, उसके कर्ता नहीं। इसी प्रकार कार्य में बाह्य निमित्त का क्या स्थान है, इसका सर्वत्र निर्णय कर लेना चाहिए।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. 410 में यद्यपि प्रारम्भ में आकाशद्रव्य और अन्य द्रव्यों की आधाराधेयता का विचार किया गया है। परन्तु आगे वह कथन यहीं तक सीमित नहीं रहा है। किन्तु उस द्वारा सब द्रव्यों में उत्पादादिक विस्रसा है या सहेतुक, इस का उत्तर निश्चयनय और व्यवहारनय से दिया गया है। अत: अपर पक्ष का यह लिखना कि 'श्लोकवार्तिक पृ. 410 का कथन प्रेरक निमित्त कारण के विषय में नहीं है, किन्तु धर्मादि द्रव्यों के विषय में है जो अप्रेरक है।' युक्तियुक्त नहीं है।

अपर पक्ष का कहना है कि 'निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध निश्चयनय का विषय नहीं है।' पर इससे क्या? देखना यह है कि यह सम्बन्ध उपचरित है या नहीं। हम इसी उत्तर में पहले असद्भूत व्यवहार का आगम से स्पष्टीकरण कर आये हैं। उसमें भेद में अभेद का उपचार करना, इसे असद्भूत व्यवहार बतलाया गया है। इससे यह सम्बन्ध उपचरित ही सिद्ध होता है।

अपर पक्ष ने अपने पक्ष के समर्थन में आलापपद्धति '**भिन्नवस्तुविषयो**' इस लक्षण का सहारा लिया है। किन्तु वहाँ एक वस्तु में भेद व्यवहार को भिन्न वस्तु कहा गया है। अपर पक्ष आलापपद्धति में इसके उत्तर भेदों के जो उदाहरण दिये है, उन पर दृष्टिपात करले, सब स्पष्ट हो जायगा। वैसे यह लक्षण भी आलाप पद्धति के किये गये असद्भूत व्यवहारनय के '**अन्यत्र प्रसिद्धस्य**' इत्यादि लक्षण का पूरक ही है। समयसार गाथा 56 की आत्मख्याति टीका में व्यवहानय का '**इह हि व्यवहारनयः....... परभावं परस्य विदधाति**' यह लक्षण किया है। इससे हमारे उक्त कथन की पुष्टि हो जाती है। अतएव उक्त लक्षण के आधार से भी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध उपचरित ही सिद्ध होता है। इस प्रश्न के प्रथम उत्तर में हमने इसी आशय से इसका निरूपण किया है।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. 151 में द्विष्ठ कार्य-कारणभाव को व्यवहारनय से परमार्थसत् लिखा है। इसलिए अपर पक्ष इस उल्लेख को बहुत महत्त्व देता है। अनेक प्रपत्रों में उस पक्ष ने इसकी अनेकबार चर्चा की है। अब विचार यह करना है कि वहाँ विद्यानन्दि आचार्य ने ऐसा क्यों लिखा? बात यह है कि बौद्धदर्शन रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार आदि को संवृतिसत् मानता है। क्योंकि वह दर्शन पर्यायों में अन्वित होनेवाले द्रव्य को नहीं स्वीकार करता। तत्त्व को मात्र क्षणिक मानता है। किन्तु जैनदर्शन की यह स्थिति नहीं है। अतएव उपादान और उपादेय

के कालभेद की अपेक्षा भिन्न होने पर भी एक द्रव्यप्रतयासत्ति के कारण इनमें कथंचित् तादात्म्य बन जाने से आचार्य विद्यानन्दी ने सद्‌भूत व्यवहारनय को ध्यान में रखकर द्विष्ठ (दो में स्थित) कार्य-कारण भाव को वस्तुत: परमार्थसत् कहा है, क्योंकि उपादान अपने स्वरूप से स्वत: सिद्ध है और उपादेय अपने स्वरूप से स्वत:सिद्ध है। इनमें उपादान और उपादेयरूप धर्म वास्तविक है। इस सम्बन्ध में आचार्य विद्यानन्दि के ये शब्द लक्ष्य में लेने योग्य है। वही पृ. 150 में वे लिखते हैं—

कार्य-कारणभावस्य हि सम्बन्धस्यावाधितथाविधप्रतयथारूडस्य स्व सम्बन्धिनी वृत्तिः कथंञ्चित्तादात्म्यमेवानेकान्तवादिनोच्यते।

अबाधित तथाविध प्रतयारूढ़ कार्य-कारणभावरूप (उपादान-उपादेय-भावरूप) सम्बन्ध को अपने सम्बन्धियों में वृत्ति कथञ्चित् तादात्म्यरूप ही अनेकान्तवादियों ने स्वीकार की है।

यह आचार्य विद्यानन्दि का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। '**तदेवं व्यवहारनयसमाश्रयणे**' इत्यादि वचन लिखकर उन्होंने मुख्यता से इसी कार्य-कारणभाव को अर्थात् उपादान-उपादेय भाव को परमार्थसत् कहा है। इसके लिए तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. 150 अवलोकनीय है। बाह्य सामग्री और कार्य में कार्य-कारणभाव (निमित्त-नैमित्तिकभाव) केवल कालप्रत्यासत्ति को ध्यान में रखकर स्वीकार किया गया है, क्योंकि कालप्रत्यासत्तिरूप से जैसे बाह्य सामग्री की सत्ता है, उसी प्रकार कार्यद्रव्य की भी सत्ता है। इस रूप में ये दोनों परमार्थसत् है। इससे द्विष्ठ कार्य-कारणभाव को परमार्थसत् कालप्रत्यासत्तिवश कहा है, यह भी ज्ञात हो जाता है और इनमें निमित्त-नैमित्तिक व्यवहार असद्‌भूतव्यवहारनय का विषय कैसे है, यह भी ज्ञात हो जाता है।

अपर पक्ष ने धवला पु. 6, पृ. 164 के उल्लेख के सन्दर्भ में उपादान कारण के अनुसार स्थितिबन्ध में विशेषता को स्वीकार कर लिया, यह उचित ही किया है, क्योंकि **सर्वत्र सभी कार्य उपादान के अनुसार होते हैं यह परमार्थसत् कथन है।** इस उल्लेख में '**पयडिविसेसादो**' पद का यही आशय है। इस विशेषता का उल्लेख आचार्य वीरसेन ने धवला और जयधवला दोनों में शताधिक बार किया है। कहीं '**सहावदो**' लिखा है। इसके लिए धवला पु. 4 पृ. 343 व 368, पु. 5 पृ. 88, पु. 6 पृ. 148 व 317, पु. 10 पृ. 226 व 240, पु. 11 पृ. 249 व 309, पु. 12 पृ. 37, जयधवला पु. 7 पृ. 74, 75, 83, 84, 95, 96, 111, 240, 242 व 274 आदि पृष्ठ द्रष्टव्य है। 'पयडिविसेसादो' इसके लिए धवला पु. 6 पृ. 178, 163, 164, पु. 12 पृ. 49 तथा

जयधवला पु. 7, पृ. 75, 87, 90, 94, 95, 97, 98, 99, 111, 115, 116, 117, 121, 131, 132 आदि पृष्ठ अवलोनीय हैं। इन सब उल्लेखों द्वारा उपादान को महत्ता ही घोषित की गई है।

ऐसी अवस्था में धवला पु. 6 पृ. 164 के उक्त उल्लेख में आये हुए '**एयंतेण**' पद का अपर पक्ष ने जो आशय लिया है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि इस पद द्वारा ब्राह्यार्थ सापेक्षपने को कहनेवाले व्यवहार पक्ष के एकान्त का निषेधकर परनिरपेक्ष निश्चयपक्ष का समर्थन किया गया है। **कारण कि सभी कार्य निश्चय से परनिरपेक्ष ही होते हैं। व्यवहार से ही उन्हें सहेतुक स्वीकार किया गया है, क्योंकि निश्चयनय मात्र वस्तुस्वरूप का उद्‍घाटन करता है, इसलिए वह परनिरपेक्षरूप से ही वस्तुस्वरूप के दिखलाने में प्रवृत्त होता है। परन्तु व्यवहारनय की यह स्थिति नहीं है। कारण कि सापेक्षभाव से वस्तु की सिद्धि करना उसका प्रयोजन है।** उदाहरणार्थ भव्यों और अभव्यों का स्वरूप परनिरपेक्ष स्वत: सिद्ध है। मात्र इनका व्यवहार परस्पर सापेक्ष होता है। इसी प्रकार प्रकृत में जान लेना चाहिए। यही कारण है कि आचार्य वीरसेन ने धवला पु. 7 पृ. 117 में सभी कार्य बाह्यार्थ कारण निरपेक्ष होते हैं, इस तथ्य को स्वीकार करते हुए लिखा है—

वज्झत्थकारणणिरवेक्खो वत्थुपरिणामो।

इससे स्पष्ट है कि प्रकृत में अपर पक्ष ने उक्त उल्लेख में आये हुए '**एयंतेण**' पद का जो आशय किया है, वह ठीक नहीं है।

इसी प्रसंग में अपर पक्ष का कहना है कि 'यद्यपि कार्य उपादान के सदृश होता है, तथापि ऐसा भी नहीं है कि उसपर बाह्य कारणों का प्रभाव न पड़ता हो।' आदि। किन्तु अपर पक्ष का ऐसा लिखना भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि जिसे अपर पक्ष 'प्रभाव पड़ना' कहता है, वह कया कोई वस्तु है या कथनमात्र है? यदि वस्तु है तो क्या आगम के विरुद्ध यह स्वीकार किया जाये कि एक वस्तु के गुणधर्म का दूसरी वस्तु में संक्रमण होता है। यदि नहीं तो वह कथनमात्र है इसके सिवाय उसे और क्या कहा जा सकता है? अर्थात् कुछ भी नहीं। यही कारण है कि 'एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के कार्य को करता है' इसे आगम में असद्‍भूत व्यवहानय का विषय बतलाया गया है।

अपर पक्ष ने यहाँ पर बीज और भूमिका उदाहरण उपस्थित कर यह सिद्ध करना चाहा है कि एक ही बीज अलग अलग भूमि के कारण अलग अलग फल को उत्पन्न करता है और इसकी पुष्टि में प्रवचनसार गाथा 255 का उल्लेख किया है। समाधान यह है कि अन्तरंग की

सिद्धि करना यही तो व्यवहार हेतु का मुख्य प्रयोजन है। वह स्वयं अन्तरंगरूप नहीं हो जाता, किन्तु अन्तरंग की सिद्धि करता है। पण्डितप्रवर आशाधरजी ने अनगारधर्मामृत अ. 1 में '**कर्त्राद्या वस्तुनो भिन्नाः**' इत्यादि श्लोक (102) इसी आशय से लिखा है। नियम यह है कि जितने कार्य होते हैं, उतने ही उनके अन्तरंग (उपादान) कारण और बाह्य कारण होते है। धवला पु. 7, पृ. 70 में इसका समर्थन करते हुए आचार्य वीरसेन लिखते है—

तदो अज्जमेत्ताणि चेव कम्माणि वि अत्थि त्ति णिच्छओ कायव्वो।

इसलिए जितने कार्य हैं, उतने ही उनके कर्म है—ऐसा निश्चय करना चाहिए।

इसलिए यदि प्रवचनसार के उक्त उल्लेख में बाह्य कारण की अपेक्षा विवेचन हुआ है तो इस परसे ऐसा गलत अभिप्राय नहीं फलित करना चाहिए कि 'अन्तरंग कारण के एक होने पर भी बाह्य कारण के भेद से कार्य में भेद देखा जाता है, क्योंकि वस्तुतः बीज एक नहीं है। जितने दाने हैं, सब अपने अपने स्वचतुष्टय को लिये हुए पृथक् पृथक् हैं। इसलिए सिद्धान्त यह फलित होता है कि सबकी बाह्याभ्यन्तर सामग्री पृथक्-पृथक् होने से पृथक्-पृथक् फलनिष्पन्न होता है। नियत आभ्यन्तर सामग्री के साथ नियत अयत बाह्यसामगी के होने का योग है। इसलिए उनको निमित्तकर नियत फल की ही उत्पत्ति होती है।' धवला पु. 6 पृ. 164 के उक्त उल्लेख को और प्रवचनसार गाथा 255 के उल्लेख को मिलाकर समझने की आवश्यकता है। **कार्य-कारण परम्परा में नियत निश्चय पक्ष के साथ नियत व्यवहार पक्ष को स्वीकार करने पर ही अनेकान्त की सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं।**

अपर पक्ष ने इसी प्रसंग में अन्य बहुत-सी बातें लिखीं है। उन सबसे अपर पक्ष के सभी प्रपत्र भरे पड़े हैं। इसलिए उन सबकी हम विशेष चर्चा नहीं करेंगे। किन्तु स्वयम्भूस्तोत्र 60 का उल्लेख कर अपर पक्ष ने जो यह लिखा है कि 'कार्य की उत्पत्ति अन्तरंग-बहिरंग निमित्ताधीन है, ऐसा वस्तु स्वभाव है।' यह अवश्य ही विचारणीय है। अपर पक्ष के इस कथन को पढ़कर ऐसा लगा कि वह अपने पक्ष के समर्थन के अभिनिवेश में यहाँ तक कहने के लिए उद्यत हो गया। उस पक्ष को ऐसा लिखकर 'हम वस्तु स्वभाव को पराधीन सिद्ध करने जा रहे हैं' इस बात का अणुमात्र भी भय न हुआ, इसका समग्र जैन परम्परा को आश्चर्य होगा। प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रुव स्वभाव है। इनकी एक सत्ता है। लक्षण, संज्ञा आदि के भेद से ही इनमें भेद स्वीकार किया गया है। पर्याय का लक्षण है - तद्भाव। तत्त्वार्थसूत्र अ. 5 में कहा भी है— '**तद्भावः परिणामः**' (सू. 42) इसकी व्याख्या करते हुए अष्टसहस्री पृ. 129 में लिखा है—

तेन तेन प्रतिविशिष्टेन रूपेण भवनं हि परिणमः, सहक्रमभाविप्वशेषपर्यायेषु तस्य भावादव्याप्त्यसम्भवात्, तदभावे च द्रव्ये तदनुपपत्तेः।

उस उस प्रतिविशिष्टरूप से होना ही परिणाम है, क्योंकि सहभावी और क्रमभावी अशेष पर्यायों में अर्थात् गुणों और पर्यायों में उक्त लक्षण का सद्भाव होने से अव्याप्ति दोष नहीं आता। यदि उसका अभाव माना जाये तो द्रव्य में परिणाम विशेष नहीं बन सकता।

इससे स्पष्ट है कि गुणपर्यायत्त्व यह द्रव्य का स्वरूप है। ऐसी अवस्था में यदि कार्य को अपर पक्ष के मतानुसार निमित्ताधीन स्वीकार कर लिया जाय तो वस्तु स्वभाव के पराधीन हो जाने से वस्तु को ही पराधीन स्वीकार करने का प्रसंग उपस्थित होता है जो अनुभव, तर्क और आगम तीनों के विरुद्ध है। स्पष्ट है कि कोई भी कार्य निमित्ताधीन नहीं होता। निमित्त की निमित्तता विश्व के शाश्वत नियमानुसार प्रत्येक समय में प्रतिविशिष्ट स्वभावयुक्त वस्तु के साथ बाह्य व्याप्तिमात्र है। कार्य-कारण परम्परा में या अन्यत्र निमित्त को स्वीकार करने का इतना ही तात्पर्य है। यह कार्य की सापेक्ष रूप से सिद्धि करता है, इसलिए उसमें कर्ता आदि का व्यवहार किया जाता है। यदि बाह्य सामग्री कार्य का वास्तविक कर्त्ता हो तो वह कार्य का 'स्व' हो जायेगा और ऐसी अवस्था में वह व्यवहार कथन न कहलाकर स्वाश्रितपने की अपेक्षा निश्चय कथन ही माना जायेगा। अतएव 'कार्य की उत्पत्ति अन्तरंग-बहिरंग निमित्ताधीन है—ऐसा वस्तुस्वभाव है' यह लिखना अपर पक्ष के लिए योग्य नहीं है, हमने प्रश्न 11 के प्रथम उत्तर में तथा प्रश्न 1 के द्वितीय उत्तर में बाह्य सामग्री को ध्यान में रखकर जो भी लिखा है, वह व्यवहार दृष्टि को ध्यान में रखकर ही लिखा है। अपर पक्ष निश्चय-व्यवहार की भेदक रेखा को यदि स्वीकार कर लेता है तो विश्वास है कि जिन तथ्यों का हम अपने उत्तरों में निर्देश कर रहे हैं, उन्हें स्वीकार करने में उस पक्ष को किसी प्रकार की हिचकिचाहट नहीं होगी।

हमने धवला पु. 12 पृ. 36 का उद्धरण उपस्थित कर अन्तरंग कारण की कार्य के प्रति विशेषता ख्यापित की थी, उसे अपर पक्ष ने किसी हद तक अपने विशेष विवरण के साथ मान्यता प्रदान की, इसकी जहाँ प्रसन्नता है, वहाँ यह संकेत कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि अन्तरंग कारण प्रत्येक वस्तु का स्वरूप है, अत: वह यथार्थ होने से उसके आधार पर बनाया गया नियम सर्वत्र एक समान लागू होता है। अपर पक्ष ने इसी पुस्तकसम्बन्धी पृ. 453, पृ. 380 और पृ. 120 के जो उल्लेख उपस्थित किये हैं, उनसे भी उक्त कथन का ही समर्थन होता है। विचार के लिए हम सर्व प्रथम अपर पक्ष के निर्देशानुसार पृ. 453 का उल्लेख लेते हैं। जो जीव

ज्ञानावरणीय का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करता है, उसके यदि आयुकर्म का बन्ध हो तो कैसा होता है, इसी तथ्य का विचार इस प्रकरण में चल रहा है। अन्तिम दो शंका-समाधान इस प्रकार हैं—

शंका -ज्ञानावरणीय की उत्कृष्ट स्थितिप्रायोग्य परिणामों के द्वारा आयुकर्म का चतु:स्थानपतित बन्ध कैसे होता है ?

समाधान - यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि ज्ञानावरणीय की उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के योग्य परिणामों में भी अन्तमुर्हूत मात्र आयु की स्थिति के बन्ध के योग्य परिणाम सम्भव है।

शंका - एक परिणाम भिन्न कार्यों को करनेवाला कैसा होता है ?

समाधान - सहकारी कारणों के सम्बन्धभेद से उसके भिन्न कार्यों के करने में कोई विरोध नहीं है।

यह आगम वचन है। अब यहाँ इस बात का विचार करना है कि वे सहकारी कारण कौन है जिनके सम्बन्ध से एक परिणाम को भिन्न कार्यों का करनेवाला कहा गया है ?

जहाँ तक स्वामी का सवाल है, जो एक जीव (मनुष्य या तिर्यञ्च) ज्ञानावरण की उत्कृष्ट स्थिति बाँध रहा है, वही आयुकर्म की चतु:स्थानपतित स्थिति बाँध रहा है, इसलिए स्वामिभेद तो है नहीं। परिणामभेद भी नहीं है, क्योंकि एक ही परिणाम से दोनों की उक्त स्थिति का बन्ध हो रहा है। इसी प्रकार काल और क्षेत्र का भी भेद नहीं है, क्योंकि जिस काल या क्षेत्र में विवक्षित जीव ज्ञानावरण की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध कर रहा है, उसी काल या क्षेत्र में वह आयु कर्म की भी चतु:स्थानपतित स्थिति का बन्ध कर रहा है। इस प्रकार जो बाह्य सामग्री ज्ञानावरण के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के लिए प्राप्त है, वही बाह्य सामग्री आयुकर्म के चतु:स्थानपतित स्थिति बन्ध के लिए भी प्राप्त है। फिर ऐसी कौनसी सहाकरी सामग्री है जिसके सम्बन्ध भेद से एक परिणाम भिन्न कार्यों को करनेवाला प्रकृत में स्वीकार किया गया है ? क्या कारण है कि उसी सामग्री के सद्भाव में ज्ञानावरण का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध हो और आयुकर्म का चतु:स्थानपतित यथायोग्य स्थितिबन्ध हो ? अर्थात् उत्कृष्ट त्रिभाग के प्रथम समय में आयुकर्म का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध हो और बाद में आगम में बतलाई हुई विधि के अनुसार असंख्यात भागहानि आदि को लिए हुए स्थितिबन्ध हो । इतना ही क्यों ? कोई कर्मवर्गणा ज्ञानावरणादिरूप परिणमे और कोई आयुकर्मरूप परिणमे, ऐसा क्यों ? इत्यादि अनेक प्रश्न हैं जो यहाँ समाधान चाहते हैं। अपर पक्ष ने मात्र उक्त उद्धरण तो उपस्थित कर दिया, पर उसका आशय क्या है यह स्पष्ट नहीं किया। इसलिए अपर पक्ष यदि इस उद्धरण पर से यह तात्पर्य फलित करना चाहे कि 'कहीं कार्य में आभ्यन्तर सामग्री

की प्रधानता रहती है और कहीं बाह्य सामग्री की प्रधानता रहती है' तो ऐसी मान्यता के बनाने में उसे किसी भी उल्लेख से सफलता नहीं मिल सकती।

विचार कर देखा जाये तो यहाँ पर आचार्य सहकारी सामग्री से शक्तिभेद को लिए हुए ज्ञानावरण और आयुकर्म की अपने-अपने स्थिति बन्ध के योग्य सामग्री को ही ग्रहण कर रहे है, क्योंकि जितने भी कार्य होते हैं, वे अन्तरंग-बहिरंग सामग्री से प्रतिबद्ध होकर ही होते हैं। (धवला पु. 12, पृ. 37)। धवला पु. 6, पृ. 148 में आचार्य वीरसेन लिखते हैं कि जिस समयप्रबद्ध में तीस कोड़ाकोडि सागरोपम स्थितिवाले परमाणु पुद्गल होते हैं, उनमें एक समय, दो समय, तीन समस आदि से लेकर तीन हजार वर्षप्रमाण कालस्थिति वाले पुद्गल स्वभाव से नहीं होते। इससे स्पष्ट है कि प्रतिनियत बाह्य सामग्री के साथ प्रतिनियत आभ्यन्तर सामग्री के होने का प्रतिनियम है और इसी प्रतिनियम का धवला पु. 12 पृ. 413 में उक्त शब्दों द्वारा उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार पृ. 380 व 120 के अपर पक्ष द्वारा उल्लिखित उल्लेखों के विषय में भी स्पष्टीकरण समझ लेना चाहिए। सहकारी कारण, कार्य की अन्तरंग सामग्री के लिए भी कहा जाता है। इसके लिए तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. 65 के '**दण्डकपाटप्रतरलोकपूरण**' आदि वचन पर तथा सर्वार्थसिद्धि अ. 1 सू. 7 पर दृष्टिपात कीजिए। **बाह्य और आभ्यन्तर दोनों सहकारी सामग्री का सहकारी साधन कहलाते हैं। जहाँ सामान्य निर्देश हो, वहाँ प्रकरण को देखकर उसका अर्थ करना चाहिए।**

अपर पक्ष ने लिखा है कि 'जो मात्र आत्मपरिणाम से मोक्ष मानते हैं, उनके लिए यह विचारणीय हो जाता है कि द्रव्यकर्म की शक्ति भी अपेक्षित है, मात्र अकषाय परिणामों से ही कर्मों का पात सम्भव नहीं है।' समाधान यह है कि कर्मों का घात स्वयं उनके अपने परिणमन का फल है, अकषाय परिणाम तो उसमें निमित्तमात्र है। उसी प्रकार आत्मा का मोक्ष स्वयं आत्मा का कार्य है, द्रव्यकर्मों की निर्जरा तो उसमें निमित्तमात्र है। ऐसे ही निश्चय-व्यवहार की व्यवस्था है। एक दूसरे का कार्य नहीं करता। किन्तु उसकी प्रसिद्धि का हेतु होने से वह व्यवहार हेतु कहलाता है। अपने कार्य का निश्चय हेतु वह द्रव्य स्वयं होता है। यदि अपर पक्ष ने उक्त वचन द्वारा इसी तथ्य को सूचित किया है तो उसे सर्वत्र कार्य-कारणपरम्परा में इस नियम को स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। ऐसी अवस्था में उस पक्ष को समर्थ उपादान किसे कहते हैं और बाह्य सामग्री में निमित्त व्यवहार क्यों किया जाता है, इसे हृदयंगम करने में कठिनाई नहीं जायेगी।

धवला पु. 1, पृ. 363-367 में मन:पर्ययज्ञान की उत्पत्ति के बाह्य हेतुओं का निर्देश किया गया है, आभ्यन्तर हेतु का नहीं। आभ्यान्तर हेतु समर्थ उपादान है। उससे युक्त संयमपरिणाम और द्रव्य-क्षेत्र-कालादि मन:पर्ययज्ञान की उत्पत्ति के बाह्य हेतु हैं, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। अवधिज्ञान की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ऐसा ही एक प्रश्न धवला पु. 13 पृ. 29 में उठाकर उसका दूसरे प्रकार से समाधान किया गया है। उल्लेख इस प्रकार है—

जदि सम्मत-अणुव्वद-महव्वदेहिंतो ओहिणाणमुप्पज्जदि तो सव्वेसु 'असंजद-सम्माइट्ठिसंजदासंजद-संजदेसु ओहिणाणं किण्ण उवलब्भदे? ण एस दोसो? असंखेज्ज-लोगमेत्तसम्मत्त-संजम-संजमासंजमपरिणामेसु ओहिणाणावरणक्त्व-ओवसमणिमित्ताणं परिणामाणमइथोवत्तादो। ण च ते सव्वेसु संभवंति, तप्पडिवक्ख-परिणामाण बहुत्तेण तदुवलद्धीए थोवत्तादो।'

शंका - यदि सम्यक्त्व, अणुव्रती और महाव्रती के निमित्त से अवधिज्ञान उत्पन्न होता है तो सब असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयतो के अवधिज्ञान क्यों नहीं पाया जाता?

समाधान - यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि सम्यक्त्व, संयमासंयम और संयमरूप परिणाम असंख्यात लोकप्रमाण है। उनमें से अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम के निमित्तभूत परिणाम अतिस्तोक हैं, वे सबके सम्भव नहीं हैं, क्योंकि उनके प्रतिपक्षभूत परिणाम बहुत हैं, इसलिए उनकी उपलब्धि बहुत थोड़ी होती है।

ये दो समाधान है। एक का उल्लेख अपर पक्ष ने किया है और दूसरा यह है। इससे स्पष्ट है कि **आचार्य एक ही प्रश्न का समाधान विविध प्रकार से करते हैं, जिनसे प्रत्येक कार्य की प्रतिनियत बाह्य-अभ्यन्तर सामग्री की सूचना मिलती है। अतएव यह व्याप्ति बन जाती है कि प्रत्येक कार्य की आभ्यन्तर सामग्री के अनुरूप ही बाह्य सामग्री होती है। इसमें व्यत्यय नहीं होता। मात्र बाह्य सामग्री परद्रव्य का परिणाम होने से वह कार्य की यथार्थ जनक नहीं है। इसी अर्थ में उसे कार्य के प्रति अकिंचित्कर कहा जाता है जो युक्तियुक्त है। पर वह निश्चय की सिद्धि का हेतु है, इसलिए व्यवहानय की अपेक्षा उसके माध्यम से वस्तु की सिद्धि करने में आपत्ति नहीं। पर ऐसे कथन को उपचरित कथन ही समझना चाहिए।**

हमने प्रश्न 6 के उत्तर में लिखा था कि 'व्यवहार के विषय को निश्चयरूप मान कर उत्तर दिये गये हैं।' हमें प्रसन्नता है कि अपर पक्ष ने हमारे उक्त कथन को 'यदि निश्चय से अभिप्राय वास्तव का है तो हमको इष्ट है।' इन शब्दों में स्वीकार कर लिया है। किन्तु उस पक्ष ने इसी

प्रसंग में जो यह लिखा है कि 'यदि अभिप्राय निश्चयनय से है तो आपने निश्चयनय के स्वरूप पर दृष्टि नहीं दी।' आदि। समाधान यह है कि हमारी निश्चयनय के स्वरूप पर बराबर दृष्टि है। स्वाश्रित अभेदरूप जितना भी कथन है, वह निश्चयनय का विषय है। जब आत्मोपलब्धि के अभिप्राय से यह जीव प्रवृत्त होता है, तब उसकी दृष्टि में बन्ध-मोक्ष आदि रूप भेद व्यवहार तथा उपचरित व्यवहार गौण (उपेक्षित) होकर एकमात्र स्वाश्रित अभेदरूप ज्ञायकस्वभाव आत्मा का अवलम्बन रहता है, क्योंकि इसके अवलम्बन से तत्स्वरूप परिणमन द्वारा ही आत्मोपलब्धि होना सम्भव है। इसकी प्राप्ति का अन्य मार्ग नहीं है। किन्तु जब यह जीव संसारी बने रहने के कारण का विचार करता है, तब भी भेद व्यवहार और उपचरित व्यवहार दृष्टि में गौण होकर अज्ञानरूप परिणत आत्मा को ही उसका प्रधान हेतु मानता है। **स्वाश्रित अभेदरूप कथन दोनों हैं, अन्तर इतना है कि मोक्षमार्ग में आलम्बन की दृष्टि से 'स्व' पद से अभेदरूप ज्ञायक आत्मा लिया गया है और संसार के प्रमुख कारण की दृष्टि में 'स्व' पद से अज्ञानभावरूप परिणत आत्मा लिया गया है।** निश्चयनय जो सामान्य लक्षण है, वह सर्वत्र घटित होता है। यही कारण है कि प्रथम नय शुद्ध निश्चयनय कहलाता है। इसका स्वरूप निर्देश करते हुए नयवक्रादि संग्रह पृ. 71 में लिखा है—

कम्माणं मज्णगदं जीवं जो गहइ सिद्धसंकासं।
भण्णइ सो सुद्धणओ खलु कम्मोवाहिणिरवेक्खो॥ 191॥

कर्मों के मध्य स्थित जीव को जो सिद्ध जीवों के समान ग्रहण करता है, वह नियम से कर्मोपाधिनिरपेक्ष शुद्धनय कहलाता है॥ 161॥

तथा इसके अतिरिक्त जो निश्चयनय का दूसरा भेद है, वह सोपाधि अभेदरूप वस्तु को कहता है, इसलिए उसकी अशुद्ध निश्चयनय संज्ञा है। त्रैकालिक वस्तुस्वरूप वैसा नहीं है, इसलिए इसे अशुद्ध निश्चयनय कहा गया है। साथ ही शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि में इसे व्यवहार माना गया है। पर निश्चयनय का लक्षण घटित होने से यह भी निश्चयनय है, ऐसा यहाँ समझना चाहिए। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैसा वस्तु का स्वरूप है, निश्चयनय उसकी उसी रूप में कहता है। त्रैकालिक वस्तुस्वरूप को कहनेवाला शुद्ध निश्चयनय है, इसलिए उसकी दृष्टि में पर्यायरूप बन्ध-मोक्ष का निषेध किया गया है। परन्तु रागादिकरूप परिणत आत्मा यदि निश्चयस्वरूप न माना जाय और उेस कहने वाले नय को निश्चयनय न कहा जाय तो रागादि आत्मा के प्रतिविशिष्ट स्वरूप नहीं ठहरेंगे और ऐसी अवस्था में बन्ध-मोक्ष का अभाव होकर

आत्मा का ही अभाव मानना पड़ेगा। हमें इस बात का आश्चर्य है कि अपर पक्ष आगम में निश्चयनय और व्यवहारनय के जो लक्षण और भेद किये है, उस पर दृष्टिपात तो करता नहीं और इच्छानुसार टीका कर अपने अभिप्राय की पुष्टि करना चाहता है। आलापपद्धति में निश्चयनय के लक्षण और भेदों का निर्देश इन शब्दों में किया है—

तत्र निश्चयोऽभेदविषयः। .... तत्र निश्चयनयो द्विविधः शुद्धनिश्चयोऽशुद्धनिश्चयश्च।

अतएव प्रकृत में निश्चयनय को लक्ष्य में रखकर अपर पक्ष ने 'यदि अभिप्राय निश्चयनय से है तो आपने निश्चयनय के स्वरूप पर दृष्टि नहीं दी।' आदि जो कुछ लिखा है, वह सब युक्तियुक्त नहीं।

अपर पक्ष बन्ध को व्यवहारनय का विषय समझता है पर ऐसी बात नहीं है, क्योंकि रागादि बन्धरूप परिणत आत्मा अशुद्ध निश्चयनय का विषय है, उसका गुण-गुणी आदि भेदरूप से कथन सद्भूत व्यवहारनय का विषय है और जीव द्रव्यकर्म से बद्ध है, इस प्रकार सर्वथा भेद में अभेदरूप कथन असद्भूत व्यवहारनय का विषय है। अध्यात्मदृष्टि में सद्भूत व्यवहारनय का जो विषय यहाँ बतालया गया है, वह असद्भूत व्यवहारनय का विषय हो जाता है, क्योंकि अध्यात्म में रागादि परभाव है। उनको जीव का कहना असद्भूत व्यवहारनय का विषय है। इतना यहाँ विशेष समझना चाहिए। निश्चयनय सम्बन्धी विशेश स्पष्टीकरण इसके पूर्व ही कर आये हैं।

अपर पक्ष ने यहाँ पर '**सममत्तपडिणिबद्ध**' इत्यादि तीन गाथाओं का उल्लेखकर मिथ्यात्वादि पद से मुख्यतया द्रव्यकर्म का ग्रहण किया है, जब कि उक्त गाथाओं में मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय शब्दों का प्रयोग है। इनकी टीका में पण्डिप्रवर जयचन्दजी ने भी इन्हीं शब्दों को मूल आगम के अनुसार रखा है। अपर पक्ष को इनका अर्थ करने में भ्रम का कारण 'कर्म' शब्द है। कर्म शब्द दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है- भावकर्म और द्रव्यकर्म। **आत्मगुणों का मुख्यतया प्रतिबन्धक भावकर्म है और उसका निमित्त होने से द्रव्यकर्म असद्भूत व्यवहारनय से उसका प्रतिबन्धक कहा जाता है।** समयसार गाथा 88 में ये मिथ्यात्वादि भाव दोनों प्रकार के बतलाये हैं। आगम का भी यही अभिप्राय है। प्रवचनसार गा. 117 की टीका में लिखा है—

क्रिया खल्वात्मना प्राप्यतवात्कर्म, तन्निमित्तप्राप्तपरिणमः पुद्गलोऽपि कर्म।

क्रिया वास्तव में आत्मा के द्वारा प्राप्त होने से कर्म है। उसके निमित्त से परिणमन को प्राप्त होता हुआ पुद्गल भी कर्म है।

इसी तथ्य को गाथा 122 में और भी स्पष्ट किया है। वहाँ लिखा है—

परिणामो सवमादा स पुण किरिय त्ति होदि जीवमया।
किरिया कम्मं ति मदा तम्हा कम्मस्स ण दु कत्ता॥ 122॥

परिणाम स्वयं आत्मा है और वह जीवमय क्रिया है तथा क्रिया को कर्म माना गया है, इसलिए आत्मा द्रव्यकर्म का कर्त्ता नहीं है॥ 122॥

इस सम्बन्ध में उसकी टीका विशेषरूप से अवलोकनीय है।

अपर पक्ष ने यहाँ अपने पक्ष के समर्थन में जितने वचन दिये हैं, उन सब में कहीं भी द्रव्यकर्म की मुख्यता परिलक्षित नहीं होती। आचार्य जयसेन का जो 'शुभशुभमनोवचन-कायव्यापररूपं' इत्यादि वचन अपर पक्ष ने उपस्थित किया है, उसमें भी प्रधानता मिथ्यात्वादि भावों की ही दी गई है। इसलिए प्रकृत में यही समझाना चाहिए कि वस्तुतः मिथ्यात्वादि भाव आत्मा के सम्यक्त्व आदि के प्रतिबन्धक हैं। ये मिथ्यात्वादि भाव द्रव्यकर्म के संयोग में उपलब्ध होते हैं, इसलिए असद्भूत व्यवहारनय से द्रव्यकर्म का उदय भी इसका प्रतिबन्धक कहा जाता है। **द्रव्यकर्म हेतुः तस्य, द्रव्यकर्मसंयुक्तत्वोपलभ्यमानत्वात्।** (प्रवचनसार गा. 121 टीका)। यही भाव हमने अपने पिछले उत्तर में प्रगट किया है और पूरे प्रकरण पर दृष्टिपात करने से यही उचित प्रतीत होता है। इसमें निश्चयपक्ष और व्यवहारपक्ष दोनों का अन्तर्भाव हो जाने से एकान्तर का परिहार भी हो जाता है। पं. श्री जयचन्द्रजी महान् विद्वान तथा अनेक ग्रन्थों के आगमानुकूल अर्थ करनेवाले थे। उन्होंने इन तीन गाथाओं की जिन शब्दों में व्याख्या की है तथा इनकी टीका का अर्थ स्पष्ट किया है, कम से कम अपर पक्ष उन्हीं शब्दों तक अपने को सीमित रखता, तब तो उनके नामस्मरण की कुछ सार्थकता थी, अन्यथा उनका नाम ले कर अपने एकान्त पक्ष के समर्थन में कुछ सार नहीं।

अपर पक्ष का कहना है कि **'निमित्तों का सम्यक् ज्ञान कराने के लिए'** ये शब्द किसी आगम के तो है नहीं, किन्तु आपकी निजी नवीन कल्पना है जो कि मान्य नहीं है। सो मालूम पड़ता है कि अपर पक्ष बन्ध-मोक्ष को तो जानना चाहता है, पर उनके निमित्तों को नहीं जानना चाहता। तभी तो उक्त शब्दों को उस पक्ष ने टीका योग्य माना है। वास्तव में देखा जाये तो आगम में छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय आदि का जितना भी उपदेश पाया जाता है वह सब सम्यक् ज्ञान कराने के लिए ही उपलब्ध होता है। अस्तु,

अपर पक्ष ने अपराध सहेतुक है या निर्हेतुक इसकी चर्चा करते हुए यह तात्पर्य फलित

किया है कि 'इसलिए अपराध के कारणरूप पर द्रव्य का प्रथम त्याग होना चाहिए, उसके पश्चात् ही अपराध का दूर होना संभव है। आदि।' समाधान यह है कि **बाह्य वस्तु का त्याग और बाह्य वस्तु विषयक राग का त्याग ये दो वस्तु नहीं हैं, दो कथन हैं। अतएव यथार्थ में जहाँ बाह्य वस्तुविषयक राग से निवृत्ति है, वहीं बाह्य वस्तु के त्याग का व्यवहार यथार्थ माना जाता है,** अन्यथा वह कोरा त्याग है। बाह्य वस्तुविषयक अपराध बना रहे और बाह्य वस्तु का त्याग उसके पूर्व हो जाय ऐसी मान्यता का समर्थन करना अपर पक्ष को ही शोभा देता है। दिगम्बर परम्परा और इतर परम्परा की प्ररूपणा में अनतर यह है कि **जहाँ बाह्य वस्तु वस्त्रादिविषयक राग नहीं है वहां बाह्य वस्तुविषयक ग्रहण का न तो विकल्प है और न प्रवृत्ति ही है, यह तो दिगम्बर परम्परा की मान्यता है** और इतर परम्परा की मान्यता यह है कि बाह्य वस्तु वस्त्रादिविषयक ग्रहण का विकल्प भी बना रहे और वैसी प्रवृत्ति भी हो तो भी वस्त्रादिविषयक राग नहीं होता। स्पष्ट है कि दिगम्बर परम्परा विवक्षित निश्चय की प्राप्ति के साथ तदनुकूल व्यवहार को ही समीचीन मानती है, जबकि इतर परम्परा निश्चय की प्राप्ति के पूर्व ही अकेले व्यवहार को यथार्थ मानती है। यही कारण है कि '**कोटि जनम तप तपै ज्ञान बिन कर्म झरें जे।**' इत्यादि रूप समीचीन कथन दिगम्बर परम्परा तक ही सीमित है। इस विषय में दिगम्बर परम्परा का हार्द क्या है, इसे भगवान् कुन्दकुन्द ने समयसार गाथा 265 में स्पष्ट किया है। यहाँ वे लिखते हैं—

वथ्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होइ जीवाणं।
ण य वत्थुदो दु बंधो अज्णवसाणेण बंधो त्थि॥ 265॥

जीवों के जो अध्यवसान होता है, वह वस्तु को अवलम्बन कर होता है। तथापि वस्तु से बन्ध नहीं होता, अध्यवसान से बन्ध होता है॥ 265॥

आचार्य अमृतचन्द्र ने इस गाथा की उत्थानिका में ये शब्द लिखे हैं—

न च बाह्यवस्तु द्वितोयोऽपि बन्धहेतुरिति शंक्यम्।

इसका आशय स्पष्ट करते हुए पं. श्री जयचन्द्रजी लिखते हैं—

आगे कहते हैं कि जो बाह्य वस्तु है, वह बन्ध का कारण है कि नहीं ? कोई समझेगा कि जैसे अध्यवसान बन्ध का कारण है, वैसे अन्य बाह्य वस्तु भी बन्ध का कारण है, सो ऐसा नहीं है, एक अध्यवसान ही बन्ध का कारण है-

इसकी आत्मख्याति टीका में लिखा है -

अध्यवसानमेव बन्धहेतुः न बाह्यवस्तु, तस्य बन्धहेतोरध्यवसानस्य हेतुत्वेनैव चरितार्थत्वात्। तर्हि किमर्थो बाह्यवस्तुप्रतिषेधः ? अध्यवसानप्रतिषेधार्थम्।

अध्यावसान ही बन्ध का कारण है, बाह्य वस्तु नहीं, क्योंकि बन्ध का कारण जो अध्यवसान है, उसके हेतुरूप से ही उसकी चरितार्थता है।

शंका - तो बाह्य वसतु का प्रतिषेध किसलिए किया जाता है ?

समाधान - अध्यवसान के प्रतिषेध के लिए।

बाह्य वस्तु से बन्ध क्यों नहीं होता, इसका समाधान आचार्य जयसेन ने इन शब्दों में किया है—

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां व्याभिचारात्। तथा हि - बाह्यवस्तुनि सति नियमेन बन्धो भवति इति बन्वयो नास्ति, तदभावे बन्धो भवतीति व्यतिरेकोऽपि नास्ति।

बाह्य वस्तु के साथ बन्ध का अन्वय-व्यतिरेक नहीं करता, इसलिए बाह्य वस्तु बन्ध का कारण नहीं है। यथा - बाह्य वस्तु के होने पर नियम से बन्ध होता है, इसलिए बन्वय नहीं बनता तथा बाह्य वस्तु के अभाव में बन्ध होता है, इसलिए व्यतिरेक भी नहीं बनता।

इससे स्पष्ट है कि जिसे अपर पक्ष बाह्य वस्तु का त्याग कहता है, वह तभी यथार्थ कहलाता है जब अध्यवसान का त्याग हो। दिगम्बर परम्परा ऐसे ही त्याग को यथार्थ कहती है। आगम में इच्छाओं प्रमुख रूप से परिग्रह कहने का कारण भी यही है। **आचार्यों का आशय यह है कि जहाँ बाह्य वस्तुविषयक इच्छा नहीं है, वहाँ बाह्य वस्तु का ग्रहण वन ही नहीं सकता।** उसका त्याग तो इच्छा के त्याग में समाहित है ही। यही दिगम्बर परम्परा है जो नित्यशः वन्दनीय है।

इसी प्रसंग में अपर पक्ष ने कलश नं. 220 आदि की चर्चा की है। परद्रव्य हो और राग-द्वेष न हो तथा परद्रव्य न हो और राग-द्वेष की उत्पत्ति हो, यह सम्भव है, इसलिए परद्रव्य स्वयं राग-द्वेष का उत्पादक नहीं है। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए कलश 220 लिखा गया है। परद्रव्य में निमित्त व्यवहार कब होता है, जब उसमें यह रागी, द्वेषी और मोही होता है। यह तथ्य कलश 221 द्वारा स्पष्ट किया गया है। पर के लक्ष्य से राग, द्वेष, मोह होता है, इसलिए जिनागम में पर के त्याग का भी उपदेश है, पर उस द्वारा पर में इष्टानिष्ट या निज बुद्धि से उपयुक्त होने का ही त्याग कराया गया है वह आशय समयसार गाथा 283-285 का है। अतः इन सब की संगति है। पूर्वापर विरोध तब आता है जब पर को रागादि की उत्पत्ति में व्यवहार हेतु न स्वीकार

कर उसे यथार्थ हेतु स्वीकार किया जाता है। अपर पक्ष को पर को यथार्थ मानने की अपनी मान्यता का ही त्याग करना है। इसके त्याग होते ही जो हम लिख रहे हैं, उसकी यथार्थता अपर पक्ष को सुरां भासित होने लगेगी।

इससे यह तथ्य सुतरां फलित हो जाता है कि परद्रव्य अपने से भिन्न दूसरे द्रव्य के कार्य का स्वयं निमित्त नहीं है, किन्तु उससे सम्पर्क कर जब अन्य द्रव्य व्यापार करता है तब उसमें, निमित्त व्यवहार होता है।

हमने लिखा था कि 'दूरातिदूर भव्य भी मुनिचर्या (व्यवहारचारित्र) के द्वारा अहमिन्द्र पद पा सकता है।' इस पर टीका करते हुए अपर पक्ष ने जयधवला पु. 2 पृ. 389 का उल्लेख उपस्थित कर उक्त अभिप्राय का खण्डन किया है। जयधवला का वचन इस प्रकार है—

केसिं पि अणादिओ अपज्जवसिदो, अभव्वेसु अभव्वसमाणभव्वेसु च णिच्चणिगोद-भावमुपगएसु अवट्ठाणं मोत्तूण भुजगारमप्पदराणमभावादो।

किन्हीं जीवों के अवस्थित विभक्तिस्थान अनादि-अनन्त होता है, क्योंकि जो नित्य निगोदभाव को प्राप्त हुए अभव्य और अभव्यों के समान भव्य हैं, उनके अवस्थित स्थान के सिवाय भुजगार और अल्पतरस्थान नहीं पाये जाते हैं।

इसलिए उक्त उल्लेख से इस तथ्य का समर्थन नहीं होता कि 'जो दूरातिदूर भव्य हैं, वे निगोद में ही रहते हैं। वे मुनलिंग अथवा व्यवहारचारित्र धारण कर अहमिन्द्र नहीं हो सकते।' मेरी समझ से जयधवला में उक्त उल्लेख का अर्थ करने में गलती हुर्अ है, अत: उसमें सुधार आपेक्षित है। दृष्टान्त इष्टार्थ का ज्ञान कराताा है। पर वह सर्वथा लागू नहीं होता। यह विषय परामर्श विशेष की अपेक्षा रखता है, इसलिए उस पर परामार्श होना चाहिए। इसे विवाद का विषय बनाना उचित नहीं है।

अपर पक्ष ने पिछले पत्रक में 'व्यवहारचारित्र प्रत्येक दशा में सफल है' यह लिखा था। यहाँ उक्त कथन के आशय को स्पष्ट किया है। **हमें व्यवहारचारित्र को परम्परा मोक्ष का कारण कहने में या उसे निश्चयचारित्र का साधक कहने में आपत्ति नहीं है। हमारा कहना तो इतना ही है कि अपर पक्ष जो इन शब्दों का अर्थ करता है, वह ठीक नहीं है।** व्यवहार के स्वरूप और प्रयोजन को समझ कर उन्हें इन शब्दों का अर्थ करना चाहिए।

यदि हमसे कोई पूछे कि जो मिथ्यादृष्टि से सम्यग्दृष्टि बनता है उसके मिथ्यादृष्टि अवस्था

में इसके पूर्व मितनी विशेषता हो जताी है तो हम अपर पक्ष के कथनानुसार यह तो कहेंगे ही कि वह सच्चे देव–गुरु–शास्त्र में गुरुपदेश आदि को ग्रहण कर श्रद्धावान् हो जाता है, आदि। किन्तु इसके सिवाय यह भी कहेंगे—

1. वह मोक्षमार्ग में द्रव्यलिंग की महिमा न स्वीकार कर भावलिंग की महिमा स्वीकार करने लगता है। साथ ही उसके विशुद्धि आदि लब्धियों का सन्निधान नियम से होता है।

2. पंच परमेष्ठी के सिवाय वह अन्य सबकी पूजा–भक्ति से विरत हो जाता है।

3. षट्द्रव्यादि के प्रज्ञानपूर्वक निश्चय मोक्षमार्ग के उपदेश को वह श्रद्धापूर्वक स्वीकार करता है।

4. इन्द्रिय विषयों में तीव्र आसक्ति के अभावस्वरूप उसके सम्यग्दृष्टि के अनुरूप बाह्य भूमिका नियम से बन जाती है।

5. उसके द्रव्यरूप में 25 दोषों और छह अनायतनों का त्याग होकर सम्यक्त्व के आठ अंगों के प्रति आदरभाव प्रकट हो जाता है। आदि।

किन्तु यह सब होने पर भी उसे सम्यक्त्व प्राप्त हो ही जायेगा, ऐसा नहीं है। उसकी जब भी प्राप्ति होगी, स्वभावसन्मुख होकर तत्स्वरूप अनुभूति के प्रकाश में ही होगी। इसलिए **प्रत्येक भव्य जीव को मात्र मन्दकषायरूप बाह्य प्रवृत्ति में मग्न न होकर स्वभावसन्मुख होने का सतत अभ्यास करते रहना चाहिए।**

अपर पक्ष हमारे कथन के आशय को स्वीकार कर ले तो फिर हमारा उस पक्ष से कोई विरोध नहीं है। मोक्षमार्ग के निरूपण में सांसारिक लाभालाभ की दृष्टि रखना हेय है, क्योंकि स्वर्गादिक की प्राप्ति मोक्षमार्ग की प्राप्ति नहीं है। और न यह भी नियम है कि जो स्वर्गादि गति के अधिकारी होते हैं, उन्हें मोक्षमार्ग की प्राप्ति नियम से होती है, अन्य को नहीं होती। **इसलिए यथार्थ को जानकर स्वभाव प्राप्ति में उद्यमशील होना, यही प्रत्येक भव्य का कर्तव्य है।**

अपर पक्ष ने सर्वार्थसिद्धि 7, 19 की चर्चा करते हुए जिन तीन बातों का निर्देश किया है उसका उत्तर है—

1. इस जीव को पर का त्याग करना है, इसका अर्थ – पर का सम्पर्क त्यागना है। स्पष्ट है कि पर दुखदायक नहीं, पर का सम्पर्क दु:खदायक है। पर का सम्पर्क करे या न करे, इसमें आत्मा स्वाधीन है।

2. कर्मोदय में उपयुक्त होना या न होना, इसमें आत्मा स्वतन्त्र है।

3. घर से सम्बन्ध का त्याग करना इसका अर्थ घर विषयक राग-मूर्च्छा का त्याग करना है। यही घर का त्याग व्यवहार से कहलाता है। इसके सिवाय घर का त्याग अन्य वस्तु नहीं।

आचार्य अमृतचन्द्र ने गा. 283-285 की टीका में जो कुछ कहा है, उसका स्पष्टीकरण पहले इसी उत्तर में कर आये है तथा यहाँ भी अपर पक्ष के तीन विकल्पों को ध्यान में रखकर क्रमशः किया है।

भावागार का त्यागवाला बुद्धिपूर्वक घर में नहीं ठहरता, यह तो ठीक है, पर घर में ठहर नहीं सकता है, यह ठीक नहीं है। शून्यागार में मूर्च्छा हो जाये तो वह भी घर ही है। पर भावमुनि के होती नहीं। अन्य की चर्चा करना व्यर्थ है।

'गृहे वसन्नपि' का अर्थ हमने घर में बैठा किया है। इसे अपर पक्ष आगमानुकूल नहीं मानता। पर में रहना और बैठना इसमें विशेष क्या फर्क हो गया, इसे वही पक्ष जाने। हमें यह इष्ट है कि भावमुनि के लिए आत्मा के सिवाय अन्य सब पर घर है। इसलिए वह अपने आत्मा में ही ठहरता है, स्थित होता है, बैठता है। वह शून्यागार में ठहर सकता है, यह कहना भी व्यवहार ही है।

निश्चय-व्यवहार का अविनाभाव है। इसलिए हमने निश्चयचारित्र के साथ व्यवहारचारित्र के होने की बात 'दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाऊण' (द्रव्यसंग्रह गा. ४७) इस सिद्धान्त को ध्यान में रखकर की थी। अपर पक्ष का कहना है कि 'यदि यह माना जायेगा तो सातवाँ गुणस्थान होने पर वस्त्रत्याग, केशलोंच, महाव्रतधारण आदि व्यवहारचारित्र की क्रिया होगी।' समाधान यह है कि यह क्रिया तो भावमुनि होने के पूर्व नियम से हो जाती है, क्योंकि यह क्रिया उसका बाह्य परिकर है, किन्तु वह सम्यक् व्यवहारचारित्र, निश्चय चारित्र के होने पर ही कहलाती है। अतएव हमने जो कुछ भी लिखा है, वह आगम को ध्यान में रखकर ही लिखा है। दिगम्बर परम्परा में ऐसे व्यवहार को ही समीचीन माना गया है जो निश्चयपूर्वक होता है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में ऐसे मोक्षमार्ग का ही निर्देश किया गया है। अतएव आत्मसिद्धि के इच्छुक प्रत्येक धर्मात्मा का कर्तव्य है कि वह मोक्षमार्ग में अपने आत्मा को स्थापित करे, उसी का ध्यान करे, उसी को अनुभव गोचर करे और उसी आत्मा में निरन्तर रमे। अन्य द्रव्यों में भूलकर भी विहार न करे।

इस प्रकार प्रतिशंका का सांगोपांग समाधान किया।

●

प्रथम दौर

: १ :

नमः श्री वीतरागाय

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्।।

शंका 10

जीव तथा पुद्गल का एवं द्व्यणुक आदि स्कन्धों का बन्ध वास्तविक है या अवास्तविक ? यदि अवास्तविक है, तो केवली भगवान् उसे जानते हैं या नहीं ?

समाधान 1

इस प्रश्न का सम्यक् उत्तर प्राप्त करने के लिए पहले जीव और पुद्गल तथा दो आदि परमाणुओं के मध्य किस प्रकार का बन्ध जिनागम में स्वीकार किया गया है यह जान लेना आवश्यक है। जीव और पुद्गल के बन्ध का निर्देश प्रवचनसार गाथा १७७ की टीका में इस प्रकार किया है –

यः पुनः जीव-कर्मपुद्गलयोः परस्परपरिणामनिमित्तमात्रत्वेन विशिष्टतरः परस्परमवगाहः स तदुभयबन्धः।

जीव तथा कर्मपुद्गल के परस्पर परिणाम के निमित्तमात्र से जो विशिष्टतर परस्पर अवगाह होता है, वह तदुभयबन्ध है।

इसी प्रकार दो या दो से अधिक परमाणुओं का परस्पर निमित्त मात्र से विशिष्टतर परस्पर अवगाह लक्षण जो बन्ध होता है, वह स्कन्ध कहलाता है।

जिस प्रकार वैशेषिक दर्शन में संयोग को स्वतन्त्र गुण माना गया है, उस प्रकार जिनागम में उसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं की गई है। यही कारण है कि यहाँ व्यवहारनय का आश्रय लेकर दो द्रव्यों के परस्पर निमित्तमात्र से जो विशिष्टतर परस्पर अवगाह होता है, उसे बन्धरूप से स्वीकार किया गया है।

ऐसी अवस्था में यदि स्वचतुष्टय की अपेक्षा विचार करते हैं तो दो या दो से अधिक द्रव्य उक्त प्रकार से परस्पर अवगाह को प्राप्त होकर भी अपने अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप से पृथक्-पृथक् ही अपनी-अपनी सत्ता रखते हैं, अतएव निश्चयनय से बन्ध नहीं है। जैसा कि स्कन्ध की अपेक्षा पंचास्तिकाय गाथा ८१ की टीका में कहा गया है।

स्निग्ध-रूक्षत्वप्रत्ययबन्धवशादनेकपरमाण्वेकत्वपरिणतिरूपस्कन्धान्तरितोऽपि स्वभावमपरित्यज्यन्नुपात्तसंख्यत्वादेक एव द्रव्यमिति।

अर्थ – स्निग्ध-रूक्षत्व के कारण बन्ध होने से अनेक परमाणुओं की एकत्व परिणतिरूप स्कन्ध के भीतर रहा हो तथापि स्वभाव को न छोड़ता हुआ संख्या को प्राप्त होने से (अर्थात् परिपूर्ण के समान पृथक् गिनती में आने से) अकेला ही द्रव्य है।

व्यवहार और निश्चय से इसी विषय को स्पष्ट करते हुए नियमसार में भी कहा है –

पोग्गलदव्वं उच्चइ परमाणु णिच्छएण इदरेण।
पोग्गलदव्वो त्ति पुणो ववदेसो होदि खंधस्स॥ २९॥

अर्थ – निश्चय से परमाणु को पुद्गल द्रव्य कहा जाता है और व्यवहार से स्कन्ध को पुद्गल द्रव्य, ऐसा नाम होता है॥ २९॥

पुद्गलद्रव्यव्याख्यानोपसंहारोऽयम्-स्वभावशुद्धपर्यायात्मकस्य परमाणोरेव पुद्गलद्रव्यव्यपदेशः शुद्धनिश्चयेन। इतरेण व्यवहारनयेन विभावपर्यायात्मनां स्कन्ध-पुद्गलानां पुद्गलत्वमुपचारत सिद्धं भवति।

यह पुद्गल द्रव्य के कथन का उपसंहार है – शुद्ध निश्चयनय से स्वभावशुद्ध पर्यायात्मक परमाणु को ही पुद्गल द्रव्य ऐसा नाम होता है। इतर अर्थात् व्यवहारनय से विभावपर्यायात्मक स्कन्धपुद्गलों को पुद्गलपना उपचार से सिद्ध होता है।

इसी विषय को बहुत ही स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करते हुए प्रवचनसार गाथा १६१ की टीका में लिखा है –

अनेकपरमाणुद्रव्यस्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वानामनेकत्वेऽपि कथञ्चिदेकत्वेनाव-भासनात्।

क्योंकि अनेक परमाणु द्रव्यों के स्वलक्षणभूत स्वरूपास्तित्व (स्वद्रव्यचतुष्टय) अनेक

होने पर भी कथंचित् (स्निग्धत्व-रूक्षत्वकृत बन्ध परिणाम की अपेक्षा से) एकत्वरूप अवभासित होते हैं।

इस प्रकार जब कि दो सजातीय द्रव्यों के बन्ध को ही व्यवहार से बन्ध लिखा है तो जीव -पुद्गल दो विजातीय द्रव्यों के बन्ध को भी व्यवहार स्वरूप कैसे नहीं कहा जायेगा ?

इस प्रकार व्यवहारनय से ही पुद्गल और पुद्गल का तथा जीव और पुद्गल का बन्ध आगम में कहा गया है। इससे यह फलित हुआ कि जिस द्रव्य के जिस काल में जैसी अवस्था होती है, केवली भगवान् उसे ठीक उसी प्रकार से जानते हैं और जिस प्रकार से वे जानते हैं वही आगम में प्रतिपादित है।

●

द्वितीय दौर

: २ :

शंका 10

प्रश्न यह है - जीव तथा पुद्गल का एवं द्वयणुक आदि स्कन्धों का बन्ध वास्तविक है या अवास्तविक ? यदि अवास्तविक है तो केवली भगवान् उसे जानते हैं या नहीं ?

प्रतिशंका 2

आपने अपने उत्तर में जीव तथा पुद्गल का एवं द्वयणुकादि स्कन्धों का बन्ध स्वीकार करते हुए प्रवचनसार गाथा १७७ की टीका का उद्धरण देते हुए बतलाया है कि 'जीव तथा कर्म पुद्गल के परस्पर परिणाम के निमित्त मात्र से जो परस्पर विशिष्टतर अवगाह होता है, वह तदुभयबन्ध है। इसी प्रकार दो से अधिक परमाणुओं का परस्पर निमित्त मात्र से विशिष्टतर परस्पर अवगाहलक्षण जो बन्ध होता है, वह स्कन्ध कहलाता है।'

आगे आपने लिखा है कि वैशेषिक दर्शन में संयोग को जैसा स्वतन्त्र गुण माना है, वैसा

जिनागम में संयोग की स्वतन्त्र सत्ता नहीं स्वीकार की है और इस आधार पर आपने यह निष्कर्ष निकाला है कि उपर्युक्त प्रकार दो द्रव्यों के परस्पर निमित्त मात्र से जो विशिष्टतर परस्पर अवगाहरूप से बन्ध होता है वह व्यवहारनय का आश्रय लेकर ही होता है।

इसमें निम्न बातें विचारणीय हैं –

(१) इस बन्ध में आपने जो परस्पर बद्ध होने वाले दो द्रव्यों में परस्पर निमित्तता स्वीकार की है, उस परस्पर निमित्तता से आपका अभिप्राय क्या है?

(२) विशिष्टतर परस्पर अवगाह से आपने क्या समझा है?

(३) व्यवहारनय का आश्रय लेकर बन्ध होता है इसमें व्यवहारनय और उसकी बन्ध होने में आश्रयता का क्या आशय है?

इसके भी आगे आपने लिखा है कि उक्त प्रकार के परस्पर अवगाह को प्राप्त होकर भी बँधने वाले दोनों द्रव्य या दो से अधिक सभी द्रव्य अपने अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप से पृथक्-पृथक् ही अपनी-अपनी सत्ता रखते हैं, अतएव आपका कहना है कि निश्चयनय से बन्ध नहीं है। इसके लिए आपने पञ्चास्तिकाय गाथा ८१ की टीका का प्रमाण भी उपस्थित किया है, जिसके आधार पर आपने कहा है कि 'निश्चय से परमाणु को पुद्गल द्रव्य कहा जाता है और व्यवहार से स्कन्ध को पुद्गल द्रव्य कहा जाता है।'

इस विषय में भी हमारा आपसे प्रश्न है कि पृथक्-पृथक् दो आदि परमाणुओं में तथा स्कन्धस्वरूप दो आदि परमाणुओं में आप क्या अन्तर स्वीकार करते हैं? और उस अन्तर को आप वास्तविक मानते हैं या नहीं?

हमने यह प्रश्न आपके समक्ष इसलिये उपस्थित किया है कि हम देखते हैं कि जहाँ पृथक्-पृथक् अनेक परमाणु व्याघात रहित हैं वहाँ हम यह भी देखते हैं कि अनेक परमाणुओं का स्थूल स्कन्ध व्याघात सहित देखने में आता है। हम देखते हैं कि शरीर में चोट लगने पर जीव और नोकर्मरूप पुद्गल के एकरूप पिण्ड का ही यह परिणाम है कि जीव को दु:ख का अनुभव होने लगता है। बरसात में जो नदियों में पानी की बाढ़ आती है और वह जो हमारे सामने प्रलय का दर्दनाक रूप उपस्थित कर देती है, यह भी अनेक पुद्गल परमाणुओं के स्थूल एक अखण्ड स्कन्धरूपता का ही परिणाम है। कहाँ तक गणना की जाये, जो कुछ भी दृश्य जगत है, वह सब जीव और पुद्गल एवं नाना परमाणुओं के सत्यरूप में अनुभूत होने वाले बन्ध का ही परिणाम

है। तो आपकी दृष्टि में क्या यह सब अवास्तविक ही है अर्थात् कुछ नहीं है क्या? और यदि कुछ है और वह वास्तविक है तो फिर निश्चय एवं व्यवहार का जो भेद आप बतला रहे हैं, उसका फलितार्थ क्या है? कृपया स्पष्ट कीजिये।

जहाँ तक हमने आपके लेख से यह समझा है कि जीव और पुद्गल के परस्पर बन्ध में तथा नाना परमाणुओं के बन्ध में जो कुछ स्कन्धरूपता देखने में आती है, उसे आप अवास्तविक ही मानना चाहते हैं तो हम पुनः आपसे पूछना चाहते हैं कि सर्वज्ञ को इस अवास्तविक पिण्डरूप जगत् का ज्ञान होता है या नहीं? इस प्रश्न का संकेत हमने अपने मूल प्रश्न में भी किया था, जिसे आपने यह कहकर अपने उत्तर में टाल दिया है कि 'जिस द्रव्य की जिस काल में जैसी अवस्था होती है केवली भगवान् ठीक उसी प्रकार से उसे जानते हैं।'

हम पुनः आपसे कहना चाहते हैं कि आप हमारे मूल प्रश्न का तथा इस प्रतिप्रश्न में दशाये गये अन्य प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर देने का प्रयत्न करेंगे।

●

शंका 11

मूल प्रश्न - जीव तथा पुद्गल का एवं द्वयणुक आदि स्कन्धों का बन्ध वास्तविक है या अवास्तविक? यदि अवास्तविक है तो केवली भगवान् उसे जानते हैं या नहीं?

प्रतिशंका 2 का समाधान

मूल प्रश्न का उत्तर अनेक शास्त्रीय प्रमाण देकर पूर्व में यह दे आये हैं कि व्यवहारनय की अपेक्षा बन्ध है।

प्रतिशंका २ में पुनः ये प्रश्न उपस्थित किये गये हैं।

१. इस बन्ध में आपने जो परस्पर बद्ध होने वाले दो द्रव्यों में परस्पर निमित्तता स्वीकार की है, उस परस्पर निमित्तता से आपका अभिप्राय क्या है?

२. विशिष्टतर परस्पर अवगाह से आपने क्या समझा है?

३. व्यवहारनय का आश्रय लेकर बन्ध होता है उसमें व्यवहारनय और उसकी बन्ध में होने वाली आश्रयता का क्या आशय है?

४. उसके आगे हमारे वक्तव्य को ध्यान में रखकर यह प्रतिशंका की गई है कि पृथक्-

पृथक् दो आदि परमाणुओं में तथा स्कन्धस्वरूप दो आदि परमाणुओं में आप क्या अन्तर स्वीकार करते हैं ? और उस अन्तर को आप वास्तविक मानते हैं या नहीं ?

५. इसके आगे कुछ निष्कर्ष को फलित कर यह प्रश्न किया गया है कि सर्वज्ञ को इस अवास्तविक पिण्डरूप जगत् का ज्ञान होता है या नहीं ?

ये पाँच मुख्य शंकाएँ हैं। समाधान इस प्रकार है –

(1)

जीव के अज्ञानरूप मोह, राग, द्वेष परिणाम तथा योग, द्रव्यकर्म के बन्ध का निमित्त है और ज्ञानावरणादि कर्मों का उदय, अज्ञानरूप जीव भावों के होने में निमित्त है। इसी प्रकार दो पुद्गल परमाणुओं में स्निग्ध और रूक्ष गुण की द्वयधिकता परस्पर में बन्ध का निमित्त है, इसी प्रकार पुद्गल स्कन्ध में भी बन्ध का निमित्त जान लेना चाहिये। यही यहाँ दो द्रव्यों की परस्पर बद्धता की निमित्तता है।

(2)

जिन्हें अन्यत्र संश्लेष बन्ध लिखा है, उसका ठीक स्पष्टीकरण 'विशिष्टतर परस्पर अवगाह' पद से होता है। यों तो छहों द्रव्य व्यवहारनय की अपेक्षा एक क्षेत्र में उपलब्ध होते हैं। परन्तु वहाँ उन सबका निमित्त-नैमित्तिक भाव से विशिष्टतर अवगाह उपलब्ध नहीं होता। हाँ, उनमें से जिनमें निमित्त-नैमित्तिक भाव से विशिष्टतर अवगाह उपलब्ध होता है, उनमें ही बन्धव्यवहार किया जाता है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

(3)

'व्यवहारनय का आश्रय लेकर' इसका अर्थ 'व्यहारनय की अपेक्षा' इतना ही है। व्यवहारनय, यह ज्ञानपर्याय है। दो द्रव्यों का निमित्त-नैमित्तिक भाव से जो विशिष्टतर परस्पर अवगाह होता है, उसे व्यवहारनय की अपेक्षा बन्ध कहा है-यह हमारे कथन का तात्पर्य है। और इसी अभिप्राय से हमने मूल प्रश्न का उत्तर देते हुए यह वाक्य लिखा था 'यहाँ व्यवहारनय का आश्रय लेकर दो द्रव्यों के परस्पर निमित्तमात्र से जो विशिष्टतर परस्पर अवगाह होता है, उसे बन्धरूप से स्वीकार किया है।' इस वाक्य में 'व्यवहारनय का आश्रय लेकर' इस वाक्य का 'व्यवहारनय की अपेक्षा' ऐसा अर्थ करके उसको 'बन्धरूप से स्वीकार किया है।' इस वाक्य के साथ सम्बन्ध कर लेने पर पूरे वाक्य का अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

(4)

पृथक्-पृथक् दो आदि परमाणुओं में स्वभाव पर्याय होती है, जो एक समान भी हो सकती है और विसदृश भी हो सकती है। तथा स्कन्धस्वरूप दो आदि परमाणुओं में विभाव पर्याय होती है। नियम यह है कि बन्ध होने पर यदि दो परमाणुओं का बन्ध हो तो हीन गुणवाला परमाणु दो अधिक गुणवाले परमाणु रूप परिणम जाता है, इसलिए द्वयणुक स्कन्ध का सदृश परिणाम ही होता है। किन्तु सभी स्कन्ध मात्र परमाणुओं का बन्ध होकर ही नहीं बनते। बहुत से स्कन्ध अनेक स्कन्धों के मेल से भी बनते हैं। अत: उनमें सदृश और विसदृश दोनों प्रकार के परिणमन उपलब्ध होते हैं। जो सभी के अनुभव का विषय है। यही इनमें अन्तर है।

(5)

पिण्डरूप जगत् को अवास्तविक शब्द का प्रयोग करना भ्रमोत्पादक है। आगम में सत्ता दो प्रकार की मानी गई है- स्वरूपसत्ता और उपचरितसत्ता। स्वरूपसत्ता की अपेक्षा प्रत्येक परमाणु स्वतन्त्र है; दो या दो से अधिक परमाणु सर्वथा एक नहीं हुए हैं। किन्तु बन्ध होने पर उनमें जो एक पिण्डरूपता प्राप्त होती है, वह उपचरितसत् है। अतएव केवली जिन जैसे स्वरूप सत् को जानते हैं वैसे ही उपचरित सत् को भी जानते हैं। वर्गणाखण्ड प्रकृति अनुयोगद्वार में कहा भी है -

सइं भयवं उप्पण्णणाणदरिसी सदेवासुरमाणुसस्स लोगस्स आगदिं गदिं चयणोववादं बंधं मोक्खं इड्ढि ट्ठिदिं अणुभागं तक्कं कलं माणो माणसियं भुत्तं कदं पडिसेविदं आदिकम्मं अरहकम्मं सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सम्मं समं जाणदि विहरदि त्ति ॥८२॥

अर्थ - उत्पन्न हुए केवलज्ञान और केवलदर्शन से युक्त भगवान् स्वयं देवलोक और असुरलोक के साथ मनुष्य लोक की आगति, गति, चयन, उपपाद, बन्ध, मोक्ष, वृद्धि, स्थिति, युति, अनुभाग, तर्क, कल, मन, मानसिक, भुक्त, कृत, प्रतिसेवित, आदिकर्म, अरह:कर्म, सब लोकों, सब जीवों और सब भावों को सम्यक् प्रकार से युगपत् जानते हैं, देखते हैं और विहार करते हैं॥८२॥

●

तृतीय दौर

: 3 :

शंका 10

प्रश्न यह था - जीव तथा पुद्‌गल का एवं द्वयणुक आदि स्कन्धों का बन्ध वास्तविक है या अवास्तविक ? यदि अवास्तविक है तो केवली भगवान्‌ उसे जानते हैं या नहीं ?

प्रतिशंका 3

इस प्रश्न पर आपका उत्तर आ जाने पर उसके आधार पर जो विषय चर्चनीय हो गये थे और जिनका उत्तर आपसे प्राप्त करने की भावना से अपनी प्रतिशंका २ में हमने निबद्ध किये थे, वे निम्नप्रकार हैं -

१. इस बन्ध में आपने जो परस्पर बद्ध होने वाले दो द्रव्यों में परस्पर निमित्तता स्वीकार की है, उस परस्पर निमित्तता से आपका क्या अभिप्राय है ?

२. विशिष्टतर परस्पर अवगाह से आपने क्या समझा है ?

३. व्यवहारनय का आश्रय लेकर बन्ध होता है, इसमें व्यवहारनय और उसकी बन्ध होने में आश्रयता का क्या आशय है ?

४. पृथक्‌-पृथक्‌ दो आदि परमाणुओं में तथा स्कन्धस्वरूप दो आदि परमाणुओं में आप क्या अन्तर स्वीकार करते हैं ? और इस अन्तर को आप वास्तविक मानते हैं या नहीं ?

५. (यदि जगत्‌ अवास्तविक पिण्डरूप है तो) सर्वज्ञ को इस अवास्तविक पिण्डरूप जगत्‌ का ज्ञान होता है या नहीं ?

1

उक्त चर्चनीय विषयों में से प्रथम चर्चनीय विषय का उत्तर देते हुए यद्यपि आपने स्वीकार किया है कि 'जीव के अज्ञानरूप मोह, रागद्वेष परिणाम तथा योग द्रव्यकर्म के बन्ध का निमित्त है' लेकिन 'ज्ञानावरणादि कर्मों का उदय अज्ञानरूप जीवभावों के होने में निमित्त है'—

यह वाक्य प्रत्युत्तर में देखकर तो आश्चर्य का ठिकाना ही नहीं रह सकता है, कारण कि जितने अंश में ज्ञानावरण कर्म का उदय जीव में विद्यमान रहता है, उससे तो ज्ञान का अभावरूप अज्ञान ही होता है, जिसे द्रव्यकर्म के बन्ध का कारण न तो आगम में माना गया है और न आप ही ने माना है। आपके द्वितीय वक्तव्य में स्पष्ट लिखा हुआ है कि 'अज्ञानरूप मोह, राग, द्वेष परिणाम तथा योग द्रव्यकर्म के बन्ध के निमित्त हैं।' इसमें आगम का भी प्रमाण देखिये –

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य सण्णसण्णा दु।
बहुविहभेया जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामां ॥१६४॥
णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होति।
तेसिं पि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो ॥१६५॥

– *समयसार आस्त्रवाधिकार*

टीका – मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगाः पुद्गलपरिणामाः, ज्ञानावरणादिपुद्गल-कर्मास्त्रवणनिमित्तत्वात्किलास्त्रवाः। तेषां वदास्त्रवणनिमित्तत्वनिमित्तं अज्ञानमया रागद्वेष-मोहाः। तत आस्त्रवणनिमित्तत्वनिमित्तत्वाद् रागद्वेषमोहा एव आस्त्रवाः।

– *आत्मख्याति टीका*

गाथाओं का अर्थ टीका के अर्थ से ही समझा जा सकता है, अतः यहाँ टीका का ही अर्थ दिया जाता है।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग—ये सब पुद्गल के विकार हैं, ये चूँकि ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्मों के आस्त्रव में निमित्त होते हैं, अतः इन्हें आस्त्रव नाम से कहा जाता है। पुद्गल के विकारभूत इन मिथ्यात्वादिक में ज्ञानावरणादि कर्मों के आस्त्रवण की जो निमित्तता (कारणता) पायी जाती है, उसके निमित्त जीव के अज्ञानमय राग, द्वेष और मोहरूप परिणाम हैं, इसलिये ज्ञानावरणादि कर्मों के आस्त्रवण के लिये मिथ्यात्वादि पुद्गल विकारों में पायी जाने वाली निमित्तता की उत्पत्ति में भी कारण होने से आत्मा के परिणामस्वरूप राग, द्वेष और मोहरूप भाव ही आस्त्रव हैं।

यहाँ राग, द्वेष और मोहरूप भावों को ही अज्ञान शब्द का वाच्य अर्थ स्वीकार किया गया है और उन्हीं को आस्त्रव (बन्ध का कारण) कहा गया है।

यदि कहा जाये कि मोह, राग और द्वेष उपयोग (ज्ञान) के ही तो विकार हैं और वह

उपयोग ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से ही उत्पन्न होता है, इसलिये अज्ञान में ज्ञानावरण कर्म के उदय को निमित्त कहना ठीक है, तो इसका उत्तर यह है कि जिस उपयोग के विकार को राग, द्वेष और मोह कहा गया है। वह तो ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला ज्ञानभाव ही है, ज्ञानावरण कर्म के उदय से होने वाला ज्ञान के अभावरूप अज्ञानभाव वह नहीं है। समयसार में कहा भी है –

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णायव्वो॥ ८८॥

अर्थ – मोह कर्म से युक्त जीव के उपयोग (ज्ञान) के अनादि से ही मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरतिरूप विकार जानना चाहिए।

गाथा में जो उपयोग शब्द आया है उसका अर्थ ज्ञान ही होता है; ज्ञान का अभाव नहीं। मिथ्यात्व और अविरति के बीच में जो अज्ञान शब्द का पाठ गाथा में किया गया है, वह भी ज्ञान के अभावरूप अर्थ का बोधक नहीं है। किन्तु उस ज्ञानभाव का ही बोधक है, जो मोहकर्म के उदय में विकारी हो रहा है।

ऐसा तो प्रतीत नहीं होता कि इतनी मोटी गलती आगम की अजानकारी में बुद्धिभ्रम से ही की गई हो। वास्तविक बात तो यह मालूम देती है कि मोक्षमार्ग में सिर्फ वस्तुस्वरूप के ज्ञान को ही महत्त्व दिया जा रहा है और चारित्र के विषय में तो यह ख्याल है कि वह तो अपने आप नियति के अनुसार समय आने पर हो ही जायेगा, उसके लिये पुरुषार्थ करने की आवश्यकता नहीं है। बस। एक यही कारण मालूम देता है कि बन्ध के कारणों में ज्ञानावरण कर्म के उदय से होने वाले ज्ञान के अभावरूप अज्ञानभाव को कारण मानना आवश्यक समझा गया है और यह वाक्य लिखा गया है कि 'ज्ञानावरणादि कर्मों का उदय अज्ञानरूप जीव के भावों के होने में निमित्त है।'

परन्तु यह भी मोटी भूल का ही परिणाम है, क्योंकि यदि वस्तुस्वरूप के ज्ञान के लिये पुरुषार्थ को महत्त्व दिया जाता है तो 'चारित्र अपने आप हो जायेगा'—यह सिद्धान्त संगत नहीं हो सकता है। यदि यह कहा जाये कि ज्ञान के साथ चारित्र के लिए भी पुरुषार्थ करना चाहिये, तो 'भावलिंग के होने पर द्रव्यलिंग होता है' (देखो प्रश्न १ का उत्तर) इस सिद्धान्त को कैसे मान्यता दी जा सकती है ? फिर तो जितना ज्ञानी बनने के लिए जनता को उपदेश दिया जाता है, कम से कम उतना ही उपदेश चारित्रवान् बनने के लिये भी क्यों नहीं दिया जाता?

तथा व्यवहारचारित्र को अयथार्थ और उपचरित मानते हुए केवल संसार का कारण क्यों कहा जाता है ?

वास्तविक बात यह है कि चारित्र का पालन करना तलवार की धारपर चलने के समान है, इसलिए अपने जीवन को कष्टकर भासने वाली प्रवृत्तियों से अलग रखकर 'केवल वस्तुस्वरूप का ज्ञान करने तक सीमित करके भी मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है'—ऐसी धारणा जिसने बना ली हो, वह व्यक्ति जीवन के लिये कष्टकर भासने वाले चारित्र के मार्ग पर चलने के लिये क्यों उत्साहित होगा ? लेकिन ऐसे व्यक्ति की यह तीसरी भूल होगी। कारण कि समयसार में इस बात का स्पष्ट कथन किया गया है कि केवल वस्तुस्वरूप का ज्ञान कर लेने से मनुष्य सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता है। प्रमाण निम्न प्रकार है –

किं च यदिदमात्मास्त्रवयोर्भेदज्ञानं तत्किमज्ञानं किं वा ज्ञानम्? यद्यज्ञानं तदा तदभेदज्ञानान्न तस्य विशेषः। ज्ञानं चेत्, किमास्त्रवेषु प्रवृत्तं किं वास्त्रवेभ्यो निवृत्तंम्? आस्त्रवेषु प्रवृत्तं चेत्तदपि तदभेदज्ञानान्न, तस्य विशेषः। आस्त्रवेभ्यो निवृत्तं चेत्तर्हि कथं न ज्ञानादेव बन्धनिरोधः इति निरस्तो अज्ञानांशः क्रियानयः। यत्त्वात्मास्त्रवयोर्भेदज्ञानमपि नास्त्रवेभ्यो निवृत्तं भवति तज्ज्ञानमेव न भवतीति ज्ञानांशो ज्ञाननयोऽपि निरस्तः।

– समयसार गाथा ७२ की आत्मख्याति टीका

अर्थ – यह जो आत्मा और आस्त्रव का भेदज्ञान है, उसका ज्ञान उस व्यक्ति को, जो अपने को भेदज्ञानी समझता है, रहता है या नहीं। यदि उस भेदज्ञान का ज्ञान उसे नहीं रहता है तो उस व्यक्ति में और जिसे अभी तक आत्मा तथा आस्त्रव का भेदज्ञान ही नहीं हुआ है उसमें विशेषता (अन्तर) ही क्या रह जायेगी ? यदि कहा जाये कि भेदज्ञान का ज्ञान उस व्यक्ति को रहता है, तो फिर प्रश्न उठता है कि वह व्यक्ति भेदज्ञान का ज्ञान रखते हुए आस्त्रवों में प्रवृत्ति करता है अथवा आस्त्रवों की प्रवृत्तियों को बन्द कर देता है ? यदि कहा जाये उसकी आस्त्रवों में प्रवृत्तियाँ तो होती रहती हैं, तो फिर भी वही बात होगी कि जिसे अभी तक आत्मा और आस्त्रव में भेदज्ञान नहीं हो पाया है उस व्यक्ति से इस व्यक्ति में क्या अन्तर रह जायेगा ? इसलिये जिसे आत्मा और आस्त्रव का भेदज्ञान प्राप्त हो चुका है, उसका भेदज्ञान तभी सार्थक होगा, जब कि वह आस्त्रवों में होने वाली अपनी प्रवृत्तियाँ भी बन्द कर देगा और तभी उस व्यक्ति को 'ज्ञान से ही बन्ध का निरोध होता है'—ऐसा कहना उपयुक्त होगा। इसका आशय यह है कि एक तरफ ज्ञान रहित क्रिया करना निरर्थक है तो दूसरी तरफ क्रिया रहित ज्ञान भी निरर्थक है।

2

द्वितीय चर्चनीय विषय का उत्तर देते हुए जो 'विशिष्टतर परस्पर अवगाह' का स्पष्टीकरण किया गया है] उससे सिर्फ इतनी बात स्पष्ट होती है कि एक ही क्षेत्र में स्थित छहों द्रव्यों का जैसा परस्पर संस्पर्श रूप सम्बन्ध है उससे यह विलक्षण है तथा अन्यत्र जिसे संश्लेष बन्ध लिखा है, वही यह है, परन्तु जब यह कहा जाता है कि उस विशिष्टतर परस्पर अवगाह में ही बन्ध का व्यवहार किया जाता है और यह भी कहा जाता है कि वह निमित्तनैमित्तिकभाव के आधार पर ही होता है, फिर तो आपकी दृष्टि से यह कल्पनारोपित ही होगा, क्योंकि निमित्तनैमित्तक भावरूप कार्यकारणभाव तथा व्यवहार इन दोनों को आप उपचरित, कल्पनारोपित और असद्भूत ही स्वीकार करते हैं। ऐसी हालत में छह द्रव्यों के परस्पर संस्पर्श और विशिष्टतर परस्पर अवगाह, इन दोनों में अन्तर ही क्या रहा जायेगा? यह आप ही जानें।

3

तीसरे चर्चनीय विषय का जो उत्तर आपने दिया है, वह निम्न प्रकार है –

'व्यवहारनय की अपेक्षा से दो द्रव्यों के परस्पर निमित्तमात्र से जो विशिष्टतर परस्पर अवगाह होता है, उसे बन्धरूप स्वीकार किया है।'

पहले उत्तर पत्र में जो वाक्य इस विषय में लिखा गया था उसमें से 'व्यवहारनय का आश्रय लेकर' यह पद हटाकर इस उत्तर में 'व्यवहारनय की अपेक्षा से' यह पद जोड़ दिया गया है, लेकिन इससे अर्थ में कोई अन्तर नहीं आया है। हमारा कहना तो यह है और जैसा कि हमने ऊपर चर्चनीय विषय दो में अभी अभी लिखा है कि आपकी दृष्टि में निमित्तनैमित्तिकभाव और व्यवहार दोनों ही जब उपचरित, आरोपित और असद्भूत ही हैं तो इनके सहारे पर बन्ध में भी असद्भूतता आये बिना नहीं रह सकेगी, तब व्यवहारनयरूपी ज्ञानांश का विषय वह कैसे होगा? क्योंकि असद्भूत विषय जिसकी कोई सत्ता ही नहीं है, वह 'गधे के सींग' तथा 'आकाश के फूल' के समान ही है अत: चाहे व्यवहारनय हो या चाहे निश्चयनय हो अथवा, चाहे केवलज्ञान ही क्यों न हो, वह किसी का भी विषय नहीं हो सकता है।

4

चौथे चर्चनीय विषय के सम्बन्ध में हमे आपसे यह कहना है कि आपके द्वारा कही हुई पृथक्-पृथक् दो आदि परमाणुओं में स्वभावपर्याय होती है। 'वह समान भी होती है और

विसदृश भी होती है'—यह बात ठीक है, परन्तु 'परस्पर बन्ध हो जाने पर दो आदि परमाणुओं की जो पर्याय होगी, वह विभावपर्याय होगी'—यह बात आपके मत से कैसे संगत होगी ? जब आप बन्ध को अवास्तविक मानते हैं, यह बात आपको सोचना है। आगमसम्मत हमारे पक्ष में तो दो द्रव्यों के बन्ध से विभाव पर्याय की संगति इसलिए बैठ जाती है कि यह पक्ष बन्ध, व्यवहार, निमित्तनैमित्तकभाव आदि को अपने अपने रूप में वास्तविक ही स्वीकार करता है।

5

पाँचवें चर्चनीय विषय के उत्तर में आपने लिखा है कि 'प्रश्न में लिखा गया अवास्तविक शब्द भ्रमोत्पादक है।' यदि 'अवास्तविक' शब्द के प्रयोग से भ्रम हो सकता है तो उसको अलग भी किया जा सकता है, परन्तु पहले यह तो मालूम हो जावे कि बन्धादि की सत्ता क्या किसी भी रूप में आप स्वीकार करते हैं। अभी तक तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि आप बन्ध को, व्यवहार को और निमित्तनैमित्तिकभाव आदि को असद्भूत अर्थात् सत्ताहीन ही स्वीकार करते हैं।

आप सत्ता के स्वरूपसत्ता और उपचरितसत्ता—ऐसे दो भेद भले ही स्वीकार कर लें, परन्तु जब उपचरितसत्ता को आप कल्पनारोपित ही मानते हैं तो वह सत्ताहीन ही होगी, फिर ऐसे भेद करने से क्या लाभ ? हाँ, यदि पिण्डरूप सत्ता को कोई प्रकार भी सत् मानने को तैयार है, तो निर्णय कीजिये कि उसका वह प्रकार क्या हो सकता है। सत्ताहीन पिण्ड तो केवलज्ञान का भी विषय नहीं हो सकता है, जैसे गधे के सींग और आकाश के फूल केवलज्ञान के विषय नहीं होते हैं। इसलिए आपका यह लिखना भी संगत प्रतीत नहीं होता कि 'केवली भगवान् जैसे स्वरूप सत् को जानते हैं, वैसे उपचरित सत् को भी जानते हैं।' इस कारण आपके द्वारा दिया गया प्रकृति अनुयोगद्वारका उद्धरण भी आपके पक्षका समर्थन नहीं कर सकता है।

अब थोड़ा आगम प्रतिपादित वस्तु व्यवस्था पर भी विचार कर लेना उपयुक्त जान पड़ता है -

सर्वप्रथम प्रवचनसार की गाथा ८७ को देखिये, वह क्या प्रतिपादन करती है -

दव्वाणिगुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया।
तेसु गुण-पज्जयाणं अप्पा दव्व ति उवदेशी।।

इस गाथा में आचार्य श्री ने द्रव्य, गुण व पर्याय इन सबको अर्थ बतलाते हुए इन सभी का द्रव्य में समावेश किया है, जो कि परमार्थरूप से वस्तु है। टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने इस

विषय को बहुत स्पष्ट करके दिखला दिया है। विस्तार होने के भय से यहाँ टीका का उद्धरण नहीं दिया है, अतः वहाँ देखने का कष्ट कीजिये।

अब ज्ञेयतत्त्वाधिकार (२) की गाथा १ को देखिये –

अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि।
तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया॥९३॥

टीका – इह किल यः कश्चन परिच्छिद्यमानः पदार्थः स सर्व एव विस्तारायत-सामान्यसमुदायात्मना द्रव्येणाभिनिर्वृत्तत्वाद् द्रव्यमयः। द्रव्याणि तु पुनरेकाश्रयविस्तार-विशेषात्मकैरभिनिर्वृतत्वाद् गुणात्मकानि। पर्यायास्तु पुनरायतविशेषात्मका उक्तलक्षणैर्द्रव्यैपि गुणैरप्यभिनिवृत्तत्त्वाद् द्रव्यात्मका अपि गुणात्मका अपि। तत्रानेकद्रव्यात्मकैक्यप्रतिपत्ति-निबन्धनो द्रव्यपर्यायः। स द्विविधः-समानजातीयोऽसमानजातीयश्च। तत्र समानजातीयो नाम यथा – अनेकपुद्गलात्मको द्वयणुकस्त्र्यणुक इत्यादि। असमानजातीयो नाम यथा – जीवपुद्गलात्मको देवो मनुष्य इत्यादि। गुणद्वारेणायतानैक्यप्रतिपत्तिनिबन्धनो गुणपर्यायः। सोऽपि द्विविधः-स्वभावपर्यायो विभावपर्यायश्च। तत्र स्वभावपर्यायो नाम समस्तद्रव्याणा-मात्मीयात्मीयागुरुलघुगुणद्वारेण प्रतिसमयसमुदीयमानषट्स्थानपतितवृद्धिहानिनानात्वानुभूतिः-विभावपर्याया नामरूपादीनां ज्ञानादीनां वा स्वपरप्रत्ययवर्तमानपूर्वोत्तरावस्थावतीर्ण-तादात्म्योपदर्शितस्वभावविशेषानेकत्वापत्तिः।

टीका का अर्थ – लोक में जितना कुछ ज्ञेयरूप पदार्थ है, वह सब विस्तारसामान्य अर्थात् तिर्यक्सामान्य और आयतसामान्य अर्थात् ऊर्ध्वतासामान्य – इन दोनों के समूहरूप द्रव्य के रूप में अस्तित्व को प्राप्त हो रहा है, अतः द्रव्यरूप है। जितने द्रव्य हैं वे सब गुणात्मक हैं, क्योंकि विस्तार गुण का नाम है और इस तरह प्रत्येक द्रव्य एक आश्रय में रहने वाले विस्तार विशेषों अर्थात् गुणभेदों के आधार पर अस्तित्व को प्राप्त हो रहा है। इसी प्रकार आयत पर्याय का नाम है और वे पर्यायें उक्त लक्षण वाले द्रव्यों तथा गुणों के आधार पर ही अस्तित्व को प्राप्त हो रही हैं, इसलिए पर्यायें द्रव्यात्मक भी हैं और गुणात्मक भी हैं। इन दोनों प्रकार की पर्यायों में से जो पर्याय अनेक द्रव्यों से बने हुए ऐक्य का ज्ञान कराने का कारण है, वह द्रव्यपर्याय है। द्रव्यपर्याय दो प्रकार की है – एक तो समानजातीय द्रव्यपर्याय और दूसरी असमानजातीय द्रव्यपर्याय। इनमें से समानजातीय द्रव्यपर्यायें तो द्वयणुक आदि पुद्गलात्मक है और असमानजातीय द्रव्यपर्यायें जीव तथा पुद्गल के मिश्रण के निष्पन्न होने वाली देव, मनुष्यादि पर्यायें हैं। गुणों के द्वारा आयत

अर्थात् ऊर्ध्वरूप में अनैक्य की प्रतिपति की कारणभूत गुणपर्यायें हैं। ये गुणपर्यायें भी दो प्रकार की हैं - स्वभावपर्याय और विभावपर्याय। समस्त द्रव्यों के अपने अगुरुलघुगुणों के द्वारा प्रत्येक समय में होने वाली षड्गुणहानि-वृद्धिरूप स्वभावपर्यायें हैं और विभावपर्यायें रूपादिक तथा ज्ञानादिक की स्व (उपादान) तथा पर (निमित्त) इन दोनों के सहयोग से उत्पन्न होने वाली पूर्व और उत्तर अवस्थाओं में आने वाले तारतम्य के आधार पर दिखाई देने वाले स्वभावविशेषरूप है।

उक्त गाथा की यह टीका जीव तथा पुद्गल की बंधपर्याय की एवं द्वयणुकादिरूप स्कन्ध की वास्तविकता का उद्घोष कर रही है। आगे पंचास्तिकाय ग्रन्थ का भी प्रमाण देखिये -

खंधा वा खंधदेसा य खंधपदेसा होंति परमाणू।
इदि ते चदुव्वियप्पा पुग्गलकाया मुणेयव्वा॥७४॥

अर्थ - स्कन्ध, स्कन्ध के खण्ड, उन खण्डों के खण्ड और परमाणु इस तरह पुद्गल द्रव्यों को चार रूप समझना चाहिए।

श्लोकवार्तिक पृ. ४३० पर तत्त्वार्थसूत्र के '**अणवः स्कन्धाश्च**' सूत्र की व्याख्या करते हुए आचार्य विद्यानन्दि ने लिखा है-

नाणव एवेत्येकान्तः श्रेयान्, स्कन्धानामक्षबुद्धौ प्रतिभासनात्। स्कन्धैकान्त-स्ततोऽस्त्वित्यपि न सम्यक्, परमाणूनामपि प्रमाणसिद्धत्वात्।

अर्थ - पुद्गल द्रव्य केवल अणुरूप ही है, ऐसा एकान्त नहीं समझना चाहिये, कारण कि इन्द्रियों से स्कन्धों का भी ज्ञान होता है। केवल स्कन्धों को मान लेना भी ठीक नहीं है, कारण कि परमाणु भी प्रमाणसिद्ध पदार्थ है।

इसीप्रकार तत्त्वार्थसूत्र अध्ययाय ५ में '**भेदसंघातेभ्यः उत्पद्यन्ते**' (५-२६) इस सूत्र द्वारा स्कन्धों की तथा '**भेदादणुः**' (५-२७) इस सूत्र द्वारा अणु की उत्पत्ति बतलायी गयी है।

अष्टशती और अष्टसहस्री का भी प्रमाण देखिये -

कार्यकारणादेरभेदैकान्ते धारणाकर्षणादयः।
परमाणूनां संघातेऽपि माभूवन् विभागवत्॥६७॥

इसी के आगे अष्टसहस्री की पंक्तियाँ पढ़िये -

विभक्तेभ्यः परमाणुभ्यः संहतपरमाणूनां विशेषस्योत्पत्तेर्धारणाकर्षणादयः संगच्छन्ते।

- अष्टसहस्री पृ. २२३ कारिका ६० की व्याख्या

दोनों का अर्थ – कार्य और कारण में सर्वथा अभेद मानने से परमाणुओं का स्कंध बन जाने पर धारण और आकर्षण नहीं होना चाहिये। अर्थात् परमाणु अकेले में धारण और आकर्षणरूप क्रिया होना जैसे सम्भव नहीं है, उसी तरह संघात में भी उस क्रिया का होना कार्य और कारण का अभेद मानने पर नहीं होगा। चूँकि पृथक् विद्यमान परमाणुओं की अपेक्षा संहत (स्कन्धरूप) परमाणुओं में विशेषता आ जाती है, अतएव उनका धारण और आकर्षण संभव हो जाता है।

ये सब प्रमाण पृथक्-पृथक् पाये जाने वाले अणुओं की और उन अणुओं की बद्धता से निष्पन्न द्वयणुकादि स्कंधों की वास्तविकता को सिद्ध करते हैं।

बंध होने पर एकत्व हो जाता है, अर्थात् दोनों की पूर्व अवस्था का त्याग होकर एक तीसरी अवस्था उत्पन्न हो जाती है। श्री पूज्यपाद आचार्य ने सर्वार्थसिद्धि में कहा भी है –

बधं पडि एयत्तं (२१७)

ततः पूर्वावस्थाप्रच्यवनपूर्वकं तार्तीयकमवस्थान्तरं प्रादुर्भवतीत्येकत्वमुपपद्यते (५।२४)

अर्थात् बंध की अपेक्षा एकत्व है। बंध से पूर्वावस्था का त्याग होकर उनसे भिन्न एक तीसरी अवस्था उत्पन्न होती है, अतः एकरूपता आ जाती है।

इससे भी बन्ध की वास्तविकता ही सिद्ध होती है।

इन सब प्रमाणों के प्रकाश में स्कन्ध, देश, प्रदेश आदि पुद्गल द्रव्यों की समानजातीय पर्यायें तथा जीव और पुद्गल के मिश्रण से बनने वाली देव, मनुष्यादि पर्यायें तभी उत्पन्न हो सकती हैं, जब कि मूल द्रव्य के अनित्यांशभूत स्वकाल और स्वभाव में परिणमन हो जावे। यदि उक्त पर्यायों में द्रव्य के अनित्यांशभूत स्वकाल और स्व-भाव भी स्वद्रव्य की तरह तद्वस्थ बनकर रहते हैं तो ऐसी हालत में स्कन्ध का निर्माण कभी संभव नहीं होगा। परन्तु बात दरअसल यह है कि परमाणु जब द्वयणुक, त्र्यणुक आदि स्कंध की अवस्था को प्राप्त होते हैं, तब वे अपनी अणुत्वपर्याय को छोड़कर स्कन्धरूप पर्याय को धारण कर लेते हैं। यदि ऐसा न हो तो फिर सूक्ष्मता को प्राप्त अणुओं के स्कन्ध में स्थूलता तथा अदृश्यता के स्थान पर दृश्यता किसी भी प्रकार संभव नहीं होगी। इसलिये परिवर्तित स्वरूपास्तित्व को लिये हुए ही स्कन्धपरिणति उन पुद्गलों में आती है। यह परिणति उसी पुद्गल द्रव्य के स्निग्धत्व और रूक्षत्व गुण की विकृतिरूप उपादान शक्ति से निर्मित कथंचित् एकत्वरूप है, इसलिए बन्धरूप अवस्था जिसे

स्कंध कहो, चाहे अनेक द्रव्यों की समानजातीय या असमानजातीय पर्याय कहो, ये सभी द्रव्यगत विशेष ही हैं, अत: वह पर्याय भी अर्थ है, वास्तविक परिणमन है, उन द्रव्यों से जुदा नहीं है।

नैयायिक लोग तो गुणपदार्थ को गुणी से भिन्न मानते हैं, इसलिए उनके मत से संयोग द्रव्य से भिन्न एक गुण है। जैनागम यद्यपि द्रव्य से भिन्न संयोग को गुण नहीं मानता है तो भी वह दो द्रव्यों के बन्धात्मक परिणमन को तो स्वीकार करता ही है। तो फिर दो पुद्‌गलों की बंधात्मक अवस्थारूप समानजातीय द्रव्यपर्याय को तथा जीव-पुद्‌गलों की बंधात्मक असमानजातीय द्रव्यपर्याय को अवास्तविक कैसे कहा जा सकता है। प्रवचनसार पृ. १२० पर भी लिखा है -

तत्रैव चानेकपुद्‌गलात्मको द्वयणुकस्त्र्यणुक इति समानजातीयो द्रव्यपर्याय:।

- गाथा ९३ टीका

अर्थ - अनेक पुद्‌गलों के रूप ही द्वयणुक और त्र्यणुक-ये सब असमानजातीय द्रव्यपर्याय ही है।

ऐसी स्थिति में इन्हें वस्तुस्वरूप ही माना जाना युक्तिसंगत और आगमसम्मत है। अत: इन्हें व्यवहारनयाश्रितता के आधार पर उपचरित (कल्पनारोपित) बतलाना कहाँ तक उचित है।

इसीलिए प्रवचनसार के ज्ञेय तत्त्वाधिकार की गाथा १ की टीका करते हुए आचार्य श्री अमृतचन्द्र ने अन्त में बहुत स्पष्टरूप से लिखा है कि -

सर्वपदार्थानां द्रव्यगुणपर्यायस्वभावप्रकाशिका पारमेश्वरी व्यवस्था साधीयसी।

अर्थ - सर्व पदार्थों की द्रव्य-गुण-पर्यायरूप स्वभाव की प्रकाशक भगवान् सर्वज्ञ अर्हन्तदेव द्वारा उपदिष्ट व्यवस्था ही सत्य है।

इसीप्रकार इन्हीं पर्यायों के आधार पर ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की व्यवस्था प्रतिपादित की गयी है जो परमाणु, द्‌यणुक और त्र्यणुक आदि में द्रव्यत्व को ही लक्षित करता है। यदि स्वरूपास्तित्व में जो अंश पर्याय को प्राप्त है वह यदि परिवर्तित हुए बिना ही रह जावे तो फिर द्वयणुकादि पर्यायें कैसे बनेंगी ? इतना अवश्य है कि परमाणु का जो अनुगामी अंश द्रव्यार्थिक नयगम्य होगा, वही अपरिवर्तित रह जावेगा और उसके अपरिवर्तित बने रहने पर भी जो पर्यायें होती हैं उनको स्व-पर प्रत्यय माना गया है। विस्तरेण अलम्। इस पर आप विचार कीजिए। यही हमारा अन्तिम अनुरोध है।

●

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्।।

शंका 10

जीव तथा पुद्‍गल का एवं द्व्यणुक आदि स्कन्धों का बन्ध वास्तविक है या अवास्तिक ? यदि अवास्तिक है तो केवली भगवान उसे जानते हैं या नहीं ?

प्रतिशंका 3 का समाधान

इस प्रश्न का समाधान करते हुए पिछले दो उत्तरों में बतलाया गया था कि परस्पर निमित्त-नैमित्तिक भाव से जीव और पुद्‍गलों तथा पुद्‍गल-पुद्‍गल का जो विशिष्टतर अवगाह होता है, उसकी बंध संज्ञा है। यह वास्तविक है या अवास्तविक है ? इसका निर्णय करते हुए बतलाया गया था कि सत्ता दो प्रकार की मानी गई है- स्वरूपसत्ता और उपचरित सत्ता। स्वरूपसत्ता की अपेक्षा प्रत्येक परमाणु या जीव अपने-अपने स्वचतुष्टय में ही अवस्थित रहते हैं, इसलिए स्वतन्त्र हैं, क्योंकि दो या दो से अधिक परमाणु या जीव और पुद्‍गल सर्वथा एक नहीं हुए हैं। किन्तु बन्ध होने पर उनमें जो एक क्षेत्रावगाहरूप एक पिण्डरूपता प्राप्त होती है, वह उपचरितसत् है। अतएव केवली जिन जैसे स्वरूपसत् को जानते हैं वैसे ही एक पिण्ड व्यवहार को प्राप्त उपचरित सत् को भी जानते हैं, क्योंकि परस्पर निमित्त-नैमित्तिकभाव से उस उस पर्यायपरिणत एक क्षेत्रावगाहरूप वे केवली के ज्ञान में प्रतिभासित होते है।

(1)

तत्काल प्रतिशंका ३ विचार के लिए प्रस्तुत है। इसमें सर्वप्रथम प्रतिशंका २ में उठाये गये ५ प्रश्नों को पुन: निबद्ध कर प्रथम प्रश्न का उत्तर देते हुए हमारे द्वारा लिखे गये एक वाक्य पर आपत्ति की गई है। वह वाक्य इस प्रकार है -

'जीव के अज्ञानरूप मोह, राग-द्वेष परिणाम तथा योग द्रव्यकर्म के बन्ध के निमित्त हैं और ज्ञानावरणादि कर्मों का उदय अज्ञानरूप जीवभावों के होने में निमित्त है।'

सो यद्यपि यह वाक्य शास्त्र विरुद्ध तो नहीं है, परन्तु अपर पक्ष ने 'ज्ञानावरणादि कर्मों का उदय अज्ञानरूप जीवभावों के होने में निमित्त है।' इस वाक्य को पढ़कर इस पर अत्यधिक आश्चर्य प्रगट करते हुए लिखा है-'लेकिन ज्ञानावरणादि कर्मों का उदय अज्ञानरूप जीवभावों के होने में निमित्त है—यह वाक्य प्रत्युत्तर में देखकर तो आश्चर्य का ठिकाना ही

नहीं रह सकता है। कारण कि जितने अंश में ज्ञानावरण कर्म का उदय जीव में विद्यमान रहता है, उससे तो ज्ञान का अभावरूप अज्ञान ही होता है, जिसे द्रव्यकर्म के बन्ध का कारण न तो आगम में माना गया है और न आपने ही माना है। आपके द्वितीय वक्तव्य में स्पष्ट लिखा हुआ है कि 'अज्ञानरूप मोह, राग, द्वेष परिणाम तथा योग-द्रव्यकर्म के बन्ध के निमित्त है।'

यह हमारे पूर्वोक्त वाक्य के सन्दर्भ में अपर पक्ष का वक्तव्य है। प्रसन्नता है कि इसमें अपर पक्ष द्वारा उस वाक्यांश को सदोष बतलाने का उपक्रम नहीं किया गया, जिस द्वारा संसारी जीव के अज्ञानरूप रागादिभावों और योग को निमित्त कर ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म के बन्ध का विधान किया गया है। अपर पक्ष को उक्त उद्धृत वाक्य का उत्तरार्द्ध सदोष प्रतीत हुआ है। किन्तु उसने यदि सावधानी से उक्त वाक्यांश पर विचार किया होता तो हमें विश्वास है वह इस अप्रासंगिक चर्चा से इस प्रतिशंका के कलेवर को पुष्ट करने का प्रयत्न नहीं करता। कारण कि उक्त वाक्य के पूर्वार्द्ध द्वारा जहाँ ज्ञानावरणादि कर्मबन्ध के निमित्त कारणों का निर्देश किया गया है। वहाँ उसके उत्तरार्द्ध द्वारा ज्ञानावरणादि कर्मों के उदय को निमित्त कर होने वाले जीव के अज्ञान, अदर्शन, अचारित्र और अदानशीलता आदि अज्ञानरूप भावों का निर्देश किया गया है। ये भाव जीव के चैतन्य स्वभाव को स्पर्श नहीं करते, इसलिए इन सबको अज्ञानरूप कहा गया है। मालूम नहीं कि अपर पक्ष ने उक्त वाक्य में आये हुए 'अज्ञानरूप जीवभावों' इतने कथन को देखकर उनसे अज्ञानरूप राग, द्वेष मोह तथा योग का परिग्रह कैसे कर लिया। यदि रागादि भाव अज्ञानरूप माने जा सकते हैं तो अज्ञान, अदर्शन आदि भावों को अज्ञानरूप मानने में आपत्ति ही क्या है। जो राग-द्वेषादि भाव ज्ञानावरणादि कर्म के हेतु है, उनका नामोल्लेखपूर्वक निर्देश जब अनन्तर पूर्व ही किया है ऐसी अवस्था में अज्ञानरूप जीव भावों से अज्ञान, अदर्शन आदि औदयिक भाव लिये गये हैं, यह अपने आप फलित हो जाता है। अतएव अपर पक्ष ने जो इस प्रकार की आपत्ति उठाई है वह ठीक नहीं है, इतना संकेत करने के बाद हम उनके उस निष्कर्ष पर सर्वप्रथम विचार करेंगे जो उस पक्ष ने इस आपत्ति के प्रसंग से फलित किया है। वह निष्कर्ष इस प्रकार है-

वास्तविक बात तो यह मालूम देती है कि मोक्षमार्ग में सिर्फ वस्तुस्वरूप के ज्ञान को ही महत्त्व दिया जा रहा है और चारित्र के विषय में तो यह ख्याल है कि वह तो अपने नियति के अनुसार समय आने पर ही हो जायेगा, उसके लिए पुरुषार्थ करने की आवश्यकता नहीं है। बस! एक यही कारण मालूम देता है कि बन्ध के कारणों में ज्ञानावरण कर्म के उदय से होने

वाले ज्ञान के अभावरूप अज्ञानभाव को कारण मानना आवश्यक होने में निमित्त है।' आदि।

सो इसका उत्तर यह है कि जब किसी के मन में दूसरों के प्रति विपरीत धारणा बन जाती है तो वह किसी भी कथन से उल्टा-सीधा कुछ भी अर्थ फलित कर स्वयं भ्रम में पड़ता है और दूसरे के लिए भी भ्रम का मार्ग प्रशस्त करता है। हमें तो प्रकृत में अपर पक्ष का ऐसा ही आचरण प्रतीत होता है, क्योंकि अपर पक्ष ने जिस बात को आपत्ति योग्य माना है उसमें तो केवल इतना ही बतलाया गया है कि ज्ञानावरणादि कर्मों का उदय किन भावों के होने में निमित्त है। वे भाव कर्मबन्ध हेतु हैं यह बात उसमें जब कही ही नहीं गई—ऐसी अवस्था में हमने ज्ञानावरण कर्म के उदय में होनेवाले अज्ञान भाव को कर्म बन्ध का हेतु बतलाया, यह बात अपर पक्ष ने कैसे फलित कर ली, आश्चर्य है। हमारे वाक्य में ज्ञानावरण के साथ आदि शब्द जुड़ा है।

शंका 10 और उसका समाधान

साथ ही 'अज्ञानरूप जीवभावों' इस प्रकार बहुवचन पद का निर्देश है। ऐसी अवस्था में अपर पक्ष ने उसका अर्थ 'ज्ञानावरण कर्म के उदय से होने वाले ज्ञान के अभावरूप अज्ञानभाव' कैसे किया, इसका वही शांत चित्त से विचार करे। अतएव उस वाक्य पर से यह फलित करना कि 'मोक्षमार्ग में सिर्फ वस्तुस्वरूप के ज्ञान को ही महत्त्व दिया जा रहा है और चारित्र के विषय में तो यह ख्याल है कि वह तो अपने आप निमित्त के अनुसार समय आने पर ही हो जायेगा, उसके लिए पुरुषार्थ करने की आवश्यकता नहीं है।' कथन मात्र है, क्योंकि हमारा कहना तो यह है कि जो मुमुक्षु आत्मसिद्धि के लिए प्रयत्नशील हैं, उनके लिए तत्त्वज्ञान पूर्वक हेय-उपादेय का विवेक और उसके साथ अन्तरंग कषाय का शमन करते हुए यथा पदवी चारित्र को स्वीकार कर उसे जीवन का अंग बनाना उतना ही आवश्यक है, जितना कि चिरकाल से विपरीतदृष्टि पंगु पुरुष के लिए स्वयं इष्ट स्थान पर पहुँचने के हेतु मार्गदर्शक आँखों का निर्मल होना और उसके साथ यथाशक्ति पंगुपने को दूर करते हुए यथा सामर्थ्य मार्ग का अनुसरण करना आवश्यक है।

हमें इस बात की तो प्रसन्नता है कि अपर पक्ष ने प्रकृत में इस तथ्य को तो स्वीकार कर लिया है कि हमारी ओर से जो प्ररूपणा की जाती है, वह वस्तुस्वरूप का ज्ञान कराने के अभिप्राय से ही की जाती है। उसमें किसी प्रकार की विपरीतता नहीं है। तभी तो उसकी ओर से यह वाक्य लिखा गया है कि 'मोक्षमार्ग में सिर्फ वस्तुस्वरूप के ज्ञान को ही महत्त्व दिया

जा रहा है।' अन्यथा उस पक्ष की शंका चारित्र के विषय में न उठाई जाकर सम्यक् ज्ञान के विषय में उठाई जानी चाहिए थी। परन्तु वस्तुस्थिति ही दूसरी है। वास्तव में तो वर्तमान में चारित्र का अर्थ बाह्य क्रिया बतलाकर बाह्य क्रियाकाण्ड में ही जनता को उलझाये रखने के अभिप्राय से हमें लांछित किया जा रहा है। इसलिए अपर पक्ष की यह प्रवृत्ति अवश्य ही टीकास्पद है, ऐसा हमारा स्पष्ट मत है।

तत्त्वार्थवार्तिक अ. १ पृ. १७ में '**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः**' इस सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है–

एषां पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरम्।

इन सम्यग्दर्शनादि तीनों में से पूर्व अर्थात् सम्यग्दर्शन और तत्सहचर सम्यग्ज्ञान लाभ होने पर सम्यक्चारित्र भजनीय है।

इससे विदित होता है कि सम्यग्दर्शन के साथ होने वाला ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है और इन दोनों के होने पर जो आत्मस्थिति रूप चारित्र होता है—वही सम्यक्चारित्र है। ये तीनों आत्मा को स्वभाव पर्यायें है, अथवा इन तीनमय स्वयं आत्मा है। क्या अपर पक्ष यह बतला सकता है कि ऐसे सम्यक्चारित्र धर्म का और उसके साथ होने वाली तदनुकूल बाह्य प्रवृत्ति का हममें से किसी ने कभी और कहीं निषेध किया है क्या ? निषेध करने की बात तो दूर रहो, आत्मा के निज वैभव को प्रकाशित करने वाले अध्यात्म का जहाँ भी उपदेश दिया जाता है, वहाँ यही कहा जाता है कि जो केवल '**मैं शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, नित्य हूँ**'—ऐसे विकल्प में मग्न होकर तत् स्वरूप आत्मा को नहीं अनुभवता, वह तो आत्मा से दूर है ही, साथ ही जो विकल्प और शरीर के आधीन क्रिया धर्म के अवलम्बन द्वारा मोक्षमार्ग की प्राप्ति मानता है, वह आत्मा से और भी दूर है। अतएव बाह्य क्रियाधर्म में आत्महित है, इस व्यामोह को छोड़कर प्रत्येक भव्य जीव को आत्म प्राप्ति के मार्ग में लगना चाहिए। यह हम मानते हैं कि आत्म प्राप्ति के मार्ग में लगे अन्य जीव का क्रियाधर्म सर्वथा छूट नहीं जाता, क्योंकि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद भी राग से अनुरंजित उपयोग के काल में क्रियाधर्म तो होता ही है, उसका निषेध नहीं। बात केवल इतनी है कि ज्ञानी पुरुष उसे केवल अपना स्वभाव न मानकर उसरूप प्रवृत्ति करता हुआ भी निर्विकल्प समाधि को ही हितकारी मानता है जो कि सम्यक्चारित्रस्वरूप है। पं. प्रवर आशाधरजी ने सागारधर्मामृत का प्रारम्भ करते हुए तद्धर्मरागिणाम् पद देकर यह प्रसिद्ध किया है कि अन्तरंग में जिनके मुनिधर्म (आत्मधर्म)

में गाढ़ प्रीति उत्पन्न हुई है, उसी का गार्हथ्य जीवन सफल है। सविकल्प दशा में यथापदवी व्यवहार धर्म जहाँ उस-उस काल में प्रयोजनीय माना गया है, वहाँ उसके होते हुए भी आत्मकार्य में सावधान रहना जीवन माना गया है।

यह आध्यात्मिक उपदेश की पद्धति है। इसी पद्धति का अनुसरण कर अनादिकाल से 'सर्वत्र अध्यात्म के उपदेश दिये जाने की परिपाटी है। ऐसी अवस्था में प्रतिशंका ३ में प्रकृत विषय को लक्ष्य में रखकर जो भाव व्यक्त किया गया है, उसे मात्र कल्पना के कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

नियति किसी एक कार्य के लिए आगम में स्वीकार की गई हो और दूसरे के लिए स्वीकार न की गई हो, ऐसा नहीं है। साथ ही कोई एक कार्य पुरुषार्थपूर्वक होता हो और दूसरा बिना पुरुषार्थ के हो जाता हो, ऐसा भी नहीं है। **इनका गौण मुख्यपना विवक्षा में हो सकता है, कार्य में नहीं।** इसी प्रकार जो भी कार्य होता है उसका कोई निमित्त न हो, यह भी नहीं है। एकान्त के प्रति आग्रहवान् व्यक्ति ही ऐसी कल्पना कर सकते हैं कि अमुक कार्य मात्र पुरुषार्थ से होता है, अमुक कार्य मात्र नियति के अनुसार अपने आप हो जाता है और अमुक कार्य मात्र निमित्त के बल से होता है। जिन्होंने अपने जीवन में अनेकान्तस्वरूप आत्मधर्म का रसास्वाद लिया है, वे त्रिकाल में ऐसी मिथ्या कल्पना नहीं कर सकते। कार्य में पुरुषार्थ, नियति, निमित्त आदि सब का समवाय है—ऐसा निश्चय जिनके चित्त में है, वे ही मोक्षमार्ग के पथिक बनने के अधिकारी हैं। अतएव जैसे आत्मविवेक को जागृत करने के लिए परम पुरुषार्थ की आवश्यकता है; उसी प्रकार आत्मस्थितिरूप चारित्र को सम्पादित करने के लिए भी निरलसभाव से आत्मपुरुषार्थी होना भी आवश्यक है। **सब आत्मकार्यों के सम्पादन में पुरुषार्थ प्रथम कर्तव्य है।** अतएव चर्चनीय विषयों में से प्रथम चर्चनीय विषय का उत्तर देते हुए हमने जो यह लिखा है कि '**ज्ञानावरणादि कर्मों का उदय अज्ञानरूप जीवभावों के होने में निमित्त है।**' सो उक्त वाक्य को सदोष बतलाते हुए उस पर से अन्यथा कल्पना करना श्रेयस्कर नहीं है।

हम प्रथम प्रश्न के उत्तर में यह लिख आये हैं कि 'जैसा कि भावलिंग के होने पर द्रव्यलिंग होता है, इस नियम से भी सिद्ध होता है।' आदि, सो इस वाक्य के ऊपर से भी अपर पक्ष ने अपने मनगढ़न्त विचार बना लिये हैं। उसने यदि इस वाक्य के आगे लिखे गये पूरे कथन पर ध्यान दिया होता और उसके सन्दर्भ में इस वाक्य को पढ़ता तो आशा थी कि वह

अपनी कल्पित कल्पनाओं से प्रतिशंका के कलेवर को नहीं सजाता। क्या यह सच नहीं है कि भावलिंग के अभाव में नग्नता आदि रूप से धारण किया गया द्रव्यलिंग, मोक्षमार्ग की प्राप्ति में अणुमात्र भी साधक नहीं है ? और क्या यह सच नहीं है कि ऐसे भावशून्य द्रव्यलिंग को धारणकर जो महानुभाव तलवार की धारपर चलने के समान विविध प्रकार का कायक्लेश करते हैं, उनका वह कायक्लेश मोक्षमार्ग की प्राप्ति में अणुमात्र भी साधक नहीं है। द्रव्यलिंग सत्यार्थपने को तभी प्राप्त हो सकता है, जब वह भावलिंग का अनुवर्ती बनता है। इसी तथ्य को हमने प्रथम शंका के उत्तर में 'भावलिंग के होने पर द्रव्यलिंग होता है।' इत्यादि वाक्यों द्वारा व्यक्त किया था। हमारे द्वारा व्यक्त किये गये वे भावपूर्ण वचन इस प्रकार है–

'जैसा कि भावलिंग के होने पर द्रव्यलिंग होता है, इस नियम से भी सिद्ध होता है। यद्यपि प्रत्येक मनुष्य भावलिंग के प्राप्त होने के पूर्व ही द्रव्यलिंग स्वीकार कर लेता है, पर उस द्वारा भावलिंग की प्राप्ति द्रव्यलिंग को स्वीकार करते समय हो ही जाती हो ऐसा नहीं है। किन्तु जब उपादान के अनुसार भावलिंग प्राप्त होता है तब उसका निमित्त द्रव्यलिंग रहता ही है।'

अपर पक्ष तत्त्वज्ञान को चाहे जितना गौण करने का प्रयत्न करके, बाह्य क्रियाकांड का चाहे जितना समर्थन क्यों न करे और अपने इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए समयसार के टीका वचनों को उनके यथार्थ अभिप्राय की ओर ध्यान न देकर भले ही उद्धृत करे, परन्तु इतने मात्र से मोक्षमार्ग में केवल क्रियाकांड को महत्त्व नहीं मिल सकता, क्योंकि समयसार की उक्त गाथा ७२ की आत्मख्याति टीका में जो 'अज्ञान' और 'आस्रव' पदों का प्रयोग हुआ है वह राग-द्वेषादि भावों के अर्थ में ही हुआ है, बाह्य क्रियाकांड के अर्थ में नहीं। चारित्र का लक्षण करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार में लिखते हैं–

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥७॥

चारित्र वास्तव में धर्म है, जो धर्म है वह साम्य है—ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है और साम्य, मोह तथा क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम है॥ ७॥

इसकी टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने और भी भावपूर्ण शब्दों द्वारा चारित्र की व्याख्या की है। वे लिखते हैं–

स्वरूपे चरणं चारित्रम्। स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः। तदेव वस्तुस्वभावत्वाद्धर्मः। शुद्धचैतन्यप्रकाशनमित्यर्थः।

चारित्र क्या है, इसकी सर्वप्रथम व्याख्या आचार्यवर्य ने की– '**स्वरूपे चरणं चारित्रम्**' –स्वरूप में रमना चारित्र है। स्वरूप में रमना किस वस्तु का नाम है, इसे स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं–'**स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः**'–जो रागद्वेषादि विभावभावों और समस्त परभावों से रहित ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्व है, उसमें तन्मय हो प्रवर्तना स्वसमयप्रवृत्ति है। ऐसा करने से क्या होगा, इसका उत्तर देते हुए वे पुनः लिखते हैं–'**तदेव वस्तुस्वभावत्वाद्धर्मः**'– स्वसमयप्रवृत्ति से जो स्वरूप लाभ होता है वही वस्तु का स्वभाव होने के कारण धर्म है। कोई कहे कि ऐसे धर्म की प्राप्ति होने पर भी आत्मा को क्या लब्ध हुआ तो आचार्य उत्तर देते हैं– '**शुद्धचैतन्यप्रकशनमित्यर्थः**' इस तरह जो धर्म की प्राप्ति होती है, वही तो शुद्ध चैतन्य का प्रकाशन है। वास्तव में देखा जाये तो यही आत्मा का सच्चा लाभ है।

क्या अपर पक्ष यह बतला सकता है कि ऐसे स्वरूप रमणतारूप चारित्र की प्राप्ति तत्त्वज्ञान के बिना कभी हो सकती है। यदि कहो कि तत्त्वज्ञान के अभ्यास बिना स्वरूप रमणतारूप उक्त प्रकार के चारित्र की प्राप्ति होना त्रिकाल में संभव नहीं है तो फिर हमारा निवेदन है कि 'तत्त्वज्ञान का उपहास करना छोड़कर आईए, हम आपका स्वागत करते हैं। हम और आप मिलकर ऐसा मार्ग बनाऐं जो तत्त्वज्ञानपूर्वक चारित्र की प्राप्ति में सहायक बने।' अस्तु,

(2)

द्वितीय चर्चनीय विषय का स्पष्टीकरण करते हुए हमने परमागम में 'बन्ध' पद का क्या अर्थ स्वीकृत है, इसका स्पष्टीकरण किया था। इस पर आपत्ति करते हुए अपर पक्ष का कहना है कि 'परन्तु जब यह कहा जाता है कि उस विशिष्टतर परस्पर अवगाह में ही 'बन्ध' का व्यवहार किया जाता है और यह भी कहा जाता है कि वह निमित्त–नैमित्तिकभाव के आधार पर ही होता है, फिर तो आपकी दृष्टि से यह कल्पनारोपित ही होगा, क्योंकि निमित्त–नैमित्तिक भावरूप कार्यकारणभाव तथा व्यवहार, इन दोनों को आप उपचरित, कल्पनारोपित और असद्भूत ही स्वीकार करते हैं। ऐसी हालत में ६ द्रव्यों के परस्पर संस्पर्श और विशिष्टतर परस्पर अवगाह इन दोनों में अन्तर ही क्या रह जायेगा? यह आप ही जानें।

सो इस आपत्ति का समाधान यह है कि अपर पक्ष ने '६ द्रव्यों के परस्पर संस्पर्श और विशिष्टतर परस्पर अवगाह इन दोनों में अन्तर ही क्या रह जायेगा।' हमसे ऐसा प्रश्न करके

संभवत: इस बात को तो स्वीकार कर लिया है कि छह द्रव्यों का परस्पर संस्पर्श उपचरित, कल्पनारोपित और असद्भूत ही है। केवल वह पक्ष विशिष्टतर परस्पर अवगाह को उपचरित सत् स्वीकार करने से हिचकिचाता है। उसके हिचकिचाने का कारण यह मालूम देता है कि वह समझता है कि यदि ऐसे अवगाह (बन्ध) को उपचरित मान लिया जायेगा तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की व्यवस्था गड़बड़ा जायेगी। किन्तु वस्तुस्थिति यह नहीं है। देखिए, लोक में घी का घड़ा ऐसा व्यवहार होता है, किन्तु ऐसा व्यवहार होने मात्र से घड़ा घी का नहीं हो जाता। मात्र अन्य घड़ों से विवक्षित घड़े का पृथक् ज्ञान कराने के अभिप्राय से ही मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कहा जाता है। इसी का नाम लोक व्यवहार है। उसी प्रकार जिस द्रव्य की विवक्षित पर्याय में निमित्त व्यवहार किया गया है। वह विवक्षित कार्य को उत्पन्न करता हो-ऐसा नहीं है, किन्तु उसके सद्भाव में उपादान ने अपना जो कार्य किया है, उसकी सिद्धि या ज्ञान उस द्वारा होता है, ऐसी बाह्य व्याप्ति देखकर ही उसे विवक्षित अन्य द्रव्य की पर्याय का निमित्त यह संज्ञा प्राप्त होती है और उसके सद्भाव में हुआ कार्य - नैमित्तिक कहा जाता है, इसलिए निमित्त-नैमित्तिक व्यवहार को उपचरित या असद्भूत मानकर कार्यकारण परम्परा के रूप में उसे स्वीकार कर लेने पर भी लोक में और आगम में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती। यदि अपर पक्ष के मतानुसार निमित्त व्यवहार योग्य बाह्य सामग्री को कार्य का जनक यथार्थ रूप में स्वीकार किया गया होता तो आगम में उसे व्यवहार हेतु न लिखकर यथार्थ हेतु लिखा गया होता, किन्तु आगम उसकी सर्वत्र व्यवहार हेतुरूप से ही घोषणा करता है, ऐसी अवस्था में अन्य द्रव्य की पर्याय में निश्चय का ज्ञान कराने के अभिप्राय से किये गये निमित्त व्यवहार को उपचरित मानना ही समीचीन है। आगम में दस प्रकार के सत्यों का निरूपण करते हुए गोम्मटसार जीवकाण्ड में लिखा है-

जणवद सम्भदि ठवणा णामे रूवे पडुच्चववहारे।
संभावणे य भावे उवमाए दसविहे सच्चे॥२२२॥

जनपदसत्य, सम्मतिसत्य, स्थापनासत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीत्यसत्य, व्यवहार-सत्य, सम्भावनासत्य, भावसत्य और उपमासत्य, इसप्रकार सत्य १० प्रकार का है॥ २२२॥

अपर पक्ष यह भलीभाँति जानता है कि जिसका जिनचन्द्र या कोई दूसरा नाम रखा जाता है उसमें उस नाम शब्द से व्यक्त होने वाले अर्थ की प्रधानता नहीं होती, फिर भी उससे उसी व्यक्ति का ज्ञान होता है; इसलिए नाम की सत्य में परिगणना की गई है। एक

स्थापनासत्य भी है। जिसमें अरिहंत परमेष्ठी की स्थापना की जाती है उसमें अनन्त ज्ञानादि गुण नहीं पाये जाते, फिर भी बुद्धि में उसके आलम्बन से इष्टार्थ की सिद्धि होती है, इसलिए स्थापना की सत्य में परिगणना की गई है। इसी प्रकार इन सत्यों में और भी कई ऐसे सत्य हैं जिन्हें नैगमादि नयों की अपेक्षा स्वीकार किया गया है। अतएव दो द्रव्यों के मध्य विवक्षित पर्यायों की अपेक्षा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को उपचरित स्वीकार कर लेने मात्र से लोकव्यवहार में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित होती है ऐसा तो नहीं है। हाँ, छह द्रव्यों के परस्पर संस्पर्श तथा विशिष्टतर परस्पर अवगाह इन दोनों को जो पृथक्-पृथक् किया गया है, उसके स्वीकार करने में हेतुभेद अवश्य है- जहाँ प्रथम में आकाशक्षेत्र की अपेक्षा एक क्षेत्र में छहों द्रव्यों की अवस्थिति बतलाना मात्र मुख्य प्रयोजन है वहाँ दूसरे में निमित्तनैमित्तिकता का ज्ञान कराना मुख्य प्रयोजन है। उसमें सर्वप्रथम जीव और कर्म के परस्पर विशिष्टतर अवगाह को जो बन्ध (उभयबन्ध) कहा है, वह किस अपेक्षा से कहा गया है, इस पर दृष्टिपात कर लेना चाहते है। प्रवचनसार, गाथा १७४ की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र कहते है-

एकावगाहभावावस्थितकर्मपुद्गलनिमित्तोपयोगाधिरूढ-रागद्वेषादिभावसम्बन्धः कर्मपुद्गलबन्ध व्यवहारसाधकस्त्वस्त्येव॥१७४॥

तथापि एकावगाहरूप से रहने वाले कर्म पुद्गल जिनके निमित्त हैं, ऐसे उपयोगाधिरूढ़ राग-द्वेषादि भावों के साथ का सम्बन्ध कर्मपुद्गलों के साथ के बन्धरूप व्यवहार का साधक अवश्य है॥१७४॥

यहाँ जीव और कर्म के एक क्षेत्रावगाहरूप विशिष्टतर अवगाह को स्पष्ट शब्दों में बन्धव्यवहार कहा गया है, यह तो स्पष्ट ही है। अब इस व्यवहार को आगम में किस रूप में स्वीकार किया गया है इसके लिए बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा १६ की टीका पर दृष्टिपात कीजिए-

कर्मबन्धपृथग्भूतस्वशुद्धात्मभावनारहितजीवस्यानुपचरितासद्भूतव्यवहारेण द्रव्यबन्धः।

कर्मबन्ध से पृथग्भूत निज शुद्धात्म भावना से रहित जीव के अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से द्रव्यबन्ध है।

इसप्रकार जीव और कर्म का जो बन्ध कहा जाता है, वह अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से ही कहा जाता है। यह उक्त आगम प्रभाणों से स्पष्ट हो जाता है।

अब, पुद्गल-पुद्गल का जो एकत्व परिणाम-लक्षण बन्ध कहा है, उसका क्या तात्पर्य है - उस पर विचा करते हैं। धवला पु. १३ पृ. १२ में एकत्व का अर्थ करते हुए लिखा है-

पोग्गलदव्वभावेण परमाणुपोग्गलस्स सेसपोग्गलेहि सह एयत्तुवलंभादो।

पुद्‌गल द्रव्यरूप से परमाणु पुद्‌गल का शेष पुद्‌गलों के साथ एकत्व पाया जाता है।

इससे मालूम पड़ता है कि बन्ध प्रकरण में जो दो पुद्‌गल द्रव्यों का एकत्वपरिणाम कहा है उसका आशय ही इतना है कि दोनों पुद्‌गल अपने स्वरूप को न छोड़ते हुए यथासम्भव सदृश परिणामरूप से परिणम जाते हैं। वे अपने स्वरूप को नहीं ही छोड़ते हैं इसका स्पष्टीकरण वहीं पृ. २४ में इन शब्दों में किया है–

तदो सरूवापरिच्चाएण सव्वप्पणा परमाणुस्स परमाणुम्मि पवेसो सव्वफासो...।

इसलिए अपने-अपने स्वरूप को छोड़े बिना परमाणु का परमाणु में सर्वात्मना प्रवेश सर्वस्पर्श कहलाता है।

इससे यह ज्ञात होता है कि स्कन्ध अवस्था में रहते हुए भी कोई भी परमाणु अपने-अपने स्वचतुष्टय का त्याग नहीं करते। जैसे प्रत्येक परमाणु अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, भावरूप से अवस्थित रहते हैं वैसे ही प्रत्येक समय में होने वाली अपनी-अपनी पर्यायरूप से भी वे अवस्थित रहते हैं।

अब हमें इस बात का विचार करना है कि स्कन्ध अवस्था में भी यदि परमाणु अपनी -अपनी पर्यायरूप से परिणत होता रहता है तो स्कन्ध व्यवस्था कैसे बनती है ? समाधान यह है कि शब्दनय और एवंभूतनय के विषयभूत भावबन्धपूर्वक हुए द्रव्यबन्ध की अपेक्षा नैगम, संग्रह, व्यवहार और स्थूल ऋजूसूत्रनय से यह व्यवस्था बन जाती है। इसका विशद विचार धवला पु. १४ में किया है। वहाँ पृ. २७ में बन्ध में कौन सा सम्बन्ध विवक्षित है इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है–

को एत्थ संबंधो घेप्पदे संजोगलक्खणो समवायलक्खणो वा ? तत्थ संजोगो दुविहो- देसपच्चासत्तिकओ गुणपच्चासत्तिकओ चेदि। तत्थ देसपच्चासक्तिकओ णाम दोण्णं दव्वाणमवयवफासं काऊण जमच्छणं सो देसपच्चासक्तिकओ संजोगो। गुणेहि जमण्णेण्णाणुहरणं सो गुणपच्चासक्तिकओ संजोगो। समवायसंजोगो सुगमो।

शंका-यहाँ कौन-सा सम्बन्ध लिया गया है ?

समाधान-वहाँ संयोग दो प्रकार का है- देशप्रत्यासत्तिकृत और गुणप्रत्यासत्तिकृत। दो द्रव्यों के अवयवों का स्पर्श करके रहना—यह देशप्रत्यासत्तिकृत सम्बन्ध है तथा गुणों के

द्वारा जो एक-दूसरे का अनुसरण करना—यह गुणप्रत्यासत्तिकृत सम्बन्ध है। समवाय सम्बन्ध सुगम है।

इससे स्पष्ट है कि स्कन्ध अवस्था में वे दोनों पुद्गल सर्वथा एक नहीं हो जाते, किन्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप से वे अपनी-अपनी सत्ता रखते हुए भी क्षेत्रप्रत्यासत्ति और गुणप्रत्यासत्ति को प्राप्त हो जाते हैं, इसलिए स्कन्धव्यवस्था बन जाती है।

अत: स्वरूपसत्ता सबकी भिन्न-भिन्न है। फिर भी उनका देशकृत और भावकृत ऐसा परिणाम होता है, जिससे उनमें बन्धव्यवहार होने लगता है। यही पुद्गलबन्ध कहलाता है। बन्ध के स्कन्ध, स्कन्धदेश और स्कन्धप्रदेश—ये भेद इसी आधार पर आगम में स्वीकार किये गये हैं। यही कारण है कि पंचास्तिकाय गाथा ७६ में यथार्थ में परमाणु को ही पुद्गल कहा गया है तथा सब प्रकार के स्कन्धों को पुद्गल कहना इसे व्यवहार बतलाया गया है। तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक पृ. ४०६ में स्कन्ध को जो परमार्थसत् कहा है, वह देशप्रत्यासत्ति और भावप्रत्यासत्ति को ध्यान में रखकर ही कहा है। पुद्गलों की देशप्रत्यासत्ति और भावप्रत्यासत्ति का होना - इसका नाम ही एकत्वपरिणाम है। इसके सिवा एकत्वपरिणाम को अन्य कुछ मानना दो द्रव्यों की सत्ता का अपलाप करना है।

इस पर से अपर पक्ष स्वयं निर्णय कर ले कि दो द्रव्यों में किया जानेवाला बन्धव्यवहार साधार है या कल्पनारोपित। वस्तुत: उस पक्ष ने उपचार कथन को आकाशकुसुम के समान कल्पनारोपित मान लिया, यही धारणा उस पक्ष को बदलनी है। ऐसा होने से कहाँ कौन कथन किस रूप में किया गया है, इसके स्पष्ट होने में देरी न लगेगी।

(3)

प्रथम उत्तर में हमने 'व्यवहारनय का आश्रय कर....' इत्यादि वचन लिखा था। इस पर प्रतिशंका २ में यह पृच्छा की गई थी कि 'व्यवहारनय का आश्रय लेकर बन्ध होता है, इसमें व्यवहारनय और उसकी बन्ध होने में आश्रयता का क्या आशय है?' इसका खुलासा करते हुए हमने पिछले उत्तर में लिखा था कि 'व्यवहारनय का आश्रय लेकर, इसका अर्थ व्यवहार नय की अपेक्षा इतना ही है।' इसी को अपर पक्ष 'व्यवहारनय का आश्रय कर' इस पद का हटाना और 'व्यवहारनय की अपेक्षा से' इस पद को जोड़ना लिख रहा है। अन्य कोई नई बात इस प्रश्न में नहीं कही गई है। जो कुछ दुहराया गया है उसका उत्तर द्वितीय प्रश्न के समाधान के प्रसंग से अनन्तर पूर्व ही लिख आये हैं।

आगम में व्यवहारनय के आश्रय से– **व्यवहाराश्रयाद्यश्च** (नयचक्रादि सं. पृ. ७९) तथा 'व्यवहारनय की अपेक्षा' ववहारादो (नयचक्रादि सं. पृ. ७८) इस तरह दोनों प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। अत: किसी प्रकार से भी लिखा जाय इसमें बाधा नहीं है। उससे प्रकृत में यही समझना चाहिए कि प्रथम उत्तर में लिखे गये वाक्य पर अपर पक्ष द्वारा शंका उपस्थित करने पर अपने दूसरे उत्तर में उसका स्पष्टीकरण मात्र किया था।

(4)

चौथे प्रश्न का समाधान यह है कि '**द्वयधिकादिगुणानां तु**' (त. सू. ५, ३६) सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक परमाणु विभावरूप होता हुआ देशप्रत्यासत्तिपने को प्राप्त हो जाता है। इसी का नाम बन्ध है। जिनागम में दो या दो से अधिक परमाणुओं का ऐसा ही बन्ध स्वीकार किया गया है। इस प्रकार जिनागम से बन्ध की व्यवस्था बन जाती है। हमारा कहना भी यही है। यदि अपर पक्ष को हमारे कथन में और जिनागम के कथन में कहीं अन्तर प्रतीत होता था तो उसका निर्देश करना था। क्या जिनागम में बन्ध को असद्भूत व्यवहारनय का विषय नहीं लिखा है और क्या जिनागम में असद्भूत व्यवहार और उपचार को एकार्थक नहीं लिखा है ? जबकि ये दोनों बातें जिनागम में लिखी हैं, तो अपरपक्ष उन्हें उसीरूप में स्वीकार करने में क्यों आनाकानी करता है ? यदि उस पक्ष को जिनागम में जो जिस रूप में लिखा है, वह उसी रूप में स्वीकार है तो हम उससे आग्रहपूर्वक निवेदन करते हैं कि उस पक्ष को 'उपचार' पद का अर्थ कल्पनारोपित लिखना छोड़ देना चाहिए।

(5)

पाँचवें प्रश्न का समाधान यह है कि वर्तमान जिनागम में निश्चयनय और व्यवहारनय की प्ररूपणा जिसरूप में की गई है, वह जिनवाणी ही तो है। यह जिनदेव ने ही तो कहा है कि निश्चय को भूतार्थ कहते हैं और व्यवहार को अभूतार्थ कहते हैं। भूतार्थ का आश्रय करने वाले मुनि निर्वाण को प्राप्त होते हैं। अत: वे इस कथन के प्रतिपाद्यरूप अर्थ को नियम से जानते हैं वास्तविक बात यह है कि यदि अपर पक्ष उपचार को कल्पनारोपित कहना छोड़ दे तो केवलज्ञान में, ये सब विषय किस प्रकार प्रतिभासित होते हैं यह आसानी से समझ में आ जाये, क्योंकि उनके ज्ञान में जैसे यह भासता है कि घट के निश्चय षट्कारक धर्म मिट्टी में ही हैं, उसी प्रकार यह भी भासता है कि जब जब मिट्टी घट रूप से परिणमती है तब तब कुम्भकारादि की अमुक प्रकार की क्रिया नियम से होती है। वे यह अच्छी तरह से जानते

हैं कि निश्चय षट्कारक धर्म जिसके उसी में होते हैं; दूसरे द्रव्य में नहीं होते। किसका किसके साथ अन्वय-व्यतिरेक है, इसे हम अल्पज्ञानी तो जान लें और केवलज्ञानी न जान सकें, यह कैसे हो सकता है। आकाश कुसुम नहीं हैं इसलिए वह उनके ज्ञान का विषय नहीं, पर यदि कोई आकाश कुसुम का विकल्प करता है तो उसे वे अवश्य जानते हैं। अपर पक्ष पिण्ड को सत्ताहीन कहता है। किन्तु बात ऐसी नहीं है, क्योंकि संख्यात, असंख्यात और अनन्त परमाणुओं की देशकृत और भावकृत जो प्रत्यासत्ति होती है, उसी को जिनागम में संघात या स्कन्ध आदि नामों से पुकारा गया है। ऐसी प्रत्यासत्ति का निषेध नहीं। निषेध है उन परमाणुओं की स्वरूप सत्ता के छोड़ने का। अतः इस रूप में केवली को स्कन्ध का ज्ञान नियम से होता है, इसमें बाधा नहीं। देशकृत और भावकृत प्रत्यासत्ति रूप से गधे के सींग नहीं होते, न हों पर गाय-भैंस आदि के तो होते हैं। इसीप्रकार देश-भावकृत प्रत्यासत्तिरूप से आकाशकुसुम नहीं होता, न हो पर वृक्षों में, लताओं में और गुल्मों में तो होते हैं। जहाँ जिस रूप में जो होता है, वहाँ उस रूप में काल विशेषण से विशिष्ट उसे वे अवश्य जानते हैं। यह केवलज्ञान की महिमा है। इसी महिमा का निर्देश धवला वर्गणाखण्ड प्रकृति अनुयोगद्वार के '**सइं भयवं**' इत्यादि सूत्र में किया गया है।

अपर पक्ष ने आगम प्रतिपादित वस्तु व्यवस्था के विचार के प्रसंग से प्रवचनसार गाथा ८४ देने के बाद 'अत्थो खलु दव्वमओ' गाथा और उसकी आचार्य अमृतचन्द्रकृत टीका उपस्थित की है।

अपर पक्ष इसके अन्त में लिखता है कि 'उक्त गाथा की यह टीका जीव तथा पुद्‌गल की बन्ध पर्याय की एवं द्वयणुकादिरूप स्कन्ध की वास्तविकता का उद्‌घोष कर रही है।'

यह तो प्रत्येक समझदार अनुभव करेगा कि टीका में नय विभाग किये बिना सामान्य से निर्देश किया गया है। यहाँ दो या दो से अधिक पर्यायों को एक कहा गया है। इससे यदि कोई यह समझे कि उन द्रव्यों की स्वरूपसत्ता का त्याग होकर यह मनुष्यादिरूप या द्वयणुकादिरूप परिणाम उत्पन्न हुआ है सो यह बात नहीं है। यदि अपर पक्ष उसी प्रवचनसार की गाथा १५२ की आचार्य अमृतचन्द्रकृत टीका पर दृष्टिपात कर लेता तो यह वर्णन किस अपेक्षा से किया गया है, यह स्पष्ट हो जाता। वहाँ लिखा है-

स्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वनिश्चितस्यैकस्यार्थस्य स्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्व-निश्चित एवान्यस्मिन्नर्थे विशिष्टरूपतया सम्भावितात्मलाभोऽर्थोऽनेकद्रव्यात्मकः पर्यायः। स खलु

पुद्‌गलस्य पुद्‌गलान्तर इव जीवस्य पुद्‌गले संस्थानादिविशिष्टतया समुपजायमानः सम्भाव्यत एव। उपपन्नश्चैवंविधः पर्यायः। अनेकद्रव्यसंयोगात्मत्वेन केवलजीवव्यतिरेकमात्रस्यैकद्रव्य-पर्यायस्यास्खलितस्यान्तरावभासनात्।

स्वलक्षणभूत स्वरूपास्तित्व से निश्चित एक द्रव्य का स्वलक्षणभूत स्वरूपास्तित्व से ही निश्चित दूसरे द्रव्य में विशिष्ट (देश-भावप्रत्यासत्ति) रूप से उत्पन्न होता हुआ अर्थ (भाव) अनेक द्रव्यात्मक पर्याय है। वह नियम से जैसे एक पुद्‌गल की दूसरे पुद्‌गल में उत्पन्न होती हुई देखी जाती है वैसे ही जीव पुद्‌गल में संस्थानादि विशिष्टरूप से उत्पन्न होती हुई अनुभव में आती ही है और ऐसी पर्याय नियम से बन जाती है, क्योंकि जो केवल जीव की व्यतिरेकमात्र है, ऐसी अस्खलित एक द्रव्यपर्याय का अनेक द्रव्यों के संयोगरूप से भीतर अवभासन होता है।

इससे स्पष्ट है संयोग अवस्था में भी जीव की पर्याय जीव में होती है और पुद्‌गल की पर्याय पुद्‌गल में होती है। वहाँ संयोग अवस्था में जो रूप-रसादिरूप परिणाम होता है, वह पुद्‌गल का ही होता है, जीव का नहीं। और इसी प्रकार ज्ञान-दर्शनादिकरूप जो परिणाम होता है वह जीव का ही होता है, पुद्‌गल का नहीं। रूप-रसादिकरूप और ज्ञान-दर्शनादिकरूप— ये दो परिणाम एक काल में एक साथ होते हुए स्पष्टतया प्रतिभासित होते हैं। ऐसी अवस्था में बन्ध में अनेक द्रव्यों की पर्याय को यथार्थ में एक कहना उचित नहीं है। व्यवहारनय से ही वे एक कही गईं हैं। संस्थानादि के विषय में तथा द्वयणुकादि के विषय में भी इसी न्याय से विचार कर लेना चाहिए।

पंचास्तिकाय गाथा ७४ में जो स्कन्ध आदि का निर्देश किया है, सो उसका विचार भी उक्त न्याय से कर लेना चाहिए। श्लोकवार्तिक पृ. ४३० में निश्चयनय और व्यवहारनय इनकी अपेक्षा क्रमशः अणु और स्कन्ध इन भेदों को स्वीकार किया गया है, सो इससे भी पूर्वोक्त अर्थ का ही समर्थन होता है।

तत्त्वार्थसूत्र अ. ५ के '**भेद-संघातेभ्यः उत्पद्यन्ते**' (सू. २६) इस सूत्र में देश-भावप्रत्यासत्तिरूप परिणाम को '**संघात**' और इसके भंग होने को 'भेद' कहा गया है। अष्टसहस्री पृ. २२३ द्वारा भी यही भाव व्यक्त किया गया है। जब अनन्तानन्त परमाणु देश-भावप्रत्यासत्तिपने को प्राप्त होते हैं, तब उनमें स्कन्ध व्यवहार बन कर धारण आकर्षण आदि क्रियाओं की भी उत्पत्ति हो जाती है। इससे स्कन्ध क्या वस्तु है, यह भी स्पष्ट हो जाता है

और परमाणुओं की स्वरूपसत्ता भी बनी रहती है। अपर पक्ष स्कन्ध या बन्ध वास्तविक है, यह तो लिखता है पर उनका स्वरूप क्या है, यह स्पष्ट नहीं करना चाहता।

सर्वार्थसिद्धि २-७ का वचन व्यवहारनय का वक्तव्य है। उसमें किस रूप में एकत्व स्वीकार किया गया है इसके लिए तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. ४३० के इस वचन पर दृष्टिपात कीजिये-

जीव-कर्मणोर्बन्धः कथमिति चेत्? परस्परं प्रदेशानुप्रवेशान्नत्वेकत्वपरिणामात्तयोरेकद्रव्यानुपपत्तेः।

शंका - जीव और पुद्गल का बन्ध कैसे हैं?

समाधान - परस्पर प्रदेशों के अनुप्रवेश से उनका बन्ध है; एकत्व परिणाम से नहीं, क्योंकि वे दोनों एक द्रव्य नहीं हैं।

अपर पक्ष ने यहाँ इन स्कन्ध आदि और मनुष्यादि पर्यायों की उत्पत्ति मिश्रण से बतलाई है। यदि वह मिश्रण शब्द का स्पष्टीकरण कर देता तो वह पक्ष क्या कहना चाहता है, यह समझ में आ जाता। अपर पक्ष ने मूल द्रव्य के स्वकाल और स्वभाव इन दोनों को अनित्यांश माना है, इसका हमें आश्चर्य है। स्वकाल तो व्यतिरेकरूप होने से अनित्य होता है, इसमें संदेह नहीं; पर स्वभाव तो अन्वयी होता है, वह अनित्य कैसे होता है? यह वही जाने। माना स्वकाल अनित्य होता है पर प्रत्येक द्रव्य की पर्याय उसकी उसी में तो होगी। वह अनित्य है, इसलिए वह स्वरूपचतुष्टय से बाहर नहीं की जा सकती। जैसे प्रत्येक द्रव्य का स्वरूप चतुष्टय मुक्त अवस्था में बना रहता है, वैसे वह संयोग अवस्था में भी बना रहता है। संयोग अवस्था में विभाव पर्याय का होना और मुक्त अवस्था में स्वभाव पर्याय का होना, यह अन्य बात है। परमाणुओं का स्वरूपास्तित्व बना रहकर भी देश-भावप्रत्यासत्ति विशेष के कारण स्कन्ध-व्यवहार होता है। तथा सूक्ष्मता, स्थूलता, दृश्यता या अदृश्यता बन जाती है। इसी को अपर पक्ष पुद्गलों में परिवर्तित स्वरूपास्तित्व को लिये हुए स्कन्ध परिणति कह रहा है।

जैनदर्शन नैयायिक दर्शन के समान संयोग को गुण नहीं मानता, इसे अपर पक्ष ने स्वीकार कर लिया इसकी हमें प्रसन्नता है। किन्तु अपर पक्ष ने जो संयोग को दो द्रव्यों का बन्धात्मक परिणमन बतलाया सो विवाद तो इसी में है कि वह क्या है? अपर पक्ष 'यह तो

लिखता है कि वह सत्य है, वास्तविक है। उसे नहीं मानोगे तो यह आपत्ति आवेगी, वह आपत्ति आवेगी आदि, पर वह है क्या ? यह नहीं लिखता। कल्पनारोपित आदि कुछ शब्द चुन रखे हैं, इसलिए घूम-फिर कर उन शब्दों का प्रयोग कर देना तथा व्यवहारनय के वक्तव्य को उपस्थित कर, उसे परमार्थभूत ठहराने का उपक्रम करना, यह कोई वस्तुसिद्धि का प्रकार नहीं है। अस्तु, जैनदर्शन ने बन्ध को तथा स्कन्ध आदि को किस रूप में स्वीकार किया है, इसका हमने आगम प्रमाण के साथ स्पष्ट निर्देश किया है। हमें विश्वास है कि अपर पक्ष उसे स्वीकार कर इस विवाद को समाप्त कर देगा।'

●

प्रथम दौर

: 1 :

शंका - 11

परिणमन के स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय दो भेद हैं, उनमें वास्तविक अन्तर क्या है ?

समाधान 1

सब द्रव्यों की स्वभावपर्यायें स्वप्रत्यय होती हैं तथा जीव और पुद्गल की विभावपर्यायें स्व-परप्रत्यय होती हैं। यहाँ स्वप्रत्यय पद द्वारा उसी द्रव्य की उपादान शक्ति ली गई है और स्व-परप्रत्यय पद द्वारा विवक्षित द्रव्य की उपादान शक्ति के साथ उस उस पर्याय के कर्ता और करणरूप निमित्तों का ग्रहण किया गया है। इस दृष्टि से स्वभावपर्याय और विभावपर्याय के कारणों का निर्देश करते हुए प्रवचनसार गाथा ९३ की टीका में कहा भी है-

सोऽपि द्विविधः- स्वभावपर्यायो विभावपर्यायश्च। तत्र स्वभावपर्यायो नाम समस्त -द्रव्याणामात्मीयात्मीयागुरुलघुगुणद्वारेण प्रतिसमयसमुदीयमानषट्स्थानपतितवृद्धिहानि-नानात्वानुभूतिः। विभावपर्यायो नाम रूपादीनां ज्ञानादीनां वा स्व-परप्रत्ययप्रवर्तमानपूर्वोत्तरा-वस्थावतीर्णतारतम्योपदर्शितस्वभावविशेषानेकत्वापत्तिः।

वह भी दो प्रकार है - स्वभावपर्याय और विभावपर्याय। उसमें समस्त द्रव्यों की अपने-अपने अगुरुलघुगुण द्वारा प्रतिसमय प्रगट होने वाली षट्स्थानपतित हानि-वृद्धिरूप अनेकत्व की अनुभूति स्वभावपर्याय है। तथा रूपादि के या ज्ञानादि के स्व-पर के कारण प्रवर्तमान पूर्वोत्तर अवस्था में होने वाले तारतम्य के कारण देखने में आने वाले स्वभाव विशेषरूप अनेकत्व की आपत्ति विभावपर्याय है।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि जिस प्रकार स्वपरप्रत्यय पर्यायों की उत्पत्ति में कालादि द्रव्यों की विविक्षित पर्यायें यथायोग्य आश्रय निमित्त होती हैं, उसी प्रकार स्वप्रत्यय पर्यायों की उत्पत्ति में कालादि द्रव्यों की विविक्षित पर्यायें यथायोग्य निमित्त होती हैं। परन्तु उनकी दोनों स्थलों पर कथन की अविवक्षा होने से यहाँ उनकी परिगणना नहीं की गई है। यही स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय इन दोनों में भेद है।

●

द्वितीय दौर

: २ :

शंका ११

प्रश्न यह था – परिणमन के स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय दो भेद हैं, उनमें वास्तविक अन्तर क्या है ?

प्रतिशंका २

अपने इस प्रश्न का जो उत्तर दिया है उसमें आपने लिखा है कि 'सभी द्रव्यों की स्वभावपर्यायें स्वप्रत्यय होती हैं तथा जीव और पुद्गल की विभावपर्यायें स्वपरप्रत्यय होती हैं।'

इस कथन के विषय में हमारा केवल इतना ही कहना है कि यद्यपि वस्तु की स्वप्रत्यय पर्यायें स्वभावरूप ही होती हैं, परन्तु वस्तु की सभी स्वभावपर्यायें स्वप्रत्यय नहीं होती हैं। जैसे आपने संपूर्ण द्रव्यों की अगुरुलघुगुण द्वारा प्रतिसमय प्रवर्तमान षट्गुण हानि–वृद्धिरूप पर्यायों को स्वप्रत्यय पर्यायें स्वीकृत किया है। यह तो ठीक है, परन्तु आकाश द्रव्य की परपदार्थावगाहकत्व गुण की अवगाह्यमान परपदार्थों के निमित्त से होने वाली पर्यायें; धर्मद्रव्य की गतिपरिणत जीवों तथा पुद्गलों के निमित्त से होनेवाली गति हेतुकत्व गुण की पर्यायें; अधर्म द्रव्य की स्थितिपरिणत जीवों और पुद्गलों के निमित्त से होनेवाली स्थितिहेतुकत्व गुण की पर्यायें, कालद्रव्य की वृत्तिविशिष्ट संपूर्ण द्रव्यों के निमित्त से होनेवाली वर्तनागुण की पर्यायें; मुक्त जीव की ज्ञेयभूत पर पदार्थों के निमित्त से होनेवाली ज्ञानगुण की उपयोगाकार परिणमनरूप पर्यायें, कर्म तथा नोकर्म से बद्ध संसारी जीवों की कर्मक्षय तथा कर्मोपशम के होने पर उत्पन्न होनेवाली क्षायिक और औपशमिक पर्यायें तथा ज्ञेयतापन्न अणुरूप तथा स्कन्धरूप पुद्गल द्रव्यों की ज्ञात्तता आदि विविध पर्यायें—इस प्रकार की सभी पर्यायें उस उस वस्तु की स्वाभाविक पर्यायें होते हुए भी स्वपरप्रत्यय ही हुआ करती हैं; स्वप्रत्यय नहीं।

इसी प्रकार जीवों की नर–नारकादि पर्यायें तथा पुद्गलों की कर्म और जीवशरीरादिरूप

पर्यायें विभावरूप होने के कारण यद्यपि स्व-परप्रत्यय मानी गई हैं तथापि यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि ऊपर के विवेचन के अनुसार प्रत्येक वस्तु की बहुत सी स्वाभाविक पर्यायें भी स्वपरप्रत्यय पर्यायों में अन्तर्भूत होती हैं।

आगम में भी वस्तु के स्वाभाविक स्वपरप्रत्यय परिणमनों को स्वीकार किया गया है। यथा—

ज्ञेयपदार्थाः प्रतिक्षणं भंगत्रयेण परिणमन्ति तथा ज्ञानमपि परिच्छित्यपेक्षया भंगत्रयेण परिणमति। – *प्रवचनसार गाथा १७ जयसेनाचार्यकृत टीका।*

अर्थ – ज्ञेय पदार्थ प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यमय भंगत्रय से परिणत होते रहते हैं, उसी के अनुसार ज्ञान भी भंगत्रयरूप से परिणत होता रहता है।

इसी प्रकार के प्रमाण जयधवल में भी पाये जाते हैं।

आगम में जहाँ आकाश, धर्म, अधर्म, कालद्रव्यों के स्वरूप का वर्णन किया गया है वहाँ यथायोग्य पर द्रव्यों के प्रति इनके उपकार की भी चर्चा की गई है। जीवों की परपदार्थज्ञातृत्व और परपदार्थदर्शित्व आदि योग्यताओं एवं राग, द्वेष, मोह आदि परिणतिओं की चर्चाओं से भी आगम ग्रन्थ भरे पड़े हैं तथा विविध प्रकार के भौतिक विकास के रूप में पुद्गल परिणतियाँ तो प्रत्यक्ष ही हमें दिखाई दे रही हैं और जिनका उपयोग लोक में हो रहा है तथा हम और आप सभी करते चले आ रहे हैं।

इस तरह विश्व के संपूर्ण पदार्थों में यथायोग्य होनेवाली पर्यायों को उपर्युक्त प्रकार से स्वप्रत्यय, स्वाभाविक स्वपरप्रत्यय और वैभाविक स्वपरप्रत्यय परिणमनों में ही अन्तर्भूत करना चाहिए।

आपने अपने उत्तर के अन्त में स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय परिणमनों में अन्तर दिखलाने के लिये जो यह बात लिखी है कि 'जिस प्रकार स्वपरप्रत्यय पर्यायों की उत्पत्ति में कालादि द्रव्यों की विवक्षित पर्यायें यथायोग्य आश्रय निमित्त होती हैं उसी प्रकार स्वप्रत्यय पर्यायों की उत्पत्ति में कालादि द्रव्यों की विवक्षित पर्यायें यथायोग्य आश्रय निमित्त होती हैं परन्तु उनकी दोनों स्थानों पर कथन की अविवक्षा होने से यहाँ उनकी परिगणना नहीं की गई है, यही स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय इन दोनों में भेद है।'

आपकी यह बात विचारणीय है, क्योंकि स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय दोनों परिणमनों

में केवल आश्रय निमित्तों के कथन करने की अविवक्षा और विवक्षा मात्र का ही भेद नहीं है। आपने भी अपने उत्तर में स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय के कारणों का निर्देश करते हुए प्रवचनसार गाथा ९३ की टीका का उद्धरण देकर यह स्वीकार किया है कि स्वपरप्रत्यय परिणमन में स्व के साथ पर भी कारण होता है। टीका का व उसके हिन्दी अर्थ का उल्लेख आपके उत्तर पत्र में है। आपने अपने उत्तर के प्रारम्भ में तो स्पष्टरूप से स्वपरप्रत्यय परिणमन में कर्ता और करणरूप निमित्तों को स्वीकार किया है, जो कर्ता और करणरूप निमित्त स्वप्रत्यय परिणमन में आपको भी मान्य नहीं है।

इस तरह स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय परिणमन में यदि कोई वास्तविक अन्तर है तो वह अन्तर यही है कि स्वप्रत्ययपरिणमन में कर्ता-करणरूप निमित्त कारणों को नहीं स्वीकार किया गया है, जब कि स्वपरप्रत्यय परिणमन के होने में इनकी अनिवार्य आवश्यकता रहा करती है।

विशेष विचारणा यह होती है कि जब अध्यात्मवाद के अनुसार कार्य-कारणभाव की विवेचना करते हुए दो प्रकार की (स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय) पर्यायों का कथन किया गया है, ऐसी दशा में स्वप्रत्यय पर्याय उपादान की परिणति होने से स्वाश्रित है, इसलिए उसे स्वप्रत्यय नाम देना समुचित है, परन्तु स्वपरप्रत्यय पर्याय को उपादान की परिणति होने के कारण केवल उपादानजन्य माना जाये तो उसे स्व-परप्रत्यय कहना असंगत ही है। वास्तविक दृष्टि से विचार किया जाये तो उपादान के साथ कारण-रूप ऐसा कौन-सा पदार्थ है, जो उपादान की समतुला में बैठकर उस पर्याय का निर्माण करे और तब उसके आधार पर उसका स्वप्रत्यय पर्याय से वास्तविक भेद स्थापित हो सके।

जब कि आपकी मान्यता के अनुसार जो आश्रय कारण कालादि पर पदार्थ हैं और जिन्हें आपने स्वप्रत्यय तथा स्वपरप्रत्यय दोनों तरह की पर्यायों में समानरूप से कारण माना है तो उन पर्यायों की उत्पत्ति में केवल उनकी विवक्षा और अविवक्षा मात्र से वास्तविक अन्तर कैसे लाया जा सकता है।

यहाँ पर यह भी एक विचारणीय बात है कि आगम के निर्माता आचार्य उक्त दोनों पर्यायों का कारण भेद से पृथक्-पृथक् विवेचन करते हुए केवल कालादि आश्रय निमित्तों की विवक्षा और अविवक्षामात्र से पार्थक्य दिखलायें, ऐसा मानना उनके गहरे ज्ञान के प्रति हमारी अननुभूति का द्योतक है।

उपर्युक्त कथन से यह बात विशदरूप से स्पष्ट हो जाती है कि कालादि आश्रय निमित्तकारणों की विवक्षा और अविवक्षा मात्र से उल्लिखित पर्यायभेद नहीं बन सकता है, किन्तु निमित्तकारणों की द्विविधता से ही दोनों प्रकार की पर्यायों का यह आन्तरिक भेद युक्तिसंगत सिद्ध होता है। निमित्त कारणों की यह द्विविधिता निमित्तों की प्रेरकता और अप्रेरकता के आश्रय है। इस तरह जिस परिणमन में उपादान के साथ कर्ता-करण आदि प्रेरक निमित्तों का व्यापार आवश्यक नहीं है, उसे स्वप्रत्यय परिणमन कहना चाहिये और जिस परिणमन में उपादान के साथ कर्ता-करण आदि प्रेरक निमित्तों का व्यापार आवश्यक हो, उसे स्वपरप्रत्यय परिणमन मानना चाहिये।

●

शंका 11

मूल प्रश्न- परिणमन के स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय दो भेद हैं, उनमें वास्तविक अन्तर क्यों है ?

प्रतिशंका 2 का समाधान

प्रवचनसार गाथा ९३ की टीका का उल्लेख कर हम पिछले समाधान में यह बता चुके हैं कि पर्यायें दो प्रकार की होती हैं - (१) स्वभावपर्याय (२) विभावपर्याय।

शुद्ध जीव, परमाणु व धर्म आदि चार द्रव्यों में अपने अपने अनन्त अगुरुलघुगुणों द्वारा प्रतिसमय षड्गुणी हानि-वृद्धिरूप उत्पाद व्यय होते हैं, वे स्वभावरूप पर्यायें हैं और संसारी जीवों के ज्ञान में इन्द्रिय, आलोक, ज्ञानावरण, क्षयोपशमादि निमित्तों की तथा पुद्गल स्कन्धों में रूप आदि के निमित्तों की अपेक्षा से अपने उपादान के साथ होने वाली पर्यायें विभाव पर्यायें हैं।

इन दोनों प्रकार की पर्यायों में काल आदि जो उदासीन निमित्त हैं, उनकी विवक्षा न करके प्रतिसमय जो अगुरुलघुकृत पर्यायें होती हैं उन्हें स्वप्रत्यय पर्याय कहा है। उदाहरणार्थ— धर्माधर्मादि द्रव्यों में जो गति-स्थिति आदि पर्यायें होती हैं, वे भी अपनी विभिन्नरूप गति स्थिति आदि से धर्म अधर्म द्रव्यों के पर्याय परिवर्तन में व्यवहार से आश्रय निमित्त हैं।

इसी आशय को ध्यान में रखकर श्री अकलंकदेव तथा पूज्यपाद स्वामी ने राजवार्तिक तथा सर्वार्थसिद्धि के अध्याय ५ सूत्र ७ में यह वचन लिखा है-

द्विविधः उत्पादः- स्वनिमित्तः परप्रत्ययश्च। स्वनिमित्तस्तावत् अनन्तानां अगुरुलघु-गुणानां आगमप्रामाण्यात् अभ्युपगम्यमानानां षट्स्थानपतितया वृद्धया-हान्या च प्रवर्तमानानां स्वभावादेषां उत्पादो व्ययश्च। परप्रत्ययोऽपि अश्वादेर्गति-स्थिति-अवगाहनहेतुत्वात् क्षणे-क्षणे तेषां भेदात् तद्हेतुत्वं अपि भिन्नं इति परप्रत्ययापेक्षः उत्पादो विनाशश्च व्यवह्रियते।

अर्थ - उत्पाद दो प्रकार है- स्वनिमित्तक और परनिमित्तक। आगम प्रामाण्य से स्वीकृत अनन्त अगुरुलघुगुणों में षट्गुणी हानि-वृद्धिरूप से प्रवर्तमान उत्पाद-व्यय स्वभाव से होता है, वह स्वनिमित्तक उत्पाद व्यय है तथा घोड़े आदि की गति तथा स्थिति और अवगाहनहेतुरूप अवस्थाओं में क्षण-क्षण में भेद होने से उन पर्यायों में परप्रत्यय उत्पाद-व्यय का व्यवहार किया जाता है।

तात्पर्य यह है कि धर्मादि द्रव्यों में परिणमन तो स्वप्रत्यय ही होता है, जो यथार्थ है, तथापि मनुष्य, पशु, पक्षी आदि भिन्न-भिन्न जीवों की गति आदि की अपेक्षा क्षण-क्षण में भेद होने से उनमें परप्रत्यय परिणाम का भी व्यवहार किया जाता है।

इसी तरह जीव की स्वभाव पर्याय तो स्वप्रत्यय ही है, तथा पुद्गलरूप कर्म-नोकर्म के निमित्त से जो पर्याय होती है, वह विभावपर्याय स्वपरप्रत्यय कही जाती है। इसीप्रकार पुद्गल परमाणु की स्वभावपर्याय स्वप्रत्यय है और स्कंधरूप पर्याय विभावपर्याय स्वपरप्रत्यय कही जाती है।

एक बात ध्यान में रखने की है कि स्वपरप्रत्ययरूप पर्याय में पर की निमित्तता का यह अर्थ नहीं है कि उपादान की तरह निमित्त भी समतुला में बैठकर उस पर्याय का निर्माण करता हो। यह व्यवस्था आगम की नहीं है। इसका कारण यह है कि पर्याय का स्वामित्व द्रव्य में है, पर पदार्थ तो निमित्तमात्र है। ऐसे स्थलों पर निमित्त की मर्यादा में वह आश्रय निमित्त नहीं है, किन्तु विशेष निमित्त है यही आगम परम्परा है।

●

तृतीय दौर

: 3 :

शंका 11

परिणमन के स्वप्रत्यय और स्वपर-प्रत्यय दो भेद हैं, उनमें वास्तविक अन्तर क्या है ?

प्रतिशंका 3

हम अपनी द्वितीय प्रतिशंका में इस बात को विस्तार के साथ स्पष्ट कर चुके हैं कि विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों में यथायोग्य होनेवाली पर्यायों को स्वप्रत्यय, स्वाभाविक स्वपरप्रत्यय और वैभाविक स्वपरप्रत्यय परिणमनों में ही अन्तर्भूत करना चाहिये।

आपने भी अपने द्वितीय प्रत्युत्तर में स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय-ऐसे दो भेद स्वीकार करने के अनन्तर लिखा है कि '**धर्माधर्मादि द्रव्यों के गतिहेतुत्व-स्थितिहेतुत्व आदि धर्मों के आश्रय से जीव और पुद्गलों में जो गति-स्थिति आदि पर्यायें होती हैं, वे भी अपनी विभिन्नरूप गति-स्थिति आदि से धर्म-अधर्म आदि द्रव्यों के पर्याय परिवर्तन में व्यवहार से आश्रय निमित्त हैं।**' और आगे राजवार्तिक तथा सर्वार्थसिद्धि के अध्याय ५ सूत्र ७ का प्रमाण उपस्थित करते हुए धर्म-अधर्म आदि द्रव्य में भी परप्रत्यय परिणमन आपने स्वीकार कर लिये हैं।

आपके द्वारा स्वीकृत इस परप्रत्यय परिणमन को हमारे द्वारा स्वीकृत स्वाभाविक स्वपरप्रत्यय परिणमन में ही अन्तर्भूत करना चाहिये, कारण कि जैन संस्कृति में स्व की अपेक्षा रहित केवल पर के द्वारा किसी भी वस्तु के परिणमन को नहीं स्वीकार किया गया है और यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार गाथा ११८ में पुद्गल द्रव्य के कर्मरूप से परिणमित होने के सिलसिले में तथा गाथा १२३ में जीवद्रव्य के क्रोधादि रूप से परिणमित होने के सिलसिले में यह बात स्पष्ट कर दी है कि केवल परप्रत्यय परिणमन नहीं हो सकता है। वे गाथायें निम्न प्रकार हैं –

जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण।
ते समयपरिणमंते कहं णु परिणामयदि चेदा॥११८॥

अर्थ – जीव यदि पुद्‌गल द्रव्य को कर्मभाव से परिणत कराता है तो उस पुद्‌गलद्रव्य में अपनी निज की परिणत होने की योग्यता के अभाव में जीवद्रव्य उसको कैसे (कर्मरूप) परिणत करा सकता है?

इसीप्रकार –

पुग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं।
तं सयमपरिणमंतं कहं णु परिणामयदि कोहो॥१२३॥

अर्थ – क्रोधरूप पुद्‌गल कर्म यदि जीव को क्रोधभाव से परिणत कराता है तो उस जीव में अपनी निज परिणत होने की योग्यता के अभाव में वह पुद्‌गल कर्मरूप क्रोध उसको कैसे (क्रोधरूप) परिणत करा सकता है?

आचार्य अमृतचन्द्र ने भी उक्त गाथाओं की व्याख्या करते हुए अपनी आत्मख्याति टीका में लिखा है –

न तावत्तत्स्वयमपरिणमानं परेण परिणामयितुं पार्येत।

अर्थ – जिसमें परिणत होने की निजी योग्यता नहीं है, उसे दूसरा कैसे परिणत करा सकता है? अर्थात् नहीं करा सकता है।

यही बात आचार्य अमृतचन्द्र ने गाथा १२३ की व्याख्या करते हुए उक्त टीका में भी लिखी है।

इस प्रकार जीव के ज्ञानगुण के बाह्य पदार्थों के जाननेरूप उपयोगाकार परिणमन को तथा धर्मादि द्रव्यों के गतिहेतुत्वादि गुणों के जीवों और पुद्‌गलों की गति आदि के आधार पर होनेवाले परिणमनों को स्वाभाविक स्वपरप्रत्यय परिणमन ही कहना चाहिये। इन्हें वैभाविक स्वपरप्रत्यय परिणमन इसलिये नहीं कहा जा सकता है कि ये सब परिणमन विभावरूप विकारी परिणमन नहीं हैं। स्वप्रत्यय परिणमन भी इन्हें इसलिये नहीं कहा जा सकता है कि इन परिणमनों में एक तो पर की अपेक्षा आगम में स्वीकार की गयी है, दूसरे आगम में जहाँ भी स्वप्रत्यय परिणमनों का कथन मिलता है, वहाँ सर्वत्र केवल अगुरुलघुगुण के द्वारा होनेवाली द्रव्य की षड्‌गुणहानि-वृद्धिरूप परिणमनों को ही स्वप्रत्यय परिणमन बतलाया गया है।

आगे आपने लिखा है कि मनुष्य, पशु, पक्षी आदि भिन्न-भिन्न जीवों की गति आदि की अपेक्षा क्षण-क्षण में भेद होने से उनमें (धर्मादि द्रव्यों में) परप्रत्यय परिणाम का भी व्यवहार किया जाता है।

इसके विषय में हमारा आपसे कहना है कि व्यवहार शब्द का आपने स्थान-स्थान पर उपचार ही अर्थ किया है और उपचार का भी अर्थ कल्पनारोपित किया है। सो ऐसा अर्थ आगम में सर्वत्र नहीं लिया गया है। इसके लिए प्रश्न नं. १७ की हमारी प्रतिशंका ३ को देखिये, उसमें हम व्यवहार शब्द के विविध अर्थ बतलाने वाले हैं, जिनका उपयोग आगम में यथासंभव और यथावश्यक अर्थ में ही किया गया है। इसलिये यहाँ पर भी राजवार्तिक तथा सर्वार्थसिद्धि के अध्याय ५ सूत्र ७ में धर्मादि द्रव्यों में होने वाले परप्रत्यय परिणमनों के प्रसंग में जो '*व्यवह्रियते*' पाठ किया गया है, उसका अर्थ उपचरित अर्थात् कल्पनारोपित नहीं करना चाहिये, कारण कि मनुष्य, पशु, पक्षी आदि की सद्भूत गति आदि निमित्तों की सहायतापूर्वक उत्पन्न होने से उन परिणमनों की धर्मादि द्रव्यों में सद्भूतता ही मानने योग्य है, अन्यथा यदि धर्मादि द्रव्यों के गतिहेतुकत्वादि गुणों में कूटस्थता आ जाने से फिर धर्मादि द्रव्य उपर्युक्त मनुष्य, पशु, पक्षी आदि की भिन्न-भिन्न गति आदि में सहायक नहीं हो सकेंगे। दूसरी बात यह है कि धर्मादि द्रव्यों में होने वाले परसापेक्ष परिणमनों को व्यवहारमात्र कहकर यदि कल्पनारोपित ही माना जायेगा, तो ज्ञेयभूत पदार्थों के निमित्त से होने वाले ज्ञान के उपयोगाकार परिणमनों को भी कल्पनारोपित (असद्भूत) ही मानने का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। इसलिये जिस प्रकार ज्ञान के ज्ञेयभूत परपदार्थों की अपेक्षा से उत्पन्न होने वाले ज्ञान के उपयोगाकार परिणमन कल्पनारोपित (असद्भूत) नहीं है, उसी प्रकार परपदार्थसापेक्ष होकर उत्पन्न होने वाले धर्मादि द्रव्यों के परिणमन भी कल्पनारोपित (असद्भूत) नहीं हैं।

अन्त में आपने लिखा है कि 'स्वपरप्रत्ययरूप पर्याय में पर की निमित्तता का यह अर्थ नहीं है कि उपादान की तरह निमित्त भी समतुला में बैठकर उस पर्याय का निर्माण करता हो।'

इस विषय में भी हमारा कहना यह है कि हमने जो स्वपरप्रत्यय परिणमन में उपादानभूत और निमित्तभूत वस्तुओं में विद्यमान कारणभाव की परस्पर विलक्षणता रहते हुए भी कार्योत्पत्ति में दोनों की समान अपेक्षा रहने के कारण उपादान और निमित्त दोनों तरह की वस्तुओं को '**समतुला**' शब्द द्वारा समान सम्पन्न बतलाया है, सो हमने '**समतुला**' शब्द का प्रयोग इस आशय से नहीं किया है कि उपादान के समान निमित्त को भी कार्यरूप परिणत होना चाहिये अथवा उपादान के समान निमित्त को भी कार्य का आश्रय बन जाना चाहिये। किन्तु इस आशय से किया है कि उपादान के स्वपरप्रत्यय परिणमनरूप कार्य की उत्पत्ति में

सहायक कारणरूप निमित्त की उतनी ही अपेक्षा रहा करती है; जितनी कि कार्य के आश्रयभूत उपादान की रहती है। अर्थात् उपादान और निमित्त याने आश्रय कारण और सहकारी कारण- इन दोनों में से एक की उपेक्षा कर देने पर कार्य (स्वपरप्रत्ययरूप परिणमन) कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकता है, क्योंकि कार्योत्पत्ति में जहाँ तक उपादान और निमित्त के बलाबल का सम्बन्ध है; वहाँ तक तो यही माना जायेगा कि उपादानशक्ति के अभाव में निमित्त अकिंचित्कर बना रहता है और इसी प्रकार उपादान भी निमित्त के सहयोग के बिना कुछ नहीं कर सकता है। इस तरह परस्पर विलक्षण अपने-अपने ढंग की कार्योत्पादनकारणता रखते हुए भी कार्योत्पादन की दृष्टि से दोनों ही समानरूप से शक्तिशाली हैं, इसलिए उसमें (कार्योत्पादन में) दोनों ही एक दूसरे का मुख ताकने वाले हैं। इस तरह जब दोनों एक दूसरे की अपेक्षा रखकर ही कार्योत्पादन कर सकते हैं, तो केवल सहायक मात्र होने से उपादान की कार्य परिणति में निमित्त की उपयोगिता उपादान से कम रहती हो- ऐसा सोचना गलत है। यही कारण है कि स्वामी समन्तभद्र ने कार्य की उत्पत्ति बहिरंग और अंतरंग अर्थात् निमित्त और उपादान दोनों तरह के कारणों की समग्रता के सद्भाव में ही मानी है और यह भी प्रमाणित किया है द्रव्यगत स्वभाव ऐसा ही है कि बहिरंग तथा अन्तरंग उभय कारणों की समग्रता पर ही कार्य की उत्पत्ति हो सकती है। उनका वचन निम्न प्रकार है -

बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः ॥६०॥

- ***स्वयंभूस्तोत्र***

इसका अर्थ ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। यहाँ पर '**द्रव्यगत स्वभावः**' पद से इसका निराकरण हो जाता है कि किसी एक कार्योत्पत्ति के प्रति निमित्तता और उपादानता दोनों ही एक वस्तु के धर्म हैं और इसका भी निराकरण हो जाता है कि निमित्तता उपादानता के पीछे-पीछे चलनेवाली वस्तु है तथा इसका भी निराकरण हो जाता है कि निमित्तता को उपादानता समुत्पन्न करती है, और यह सिद्ध होता है कि जिस प्रकार अगुरुलघु गुणों से वस्तु में होने वाले षड्गुणहानि-वृद्धिरूप परिणमनों की स्वप्रत्ययता अर्थात् स्वनिमित्तक कार्यपना द्रव्यगत स्वभाव है, उसी प्रकार वस्तु के जो भी अन्तरंग (उपादान) और बहिरंग (निमित्त) कारणों के सहयोग से परिणमन हुआ करते हैं उनमें पायी जाने वाली स्वपरप्रत्ययता अर्थात् स्वपर निमित्तक-कार्यपना भी द्रव्यगत स्वभाव ही है। याने वे परिणमन ही ऐसे हैं या उनका स्वभाव ही ऐसा है कि स्व (उपादान) और पर (निमित्त) का परस्पर सहयोग हुए बिना वे

कभी उत्पन्न ही नहीं हो सकते हैं। समयसार की आचार्य अमृतचन्द्रकृत आत्मख्याति टीका में निम्नलिखित कलश पद्य पाया जाता है-

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः।
तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत्॥७५॥

इस पद्य में पठित '**वस्तुस्वभावः**' पद भी इसी अर्थ का प्रकाशन कर रहा है कि पर के सम्बन्ध से ही आत्मा में रागादि उत्पन्न हो सकते हैं, ऐसा ही वस्तुस्वभाव है।

आप्तपरीक्षा में आचार्य श्री विद्यानन्दी ने लिखा है-

सामग्री जनिका कार्यस्य नैकं कारणम्, ततस्तदन्वयव्यतिरेकावेव कार्यस्यान्वेषणीयौ।

- वीरसेवामंदिर प्रकाशन, पृ. ४४

अर्थ-कार्य की जनक सामग्री (कारणों की समग्रता) होती है, एक कारण कार्य का जनक नहीं होता है इसलिये 'सम्पूर्ण कारणों के अन्वय और व्यतिरेक का अन्वेषण करना चाहिये।'

यद्यपि यह वाक्य आचार्य ने नैयायिक की ओर से पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित किया है, परन्तु पूर्वपक्ष की समाप्ति पर **सत्यमेतत्** पद द्वारा इसे स्वीकृत कर लिया है। आगे पृष्ठ ४५ पर लिखा है कि—

प्रत्येकं सामग्र्येकदेशानां कार्योत्पत्तौ अन्वयव्यतिरेकनिश्चयस्य प्रेक्षापूर्वकारिभिः अन्वेषणात्।

अर्थ-प्रेक्षापूर्वकारी (बुद्धिपूर्वक कार्य करने वाले) लोग कार्य की उत्पत्ति में संपूर्ण कारणों के अलग-अलग अन्वय-व्यतिरेक की खोज किया करते हैं।

बात भी दरअसल ऐसी है कि यदि लोक में कोई कार्य गड़बड़ी में पड़ जाता है तो चतुर जानकार उसके प्रत्येक साधन की ओर दृष्टि डालता है कि किस साधन की गड़बड़ी से यह कार्य गड़बड़ हो गया। पट को बनाने वाला जुलाहा पट निर्माण के साधनभूत तन्तु, तुरी, वेम, शलाका आदि सभी साधनों पर समानरूप से दृष्टि रखता है कि सब साधनों की स्थिति अच्छी है या नहीं, अथवा यह भी देखता है कि इनमें से किसी साधन की कमी तो नहीं है। सर्वसाधारण लोग भी किसी कार्य के करने से पहले उसके कारणों पर यथाबुद्धि दृष्टि डाल लिया करते हैं।

कहाँ तक इस विषय को बढ़ाया जाये, प्रत्येक मनुष्य यहाँ तक कि जो निमित्तकारण को अवास्तविक, उपचरित या काल्पनिक सिद्ध करने में लगे हुए हैं, वे भी अपने अनुभव और प्रवृत्तियों की ओर भी थोड़ा दृष्टिपात करें तो उन्हें मालूम होगा कि वे निमित्त उपादान दोनों को ही समतुला पर बिठलाकर कार्योत्पत्ति के प्रति अग्रसर होते हैं। वे जानते हैं कि उनका कार्य निमित्तों का सहारा लिये बिना नहीं सम्पन्न हो सकता है, इसिलये निमित्तों को अपनाते हैं, फिर भी उन्हे अवास्तविक या काल्पनिक कहने से नहीं चूकते, यह महान् आश्चर्य की बात है।

निमित्त भी उपादान की ही तरह वास्तविक है, उपयोगी है, काल्पनिक या अनुपयोगी नहीं है, वह उपचरित या आरोपित भी नहीं है, इत्यादि आवश्यक बातों पर प्रश्न १७ में प्रकाश डाला जायेगा। वहाँ से देखिये।

नोट - इस विषय में प्रश्न नं. १,५,६ और १७ देखिये तथा इनके प्रत्येक दौर का विषय भी देखिये।

●

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमों गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्।।

शंका 11

मूल प्रश्न 11- परिणमन के स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय दो भेद हैं, उनमें वास्तविक अन्तर क्या है ?

प्रतिशंका 3 का समाधान

इस प्रश्न के प्रथम उत्तर में समाधान करते हुए बतलाया गया था कि स्वभावपर्याय और विभावपर्याय के भेद से पर्यायें दो प्रकार की होती हैं। स्व-प्रत्यय पर्यायों का नाम ही स्वभाव पर्याय है और स्व-परप्रत्यय पर्यायों को ही विभाव पर्याय कहते हैं। साथ ही इनमें से किस द्रव्य में दोनों या एक कौन-कौन पर्यायें किस प्रकार होती हैं, इसका स्पष्टीकरण करते हुए समर्थन में प्रवचनसार गाथा ९३ की टीका उपस्थित की गई थी। अन्त में यह भी बतला दिया गया था कि 'जिस प्रकार स्व-परप्रत्यय पर्यायों की उत्पत्ति में कालादि द्रव्यों की

विवक्षित पर्यायें यथायोग्य आश्रय निमित्त होती हैं उसी प्रकार स्वप्रत्यय पर्यायों की उत्पत्ति में भी कालादि द्रव्यों की विवक्षित पर्यायें यथायोग्य आश्रय निमित्त होती हैं। वे साधारण-निमित्त हैं, इसलिए उनकी दोनों स्थलों में कथन की अविवक्षा है। यही इन दोनों में भेद है? ऐसा लिखने का हमारा आश्रय यह था कि 'स्वप्रत्यय' शब्द में आया हुआ 'स्व' शब्द अपने उपादान को सूचित करता है और 'स्व-परप्रत्यय' पद में आया हुआ 'स्व' शब्द अपने उपादान को तथा 'पर' शब्द अपने असाधारण (विशेष) निमित्तों को सूचित करता है।

इतना स्पष्ट निर्देश करने पर भी प्रतिशंका २ में एक तो ३ प्रकार की पर्यायों की स्थापना करके अनन्त अगुरुलघु गुण द्वारा द्रव्यों की प्रतिसमय प्रवर्तमान षड्गुण-हानि-वृद्धिरूप पर्यायें मात्र 'स्व प्रत्यय' स्वीकार की गई हैं। इनके होने में एकान्तरूप से मात्र निश्चय (उपादान) पक्ष को ही स्वीकार किया गया है और व्यवहार (उपचार) पक्ष को तिलांजलि दे दी गई है। जब कि प्रत्येक निश्चय का तदनुकूल व्यवहार अविनाभावरूप से होता ही है - ऐसा आगम का अभिप्राय है। स्वामी समन्तभद्र वचनानुसार चाहे वह स्वभाव कार्य हो और चाहे विभाव कार्य, दोनों में बाह्य और आभ्यन्तर उपाधि की समग्रता तभी बन सकती है जब कार्योत्पत्ति में उपादान और व्यवहार हेतु दोनों की सम व्याप्ति स्वीकार की जाये। देखिये स्वयंभूस्तोत्र श्लोक ६०।

दूसरे आगम में सर्वत्र स्वभाव पर्यायों को स्व-प्रत्ययरूप से ही उल्लिखित किया गया है। फिर भी उसका विचार किये बिना प्रतिशंका २ में अनन्त अगुरुलघु गुणरूप से प्रवर्तमान षड्गुणहानि-वृद्धिरूप पर्यायों के सिवाय अन्य समस्त स्वभाव पर्यायों को स्वपरप्रत्यय सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। तथा इनके अनेक नाम भी गिनाये गये हैं। इस प्रकार प्रतिशंका २ में स्वभाव पर्यायों को दो भागों में विभक्त कर दिया गया है, जब कि आगम में स्वभाव पर्यायों के उक्त प्रकार से दो भेदों का उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता। वस्तुत: आगम में जहाँ भी स्वभाव पर्याय का लक्षण निर्देश करते हुए द्रव्यों की अगुरुलघु गुण द्वारा षड्गुणी-हानि-वृद्धिरूप स्वप्रत्यय पर्यायों का उल्लेख आता है, वहाँ वह षट्द्रव्य सम्बन्धी सब स्वभाव पर्यायों में घटित होने वाले सामान्य लक्षण के रूप में ही उल्लिखित किया गया है।

तीसरे हमने तो प्रथम उत्तर में इतना ही लिखा था कि '**जो साधारण निमित्त होते हैं, उनकी दोनों स्थलों पर कथन की अविवक्षा होने से परिगणना नहीं की जाती।**' किन्तु प्रतिशंका २ में इस प्रकार की वाक्य रचना निबद्ध की गई है जिससे यह ध्वनित हो कि 'हम

स्वभाव पर्यायों में साधारण निमित्तों के कथन की अविवक्षा और विभाव पर्यायों में साधारण निमित्तों के कथन की विवक्षा इतने मात्र से दोनों में भेद स्वीकार करते हैं।' यह एक प्रकार से हमारे ऊपर आरोप है, किन्तु प्रथम उत्तर में न तो हमारी ओर से ऐसा लिखा ही गया है और न ऐसी वस्तुस्थिति ही है। प्रथम उत्तर के प्रारम्भ में ही हम यह स्पष्ट कर आये हैं कि 'स्वभावपर्यायों में स्वप्रत्यय पद द्वारा उसी द्रव्य की उपादान शक्ति ली गई है और विभाव पर्यायों में स्व-परप्रत्यय पद द्वारा विवक्षित द्रव्य की उपादान शक्ति के साथ उस-उस पर्याय के कर्ता और करण निमित्तों को भी स्वीकार किया गया है।' स्पष्ट है कि प्रतिशंका २ अनेक ऐसे मन्तव्यों से ओत-प्रोत है, जिनका आगम से समर्थन नहीं होता।

दूसरे उत्तर में हमने उन्हीं तथ्यों पर पुनः प्रकाश डाला है जिनका सम्यक् प्रकार से निर्देश प्रथम उत्तर के समय कर आये हैं। इसमें तत्त्वार्थवार्तिक और सर्वार्थसिद्धि अ. ५ सू.७ का टीकावचन इसलिए उद्धृत किया गया था, ताकि अपर पक्ष की समझ में यह बात भलीभाँति आ जाए कि स्वभाव पर्यायें इसलिए ही स्वप्रत्यय स्वीकार की गई हैं, क्योंकि उनकी उत्पत्ति में विभाव के हेतुभूत बाह्य निमित्तों का सर्वथा अभाव है। उनमें भी यद्यपि आश्रय निमित्तों का निषेध नहीं है। राजवार्तिक और सर्वार्थसिद्धि के उक्त उल्लेख में 'पर' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है। किन्तु दूसरे पक्ष ने इस उल्लेख को अपने मन्तव्य की पुष्टि में समझकर उससे यह अभिप्राय फलित करने की चेष्टा की है कि स्वभाव पर्यायें भी विभाव पर्यायों के समान स्व-परप्रत्यय होती है - हालाँकि अपर पक्ष ने प्रतिशंका २ के अन्त में यह लिखकर कि 'इस तरह जिस परिणमन में उपादान के साथ कर्ता-करण आदि प्रेरक निमित्तों का व्यापार आवश्यक नहीं है उसे स्वप्रत्यय परिणमन कहना चाहिए।' स्वभावपर्यायों को स्वप्रत्यय भी स्वीकार कर लिया है जो आगम की दृष्टि से हमें तो इष्ट है ही, अपर पक्ष को भी स्वीकृत होना चाहिए।

इस प्रकार मूल प्रश्न, उसका उत्तर, प्रतिशंका २ और उसका उत्तर इन सबका सिंहावलोकन है। आगे प्रतिशंका ३ के आधार से विचार करते हैं-

1. पर्यायें दो ही प्रकार की होती हैं

प्रतिशंका ३ में हमारे द्वारा पूर्व में उद्धृत तत्त्वार्थवार्तिक और सर्वार्थसिद्धि अध्याय ५ सूत्र ७ के वचन का उल्लेखकर यह बतलाने का प्रयत्न किया गया है कि हमने भी स्वभाव

पर्याय को परप्रत्यय स्वीकार कर लिया है और इसप्रकार अपनी पुरानी मान्यता की पुष्टि करते हुए लिखा है कि 'विश्व के सभी पदार्थों में यथायोग्य होनेवाली पर्यायों को स्वप्रत्यय, स्वाभाविक स्व-परप्रत्यय और वैभाविक स्व-परप्रत्यय परिणमनों में ही अन्तर्भूत करना चाहिए। इसी प्रसंग में एक नमूनेदार यह वाक्य भी लिखा है कि 'जैन संस्कृति में स्व की अपेक्षा रहित केवल पर के द्वारा किसी वस्तु के परिणमन को नहीं स्वीकार किया गया है।' विचारकर देखने पर विदित होता है कि इस वाक्य में सर्वप्रथम यह चतुराई की गई है कि जो विशेष्य है, उसे विशेषण बनाया गया है और जो विशेषण है, उसे विशेष्य बनाकर अपने अभिप्राय की पुष्टि की गई है। साथ ही यह जाहिर करने के लिए कि आचार्य कुन्दकुन्द कृत समयसार से भी हमारे उक्त अभिप्राय की पुष्टि होती है, उसकी गाथा ११८ और १२३ तथा उनका टीका वचन भी प्रमाणरूप में उद्धृत किया गया है। इन उद्धृत वचनों का जो अर्थ किया गया है, वह क्यों ठीक नहीं है इसका विचार तो हम आगे करने वाले हैं। यहाँ मात्र इतना संकेत कर देना चाहते हैं कि इस बार अनेक स्थलों पर अपर पक्ष ने जैनदर्शन या जैनधर्म शब्द का प्रयोग न कर, उनके स्थान में जैन संस्कृति शब्द का प्रयोग किया है। ऐसा करने में जो भी रहस्य हो उसे तो अपर पक्ष ही जाने। प्रतिशंका में ऐसे प्रयोग का खुलासा न होने के कारण हम उसे सर्वत्र जैनदर्शन या जैनधर्म के अर्थ में ही स्वीकार करेंगे।

दूसरी बात यह है कि उक्त वचन द्वारा विशेष्य को विशेषण बनाकर जो यह स्वीकार किया गया है कि प्रत्येक परिणमन में 'स्व' की अपेक्षा रहती है, वह तो विचारणीय है ही, साथ ही यहाँ 'स्व' पद से क्या अभिप्रेत है, यह स्पष्ट न होने से यह भी विचारणीय है। सब ओर से विचार करने पर विदित होता है कि है यह वाक्य भ्रामक ही। प्रतिशंका ३ में इस वाक्य द्वारा भले ही जैन संस्कृति की उद्घोषणा की गई हो पर विचार कर देखने पर यही विदित होता है कि इस वाक्य में जो कुछ भी कहा गया है वह जैन संस्कृति तो नहीं ही है। इससे जैन संस्कृति पर पानी फिर जाएगा, इतना अवश्य है।

अब थोड़ा इस वाक्य में जो कुछ कहा गया है उसके विधिपरक अर्थ पर विचार कीजिए-

इसका विधिपरक निर्देश होता है कि 'स्व' की अपेक्षा सहित 'पर' के द्वारा परिणमन सभी वस्तुओं का जैन संस्कृति में स्वीकार किया गया है।' यह उक्त वाक्य का विधिपरक निर्देश है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि अपर पक्ष अपना यह मत जैन संस्कृति के नाम पर

प्रचारित करना चाहता है कि प्रत्येक परिणमन मे 'स्व' की अपेक्षा रहती है अवश्य, पर होता है वह दूसरे के द्वारा ही। आश्चर्य है कि ऐसे विडम्बनापूर्वक वचन को जैन संस्कृति की विशेषता घोषित किया गया है। कदाचित् ईश्वरवादी ऐसा वचन प्रयोग करें तो उनके लिए वह क्षम्य है, जैन संस्कृति के वाहकों के द्वारा तो ऐसा वचन प्रयोग भूल से भी नहीं होना चाहिए।

अब हम प्रकृत विषय पर आते हैं। प्रकृत में यह विचार चल रहा है कि सब द्रव्यों में जितनी भी पर्यायें होती हैं, उन सबका वर्गीकरण करने पर वे ३ प्रकार की न होकर मात्र २ ही प्रकार की होती हैं। जहाँ कहीं साधारण निमित्तों की विवक्षावश स्वभाव पर्यायों के वर्णन के प्रसंग से परप्रत्यय शब्द का प्रयोग हुआ भी है तो इतने मात्र से पर्यायों की त्रिविधता का समर्थन नहीं किया जा सकता, क्योंकि आगम में इन्हीं पर्यायों को स्वप्रत्यय पर्याय कहा है और जहाँ केवल स्वप्रत्यय पर्यायों का लक्षण आया है, वहाँ इन्हीं को लक्ष्य में रखकर निर्दिष्ट किया गया है। आगे हम उदाहरण के रूप मे यहाँ कुछ ऐसे प्रमाण उपस्थित करेंगे; जिनसे प्रतिशंका में स्वीकृत स्वाभाविक स्व-पर प्रत्यय पर्यायें ही स्वभाव पर्यायें हैं, यह भलीभाँति ज्ञात हो जाएगा, क्योंकि जहाँ भी 'स्वप्रत्यय' शब्द का प्रयोग हुआ है, वह इसी के लिए हुआ है। सर्वप्रथम प्रमाणस्वरूप अनन्त सुख को लीजिए। इसका विवेचन करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार में लिखते हैं—

अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं॥१३॥

शुद्धोपयोग से निष्पन्न हुए आत्माओं का सुख अतिशय, आत्मोत्पन्न, विषयातीत, अनुपम, अनन्त और अविच्छिन्न है॥१३॥

इसकी टीका में आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं—

आसंसारापूर्वपरमाद्भुताह्लादरूपत्त्वादात्मानमेवाश्रिय प्रवृत्तत्वात्पराश्रय-निरपेक्षत्वादत्यन्तविलक्षणत्वात्समस्तायतिनिरपायित्वान्नैरन्तर्यप्रवर्तमानत्वाच्चातिशय-वदात्मसमुत्थं विषयातीतमनौपम्यमनंतमव्युच्छिन्नं शुद्धोपयोगनिःपन्नानां सुख-मतस्तत्सर्वथा प्रार्थनीयम्॥१३॥

(१) अनादि संसार से जो पहले कभी अनुभव में नहीं आया, ऐसे अपूर्व परम अद्भुत आल्हादरूप होने से अतिशय, (२) आत्मा का ही आश्रय लेकर प्रवर्तमान होने से आत्मोत्पन्न, (३) पराश्रय से निरपेक्ष होने से विषयातीत, (४) अत्यन्त विलक्षण होने से

अनुपम, (५) समस्त आगामी काल में कभी भी नाश को प्राप्त न होने से अनन्त और (६) बिना ही अन्तर के प्रवर्तमान होने से अविच्छिन्न सुख शुद्धोपयोग से निष्पन्न हुए आत्माओं के होता है, इसलिए वह सर्वथा प्रार्थनीय है॥१३॥

यहाँ गाथा में उक्त सुख को '**आदसमुत्थं**' कहा है, जिसका तात्पर्य आत्मा से उत्पन्न अर्थात् 'स्वप्रत्यय' ही होता है, 'स्व-परप्रत्यय' नहीं। इस पद की व्याख्या करते हुए आचार्य अमृतचन्द लिखते हैं—'**आत्मानमेवाश्रित्य प्रवृत्तत्वात्।**' इसका अर्थ है 'आत्मा का ही आश्रय लेकर प्रवर्तमान होने से।' इससे स्पष्ट विदित होता है कि प्रत्येक द्रव्य की जो स्वभाव पर्याय होती है, आगम में उसे स्वप्रत्यय ही कहा है। वह स्वप्रत्यय ही क्यों है इसका खुलासा आचार्य अमृतचन्द्र के '**पराश्रयनिरपेक्षत्वात्**' इस वचन से हो जाता है। इस प्रकार निश्चित होता है कि जिस पर्याय की उत्पत्ति में पराश्रय निरपेक्षता हो और स्वयं अपने आश्रय से उत्पन्न हुई हो, वह स्वप्रत्यय होने से स्वभाव पर्याय है। स्वभाव पर्याय का आगम में इससे भिन्न कोई दूसरा लक्षण या दूसरा नाम दृष्टिगोचर नहीं होता। उदाहरण के लिए पद्मनन्दि पंचविंशतिका के धर्मोपदेश प्रकरण के श्लोक पर दृष्टिपात कीजिए-

सतताभ्यस्तभोगानामप्यसत्सुखमात्मजम्।
अप्यपूर्वं सदित्यास्था चित्ते यस्य स तत्त्ववित्॥१५०॥

इस पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि इसमें जिस अपूर्व सुख का निर्देश है, उसे आत्मज-आत्मोत्थ ही बतलाया गया है।

कविवर राजमल्लजी इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए अध्यात्मकमलमार्तण्ड में लिखते हैं। कि जो पर्यायें द्रव्यान्तरनिरपेक्ष होती हैं, वे स्वभावगुणपर्यायें हैं। वह वचन इस प्रकार है—

धर्मद्वारेण हि ये भावा धर्मांशात्मका [हि] द्रव्यस्य।
द्रव्यान्तरनिरपेक्षास्ते पर्यायाः स्वभावगुणतनवः॥१४॥

आत्मोत्थ और स्वप्रत्यय पद का अर्थ एक ही है, यह हम पूर्व में ही लिख आये हैं। इस तथ्य को और भी विशदरूप में समझने के लिए पंचास्तिकाय गाथा २९ की आचार्य अमृतचन्दकृत टीका के इस वचन पर भी दृष्टिपात कीजिए—

स्वप्रत्ययममूर्तसम्बद्धमव्याबाधमनन्तं सुखमनुभवति च।

तत्त्वार्थवार्तिक अ. १, सू. २ में क्षयोपशमसम्यक्त्व की उत्पत्ति में सम्यक्त्व प्रकृति निमित्त है, इस बात को ध्यान में रखकर प्रश्नकर्ता ने यह प्रश्न किया है कि सम्यक्त्व प्रकृति को भी मोक्ष का कारण कहना चाहिए। इसका अन्तिम समाधान करते हुए भट्टाकलंकदेव लिखते हैं—

आत्मैव स्वशक्त्या दर्शनपर्यायेणोत्पद्यते इति तस्यैव मोक्षकारणत्वं युक्तम्।

इस उद्धरण में भी सम्यक्त्व की उत्पत्ति स्वयं आत्मशक्ति के बल से होती है, यह स्पष्ट किया गया है, जो उक्त अर्थ के समर्थन के लिए पर्याप्त है।

इस प्रकार उक्त आगम प्रमाणों के बल से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि जिस प्रकार विभाव पर्यायों की उत्पत्ति में कालादि द्रव्यों की पर्यायरूप से निमित्तता होने पर भी सर्व साधारण निमित्त होने से प्रत्येक विभाव पर्याय की उत्पत्ति में निमित्तरूप से उनका उल्लेख नहीं किया जाता, उसी प्रकार स्वभाव पर्यायों की उत्पत्ति में कालादि द्रव्यों की पर्यायरूप से निमित्तता होने पर भी सर्व साधारण निमित्त होने से प्रत्येक स्वभाव पर्यायों की उत्पत्ति में निमित्तरूप से उनका उल्लेख नहीं किया जाता। यही कारण है कि आगम में सभी स्वभाव पर्यायें स्व-प्रत्यय हो निर्दिष्ट की गई हैं। वस्तुतः स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय इनके विभाजन का मुख्य हेतु वह है, जिसका निर्देश हम प्रवचनसार गाथा ९३ और उसकी पूर्वोक्त टीका में कर आये हैं। आशय यह है कि जो पर्यायें पर निरपेक्ष अपने स्वभाव का ही आश्रय लेकर उत्पन्न होती हैं, वे स्वभाव पर्यायें हैं और जो पर्यायें अपनी उत्पत्ति के काल में उत्पन्न होने वाली पर द्रव्य की पर्यायों को (निमित्तीकृत्य) कर्ता या करण निमित्त करके उत्पन्न होती हैं, वे विभाव पर्यायें हैं। स्वभाव पर्यायों को स्वप्रत्यय और विभाव पर्यायों को स्व-परप्रत्यय कहने का यही मुख्य कारण है।

यहाँ इतना विशेष जान लेना चाहिये कि विभाव पर्यायों में जो विशेष निमित्त होते हैं, उन्हें कर्ता निमित्त, करण निमित्त या प्रेरकनिमित्त कहने का कारण यह नहीं है कि वे बलात् अन्य द्रव्य में पर्यायों को उत्पन्न करते हैं। यदि वे अन्य द्रव्य की पर्यायों को बलात् उत्पन्न करें तो दो द्रव्यों में या तो एकता का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा या फिर एक द्रव्य में दो क्रियाओं का कर्तृत्व स्वीकार करना पड़ेगा, जो जिनागम के विरुद्ध है। अतएव परद्रव्य में निमित्त की विवक्षावश कर्ता आदि का व्यवहार उपचरित ही जानना चाहिये। इस प्रकार स्वभाव पर्यायें स्वप्रत्यय क्यों कहलाती हैं इसका स्पष्टीकरण करते हुए विभाव पर्यायें स्वपरप्रत्यय क्यों

कही गई हैं, इसका भी प्रकरण संगत स्पष्टीकरण हो जाने पर उक्त प्रकार से पर्यायें दो ही प्रकार की हैं, यह सिद्ध होता है।

2. पर्यायों की द्विविधता का विशेष खुलासा -

इस प्रकार स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय पर्यायें दो ही प्रकार की हैं—ऐसा निश्चय हो जाने पर प्रकृत में इस बात का विचार करना है कि क्या द्रव्यों की कुछ पर्यायें ऐसी भी हैं, जिनमें काल को भी निमित्तरूप से नहीं स्वीकार किया गया है, क्योंकि अपर पक्ष का कहना है कि 'अगुरुलघुगुण के द्वारा होनेवाली द्रव्य की षड्गुणहानि-वृद्धिरूप परिणमनों को ही स्वप्रत्यय परिणमन बतलाया गया है।' इसलिए यह प्रश्न विचारणीय हो जाता है। आगे इसका विचार करते हैं—

१. अनन्तर पूर्व अनेक आगम प्रमाण देकर हम यह तो बतला ही आये है कि स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय पर्यायें दो ही प्रकार की होती हैं। संसारी जीव और पुद्गलस्कन्धों में जितने विभाव (आगन्तुक) भाव हैं, वे सब स्व-परप्रत्यय पर्यायें हैं और शेष स्वप्रत्यय पर्यायें परिगणित की गई हैं। किन्तु ये जितनी भी पर्यायें होती हैं उन सबमें कालद्रव्य आश्रय हेतु है। तत्त्वार्थवार्तिक अ. ५ सूत्र २२ में लिखा है—

वर्तनाद्युपकारलिंगः कालः। २३। उक्ता वर्तनादयः उपकारा यस्यार्थस्य लिंगं स कालः।

वर्तनादि उपकार जिसका लिंग है, वह काल है। २३। कहे गये वर्तनादि उपकार जिस अर्थ के लिंग हैं, वह काल है।

इससे विदित होता है कि प्रत्येक द्रव्य की जितनी भी पर्यायें होती हैं, उन सबका सामान्य बाह्य हेतु काल है।

इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए हरिवंशपुराण सर्ग ६ में कहा है—

निमित्तमान्तरं तत्र योग्यता वस्तुनि स्थिता।
बहिर्निश्चयकालस्तु निश्चितस्तत्त्वदर्शिभिः॥७॥

इन परिणामादिरूप पर्यायों में अन्तरंग हेतु वस्तु में स्थित योग्यता है और बहिरंग हेतु काल है - ऐसा तत्त्वदर्शियों ने निश्चित किया है।

इससे स्पष्ट विदित होता है कि आगम में जहाँ भी अगुरुलघुगुण निमित्तक षड्गुणहानि-

वृद्धिरूप पर्यायें निर्दिष्ट की गई हैं, वहाँ मात्र अन्तरंग हेतु का ज्ञान कराने के लिए ही वैसा निर्देश किया गया है। उसका यह अभिप्राय नहीं है कि उनका बहिरंग हेतु निश्चय काल भी नहीं है।

जहाँ विभाव को निमित्तभूत बहिरंग सामग्री नहीं होती, वहाँ बहिरंग हेतुरूप से काल को नियम से स्वीकार किया गया है - ऐसा आगम का अभिप्राय है। किन्तु स्वभावपर्यायों में उसके कथन की अविवक्षा रहती है, इतना अवश्य है।

२. आकाश का अवगाह हेतुत्व यह सामान्य गुण है। विचार यह करना है कि आकाश में उत्पाद-व्यय कैसे घटित होता है? तत्त्वार्थवार्तिक अ. ५ सूत्र १८ में इसका विचार किया गया है। वहाँ बतलाया है—

द्रव्यार्थिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्यात् स्वप्रत्ययागुरुलघुगुणवृद्धि-हानि-विकल्पापेक्षया अवगाहकजीव-पुद्गलपरप्रत्ययावगाहभेदविवक्षया च आकाशस्य जातत्वोपपत्तेः।

द्रव्यार्थिक नय के गौण करने पर पर्यायार्थिक नय की प्रधानतावश स्वप्रत्यय अगुरुलघुगुणवृद्धि-हानिरूप भेद की विवक्षा से और जीव-पुद्गल परप्रत्यय अवगाह भेद की विवक्षा से आकाश का उत्पाद बन जाता है।

यह ऐसा प्रमाण है जो इस बात का साक्षी है कि ऐसा एक भी कार्य नहीं है जिसमें उभयनिमित्तता का निर्देश नहीं किया गया हो। यहाँ अवगाह भेद से आकाश का उत्पाद बतलाते हुए उसे अगुरुलघुगुणनिमित्तक स्वप्रत्यय बतलाकर भी परप्रत्यय कैसे घटित होता है, यह सिद्ध किया गया है।

३. इसी प्रकार तत्त्वार्थवार्तिक अ. १ सूत्र २९ में इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

एवं धर्मास्तिकायादिष्वपि अमूर्तत्वाचेतनत्वासंख्येयप्रदेशत्वगतिकारण-स्वभावास्तित्वादयोऽनन्तभेदागुरुलघुगुणहानिवृद्धिविकारैः स्वप्रत्ययैः परप्रत्ययैश्च गतिकारणत्वविशेषादिभिः अविरोधिनः परस्परविरोधिनश्च विज्ञेयाः।

इसी प्रकार धर्मास्तिकायादिक में भी स्वप्रत्यय अनन्त अगुरुलघु गुण हानि-वृद्धि विकारों के द्वारा और परप्रत्यय गतिकारणत्वविशेषादि के द्वारा अमूर्तत्व, अचेतनत्व,

असंख्येयप्रदेशत्व, गतिकारणस्वभाव और अस्तित्व आदिक अविरोधी और परस्पर विरोधी धर्म जान लेने चाहिए।

४. अपर पक्ष के सामने ये प्रमाण तो रहे ही होगे। उसके सामने स्वामी समन्तभद्र का '**बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं**' यह वचन भी रहा होगा। इसमें स्पष्ट बतलाया गया है कि लोक में जितने भी कार्य होते हैं, वे सब बाह्य और आभ्यन्तर उपाधि की समग्रता में होते हैं। यह नियम वचन है जो इस नियम की घोषणा करता है कि बाह्य और आभ्यन्तर उपकरणों की समग्रता में ही सब कार्य होते हैं। अतएव जिन्हें अपर पक्ष अगुरुलघुगुण के द्वारा षड्गुणी हानि-वृद्धि रूप स्वप्रत्यय परिणमन कहता है, उन्हें भी बाह्य और आभ्यन्तर उपाधि की समग्रता में उत्पन्न हुए जानना चाहिए। पूर्व में हमने तत्त्वार्थवार्तिक के जो दो उद्धरण उपस्थित किये हैं, उनसे भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है।

५. हरिवंशपुराण सर्ग ९ में भी ऐसा ही एक श्लोक आता है। इसमें भी प्रत्येक परिणाम के प्रति अगुरुलघुत्वरूप आत्म परिणाम और परोपाधि इन दोनों का परिग्रह किया गया है। श्लोक इसप्रकार है –

अगुरुलघुत्वात्मपरिणामसमन्विताः।
परोपाधिविकारित्वादनित्यास्तु कथंचन॥७॥

६. जो विभाव पर्यायें हैं, वे भी षड्गुणी हानि-वृद्धिरूप होती हैं। इसके लिए गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ३२३ से ३२९ पर दृष्टिपात कीजिए। इन गाथाओं में श्रुतज्ञान की षड्गुणी हानि-वृद्धिरूप पर्यायों का निर्देश किया गया है। स्वभाव पर्यायें षड्गुणी हानि-वृद्धिरूप होती हैं, इसे तो अपर पक्ष भी स्वीकार करता है।

ये कतिपय प्रमाण हैं जो इस तथ्य के साक्षी हैं कि सभी परिणाम बाह्य और आभ्यन्तर उपाधि की समग्रता में ही होते हैं। अतएव अपर पक्ष का अगुरुलघुगुण के द्वारा षड्गुणी हानि-वृद्धिरूप परिणाम इसके अपवाद हैं ऐसा आशय व्यक्त करना आगम विरुद्ध तो है ही, तर्क और अनुभव के भी विरुद्ध है।

उक्त कथन से यह जानकारी तो मिलती ही है कि अविभागप्रतिच्छेदों की षट्स्थानपतित हानिवृद्धि का यह कथन सब द्रव्यों सम्बन्धी पर्यायों की अपेक्षा किया गया है। साथ ही यह जानकारी भी मिलती है कि जहाँ पर गुणविशेष की पर्यायों के कथन की विवक्षा न होकर

मात्र स्वभाव पर्याय का कथन करना इष्ट होता है, वहाँ वह सर्वत्र घटित हो—ऐसे सामान्य लक्षण का निर्देश किया जाता है। प्रवचनसार गाथा ९३ की सूरिकृत टीका में तथा नियमसार गाथा १४ की टीका आदि में पर्यायों के दो भेद करके स्वभाव पर्याय के निर्देश के प्रसंग से यही पद्धति अपनाई गई है। यत: वहाँ स्वभावपर्याय का सामान्य लक्षण बतलाना इष्ट है और स्वभावपर्याय (स्वप्रत्यय पर्याय) विभाव की हेतुभूत बाह्य उपाधि से रहित होती है, इसलिए वहाँ उसका निर्देश करते समय जैसे विशेषणरूप से गुणविशेष का उल्लेख नहीं किया गया है, उसी प्रकार विशेषण रूप से बाह्य उपाधि का भी उल्लेख नहीं किया गया है। इसी प्रकार सर्वत्र जान लेना चाहिये। किन्तु पर्याय के इस सामान्य लक्षण में रूपादि, ज्ञानादि या गतिहेतुत्वादि जिस गुण को विशेषणरूप से उल्लिखित कर दिया जायेगा, वहाँ वह उस उस गुण की स्वभाव पर्याय हो जायेगी और यदि इसके साथ पर प्रत्ययरूप उपाधि का उल्लेख कर दिया जायेगा तो वह उस उस गुण की विभाव पर्याय कहलाएगी। इस तथ्य को विशेषरूप से समझने के लिए प्रवचनसार गाथा ९३ की टीका हृदयंगम करने योग्य है।

प्रत्येक द्रव्य के परिणाम दो ही प्रकार के होते हैं, इसका समर्थन अष्टसहस्री पृ. ५४ के इस वचन से भी होता है।

द्विविधो ह्यात्मनः परिणामः - स्वाभाविक आगन्तुकश्च। तत्र स्वाभाविको-ऽनन्तज्ञानादिरात्मस्वरुपत्वात्। मलः पुनरज्ञानादिरागन्तुकः, कर्मोदयनिमित्तकत्वात्।

आत्मा का परिणाम दो प्रकार का है- (१) स्वाभाविक (२) आगन्तुक। इनमें आत्मस्वरूप होने से अनन्त ज्ञानादि स्वाभाविक परिणमन है और कर्मोदय निमित्तक अज्ञानादि दोष आगन्तुक परिणमन है।

इस प्रकार पर्यायें दो ही प्रकार की होती है इसका समर्थन समग्र जैन वाङ्मय करता है। जिन तीसरे प्रकार की पर्यायों का उल्लेख अपर पक्ष ने किया है वास्तव में वह उसका पूरे जैनागम को सम्यक् प्रकार से ध्यान में न लेने का ही फल है।

3. उपाधि के सम्बन्ध में विशेष खुलासा

यहाँ प्रकरण संगत होने से थोड़ा उपाधि के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। एक ऐसी ध्वजा लीजिये जो वायु से संयोग कर रही है और एक दूसरा ऐसा पत्थर लीजिए जो वायु से संयोग नहीं कर रहा है। देखने पर विदित होगा कि जिसके साथ

वायु के संयोगरूप उपाधि लगी हुई है वह स्वयं वायु के ईरणरूप गुण की योग्यतावाली होने से ईरण परिणाम परिणत वायु के संयोग को निमित्त कर स्वयं तदनुरूप लहराने लगती है और दूसरा पत्थर जो कि अपने में ईरण गुण का अभाव होने से वायु से संयोग नहीं कर रहा है, उपाधि रहित होने के कारण स्थिर बना रहता है अर्थात् नहीं लहराता है। किन्तु यहाँ ध्वजा और पत्थर के इन दोनों प्रकार के परिणमनों में कालद्रव्य की निमित्तता है, अवगाहन में आकाशद्रव्य की निमित्तता है तथा ध्वजा के फहराने में धर्मद्रव्य की निमित्तता है और पत्थर के स्थिर रहने में अधर्मद्रव्य की निमित्तता है, तथापि इन काल आदि द्रव्यों के रहने पर भी इनको निमित्त कर उन दो में से भी सोपाधिपना दृष्टिगोचर नहीं होता। इससे स्पष्ट विदित होता है कि साधारण निमित्त विशेष उपाधि संज्ञा को न प्राप्त होने के कारण इनकी अपेक्षा स्वभाव पर्यायों को सोपाधि कहना उपयुक्त नहीं है। अत: पर्यायें दो ही प्रकार की होती हैं-एक स्वप्रत्यय या स्वभाव पर्यायें और दूसरी स्व-परप्रत्यय या विभाव पर्यायें। इनके सिवाय जिनके होने में साधारण निमित्त भी नहीं हैं ऐसी कोई तीसरे प्रकार की पर्यायें होती हों, ऐसा जिनागम का अभिप्राय नहीं है।

4. गाथाओं का अर्थ परिर्वतन

यह तो मानी हुई बात है कि जो भी परिणमन होता है, वह '**स्व**' में होता है, '**स्व**' के द्वारा होता है और वह स्वयं कर्ता बनकर स्वतन्त्ररूप से उस परिणमन को करता है, क्योंकि कर्ता का 'स्वतन्त्र: कर्ता' यह लक्षण उसमें तभी घटित होता है। इतना अवश्य है यदि वह सोपाधि परिणमन को करता है तो वहाँ उस उपाधि का भी निर्देश किया जायेगा। समयसार गाथा ११६ से लेकर १० गाथाओं द्वारा प्रत्येक द्रव्य के इसी परिणमन स्वभाव की सिद्धि की गई है। किन्तु प्रतिशंका ३ में अपने अभिप्राय की पुष्टि के लिए उनमें से कतिपय गाथाओं के अर्थ में परिवर्तन किया गया है। आगे हम यही स्पष्ट करके बतलाने वाले हैं कि उन गाथाओं और उनके टीका वचनों में जो अर्थ में परिवर्तन उपक्रम किया गया है उसकी पुष्टि उन गाथाओं और उनके टीका वचनों से कथमपि नहीं होती। वे गाथा ११८ और १२३ हैं। ११८ गाथा इसप्रकार है —

जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण।
ते सयमपरिणमंते कहं णु परिणामयदि चेदा॥११८॥

जीव यदि पुद्गल द्रव्यों को कर्मरूप से परिणमाता है तो स्वयं कर्मरूप से न परिणमन

करते हुए उनको चेतन जीव कैसे परिणमाता है ॥११८॥

यह इस गाथा का शब्दार्थ है। इसके प्रकाश में प्रतिशंका ३ में किये गये इसके अर्थ को पढ़िये—

'जीव यदि पुद्गल द्रव्य को कर्मभाव से परिणत कराता है तो उस पुद्गल द्रव्य में निज की परिणत होने की योग्यता के अभाव में जीव द्रव्य उसको कैसे '(कर्मरूप) परिणत करा सकता है।

गाथा ११६ से १२० तक की गाथाओं का एक पंचक है। उनमें से बीच की ११८ संख्या की गाथा लेकर और उसका अर्थ बदलकर उसके द्वारा प्रतिशंका ३ में अपने अभिप्राय की पुष्टि करने का प्रयत्न किया गया है। उक्त गाथा के तीसरे पाद में 'ते सयमपरिणमंते' पद है। इसका अर्थ होता है 'स्वयं नहीं परिणमने वाले उनको।' किन्तु प्रतिशंका ३ में इसका अर्थ किया गया है—'उस पुद्गल द्रव्य में निज की परिणत होने की योग्यता के अभाव में जीव द्रव्य उसको।'

इसी प्रकार गाथा १२३ के '**तं सयमपरिणमंतं**' पद के अर्थ में तथा गाथा ११८ की आत्मख्याति टीका के 'न तावत् तत्स्वयमपरिणममानं परेण परिणामयितुं पार्येत' इस वचन को उद्धृत कर इसके '**न तावत् स्वयपरिणममानं**' पद के अर्थ में भी परिवर्तन किया गया है।

गाथा ११६ से लेकर १२५ तक की गाथाओं द्वारा पुद्गल और जीव का स्वयं कर्ता होकर परिणामीपना सिद्ध किया गया है। उसी अर्थ की पुष्टि में उक्त दो गाथायें और उनका टीका वचन आया है। इन द्वारा यह बतलाया गया है कि जीव और पुद्गल में जो-जो परिणाम (पर्याय) होते हैं, उनको वे स्वयं स्वतन्त्ररूप से कर्ता बनकर करते हैं। किन्तु प्रतिशंका ३ में इस अभ्रिपाय को तिलांजलि देकर उक्त प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि जीव और पुद्गल में मात्र परिणमने की योग्यता होती है। स्वयं परिणमना उनका अपना कार्य नहीं, उन्हें परिणमाना उपाधि का कार्य है। यदि उक्त गाथाओं और उनके टीका वचनों का यही अर्थ होता तो उन गाथाओं की उक्त टीका में जो यह कहा गया है कि—'**स्वयं परिणममानं तु न परं परिणमयितारमपेक्षेत। न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षन्ते।**' - 'स्वयं परिणमनेवाला तो परिणमानेवाले के दूसरे की अपेक्षा करता नहीं, क्योंकि वस्तु शक्तियाँ दूसरे की अपेक्षा नहीं करतीं।' सो इसके कहने की क्या आवश्यकता थी। इससे सिद्ध है कि

प्रतिशंका ३ में अपर पक्ष ने उक्त गाथाओं और उनके टीका वचन का जो अर्थ किया है, वह समीचीन नहीं है।

आगे प्रतिशंका ३ में तत्त्वार्थवार्तिक और सर्वार्थसिद्धि अ. ५ सूत्र ७ के आधार से जो यह लिखा है कि 'यदि मनुष्य, पशु, पक्षी आदि की सद्भूत गति आदि निमित्तों की सहायता पूर्वक उत्पन्न होने से उन परिणामों की धर्मादि द्रव्यों में सद्भूतता ही मानने योग्य है, अन्यथा यदि धर्मादि द्रव्यों के गतिहेतुत्वादि गुणों में कूटस्थता आ जाने से फिर धर्मादि द्रव्य उपर्युक्त मनुष्य, पशु, पक्षी आदि की भिन्न-भिन्न गति आदि में सहायक नहीं हो सकेंगे।'

सो इस सम्बन्ध में इतना ही कहना है कि मनुष्य, पशु, पक्षी आदि की जो गति हो रही है, वह सद्भूत है, इसमें संदेह नहीं। इसी प्रकार धर्मादि द्रव्यों में जो प्रति समय परिणमन हो रहा है, वह भी सद्भूत है, इसमें भी संदेह नहीं। इन्हें हमने कहीं असद्भूत कहा भी नहीं है। ये असद्भूत हैं भी नहीं। तथा इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य स्वभाव से पर्याय की अपेक्षा परिणमनशील होने के कारण प्रतिसमय अपने उत्पाद स्वभाव के कारण पर्यायरूप से उत्पन्न होता है, व्यय-स्वभाव के कारण पर्यायरूप से व्यय को प्राप्त होता है और ध्रौव्य स्वभाव के कारण द्रव्यरूप से न उत्पन्न होता है और न व्यय को ही प्राप्त होता है। ऐसी वस्तु व्यवस्था है, फिर भी एक पर्याय से दूसरी पर्याय में जो अन्तर प्रतीत होता है वह अन्तर दूसरे के संयोग करने का परिणाम (फल) होने के कारण अलग-अलग प्रत्येक पर्याय में उपाधि को भी स्वीकार किया गया है, इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए अष्टसहस्री पृ. ११२ में कहा भी है—

विस्रसा परिणामिनः कारणान्तरानपेक्षोत्पादादित्रयव्यवस्थानात्, तदविशेषे एव हेतुव्यापारोपगमात्।

विस्रसा (स्वभाव से) परिणमनशील द्रव्य का दूसरे कारणों की अपेक्षा किये बिना उत्पादादित्रय की व्यवस्था है, प्रत्येक समय में होने वाली पर्याय विशेष में ही हेतु का व्यापार स्वीकार किया है।

इस प्रकार यह निश्चित होता है कि प्रत्येक द्रव्य में उत्पादादित्रय स्वभाव से होते हैं, उनमें कारणान्तरों की अपेक्षा नहीं होती, अन्यथा वह द्रव्य का स्वभाव नहीं माना जा सकता। फिर भी एक समय की पर्याय से जो दूसरे समय की पर्याय में भेद होता है, सो उस भिन्न पर्याय को उत्पन्न तो करता है स्वयं द्रव्य ही, किन्तु उस पर्याय को उत्पन्न करते समय अन्य द्रव्य की जिस पर्याय को उपाधि बनाकर वह उस पर्याय को उत्पन्न करता है, उस (उपाधि)

में निमित्तपने का व्यवहार होने के कारण उसकी सहायता से उसने उस पर्याय को उत्पन्न किया यह व्यवहार किया जाता है। इस व्यवहार को उपचरित मानने का यही कारण है। इसलिए ऐसे व्यवहार को उपचरित मानने से न तो किसी द्रव्य में कूटस्थता आती है, न अन्य द्रव्य की जिस पर्याय में निमित्त व्यवहार किया गया है, वह असद्भूत ठहरती है और न ही विवक्षित द्रव्य में जो कार्य हुआ है, वह भी असद्भूत ठहरता है। ऐसा होने पर भी निमित्त व्यवहार असद्भूत है–ऐसा मानने में कोई बाधा भी नहीं आती।

प्रतिशंका ३ में ज्ञान के उपयोगाकार परिणमन को दृष्टान्तरूप में उपस्थित कर ज्ञेयभूत पदार्थों को उसका निमित्त बतलाया गया है, सो इन ज्ञेयभूत पदार्थों को प्रकृत में ज्ञापक निमित्तों के रूप में स्वीकार किया गया है या कारक निमित्तों के रूप में यह प्रतिशंका ३ में स्पष्ट नहीं किया गया है। वैसे जिस अभिप्राय की पुष्टि में उपयोगाकार परिणमन को उल्लिखित किया है, उससे तो ऐसा ही विदित होता है कि प्रतिशंका ३ में ज्ञेयभूत पदार्थों को उपयोगाकार परिणमन के कारक निमित्तरूप से ही स्वीकार किया गया है और इस प्रकार बौद्धमत का अनुसरण कर उपयोगाकार परिणमन की उत्पत्ति ज्ञेयों के आश्रित स्वीकार की गई है। किन्तु यदि अपर पक्ष की यही मान्यता है तो उसे आगम सम्मत नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आगम (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अ. १ सू. १४) में निमित्त दो प्रकार के बतलाये हैं– ज्ञापक और कारक। ज्ञेयभूत पदार्थ उपयोग के ज्ञापक निमित्त हैं, कारक निमित्त नहीं। अतएव प्रकृत में यह उदाहरण लागू नहीं होता – ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

समतुला का खुलासा करते हुए प्रतिशंका ३ में जो यह भाव व्यक्त किया गया है कि 'स्व–परप्रत्यय परिणमन में उपादानभूत और निमित्तभूत वस्तुओं में विद्यमान कारणभाव की परस्पर विलक्षणता रहते हुए भी कार्योत्पत्ति में दोनों की समान अपेक्षा होती है।' सो प्रकृत में यही विचारणीय है कि उपादान से विलक्षण निमित्तरूप से स्वीकृत उनमें रहनेवाली वह कारणता क्या वस्तु है, जो उनमें पाई जाती है। यदि उनकी उस रूप से कार्य के साथ बाह्य व्याप्ति का होना इसी में कारणता का व्यवहार किया जाता है तो यह जिनागम में स्वीकृत है। इसके सिवाय अन्य किसी प्रकार की यथार्थ कारणता उनमें बन नहीं सकती, क्योंकि कार्य पृथक् द्रव्य का परिणाम है और जिनमें उस कार्य की अपेक्षा निमित्त व्यवहार हुआ है, वे उससे सर्वथा भिन्न हैं। इन दोनों में परस्पर अत्यन्ताभाव है। जो कार्य का स्वचतुष्टय है, उसका निमित्त व्यवहार के योग्य अन्य द्रव्यों में अत्यन्ताभाव है और उनका अर्थात् निमित्त व्यवहार

के योग्य अन्य द्रव्यों का जो स्वचतुष्टय है, उसका कार्य द्रव्य में अत्यन्ताभाव है। ऐसी अवस्था में एक में कार्य धर्म रहे और उसका कारण धर्म दूसरे में रहे, यह कैसे हो सकता है अर्थात् त्रिकाल में नहीं हो सकता। इसलिए वास्तविक कारणता की अपेक्षा से दोनों को समतुला में नहीं बिठाया जा सकता। यही कारण है कि उपादान में कारणता परमार्थभूत स्वीकार की गई है वह स्वरूप से स्वत: सिद्ध उपादान है और जिनमें निमित्तव्यवहार किया जाता है उनमें वह कारणता उपचरित है, क्योंकि वे स्वरूप से स्वत: सिद्ध परद्रव्य के कार्य के कारण नहीं हैं। अतएव दोनों में कारणता को यथार्थ मानने का आग्रह करना उचित नहीं है – ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

यह लिखना कि 'कार्योत्पादन में निमित्त और उपादान दोनों ही एक दूसरे का मुख ताकने वाले हैं' अति साहस की बात है। विचारकर देखा जाये तो यह ऐसा साहसपूर्ण कथन है, जो द्रव्य के लक्षण पर ही सीधा प्रहार करता है। ऐसा मानने पर तो किसी भी वस्तु का स्वरूप स्वत: सिद्ध नहीं बनता है। वस्तु के स्वरूप का विवेचन करते हुए पंचाध्यायी में लिखा है—

तत्त्वं सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यत: स्वत: सिद्धम्।
तस्मादनादिनिधनं स्वसहायं निर्विकल्पं च॥८॥

जिस दर्शन में वस्तु का वस्तुत्व ही प्रतिसमय अर्थ क्रियाकारित्व माना गया हो, उस दर्शन पर ऐसी बात लादना आश्चर्य ही नहीं, महान् आश्चर्य है। कोई ऐसा क्षण नहीं जब प्रत्येक द्रव्य अपना कार्य न करता हो और कोई ऐसा क्षण नहीं, जब उपाधि योग्य अन्य द्रव्य का योग न मिलता हो। यह सहज योग है। इसे मिथ्या विकल्पों द्वारा बदला नहीं जा सकता। ऐसा स्वीकार कर लेने पर किसी को किसी के पीछे नहीं चलना है और न किसी को किसी का मुँह ही ताकना है। सब अपनी-अपनी स्थिति में रहते हुए परस्पर की अपेक्षा से अपने-अपने योग्य उचित व्यवहार के अधिकारी होते हैं। कार्य से सर्वथा भिन्न पर द्रव्य की पर्याय में कर्ता आदि व्यवहार करने की उपपत्ति का निर्देश करते हुए पंडित प्रवर आशाधरजी अनगारधर्मामृत अ. १ में लिखते हैं—

कर्त्राद्या वस्तुनो भिन्ना येन निश्चयसिद्धये।
साध्यन्ते व्यवहारोऽसौ निश्चयस्तदभेददृक्॥१२०॥

जिसके द्वारा निश्चय की सिद्धि के लिए कर्ता आदिक वस्तु से भिन्न साधे जाते हैं वह व्यवहार है और कर्ता आदिक को वस्तु से अभिन्न जानने वाला निश्चय है ॥१२०॥

इस प्रकार विवक्षित पर्याय युक्त अन्य द्रव्य में निमित्त व्यवहार क्यों किया जाता है और उसमें भी कर्ता आदिरूप व्यवहार करने का क्या प्रयोजन है, यह आगमानुसार सम्यक् प्रकार से ज्ञात हो जाने पर न तो उपादान और निमित्त इनमें से किसी को परमुखापेक्षी मानने की आवश्यकता है और न ही किसी को किसी के पीछे लगने की आवश्यकता है। अपने-अपने उपादान के अनुसार प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समय में विवक्षित कार्यरूप से परिणमते है और उस उस कार्य में निमित्त व्यवहार के योग्य अन्य द्रव्यों की प्रत्येक समय की पर्यायें निमित्त व्यवहार को प्राप्त होती रहती है। ऐसी कार्य-कारण परम्परा के अनुसार वस्तु मर्यादा है और इसीलिए उनमें यथायोग्य उपादान-उपादेय व्यवहार और निमित्त-नैमित्तिक व्यवहार प्रत्येक काल में बनता रहता है। स्वामी समन्तभद्र ने '**बाह्येतरोपाधि**'(स्व. स्तो. श्लोक ६०) इत्यादि श्लोक इसी अभिप्राय से निबद्ध किया है। सभी कार्यों में बाह्य और आभ्यन्तर उपाधि की समग्रता का होना द्रव्यगत स्वभाव है, यह व्यवस्था भी तभी बनती है जब पूर्वोक्त कथन को पूरी तरह स्वीकार कर लिया जाता है। प्रकृत में हमें इस बात का आश्चर्य होता है कि एक ओर तो प्रतिशंका ३ में प्रत्येक कार्य के प्रति निमित्तों का व्यापार इसलिए आवश्यक बतलाया जाता है कि उसे न स्वीकार किया जायेगा तो धर्मादि द्रव्यों में कूटस्थता आ जायेगी और दूसरी ओर अनन्त अगुरुलघुगुणों की षट्गुणी-हानिवृद्धिरूप प्रत्येक समय के कार्य को बाह्य उपाधि के बिना केवल आभ्यन्तर उपाधिजन्य स्वीकार करके भी उसमें कूटस्थता नहीं मानी जाती है और फिर आश्चर्य इस बात का होता है कि ऐसा स्वीकार करने पर भी अपर पक्ष 'बाह्येतरोपाधि' की समग्रता के सिद्धान्त को भी खण्डित नहीं मानता। हमारे ख्याल से अपर पक्ष के द्वारा प्रस्थापित यह नया मत ही इस तथ्य की घोषणा करता है कि उपादान स्वयं स्वतन्त्ररूप से अपने कार्य को करता है तथापि विवक्षित परद्रव्य की पर्याय उसकी प्रसिद्धि का हेतु है, इसलिए उपचार से उसकी भी कारक साकल्य में परिगणना की गई है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने जो '**न जातु रागादिनिमित्तभावं**' इत्यादि कलश लिखा है, उसमें 'संग' पद ध्यान देने योग्य है। यह शब्द ही इस मान्यता का खण्डन करता है कि अन्य में तद्भिन्न की कार्यकारण शक्ति वस्तुत: होती है। आचार्यवर्य इस द्वारा यह बतला रहे हैं कि इस जीव ने अनादि से 'पद के द्वारा हिताहित होगा'—ऐसा मानकर जो अपने विकल्प द्वारा

पर का संग किया है, वही विकल्प इसके संसारी बने रहने का मुख्य कारण है। वे कहते हैं कि '**स्व**' का संग तो अनपायी है, वह अपराध नहीं है। अपराध यदि है तो पर का संग करना ही है। पर में निमित्त व्यवहार होने का यही कारण है। आप्तपरीक्षा पृ. ४४-४५ में आचार्य विद्यानन्दि ने बाह्य और आभ्यन्तर उपाधिरूप सामग्री के साथ या एकदेशरूप सामग्री के साथ जो कार्य अन्वय-व्यतिरेक बतलाया है वह ठीक ही बतलाया है, क्योंकि जिस प्रकार आभ्यन्तर उपाधि के साथ कार्य की आभ्यन्तर व्याप्ति उपलब्ध होती है उसी प्रकार बाह्य उपाधि के साथ भी कार्य की बाह्य व्याप्ति जिनागम में स्वीकार की गई है। बाह्य उपाधि के साथ कार्य की बाह्य व्याप्ति का उपलब्ध होना ही तो इस तथ्य का गमक है कि इस कार्य का कोई यथार्थ उपादान अवश्य है जिसने स्वयं स्वतन्त्र रूप से कर्ता, करण और आश्रय आदि बनकर परिणामस्वभावी होने से इस कार्य को उत्पन्न किया है। स्पष्ट है कि जिनागम में जो निमित्त-उपादान की स्वीकृति है और उनकी कार्य के प्रति जो बाह्य-आभ्यन्तर व्याप्ति बतलाई है, वह भिन्न-भिन्न प्रयोजन से ही बतलाई है; अतएव उसे सम्यक् प्रकार से जानकर उसका उसी रूप में व्याख्यान होना चाहिए, तभी वह व्याख्यान यथार्थ माना जा सकता है।

रही लोक की बात सो 'जो चतुर जानकार होता है वह संयोग काल में होने वाले कार्यों में बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार की उपाधि का विचार करता है; कल्पना की तरंगों के आधार से कार्यकारण परम्परा का विचार करने वाले पुरुषों की बात निराली है। आगम में दोनों की मर्यादा का निर्देश किया है, अन्वय-व्यतिरेक के नियम से इसी का परिज्ञान होता है। किन्तु जो बाह्य सामग्री की विकलता को देखकर यह अनुमान करता है कि केवल बाह्य सामग्री के अभाव में यह कार्य नहीं हो रहा है और उस समय उपादान शक्ति की जो विकलता है उसे नहीं अनुभवता, उसका वैसा अनुमान करना ठीक नहीं है। इसलिए प्रकृत में यही निर्णय करना चाहिए कि जिस समय प्रत्येक द्रव्य निश्चय उपादान होकर अपने कार्य के सन्मुख होता है, उस समय निमित्त व्यवहार के योग्य बाह्य सामग्री का सद्भाव नियम से होता है। यही जिनागम है और यही मानना परमार्थ सत्य है।'

●

प्रथम दौर

: 1 :

शंका 12

कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र की श्रद्धा के समान सुदेव, सुशास्त्र, सुगुरु की श्रद्धा भी मिथ्यात्व है, क्या ऐसा मानना या कहना शास्त्रोक्त है ?

समाधान 1

कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र की श्रद्धा गृहीत मिथ्यात्व है तथा सुदेव, सुशास्त्र, सुगुरु की श्रद्धा व्यवहार सम्यग्दर्शन है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए श्री नियमसारजी में कहा है–

अत्तागमतच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं ॥५ ॥

अर्थ – आप्त, आगम और तत्त्वों की श्रद्धा से 'सम्यक्त्व होता है।

उसकी टीका में स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है–

व्यवहारसम्यक्त्वस्वरूपाख्यानमेतत्।

यह व्यवहार सम्यक्त्व के स्वरूप का कथन है।

सम्यग्दृष्टि के ऐसी श्रद्धा अवश्य होती है और वह ऐसे कथन को शास्त्रोक्त मानता है।

●

प्रथम दौर

: 1 :

शंका 13

पुण्य का फल जब अरहंत तक होना कहा गया है (पुण्यफला अरहंता-प्र. सा.) और जिससे यह आत्मा तीन लोक का अधिपति बनता है उसे 'सर्वातिशायि' पुण्य बतलाया है (सर्वातिशायि पुण्यं तत् त्रैलोक्याधिपतित्वकृत्)। तब ऐसे पुण्य को हीनोपमा देकर त्याज्य कहना और मानना क्या शास्त्रोक्त है ?

समाधान 1

यह तो सुविदित सत्य है कि सर्वत्र प्रयोजन के अनुसार उपदेश दिया जाता है। ऐसी उपदेश देने की पद्धति है। पुण्य-पाप का आस्रव-बन्ध पदार्थों में अन्तर्भाव होता है और ये दोनों पदार्थ अजीव पदार्थ के साथ संसार के कारण हैं। इसलिये भगवान् कुंदकुंद ने हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रय के भेद से पुण्य और पाप में भेद होने पर भी द्रव्यार्थिकनय से उनमें अभेद बतलाते हुए, उन्हें संसार का कारण कहा है। वे कहते हैं-

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि॥१४५॥

अर्थ - अशुभ कर्म कुशील है और शुभकर्म सुशील है; ऐसा तुम जानते हो, किन्तु वह सुशील कैसे हो सकता है, जो शुभकर्म (जीव को) संसार में प्रवेश कराता है॥१४५॥

आचार्य महाराज इस विषय में इतना ही कहना पर्याप्त न मानकर, उसे आत्मा की स्वाधीनता का नाश करनेवाला तक बतलाते हैं। वे कहते हैं-

तम्हा दु कुसीलेहिं य रायं मा कुणह मा व संसग्गं।
साहीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेण॥१४७॥

अर्थ - इसलिये इन दोनों कुशीलों के साथ राग मत करो अथवा संसर्ग भी मत करो, क्योंकि कुशील के साथ संसर्ग और राग करने से स्वाधीनता का नाश होता है।।१४७।।

अशुभ कर्म का फल किसी को इष्ट नहीं है, इसलिये उसकी इच्छा तो किसी को नहीं होती। किन्तु पुण्य कर्म के फल का प्रलोभन छूटना बड़ा कठिन है, इसलिए प्रत्येक भव्य प्राणी की मोक्षमार्ग में रुचि उत्पन्न हो और पुण्य तथा पुण्य के फल में ही अटक न जाये, इस अभिप्राय से सभी आचार्य उसकी निन्दा करते आ रहे हैं। इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर पं. प्रवर द्यानतरायजी ने दशलक्षणधर्म पूजा में स्त्री को विषवेल की उपमा दी है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि वे परम पुण्यशालिनी तीर्थंकर की माता अथवा ब्राह्मी, सुन्दरी, सीता, राजुल, चन्दना आदि जगत्पूजनीय सती साध्वी स्त्रियों की निन्दा करना चाहते हैं। इसी प्रकार अशुचि भावना में शरीर–भोगों के प्रति अरुचि उत्पन्न करने के अभिप्राय से यदि शरीर को घिन उत्पन्न करने वाले अपने नौ द्वारों से मल–मूत्र आदि मलों को बहाने वाला कहा गया है तो इसका अर्थ यह नहीं कि उस द्वारा १००८ सुलक्षणों के धारी उत्तम संहननवाले जगत्पूज्य तीर्थंकर के शरीर की निन्दा की गई है।

स्पष्ट है कि जहाँ जो उपदेश जिस अभिप्राय से दिया गया हो, वहाँ उस अभिप्राय से उसे शास्त्रोक्त मानना चाहिये।

•

द्वितीय दौर

: 2 :

शंका 13

प्रश्न था कि पुण्य का फल जब अरहन्त होना तक कहा गया है ('पुण्यफला अरहंता' प्र. सा.) और जिससे यह आत्मा तीन लोक का अधिपति बनता है, उसे सर्वातिशायी पुण्य बतलाया है (सर्वातिशायी पुण्यं तत् त्रैलोक्याधिपतित्वकृत्) तब ऐसे पुण्य को हीनोपमा देकर त्याज्य कहना और मानना क्या शास्त्रोक्त है ?

प्रतिशंका 2

हमारा यह प्रश्न हेतु गर्भित था 'पुण्य क्यों ग्राह्य है ?'– त्याज्य क्यों नहीं है ? इस बात

को सिद्ध करने के लिये हमारे प्रश्न में दो शास्त्रीय वाक्यों का सुन्दर हेतु भी उसी प्रश्न में यथास्थान विद्यमान है। आप यदि उस पर निष्पक्षभाव से दृष्टिपात करते तो पुण्य के महत्त्व और उसकी उपयोगिता को नि:संकोच स्वीकार करते। आपने ऐसा नहीं किया।

संसारी भव्य प्राणी, जो कि यथार्थ में अपना हितैषी है, उसका उद्देश्य सदा यही रहता है कि मैं अरहंत पद प्राप्त करके जगत् का उद्धार करूँ और मुक्ति प्राप्त कर स्वयं सर्वोच्च-नित्य-अव्याबाध सुखी, पूर्ण ज्ञातादृष्टा बनूँ। बुद्धिमान् भव्य प्राणी का यह पुनीत उद्देश्य पुण्य क्रियाओं द्वारा ही सिद्ध हुआ करता है। यह एक निर्विवाद सर्वशास्त्रसम्मत बात है, इसी बात को हमारे सर्वोच्च आध्यात्मिक आचार्य श्रीकुन्दकुन्द ने सर्वमान्य ग्रन्थ प्रवचनसार में 'पुण्यफला अरहंता' आदि ४५वीं गाथा द्वारा स्पष्ट एवं समर्थित किया है। कुन्दकुन्द आचार्य के प्रत्येक भक्त को निष्पक्ष भाव एवं शुद्धभाव से उस उल्लेख की उपेक्षा नहीं करना चाहिये।

आपने उत्तर देते समय आध्यात्मिक आचार्य के उक्त स्पष्ट संकेत पर दृष्टिपात नहीं किया और न उस पर अपना अभिमत ही प्रकट किया। यह स्वयं एक चिन्तनीय वार्ता है, जो कि वीतराग चर्चा का एक विशेष अंग है। हमारे लिये आर्ष वाक्य ही तो पथप्रदर्शक हैं, उनके अवलम्बन से ही हमको सिद्धान्त निर्णय करना है।

आपने अपने लेख में उत्तर देते हुए प्रारम्भ में जो यह लिखा है कि 'सर्वत्र प्रयोजन के अनुसार उपदेश दिया जाता है, ऐसी उपदेश देने की पद्धति है।'

हम इसे हृदय से स्वीकार करते हैं, परन्तु आप अपनी इस मान्यता पर ही गंभीरता से विचार कर प्रकाश डालें कि जो बात चतुर्थ काल में भी ग्राह्य थी, वह वर्तमान अवनत युग में अग्राह्य या त्याज्य कैसे हो गई ? जिससे पुण्य को त्याज्य बतलाने की आवश्यकता आज प्रतीत होने लगी। मानवोचित कर्तव्य से प्राय: विमुख आज-कल की जनता के लिए तो पुण्याचरण की मोक्ष गमन के योग्य चतुर्थ काल की अपेक्षा और भी अधिक आवश्यकता है।

जिस काल में तीर्थंकर, सामान्य केवली तथा चरमशरीरी महर्षियों का समागम सुलभ था, उस चतुर्थ काल में वे आत्मशुद्धि के लिए जनसाधारण को अपने आध्यात्मिक प्रवचन में पुण्य आचरण करने का उपदेश देते थे, जिससे प्रभावित होकर चक्रवर्ती सम्राट् तक उसे शिरोधार्य करके महाव्रती पुण्याचरण करते हुए अपना मनुष्यभव सफल किया करते थे, शुभभावमय पुण्य चारित्र का अवलम्बन लेकर महान् बहिरङ्ग-अन्तरङ्ग तपश्चरण करते हुए

शुद्धभाव पाकर मुक्ति प्राप्त किया करते थे, भरतचक्रवर्ती, बाहुबली आदि की पुण्यचर्या सर्वविदित है। **'तब मुक्ति प्राप्ति के लिए शारीरिक तथा मानसिक क्षमता के अयोग्य निकृष्ट पञ्चमकाल में उस परम्परा मोक्षदायक पुण्यभाव का उपदेश त्याज्य हो' यह एक महान् आश्चर्यजनक बात इसलिये भी है कि आज के प्राणी के लिए आत्मकल्याणार्थ सिवाय पुण्याचरण के अन्य कोई मार्ग अवशिष्ट नहीं तथा आज का सर्वोच्च कोटि का आध्यात्मिक उपदेष्टा भी, स्वयं न तो पुण्य कर्म के शुभफल को त्याग सकता है, न वह पुण्याचरण के सिवाय अन्य कोई उच्च कोटि का शुद्धोपयोगी आचरण कर सकता है और न वह आत्महित के लिए पुण्यबन्ध के सिवाय अन्य कुछ (सर्व कर्म विध्वंस) कर सकता है। तब बतलाइये कि यदि वह दूसरों को पुण्याचरण त्याग देने का उपदेश दे तो उसका उपदेश आज कल की पात्रता के अनुसार क्या उचित माना जाता है ? क्या आज के श्रोता की पात्रता चतुर्थकाल से भी उच्च है ?**

इन बड़े टाईप में मुद्रित वाक्यों पर निष्पक्ष स्पष्ट प्रकाश डालेंगे-ऐसी वांछनीय आशा है।

आपने जो अपने पक्ष पोषण में समयसार ग्रन्थ की १४५वीं गाथा उपस्थित की है, उस गाथा के रहस्य को स्पष्ट बतलाने वाली श्री अमृतचन्द्रसूरि की टीका को देखने का भी यदि आप कष्ट करते तो आशा है पुण्यपोषक इस पद्य का उल्लेख करने का प्रयास आप कभी न करते। टीकाकार ने शुभ-अशुभ भाव के अनेक विकल्प करके अन्तिम वाक्य जो लिखा है, वह मननीय है। टीकाकार ऋषि लिखते हैं -

शुभाशुभौ मोक्ष-बन्धमार्गौ तु प्रत्येकं केवलजीवपुद्गलमयत्वादनेकौ तदनेकत्वे-सत्यपि केवलपुद्गलमयबन्धमार्गाश्रितत्वेनाश्रयाभेदादेकं कर्म।

अर्थ - शुभ तथा अशुभ (क्रमशः) **मोक्ष का और बन्ध का मार्गरूप है** (अर्थात् **शुभ मोक्ष का मार्ग है** जब कि **अशुभ बन्ध का मार्ग है**)। अतः दोनों पृथक् हैं, किन्तु **केवल जीवमय तो मोक्ष का मार्ग है और केवल पुद्गलमय बन्ध का मार्ग है।** वे अनेक हैं एक नहीं हैं, उनके एक न होने पर भी केवल पुद्गलमय बन्धमार्ग की आश्रितता के कारण आश्रय के अभेद से कर्म एक ही है।

इस प्रकार इस गाथा की टीका का अभिप्राय जीवमय पुण्य को मोक्षमार्ग बतलाकर पुण्य की उपादेयता की पुष्टि करता है। अतः यह टीका आपके उद्देश्य के विपरीत है।

इसके अनन्तर आपने अपने पक्ष को पुष्ट करने के लिए उसी समयसार ग्रन्थ की एक सौ सैंतालीसवीं गाथा उपस्थित की है, किन्तु उसको उपस्थित करते समय सम्भवत: आपने यह विचार करने का कष्ट नहीं उठाया कि इस गाथा में शुभ-अशुभ कर्म के साथ संसर्ग करने तथा उनके साथ राग करने का निषेध ग्रन्थकार ने किया है। आत्मा के पुण्य-शुभ परिणामों को त्यागने का उल्लेख इस गाथा में किसी भी शब्द से प्रगट नहीं किया गया। अत: आपका यह प्रमाण प्रकृत में आपके अभिप्राय का पोषक नहीं है।

टीकाकार की निम्नलिखित टीका दर्शनीय है -

कुशीलशुभाशुभकर्मभ्यां सह रागसंसर्गौ प्रतिषिद्धौ बन्धहेतुत्वात् कुशीलमनोरमा-मनोरमकरेणुकुट्टनीसंसर्गवत्।

अर्थ - कुशीलरूप शुभ-अशुभ कर्मों के साथ राग (मानसिक भाव) और संसर्ग (वाचनिक तथा शारीरिक प्रवृत्ति) प्रतिषिद्ध है, क्योंकि शुभाशुभ कर्म के साथ राग और संसर्ग बन्ध का कारण है, जैसे मनोज्ञ अमनोज्ञ कृत्रिम हथिनी के साथ वन निवासी स्वतन्त्र हाथी को (परतन्त्र बनाने के कारण) राग और संसर्ग करना निषिद्ध है।

हमारा प्रश्न पुण्य आचरण के विषय में था। तदनुसार आपको पुण्य आचरण त्याज्य प्रमाणित करने वाला ही शास्त्रीय प्रमाण देना चाहिये। हमने शुभ कर्म की उपयोगिता का समर्थन करने वाला प्रश्न नहीं किया, अपितु शुभाशुभ कर्मध्वंस करने वाले तपोमय एवं परम्परा से मुक्ति के कारणभूत पुण्य आचरण के विषय में ही हमारा प्रश्न है। अत: आप पुण्य-पाप द्रव्यकर्म की बात छोड़कर पुण्यभाव-शुभोपयोग रूप व्यवहार सम्यक्-चारित्र पर शास्त्रीय प्रमाण सहित प्रकाश डालिये।

इस प्रकार आपने अपने पक्ष की पुष्टि में जो तीन बातें कहीं हैं, उन पर पर्याप्त प्रकाश डालकर, अब कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के पठनीय, माननीय एवं आचरणीय प्रमाण उपस्थित करते हैं। वे प्रमाण आपकी मान्यता को बदलने में आपके लिए अच्छे सहायक होंगे।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रवचनसार अ. ३ में लिखते हैं -

असुभोपयोगरहिदा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा।
णित्थारयंति लोगं तेसु पसत्थं लहदि भत्तो॥२६०॥

अर्थ - अशुभ उपयोग से रहित शुद्धोपयोगी अथवा शुभोपयोगी मुनि जनता को संसार

सागर से पार कर देते हैं, उन मुनियों का भक्त प्रशस्त सुख या प्रशस्त पद प्राप्त कर लेता है।

श्री अमृतचन्द्रसूरि इस गाथा की टीका करते हुए लिखते हैं –

यथोक्तलक्षणा एव श्रमणा मोहद्वेषाप्रशस्तरागोच्छेदादशुभोपयोगवियुक्ताः अन्तः-सकलकषायोदयविच्छेदात् कदाचित शुद्धोपयोगयुक्ताः प्रशस्तरागविषाकात्कदाचिच्छु-भोपयोगयुक्ताः स्वयं मोक्षायतनत्वेन लोकं निस्तारयन्ति तद्‌भक्तिभावप्रवृत्तप्रशस्तभावा भवन्ति परे च पुण्यभाजः।

अर्थ – पूर्वोक्त लक्षण वाले मुनि मोह, द्वेष और दूषित रागरूप अशुभ उपयोग से रहित, समस्त कषायों से रहित होने के कारण कदाचित् शुद्धोपयोगी और प्रशस्त राग के उदय से कदाचित् शुभोपयोगी मुनि स्वयं मोक्षायतन (मोक्ष स्थान) रूप होने से जगत को तारते रहते हैं। जो व्यक्ति उनकी भक्ति करते हैं, वे भी शुभ परिणामी बनकर पुण्यात्मा हो जाते हैं।

इसी ग्रन्थ का एक अन्य प्रमाण देखिये –

एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुण घरत्थाणं।
चरिया परेत्ति भणिदा ता एव परं लहदि सोक्खं।।३-२५४।।

अर्थ – मुनियों की प्रशस्त चर्या तथा गृहस्थों की प्रशस्त चर्या उत्तम है। वे मुनि तथा गृहस्थ अपनी उसी प्रशस्त चर्या द्वारा मोक्ष सुख को प्राप्त करते हैं।

टीका में श्री अमृतचन्द्रसूरि का भाव भी गाथा के अभिप्राय का पोषक है –

एवमेष शुद्धात्मानुरागयोगिप्रशस्तचर्यारूप उपवर्णितः शुभोपयोगः तदयं शुद्धात्मप्रकाशिकां समस्तविरतिमुपेयुषां कषायकणसद्‌भावात्प्रवर्तमानः शुद्धात्मवृत्ति-विरुद्धरागसंगतत्वाद्‌गौणः श्रमणानां, गृहिणां तु समस्तविरतेरभावेन शुद्धात्म-प्रकाशनस्याभावात्कषायसद्भावात्प्रवर्तमानोऽपि स्फटिकसंपर्केणार्कतेजस इवैधसां रागसंयोगेन शुद्धात्मनोऽनुभवात्क्रमतः परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च मुख्यः।

अर्थ – इस तरह यह शुद्ध आत्मा का अनुराग रूप शुभ आचार है। यह शुभाचार शुद्ध आत्मा की प्रकाशक सर्व विरति वाले मुनियों के कषाय अंश रहने से शुभ प्रवृत्ति में वर्तमान मुनियों के शुद्धात्मानुभव के विरोधी रागभाव होने से गौण है। गृहस्थों के सकलचारित्र के अभाव द्वारा शुद्धात्मा का प्रकाश न होने से और कषाय के सद्‌भाव में तथा राग युक्त अशुद्ध आत्मा का अनुभव होते रहने से परम्परा से परम निर्वाण सुख का कारण होने से मुख्य है।

इस तरह टीकाकार श्री अमृतचन्द्रसूरि अपनी टीका में श्री कुन्दकुन्द आचार्य के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि मुनिचर्या तथा श्रावक-चर्यारूप शुभोपयोग-पुण्याचरण-सरागचारित्र या व्यवहारचारित्र मोक्ष का कारण है, अत: उपादेय है।

इन दो प्रमाणों से यह बात सिद्ध होती है कि शुभोपयोग, पुण्य अथवा व्यवहार चारित्र एक ही अर्थ-वाचक पर्याय शब्द हैं। इनको सराग चारित्र या सराग धर्म भी कहा जाता है। यह पुण्य भाव या शुभोपयोग राग भाव के सहयोग से पुण्य कर्मबन्ध का कारण है, उसी के साथ-साथ अपनी यथा सम्भव विषयभोगों से तथा पाप क्रियाओं से एवं मिथ्यात्व की विरक्ति के कारण संवर और निर्जरा का भी कारण है। यही विरक्ति बढ़ते-बढ़ते शुद्ध परिणति में परिणत हो जाती है। इस दृष्टि से शुभोपयोग या पुण्यभाव, शुद्धोपयोग का कारण है। सातवें गुणस्थान का पुण्य भाव ही आठवें गुणस्थान के शुद्धोपयोग में परिणत हो जाता है। अर्थात् सातिशय अप्रमत्त (सातवें) गुणस्थान के अन्तिम समय की पर्याय शुभोपयोगमयी है और उससे दूसरे समय की आत्म पर्याय शुद्धोपयोगमयी होती है। इस कारण शुभोपयोग, शुद्धोपयोग का साक्षात् कारण भी है और पाँचवें-छठे गुणस्थान का शुभोपयोग, शुद्धोपयोग का परम्परा कारण है।

इस कार्य-कारणभाव से पुण्यभाव या शुभोपयोग परम उपयोगी है। संवर और निर्जरा का कारण होने से धर्मरूप है। निश्चय धर्म या शुद्धोपयोग यदि फल है तो शुभोपयोग उसका पूर्ववर्ती पुष्प है। इस कारण सम्यग्दृष्टि का पुण्य परम्परा से मुक्ति का कारण होने से प्रत्येक व्यक्ति के लिये ग्राह्य या उपादेय है। आठवें गुणस्थान से नीचे वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिये रंचमात्र भी हेय या त्याज्य नहीं है। इसी बात को पुष्ट करते हुए परम आध्यात्मिक श्री देवसेन आचार्य ने भावसंग्रह ग्रन्थ में लिखा है-

सम्मादिट्ठी पुण्णं ण होइ संसारकारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेउं जइ वि णियाणं ण सो कुणइ॥

अर्थ - सम्यग्दृष्टि का पुण्यभाव नियति से संसार का कारण नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव यदि निदान न करे तो उसका पुण्य मोक्ष का कारण होता है।

अत: मोक्ष का कारणभूत पुण्य त्याज्य किस तरह हो सकता है।

अणुव्रत-महाव्रत का आचरण तो कुछ दूर की बात है, किन्तु जिनेन्द्र भगवान् का

दर्शन करने रूप पुण्य भाव भी कर्म निर्जरा का कारण होने से धर्मरूप है। धवल ग्रंथ में इसका समर्थन करते हुए श्री वीरसेन आचार्य ने लिखा है—

कधं जिणबिंबदंसणं पढमसम्मत्तुप्पत्तीए कारणं ? जिणबिंबदंसणेण णिधत्तणि-काचिस्स वि मिच्छत्तादिकम्मकलावस्स खयदंसणादो। *- धवल पुस्तक ६, पृ. ४२७*

अर्थ - **प्रश्न**- जिनेन्द्र प्रतिमा का दर्शन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति में किस प्रकार कारण है ?

उत्तर - जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमा का दर्शन करने से निधत्ति निकाचितरूप मिथ्यात्व आदि कर्म समूह का क्षय हो जाता है।

जयधवल में शुभ परिणामों को कर्मक्षय का कारण बतलाते हुए श्री वीरसेन आचार्य लिखते हैं—

सुहसुद्धपरिणामेहि कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो। *जय-धवल पु. १, पृ. ६*

अर्थ - शुभ और शुद्ध परिणामों से यदि कर्मों का क्षय होना न माना जावे तो फिर किसी तरह कर्मों का क्षय हो ही न सकेगा।

अर्थात् शुभ परिणामों (पुण्यभावों) से भी कर्मों का क्षय हुआ करता है।

श्री वीरसेन स्वामी श्री धवल सिद्धान्त ग्रंथ में शुभोपयोग रूप धर्मध्यान का कर्म निर्जरा के लिये कारण रूप में उल्लेख करते हुए निम्न प्रकार कथन करते हैं-

जिणसाहुगुणुक्कितणपसंसणा विणयदाणसंपण्णा।
सुहसीलसंजमरदा धम्मज्झाणे मुणेयव्वा॥५५॥

किं फलमेदं धम्मज्झाणं ? अक्खवयेसु विउलामरसुहफलं गुणसेणीए कम्मणिज्जरा-फलं च। खवएसु पुण असंखेज्जगुणसेढीकम्मपदेसणिज्जरणफलं सुहकम्माणमुक्कस्साणु-भागविहाणफलं च। अतएव धर्मादनपेतं धर्म्यध्यानमिति सिद्धं। *- धवल पु. १३, पृ. ७६-७७*

अर्थ - जिन और साधु के गुणों का कीर्तन करना, प्रशंसा करना, विनय करना, दान-सम्पन्नता, श्रुत, शील और संयम में रत होना—ये सब बातें धर्मध्यान में होती हैं, ऐसा जानना चाहिये।

शंका - इस धर्मध्यान का क्या फल है ?

समाधान – अक्षपक जीवों को देवपर्याय सम्बन्धी विपुल सुख मिलना उसका फल है और गुण श्रेणी में कर्म की निर्जरा होना भी उसका फल है। तथा क्षपक जीवों के तो असंख्यात गुणश्रेणी रूप से कर्म प्रदेशों की निर्जरा होना और शुभ कर्मों के उत्कृष्ट अनुभाग का होना उसका फल है। अतएव जो धर्म से अनपेत है वह धर्मध्यान है, यह बात सिद्ध होती है।

श्री अमृतचन्द्रसूरि व्यवहार धर्म के विषय में लिखते हैं—

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः॥२११॥

– *पुरुषार्थसिद्ध्युपाय*

अर्थ – अपूर्ण रत्नत्रय अर्थात् शुभोपयोग वाले व्यक्ति के भाव मोक्ष के उपाय रूप होते हैं। उस व्यक्ति के जो कषायांश होता है, वह कर्म-बन्ध कारक है, उसका अपूर्ण रत्नत्रय (व्यवहारचारित्र अंश) कर्म-बन्ध का कारण नहीं है।

अर्थात् अपूर्ण रत्नत्रय स्वरूप सराग संयम या (५-६-७वें गुणस्थान का) पुण्य-आचरण कर्मबन्ध के साथ कर्म मोक्ष का भी कारण है।

निर्जरा का कारण

श्री देवसेन आचार्य भाव संग्रह में लिखते हैं—

आवासयाइं कम्मं विज्जावच्चं य दाणपूजाइं।
जं कुणइ सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं॥६१०॥

अर्थ – सम्यग्दृष्टि जो छह आवश्यक कर्म, वैयावृत्य, दान, पूजा आदि करता है, वे सब कार्य कर्मों की निर्जरा के कारण हैं।

श्री परमात्मप्रकाश की टीका में श्री ब्रह्मदेवसूरि लिखते हैं—

यदि निजशुद्धात्मैवोपादेय इति मत्वा तत्साधकत्वेन तदनुकूलं तपश्चरणं करोति, तत्परिज्ञानसाधकं च पठति तदा परम्पराया मोक्षसाधकं भवति; नो चेत् पुण्यकारणं तत्रैवेति।

– *अ. २, गा. १९१ की टीका*

अर्थ – यदि निज शुद्ध आत्मा ही उपादेय है, ऐसा मानकर उसके साधकपने से उसके अनुकूल तप करता है और शास्त्र पढ़ता है तो वह परम्परा से मोक्ष का ही कारण है। ऐसा नहीं कहना चाहिये कि वह केवल पुण्यबन्ध का ही कारण है।

ये निदानरहितपुण्यसहिताः पुरुषास्ते भवान्तरे राज्यादिभोगेलब्धेऽपि भोगांस्त्यक्त्वा जिनदीक्षां गृहीत्वा चोर्ध्वगतिगामिनो भवन्ति। *- अ. २, गा. ५७ की टीका*

अर्थ - जिन पुरुषों ने निदान रहित पुण्य बन्ध किया है, वे दूसरे भव में राजादि के भोग पाकर भी उन भोगों को छोड़कर बलदेव आदि के समान जिन-दीक्षा ग्रहण कर मोक्ष को जाते हैं।

उभयभ्रष्टता

यदि पुनस्तथाविधामवस्थामलभमाना (निर्विकल्पसमाध्यलभमाना) अपि सन्तो गृहस्थावस्थायां दानपूजादिकं त्यजन्ति तपोधनावस्थायां षडावश्यकादिकं च त्यक्त्वोभयभ्रष्टाः सन्तः तिष्ठन्ति तदा दूषणमेवेति तात्पर्यम्। *- अ. २, दोहा ५५ की टीका*

अर्थ - जिसने उस प्रकार की अवस्था को प्राप्त नहीं किया (निर्विकल्प समाधि प्राप्त नहीं की है) वह यदि गृहस्थ अवस्था में दान, पूजा आदि छोड़ देता है और मुनि अवस्था में षट् आवश्यक को छोड़ देता है तो वह दोनों ओर से भ्रष्ट है और वह दूषण ही है।

निष्कर्ष

इस तरह परम आध्यात्मिक ऋषि श्री आचार्य कुन्दकुन्द, श्री अमृतचन्द्र सूरि, श्री वीरसेन आचार्य आदि के आर्ष प्रमाणों से प्रमाणित होता है कि पुण्यभाव अर्थात् चौथे, पाँचवें, छठे व सातवें गुणस्थान का शुभ परिणाम या व्यवहार चारित्र कर्मों के संवर तथा निर्जरा का भी कारण है। इनमें जितना रागांश है, उससे शुभास्रव बन्ध होता है तथा जितना निवृत्ति अंश है, उससे निर्जरा होती है। सातिशय अप्रमत्त गुणस्थान के अन्तिम समय का पुण्यभाव दूसरे समय में शुद्धोपयोग रूप हो जाता है। इस तरह जब पुण्यभाव और शुद्ध भाव में उपादान-उपादेयभाव है, तब शुद्ध परिणति का भी जनक पुण्यभाव त्याज्य या हेय किस तरह हो सकता है ? अर्थात् सम्यग्दृष्टि का पुण्यभाव त्याज्य नहीं है।

अतः प्रवचनसारवर्ती श्री कुन्दकुन्द आचार्य का वचन - '**पुण्णफला अरहन्ता**' श्री कुन्दकुन्दाचार्य के प्रत्येक भक्त को श्रद्धा के साथ सत्य मानते हुए अरहन्त पद पर भी बिठा देने वाले पुण्यभाव को हेय (छोड़ने योग्य) कभी न समझना चाहिये, न कहना चाहिये; क्योंकि बिना पुण्य भाव के (गुणस्थान क्रमानुसार) शुद्धभाव त्रिकाल में भी नहीं हो पाते।

●

शंका 13

पुण्य का फल जब अरहन्त होना तक कहा गया है ('पुण्यफला अरहंता' प्र. सा.) और जिससे यह आत्मा तीन लोक का अधिपति बनता है, उसे सर्वातिशायी पुण्य बताया है (सर्वातिशायि पुण्यं तत् त्रैलोक्याधिपतित्वकृत्) तब ऐसे पुण्य को हीनोपमा देकर त्याज्य कहना और मानना क्या शास्त्रोक्त है ?

प्रतिशंका 2 का समाधान

समाधान में यह स्पष्ट बताया गया था कि सर्वत्र प्रयोजन के अनुसार उपदेश दिया जाता है। प्रतिशंका २ में उसे हृदय से स्वीकार भी कर लिया गया है, फिर भी यह प्रश्न उठाया गया है कि 'जो बात चतुर्थ काल में भी ग्राह्य थी, वह पंचमकाल में अग्राह्य कैसी ?' समाधान यह है कि मोक्षमार्ग का प्ररूपण काल भेद से नहीं बदलता है, पुण्य और पाप—ये दोनों कर्म के भेद हैं और इन्हें नाश कर ही मोक्ष प्राप्त होता है यह जैनमार्ग की प्रक्रिया है, जिसे सब जानते हैं।

'पुण्य का फल अरहन्त है, वह सर्वातिशायि पुण्य से त्रैलोक्य का अधिपति बनता है।' ये शास्त्रों में वाक्य प्रमाणीभूत हैं, पर देखना यह है कि किस विवक्षा से इनका निरूपण है। बारहवें गुणस्थान में सर्वमोह के क्षीण हो जाने पर जो वीतराग भाव होता है वह अरहन्त पद (केवली पद) का निश्चय से हेतु है। उस समय जो शुभ प्रकृतियों का कार्य है, उसमें इसका उपचार होने से उस पुण्य को भी अरहन्त पद का कारण (उपचार) से आगम में कहा गया है। अन्यथा—

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्।

- त. सू., अ. १०, सू. १

इस आगम वचन द्वारा जो मोह के क्षय और ज्ञानावरण-दर्शनावरण-अन्तराय के क्षय से केवलज्ञान बतलाया है, उसमें उक्त प्रमाण की संगति कैसे बैठ सकती है।

वीतराग अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह रहित केवली भगवान् अणुमात्र पर पदार्थ के स्वामी नहीं हैं। फिर भी उन्हें तीन लोक का स्वामी कहा गया है सो क्या यह निश्चय कथन है या मात्र तीन लोक में प्राणियोंके श्रद्धाभाजन होने से उनमें तीन लोक के अधिपतित्व का उपचार है, विचार कीजिये। स्पष्ट है कि इस उपचरित अधिपतित्व का कारण ही उस सर्वातिशायी पुण्य को कहा गया है।

सम्यग्दृष्टि जीव के भेद विज्ञान की जागृति के साथ पाप विरक्ति तथा शुभ प्रवृत्ति होती है। यत: यह निश्चयधर्म का सहचर है। अत: इस व्यवहार धर्म स्वरूप पुण्याचरण का उपदेश आगम में दिया गया है। पर पुण्य मोक्ष का हेतु नहीं है। मोक्ष का हेतु तो वह वीतरागता है, जो पुण्यभाव के साथ चल रही है। अत: परमार्थ से पुण्य और पाप को बन्ध का तथा वीतराग भाव को मोक्ष का कारण मानना यथार्थ है।

समयसार गाथा १४५ का प्रमाण हमने देकर यह सिद्ध किया था कि वह सुशील कैसे हो सकता है जो शुभ कर्म जीव को संसार में प्रवेश कराता है। गाथा के अभिप्राय को ठीक तरह से न समझ कर इसे पुण्य पोषक बतलाया गया है जो असंगत है। गाथा के उत्तरार्ध का सीधा अन्वय है कि—

'यत् संसारं प्रवेशयति कथं तत् सुशीलं भवति' अर्थात् जो जीव को संसार में प्रवेश कराता है, उसे सुशील कैसे कहें। टीका भी गाथा के अनुरूप ही है, टीका के अर्थ करने में विपर्यास हुआ है इतना ही संकेत मात्र हम यहाँ करना चाहते हैं। उसे आगे की गाथा १४६ और १४७ के प्रकाश में देखें तो सब स्पष्ट हो जायेगा। गाथा १४७ की टीका में यह स्पष्ट बतलाया है कि-

कुशीलशुभाशुभकर्मभ्यां सह रागसंसर्गौ प्रतिषिद्धौ बंधहेतुत्वात्।

अर्थ - कुशील स्वरूप शुभ और अशुभ कर्मों के साथ राग और संसर्ग का निषेध है, क्योंकि वे बन्ध के हेतु हैं।

कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसारजी में बन्ध की दृष्टि से पुण्य-पाप की समानता इसमें स्पष्ट रूप से बताई है। तब **'पुण्यफला अरहंता'** का अर्थ इन्हीं कुन्दकुन्द स्वामी ने प्रवचनसार में किस नय से लिखा है, यह विवेकियों के ज्ञान में सहज ही आ जायेगा। पुण्य का त्याज्यपना इसी दृष्टि से आगम में प्रतिपादित है और पुण्य के साथ होने वाले वीतराग भाव की ओर लक्ष्य देकर पुण्य को उपचार से उपादेय भी बताया गया है। दोनों दृष्टियों को ध्यान में लेने पर कोई विरोध नहीं रह जाता।

यदि उक्त प्रश्न में पुण्य-पाप रूप शुभाशुभ कर्म और शुभाशुभ परिणाम से अभिप्राय नहीं है, किन्तु 'पुण्याचरण' से है, जैसा कि प्रतिशंका २ में लिखा है तो पुण्य का अर्थ यहाँ 'पवित्र' समझा गया और पवित्राचरण का अर्थ पुण्य पाप मल रहित वीतराग भाव ही हुआ

सो वीतराग भाव का फल 'अरहन्त पद' है, ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं है। पर मूल प्रश्न में पुण्याचरण शब्द नहीं था 'पुण्य' शब्द था, अतः उसकी मीमांसा की गई थी। वीतरागभावरूप आचरण ही सर्वत्र सिद्धि का कारण बना है, यह प्रतिशंका में प्रयुक्त उदाहरणों से भी स्पष्ट है। प्रतिशंका २ के अन्त में निष्कर्ष निकालते समय यह बात लिखते हुए कि 'शुभपरिणाम संवर निर्जरा का भी कारण है', यह भी स्वीकार कर लिया गया है कि 'जितना रागांश है, उससे शुभास्त्रव-बंध होता है, तथा जितना निवृत्ति अंश है, उससे संवर-निर्जरा होती है।' इस निष्कर्ष में ही जब शुभरागांश को बंध मान लिया गया है, तब यह प्रश्न स्वयं प्रश्न नहीं रह जाता।

•

तृतीय दौर

: 3 :

शंका 13

पुण्य का फल जब अरहंत होना तक कहा गया है ('पुण्यफला अरहंता' प्र. सा.) और जिससे यह आत्मा तीन लोक का अधिपति बनता है, उसे सर्वातिशायी पुण्य बतलाया है, (सर्वातिशायि पुण्यं तत् त्रैलोक्याधिपतित्वकृत्) तब ऐसे पुण्य को हीनोपमा देकर त्याज्य कहना और मानना क्या शास्त्रोक्त है ?

प्रतिशंका 3

यह प्रश्न जीव के पुण्यभाव की अपेक्षा से है। इस बात को हमने अपने द्वितीय प्रपत्र में स्पष्ट कर दिया था तथा यह भी स्पष्ट कर दिया था कि शुभोपयोग, पुण्यभाव व्यवहार धर्म एवं व्यवहार चारित्र - ये एकार्थवाची शब्द हैं। फिर भी आपने पुण्यरूप द्रव्य कर्म की अपेक्षा से ही उत्तर प्रारम्भ किया है। द्रव्यकर्म की अपेक्षा से स्पष्टीकरण अन्त में किया जायेगा। प्रथम तो जीव के भाव की अपेक्षा से स्पष्टीकरण किया जाता है।

आपने लिखा है कि 'सम्यग्दृष्टि जीव के भेद विज्ञान की जागृति के साथ-साथ पाप से विरक्ति तथा शुभ प्रवृत्ति होती है।' इस मिश्रित अखण्ड पर्याय का नाम शुभोपयोग है। इसमें प्रशस्त राग भी है तथा सम्यक्त्व व पापों से विरक्ति रूप चित्त की निर्मलता भी है। श्री पंचास्तिकाय गाथा १३१ की टीका में शुभ भाव का यह ही लक्षण दिया गया है—

यत्र प्रशस्तरागश्चितप्रसादश्च तत्र शुभपरिणामः।

अर्थ - जहाँ प्रशस्त राग तथा चित्त प्रसाद है, वहाँ शुभ परिणाम है।

यह टीका मूल गाथा के अनुरूप ही है। मूल गाथा में भी 'चित्तप्रसाद' दिया है। चित्तप्रसाद का अर्थ चित्त की स्वच्छता, उज्जवलता, निर्मलता, पवित्रता। प्रसाद का अंग्रेजी में भी अर्थ Purity किया है। यह निर्मलता पापों से विरक्ति आदि रूप ही तो है। श्री प्रवचनसार गाथा ९ में भी कहा है कि जिस समय जीव अशुभ, शुभ या शुद्धरूप परिणमता है, उस समय वह अशुभ, शुभ या शुद्ध है। अर्थात् एक समय में एक ही भाव होता है और उस समय की अखण्ड (पूर्ण) पर्याय का नाम ही अशुभ, शुभ या शुद्ध भाव है। अतः यह सिद्ध हो जाता है कि सम्यग्दृष्टि के मात्र रागांश का नाम शुभ भाव नहीं है, किन्तु उसकी मिश्रित अखण्ड पर्याय ही का नाम शुभ भाव है। उनमें रागांश से बंध और निर्मल अंश से संवर-निर्जरा होते हैं।

उस शुभभाव या व्यवहार धर्म में भी लक्ष्य या ध्येय वीतरागता एवं शुद्ध अवस्था अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति ही रहती है। पर्याय की निर्बलता के कारण वह जीव वीतरागता में स्थित नहीं हो पाता है। इस कारण उसको राग व विकल्प करने पड़ते हैं, किन्तु उस राग या विकल्प द्वारा भी वह वीतरागता को ही प्राप्त करना चाहता है। जैसे पं. श्री दौलतराम जी ने कहा है—

संयम घर न सके पै संयम, धारणकी उर चटापटी।

जो जिस वस्तु का इच्छुक होता है वह उसी वस्तु के धारी की श्रद्धा, ज्ञान व पूजादि करता है। जैसे धुनर्विद्या का इच्छुक धनुर्वेद के विशेषज्ञ का तथा धनार्थी राजा आदि का श्रद्धान, ज्ञान व पूजासत्कारादि करता है। कहा भी है—

यो हि यत्प्राप्त्यर्थी सः तं नमस्करोति यथा धनुर्वेदप्राप्त्यर्थी धनुर्विदं नमस्करोति।

इसी प्रकार यह व्यवहार सम्यग्दृष्टि वीतरागता की प्राप्ति का इच्छुक होने से वीतराग देव, वीतराग गुरु और वीतरागता का प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों का ही श्रद्धान, ज्ञान एवं पूजा, सत्कार, सेवा आदि करेगा। जैसे धनुर्वेद के विशेषज्ञ या राजादि की पूजा सत्कारादि धनुर्विद्या या धन की प्राप्ति में साधक निमित्त कारण है, उसी प्रकार वीतराग देवादि की पूजादि

भी वीतरागता के प्राप्त करने में साधक निमित्त कारण है। अर्थात् वीतराग देवादि की पूजादि रूप आचरण वीतरागता के ही कारण हैं। वीतराग देव के गुणों में जो उसका अनुराग है, वह उन गुणों की प्राप्ति के लिये ही है। कहा भी है – **'वन्दे तद्गुणलब्धये'** अर्थात् उन गुणों की प्राप्ति के लिये ही वन्दना करता हूँ। उसका यह भाव नहीं कि मैं सदा इसी प्रकार बना रहूँ। किन्तु वह उसी समय तक पूजादि करता है, जब तक वह स्वयं वीतरागी नहीं बन जाता है। जैसे धनुर्विद्या का इच्छुक उसी समय तक गुरु का आश्रय लेता है, जब तक वह स्वयं धुनर्वेद विशेषज्ञ नहीं बन जाता है।

कहा भी है –

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः।
वर्तिदीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी॥९७॥

– समाधिशतक

अर्थ – यह जीव अपने से भिन्न अर्हन्त-सिद्धस्वरूप परमात्मा की उपासना करके उन्हीं के समान अर्हन्त-सिद्धरूप परमात्मा हो जाता है। जैसे कि बत्ती, दीपक से भिन्न होकर भी, दीपक की उपासना से दीपक स्वरूप हो जाती है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि **भगवान् की उपासना उपासक को भगवान ही बना देती है।**

परमप्पं वै जाणंतो जोई मुच्चेइ मलवलोहेण।
णादियदि णवं कम्मं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं॥४८॥

– मोक्षपाहुड

अर्थ – जो योगी परमात्मा को ध्यावता संता वर्ते है सो मल का देनहारा जो लोभ कषाय ताकरि छूटे है और नवीन कर्म का आश्रय न होय है—ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है अर्थात् परमात्मा के ध्यान से संवर तथा निर्जरा होती है एवं लोभ के छूट जाने पर केवलज्ञान स्वयं प्राप्त हो जाता है।

श्री प्रवचनसार गाथा ८० में भी लिखा है—

जो जाणदि अरहंतं दव्यत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोही खलु आदि तस्स लयं॥८०॥

अर्थ – जो अरहन्त को द्रव्यपने, गुणपने और पर्यायपने से जानता है वह अपनी आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य लय (नाश) को प्राप्त हो जाता है।

जैसे कोई पुरुष धन कमाने के लिये कोई व्यापार शुरु करता है। उस व्यापार में जो कुशल है, उसका आश्रय भी लेता है और दुकान पर आवश्यक व्यय (खर्च) भी करता है। किन्तु इस प्रकार व्यय करके, कई गुनी आय (आमदनी) करता है। वह व्यापारी बराबर व्यय को कम करता जाता है और आय को बढ़ाता जाता है। उस व्यापार में व्यय होते हुए भी क्या उस व्यापार को व्यय या हानि का मार्ग कहा जा सकता है ? कदाचित् नहीं कहा जा सकता है। वह तो आय का ही मार्ग है। इसी प्रकार शुभोपयोगी जीव वीतरागता की प्राप्ति के लिये वीतराग देव, गुरु तथा शास्त्र का आश्रय लेता है और उनकी भक्ति पूजादि करता है। इसमें जितना रागांश है, उससे प्रशस्त बन्ध भी होता है, किन्तु विरक्ति अंश द्वारा बन्ध से निर्जरा कई गुनी अधिक होती है, क्योंकि वह उस समय सांसारिक इच्छाओं तथा भोगों से एवं पंच पाप से विरक्त है। इस प्रशस्त बन्ध से भी ऐसी सामग्री (द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भव) प्राप्त होती है; जो मोक्षमार्ग की साधक होती है, वह स्वयं वीतरागता को बढ़ाता हुआ शुभराग को छोड़ता जाता है और इस प्रकार विशुद्धि बढ़ती जाती है। अन्त में सम्पूर्ण मोहनीय कर्म का क्षयकर परम वीतरागी हो जाता है। ऐसी दशा में प्रशस्त बन्ध होते हुए भी, क्या उस शुभ भाव (व्यवहार धर्म) को बन्ध का मार्ग कहा जा सकता है ? कदापि नहीं कहा जा सकता है। यह तो मोक्ष का ही मार्ग है अर्थात् संसार सागर के पार करने को तीर्थ है।

श्री समयसार गाथा १२ व उसकी टीका में भी यही कथन किया है कि जब तक आत्मा शुद्ध न हो जाये तब तक व्यवहार प्रयोजनवान् है। एक प्राचीन गाथा देकर यह सिद्ध किया है कि व्यवहार छोड़ देने से तीर्थ (मार्ग) छूट जायेगा। यह स्पष्ट ही है कि मार्ग छूट जाने पर मोक्ष कभी प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमें ठिदा भावे॥१२॥

– *समयसार*

अर्थ – जो शुद्धनय तक पहुँचकर श्रद्धावान् हुये तथा पूर्ण ज्ञान चारित्रवान् हो गये, उन्हें तो शुद्ध (आत्मा) का उपदेश (आज्ञा) करने वाला शुद्धनय जानने योग्य है और जो जीव

अपरम भाव में अर्थात् श्रद्धा तथा ज्ञान-चारित्र के पूर्ण भाव को नहीं पहुँच सके हैं, साधक अवस्था में ही स्थित हैं, वे व्यवहार द्वारा उपदेश करने योग्य हैं।

टीका का उत्तरार्द्ध - ये तु प्रथमद्वितीयाद्यनेकपाकपरंपरापच्यमानकार्तस्वरस्थानीयम-परमं भावमर्नुभवंति तेषां पर्यंतपाकोत्तीर्णजात्यकार्तस्वरस्थानीयपरमभावानुभवनशून्य-त्वादशुद्धद्रव्यादेशितयोपदर्शितप्रतिविशिष्टैकभावानेकभावो व्यवहारनयो विचित्रवर्ण-मालिकास्थानीयत्वात्परिज्ञायमानस्तदात्वे प्रयोजनवान्, तीर्थतीर्थफलयोरित्थमेव व्यवस्थितत्वात्। उक्तं च - जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह। एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं।

अर्थ - जो पुरुष प्रथम, द्वितीय आदि अनेक पाकों (तावों) की परम्परा से पच्यमान अशुद्ध स्वर्ण के समान जो (वस्तु का) अनुत्कृष्ट-मध्यम भाव का अनुभव करते हैं, उन्हें अन्तिम ताव से उतरे हुए शुद्ध स्वर्ण के समान उत्कृष्ट भाव का अनुभव नहीं होता, इसलिये, अशुद्ध द्रव्य को कहने वाला होने से जिसने भिन्न-भिन्न एक-एक भावस्वरूप अनेक भाव दिखलाये हैं—ऐसा व्यवहार नय विचित्र अनेक वर्णमाला के समान होने से जानने में आता हुआ उस काल प्रयोजनवान् है, क्योंकि तीर्थ और तीर्थ के फल की ऐसी ही व्यवस्थिति है। (जिसे तिरा जाये वह तीर्थ है, ऐसा व्यवहार धर्म है, और पार होना व्यवहार धर्म का फल है अथवा अपने स्वरूप को प्राप्त होना तीर्थफल है।) अन्यत्र भी कहा है कि - यदि तुम जिन मत का प्रवर्तान करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों को मत छोड़ो, क्योंकि **व्यवहारनय के बिना तो तीर्थ-व्यवहार मार्ग का नाश हो जायेगा और निश्चयनय के बिना तत्त्व (वस्तु) का नाश हो जायेगा।**

भावार्थ का उत्तरार्ध - जहाँ तक यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान की प्राप्ति रूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई हो, वहाँ तक तो जिनसे यथार्थ उपदेश मिलता है - ऐसे जिन वचनों को सुनना, धारण करना तथा जिन वचनों को कहने वाले श्री जिनगुरु की भक्ति, जिनबिम्ब के दर्शन इत्यादि व्यवहार मार्ग में प्रवृत्त होना प्रयोजनवान् है। जिन्हें श्रद्धान-ज्ञान तो हुआ है, किन्तु साक्षात् प्राप्ति नहीं हुई, उन्हें पूर्व कथित कार्य परद्रव्य का आलम्वन छोड़ने रूप अणुरूप, महाव्रत का ग्रहण, समिति, गुप्ति और पंच परमेष्ठी का ध्यान-रूप प्रवर्तन तथा उसी प्रकार प्रवर्तन करने वालों की संगति एवं विशेष जानने के लिये शास्त्रों का अभ्यास करना, इत्यादि व्यवहार मार्ग में स्वयं प्रवर्तन करना और दूसरों को प्रवर्तन कराना, ऐसे व्यवहार नय का

उपदेश अंगीकार करना प्रयोजनवान् है। व्यवहारनय को कथंचित् असत्यार्थ कहा गया है, किन्तु यदि कोई उसे सर्वथा असत्यार्थ जानकर छोड़ दे तो वह शुभोपयोगरूप व्यवहार को ही छोड़ देगा और उसे शुद्धोपयोग की साक्षात् प्राप्ति तो नहीं हुई है, इसलिये उल्टा अशुभोपयोग में ही आकर, भ्रष्ट होकर, चाहे जैसी स्वेच्छारूप प्रवृत्ति करेगा तो वह नरकादि गति तथा परम्परा से निगोद को प्राप्त होकर संसार में ही भ्रमण करेगा। इसलिए शुद्धनय का विषय जो साक्षात् शुद्ध आत्मा है, उसकी प्राप्ति जबतक न हो तब तक व्यवहार भी प्रयोजनवान् है— ऐसा स्याद्वाद मत में श्री गुरुओं का उपदेश है (सोनगढ़ निवासी श्री हिम्मतलाल कृत टीका के हिन्दी अनुवाद सहित मारोठ से प्रकाशित समयसार के पृष्ठ २५ से २७ तक)।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पूर्णता १३वें गुणस्थान में होती है। अतः उपरोक्त कथानानुसार १२वें गुणस्थान तक साधक अवस्था है और वहाँ तक व्यवहार धर्म प्रयोजनवान् है। सो ठीक है, क्योंकि साध्य के प्राप्त हो जाने पर साधक (मार्ग) का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है।

भावार्थ विशेष ध्यान देने योग्य है, क्योंकि इसमें गाथा तथा टीका का भाव स्पष्ट किया गया है। पण्डित प्रवर जयचन्द जी ने भी भावार्थ में यही आशय प्रगट किया है।

उपरोक्त कथन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मिथ्यादृष्टि के द्वारा किया हुआ व्यवहार धर्म भी सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिये साधन है। इस विषय को आगम प्रमाण सहित आगे स्पष्ट किया जायेगा।

टीका के अन्त में दी गई प्राचीन गाथा से स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहार धर्म के बगैर शुद्ध आत्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती। शुद्ध आत्मा को प्राप्त किये बगैर तज्जन्य सुख का अनुभव भी नहीं हो सकता है। जैसे मिठाई का स्वरूप जानने मात्र से मिठाई का स्वाद और तज्जन्य सुख नहीं प्राप्त हो सकता है। निश्चय के बगैर साध्य नहीं रहेगा और साध्य बगैर साधन किसका किया जायेगा। अतः व्यवहार व निश्चय दोनों आवश्यक हैं।

पुण्यरूप व्यवहार प्राथमिक अवस्था में कार्यकारी है, क्योंकि यह निश्चयरूप का साध्य का साधन है। कहा भी है –

व्यवहारनयेन भिन्नसाध्यसाधनभावमवलम्ब्यानादिभेदवासितवुद्धयः सुखेनैवाव-तरन्ति तीर्थं प्राथमिकाः। *– पंचास्तिकाय पृ. २४५-२४६ रायचन्द ग्रन्थमाला*

अर्थात् जो जीव अनादि काल से लेकर भेदभाव कर वासित बुद्धि हैं, वे प्राथमिक व्यवहार अवलम्बी होकर भिन्न साध्य-साधन भाव को अंगीकार कर तीर्थ को प्राप्त करते हैं।

श्री अमृतचन्द्र के उपर्युक्त वाक्य ध्यान देने योग्य हैं।

इसी बात को श्रीमान् पं. फूलचन्द्र ने स्वयं इन शब्दों द्वारा स्वीकार किया है—

कहीं-कहीं शुभक्रिया को धर्म कहा जाता है। माना कि यह कथन उपचारमात्र है। पर कहीं-कहीं उपचार कथन भी ग्राह्य होता है। कारण कि शुभ क्रिया में हिंसादि अशुभ क्रियाओं की निवृत्ति छिपी हुई है, बन्धनमुक्त होने के लिये जीव को यद्यपि अशुभ और शुभ दोनों प्रकार की क्रियाओं से निवृत्त होना है किन्तु प्रागवस्था में अशुभ से निवृत्ति भी ग्राह्य मानी गई है। यही कारण है कि ग्रन्थकार ने धर्म के स्वरूप का विवेचन करते हुए हिंसा आदि अशुभ क्रियाओं के त्याग को भी धर्म कहा है। *-पंचाध्यायी पृ. २६७, वर्णी ग्रन्थमाला*

श्री समयसार गाथा १४५ की टीका में भी जीव के शुभ भावों को मोक्षमार्ग बतलाया है, जिसका उद्धरण हम दूसरे प्रपत्र में दे चुके हैं। परन्तु आपने उस पर यह आपत्ति उठाई है कि 'टीका के अर्थ करने में विपर्यास हुआ है।' अत: पंडित प्रवर जयचन्द जी कृत तथा अहिंसा मंदिर, दिल्ली से प्रकाशित अर्थ नीचे दिये जाते हैं –

'शुभ अथवा अशुभ मोक्ष का और बन्ध का मार्ग—ये दोनों जुदे हैं। केवल जीवमय तो मोक्ष का मार्ग है और केवल पुद्गलमय बन्ध का मार्ग है।' *- पं. श्री जयचन्द जी*

शुभ अथवा अशुभ मोक्ष का और बन्ध का मार्ग—ये दोनों पृथक् हैं, केवल जीवमय तो मोक्ष का मार्ग है और केवल पुद्गलमय बन्ध का मार्ग है। *- दिल्ली से प्रकाशित*

श्री समयसार के उपरोक्त स्पष्ट प्रमाण व्यवहारधर्म को मोक्षमार्ग सिद्ध करते हैं। इस सम्बन्ध में श्री धवल, जयधवल आदि ग्रन्थ के प्रमाण द्वितीय पत्रिका में दिये जा चुके हैं। अब आगे कुछ अन्य प्रमाण भी दिये जाते हैं –

तं देवदेवदेवं जदिवरवसहं गुरू तिलोयस्स।
पणमंति जे मणुस्सा ते सोक्खं अक्खयं जंति॥

- श्री प्रवचनसार गाथा ७९ के बाद श्री जयसेन टीका में दी गई है

अर्थ – उन देवाधिदेव, यतिवरवृषभ त्रिलोक गुरु को जो मनुष्य नमस्कार करता है, वह अक्षय (मोक्ष) सुख को प्राप्त करता है।

देवगुरूणं भत्ता णिव्वेयपरंपरा विचिंतित्ता।
क्षाणरया सुचरित्ता ते गहिया मोक्खमग्गम्मि॥७८०॥

- मोक्षपाहुड

अर्थ - जो देव, गुरु के भक्त हैं, निर्वेद कहिये संसार-देह-भोगतें विरागता की परम्परा को चिंतवन करे हैं, ध्यान विषें रत हैं, बहुरि सुचारित्र वाले हैं, ते मोक्षमार्ग विषें ग्रहण किये हैं।

देवगुरुम्मि य भत्तो साहम्मिय-संजुदेसु अणुरत्तो।
सम्मत्तमुव्वहंतो झाणरओ होइ जोई सो॥५२॥

- मोक्षपाहुड

अर्थ - जो योगी सम्यक्त्व कूं धरता संता देव तथा गुरु विषें भक्तियुक्त है, बहुरि साधर्मी संयमियों में अनुरक्त है सोई योगी ध्यान में रत होय है।

निम्नलिखित गाथाएँ आचार्य कुन्दकुन्द विरचित श्री रयणसार की हैं—

भयवसणमलविवज्जियसंसारसरीरभोगणिव्विण्णो।
अट्ठगुणंगसमग्गो दंसणसुद्धो दु पंचगुरुभत्तो॥५॥

अर्थ - भय व व्यसन के मल से रहित और संसार-शरीर-भोगों से विरक्त पंचपरमेष्ठी का भक्त अष्ट गुणांग से पूर्ण सम्यग्दर्शन शुद्ध होता है।

देवगुरुसमयभत्ता संसारसरीरभोयपरिचता।
रयणत्तयसंजुत्ता ते मणुवा सिवसुहं पत्ता॥९॥

अर्थ - देव-गुरु-शास्त्र भक्त, संसार-शरीर-भोग से विरक्त और रत्नत्रय सहित मनुष्य ही शिवसुख को प्राप्त करता है।

दाणं पूजा सीलं उपवासं बहुविहं पि खवणं पि।
सम्मजुदं मोक्खसुहं सम्म विण दीहसंसारे॥९०॥

अर्थ - दान, पूजा, शील, उपवास और बहु प्रकार क्षमादि भी, यदि सम्यक्त्व सहित हैं तो मोक्ष सुख के कारण हैं, यदि सम्यक्त्व रहित हैं तो दीर्घ संसार के कारण हैं।

जिणपूजा मुणिदाणं करेइ जो देह सत्तिरूवेण।
सम्माइट्ठी सावयधम्मी सो होश मोक्खमग्गरओ॥१३॥

अर्थ - जो शक्तिपूर्वक जिनपूजा करता है और मुनियों को दान देता है, वह सम्यग्दृष्टि श्रावकधर्मी मोक्षमार्गरत होता है।

पूया (स) फलेण तिलोए सुरपुज्जो हवेइ सुद्धमणो।
दाणफलेण तिलोए सारसुहं भुंजदे णियदं॥१४॥

शुद्ध मनवाला पुरुष पूजा के फल से तीन लोक में देवोंकर पूज्य होता है और दान के फल से नियम पूर्वक तीन लोक में सारसुख (मोक्ष सुख) भोगता है।

निम्नलिखित गाथाएँ आचार्य श्री कुन्दकुन्द कृत श्री मूलाचार की हैं—

अरहंतणमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयडमदी।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण॥६॥

अर्थ – भक्ति से एकाग्रचित्त होकर जो अरहन्त को नमस्कार करता है, वह अति शीघ्र ही सम्पूर्ण दु:खों से मुक्त होता है।

श्री धवल पुस्तक १, पृ. ९ पर यही गाथा प्रमाण रूप से दी गई है।

इसी प्रकार गाथा ९ में सिद्ध नमस्कार से, गाथा १२ में आचार्य नमस्कार से, गाथा १४ में उपाध्याय नमस्कार से, और गाथा १६ में साधु नमस्कार से सम्पूर्ण दु:खों से मुक्त होना कहा है।

एवं गुणजुत्ताणं पंचगुरूणं विशुद्धकरणेहिं।
जो कुणदि णमोक्कारं सो पावदि णिव्वुदिं सिग्घं॥१७॥

अर्थ – इस प्रकार गुणयुक्त पंचपरमेष्ठियों को जो भव्य निर्मल मन, वचन तथा काय से नमस्कार करता है, वह निर्वाण सुख को प्राप्त करता है।

भत्तीए जिणवराणं खीयदि य पुव्वसंचियं कम्मं।
आयरियपसाएण य विज्जामंता य सिज्झंति॥८१॥

अर्थ – जिनेश्वर की भक्ति से पूर्व संचित कर्म का नाश होता है। आचार्य की कृपा से विद्याओं की तथा मन्त्रों की सिद्धि होती है।

द्वादशांग में तीव्र भक्ति संसार विच्छेद का कारण है। – ***श्री धवल पु. १, पृ. ३०२***

दाणु ण दिण्णउ मुनिवरहं ण वि पुज्जिउ जिणपाहु।
पंच ण वंदिय परमगुरू किमु होसइ सिवलाहु॥१६८॥

– ***परमात्मप्रकाश अ. २***

अर्थ – मुनीश्वरों को दान नहीं दिया, जिनेन्द्र भगवान् को नहीं पूजा, पंचपरमेष्ठी की

वन्दना (पूजा) नहीं की, तब मोक्ष की प्राप्ति कैसे हो सकती है।

जन्मारण्यशिखी स्वतः स्मृतिरपि क्लेशाम्बुधेर्नौ पदे।
भक्तानां परमो निधिः प्रतिकृतिः सर्वार्थसिद्धिः परा॥
वन्दीभूतवतोऽपि नोन्नतिहतिर्नन्तुश्च ये वां मुदा।
दातारो जयिनो भवन्तु वरदा देवेश्वरास्ते सदा॥११५॥

- श्री समन्तभद्र रचित स्तुतिविद्या

अर्थ – जिनका स्तवन संसार रूप अटवी को नष्ट करने के लिये अग्नि के समान है, जिनका स्मरण दु:खरूप समुद्र से पार होने के लिये नौका के समान है, जिनके चरण भक्त पुरुषों के लिये उत्कृष्ट निधान (खजानों) के समान हैं, जिनकी श्रेष्ठ प्रतिकृति (प्रतिमा) सब कार्यों की सिद्धि करने वाली है, जिन्हें हर्षपूर्वक प्रणाम करने वाले एवं जिनका मंगलगान करने वाले नग्नाचार्य रूप से रहते हुये भी मुझ (समन्तभद्र) की उन्नति में कुछ बाधा नहीं होती, वे देवों के देव जिनेन्द्र भगवान् दानशील, कर्मशत्रुओं पर विजय पाने वाले और सबके मनोरथों को पूर्ण करने वाले होवें।

कर्म भक्त्या जिनेन्द्राणां क्षयं भरत गच्छति।
क्षीणकर्मा पदं याति यस्मिन्ननुपमं सुखम्॥१८३॥

- श्री पद्मपुराण, पर्व ३२

अर्थ – हे भरत! जिनेन्द्र देव की भक्ति से कर्म क्षय को प्राप्त हो जाता है और जिसके कर्मक्षय हो जाता है, वह अनुपम सुख से सम्पन्न परम पद को प्राप्त होता है।

नमस्यत जिनं भक्त्या स्मरतानारतं तथा।
संसारसागरं येन समुत्तरतं निश्चितम्॥१२५॥

- श्री पद्मपुराण, पर्व ३१

अर्थ – भक्तिपूर्वक जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार करो और निरन्तर उन्हीं का स्मरण करो, जिससे निश्चयपूर्वक संसार-सागर को पार कर सको।

एकापि समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुम्।
पुण्यानि च पूरयितुं मुक्तिश्रियं कृतिनः॥१२५॥

- उपासकाध्ययन

अर्थ – अकेली एक जिन-भक्ति ही जीव के दुर्गति का निवारण, पुण्य का संचय करने में तथा मुक्ति रूपी लक्ष्मी को देने में समर्थ है।

नाममात्रकथया परात्मनो भूरिजन्मकृतपापसंक्षयः।
बोधवृत्तरुचयस्तु तद्गताः कुर्वते हि जगतां पतिं नरम्॥४२॥

– पद्मनन्दि पंचविंशति, अ. १०

अर्थ – परमात्मा के नाम मात्र की कथा से ही अनेक जन्मों में संचित किये हुए पापों का नाश होता है तथा उक्त परमात्मा में स्थित ज्ञान, चारित्र, सम्यग्दर्शन मनुष्य को जगत् का अधीश्वर बना देता है।

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स॥२१७॥

– प्रवचनसार

अर्थ – जीव मरे या जिये, अप्रयत्न आचार वाले के हिंसा निश्चित है। प्रयत्नपूर्वक समिति पालन करने वाले के (बहिरंग) हिंसामात्र से बन्ध नहीं है।

समिति पालन करना व्यवहार धर्म है। ऐसे व्यवहार धर्म को पालन करने से, बहिरंग में जीवादि की हिंसा हो जाने पर, बन्ध नहीं होता है। इसी आशय को 'श्री पुरुषार्थसिद्धिउपाय' में बहुत स्पष्ट किया गया है। ऐसी परिस्थिति में यह कहना कि व्यवहार धर्मरूप शुभभाव मात्र रागांश का नाम है और उससे बन्ध ही होता है, उपचार मात्र से सहचर होने के कारण मोक्षमार्ग कहा गया है—यह कथन कैसे आगम से मेल खा सकता है, अर्थात् आगम विरुद्ध ही है।

ऐसे अनेकों ग्रन्थ भी प्रमाण हैं, जिन आगम में गृहस्थों के लिये देवपूजा, गुरुपास्ति तथा दान आदि और मुनियों के लिये स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान आदि रूप व्यवहारधर्म नित्य षडावश्यक कार्यों में गर्भित किया है। यदि यह कार्यमात्र बन्ध के ही कारण हैं तो क्या महर्षियों ने बन्ध कराने और संसार में डुबाने का उपदेश दिया है। ऐसा कभी सम्भव नहीं हो सकता। इनको इसी कारण आवश्यक बतलाया है कि इनसे मोक्ष की प्राप्ति होती है, जैसे कि उपरोक्त प्रमाणों से सिद्ध है।

अब प्रश्न यह होता है कि इस व्यवहार धर्म के समय प्रशस्त राग से जो सातिशय

पुण्य बन्ध होता है तथा वह संसार का कारण है। परमार्थ दृष्टि से इस व्यवहार धर्म को पालन करने वाला शुभोपयोगी जीव उस रागांश से पंचेन्द्रियों के विषय या सांसारिक सुख की प्राप्ति की इच्छा नहीं करता है। पंचेन्द्रिय विषय और सांसारिक सुख से, हेय जानकर, विरक्त हो गया है। उसकी आसक्ति तो वीतरागता में है। इस राग को छोड़ने का ही पूर्ण प्रयत्न है। अतः इससे बन्ध होते हुए भी यह रागांश संसार का कारण नहीं हो सकता है। संसार का कारण तो वास्तविक में राग में राग (उपादेय बुद्धि) है। उसकी तो विरागता में उपादेय बुद्धि है। इन पुण्य प्रकृतियों के उदय से ऐसे द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भव की प्राप्ति होती है जो मोक्ष-मार्ग में सहायक है, बाधक नहीं है। उन द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव के आश्रय से मोक्ष के लिये साधना होती है। अतः पुण्य बन्ध भी मोक्ष का साधक है। महान् आचार्यों ने इसे सातिशय पुण्य कहा और इससे अरहन्त आदि पद की प्राप्ति बतलाई है।

निदानरहितपरिणामोपार्जिततीर्थंकरप्रकृत्युत्तमसंहननादिविशिष्टपुण्यरूपधर्मोऽपि (सिद्धगतेः) सहकारी कारणं भवति।

अर्थ - निदान रहित परिणाम से उपार्जित तीर्थंकर प्रकृति तथा उत्तम संहननादि विशिष्ट रूपी धर्म भी सिद्धगति का सहकारी कारण होता है।

- पंचास्तिकाय, गाथा ८५, श्री जयसेनाचार्यकृत टीका

अरहन्त शब्द प्रायः तीर्थंकर पद के लिये प्रयोग होता है। श्री प्रवचनसार गा. ४५ में जो कहा है '**पुण्यफला अरहन्ता**' यहाँ यदि पुण्य का आशय पुण्य द्रव्य कर्म से लिया जाये तो अरहन्त का अर्थ तीर्थंकर होता है। तीर्थंकर प्रकृति सबसे उत्कृष्ट पुण्य प्रकृति है। उसका उदय १३वें गुणस्थान से ही प्रारम्भ होता है। उसके उदय से ही तीर्थंकर पद की प्राप्ति होती है। यदि पुण्य का अर्थ भाव पुण्य लिया जाये तो श्री समयसार गाथा १२ आदि उपर्युक्त प्रमाणों से यह सिद्ध ही हो जाता है कि पुण्यभाव (व्यवहार धर्म) से केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है। आपने पूछा कि '**मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्**' की संगति कैसे बैठ सकती है।' प्रश्न नं. १५ में आपने इस सूत्र पर आपत्ति डालते हुए स्वयं लिखा है कि कर्मों के क्षय से केवलज्ञान नहीं होता है। दसवें तथा बारहवें गुणस्थान की मिश्रित अखण्ड पर्याय का नाम पुण्यभाव है। पंच महाव्रत, पंच समिति, त्रिगुप्ति आदि रूप व्यवहार चारित्र १२वें गुणस्थान में भी होता है। (देखिए श्री धवल पुस्तक १४ पृ. ८९) उस पुण्य भाव से मोहनीय कर्म तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अन्तराय का क्षय होता है और इन कर्मों के क्षय से

केवलज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार संगति ठीक बैठती है, न बैठने का प्रश्न ही नहीं होता है। आपका यह लिखना कि १२वें गुणस्थान में पुण्य प्रकृतियों के उदय से होने वाले भाव का नाम पुण्यभाव है- आगमानुकूल नहीं है।

'तीन लोक का अधिपतित्व' इन शब्दों से स्व-स्वामी सम्बन्ध बतलाने का आशय नहीं है। इनका अर्थ है—तीन लोक के प्राणियों द्वारा पूज्य ऐसा पद अर्थात् तीर्थंकर पद। जैसे कहा जाता है '**शिवरमणि बरीशिववधू के पति**' आदि। क्या इन शब्दों द्वारा पति-पत्नी सम्बन्ध द्योतित करने का आशय है? कदापि नहीं। इन शब्दों से शिवपद को द्योतित किया जाता है। सर्वसाधारण भी इस बात को जानते हैं। अत: स्व-स्वामी सम्बन्ध को लाना, निष्परिग्रह तथा उपचार आदि कथन करना आगम का विपर्यास अर्थ करना ही हो सकता है; अन्य कुछ नहीं।

यदि मिथ्यादृष्टि भी परमार्थ की अपेक्षा व्यवहार धर्म पालन करता है तो उसके लिए वह सम्यक्त्व की प्राप्ति का कारण होता है। आगम में सम्यक्त्व की उत्पत्ति के प्रत्यय बतलाते हुए जिनबिम्बदर्शन तथा जिन महिमा दर्शन को भी प्रत्यय (कारण) बतलाये हैं। (श्री धवल पु. ६, पृ. ४२, श्री सर्वार्थसिद्धि अ. १, सू. ७ की टीका आदि)। मिथ्यादृष्टि को ही तो सम्यक्त्व की उत्पत्ति होगी। सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व की उत्पत्ति का प्रश्न ही पैदा नहीं होता है। जिनदर्शन रूप शुभ भाव से मिथ्यात्व के खण्ड-खण्ड हो जाते हैं और सम्यक्त्व प्राप्ति होती है-इसके कुछ प्रमाण ऊपर दिये जा चुके हैं। २-३ प्रमाण नीचे और दिये जाते हैं-

कथं जिणबिंबदंसणं पढमसम्मत्तुप्पतीए कारणं? जिणाबिंबदंसणेण णिधत्तणिकाचिदस्स वि मिच्छत्तादिकम्मकलावस्स खयदंसणादो।

- श्री धवल पु. ६, पृ. ४२७

अर्थ - जिनबिंब का दर्शन प्रथम सम्यक्तव की उत्पत्ति का कारण किस प्रकार है?

समाधान - जिनबिंब दर्शन से निधत्ति और निकाचित रूप भी मिथ्यात्वादि कर्मकलाप का क्षय देखा जाता है, जिससे जिनबिंब का दर्शन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण होता है।

जिणरचरणंबुरुहं णमंति जे परमभत्तिराएण।
ते जम्मवेलिमूलं खणंति वरभावसत्थेण॥१५३॥

- भावपाहुड़

अर्थ - वे पुरुष परम भक्ति अनुराग कर जिनवर के चरण कमल को नमे हैं, ते श्रेष्ठ भावरूप शस्त्र कर जन्म कहिये संसाररूपी वेल ताका मूल जो मिथ्यात्व आदि ताहि खणें हैं, नष्ट करें है।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर दिट्ठिहरासेसमोहतिभिरेण।
तह णट्ठं जह दिट्ठं तं मए तच्चं॥२॥

- ***पद्मनन्दि पंचविंशति, अ. १४***

अर्थ - हे जिनेन्द्र! आपका दर्शन होने पर दर्शन में बाधा पहुँचाने वाला समस्त मोह (दर्शन मोह) रूप अन्धकार इस प्रकार नष्ट हो गया कि जिससे मैंने यथावस्थित तत्त्व को देख लिया है, अर्थात् सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लिया है।

जो मिथ्यादृष्टि, परमार्थ को न जानते हुए, मात्र विषय सामग्री तथा सांसारिक सुख की प्राप्ति के लक्ष्य से अप्रशस्त राग सहित कुछ शुभ क्रिया करता है और उससे जो पुण्य बन्ध होता है, वह पुण्यभाव तथा पुण्यबन्ध संसार का ही कारण है। श्री प्रवचनसार प्रथम अध्याय आदि ग्रन्थों में ऐसे पुण्य या शुभभाव को ही पूर्णतया हेय दिखलाया गया है। किन्तु परमार्थ दृष्टि से किये हुए शुभभाव या व्यवहार धर्म का कथन श्री प्रवचनसार तृतीय अध्याय आदि ग्रन्थों में है और उसको मोक्ष का साधन बतलाया है। बहुत स्थानों पर आगम में व्यवहाराभास (एकान्त मिथ्या व्यवहार) का भी व्यवहार के नाम से कहकर निषेध किया गया है। इत्यादि विशेषतायें भी ध्यान रखने योग्य हैं। श्री समयसार गाथा १४५ व १४७ में (जिनको आपने उद्धृत किया है।) मात्र पुण्य तथा पापरूप द्रव्यकर्मों का व्याख्यान है। पुण्य या पापभाव का नहीं है। यहाँ पुण्य तथा पाप कर्मों को बन्ध की अपेक्षा समान बतलाया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह एकान्त रूप से सर्वथा समान ही है। जो सांसारिक विषय भोगों की अपेक्षा से पुण्य कर्मबन्ध को ही उपादेय ग्रहण कर उसमें ही तल्लीन रहते हैं उनको समझाया जा रहा है कि पुण्य में राग मत करो। ऐसे जीव को परमार्थ की तो खबर ही नहीं है। किन्तु १४५ की टीका में श्री सूरिजी ने स्पष्ट कर दिया है कि (परमार्थ दृष्टि सहित) जीव का शुभभाव मोक्ष का कारण है, जिसका उद्धरण पत्रिका २ में दिया जा चुका है।

●

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधमोऽस्तु मंगलम्।।

शंका 13

मूल प्रश्न १३- पुण्य का फल जब अरहंत होना तक कहा गया है ('पुण्णफला अरहंता' प्र.सा.) और जिससे यह आत्मा तीन लोक का अधिपति बनता है, उसे सर्वातिशायी पुण्य बतलाया है, **(सर्वातिशायि पुण्यं तत् त्रैलोक्याधिपतित्वकृत्)** तब ऐसे पुण्य को हीनोपमा देकर त्याज्य कहना और मानना क्या शास्त्रोक्त है?

प्रतिशंका 3 का समाधान

1. सारांश

हमने प्रथम उत्तर में यह स्पष्ट कर दिया था कि 'पुण्य और पाप इन दोनों का आस्रव और बन्ध तत्त्व में अन्तर्भाव होता है।' साथ ही यह भी बतला दिया था कि 'अशुभ कर्म का फल किसी को इष्ट नहीं है, इसलिए उसकी इच्छा तो किसी को नहीं होती। **किन्तु पुण्य कर्म के फल का प्रलोभन छूटना बड़ा कठिन है, इसलिए प्रत्येक भव्यप्राणी की मोक्षमार्ग में रुचि उत्पन्न हो और पुण्य अथा पुण्य के फल में अटक न जाये इस अभिप्राय से सभी आचार्य उसकी विविध शब्दों द्वारा निन्दा करते आ रहे हैं। यह शास्त्रोक्त है।'**

अपर पक्ष ने अपनी प्रतिशंका २ में अपना पक्ष स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'हमारा प्रश्न पुण्य आचरण के विषय में था।' इसके बाद कुछ आगम प्रमाण देकर उसका समर्थन किया है।

अपने दूसरे उत्तर में हमने उक्त प्रतिशंका पर सांगोपांग विचार कर अन्त में अपर पक्ष के शब्दों को ध्यान में रख कर ही यह स्पष्ट कर दिया था कि 'जितना रागांश है, उससे आस्रव-बन्ध होता है और जितना शुद्धांश है, उससे संवर निर्जरा होती है।' उक्त प्रतिशंका में सारांश लिखते हुए इस तथ्य को अपर पक्ष ने भी स्वीकार कर लिया है।

२. प्रतिशंका ३ के आधार से विचार

प्रतिशंका ३ को प्रारम्भ करते हुए अपर पक्ष ने लिखा है - 'यह प्रश्न जीव के पुण्य भाव की अपेक्षा से है, इस बात को हमने अपने प्रपत्र २ में स्पष्ट भी कर दिया था तथा यह

भी स्पष्ट कर दिया था कि शुभोपयोग, पुण्यभाव, व्यवहारधर्म एवं व्यवहारचारित्र–ये एकार्थवाची शब्द हैं। फिर भी आपने पुण्यरूप द्रव्यकर्म की अपेक्षा से ही उत्तर प्रारम्भ किया है।'

समाधान यह है कि हमने जो उत्तर दिया है, वह सबके सामने है, अत: उसमें तो हम नहीं जावेंगे। यहाँ मूल शंका और अपर पक्ष के इस वक्तव्य पर अवश्य ही विचार करेंगे।

अपर पक्ष ने यह प्रश्न प्रवचनसार गाथा ४५ (पुण्यफला अरहंता) के आधार से निबद्ध किया था इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि मूल प्रश्न में ही अपर पक्ष ने इस गाथा के प्रथम पाद का उल्लेख किया है। प्रवचनसार में यह गाथा क्यों लिखी गई है इसके लिए गाथा ४३–४४ के संदर्भ में इसके आशय को समझना होगा। गाथा ४३ में 'संसारी जीवों के उदयगत कर्मांश जिनवर ने नियम से कहे हैं। उनमें मोही, रागी और द्वेषी होता हुआ यह जीव बन्ध का अनुभव करता है'–यह कहा गया है। इसकी टीका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि 'इससे सिद्ध है कि क्रिया और क्रिया का फल मोहोदय से अर्थात् मोह के उदय में युक्त होने के कारण होता है, ज्ञान से नहीं होता अर्थात् ज्ञान स्वभाव में युक्त होने के कारण नहीं होता – **अतो मोहोदयात् क्रिया-क्रियाफले, न तु ज्ञानात्।**

इस पर यह शंका होने पर कि अरिहन्तों के क्रिया तो देखी जाती है पर उसका फल नहीं देखा जाता, सो क्यों? भगवान् कुन्दकुन्द ने इन्हीं दो प्रश्नों का ४४ और ४५ संख्या की गाथाओं द्वारा उत्तर दिया है।

इससे स्पष्ट है कि प्रकृत मूल प्रश्न में '**पुण्णफला**' पद में आये हुए 'पुण्य' पद से पुण्य रूप द्रव्यकर्म का उदय ही गृहीत है। गमनादि क्रिया को गाथा ४५ के पूर्वार्ध द्वारा औदयिक स्वीकार करने का भी यही आशय है। ऐसा मालूम पड़ता है कि अब अपर पक्ष तीर्थंकर प्रकृति आदि पुण्य कर्मों के उदय को दृष्टि ओझल करके अन्य मार्ग से अपने पक्ष को जीवित बनाये रखना चाहता है। अन्यथा वह पक्ष मूल प्रश्न जिस आशय से किया गया है, वहीं तक अपने को सीमित रखकर अपने विचार प्रस्तुत करता और उन्हीं की पुष्टि में शास्त्राधार भी उपस्थित करता। अस्तु,

हमने पिछले उत्तर में लिखा था – 'सम्यग्दृष्टि जीव के भेदविज्ञान की जागृति के साथ-साथ पाप विरक्ति रूप शुभप्रवृत्ति होती है।' इस पर अपर पक्ष का कहना है कि 'इस मिश्रित अखण्ड पर्याय का नाम शुभोपयोग है। इसमें प्रशस्त राग भी है तथा सम्यक्त्व व पापों से विरक्ति रूप चित्र की निर्मलता भी है।'

अपने इस विचार की पुष्टि में अपर पक्ष ने पंचास्तिकाय गाथा १३१ की टीका को उपस्थित किया है। इसमें 'प्रशस्त राग और चित्तप्रसाद जहाँ है वहाँ शुभ परिणाम है' यह कहा गया है। अब आगम में इन दोनों शब्दों का क्या अर्थ किया है इस पर विचार करना है। आचार्य कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय गाथा १३५ में प्रशस्त राग, अनुकम्पापरिणति और चित्त की अकलुषता—इन तीनों को शुभ परिणाम कहा है। इन तीनों का अर्थ करते हुए आचार्य जयसेन इसकी टीका में लिखते है—

अथ निरास्त्रवशुद्धात्मपदार्थात्प्रतिपक्षभूतं शुभास्त्रवमाख्याति- रागो जस्स पसत्थो- रागो यस्य प्रशस्तः वीतराग-परमात्मद्रव्याद्विलक्षणः पंचपरमेष्ठि-निर्भरगुणानुरागरूपः प्रशस्तधर्मानुरागाः। अणुकंपासंसिदो य परिणामो-अनुकम्पासंश्रितश्च परिणामः दयासहितो मनोवचनकायव्यापाररूपः शुभपरिणामः। चित्तम्हि णत्थि कलुसो-चित्ते नास्ति कालुष्यं मनसि क्रोधादिकलुषपरिणामो नास्ति। पुण्णं जीवस्स आसवदि-यस्यैते पूर्वोक्ता त्रयः शुभपरिणामाः सन्ति तस्य जीवस्य द्रव्यपुण्यास्त्रवकारणभूतं भावपुण्य-मास्त्रवतीति सूत्राभिप्रायः।

अब निरास्त्रव शुद्ध आत्मपदार्थ से प्रतिपक्षभूत शुभास्त्रव का व्याख्यान करते हैं- **रागो जस्स पसत्थो** - राग जिसका प्रशस्त है अर्थात् जिसका वीतराग परमात्मा द्रव्य से विलक्षण जो पंच परमेष्ठी में अत्यन्त गुणानुरागरूप प्रशस्त धर्मानुराग है। **अणुकंपासंसिदो य परिणामो**- जिसका अनुकम्पा युक्त परिणाम है अर्थात् जिसका दया सहित मन, वचन, काय के व्यापार रूप शुभ परिणाम है तथा **चित्तह्मि णत्थि कलुसो**- जिसके चित्त में कलुषता नहीं है अर्थात् क्रोधादिरूप कलुष परिणाम नहीं हैं। **पुण्णं जीवस्स आसवदि**- जिसके पूर्वोक्त ये तीन शुभ परिणाम हैं, उस जीव के द्रव्य पुण्य के आस्त्रव का निमित्तभूत भाव पुण्यास्त्रव है, यह मूल गाथा का तात्पर्य है।

यहाँ पर '**वीतरागपरमात्मद्रव्य से विलक्षण**'- यह विशेषण उक्त तीनों परिणामों पर लागू होता है।

इससे स्पष्ट है कि शुभ परिणाम, शुभ भाव या शुभोपयोग उक्त विधि से तीन प्रकार का ही होता है—

१. अरिहन्तादिविषयक प्रशस्त राग, २. दयापरिणाम अर्थात् अणुव्रत-महाव्रतादिरूप शुभ परिणाम और ३. चित्तमें-क्रोधादिरूप कलुषता का न होना।

प्रशस्त राग क्या है इसकी व्याख्या करते हुए स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द पंचास्तिकाय गाथा १३६ में लिखते है—

अरहंतसिद्धसाहुसु भत्ती धम्मम्मि जा खलु चेट्ठा।
अणुगमणं पि गुरूणं पसत्थरागो त्ति वुच्चंति॥१३६॥

अरिहन्त, सिद्ध और साधुओं में भक्ति, धर्म में नियम से चेष्टा तथा गुरुओं का अनुगमन करना, यह सब प्रशस्त राग कहलाता है॥१३६॥

यहाँ पर धर्म पद से व्यवहार चारित्र का अनुष्ठान लिया गया है।

आचार्य अमृतचन्द्र इसकी टीका में लिखते हैं—

अयं हि स्थूललक्ष्यतया केवलभक्तिप्रधानस्याज्ञानिनो भवति। उपरितनभूमिकाया-मलब्धास्पदस्यास्थानरागनिषेधार्थं तीव्ररागज्वरविनोदार्थं वा कदाचिज्ज्ञानिनोऽपि भवति।

यह (प्रशस्त राग) स्थूल लक्ष्य वाला होने से केवल भक्ति प्रधान अज्ञानी के होता है। तथा उपरितन भूमिका में स्थिति न प्राप्त की हो तब अस्थान राग (इन्द्रियादि विषयक राग) का निषेध करने के लिए अथवा तीव्र रागज्वर का परिहार करने के लिए कदाचित् ज्ञानी के भी होता है॥१३६॥

जयसेनाचार्य के शब्दों में इसका आशय यह है—

तत्प्रशस्तरागमज्ञानी जीवो भोगाकांक्षारूपनिदानबन्धेन करोति, स ज्ञानी पुनर्निर्विकल्पसमाध्यभावे विषयकषायरूपाशुभरागविनासार्थं करोतीति भावार्थः।

उस प्रशस्त राग को अज्ञानी जीव भोगाकांक्षारूप निदान बन्ध के साथ करता है। किन्तु ज्ञानी जीव निर्विकल्प समाधि के अभाव में विषय-कषाय रूप अशुभ राग का विनाश करने के लिए करता है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

इसी प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने अनुकम्पा क्या है, इसका निर्देश आगे १३७वीं गाथा में किया है।

अतएव इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि अपर पक्ष सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्ररूप शुद्धि के साथ कषाय की जिस मिश्रित अखण्ड पर्याय की कल्पना कर उसे शुभभाव या शुभोपयोग कहना चाहता है, वह ठीक नहीं है। यह उस पक्ष की अपनी कल्पना है। आगम का यह आशय नहीं है।

जब यह जीव संसार के प्रयोजनभूत पंचेन्द्रियों के विषयों आदि में उपयुक्त रहता है तब अशुभोपयोग होता है, जब पंच परमेष्ठी आदि की भक्ति-स्तुति आदि में, व्रतों के पालने में तथा अन्य शुभ प्रवृत्ति में उपयुक्त रहता है, तब शुभोपयोग होता है और जब विज्ञानघनस्वरूप अपने आत्मा में उपयुक्त होता है, तब शुद्धोपयोग होता है। प्रवचनसार गाथा ९ का यही आशय है। जीव उपयोग लक्षण वाला है। वह अपने इस लक्षण से सदा अनुगत रहता है, यह उक्त गाथा में बतलाया गया है। हम अभी प्रवचनसार गाथा ४३का आशय लिख आये है। उसके साथ इस गाथा को पढ़ने पर इसका आशय स्पष्ट हो जाता है।

यह अपर पक्ष ही स्वीकार करेगा कि पर्याय दो ही प्रकार की होती है - स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय। सम्यग्दर्शन यह श्रद्धा गुण की स्वभाव पर्याय है। यह चारित्र गुण की पर्याय से भिन्न है, इसलिए इसके साथ तो चारित्र गुण की मिश्रित अखण्ड पर्याय बन नहीं सकती। **चारित्र गुण की अवश्य ही संयमासंयम और संयम रूप मिश्र पर्याय होती है, क्योंकि उसमें शुद्धयंश और आशुद्धयंश दोनों का युगपात् सद्भाव होता है। उसमें जो शुद्धयंश है वह स्वयं संवर-निर्जरास्वरूप होने से संवर-निर्जरा का कारण भी है।** पण्डितप्रवर दौलतराम जी छहढाला के मंगलाचरण में इसीकी स्तुति करते हुए लिखते हैं—

तीन भुवन में सार वीतराग-विज्ञानता।
शिवस्वरूप शिवकार नमहुँ त्रियोग सम्हारिके ॥१ ॥

यह अपने प्रतिपक्षभूत अशुद्धयंश का व्यय होकर उत्पन्न हुई है, इसलिए इसका स्वयं संवर-निर्जरा स्वरूप होकर संवर-निर्जरा का कारण बनना युक्त ही है।

तथा उस मिश्र पर्याय में जो अशुद्धिअंश शेष है, वह स्वयं अशुद्धिस्वरूप होने से आस्रव-बन्धरूप है और आस्रव-बन्ध का कारण भी है।

इस प्रकार शुद्धपर्याय और अशुद्ध पर्याय के भेद से जहाँ पर्याय दो प्रकार की है वहाँ विषय भेद से उपयोग तीन प्रकार का है - अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग। जब इस जीव का परलक्षी उपयोग होता है तब वह नियम से मोह, राग या द्वेष से अुनरंजित होकर प्रवर्तता है। उपयोग के शुभ और अशुभ इन दो भेदों के होने का यही कारण है। उनमें से इन्द्रिय विषयों में अनुरक्त होना, अशुभोपयोग है। कारण स्पष्ट है। तथा उक्त तीन प्रकार की शुभ प्रवृत्तियों में उपयुक्त होना शुभोपयोग है। है तो यह भी राग से अनुरंजित ही, उससे बहिर्भूत नहीं है। परन्तु इसमें जिन्होंने मुक्ति प्राप्त की है या मुक्तिमार्ग का अनुसरण कर रहे

हैं, उनके प्रति अनुराग की मुख्यता है, इसलिए इसे अशुभोपयोग में परिगणित न कर, उससे भिन्न बतलाया है। इनमें से अशुभोपयोग मुख्यतया मिथ्यादृष्टि के होता है और शुभोपयोग यथायोग्य सम्यग्दृष्टि के होता है। सम्यग्दृष्टि के अशुभोपयोग की गौणता है, किन्तु सम्यग्दृष्टि के मात्र शुभोपयोग ही होता हो, यह बात नहीं है; उनके शुद्धोपयोग भी होता है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि निरन्तर आत्म स्वभाव का अवलम्बन कर प्रवर्तना ही अपना प्रधान कर्तव्य समझता है। उसके अशुभ के परिहार स्वरूप शुभ प्रवृत्ति होती है, परन्तु उसे बन्ध का कारण जान हेय बुद्धि से ही वह उसमें प्रवर्तता है। **सम्यग्दृष्टि के शुभ प्रवृत्ति का होना अन्य बात है और उसके शुभप्रवृत्ति के होते हुए भी उसमें हेय बुद्धि का बना रहना अन्य बात है। सम्यग्दृष्टि मोक्ष के साक्षात् साधनभूत आत्मस्वभाव को ही उपादेय समझता है, इसलिए उसकी उसके सिवाय अन्य सब में स्वभावतः हेय बुद्धि बनी रहती है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।**

इस प्रकार शुभोपयोग क्या है और वह पुण्यभाव, व्यवहारधर्म एवं व्यवहार चारित्र रूप कैसे है यह स्पष्ट हो जाने पर अपर पक्ष की इस कल्पना का अपने आप निराश हो जाता है कि 'शुभोपयोग या शुभभाव सम्यक्त्व व चारित्र की मिश्रित अखण्ड पर्यायरूप है।'

अपर पक्ष का कहना है कि 'उस शुभभाव या व्यवहार धर्म में भी लक्ष्य या ध्येय वीतरागता एवं शुद्ध अवस्था अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति ही रहती है। पर्याय की निर्बलता के कारण वह जीव वीतरागता में स्थित नहीं हो पाता है। इस कारण उसको राग व विकल्प करने पड़ते हैं। किन्तु उस राग या विकल्प द्वारा भी वह वीतरागता को ही प्राप्त करना चाहता है।' आदि।

समाधान यह है कि सर्वप्रथम तो अपर पक्ष को यह ध्यान में लेना है कि राग या विकल्प विरुद्ध स्वभाव वाले हैं और उनसे वीतरागता विरुद्ध स्वभाव वाली है, क्योंकि राग या विकल्प का अन्वय-व्यतिरेक पर के साथ और वीतरागता का अन्वय-व्यतिरेक आत्म स्वभाव के साथ है। इसलिए सर्वप्रथम तो यह निर्णय करना आवश्यक है कि **मुझे सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय स्वरूप आत्म धर्म की प्राप्ति आत्म-स्वभाव के लक्ष्य से तत्स्वरूप परिणमन द्वारा ही होगी, राग या विकल्प द्वारा त्रिकाल में प्राप्त नहीं होगी।**

अपर पक्ष कह सकता है कि आत्म स्वभाव के लक्ष्य से तत्स्वरूप परिणमन द्वारा वीतरागता की प्राप्ति होती है, ऐसा विचार करना भी तो विकल्प ही है ? समाधान यह है कि इसमें भेद-विज्ञान की मुख्यता है और राग की गौणता है, इसलिए स्वभाव की दृढ़ता होने से यह विकल्प स्वयं छूट जाता है और आत्मा स्वभाव सन्मुख ही तत्स्वरूप परिणम जाता है।

इसी का नाम है आत्मानुभूति। यह निराकुल आत्म सुख स्वरूप होने से स्वयं वीतरागता स्वरूप है।

दूसरे अपर पक्ष ने जब कि व्यवहार धर्म में मोक्ष प्राप्ति को लक्ष्य स्वीकार किया है। ऐसी अवस्था में उस पक्ष को निर्विवाद रूप से उसके स्थान में यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि उसकी प्राप्ति का साक्षात् साधन भूतार्थ नय का विषयभूत आत्मा का आश्रय करना ही उपादेय है, अन्य सब हेय है। जैसे संसार में रहते हुए भी मोक्ष की साधना तभी होती है, जब संसार में हेय बुद्धि हो जाती है। इसी प्रकार व्यवहार धर्मरूप प्रवर्तते हुए भी जिसकी उसमें हेय बुद्धि हो जाती है वही स्वभाव के आलम्बन द्वारा तत्स्वरूप परिणमन रूप मोक्ष का अधिकारी बनता है, अन्य नहीं। **व्यवहारधर्म स्वयं आत्मा का कर्तव्य नहीं है। वह तो पुरुषार्थ हीनता का फल है।**

तीसरे अपर पक्ष ने 'उस शुभ भाव या व्यवहार धर्म में भी लक्ष्य या ध्येय, वीतरागता एवं शुद्ध अवस्था अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति ही रहती है।' यह वचन लिखकर आत्मा के पंचपरमेष्ठी विषयक या व्रतादि विषयक विकल्प को शुभ भाव या व्यवहार धर्म कहते हैं इस तथ्य को स्वयं स्वीकार कर लिया है। अतएव अपर पक्ष ने सम्यक्त्व व चारित्र की मिश्रित अखण्ड पर्याय को व्यवहार धर्म कहते हैं, इस मान्यता को छोड़कर यही स्वीकार कर लेना चाहिए कि व्रतादि रूप जीव की शुभ प्रवृत्ति या शुभ विकल्प को ही आगम में व्यवहार धर्म कहा है। वह रागानुरंजित जीव का परिणाम होने से बन्ध का ही कारण है।

यहाँ पर यह शंका होती है कि उपयोग के समान पर्याय को भी विभाव पर्याय, स्वभाव पर्याय और मिश्र पर्याय—ऐसा तीन प्रकार का मानने में आपत्ति ही क्या है ? समाधान यह है कि **जिसे चारित्र की मिश्र पर्याय कहते हैं उसमें जितना शुद्धयंश है वह स्वप्रत्यय जीव की अवस्था है, क्योंकि वह स्वभाव के लक्ष्य से अपनी प्रतिपक्षी अवस्था का नाश कर उत्पन्न हुई है और जितना अशुद्धयंश है वह स्व-पर प्रत्यय जीव की अवस्था है, क्योंकि वह पर के लक्ष्य से अपनी पूर्व प्रवृत्त विकाररूप अवस्था के अनुरूप उत्पन्न हुई है।** इसलिए शुद्धयंश का स्वभाव पर्याय में और अशुद्धयंश का विभाव पर्याय में अन्तर्भाव हो जाने के कारण हमने पर्याय को दो ही प्रकार का बतलाया है। आगम में भी पर्याय को दो ही प्रकार का बतलाया है। प्रवचनसार गाथा ९३ में गुण-पर्याय के इन भेदों को बतलाते हुए लिखा है—

सोऽपि द्विविधः-स्वभावपर्यायो विभावपर्यायश्च।

वह गुण पर्याय भी दो प्रकार की है - स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय।

आलाप पद्धति में भी लिखा है—

गुणविकाराः पर्यायाः। ते द्वेधा-स्वभाव-विभावपर्यायभेदात्।

गुण विकार का नाम पर्याय है। वे स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय के भेद से दो प्रकार की हैं।

इसी तथ्य को नयचक्रादिसंग्रह पृ. २६ आदि में स्पष्ट किया है। वहाँ लिखा है—

सब्भावं खु विहावं दव्वाणं पज्जयं जिणुद्दिट्ठं।
सव्वेसिं च सहावं विब्भावं जीव-पुग्गलाणं च॥१८॥

जिनदेव ने द्रव्यों की पर्यायें दो प्रकार की कहीं हैं - स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय। स्वभाव पर्याय सब द्रव्यों की होती हैं। विभाव पर्याय मात्र जीवों और पुद्गलों में होती हैं॥१८॥

आगे जीव में विभाव गुण पर्यायों का निर्देश करते हुए लिखा है—

मदिसुदओहीमणपज्जयं च अण्णाण तिण्णि जे भणिया।
एवं जीवस्स इमे विहावगुणपज्जया सव्वे॥२४॥

आगम में जो मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यय—ये चार ज्ञान और तीन अज्ञान कहे गये हैं, ये सब जीव की विभाव गुण पर्याय हैं॥२४॥

जीव के मिथ्यात्व व रागादि विभाव गुणपर्याय हैं यह तो स्पष्ट ही है, इसलिए उनका यहाँ उल्लेख नहीं किया।

जीव की स्वभाव गुण पर्यायों का निर्देश करते हुए वहाँ लिखा है—

णाणं दंसणं सुह वीरियं च जं उहयकम्मपरिहीणं।
तं सुद्धं जाण तुमं जीवे गुणपज्जयं सव्वं॥२६॥

जो द्रव्य-भाव दोनों प्रकार के कर्मों से रहित ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य पर्याय होती हैं, उन सबको तुम जीव की शुद्ध (स्वभाव) गुणपर्याय जानो॥२६॥

इससे स्पष्ट है कि आगम में समस्त पर्यायों का विचार दो ही प्रकार से किया गया है।

पुरुषार्थसिद्धियुपाय में जो २१२, २१३ और २१४ श्लोक लिखे हैं, उनमें बतलाया

है कि जितने अंश में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है, उतने अंश में बन्धन नहीं है और जितने अंश में राग है, उतने अंश में बन्धन है।

प्रवचनसार गाथा १८०-१८१ में लिखा है—

परिणाम से बन्ध है। जो परिणाम राग, द्वेष और मोह से युक्त है। उसमें मोह और द्वेषरूप परिणाम अशुभ है तथा शुभ और अशुभरूप राग है ॥१८०॥ इनमें से अन्य (अरिहन्तादि) के विषय में जो शुभ परिणाम होता है, उसे पुण्य कहते हैं तथा इन्द्रिय विषय आदि अन्य के विषय में जो अशुभ परिणाम होता है, उसे पाप कहते हैं और जो अन्य को लक्ष्य कर परिणाम नहीं होता है, उसे आगम में दु:ख के क्षय का कारण बतलाया है ॥१८१॥

गाथा १८१ की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र उक्त विषय को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

द्विविधस्तावत् परिणामः - परद्रव्यप्रवृत्तः स्वद्रव्यप्रवृत्तश्च। तत्र परद्रव्यप्रवृत्तः परोपरक्तत्वाद्विशिष्टः परिणामः। स्वद्रव्यप्रवृत्तस्तु परानुपरक्तत्वादविशिष्टपरिणामः। तत्रोक्तौ-द्वौ विशिष्टपरिणामस्य विशेषौशुभपरिणामोऽशुभपरिणामश्च। तत्र पुण्यपुद्गलबन्धकारणत्वात् शुभपरिणामः पुण्यम्, पापपुद्गलबन्ध कारणत्वादशुभपरिणामः पापम्। अविशिष्ट-परिणामस्य तु शुद्धत्वेनैकत्वान्नास्ति विशेषः। स काले संसार दुःखहेतुकर्मपुद्गलक्षयकारणत्वा-त्संसारदुःखहेतुकर्म-पुद्गलक्षयात्मको मोक्ष एव।।१८१।।

प्रथम तो परिणाम दो प्रकार का है- परद्रव्य प्रवृत्त और स्वद्रव्यप्रवृत्त। इनमें से पर द्रव्य प्रवृत्त परिणाम पर में उपरक्त होने से विशिष्ट परिणाम है और स्वद्रव्य प्रवृत्त परिणाम पर में उपरक्त न होने से अविशिष्ट परिणाम है। उनमें से विशिष्ट परिणाम के पूर्वोक्त दो भेद हैं - शुभ परिणाम और अशुभ परिणाम। उनमें से पुण्यरूप पुद्गल के बन्ध का कारण होने से शुभ परिणाम पुण्य है और पाप रूप पुद्गल के बन्ध का कारण होने से अशुभ परिणाम पाप है। अविशिष्ट परिणाम तो शुद्ध होने से एक है, उसमें भेद नहीं है। वह स्वकाल में संसार दु:ख के हेतुभूत कर्मपुद्गल के क्षय का कारण होने से संसार दु:ख के हेतु कर्मपुद्गल के क्षय रूप मोक्ष ही है ॥१८१॥

आचार्य जयसेन ने इसी गाथा की टीका में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न को उपस्थित कर उसका समाधान किया है। प्रश्न है कि—

नयविवक्षा में मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीणकषाय तक सभी गुणस्थानों में तो अशुद्ध

निश्चयनय होता ही है। अर्थात् अशुद्ध पर्यायुक्त जीव रहता ही है। इसलिए वहाँ अशुद्ध निश्चय में शुद्धोपयोग कैसे प्राप्त होता है। यह प्रश्न है इसका समाधान करते हुए वे लिखते हैं—

वस्त्वेकदेशपरीक्षा तावन्नयलक्षणं शुभाशुभशुद्धद्रव्यावलम्बनमुपयोगलक्षणं चेति, तेन कारणेनाशुद्धनिश्चयमध्येऽपि शुद्धात्मावलम्बनत्वात् शुद्धध्येयत्वात् शुद्धसाधकत्वाच्च शुद्धोपयोगपरिणामो लभ्यत इति नयलक्षणमुपयोगलक्षणं च यथासम्भवं सर्वत्र ज्ञातव्यम्।

वस्तु के एकदेश की परीक्षा तो नय का लक्षण है तथा शुभ, अशुभ और शुद्ध द्रव्य का अवलम्बन उपयोग का लक्षण है। इस कारण अशुद्ध निश्चय स्वरूप आत्मा के होने पर भी शुद्ध आत्मा का (शुद्ध नय का विषयभूत आत्मा का) अवलम्बन होने से; शुद्ध (चिच्चमत्कार स्वरूप त्रिकाली ज्ञायक आत्मा) ध्येय होने से तथा शुद्ध ('सम्यग्दर्शनादि स्वभावपर्यायरूप') आत्मा का साधक होने से वहाँ भी शुद्धोपयोगरूप परिणाम प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार नय के लक्षण और उपयोग के लक्षण को यथा सम्भव सर्वत्र जानना चाहिये।

इस प्रकार इतने विवेचन से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि **आगम में सर्वत्र परावलम्बी प्रशस्त राग से अनुरंजित परिणाम को ही शुभोपयोग कहा है।** सम्यक्त्व युक्त मिश्रित अखण्ड एक पर्याय को नहीं। तथा इससे यह भी ज्ञात हो जाता है कि **पुण्यभाव, व्यवहार धर्म या व्यवहार चारित्र इसी शुभोपयोग के पर्याय नाम हैं और यह परावलम्बी भाव होने से नियम से बन्ध का हेतु है।**

शुभोपयोग में वीतराग देव, वीतराग गुरु और वीतरागता का प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों का श्रद्धान, ज्ञान एवं पूजा, स्तुति, सत्कार सेवा परिणाम होता ही है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु यह परावलम्बी भाव होने से इस अवस्था में भी वह स्वावलम्बी भाव के प्रति ही आदरवान् बना रहता है। यदि वह उस अवस्था में अपने लक्ष्य को भूल जाये तो उसी समय वह नियम से मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

स्वभाव की प्राप्ति तो नियम से स्वभाव के अवलम्बन स्वरूप उपयोग के होने पर ही होती है, पर के अवलम्बन रूप उपयोग से नहीं। ऐसी श्रद्धा तो सम्यग्दृष्टि के होती ही है। फिर भी सम्यग्दर्शनादिरूप से परिणत आत्मा के सविकल्पदशा में वीतराग देवादि के प्रति भक्ति-श्रद्धारूप विकल्प का और योगप्रवृत्ति का नियम से उत्थान होता है। वह (व्यवहार धर्म) भेद विज्ञान के कारण प्राप्त शुद्धिमें क्षति नहीं कर सकता, क्योंकि उसका सहचारी भाव

है। मात्र इस अभिप्राय से उसमें निमित्त व्यवहार किया जाता है। उसे साधक कहने का यही तात्पर्य है। वह आत्मशुद्धि को उत्पन्न करता है—ऐसा अभिप्राय इससे नहीं लेना चाहिये। सम्यग्दृष्टि जीव सदा अरिहन्तादि का पूजक क्यों नहीं बना रहना चाहता, इसका कारण भी यही है। अपर पक्ष को इस दृष्टिकोण से विचार करना चाहिये। इससे वस्तुस्थिति के स्पष्ट होने में देर नहीं लगेगी। अपर पक्ष ने समाधितन्त्र का प्रमाण उपस्थित कर उस पर से यह निष्कर्ष फलित किया है कि 'भगवान् की उपासना, उपासक को भगवान् ही बना देती है।'

समाधान यह है कि यदि अपर पक्ष उस वचन का यह आशय समझता है तो वह पक्ष 'उसका भाव यह नहीं कि मैं सदा इसी प्रकार पूजक बना रहूँ।' ऐसा लिखकर भगवान् की उपासना का निषेध ही क्यों करता है? जब कि भगवान् की उपासना से ही उपासक भगवान् बन जाता है तो उसे परम ध्यान आदिरूप परिणत होने का भाव नहीं करके मात्र भगवान् की उपासना करनी चाहिए, क्योंकि उसी से वह भगवान् बन जायेगा?

यदि अपर पक्ष इसे नयवचन समझता है तो उसे समाधि शतक से उक्त वचन के उसी आशय को ग्रहण करना चाहिए जिसका प्रतिपादन उसमें किया गया है। अपर पक्ष ने इस वचन के साथ श्लोक ९८ पर दृष्टिपात किया ही होगा। इन दोनों को मिलाकर पढ़ने पर क्या तात्पर्य फलित होता है, इसके लिए समयसार कलश के इस काव्य पर दृष्टिपात कीजिए—

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः।
साध्य-साधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम्॥१५॥

साध्य-साधक भाव के भेद से दो प्रकार का एक यह ज्ञान स्वरूप आत्मा, स्वरूप की प्राप्ति के इच्छुक पुरुषों को नित्य सेवन करने योग्य है, उसका सेवन करो॥१५॥

इसका भावार्थ लिखते हुए पण्डित प्रवर राजमलजी लिखते हैं—

भावार्थ - इसौ-जु एक ही जीव द्रव्य कारण रूप तो अपुनपै ही परिणमै छै, कार्यरूप अपुनपै ही परिणवै छै। तिहितैं मोक्ष जातां कोई द्रव्यान्तर को सारो नहीं। तिहितैं शुद्धात्मानुभव कीजै।

इसका चालू हिन्दी में अनुवाद है—

भावार्थ इस प्रकार है कि एक ही जीवद्रव्य कारण रूप भी अपने में ही परिणमता है और कार्यरूप भी अपने में ही परिणमता है। इस कारण मोक्ष जाने में किसी द्रव्यान्तर का

सहारा नहीं है, इसलिए शुद्ध आत्मा का अनुभव करना चाहिये।

मोक्षप्राभृत गाथा ४८ में परमात्मा पद का अर्थ 'ज्ञानघनस्वरूप निज आत्मा है। उसका ध्यान करने से अर्थात् तत्स्वरूप हो जाने से यह जीव सब दोषों से मुक्त हो जाता है और उसके नये कर्मों का आस्रव नहीं होता।' ऐसा किया है।

अपर पक्ष ने प्रवचनसार गाथा ८० को उपस्थित कर इसका अर्थ भर दे दिया है और इसके बाद उसे स्पर्श किये बिना व्यापारी का उदाहरण देकर अपने अभिमत का समर्थन किया है। गाथा में यह कहा गया है कि जो अरिहन्त को जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है। अर्थात् अरिहन्त का ज्ञान अपने आत्मा का ज्ञान करने में निमित्त है। इसमें यह तो कहा नहीं गया है कि जो अरिहन्त के अवलम्बन से पूजा-भक्तिरूप प्रवर्तता रहता है, उसके परमात्म स्वरूप ज्ञायकभाव के अवलम्बन रूप से न प्रवर्तने पर भी मोह का समूल नाश हो जाता है। स्पष्ट है कि इस गाथा का आशय ही इतना है कि द्रव्य, गुण और पर्यायरूप से जो अरिहन्त को जान लेता है, उसे उस रूप से अपने आत्मा का ज्ञान नियम से हो जाता है। क्योंकि निश्चयनय से अरिहन्त के स्वरूप में और अपने स्वरूप में अन्तर नहीं है। जो आत्मा इस प्रकार आत्म स्वरूप को जानकर तत्स्वरूप परिणमता है उसका मोह नियम से विलय को प्राप्त होता है, यह तथ्य उक्त गाथा में प्ररूपित किया गया है। इसलिए इस पर से अपर पक्ष ने जो आशय लिया है, वह ठीक नहीं है।

अपर पक्ष ने व्यापार का उदाहरण उपस्थित किया है, किन्तु उससे भी यही सिद्ध होता है कि राग, द्वेष, मोहरूप परिणमन आत्मा की हानि है, उससे आत्म लाभ होना सम्भव नहीं है।

समयसार गाथा १२ में यह नहीं कहा गया है कि व्यवहार धर्म से परमार्थ की प्राप्ति होती है, अत: इससे भी अपर पक्ष के अभिप्राय का समर्थन नहीं होता। अपर पक्ष ने यहाँ जो उक्त गाथा का भावार्थ उद्धृत किया है, उसका आशय स्पष्ट है। **यथापदवी व्यवहार प्रयोजनवान् है, इसका निषेध नहीं। निषेध यदि किसी बात का है तो व्यवहार के अवलम्बन से परमार्थ की प्राप्ति होती है इसका, क्योंकि व्यवहार कर्मस्वभाव वाला है और परमार्थ ज्ञानस्वभाव वाला है, अत: परावलम्बी कर्मस्वभाव वाले व्यवहार से स्वावलम्बी ज्ञानस्वभाव वाले परमार्थ की प्राप्ति त्रिकाल में होना सम्भव नहीं है।** इससे स्पष्ट है कि जब सम्यग्दृष्टि का व्यवहार धर्म निश्चय धर्म का यथार्थ साधन नहीं, ऐसी अवस्था में मिथ्यादृष्टि का व्यवहार निश्चय धर्म की प्राप्ति का यथार्थ साधन कैसे हो सकता है।

'**जइ जिणमयं पवज्जह**' इस गाथा में दोनों नयों को स्वीकार करने की बात कही गई है। उसका आशय यह है कि यदि व्यवहार नय को नहीं स्वीकार किया जायेगा तो गुणस्थान भेद और मार्गणास्थान भेद आदि नहीं बनेगा और निश्चय नय को नहीं स्वीकार किया जायेगा तो तत्त्व की व्यवस्था नहीं बन सकेगी। इसमें यह कहाँ कहा गया है कि व्यवहार धर्म के बगैर निश्चय धर्म की प्राप्ति नहीं होती। गाथा में कोई दूसरी बात कही गई हो और उससे दूसरा अभिप्राय फलित करना, यह कहाँ तक ठीक है इसका अपर पक्ष स्वयं विचार करे।

अपर पक्ष ने मिष्ठान्न का उदाहरण दिया है सो इस उदाहरण से हमारे पक्ष का ही समर्थन होता है, क्योंकि जैसे मिष्ठान्न के स्वाद की इच्छावाला व्यक्ति मिष्ठान्न का ही अवलम्बन करेगा, आम का नहीं; उसी प्रकार आत्मानुभूति का इच्छुक व्यक्ति आत्मा का ही अवलम्बन करेगा, अन्य का नहीं। **इसीलिए तो आगम कहता है कि परावलम्बी व्यवहार धर्म से स्वावलम्बी आत्म धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती।**

अनादि भेदवासित बुद्धि वाले के लिए भेदनय का अवलम्बन लेकर श्रद्धान क्या है और श्रद्धान करने योग्य क्या है यह जानकर आत्मा के अवलम्बन से मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होना चाहिये, यह तथ्य आचार्य अमृतचन्द्र ने '**अनादिभेदवासितबुद्धयः**' इस वचन द्वारा स्पष्ट किया है। इसमें व्यवहार धर्म से निश्चय धर्म की प्राप्ति होती है, यह नहीं कहा गया है। हम पहले समयसार कलश १५ का '**एष ज्ञानघनो**' इत्यादि वचन उद्धृत कर आये हैं। उसी तथ्य को यहाँ दूसरे शब्दों में स्पष्ट किया है। अनादि भेदवासित बुद्धि वालों को दूसरे प्रकार से मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है और दूसरों को दूसरे प्रकार से उसकी प्राप्ति होती है—ऐसा नहीं है। चाहे अनादि मिथ्यादृष्टि हो या सादि मिथ्यादृष्टि, जैसे इन्हें प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करने का एक ही मार्ग है, वैसे ही मोक्षमार्ग को प्राप्त करने का एक ही मार्ग है– पर से भिन्न स्व को जानकर उसका अवलम्बन करना, मोक्षमार्ग को प्राप्त करने या उसमें उत्तरोत्तर विशुद्धि प्राप्त करने की अन्य समस्त क्रिया उसी आधार पर होती है।

पंचाध्यायी पृ. २६७ के भावार्थ का यह आशय तो है नहीं कि अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति होने मात्र से निश्चय धर्म की प्राप्ति हो जाती है। क्या ऐसा है कि कोई व्यक्ति २८ मूलगुणों का अच्छी तरह से पालन कर रहा है, इसलिये उसे अध:करण आदि तीन करण परिणाम किये बिना निश्चय सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जावेगी? यदि नहीं तो व्यवहार धर्म से निश्चय धर्म की प्राप्ति होती है ऐसा करने की उपयोगिता ही क्या रह जाती है, इसका अपर

पक्ष स्वयं विचार करे। यहाँ यह उदाहरण अनादि मिथ्यादृष्टि और जिसका वेदक काल व्यतीत हो गया है – ऐसे सादि मिथ्यादृष्टि को लक्ष्य में रखकर उपस्थित किया है। स्पष्ट है कि **निश्चय धर्म की प्राप्ति के समय परावलम्बी व्यवहारधर्म रूप विकल्प छूट कर स्व का अवलम्बन होना आवश्यक है।** समयसार गाथा १४५ में जीव के शुभभाव को व्यवहारनय से मोक्षमार्ग बतलाया है, परन्तु बन्धमार्ग के आश्रित होने से वहीं शुभ और अशुभ दोनों को एक कर्म कहा है।

अपर पक्ष ने यहाँ पं. जयचन्द्रजी के अनुवाद से और दिल्ली संस्करण से जो वचन उद्धृत किये हैं, वे अधूरे हैं। भ्रम का निरास करने के लिये यहाँ हम उन्हें पूरा दे रहे हैं – **'शुभ अथवा अशुभ मोक्ष का और बन्ध का मार्ग—ये दोनों प्रथक् हैं, केवल जीवमय तो मोक्ष का मार्ग है और केवल पुद्‌गलमय बन्ध का मार्ग है। वे अनेक हैं एक नहीं हैं, उनके एक न होने पर भी केवल पुद्‌गलमय बन्धमार्ग की आश्रितता के कारण आश्रय के अभेद से कर्म एक ही है।'**

अपर पक्ष ने प्रवचनसार की आचार्य जयसेन कृत—टीका से 'तं देवदेवदेवं' यह गाथा उद्धृत की है। इसके आशय को स्पष्ट करते हुए स्वयं आचार्य जयसेन लिखते हैं—

ते तदाराधनफलेन परम्परयाक्षयानन्तसौख्यं यान्ति लभन्त इति सूत्रार्थः।

वे उनकी आराधना के फलस्वरूप परम्परा अक्षयानन्त सुख को प्राप्ति करते हैं, यह उक्त गाथा का अर्थ है।

इससे यह व्यवहार (उपचार) नय वचन है, यह सुतरां सिद्ध है।

मोक्षप्राभृत की ८२वीं गाथा में व्यवहार और निश्चय दोनों का निरूपण है। यही तथ्य उसकी ५२वीं गाथा में स्पष्ट किया गया है। सो इसका कौन निषेध करता है। मोक्षमार्गी जीव की सविकल्प दशा में क्या परिणति होती है और निर्विकल्प दशा में क्या परिणति होती है, यह हमने अनेक बार स्पष्ट किया है। अपर पक्ष यदि यह कहना त्याग दे कि व्यवहार धर्म से निश्चय धर्म की प्राप्ति होती है तो विवाद ही समाप्त हो जाये। मोक्षमार्गी के व्यवहार धर्म होता ही नहीं, यह तो हमारा कहना है नहीं। ऐसी अवस्था में वह इन प्रमाणों को उपस्थित कर क्या प्रयोजन साधना चाहता है, यह हम नहीं समझ सके।

अपर पक्ष ने रयणसार और मूलाचार की भी कतिपय गाथायें उपस्थित की हैं। उनमें भी पूर्वोक्त तथ्य को ही स्पष्ट किया गया है। नियम यह है कि **निश्चयनय यथार्थ का निरूपण**

करता है और व्यवहारनय अन्य के कार्य को अन्य का कहता है। इन लक्षणों को ध्यान में रखकर उक्त सभी गाथाओं के अभिप्राय को स्पष्ट कर लेना चाहिये। जिन गाथाओं में जिनके अन्तरंग गुणों का निर्देश है वह निश्चय कथन है।

धवला पु. १, पृ. ३०२ के वचन का यह आशय है कि सम्यग्दृष्टि के द्वादशांग में श्रद्धा नियम से होती है। इसलिए यहाँ द्वादशांग भक्ति को ही व्यवहार से संसार विच्छेद का कारण कहा गया है।

परमात्म प्रकाश में सम्यग्दृष्टि के देव-गुरु-शास्त्र विषयक सम्यक् श्रद्धा का निर्देश किया गया है। यह सम्यक्त्व का बाह्य लक्षण है। इससे अन्तरंग की पहिचान होती है। इसलिए **जिसको सच्चे देव, २८ मूल गुणों का समग्र भाव से पालन करने वाले वीतराग गुरु और वीतराग वाणी में श्रद्धा-भक्ति नहीं है, वह अन्तरंग में सम्यग्दृष्टि न होने से मोक्ष का पात्र नहीं हो सकता। यह कथन यथार्थ है।**

अपर पक्ष यदि परमात्मप्रकाश के इस कथन पर सम्यक् प्रकार से दृष्टिपात करे तो उसका हम स्वागत ही करेंगे।

आचार्य समन्तभद्र ने स्तुतिविद्या में सम्यग्दृष्टि की जिनदेव में कैसी भक्ति होनी चाहिए, उसे ही स्पष्ट किया है। पद्मपुराण, उपासकाध्ययन और पद्मनन्दिपंचविंशतिका के वचनों का भी यही आशय है। **इसमें सन्देह नहीं कि यथार्थ व्यवहार क्या है और उसका क्या आशय है, इसे सम्यग्दृष्टि ही जानता है।**

अपर पक्ष ने प्रवचनसार गाथा २१७ उपस्थित कर उससे व्यवहार धर्म का समर्थन किया है। किन्तु इस गाथा का यथार्थ आशय समझने के लिए उसकी टीका पर दृष्टिपात करने की आवश्यकता है। आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

अशुद्धोपयोगोऽन्तरंगच्छेदः परप्राणव्यपरोपो बहिरंगः। तत्र प्राणव्यपरोपसद्भावे तदसद्भावे वा तदविनाभाविनाप्रयताचारेण प्रसिद्ध्यदशुद्धोपयोगसद्भावस्य सुनिश्चित-हिंसाभावप्रसिद्धेः। तथा तद्विना भाविना प्रयताचारेण प्रसिद्ध्यदशुद्धोपयोगा-सद्भावपरस्य परप्राणव्यपरोपसद्भावेऽपि बन्धाप्रसिद्ध्या सुनिश्चितहिंसाऽभाव-प्रसिद्धेश्चान्तरंग एव छेदी बलीयान् न पुनर्बहिरंगः। एवमप्यन्तरंगच्छेदायतनमात्रत्वाद् बहिरंगच्छेदोऽभ्युपगम्यैतैव॥२१७॥

अशुद्धोपयोग अन्तरंग छेद है, परप्राणों का विच्छेद बहिरंग छेद है। किन्तु वहाँ जिसके

अशुद्धोपयोग का अविनाभावी अप्रयत आचार से प्रसिद्ध होने वाला अशुद्धोपयोग का सद्भाव है, उसके परप्राणों का विच्छेद होने पर या न होने पर दोनों अवस्थाओं में, हिंसाभाव की प्रसिद्धि सुनिश्चित है। तथा जिसके अशुद्धोपयोग के बिना होने वाले प्रयत आचार से प्रसिद्ध होने वाला अशुद्धोपयोग का असद्भाव पाया जाता है, उसके परप्राणों का विच्छेद होने पर भी, बन्ध की अप्रसिद्धि होने से हिंसा के अभाव की प्रसिद्धि सुनिश्चित है। इससे स्पष्ट है कि अन्तरंग छेद ही बलवान् है, बहिरंगच्छेद बलवान् नहीं है। ऐसा होने पर भी अन्तरंग छेद का आयतन मात्र होने से बहिरंग छेद को स्वीकार करना ही चाहिए।

स्पष्ट है कि इस गाथा द्वारा अशुद्धोपयोग मात्र का निषेध कर शुद्धोपयोग की प्रसिद्धि की गई है, क्योंकि शुद्धोपयोग बन्ध का कारण न होकर स्वयं संवर-निर्जरा स्वरूप है। समिति निश्चय स्वरूप भी होती है और व्यवहार स्वरूप भी। यहाँ निश्चय समिति बन्ध का कारण नहीं है, यह दिखलाकर उसकी महत्ता प्रस्थापित की गई है—यह उक्त कथन का तात्पर्य है। मालूम पड़ता है कि अपर पक्ष ने इस गाथा के पूरे आशय को ध्यान में न लेकर ही यहाँ उसे अपने पक्ष के समर्थन में उपस्थित किया है। हमें विश्वास है कि वह पक्ष वहीं गाथा २१६ की आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीका के इस वचन पर दृष्टिपात कर लेगा—

अशुद्धोपयोगो हि छेदः, शुद्धोपयोगरूपस्य श्रामण्यस्य छेदनात्। तस्य हिंसनात् स एव च हिंसा।

अशुद्धोपयोग ही छेद है, क्योंकि उससे शुद्धोपयोगस्वरूप श्रमणपने (मुनिपने) का छेद होता है और उसकी हिंसा (छेद) होने से वही हिंसा है।

इससे जहाँ यह ज्ञात होता है कि **वास्तव में शुद्धोपयोगरूप वर्तना ही मुनिपना है, अन्तरंग में आत्मशुद्धिरूप निर्मलता के सद्भाव में भी शुभोपयोग की अपेक्षा मुनिपना कहना—यह उपचार कथन है,** जिसे उसका आयतन होने से स्वीकार करना चाहिये। वहाँ यह भी ज्ञात होता है कि परमागम में यथार्थ अहिंसा वीतराग परिणाम को ही स्वीकार किया गया है, रागपरिणाम को नहीं। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में हिंसा और अहिंसा का विवेक कराते हुए जिनागम के सार को बड़े ही प्रांजल शब्दों में स्पष्ट करते हुए लिखा है—

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥४४॥

यथार्थ में रागादि भावों का उत्पन्न न होना अहिंसा है और उन्हीं रागादि भावों की उत्पत्ति हिंसा है, यह जिनागम का सार है।।४४।।

यत: शुभभाव प्रशस्त रागभाव रूप है, अत: वह बन्ध का ही कारण है—ऐसा निश्चय करना ही जिनमार्ग की यथार्थ श्रद्धा है।

यहाँ पर कोई कह सकता है कि यदि शुभभाव, शुभोपयोग, व्यवहारधर्म या व्यवहार रत्नत्रय बन्ध का हेतु है तो उसका जिनागम में उपदेश क्यों दिया गया है? समाधान यह है कि—

१. एक तो अशुभ से निवृत्तिरूप प्रयोजन को ध्यान में रखकर उसका उपदेश दिया गया है। शुभ में प्रवृत्त रहने से ही परमार्थ की प्राप्ति हो जायेगी—इस दृष्टि से उस का उपदेश नहीं दिया गया है।

२. दूसरे जिसे आत्मा का निर्मल अनुभूतिमूलक भेदविज्ञान उत्पन्न हुआ है, ऐसे जीव की संयमासंयम अथवा संयम आदि रूप आगे की शुद्धि का ज्ञान कराने के हेतु आगम में ऐसा कथन आया है कि जो अणुव्रत आदि १२ व्रतों का अथवा महाव्रत आदि २८ मूलगुणों का पालन करता है, वह देश संयमी अथवा सकल संयमी है। आगम के इस कथन का आशय यह है कि दो कषाय या तीन कषाय के अभाव स्वरूप जिस शुद्धि के सद्भाव में उसके साथ-साथ अणुव्रत या महाव्रतादि के शुभभाव बिना हट होते हैं; बिना हट सहज रूप से होने वाले उन भावों से अकषाय रूप भीतरी शुद्धि का संकेत मिलता है। आगम में महाव्रत अंगीकार करो, समिति-गुप्ति का पालन करो इत्यादि रूप से जो व्यवहार का उपदेश उपलब्ध होता है, उसका यही आशय है कि जिस अकषायरूप शुद्धि के साथ-साथ बिना हट उक्त प्रकार के विकल्प होते हैं उस शुद्धि को ग्रहण करो, स्वात्मावलम्बी पुरुषार्थ से उक्त शुद्धि को प्राप्त करो। इस प्रकार इस प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर आगम में व्यवहार का उपदेश दिया गया है।

३. तीसरे असमग्र रत्नत्रय की अवस्था रूप से ज्ञानी के वर्तते समय उपयोग की अस्थिरतावश ज्ञान का परिणाम और योगप्रवृत्ति कैसी होती है, इसका सम्यक् ज्ञान कराने के लिए भी जिनागम में व्यवहाररत्नत्रय का उपदेश दिया गया है।

परमागम में व्यवहार धर्म की प्ररूपणा के—ये तीन मुख्य प्रयोजन हैं। इन्हें यथावत् रूप से जानता हुआ ही ज्ञानी सविकल्प दशा के होने पर वर्तता है, इसलिए उसके प्रवृत्ति में

व्यवहार धर्म के होने पर भी निश्चय धर्म को क्षति नहीं पहुँचती। ज्ञानी के निश्चय-व्यवहार नय में साध्य-साधनभाव इसी दृष्टि से बनता है; अन्य प्रकार से नहीं।

अपर पक्ष ने श्रावकों और मुनियों के जिन आवश्यक कर्मों का निर्देश किया है वे निश्चयरूप भी हैं और व्यवहाररूप भी।

नियमसार में इनका स्पष्ट निर्देश किया है। निश्चय प्रतिक्रमण का स्वरूप निर्देश करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द वहाँ लिखते हैं—

मोत्तूण वयणरयणं रागादीभाववारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि तस्स दु होदि त्ति पडिकमणं॥८३॥

वचन रचना को छोड़कर तथा रागादि भावों का वारण कर जो आत्मा को ध्याता है, उसके प्रतिक्रमण होता है॥८३॥

यह निश्चय प्रतिक्रमण का स्वरूप है। आचार्य निश्चय आवश्यक का स्पष्टीकरण करते हुए गाथा १४३-१४४ में बतलाते हैं कि जो श्रमण अशुभ भाव सहित वर्तता है वह अन्यवश (पराधीन) श्रमण कहलाता है, इसलिये उसके तो आवश्यकरूप कर्म होता ही नहीं। किन्तु जो श्रमण नियम में शुभ भाव से वर्तता है वह भी अन्यवश श्रमण है, इसलिये उसके भी आवश्यक कर्म नहीं होता।

यह उक्त दोनों गाथाओं का आशय है। इससे यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि **जहाँ निश्चयधर्म होता है, वहीं प्रशस्त रागादिरूप परिणाम में व्यवहार धर्म का उपचार किया जाता है। निश्चय धर्म यथार्थ धर्म है और व्यवहार धर्म उपचार धर्म है।**

अपर पक्ष का कहना है कि 'जिन आगम में गृहस्थों के लिये देवपूजा, गुरूपास्ति तथा दान और मुनियों के लिये स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान आदि रूप व्यवहार धर्म नित्य षडावश्यक कार्यों में गर्भित किया है। यदि यह कार्य मात्र बन्ध के ही कारण हैं तो क्या महर्षियों ने बन्ध कराने और संसार में डुबाने को उपदेश दिया है। ऐसा कभी सम्भव नहीं हो सकता है। इनको इसी कारण आवश्यक बतलाया है कि इनसे मोक्ष प्राप्ति होती है।'

समाधान स्वरूप सर्वप्रथम तो हमारा कहना यह है कि वस्तु विचार के समय यदि अपर पक्ष ऐसे तर्क को उपस्थित नहीं करता तो यथार्थ के निर्णय करने में अनुकूलता होती। ऐसे तर्क श्रद्धालु जीवों की भावना को उद्वेलित करने के लिए ही दिये जाते हैं, इसलिए ये यथार्थ का निर्णय करने में सहायक नहीं हुआ करते।

अब रही यह बात कि आचार्यों ने इनका उपदेश क्यों दिया है सो इस प्रश्न का समाधान हम इसी उत्तर में पहले कर आये हैं।

परमार्थरूप मोक्ष हेतु के सिवाय अन्य जितना कर्म है, उसका प्रतिषेध करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द समयसार में लिखते हैं—

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ॥१५६॥

निश्चयनय के विषय को छोड़कर विद्वान् व्यवहार रूप से प्रवर्तते हैं, परन्तु परमार्थ के आश्रित यतियों के ही कर्मों का नाश आगम में कहा गया है॥१५६॥

उक्त गाथा की उत्थानिका में आचार्य जयसेन लिखते हैं—

अथ निश्चयमोक्षमार्गहेतोः शुद्धात्मस्वरूपाद् यदन्यच्छुभाशुभमनो-वचन-काय-व्यापाररूपं कर्मतन्मोक्षमार्गो न भवति इति प्रतिपादयति।

अब निश्चय मोक्षमार्ग के हेतु शुद्धात्म स्वरूप से अन्य जो शुभ और अशुभ मन,वचन, काय के व्यापाररूप कर्म है, वह मोक्षमार्ग नहीं है यह बतलाते हैं।

व्रत, तप आदि शुभोपयोग या व्यवहार धर्म यथार्थ मोक्षमार्ग क्यों नहीं है। इसका स्पष्टीकरण उक्त गाथा की टीका में दोनों आचार्यों ने स्पष्ट किया है। आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

यः खलु परमार्थमोक्षहेतोरतिरिक्तो व्रत-तपःप्रभृतिशुभकर्मात्मा केषांचिन्मोक्षहेतुः स सर्वोऽपि प्रतिषिद्धः, तस्य द्रव्यान्तरस्वभावत्वात् तत्स्वभावेन ज्ञानभवनस्याभवनात्। परमार्थमोक्षहेतोरेवैकद्रव्यस्वभावत्वात् तत्स्वभावेन ज्ञानभवनस्य भवनात्॥१५६॥

कुछ लोग परमार्थ रूप मोक्ष हेतु से भिन्न जो व्रत, तप इत्यादि शुभ कर्मस्वरूप मोक्षहेतु मानते हैं, उस समस्त ही का निषेध किया है, क्योंकि वह अन्य द्रव्य के स्वभाव का (पुद्गल स्वभाववाला) है, इसलिए उस रूप से ज्ञान का होना नहीं बनता। मात्र परमार्थ मोक्ष हेतु ही एक द्रव्य के स्वभाववाला है, इसलिए उस रूप से ज्ञान का होना बनता है॥१५६॥

ये कतिपय प्रमाण हैं, जिनसे व्यवहार धर्म के स्वरूप पर यथार्थ प्रकाश पड़ता है। अपर पक्ष ने सम्यक्त्व व चारित्र की मिश्रित अखण्ड पर्याय का नाम व्यवहार धर्म रखा है। इस कारण वह पक्ष व्यवहार धर्म को बन्ध स्वरूप और बन्ध का कारण स्वीकार करने में

अड़चन देख रहा है, इसे हम अच्छी तरह से समझ रहे हैं। किन्तु कहाँ किस परिणाम का क्या फल है, यदि यह बतलाया जाता है तो उसका अर्थ संसार में घुमाना या संसार में डुबाना नहीं होता है। बल्कि ज्ञानी उससे यही आशय ग्रहण करता है कि मुझे यह विकल्प की भूमिका भी त्यागने योग्य है। **विकल्प में है और उसे छोड़ने का पुरुषार्थ करता है, यह भी तो ज्ञान की ही महिमा है।**

अपर पक्ष का कहना है कि 'अत: इससे बन्ध होते हुए भी यह रागांश संसार का कारण नहीं हो सकता है।' समाधान यह है कि आस्रव और बन्ध इन्हीं का नाम तो संसार है। **राग में जितने काल अटका है, उतने काल तो संसार है ही। इसे संसार स्वीकार न करने में लाभ ही क्या ?** एक रागपरिणाम का वह माहात्म्य है कि उसके फलस्वरूप यह जीव कुछ कम अर्ध पुद्गलपरिवर्तन काल तक आस्रव-बन्ध की परम्परा में रचता-पचता रहता है। जिसका जो स्वरूप है, उसे स्वीकार करने में हानि नहीं; लाभ है। अन्यथा विवेक का उदय होना असम्भव है। **ज्ञानी के राग में उपादेय बुद्धि नहीं होती, यह भेदविज्ञान का माहात्म्य है; व्यवहारधर्म का नहीं है।**

अज्ञानी भी स्वर्ग जाता है और ज्ञानी भी पुरुषार्थ हीनतावश स्वर्ग जाता है। वहाँ से च्युत होकर दोनों ही राजपुत्र होते हैं। धर्मोपदेश भी सुनते हैं आदि। क्या कारण है कि ज्ञानी उसी भव से मोक्ष जाता है, अज्ञानी नहीं। इससे स्पष्ट है कि बाह्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव न मोक्ष दिलाते हैं और न संसार ही। **अपने अज्ञान का फल संसार है और अपने ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन का फल मोक्ष है।** यही परमार्थ सत् है। बाह्य द्रव्यादि निमित्त हैं, यह तो व्यवहार है।

इस प्रकार इतने विवेचन से यह स्पष्ट हुआ कि पर्यायें विभाव और स्वभाव के भेद से मुख्यतया दो ही प्रकार की हैं तथा उपयोग शुभ, अशुभ और शुद्ध के भेद से तीन प्रकार का है। उनमें से शुभोपयोग एक तो प्रशस्त रागरूप होता है, दूसरा अनुकम्पा परिणामरूप होता है और तीसरा चित्त में क्रोधादि कलुष परिणाम के अभावरूप होता है। यह तीनों प्रकार का उपयोग प्रशस्त विषयक शुभराग से अनुरंजित होता है, इसलिए यह स्वयं आस्रव-बन्धस्वरूप होने से बन्ध का कारण भी है।

पंचास्तिकाय गा. ८५ की टीका में आचार्य जयसेन ने 'गतिपरिणत जीवों और पुद्गलों की गति में धर्मद्रव्य की निमित्तता का समर्थन करने के अभिप्राय से 'निदानरहित-परिणामोपार्जित' इत्यादि वचन लिखा है। सो इसका आशय इतना ही है कि जो जीव स्वभाव

सन्मुख होकर अपने में आत्म कार्य की प्रसिद्धि करता है, उसके पुण्य रूप द्रव्य कर्म में निमित्तता का व्यवहार ऐसे ही किया जाता है जैसे गतिकार्य की अपेक्षा धर्म द्रव्य में निमित्तता का व्यवहार होता है।' **न धर्म द्रव्य गति का कर्त्ता है और न पुण्य कर्म ही मोक्ष का कर्त्ता है,** यह उक्त कथन का तात्पर्य है। ज्ञानी के मोक्ष कार्य के सम्पादन के समय बाह्य परिकर कैसे होता है, यह उक्त वचन द्वारा प्रसिद्ध किया गया है।

3. अन्य कतिपय प्रश्नों का समाधान

१. अपर पक्ष ने प्रवचनसार गाथा ४५ की चर्चा करते हुए लिखा है कि 'यदि पुण्य का अर्थ भाव पुण्य लिया जाये तो श्री समयसार गाथा १२ आदि उपर्युक्त प्रमाणों से यह सिद्ध ही हो जाता है कि पुण्य भाव (व्यवहार धर्म) से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है।' आदि।

समाधान यह है कि हम पहले ही शुभोपयोग अपर नाम व्यवहार धर्म का खुलासा कर आये हैं। उससे स्पष्ट है कि बारहवें गुणस्थान में जिसे आगम में व्यवहार धर्म कहा गया है, वह होता ही नहीं। **परावलम्बी प्रवृत्तिरूप व्यवहार धर्म छठे गुणस्थान तक ही होता है।** उसके आगे कषाय लेश का सद्भाव होने से कारण की अपेक्षा नौवें गुणस्थान तक भेदरूप छेदोपस्थापना संयम का निर्देश किया गया है। अतएव १२वें गुणस्थान में पुण्यभाव की कल्पना करना और उससे केवलज्ञान की उत्पत्ति बतलाना उचित नहीं है। पण्डित प्रवर आशाधर जी अनगार धर्मामृत अ. १, श्लोक ११० की टीका में लिखते हैं—

तदनन्तरमप्रमत्तादिक्षीणकषायपर्यन्तं जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन विवक्षितैकदेशेन शुद्धनयरूप शुद्धोपयोगो वर्तते।

तदनन्तर अप्रमत्त आदि क्षीण कषाय पर्यन्त गुणस्थानों में जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से विवक्षित एक देशरूप से शुद्ध नय रूप शुद्धोपयोग वर्तता है।

यहाँ 'विवक्षितैकदेशेन' पद का आशय यह है कि ७वें से लेकर १२वें गुणस्थान तक इस जीव के शुद्धनय के विषयभूत एकमात्र त्रिकाली ज्ञायकभाव का अवलम्बन होकर तस्वरूप परिणमन द्वारा शुद्धनय रूप शुद्धोपयोग वर्तता है।

अतएव १२वें गुणस्थान के अन्तिम समय के योग्य निश्चय रत्नत्रय परिणत आत्मा ही केवलज्ञान को उत्पन्न करता है, बन्ध स्वरूप व्यवहार धर्म नहीं—ऐसा यहाँ निश्चय करना चाहिए।

अपर पक्ष ने इससे पूर्ववर्ती प्रतिशंका में लिखा है – 'निश्चयधर्म या शुद्धोपयोग यदि

फल है तो शुभोपयोग उसका पूर्ववर्ती पुण्य है।' इससे भी स्पष्ट है कि अपर पक्ष भी स्वयं शुद्धोपयोगरूप निश्चय धर्म के पूर्व छठे गुणस्थान तक शुभोपयोग या व्यवहारधर्म स्वीकार कर चुका है। अतएव अपरपक्ष के मतानुसार शुभोपयोग रूप व्यवहारधर्म १२वें गुणस्थान में नहीं बन सकने के कारण व्यवहारधर्म से केवलज्ञान की उत्पत्ति बतलाना सर्वथा आगम विरुद्ध है।

वैसे अपर पक्ष ने पिछली प्रतिशंका में ७वें गुणस्थान तक शुभोपयोग स्वीकार किया है। किन्तु पूर्वोक्त आगम प्रमाण से स्पष्ट है कि ७वें गुणस्थान में शुभोपयोग न होकर शुद्धोपयोग ही होता है।

अप्रमत्त गुणस्थान के दो भेद हैं- स्वस्थान अप्रमत्त और सातिशय अप्रमत्त। वहाँ श्रेणि आरोहण के पूर्व जीव के धर्मध्यान होता है और श्रेणि में शुक्ल ध्यान होता है—ऐसा आगम का अभिप्राय है। सर्वार्थसिद्धि अ. ९, सू. ३७ में लिखा है—

श्रेण्यारोहणात्प्राक् धर्म्यं, श्रेण्योः शुक्ले...।

श्रेणि के आरोहण के पूर्व धर्मध्यान होता है और दोनों श्रेणियों में दोनों शुक्लध्यान होते हैं।

इसी तथ्य को तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ओर तत्त्वार्थवार्तिक में उक्त सूत्र की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया गया है।

इसलिए प्रश्न होता है कि सातवें गुणस्थान में भी स्वस्थान अप्रमत्त के शुभोपयोग होना चाहिए? किन्तु वस्तुस्थिति यह नहीं है, क्योंकि **धर्म्यध्यान शुभोपयोगरूप ही होता है -ऐसा एकान्त नियम नहीं है। वह रागादि विकल्प रहित आत्मानुभूतिरूप भी होता है और वीतराग देवादि, अणुव्रत-महाव्रतादि तथा परजीव विषयक अनुकम्पा आदि रागविकल्प रूप भी होता है।** इनमें से रागादि विकल्प रूप धर्म्यध्यान मुख्यतया चतुर्थादि तीन गुणस्थानों में होता है और रागादि विकल्प रहित धर्म्यध्यान स्वस्थान अप्रमत्त संयत के होता है। इसी तथ्य को आचार्य जयसेन ने पंचास्तिकाय गाथा १३६ की टीका में '**रागादिविकल्परहितधर्म-ध्यानशुक्लध्यानद्वयेन**'—रागादि विकल्प रहित धर्मध्यान और शुक्लध्यान इन दो के द्वारा - इन शब्दों द्वारा स्पष्ट किया है। स्पष्ट है कि ७वें गुणस्थान में स्वस्थान अप्रमत्त के धर्मध्यान होकर भी, वह शुद्धोपयोग रूप ही होता है। अपेक्षा विशेष से चतुर्थादि गुणस्थानों में भी क्वचित् कदाचित् शुद्धोपयोग की व्यवस्था बन जाती है। आगम प्रमाणों का उल्लेख अन्यत्र किया ही है।

समयसार गाथा १२ की टीका में, रागादि विकल्प से परिणत जीव के लिए व्यवहार नय प्रयोजनवान् है, अशुद्ध सोने के समान। इसी का नाम अपरमभाव में स्थित है। ऐसे जीव के लिए व्रतादि का पालन करना, वीतराग देवादि की स्तुति आदि करना, वीतराग मार्ग की प्ररूपक जिनवाणी सुनना प्रयोजनवान् है। किन्तु जो १६ वर्णिक शुद्ध सोने के समान अभेद रत्नत्रय स्वरूप परमात्म तत्त्व के अनुभवन में निरत हैं, उनके लिए व्यवहारनय कुछ भी प्रयोजनवान् नहीं है – यह कहा गया है। इसका अर्थ यह कहाँ हुआ कि '१२वें गुणस्थान में शुभोपयोग होता है, अत: पुण्यभाव से केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है?' अपर पक्ष ने उक्त गाथा और उसकी टीकाओं से यह अर्थ कैसे फलित कर लिया, इसका हमें आश्चर्य है। ज्ञानी जीव को अशुद्ध आत्मा का अनुभव होना कहाँ तक सम्भव है? इसका भी तो उस पक्ष को विचार करना था। छठे गुणस्थान के आगे १२वें गुणस्थान तक एकमात्र शुद्धनय-शुद्धात्मानुभूति रूप शुद्धोपयोग ही होता है, अत: केवलज्ञान की उत्पत्ति शुभाचार से न होकर शुद्धात्मानुभूति परिणत आत्मा ही उसमें प्रगाढ़ता करके केवलज्ञान को उत्पन्न करता है—ऐसा यहाँ निर्णय करना चाहिए।

२. प्रवचनसार गाथा ४५ की दोनों टीकाओं पर दृष्टिपात करने से विदित तो यही होता है कि यहाँ 'पुण्य' पद द्रव्यकर्म के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आचार्य जयसेन '**पुण्यफला अरहंता**' पद की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

पञ्चमहाकल्याणकपूजाजनकं त्रैलोक्यविजयकरं यत्तीर्थकरनाम पुण्यकर्म तत्फलभूता अर्हन्ता भवन्ति।

पञ्चमहाकल्याणक पूजा का जनक और तीन लोक की विजय करने वाला जो तीर्थंकर नामक पुण्यकर्म है, उसके फलस्वरूप अरिहन्त होते हैं।

अपर पक्ष ने प्रस्तुत प्रतिशंका में इसका थोड़ा-सा स्पष्टीकरण अवश्य किया है। किन्तु मूल शंका जिस अभिप्राय से की गई थी, उससे तो यह भाव प्रगट नहीं होता था। ऐसा मालूम पड़ता था कि अपर पक्ष केवलज्ञानकी प्राप्ति भी द्रव्य पुण्यकर्म या शुभाचार का फल मानता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर हमने जो लिखा था उसका आशय यह है कि यदि अरिहन्त पद की प्राप्ति यथार्थ में पुण्यकर्म का फल माना जाये तो आगम में '**मोहक्षयाज्ज्ञान-दर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्**' (त.सू. १०-१) इस वचन की कोई उपयोगिता नहीं रह जायेगी।

प्रश्न १५ के उत्तर में हमने इस सूत्र पर न तो कोई आपत्ति डाली है और न आपत्ति डाली ही जा सकती है। किसी वाक्य या सूत्र का आशय स्पष्ट करना, इसे आपत्ति डालना नहीं कहते। प्रकृत प्रतिशंका में अपर पक्ष ने 'तीन लोक का अधिपतित्व' इस वाक्य के आशय को स्पष्ट किया है। तो क्या इसे उस वाक्य पर आपत्ति डालना कहा जायेगा। यह समग्र तत्त्वचर्चा जिनागम का निश्चय-व्यवहार आदि के विषय में आशय स्पष्ट करने के अभिप्राय से की जा रही है तो क्या इसे जिनागम पर आपत्ति डालना कहा जायेगा ? इस प्रश्न का उत्तर अपर पक्ष स्वयं अपने विवेक से प्राप्त कर ले। **आक्षेपात्मक शब्द प्रयोग करना अन्य बात है और अपने परिणामों का संतुलन रखते हुए तत्त्व विमर्श करना अन्य बात है। यदि सभी साधर्मी भाई दूसरे साधर्मी भाइयों पर कीचड़ उछालने की भाषा का परित्याग कर विवेक के मार्ग पर चलना प्रारम्भ कर दें तो इससे वीतराग मार्ग की ही प्रभावना होगी।**

३. अपर पक्ष ने धवला पु. १४, पृ. ८९ का नामोल्लेख कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि 'पंच महाव्रत, पंच समिति, त्रिगुप्ति आदि रूप व्यवहारचारित्र १२वें गुणस्थान में भी होता है। उस पुण्यभाव से मोहनीय कर्म तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अन्तराय का क्षय होता है और इस कर्म के क्षय से केवलज्ञान उत्पन्न होता है।'

समाधान यह है कि धवला पुस्तक १४, पृ. ८९ में 'अप्रमाद' पद की व्याख्या की गई है। वहाँ लिखा है—

को अप्पमादो ? पंचमहब्वयाणि पंच समदीओ तिण्णि गुत्तीओ णिस्सेसकसाया-भावो च अप्पमादो णाम।

अप्रमाद क्या है ? पाँच महाव्रत, पाँच समिति तीन गुप्ति और नि:शेष कषाय का अभाव अप्रमाद है।

यहाँ पाँच महाव्रत आदिरूप परिणाम से नि:शेष कषाय के अभाव का पृथक् रूप से निर्देश किया है। इससे स्पष्ट है कि बारहवें गुणस्थान में नि:शेष कषाय का अभावरूप अप्रमाद भाव लिया गया है। वहाँ आचार्य का विकल्प रूप पाँच महाव्रतादि का सद्भाव दिखलाना, इस वाक्य का प्रयोजन नहीं है। विकल्परूप पाँच महाव्रतादि छठे गुणस्थान में ही होते हैं, आगे तो स्वरूप स्थिति रूप एकमात्र वीतराग चारित्र ही होता है। वहाँ ९वें गुणस्थान तक जो छेदोपस्थापना संयम का निर्देश किया है, वह मात्र कषाय लेश के सद्भाव के कारण किया है, अतएव इस वचन के आधार से १२वें गुणस्थान में पुण्यभाव-शुभाचार की प्रसिद्धि

करना और उससे केवलज्ञान की उत्पत्ति बतलाना आगम सम्मत कथन नहीं कहा जा सकता।

४. अपर पक्ष ने हमारा कथन बतलाकर लिखा है कि '१२वें गुणस्थान में पुण्य प्रकृतियों के उदय से होने वाले भाव का नाम पुण्यभाव है।'

किन्तु हमने अपने पिछले दोनों उत्तरों पर दृष्टिपात किया है। एक तो हमने ऐसा वचन लिखा ही नहीं है। मालूम नहीं कि अपर पक्ष ने उक्त वचन की कल्पना कर उसे हमारा कैसे बतला दिया। दूसरे मनुष्य गति, तीर्थंकर प्रकृति—ये जीवविपा की पुण्यप्रकृतियाँ हैं। इनके उदय को निमित्तकर मनुष्य गति तथा तीर्थंकर आदि नोआगमभाव पर्याय होती हैं। ये १४वें गुणस्थान तक बतलाई हैं। इस अपेक्षा से यदि १२वें गुणस्थान में नोआगम भावरूप पुण्यभाव स्वीकार भी किया जाये तो यह कथन 'आगमानुकूल नहीं है', अपर पक्ष का ऐसा लिखना कहाँ तक आगमानुकूल है, इसका वह स्वयं विचार करे। इस विषय में बहुवक्तव्य होते हुए भी हम और कुछ नहीं लिखना चाहते।

५. अपर पक्ष ने 'तीन लोक का अधिपतित्व' को अपनी व्याख्या द्वारा स्वयं उपचरित घोषित कर दिया। फिर भी हमने उसे 'उपचरित कथन' लिख दिया तो अपर पक्ष हमारे इस कथन को आगम का विपर्यास बतलाने लगा इसका हमें आश्चर्य है। इस सम्बन्ध में हमने पिछले उत्तर में क्या लिखा है, उसे पुनः उद्‌धृत कर देते हैं – 'बारहवें गुणस्थान में सर्वमोह के क्षीण हो जाने पर जो वीतराग भाव होता है, वह अरहंत पद (केवली पद) का निश्चयनय से हेतु है। उस समय जो शुभ प्रकृतियों का कार्य है, उसमें इसका उपचार होने से उस पुण्य को भी अरहन्त पद का कारण (उपचार से) आगम में कहा गया है।'

हमारा उक्त कथन अपने में स्पष्ट है। इसमें न तो कहीं स्व-स्वामि सम्बन्ध की चर्चा है और न ही निष्परिग्रह शब्द का ही प्रयोग किया गया है। हम तो इस पर से इतना ही समझे हैं कि कुछ टीका करनी चाहिये, इसलिये अपर पक्ष ने यह टीका की है।

६. अपर पक्ष ने लिखा है कि 'यदि मिथ्यादृष्टि भी परमार्थ की अपेक्षा व्यवहार धर्म का पालन करता है तो उसके लिए वह सम्यक्त्व की प्राप्ति का कारण होता है।' आदि।

समाधान यह है कि प्रकृत में उक्त वाक्य में आये हुए 'परमार्थ की अपेक्षा' इस पद का क्या अर्थ है, यह विचारणीय है। इस वाक्य का अर्थ 'व्यवहार धर्म को परमार्थ मानकर' यह तो हो नहीं सकता, क्योंकि **आगम में निश्चय धर्म के साथ जो शुभाचार होता है उसे**

व्यवहार धर्म कहा गया है। इसलिए बहुत सम्भव है कि अपर पक्ष ने उक्त वाक्य का प्रयोग 'परमार्थ को लक्ष्य में रखकर' इस अर्थ में किया होगा। यदि यह अर्थ अपर पक्ष को इष्ट है तो अपर पक्ष के उक्त कथन का यह आशय फलित होता है कि जो सम्यक्त्व को प्राप्त करने के सन्मुख होता है उसके बाह्य में परमागम का श्रवण, जीवादि नौ पदार्थों का भूतार्थ रूप से विचार, वीतराग देवादि की उपासना-भक्ति आदि पुण्य क्रिया नियम से होती है। उसके अशुभाचरण नहीं होता, क्योंकि ऐसा व्यक्ति ही शुद्धनय के विषयभूत आत्मा के अवलम्बन से तत्स्वरूप परिणमन द्वारा स्वानुभूति लक्षणवाले सम्यक्त्व को प्राप्त होता है। स्पष्ट है कि यहाँ पर **सम्यक्त्व प्राप्ति का निश्चय कारण तो शुद्धनय के विषयभूत ज्ञायक स्वभाव आत्मा का अवलम्बन होकर उपयोग का तत्स्वरूप परिणमन ही है; बाह्य विकल्प रूप पुण्यभाव नहीं। फिर भी बाह्य में इस जीव की ऐसी भूमिका होती है, इसलिये शुभाचार या पुण्यभाव को उसका व्यवहार हेतु कहा जाता है।**

श्री धवला पु. ६, पृ. ४२ में तथा सर्वार्थसिद्धि १-७ में इसी आशय से सम्यक्त्व के बाह्य साधनों का निर्देश किया है। सम्यक्त्व प्राप्ति के समय यथासम्भव बाह्य परिकर ऐसा ही होता है, इसमें सन्देह नहीं। मुख्यता तो उसकी है जो सम्यक्त्व प्राप्ति का यथार्थ कारण है। वह न हो और बाह्य परिकर हो तो सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होता। इसलिए उसकी प्राप्ति का वही निश्चय हेतु है-यह अपर पक्ष के उक्त कथन से ही सिद्ध हो जाता है।

७. 'सम्यक्त्व की उत्पत्ति मिथ्यादृष्टि को होती है' इसका तो हमने निषेध किया नहीं। पर मिथ्यादृष्टि रहते हुए नहीं होती, मिथ्यात्व पर्याय का व्यय होकर ही सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है—ऐसा उसका अर्थ समझना चाहिये। तथा भेद विवक्षा में सम्यक्त्वी भी सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है यह लिखा या कहा जाये तो भी कोई हानि नहीं, क्योंकि द्वितीयादि समयों में जो सम्यक्त्व पर्याय उत्पन्न होती है वह सम्यक्त्वी के ही होती है आदि। यत: मिथ्यात्व पर्याय का व्यय कर जीव ही सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है, अत: **आत्म-स्वभाव के सन्मुख हुआ आत्मा ही उसका साधकतम करण और निश्चय कर्त्ता है, यह सिद्ध होता है।**

८. धवला पु. ६, पृ. ४२७ का 'कथं जिणबिम्बदंसणं' इत्यादि वचन द्वारा अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय में स्थित जीव परिणाम का निर्देश किया गया है। उसी को जिनबिम्ब का देखना कहा गया है, क्योंकि वहीं पर मिथ्यात्वादि कर्म के निधत्ति-निकाचित बन्ध का विच्छेद होता है। अतएव इस वचन का कर्मशास्त्र के अनुसार अर्थ करना ही उचित है।

व्यवहारनय का वक्तव्य इसी को कहते हैं। भाव पाहुड़ गाथा १५३ तथा पद्मनन्दि पंचविंशति १४-२ का भी यही आशय है कि जो **स्वभाव सन्मुख हो आत्मा को प्राप्त करता है, उसकी जिनदेवादि में प्रगाढ़ भक्ति नियम से होती है।**

९. अपर पक्ष ने जो यह लिखा है कि 'जो मिथ्यादृष्टि, परमार्थ को न जानते हुए, मात्र विषय सामग्री तथा सांसारिक सुख की प्राप्ति के लक्ष्य से अप्रशस्त राग सहित कुछ शुभ क्रिया करता है और उससे जो पुण्य बन्ध होता है, वह पुण्यभाव तथा पुण्यबन्ध संसार का ही कारण है।' आदि।

सो इस सम्बन्ध में इतना ही कहना है कि अप्रशस्त राग हो और शुभक्रिया तथा शुभभाव हो, यह नहीं हो सकता। यह परस्पर विरुद्ध कथन है। प्रशस्त राग का ही शुभक्रिया तथा शुभभाव के साथ अन्वय-व्यतिरेक है, अप्रशस्त राग का नहीं। इसी प्रकार शुभक्रिया का शुभभाव के साथ ही अन्वय-व्यतिरेक है; अन्य के साथ नहीं।

आगम में निदान का उल्लेख अवश्य है, पर उसका यह अर्थ नहीं कि पूजा-भक्ति आदिरूप शुभ परिणाम निदान है। उसके फलस्वरूप पंचेन्द्रियों के विषयों की कामना करना निदान अवश्य है। यहाँ तो केवल प्रश्न इतना ही है कि जो शुभ मन, वचन, काय का व्यापार होता है, उससे अल्प ही सही बन्ध होता है या नहीं? इस विषय में समस्त परमागम का एकमात्र यही अभिप्राय है कि उससे नरकादि दुर्गतियों के हेतुभूत पापकर्म का बन्ध न होकर, सुगति के कारणभूत पुण्यकर्म का बन्ध होता है। यह जीव सम्यग्दृष्टि है, इसलिए इस अपेक्षा से उसे परम्परा मुक्ति का हेतु कहना अन्य बात है। इसका आशय तो इतना ही है कि रत्नत्रय परिणत उक्त जीव मोक्ष का पात्र होता है, इसलिए उसके सहचर शुभभाव में भी मोक्ष हेतुता का व्यवहार किया जाता है।

१०. अपर पक्ष का यह लिखना भी ठीक नहीं कि 'प्रवचनसार प्रथम अध्याय आदि ग्रन्थों में मात्र परमार्थ को न जानने वाले मिथ्यादृष्टि के पुण्य को ही पूर्णतया हेय बतलाया गया है।' क्योंकि **जिसके पुण्यभावमात्र में उपादेय बुद्धि है वह सम्यग्दृष्टि का नहीं है और न उसे परमार्थ का जानने वाला ही कहा जा सकता है।** कारण कि जिसकी पुण्यभाव में उपादेय बुद्धि है उसकी उसके फल में उपादेय बुद्धि न हो यह नहीं हो सकता। अतएव कोतवाल द्वारा पकड़े गये आत्मनिन्दा तत्पर चोर के समान ही वह बाह्य-क्रियाओं में प्रवृत्त होता है। अन्तरंग में तो वह इन क्रियाओं को करते हुए भी एकमात्र अनन्त सुख के निधान निज परमात्म तत्त्व

को ही आश्रय करने योग्य मानता है। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि में यही अन्तर है। इसी दृष्टि से प्रवचनसार गाथा ११ की टीका में '**अतः शुद्धोपयोग उपादेयः शुभोपयोगो हेयः**'—अतः शुद्धोपयोग उपादेय है और शुभोपयोग हेय है यह वचन कहा गया है। यह प्रवचनसार प्रथम अध्याय का ही वचन है। इसमें सम्यग्दृष्टि के शुभोपयोग को या परमार्थ को न जानने वाले मिथ्यादृष्टि के शुभोपयोग को मात्र हेय बतलाकर शुभोपयोगमात्र को हेय बतलाया गया है। इसी प्रकार प्रवचनसार अ. २, गा. १५६ में सम्यग्दृष्टि कैसी और भावना करता है, इसका निर्देश करते हुए जो यह लिखा है कि वह विचार करता है कि **मैं अशुभोपयोग शुभोपयोग से रहित होकर समस्त परद्रव्यों में मध्यस्थ होता हुआ ज्ञानस्वरूप आत्मा को ध्याता हूँ**। गाथा इस प्रकार है—

असुहोवओगरहिदो सुहोवजुत्तो ण अण्णदवियन्हि।
होज्जं मज्झत्थोऽहं णाणप्पगमप्पगं झाए॥६७॥

यह सम्यग्दृष्टि ही की तो भावना है। श्रुत, गुरूपदेश और युक्ति के बल से मिथ्यादृष्टि भी परद्रव्य भावों से भिन्न आत्मा का निर्णय कर जब उक्त प्रकार की भावना करता हुआ आत्म सन्मुख होकर उसमें लीन होता है तभी तो वह सम्यग्दृष्टि बनता है। सम्यग्दृष्टि बनने या सम्यग्दृष्टि बनकर आगे बढ़ने का इसके सिवाय अन्य कोई मार्ग नहीं है।

समयसार गाथा १४६ में चार प्रकार से शुभाशुभभाव जो जीव परिणाम होकर भी अज्ञानमयभाव होने से दोनों एक हैं, इसलिए कारण के अभेद से दोनों को एक कर्म बतलाया गया है। दूसरे शुभाशुभ जो द्रव्यकर्म हैं वे दोनों केवल पुद्‌गलमय होने से एक हैं, इसलिए स्वभाव के अभेद से उन दोनों को एक कर्म कहा गया है। तीसरे इनके योग से जो शुभाशुभ फल मिलता है वह भी केवल पुद्‌गलमय होने से एक है, इसलिए अनुभव के अभेद से दोनों को एक कहा गया है। चौथे शुभ-मोक्षमार्ग केवल जीवमय होने से और अशुभ-बन्धमार्ग केवल पुद्‌गलमय होने से उन्हें अनेक बतलाकर भी दोनों के ही पुद्‌गलमय बन्धमार्ग के आश्रित होने से आश्रय के अभेद से दोनों को एक कर्म कहा गया है।

इससे स्पष्ट है कि समयसार गाथा १४५ द्वारा शुभाशुभ द्रव्यकर्मों के समान शुभाशुभ रूप दोनों प्रकार के भाव कर्मों का भी निषेध किया गया है और गाथा १४७ में इन दोनों को स्वाधीनता का विनाश करने वाला कहा गया है। शुभभाव भी अशुभभाव के समान औदयिकभाव तथा उसमें उपयुक्त आत्मा का परिणाम है और '**ओदइया बन्धयरा**' इस सिद्धान्त के अनुसार

वह बन्ध का ही कारण है, अत: ज्ञानी की अशुभ भाव के समान शुभभाव में भी हेय बुद्धि ही होती है—ऐसा यहाँ समझना चाहिए, क्योंकि **पुरुषार्थ की हीनतावश शुभभाव और तदनुसार व्यापार होना अन्य बात है, किन्तु उसमें हेयबुद्धि का होना अन्य बात है।** ज्ञानी के शुभभाव अवश्य होता है और तदनुसार मन, वचन, काय का व्यापार भी होता है, इसमें आपति नहीं। किन्तु ऐसा होते हुए भी उसकी उसमें हेय बुद्धि बनी रहती है तो ही वह मार्गस्थ है- ज्ञान, वैराग्य सम्पन्न है—यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

इस प्रकार प्रस्तुत प्रतिशंका का सर्वाङ्ग समाधान किया।

●

प्रथम दौर

: 1 :

शंका 14

पुण्य अपनी चरम सीमा को पहुँचकर अथवा आत्मा के शुद्ध स्वभावरूप परिणत होने पर स्वतः छूट जाता है या उसको छुड़ाने के लिये किसी उपदेश और प्रयत्न की जरूरत होती है ?

समाधान 1

आत्मा के शुद्ध स्वभाव परिणति के काल में निर्विकल्प अवस्था होती है। ऐसे समय में उसके बाह्य उपदेशादि का योग बन ही नहीं सकता। साथ ही उसका उस अवस्था में प्रति समय का पुरुषार्थ स्वरूप स्थिति के अनुरूप ही होता है। इस कारण उस अवस्था में उसे पुण्य को छुड़ाने के लिए न तो किसी उपदेश की आवश्यकता पड़ती है और न ही किसी स्वतन्त्र प्रयत्न की भी। किन्तु जिस क्रम से उसकी आत्म विशुद्धि बढ़ती जाती है, उस क्रम से यथास्थान आत्मविशुद्धि का योग पाकर पाप के समान पुण्य भी स्वयं छूटता जाता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए आचार्यवर्य अमृतचन्द्र समयसार गाथा ७४ की टीका में कहते हैं—

सहजविजृम्भमाणचिच्छक्तितया यथा यथा विज्ञानघनस्वभावो भवति तथा तथा आस्त्रवेभ्यो निवर्तते, यथा यथा आस्त्रवेभ्यश्च निवर्तते तथा तथा विज्ञानघनस्वभावो भवतीति। तावत् विज्ञानघनस्वभावो भवति यावत् सम्यगास्त्रवेभ्यो निवर्तते, तावदास्त्रवेभ्यश्च निवर्तते यावत् सम्यग्विज्ञानघनस्वभावो भवतीति ज्ञानास्त्रवनिवृत्योः समकालत्वम्।

सहजरूप से विकाश को प्राप्त चित्तशक्ति से ज्यों-ज्यों विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है, त्यों-त्यों आस्त्रवों से निवृत्त होता जाता है (यह कथन निश्चयपक्ष की मुख्यता से किया गया है) और ज्यों-ज्यों आस्त्रवों से निवृत्त होता जाता है, त्यों-त्यों विज्ञानस्वभाव होता जाता है (यह कथन व्यवहारनय की मुख्यता से किया गया है तथा इन्हीं दोनों नयो की अपेक्षा यह

भी लिखा गया है कि) उतना विज्ञानघनस्वभाव होता है, जितना सम्यक् प्रकार से आस्रवों से निवृत्त होता है और उतना आस्रवों से निवृत्त होता है, जितना सम्यक् प्रकार से विज्ञानघनस्वभाव होता है। इस प्रकार ज्ञान को और आस्रवों की निवृत्ति की समकालपना है।

इस प्रकरण से यहाँ इतना समझ लेना चाहिये कि निश्चय और व्यवहार ये दो पक्ष हैं। तदनुसार प्रत्येक स्थान पर इनका उस उस स्थान के योग्य सुमेल होता है। यहाँ पर इनकी समकालता इसी आधार से बतलाई गई है। विवक्षित उपादान और विवक्षित निमित्त की अपेक्षा कार्य-कारण परम्परा में भी इसी प्रकार प्रत्येक समय में दोनों की समकालता है।

•

द्वितीय दौर

: 2 :

शंका 14

पुण्य अपनी चरम सीमा को पहुँचकर अथवा आत्मा के शुद्ध स्वभाव रूप परिणत होने पर स्वतः छूट जाता है या उसको छुड़ाने के लिए किसी उपदेश और प्रयत्न की जरूरत होती है?

प्रतिशंका 2

आपने अपने उत्तर में लिखा है- 'किन्तु जिस क्रम से उसको आत्मविशुद्धि बढ़ती जाती है उस क्रम से यथास्थान आत्मविशुद्धि का योग पाकर पाप के समान पुण्य भी स्वयं छूटता जाता है।' इसके लिए जो गाथा ७४ समयसार की टीका का प्रमाण दिया है, वह आपके इस कथन को पुष्ट नहीं करता है।

यह उत्तर हमारे प्रश्न से सम्बन्धित नहीं है, क्योंकि हमारा प्रश्न पुण्य की चरम सीमा के अथवा आत्मा के शुद्ध स्वभावरूप परिणत अवस्था के विषय में था और पुण्य के छूटने के विषय में था। फिर भी आपने अप्रासंगिक 'पाप के स्वयं छूटने का' उल्लेख किया है। आपका यह कथन आगम विरुद्ध है।

हिंसा, असत्य आदि सब पापों का बुद्धिपूर्वक प्रतिज्ञा रूप त्याग किया जाता है, जैसा कि धवल पुस्तक १, पृ. ३६९ पर कहा है—

सर्वसावद्ययोगात् विरतोऽस्मीति सकलसावद्ययोगविरतिः सामयिकशुद्धिसंयमो द्रव्यार्थिकत्वात्।

अर्थ – मैं सर्वप्रकार से सावद्य योग से विरत हूँ—इस प्रकार द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा सकल सावद्य योग के त्याग को सामायिक शुद्धिसंयम कहते हैं।

इसी कथन की पुष्टि श्री कुन्दकुन्द भगवान् के प्रवचनसार गाथा २०८-२०९ में साधु के २९ मूल गुणों का वर्णन करते हुए तथा श्री अमृतचन्द्र जी सूरि के इन वाक्यों से होती है—

सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानलक्षणैकमहाव्रतव्यक्तवशेन हिंसानृतस्तेयव्रह्मपरिग्रह-विरत्यात्मकं पंचव्रतं व्रतं।

अर्थ – सर्व सावद्य योग के त्याग स्वरूप एक महाव्रत के विशेष होने से हिंसा, असत्य, चोरी (अब्रह्म) और परिग्रह की विरति स्वरूप पंच महाव्रत है।

इन आगम प्रमाणों से यह सिद्ध है कि हिंसादि पापों का बुद्धि पूर्वक त्याग किया जाता है। किन्तु पुण्य अपनी चरम सीमा को पहुँचकर अथवा आत्मा के शुद्ध स्वभाव रूप परिणत होने पर छूट जाता है, अतः स्वयं छूटने की अपेक्षा पुण्य और पाप को समान बताना उचित नहीं है। जितने भी जीव आज तक मोक्ष गये हैं, जा रहे हैं और जावेंगे, वे सर्व पापों का बुद्धि पूर्वक त्याग करके ही मोक्ष गये है, जा रहे हैं और जावेंगे।

●

शंका 14

पुण्य अपनी चरम सीमा को पहुँचकर अथवा आत्मा के शुद्ध स्वभावरूप परिणत होने पर स्वतः छूट जाता है या उसको छुड़ाने के लिए किसी उपदेश और प्रयत्न की जरूरत होती है ?

प्रतिशंका 2 का समाधान

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए जो कुछ लिखा गया है उसके आधार से उपस्थित की गई प्रतिशंका २ से विदित होता है कि यह तो मान लिया गया है कि 'जैसे-जैसे विशुद्धि में वृद्धि

होती जाती है वैसे-वैसे पुण्य स्वयं छूटता जाता है।' मात्र प्रतिशंका २ पाप को आधार बनाकर उपस्थित की गई है। उसमें बतलाया गया है कि पाप को छोड़ना पड़ता है, जब कि विशुद्धि का योग पाकर पुण्य स्वयं छूट जाता है।

समाधान यह है कि चाहे पुण्यभाव हो या पापभाव दोनों के छूटने की प्रक्रिया एक प्रकार की ही है। उदाहरणार्थ एक ऐसा गृहस्थ लीजिए जो मुनिधर्म को अंगीकार करता है। विचार करने पर विदित होता है कि जब वह मुनिधर्म को अंगीकार करता है तब व्यवहार से वह भी अणुव्रतादि रूप पुण्यभाव का त्याग कर ही महाव्रतादि पुण्यभाव को प्राप्त होता है, इसलिए यह कहना कि पाप का त्याग करना पड़ता है और विशुद्धि का योग पाकर पुण्य स्वयं छूट जाता है, ठीक प्रतीत नहीं होता। पर यह सब कथन आगम में व्यवहारनय की अपेक्षा किया गया है। वस्तुतः विचार करने पर पुण्यभाव का योग पाकर पापभाव स्वयं छूट जाता है और विशुद्धि का योग पाकर पुण्यभाव स्वयं छूट जाता है। पापभाव, पुण्यभाव और शुद्धभाव, ये तीनों आत्मा के परिणाम हैं। अतः उत्पाद-व्यय के नियमानुसार जब एक भाव की प्राप्ति होती है तो उससे पूर्व के भाव का स्वयं व्यय हो जाता है।

प्रतिशंका में जितने प्रमाण दिये गये हैं उन सबका व्यवहार नय की मुख्यता से ही उन उन शास्त्रों में प्रतिपादन किया गया है। परमार्थ से विचार करने पर पाप, पुण्य या शुद्धरूप उत्तर पर्याय के प्राप्त होने पर पूर्व की पर्याय का व्यय होकर ही उसकी प्राप्ति होती है।

●

तृतीय दौर

: 3 :

शंका 14

मूल प्रश्न यह है- पुण्य अपनी चरम सीमा को पहुँचकर अथवा आत्मा के शुद्ध स्वभावरूप परिणत होने पर स्वतः छूट जाता है या उसे छुड़ाने के लिये किसी उपदेश या प्रयत्न की जरूरत है ?

प्रतिशंका 3

आपने इसके प्रथम उत्तर में यह तो स्वीकार कर लिया था कि '**शुद्ध स्वभावरूप परिणति के काल में पुण्य स्वयं छूट जाता है**', किन्तु प्रसंग से बाहर यह भी लिख दिया कि पाप भी स्वयं छूट जाता है। यद्यपि पाप के सम्बन्ध में प्रश्न नहीं था तथापि अपनी मान्यता के कारण आपने पाप को स्वयं छूट जाने वाला लिख दिया तथा इसके लिये किसी आर्षग्रन्थ का प्रमाण भी नहीं दिया।

इस पर प्रतिशंका प्रस्तुत करते हुए श्री धवल व प्रवचनसार का प्रमाण देकर हमने यह सिद्ध किया था कि पापों का बुद्धिपूर्वक त्याग किया जाता है, वे स्वयं नहीं छूटते।

आपने दूसरे उत्तर में हमारे द्वारा प्रदत्त प्रमाणों को यह लिखकर कि 'जितने प्रमाण दिये गये हैं उन सबका व्यवहारनय की मुख्यता से ही उन शास्त्रों में प्रतिपादन किया गया है' अवहेलना की और लिखा है 'वस्तुतः विचार करने पर पुण्यभाव का योग पाकर पापभाव स्वयं छूट जाता है।' इसके साथ-साथ आपने यह भी लिखने का प्रयास किया है 'गृहस्थ भी अणुव्रतादि पुण्यभाव का त्याग कर महाव्रतरूप पुण्यभाव को प्राप्त होता है।' आपने इस उत्तर में भी किसी आगम प्रमाण को उद्धृत नहीं किया है।

निश्चयनय की अपेक्षा से तो आत्मा न प्रमत्त है, न अप्रमत्त है (समयसार गाथा ६) और न राग है, न द्वेष है, न पुण्य है, न पाप है (समयसार गाथा ५०-५५) किन्तु ज्ञायक है, अतः निश्चयनय की अपेक्षा से राग-द्वेष या पुण्य-पाप के छोड़ने या छूटने का कथन ही नहीं

हो सकता। जब राग-द्वेष, पुण्य, पाप व्यवहारनय की अपेक्षा से हैं (समयसार गाथा ५६) तो इनके छोड़ने या छूटने का कथन भी व्यवहारनय से होगा।

श्री कुन्दकुन्द स्वामी तथा श्री अमृतचन्द्र सूरि ने प्रवचनसार में तथा श्री वीरसेन स्वामी ने धवल ग्रन्थ में सर्व सावद्ययोग के विषय में लिखा है वह आपकी दृष्टि में अवास्तविक है, इसीलिए आपने यह लिख दिया कि वास्तविक तो पापभाव स्वयं छूट जाता है। आप ही इतना साहस कर सकते हैं, हमारे लिये तो आर्षवाक्य वास्तविक है।

गृहस्थ के संयमासंयम पांचवाँ गुणस्थान होता है अर्थात् त्रस हिंसा का त्याग होता है और स्थावर हिंसा का त्याग नहीं होता। जब वह मुनि दीक्षा ग्रहण करता है तब वह संयम अंश का त्याग नहीं करता, किन्तु शेष असंयम का त्याग कर पूर्ण संयमी बन जाता है। यहाँ पर भी उसने शेष असंयमरूपी पाप का ही त्याग किया। जब आप अपने प्रथम उत्तर में यह स्वीकार कर चुके हो कि पुण्य स्वयं छूट जाता है उसको छुड़ाने के लिये किसी के उपदेश या प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती तो अब उसके विरुद्ध कैसे लिखते हैं कि पुण्यभाव का भी त्याग किया जाता है।

संयमाचरण चारित्र के दो भेद हैं - १. सागार संयमाचरण और निरागार संयमाचरण चारित्र। श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने चारित्र पाहुड़ गाथा २१ में इस प्रकार कहा है—

दुविहं संजमचरणं सायारं तह हवे णिरायारं।
सायारं सग्गंथे परिग्गहरहिय खलु णिरायारे॥२१॥

अर्थात् संयम चरण के दो भेद हैं-सागार संयमचरण और निरागार संयमचरण। इनमें सागार संयमचरण परिग्रह सहित गृहस्थ के और निरागार संयमचरण परिग्रह रहित मुनियों के होता है।

पंचेव पुव्वियपदं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि।
सिक्खावय चत्तारि य संयमचरणं च सायारं॥२३॥

अर्थ - पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत—यह बारह प्रकार का सागार संयमचरण है।

पंचेन्द्रियसंवरणं पंच वया पंचविंसकिरियासु।
पंच समिदि तय गुत्ती संयमचरणं णिरायारं॥२८॥

अर्थ – पांच इन्द्रियों का संवर, पांच महाव्रत, पच्चसी क्रिया, पांच समिति, तीन गुप्ति .... यह निरागार संयमचरण है।

इन दोनों प्रकार के संयमचरणों से पञ्चमादि गुणस्थानों में प्रतिसमय गुणश्रेणी निर्जरा होती है जिसे कारणानुयोग के विशेषज्ञ भली-भाँति जानते हैं। कर्म निर्जरा तथा आत्मा की पवित्रता के कारण हैं, इसीलिए व्रतों को पुण्यभाव कहा जाता है। इस सम्बन्ध में विशेष कथन प्रश्न नं. ४ में किया गया जा चुका है, पुनरुक्ति दोष से यहाँ नहीं किया गया है।

इस प्रकार पाप छोड़ा जाता है और पुण्य अपनी चरम सीमा को पहुँचकर स्वयं अथवा आत्मा के शुद्ध स्वभावरूप परिणमन होने पर स्वतः छूट जाता है।

●

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोस्तु मंगलम्॥

शंका 14

पुण्य अपनी चरम सीमा पर पहुँचकर अथवा आत्मा के शुद्ध स्वभावरूप परिणत होने पर स्वतः छूट जाता है या उसे छुड़ाने के लिए किसी उपदेश या प्रयत्न की जरूरत है?

प्रतिशंका 4 का समाधान

हमारी ओर से इस प्रश्न का प्रथम बार जो उत्तर दिया गया था, उसमें से यह अंश तो प्रतिशंका २ में स्वीकार कर लिया गया है कि 'आत्मा के शुद्ध स्वभावरूप से परिणत होने पर पुण्य स्वयं छूट जाता है।' किन्तु 'पाप स्वयं छूट जाता है'—यह कथन दूसरे पक्ष को मान्य नहीं है। अपर पक्ष ने अपने इस अभिप्राय का समर्थन प्रतिशंका २ में तो किया ही है, प्रतिशंका ३ भी इसी अभिप्राय के समर्थन में लिखी गई है। साथ ही इसमें कुछ ऐसी बातें और लिखी गई हैं, जिनका उद्देश्य समाज को भ्रम में डालना प्रतीत होता है। अस्तु,

हम दूसरे पक्ष की ऐसी बातों का उत्तर तो नहीं देंगे, किन्तु इतना अवश्य ही स्पष्टीकरण कर देना चाहते हैं कि प्रमाण प्ररूपणा के समान नय प्ररूपणा भी जिनागम का

अंग है। अतएव जिनागम में जहाँ जिस नय से प्ररूपणा हुई है वहाँ उसे उस नय से समझना या अन्य के लिए प्रतिपादन करना, क्या यह वास्तव में जिनागम की अवहेलना है या उससे विपरीत अर्थ फलित कर अपने विपरीत अभिप्राय की पुष्टि करना, यह वास्तव में जिनागम की अवहेलना है, इसका दूसरा पक्ष स्वयं विचार करे।

पापभाव, पुण्यभाव और शुद्धभाव—ये तीनों आत्मा की परिणति विशेष हैं। इनमें से आत्मा जब जिस भावरूप से परिणत होता है, तब तन्मय होता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए प्रवचनसार में कहा है—

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसव्भावो ॥९॥

जीव परिणाम स्वभावी होने से जब शुभ या अशुभभावरूप से परिणमता है, तब शुभ या अशुभ (स्वयं) होता है और जब शुद्धभावरूप से परिणमता है, तब शुद्ध होता है ॥९॥

यह वस्तुस्थिति है। इसे दृष्टिपथ में रखकर हमें मूल प्रश्न पर विचार करते हुए सर्वप्रथम यह देखना है कि चरम सीमा को प्राप्त हुए पुण्य का क्षय और आत्मा के शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति—ये दोनों क्या हैं, इन दोनों के कारण एक हैं या भिन्न-भिन्न, तथा ये दोनों एक काल में होते हैं या भिन्न-भिन्न काल में? यह तो माना नहीं जा सकता कि चरम सीमा को प्राप्त हुए पुण्य का क्षय और आत्मा के शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति इन दोनों में सर्वथा भेद है, क्योंकि ऐसा मानने पर '**कार्योत्पादः क्षयः**' क्षय कार्योत्पाद ही है (आप्तमीमांसा श्लोक ५८) इस वचन के साथ विरोध आता है। इन दोनों के कारण भी पृथक्-पृथक् नहीं माने जा सकते, क्योंकि ऐसा मानने पर '**हेतोर्नियमात्**' ये दोनों एक हेतु से होते है, ऐसा नियम है (वही) इस वचन के साथ विरोध आता है। इन दोनों के होने में काल भेद भी नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर '**उपादानस्य पूर्वाकारेण क्षयः कार्योत्पाद एव**' उपादान का पूर्वाकार से क्षय कार्य का उत्पाद ही है इस वचन के साथ विरोध आता है। अतएव जिस प्रकार आत्मलक्षी सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा आत्मा के शुद्धस्वभाव की प्राप्ति होने पर चरम सीमा को प्राप्त हुए पुण्य का स्वयं छूट जाना प्रतिशंका २-३ में स्वीकार कर लिया गया है उसी प्रकार शुभभाव के अनुरूप परलक्षी पुरुषार्थ द्वारा पुण्यभाव के प्राप्त होने पर पापभाव का स्वयं छूट जाना भी मान्य होने में आपत्ति नहीं होनी चाहिये, क्योंकि तीनों स्थलों में न्याय समान है।

यहाँ सर्वप्रथम पुण्यभाव या पापभाव स्वयं छूट जाता है इस कथन का तात्पर्य है इसका स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। बात यह है कि शुद्धभाव के समान ये दोनों आत्मा के भाव विशेष हैं। इसलिए एक भाव का उत्पाद होने पर दूसरे भाव का व्यय नियम से होता है। उत्पाद और व्यय इनको जो पृथक्-पृथक् कहा गया है वह संज्ञा, लक्षण आदि के भेद से ही पृथक्-पृथक् कहा गया है - **'लक्षणात् पृथक्'** (आप्तमीमांसा श्लोक ५८), अतएव जो पूर्वभाव का व्यय है वही उत्तरभाव का उत्पाद है; इसलिए यह कहना कि 'पापभाव को छोड़ना पड़ता है' संगत प्रतीत नहीं होता। ऐसा कहना भाषा का प्रयोग मात्र है। पहले कोई पापभाव को बलात् छोड़ता हो और बाद में पुण्य भाव को ग्रहण करता हो—ऐसा जिनागम के किसी भी वचन का अभिप्राय नहीं है। समझो, किसी ने 'मैं सर्व सावद्य से विरत हूँ'—ऐसा भाव किया, केवल वचनात्मक प्रतिज्ञा ही नहीं की, क्योंकि उक्त प्रकार से वचनात्मक प्रतिज्ञा (व्यापार) करने पर भी भाव भी उक्त प्रतिज्ञा के अनुरूप हो ही जाये—ऐसा कोई नियम नहीं है। आगम में व्रतों का लक्षण बतलाते हुए **'निःशल्यो व्रती'** जो माया, मिथ्यात्व और निदान—इन तीनों शल्यों से रहित होता है वह व्रती है (तत्त्वार्थसूत्र अ. ७, सूत्र १८)। यह वचन इसी अभिप्राय से दिया है। अतएव प्रकृत में यही निर्णय करना चाहिए कि पुण्यरूप परिणाम होने पर पापभाव स्वयं छूट जाता है, क्योंकि पुण्यभाव का उत्पन्न होना ही पापभाव का छूटना है। यह दूसरी बात है कि पुण्यभाव के होने में कहीं बाह्य उपदेशादि सामग्री निमित्त होती है और कहीं वह स्वयं अन्तरंग में व्रतादि के स्वीकार रूप होता है। यद्यपि धवला पु. १, पृ. ३६९ का प्रतिशंका २ में उद्धरण दिया गया है, परन्तु उसका अभिप्राय हमारे उक्त कथन के अभिप्राय से भिन्न नहीं है। अन्तरंग में जो सर्व सावद्य योग से विरतिरूप परिणाम उत्पन्न होता है उसे ही श्री धवला जी में बाह्य में प्रतिज्ञा रूप में निर्दिष्ट किया गया है। प्रतिज्ञा वाचनिक भी होती है और मानसिक भी। कोई वाचनिक या मानसिक जैसी भी शुभ प्रतिज्ञा कर रहा है उसी के अनुरूप अन्तरंग में परिणाम की प्राप्ति होना—यह शुभभाव है जो कहीं पापभाव की निवृत्तिरूप होता है और कहीं अन्य प्रकार के शुभभाव की निवृत्तिरूप होता है। हमने अपने प्रथम और द्वितीय उत्तर में यही अभिप्राय व्यक्त किया था। प्रवचनसार गाथा २०८ और २०९ से भी यही आशय झलकता है। अतएव हम पूर्व में जो कुछ लिख आये हैं, वह सब आगमानुकूल ही लिख आये हैं—ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

द्वितीय उत्तर में हमने धवला प्रथम भाग और प्रवचनसार के उक्त उल्लेखों को व्यवहारनय की प्ररूपणा बतलाया था। परमपारिणामिकभाव को ग्रहण करनेवाले शुद्ध

निश्चयनय का निर्देश करते हुए अपर पक्ष की ओर से भी यद्यपि पुण्य-पाप आदि भेद कथन को व्यवहारनय की प्ररूपणा स्वयं स्वीकार किया गया है, फिर भी हमारी ओर से 'पापभाव छोड़ना पड़ता है' यह कथन व्यवहारनय की प्ररूपणा है—ऐसा लिखने पर हम पर अकारण रोष प्रकट किया गया है जो शोभनीक प्रतीत नहीं होता।

'गृहस्थ भी अणुव्रतादि पुण्यभाव का त्याग कर महाव्रत रूप पुण्यभाव को प्राप्त होता है' यह कथन हमारी ओर से पर्याय दृष्टि से लिखा गया था, क्योंकि प्रत्येक पर्याय का यह स्वभाव है कि उसका व्यय होकर उत्तर पर्याय का उत्पाद होता है। फिर भी प्रतिशंका ३ में इसका इस प्रकार तोड़-मरोड़ कर खण्डन किया गया, जो स्वयं प्रतिशंका पक्ष को ही कमजोर बनाता है। यह तो प्रत्येक आगमाभ्यासी जानता है कि जो संयमासंयमी संयम भाव को अन्तरंग में स्वीकार करता है वह आंशिक संयम भाव को निवृत्ति पूर्वक पूर्ण संयम भाव को अन्तरंग में स्वीकार करता है अर्थात् इसके पूर्व जो उसके बाह्याभ्यन्तर आंशिक संयमरूप प्रवृत्ति होती थी उसके स्थान में पूर्ण संयम रूप प्रवृत्ति होने लगती है। संतान की अपेक्षा आंशिक संयमभाव पूर्ण संयम भाव में अन्तर्निहित है, यह दूसरी बात है। अतएव जो कथन जिस अभिप्राय से जहाँ किया गया हो उसे समझकर ही वस्तु का निर्णय करना चाहिए। शास्त्र के रहस्य को हृदयंगम करने की यही परिपाटी है।

आगे प्रतिशंका ३ में संयमासंयमचरण और संयमाचरण क्या है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए जो यह लिखा है कि 'इन दोनों संयमाचरणों से पंचमादि गुणस्थानों में प्रतिसमय गुणश्रेणि निर्जरा होती है जिसे करणानुयोग के अभ्यासी भलीभाँति जानते हैं।' सो इस विषय में यही निवेदन करना है कि जिस प्रकार करणानुयोग के अभ्यासी यह जानते हैं कि इन दोनों संयमाचरणों में गुणश्रेणि निर्जरा होती है, उसी प्रकार वे यह भी जानते हैं कि **स्वभाव के लक्ष्य से वहाँ प्राप्त हुई जिस आत्मविशुद्धि के कारण ये दोनों संयमाचरण पंचमादि गुणस्थान संज्ञा को प्राप्त होते हैं, एकमात्र वही आत्मविशुद्धि गुणश्रेणिनिर्जरा का प्रधान हेतु है, अन्य शुभोपयोग या अशुभोपयोग नहीं।**

इस प्रकार पूर्वोक्त कथन से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जिस प्रकार आत्मा के शुद्धस्वभावरूप से परिणत होने पर पुण्यभाव स्वयं छूट जाता है, उसी प्रकार आत्मा के पुण्यरूप से परिणत होने पर पापभाव भी स्वयं छूट जाता है।

●

प्रथम दौर

: 1 :

शंका 15

जब अभाव चतुष्टय वस्तुस्वरूप हैं। (भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मः) तो वे कार्य व कारणरूप क्यों नहीं माने जा सकते। तदनुसार घातियाकर्मों का ध्वंस केवलज्ञान को क्यों उत्पन्न नहीं करता ?

समाधान 1

इसमें सन्देह नहीं कि जैन आगम में चारों प्रकार के अभावों को भावान्तर स्वभाव स्वीकार किया है। किन्तु प्रकृत में चार घातिकर्मों के ध्वंस का अर्थ भावान्तर स्वभाव करने पर कर्म के ध्वंसाभावरूप अकर्म पर्याय को केवलज्ञान की उत्पत्ति का निमित्त स्वीकार करना पड़ेगा। जिसका निमित्त रूप से निर्देश आगम में दृष्टिगोचर नहीं होता, अतः इससे यही फलित होता है कि पूर्व में जो ज्ञानावरणीयरूप कर्मपर्याय अज्ञानभाव की उत्पत्ति का निमित्त थी उस निमित्त का अभाव होने से अर्थात् उसके अकर्म रूप परिणम जाने से अज्ञान भाव के निमित्त का अभाव हो गया और उसका अभाव होने से नैमित्तिक अज्ञान पर्याय का भी अभाव हो गया और केवलज्ञान स्वभाव से प्रगट हो गया।

●

द्वितीय दौर

: 2 :

प्रतिशंका 15

प्रश्न था – जब अभाव चतुष्टय वस्तुस्वरूप हैं (भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मः) तो वे कार्य व कारणरूप क्यों नहीं माने जा सकते ? तदनुसार घातियाकर्मों का ध्वंस केवलज्ञान को क्यों उत्पन्न नहीं करता ?

प्रतिशंका 2

वस्तुस्थिति यह है कि जैनागम में अभाव को भावान्तररूप स्वीकृत किया गया है, इसलिये घातियाकर्मों के क्षय (ध्वंस) को पुद्‌गल की अकर्म पर्याय के रूप में स्वीकृत किया जाता है। चूँकि घातियाकर्मों की कर्म-रूपता केवलज्ञान के प्रकट होने में बाधक थी, अतः उनका ध्वंस (अकर्मरूपता) केवलज्ञान के प्रकट होने में निमित्त है, क्योंकि यह उल्लेख सर्वसम्मत है – **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः।**

अर्थात् निमित्त का अपाय हो जाने पर उसके निमित्त से होने वाला कार्य भी दूर हो जाता है। इस आगमसम्मत कार्यकारण की प्रक्रिया को स्वीकृत करते हुए भी आप यह लिखते हैं कि 'ध्वंस का अर्थ भावान्तर स्वभाव करने पर कर्म की ध्वंसाभावरूप अकर्म पर्याय को केवलज्ञान की उत्पत्ति का निमित्त स्वीकार करना पड़ेगा।' सो आप निमित्त से दूर क्यों भागना चाहते हैं ? सर्वत्र प्रसिद्ध कार्य-कारण भाव की शृंखला को तोड़कर आखिर आप क्या सिद्ध करना चाहते हैं ? कार्य की सिद्धि में जब उपादान और निमित्त दोनों कारणों की उपयोगिता सर्वसम्मत है तब आप केवल उपादान का पक्ष लेकर निमित्त को क्यों छोड़ देना चाहते हैं ? उपादान का यह एकान्त ही समस्त विवादों की जड़ है। आगे आप लिखते हैं – 'जिसका निमित्त रूप से निर्देश आगम में दृष्टिगोचर नहीं होता।' सो क्या – **मोहक्षयाज्ज्ञान-दर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्।** *— तत्त्वार्थसूत्र, अ. १०, सूत्र १*

इस सूत्र पर आपने लक्ष्य नहीं किया ? वहाँ स्पष्ट बतलाया है कि मोह का क्षय होने

के बाद शेष ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय के क्षय से केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

इसी सूत्र की पूज्यपाद विरचित सर्वार्थसिद्धि के उल्लेख पर भी आपने लक्ष्य नहीं दिया–ऐसा जान पड़ता है।

फलितार्थ निकालते हुए आप लिखते हैं कि 'पूर्व में जो ज्ञानावरणीयरूप कर्मपर्याय अज्ञानभाव की उत्पत्ति का निमित्त थी उस निमित्त का अभाव होने से अर्थात् उसके अकर्मरूप परिणम जाने से अज्ञानभाव के निमित्त का अभाव हो गया और उसका अभाव होने से नैमित्तिक अज्ञान पर्याय का भी अभाव हो गया और केवलज्ञान स्वभाव से प्रकट हो गया।'

यहाँ आप जब ज्ञानावरणादि कर्मपर्याय को अज्ञानभाव की उत्पत्ति में निमित्त स्वीकार कर रहे हैं तब ज्ञानावरणीय कर्म पर्याय के ध्वंस को जो कि अकर्म पर्यायरूप होता है अज्ञानभाव के अभाव रूप केवलज्ञान की उत्पत्ति में निमित्त क्यों नहीं मानना चाहते हैं? यह समझ में नहीं आता।

'केवलज्ञान स्वभाव से प्रकट हो गया' इसका अभिप्राय तो यह है कि केवलज्ञान कहीं बाहर से नहीं आया। ज्ञानावरण कर्म के उदय से ज्ञानगुण की जो केवलज्ञानरूप पर्याय अनादिकाल से प्रकट नहीं हो सकी थी वह आवरण करने वाले ज्ञानावरण तथा साथ ही शेष तीन घातियकर्मों का क्षय हो जाने से प्रकट हो जाती है। भेदनय से तद्भव मोक्षगामी का ज्ञानगुण और अभेदनय से उसकी आत्मा ही केवलज्ञान रूप परिणत हो रहा है, इसलिए उपादान कारण की अपेक्षा केवलज्ञान का उपादान कारण उसका ज्ञानगुण और आत्मा है, परन्तु निमित्त कारण की अपेक्षा ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय निमित्त कारण है। अनेकान्त की शैली से विचार करने पर सर्व विरोध दूर हो जाता है।

तत्त्वार्थसूत्र, पञ्चास्तिकाय आदि ग्रन्थों में औपशमिकादि पाँच भावों का जो वर्णन आया है उनमें केवलज्ञान को क्षायिकभाव कहा है और क्षायिकभाव का लक्षण यही किया गया है कि जो कर्मों के क्षय से हो वह क्षायिकभाव है। जैसा कि कहा गया है—

ज्ञानावरणस्यात्यन्तक्षयात्केवलज्ञानं क्षायिकं तथा केवलदर्शनम्।

—सर्वार्थसिद्धि अ. २ सूत्र ४

अर्थ – ज्ञानावरण के अत्यन्त क्षय से केवलज्ञान उत्पन्न होता है, अत: वह क्षायिकभाव है। इसी प्रकार केवलदर्शन को भी क्षायिकभाव समझना चाहिये।

ज्ञानदर्शनावरणक्षयात् केवले क्षायिके।

— राजवार्त्तिक अ. २ सूत्र ४

अर्थ – ज्ञानावरण और दर्शनावरण के क्षय से होने के कारण केवलज्ञान और केवलदर्शन क्षायिकभाव है। यही भाव उक्त वार्तिक की निम्नाङ्कित वृत्ति में भी प्रकट किया गया है—

ज्ञानावरणस्य कर्मणः दर्शनावरणस्य च कृत्स्नस्य क्षयात्केवले ज्ञान-दर्शने क्षायिके भवतः।

अर्थ – पूर्ववत् स्पष्ट है।

●

शंका 15

मूल प्रश्न – जब अभाव-चतुष्टय वस्तुस्वरूप हैं (भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मः) तो वे कार्य व कारणरूप क्यों नहीं माने जा सकते ? तदनुसार घातियाकर्मों का ध्वंस केवलज्ञान को क्यों उत्पन्न नहीं करता ?

प्रतिशंका 2 का समाधान

इस प्रश्न के उत्तर में यह स्पष्ट किया गया था कि 'पूर्व में जो ज्ञानावरणीय कर्मपर्याय अज्ञानभाव की उत्पत्ति का निमित्त थी उस निमित्त का अभाव होने से अर्थात् अकर्मरूप परिणम जाने से अज्ञानभाव के निमित्त का अभाव हो गया और उसका अभाव होने से नैमित्तिक अज्ञान पर्याय का भी अभाव हो गया और केवलज्ञान स्वभाव से प्रगट हो गया।'

प्रतिशंका २ में पुनः इसकी चर्चा करते हुए ज्ञानावरण की अभावरूप अकर्मपर्याय को केवलज्ञान की उत्पत्ति का निमित्त बतलाया गया है। इसी प्रकार अन्यत्र जहाँ-जहाँ भी क्षायिक भावों की उत्पत्ति का उल्लेख कर्मों के क्षय से आगम में लिखा है वहाँ, वहाँ प्रतिशंका २ में इसी नियम को स्वीकार किया गया है। इसके समर्थन में '**मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तराय क्षयाच्च केवलम्।**' यह सूत्र उद्धृत किया गया है।

हम निमित्तों से नहीं घबड़ाते। उनसे घबड़ाने का कोई कारण भी नहीं, क्योंकि जब हम यह अच्छी तरह से जानते हैं कि जो हमारी संसार की परिपाटी चल रही है, उसमें स्वयं हम अपराधी हैं। जो निमित्तों की बलजोरीवश अपना इष्टानिष्ट होना मानते हैं, घबड़ाने का

प्रसंग यदि उपस्थित होता है तो मात्र उनके सामने ही होता है।

यहाँ तो मात्र विचार इस बात का करना है कि क्या 'मोहक्षयात्' इत्यादि सूत्र में आये हुए 'क्षय' पद से उसकी अकर्मपर्याय को केवलज्ञान की उत्पत्ति में निमित्त रूप से स्वीकार किया गया है, या वहाँ आचार्यों का मात्र इतना दिखलाना प्रयोजन है कि स्वभाव पर्याय की उत्पत्ति समय उससे पूर्व जो विभाव पर्याय के निमित्त थे, उनका वहाँ अभाव है।

यह तो आगम परिपाटी को जानने वाले अच्छी तरह से जानते हैं कि मोहनीय कर्म का क्षय १०वें गुणस्थान के अन्त में होता है और ज्ञानावरणादि तीन कर्मों का क्षय १२वें गुणस्थान के अन्त में होता है। फिर भी केवलज्ञान की उत्पत्ति के कथन के प्रसंग से मोहनीय कर्म के क्षय का भी हेतु रूप से निर्देश किया गया है। ऐसी अवस्था में क्या यह मानना उचित होगा कि मोहनीय कर्म का क्षय होकर जो अकर्मरूप पुद्‌गल वर्गणायें हैं, वे भी केवलज्ञान की उत्पत्ति में निमित्त हैं। मेरी नम्र सम्मति में उक्त वचन का ऐसा अर्थ करना उचित नहीं होगा। अतएव पूर्व में उक्त प्रश्न का जो उत्तर दे आये हैं, वहीं प्रकृत में समीचीन प्रतीत होता है।

•

तृतीय दौर

: 3 :

शंका 15

जब अभावचतुष्टय वस्तुस्वरूप हैं, (भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मः) तो वे कार्य व कारणरूप क्यों नहीं माने जा सकते ? तद्‌नुसार घातियाकर्मों का ध्वंस केवलज्ञान को क्यों उत्पन्न नहीं करता ?

इस प्रश्न के उत्तर में आपके द्वारा यह तो स्वीकृत कर लिया गया था कि 'चारों प्रकार के अभावों (अभाव चतुष्टय) को भावान्तरस्वभाव स्वीकृत किया है।' किन्तु 'चार घातिया

कर्मों का ध्वंस, केवलज्ञान को उत्पन्न करता है' इसको स्वीकार नहीं किया गया था और आपने यह भी लिखा था कि ऐसा निर्देश आगम में दृष्टिगोचर नहीं होता।

आपके इस प्रथम उत्तर को ध्यान में रखकर श्री तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्तिक आदि ग्रन्थों के प्रमाण उद्धृत करते हुए बतलाया गया था कि श्री उमास्वामी आचार्य, श्री पूज्यपाद स्वामी, श्री अकलंकदेव और श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने कर्मों के क्षय से क्षायिकभाव तथा केवलज्ञान की उत्पत्ति कही है, परन्तु उस ओर आपकी फिर भी दृष्टि नहीं गई। यहाँ यही प्रतीत होता है कि आप अभाव को कारण नहीं मानना चाहते हैं। परन्तु जब हम आगम को देखते हैं तब जगह-जगह अभाव को कारणरूप स्वीकृत किया गया देखते हैं, क्योंकि अभाव तुच्छाभावरूप नहीं है, किन्तु भावान्तरस्वभाव है। इस संदर्भ में आप समन्तभद्र स्वामी का युक्त्यनुशासन में निम्नांकित समुल्लेख देखिए—

भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मो भावान्तरं भाववदर्हतस्ते।
प्रमीयते च व्यपदिश्यते च वस्तुव्यवस्थांगममेयमन्यत्॥५९॥

अर्थ - हे वीर अर्हन्! आपके मत में अभाव भी वस्तुधर्म होता है। यदि वह अभाव धर्म का अभाव न होकर धर्मी का अभाव है तो वह भाव की तरह भावान्तर होता है और इस सबका कारण यह है कि अभाव को प्रमाण से जाना जाता है, व्यपदिष्ट किया जाता है तथा वस्तुव्यवस्था के अंगरूप में निर्दिष्ट किया जाता है। जो अभावतत्त्व वस्तुव्यवस्था अंग नहीं है, वह भावैकान्त की तरह अप्रमेय ही है।

धवला पुस्तक ७ पृ. ९० पर -

खइयाए लद्धीए॥४७॥

सूत्र का व्याख्यान करते हुए श्री वीरसेनस्वामी लिखते हैं—

ण च केवलणाणावरणक्खओ तुच्छो त्ति ण कज्जयरो, केवलणाणावरणबंध-संतोदयाभावस्स अणंतवीरिय-वेरग्ग-सम्मत्त-दंसणेदिगुणेहिं जुत्तजीवदव्वस्स तुच्छत्तविरोहादो। भावस्स-अभावत्तं ण विरूज्झदे, भावाभावाणमण्णोण्णं विस्ससेणेव सव्वप्पणा आलिंगिऊणाट्ठिदाणमुवलंभादो। ण च उवलंभमाणे विरोहो अत्थि, अणुवलद्धिविसयस्स तस्स उवलद्धीए अत्थित्तविरोहादो।

अर्थ - क्षायिक लद्धि से जीव केवल ज्ञानी होता है॥ ४७॥

केवलज्ञानावरण का क्षय तुच्छ अर्थात् अभावरूप मात्र है, इसलिये वह कोई कार्य करने में समर्थ नहीं हो सकता, ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि, केवलज्ञानावरण के बन्ध, सत्त्व और उदय के अभाव सहित तथा अनन्तवीर्य, वैराग्य, सम्यक्त्व व दर्शन आदि गुणों से युक्त जीव द्रव्य को तुच्छ मानने में विरोध आता है। किसी भाव को अभाव रूप मानना विरोधी बात नहीं है, क्योंकि भाव और अभाव स्वभाव से ही एक-दूसरे को सर्वात्म रूप से आलिंगन करके स्थित पाये जाते हैं। जो बात पाई जाती है उसमें विरोध नहीं रहता, क्योंकि विरोध का विषय अनुपलब्धि है और इसलिए जहाँ जिस बात की उपलब्धि होती है उसमें फिर विरोध का अस्तित्व मानने में ही विरोध आता है।

इन सन्दर्भों को देखते हुए आशा है आप पुन: विचार करेंगे। श्री उमास्वामी आचार्य के—

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्।

—त.सू., अ. १०, सू. १

अर्थात् मोह का क्षय होने के बाद शेष ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय के क्षय से केवलज्ञान उत्पन्न होता है।... इन वाक्यों पर आपके द्वारा यह आपत्ति उठाई गई है कि 'मोहनीय कर्म का क्षय दशवें गुणस्थान के अन्त में होता है और ज्ञानावरणादि तीन कर्मों का क्षय बारहवें गुणस्थान के अन्त में होता है, फिर भी केवलज्ञान की उत्पत्ति के कथन में मोहनीय कर्म के क्षय को भी हेतुरूप से निर्देश किया गया है। ऐसी अवस्था में क्या यह मानना उचित होगा कि मोहनीय कर्म का क्षय होकर जो अकर्मरूप पुद्गल वर्गणाएँ हैं वे भी केवलज्ञान की उत्पत्ति में निमित्त हैं।'

इस विषय में हमारा नम्र निवेदन यह है कि श्री उमास्वामी महान् विद्वान आचार्य हुए हैं। उन्होंने सागर को गागर में बंद कर दिया अर्थात् द्वादशांग को दशाध्याय सूत्र में गुम्फित कर दिया। हमको आशा नहीं थी कि ऐसे महान् आचार्यों के वचनों पर भी आप आपत्ति डालकर खण्डन करने का प्रयास करेंगे। यदि आप इस सूत्र पर सर्वार्थसिद्धि टीका देखने का प्रयास करते तो सम्भव था कि सूत्र के खण्डन पर आपकी लेखनी नहीं चलती।

शंका की गई कि '**मोहज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयात्केवलम्**' यह सूत्र बनाना चाहिये था, क्योंकि ऐसा करने से सूत्र हल्का हो जाता ? इसका उत्तर देते हुए भी पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं—

क्षयक्रमप्रतिपादनार्थो वाक्यभेदेन निर्देशः क्रियते। प्रागेव मोहं क्षयमुपनीयान्तमुहूर्तं क्षीणकषायव्यपदेशमवाप्य ततो युगज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायाणां क्षयं कृत्वा केवलमवाप्नोति इति तत्क्षयो हेतुः केवलोत्पत्तेरिति हेतुलक्षणे विभक्ति-निर्देशः कृतः।

— स.सि., अ १०, सू. १

अर्थ – क्षय के क्रम का कथन करने के लिये वाक्यों का भेद करके निर्देश किया है। पहले ही मोह का क्षय करके अन्तर्मुहूर्त काल तक क्षीणकषाय संज्ञा को प्राप्त होकर अनन्तर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का एक साथ क्षय करके केवलज्ञान को प्राप्त होता है। इन कर्मों का क्षय केवलज्ञान की उत्पत्ति का हेतु है—ऐसा जानकर '**हेतुरूप**' विभक्ति का निर्देश किया है।

इस सूत्र से सिद्ध होता है कि मोहनीय कर्म का क्षय ज्ञानावरणादि तीन घातियाकर्मों के क्षय का कारण है और उनके क्षय से केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न होता है। अत: मोहनीय कर्म का क्षय केवलज्ञान की उत्पत्ति में साक्षात् कारण नहीं है।

प्राय: केवलज्ञान की उत्पत्ति में ज्ञानावरण के क्षय को अभाव रूप तुच्छवस्तु बताकर कारणता का निषेध कर देते हैं। उसका समाधान यह है कि अभाव तुच्छरूप नहीं है, किसी भावान्तररूप ही है। चाहे वह पुद्‌गल का रूपान्तर ही हो, जब वह प्रतिबन्धात्मकता को छोड़कर प्रतिबन्धकाभावरूप में ढल जाता है तब ही ज्ञान उत्पन्न होता है। उस प्रतिबन्धकाभावरूप सहकारी कारण के बिना भी ज्ञान नहीं उत्पन्न होता। इसलिये वह ज्ञान का (सहायक) कारण अवश्य है, प्रतिबन्धकाभाव को तुच्छ बताकर कारणता से हटाना अज्ञानमूलक बात है। घातियाकर्मों के क्षय से केवलज्ञान (अर्हंतपद) प्राप्त होता है, यह बात स्वीकार करते हुए आपने स्वयं इस सूत्र को प्रश्न नं. १३ के उत्तर में उद्‌धृत किया है।

बाधक कारणों का अभाव भी कार्योत्पत्ति में कारण होता है जैसा कि मूलाराधना गाथा ४ की टीका में कहा है—

अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यो हि हेतुफलभावः सर्व एव। तावन्तरेण हेतुना प्रतिज्ञामात्रत एव। कस्यचित्सा वस्तुचिन्तायामनुपयोगिनीति प्रतिबन्धकसद्‌भावानुमानमागमेऽभिमते तावदसति न घटते।

अर्थ – जगत् में पदार्थों का सम्पूर्ण कार्य-कारणभाव अन्वय-व्यतिरेक से जाना जाता है। अन्वय-व्यतिरेक के बिना कोई पदार्थ किसी का कारण मानना, केवल प्रतिज्ञा मात्र ही है।

ऐसी प्रतिज्ञा वस्तु के विचार के समय कुछ भी उपयोगी नहीं है। आगम में स्पष्ट है कि प्रतिबन्धक कारणों से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। जैसे सहकारी कारणों के अभाव में कार्य सिद्ध नहीं होता वैसे ही प्रतिबन्धक कारणों के सद्भाव में कार्य नहीं होता। सार यह है कि सहकारी कारण होते हुए यदि प्रतिबन्धक कारणों का अभाव होगा तो कार्य सिद्ध होगा, अन्यथा नहीं।

स्वयं श्रीमान् पं. फूलचन्द्र ने भी मोक्षशास्त्र पृ. ४५५ (वर्णी ग्रन्थमाला) पर लिखा है –

बात यह है कि जितने भी क्षायिकभाव हैं, वे सब आत्मा के निजभाव हैं पर संसार दशा में वे कर्मों से घातित रहते हैं और ज्यों ही उसके प्रतिबन्धक कर्मों का अभाव होता है, त्यों ही वे प्रकट हो जाते हैं।

इस आगम से सिद्ध होता है कि प्रतिबन्धक के अभाव से कार्य की सिद्धि होती है। केवलज्ञान तो आत्मा की शक्तिरूप से द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा प्रत्येक आत्मा में है, जो ज्ञानावरण कर्मोदय के कारण व्यक्त नहीं हो पाता। ज्ञानावरण कर्मरूपी बाधक कारणों का क्षय हो जाने से व्यक्त हो जाता है। अत: ज्ञानावरणादि घातियाकर्मों का क्षय केवलज्ञान की उत्पत्ति में कारण है, यह हमारे मूल प्रश्न का उत्तर है।

आपने अप्रासंगिक यह लिख दिया है कि 'हमारी संसार की परिपाटी चल रही है उसमें हम स्वयं अपराधी हैं।' यहाँ पर यह विचार करना है कि 'अपराध' क्या आत्मा का स्वभाव है या आगन्तुक विभाव (विकारी भाव) है ? उपयोग के समान यदि अपराध को भी आत्मा का त्रैकालिक स्वभाव मान लिया जावे तो उसका कभी नाश नहीं होगा और आगन्तुक विभाव है तो वह अवश्य ही कारणजन्य होगा। सिद्धान्तत: रागादि अपराध आगन्तुक होने से परसंग से ही उत्पन्न माने गये हैं। जैसा कि समयसार कलश में अमृतचन्द्रस्वामी का वचन है—

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः।
तस्मिन्निमित्तं परसंग एवं वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत्॥५१३॥

—*बन्धाधिकार*

अर्थ – आत्मा स्वयं ही अपने रागादि विकार का निमित्त नहीं होता, उसमें अवश्य ही परपदार्थ का संग कारण है। जिस प्रकार कि सूर्यकान्तमणि स्वयं अग्नि का निमित्त नहीं है, किन्तु उसके उत्पन्न होने में सूर्य रश्मियों का सम्पर्क कारण है। वस्तु का यही स्वभाव है।

इससे सिद्ध होता है कि हमारा अपराधी होना भी मोहनीय कर्मोदय के अधीन है। जब

तक मोहनीय कर्म का क्षय नहीं होगा तब तक अपराध अवश्य बना रहेगा; क्योंकि निमित्त के अभाव के बिना नैमित्तिक भाव का अभाव सम्भव नहीं है।

पुनश्च – '**मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणन्तरायक्षयाच्च केवलम्**' तत्त्वार्थसूत्र अध्याय १० सूत्र का खण्डन करते हुए आपने यह युक्ति दी थी कि 'मोहनीय कर्म का क्षय दसवें गुणस्थान के अन्त में होता है और ज्ञानावरणादि तीन कर्मों का क्षय बारहवें गुणस्थान के अन्त में होता है फिर भी केवलज्ञान की उत्पत्ति के कथन के प्रसंग में मोहनीय कर्म के क्षय को हेतुरूप से निर्देश किया गया है।' इसका उत्तर सर्वार्थसिद्धि का उल्लेख करते हुए श्री पूज्यपाद आचार्य के वचनों द्वारा दिया जा चुका है। किन्तु इस आपत्ति के विरुद्ध श्री पं. फूलचन्द्र जी स्वयं इस प्रकार लिखते हैं—

इस कैवल्य प्राप्ति के लिए उसके प्रतिबन्धक कर्मों का दूर किया जाना आवश्यक है, क्योंकि उनको दूर किये बिना इसकी प्राप्ति संभव नहीं। वे प्रतिबन्धक कर्म चार हैं। जिनमें से पहले मोहनीय कर्म का क्षय होता है। यद्यपि मोहनीय कर्म कैवल्य अवस्था का सीधा प्रतिबन्ध नहीं करता है तथापि इसका अभाव हुए बिना शेष कर्मों का अभाव नहीं होता, इसलिए यह भी कैवल्य अवस्था का प्रतिबन्धक माना है। इस प्रकार मोहनीय का अभाव हो जाने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त में तीनों कर्मों का नाश होता है और तब जाकर कैवल्य अवस्था प्राप्त होती है। *—त. सू. पृ. ४५२-४५३ **वर्णी ग्रंथमाला***

●

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्।।

शंका 15

जब अभावचतुष्टय वस्तु स्वरूप हैं (भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मः) तो वे कार्य व कारणरूप क्यों नहीं माने जा सकते ? तदनुसार घातियाकर्मों का ध्वंस केवलज्ञान को क्यों उत्पन्न नहीं करता ?

प्रतिशंका 3 का समाधान

इस प्रश्न के प्रथम उत्तर में यह बतला दिया गया था कि 'प्रकृत में ध्वंस का अर्थ सर्वथा भावान्तर स्वभाव लेने पर घातिकर्मों की अकर्म पर्याय को केवलज्ञान की उत्पत्ति का

निमित्त कारण मानना पड़ेगा जो आगमसम्मत नहीं है। अत: **जो अज्ञानभाव के निमित्त थे उनका अभाव (व्यय) होने पर अज्ञान भाव का अभाव हो गया और केवलज्ञान स्वभाव से प्रगट हो गया** यह अर्थ करना प्रकृत में संगत होगा।'

इस पर प्रतिशंका करते हुए प्रतिशंका २ में मुख्य रूप से घातिकर्मों का ध्वंस (अकर्मरूपता) केवलज्ञान के प्रगट होने में निमित्त है, यह स्वीकार किया गया है। इसमें अन्य जितना व्याख्यान है, वह इसी अर्थ की पुष्टि करता है।

इसके उत्तर में पुन: प्रथम उत्तर की पुष्टि की गई। साथ में दूसरी आपत्तियाँ भी उपस्थित की गईं।

तत्काल प्रतिशंका ३ सामने है। उसमें सर्वप्रथम हमारी ओर से चारों अभावों को भावान्तर स्वभाव स्वीकार करने की जहाँ एक ओर पुष्टि की गई है वहाँ दूसरी ओर हमारे ऊपर यह आरोप भी किया गया है कि 'चार घातियाकर्मों के ध्वंस से केवलज्ञान होता है इस प्रकार का वचन आगम में नहीं उपलब्ध होता।'—ऐसा हम उत्तर में लिख आये हैं किन्तु जब हमने पूर्व के दोनों उत्तर बारीकी से देखे तो विदित हुआ कि बात कोई दूसरी है और उसे छिपाने के लिए यह उपक्रम किया गया है, इसलिए यहाँ सर्वप्रथम हम अपने उत्तर के उस अंश को उद्धृत कर देना चाहते हैं जिसके आधार से ऐसा आरोप किया गया है। वह उल्लेख इस प्रकार है—

किन्तु प्रकृत में चार घातिकर्मों के ध्वंस का अर्थ भावान्तर स्वभाव करने पर कर्म के ध्वंसाभावरूप अकर्म पर्याय को केवलज्ञान की उत्पत्ति का निमित्त स्वीकार करना पड़ेगा। जिसका निमित्तरूप के निर्देश आगम में दृष्टिगोचर नहीं होता।' (प्रथम उत्तर से उद्धृत)

इस उत्तर में 'प्रकृत में' यह पद ध्यान देने योग्य है। इस द्वारा यह बतलाया गया है कि यद्यपि 'ध्वंस' भावान्तर स्वभाव होता है इसमें संदेह नहीं; पर प्रकृत में उसका यह अर्थ नहीं लेना है।

अब इस अंश के प्रकाश में प्रतिशंका ३ के उस अंश को पढ़िए जिसे हमारा कथन बतलाया गया है। यथा—

'आपके द्वारा .... किन्तु चार घातियाकर्मों का ध्वंस केवलज्ञान को उत्पन्न करता है इसको नहीं स्वीकार किया गया था और आपने यह भी लिखा था कि ऐसा निर्देश आगम में दृष्टिगोचर नहीं होता।'

ये दोनों उल्लेख हैं। इन्हें पढ़ने से यह भलीभाँति ज्ञात हो जाता हैं कि इन दोनों में कितना अंतर है। जहाँ शंकाकार पक्ष ध्वंस को भावान्तर स्वभाव लिखकर अकर्मपर्याय को केवलज्ञान उत्पत्ति का जनक बतलाया है वहाँ हमारा यह कहना है कि प्रकृत में ध्वंस का यह अर्थ गृहीत नहीं है, क्योंकि चार घातिकर्मों की ध्वंसरूप अकर्मपर्याय केवलज्ञान को उत्पन्न करती है—ऐसा आगम में कहीं निर्देश नहीं है।

अपने पक्ष की सिद्धि के लिए प्रतिशंका ३ में धवला पु. ७ पृ. ९० का 'खइयाए लद्धीए' यह सूत्रवचन उद्धृत किया गया है, जिसमें 'प्रतिपक्षी कर्म के क्षय से कार्योत्पत्ति होती है।' ऐसा बतलाया गया है, जिससे हमारे अभिप्राय की ही पुष्टि होती है। किन्तु अपर पक्ष के द्वारा अपने अभिप्राय की पुष्टि में ऐसा एक भी उद्धरण उपस्थित न किया जा सका जिसमें 'कर्म की भावान्तर स्वभाव अकर्मपर्याय से क्षायिकभाव की उत्पत्ति बतलाई गई हो।'

ऐसा प्रतीत होता है कि अपर पक्ष, कहाँ गलती हो रही है इसे समझ गया है, इसलिए प्रतिशंका ३ में उसकी ओर से ध्वंस को भावान्तरस्वभाव कहकर अकर्मपर्याय केवलज्ञान की उत्पत्ति का जनक है इस बात पर विशेष जोर न देकर दूसरी-दूसरी बातों से प्रतिशंका का कलेवर वृद्धिंगत किया गया है और मानों हम ध्वंस को तुच्छाभावरूप मानते हैं यह बतलाने का उपक्रम किया गया है। अत: प्रकृत में चार घातियाकर्मों के ध्वंस का अर्थ क्या लिया जाना चाहिये इस पर सर्व प्रथम विचार कर लेना इष्ट प्रतीत होता है। आप्तमीमांसा में बतलाया है—

कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमाल्लक्षणात्पृथक्।
न तौ जात्याद्यवस्थानादनपेक्षाः खपुष्पवत्॥५८॥

यत: उत्पाद और क्षय के होने में एक हेतु का नियम है, इसलिए क्षय कार्योत्पाद ही है। किन्तु लक्षण की अपेक्षा दोनों पृथक्-पृथक् हैं। किन्तु '**सद्द्रव्यम्**' इत्यादि रूप से जाति आदि का अवस्थान होने से खपुष्प के समान, वे सर्वथा निरपेक्ष भी नहीं है॥५८॥

यह आप्तमीमांसा का उल्लेख है। इसमें व्यय और उत्पाद दोनों एक हेतु से जायमान होने के कारण ध्वंस (व्यय) को जहाँ उत्तर पर्याय (उत्पाद) रूप सिद्ध किया है वहाँ लक्षणभेद से दोनों को पृथक्-पृथक् भी सिद्ध किया है। इन दोनों में लक्षणभेद कैसे है? यह बतलाते हुए अष्टसहस्त्री पृ. २१० में लिखा है—

कार्योत्पादस्य स्वरूपलाभलक्षणत्वात्कारणविनाशस्य च स्वभावप्रच्युतिलक्षण-त्वात्तयोर्भिन्नलक्षणसम्बन्धित्वसिद्धेः।

कार्योत्पाद का स्वरूपलाभ, यह लक्षण है और कारण विनाश का स्वभावप्रच्युति यह लक्षण है, इस प्रकार उन दोनों में भिन्न-भिन्न लक्षणों का सम्बन्धीपना सिद्ध होता है।

इस प्रकार इन आगम प्रमाणों के प्रकाश में यह स्पष्ट हो जाता है कि 'चार घातियाकर्मों के क्षय से केवलज्ञान उत्पन्न होता है, इस कथन में 'ध्वंस भावान्तरस्वभाव होता है।' इसके अनुसार चार घातियाकर्मों की ध्वंसरूप अकर्मपर्याय को निमित्त रूप से नहीं ग्रहण करना है, क्योंकि चार घातियाकर्मों की ध्वंसरूप अकर्मपर्याय केवलज्ञान की उत्पत्ति में निमित्त है— ऐसा किसी भी आगम में स्वीकार नहीं किया गया है। **किन्तु ध्वंस का अर्थ जो चार घातियाकर्म अज्ञानादिक के निमित्त थे, उनका विनाश (व्यय) रूप अर्थ ही प्रकृत में लेना है, क्योंकि उत्पाद से कथञ्चित भिन्न व्यय का यही लक्षण है।** अतएव इस कथन से अपर पक्ष का प्रतिशंका २ में यह लिखना कि 'चूँकि घातियाकर्मों की कर्मरूपता केवलज्ञान के प्रगट होने में बाधक थी अत: उनका ध्वंस (अकर्मरूपता) केवलज्ञान के प्रगट होने में निमित्त है।' आगमसंगत न होकर हमारा यह लिखना कि 'पूर्व में जो ज्ञानावरणीयरूप कर्मपर्याय अज्ञान भाव की उत्पत्ति का निमित्त थी, उस निमित्त का अभाव होने से अर्थात् उसके अकर्मरूप परिणम जाने से अज्ञानभाव के निमित्त का अभाव हो गया और उसका अभाव होने से नैमित्तिक अज्ञानपर्याय का भी अभाव हो गया और केवलज्ञान स्वभाव से प्रगट हो गया।' आगमसंगत है। क्योंकि पूर्व में अष्टसहस्री के आधार से जो 'व्यय' का लक्षण लिख आये हैं उसे दृष्टिपथ में रखकर ही आचार्य गृद्धपिच्छ ने तत्त्वार्थसूत्र के 'मोहक्षयात्' इत्यादि सूत्र में 'क्षय' शब्द का प्रयोग किया है, '**कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमात्**' इसके अनुसार 'क्षय (व्यय)' अनन्तर पर्याय (उत्पाद) रूप ही है, इस अर्थ में नहीं।

अपर पक्ष ने प्रतिशंका २ में अपने पक्ष के समर्थन के लिए '**निमित्तापाये नैमित्तक-स्याप्यपायः**' यह वचन उद्धृत किया था सो यह वचन भी हमारे उक्त कथन की ही पुष्टि करता है, क्योंकि हमारा यही तो लिखना है कि अज्ञानादि के निमित्त जो चार घातियाकर्म थे उनका अभाव होने से नैमित्तिक अज्ञानादि का अभाव हो गया और चूँकि केवलज्ञान स्वभावपर्याय है, इसलिए वह पर (कर्म) निरपेक्ष होने के कारण स्वभाव से प्रगट हो गया। पता नहीं उक्त उल्लेख को अपर पक्ष ने अपने समर्थन में कैसे समझ लिया। अथवा पूर्व पर्याय के व्यय और उत्तरपर्याय के उत्पाद, इन दोनों को सर्वथा एक मानने से जो गलती होती है वही यहाँ हुई है और यही कारण है कि अपर पक्ष ने '**निमित्तापाये**' इत्यादि वचन को भी अपने पक्ष का

समर्थक जानकर प्रमाणरूप में उद्धृत करने का उपक्रम किया है। अस्तु, अपर पक्ष उक्त विवेचन पर पूरा ध्यान देगा और प्रचार की दृष्टि से हमें उद्देश्य कर प्रतिशंका ३ में जो यह लिखा है कि—

'इस विषय में हमारा नम्र निवेदन यह है कि उमास्वामी महान् विद्वान आचार्य हुए हैं। उन्होंने सागर को गागर में बन्द कर दिया अर्थात् द्वादशांग को दशाध्याय सूत्र में गुम्फित कर दिया। हमको आशा नहीं थी कि ऐसे महान् आचार्यों के वचनों पर भी आप आपत्ति डालकर खण्डन करने का प्रयास करेंगे।' सो वह ऐसे आक्षेपात्मक वचनों के प्रयोग से विरत होगा। वस्तुतः आचार्य के वचनों का खण्डन हमारी ओर से नहीं किया गया है। हमने तो उन महान् आचार्य के उक्त वचन में जो रहस्य भरा है उसे ही उद्घाटित करने का प्रयत्न किया है। यदि मण्डन के नाम पर खण्डन किया जा रहा है तो अपर पक्ष की ओर से ही किया जा रहा है, क्योंकि वह पक्ष ही एकान्त से व्यय और उत्पाद में सर्वथा अभेद मानकर चार घातिया कर्मों की ध्वंस रूप अकर्मपर्याय को केवलज्ञान का जनक बतला रहा है, जो तत्त्वार्थसूत्र के उक्त वचन का आशय नहीं है।

आचार्य अकलंकदेव और आचार्य विद्यानन्दिने '**दोषावरणयोर्हानिः**' इस आप्तमीमांसा की कारिका का व्याख्यान करते हुए क्रम से अष्टशती और अष्टसहस्री टीका में 'प्रकृत में क्षय का अर्थ ज्ञानावरणादिकर्मों की अकर्मरूप उत्तर पर्याय नहीं लिया गया है, किन्तु ज्ञानावरणादिरूप पर्याय की हानि या व्यावृत्ति ही लिया गया है'—ऐसा स्पष्टीकरण करते हुए पृ. ५३ में लिखा है—

मलादेर्व्यावृत्तिः क्षयः, सतोऽत्यन्तविनाशानुपपत्तेः। तादृगात्मनोऽपि कर्मणो निवृत्तौ परिशुद्धिः। प्रध्वंसाभावो हि क्षयो हानिरिहाभिप्रेता। सा च व्यावृत्तिरेव मणेः कनक-पाषाणाद्वा मलस्य किट्टादेर्वा........... तेन मणेः कैवल्यमेव मलादेर्वैकल्यम्। कर्मणोऽपि वैकल्यमात्मकैवल्यमस्त्येव ततो नातिप्रसज्यते।

मलादिक की व्यावृत्ति क्षय है, क्योंकि सत् का अत्यन्त विनाश नहीं बनता। उसी प्रकार आत्मा की भी कर्म की निवृत्ति होने पर परिशुद्धि होती है। **प्रकृत में प्रध्वंसाभाव का अर्थ क्षय या हानि अभिप्रेत है और वह व्यावृत्तिरूप ही है। जैसे कि मणि में से मल की और कनकपाषाण में से किट्टादिकी व्यावृत्ति होती है।....... इसलिए मणिका अकेला होना ही मलादिकी विकलता (रहितपना) है। उसी प्रकार कर्म की भी विकलता आत्मा का कैवल्य है ही, इसलिए अतिप्रसंग दोष नहीं आता।**

यह आचार्य अकलंकदेव और आचार्य विद्यानन्दि जैसे समर्थ महर्षियों की वाणी का

प्रसाद है, इससे भी जिस अभिप्राय का हम प्रकाशन करते आये हैं, उसकी पुष्टि होती है। आचार्य गृद्धपिच्छ का भी यही अभिप्राय है।

पूर्व पर्याय का ध्वंस (व्यय) तुच्छाभाव है—ऐसा तो हमने अपने उत्तरों में कहीं लिखा ही नहीं। स्वामी समन्तभद्र के युक्त्यनुशासन का '**भवत्यभावोऽपि**' इत्यादि वचन प्रमाण है, इस आशय का अपना अभिप्राय हम प्रथम प्रश्न के उत्तर के समय उत्तर के प्रारम्भ में ही प्रगट कर आये हैं, अतः प्रतिशंका ३ में तुच्छाभाव की अप्रस्तुत चर्चा उठाकर उसके खण्डन के लिए 'भवत्यभावोऽपि' इत्यादि वचन को उद्धृत करना कोई मतलब नहीं रखता। चर्चा में विधि और निषेध उसी वस्तु का होना चाहिए, जिसमें मतभेद हो और जो आनुषंगिक होने पर भी प्रकरण में उपयोगी हो। हाँ, इस वचन द्वारा अपर पक्ष ध्वंस (व्यय) को सर्वथा उत्तर पर्याय (उत्पाद) रूप मानना चाहता हो तो उसे अष्टसहस्री व अष्टशती के पूर्वोक्त उल्लेख के आधार पर अपने अभिप्राय में अवश्य ही संशोधन कर लेना चाहिए। इससे प्रकृत विवाद के समाप्त होने में न केवल मदद मिलेगी, अपितु उत्पाद-व्यय के संबंध में अपर पक्ष के द्वारा स्वीकृत सर्वथा एकत्व की एकान्त धारणा का भी निराकरण हो जायेगा।

धवला पु. ७ पृ. ९० के '**खइयाए लद्धीए॥ ४७॥**' सूत्र की टीका को उद्धृत कर जो 'अभाव जिनमत में तुच्छाभावरूप नहीं है' इस बात का समर्थन किया गया है सो वह समर्थन भी प्रकृत में उपयोगी नहीं है, क्योंकि हमारी ओर से अपने उत्तरों में यदि कहीं अभाव को तुच्छाभाव सिद्ध किया गया होता तभी इस उल्लेख की सार्थकता होती।

यदि अपर पक्ष घातिया कर्मों के ध्वंस (व्यय) को सर्वथा अकर्म पर्यायरूप न लिखता तो हमारी ओर से यह आपत्ति त्रिकाल में न की जाती कि - 'मोहनीय कर्म का क्षय दशवें गुणस्थान में होता है और ज्ञानावरणादि ३ कर्मों का क्षय बारहवें गुणस्थान के अन्त में होता है, फिर भी केवलज्ञान की उत्पत्ति के कथन के प्रसंग में मोहनीय कर्म के क्षय का भी हेतुरूप से निर्देश किया गया है। ऐसी अवस्था में क्या यह मानना उचित होगा कि मोहनीय कर्म का क्षय होकर जो अकर्मरूप पुद्गल वर्गणाएँ हैं, वे भी केवलज्ञान की उत्पत्ति में निमित्त हैं।'

हमारी दृष्टि सर्वार्थसिद्धि के '**मोहक्षयात्**' इत्यादि सूत्र के टीका वचन पर बराबर रही है और है। उसमें निहित रहस्य को भी हम समझते हैं, किन्तु अपर पक्ष द्वारा उल्लेखरूप में इस वचन को उद्धृत करने मात्र से ध्वंस (व्यय) को सर्वथा उत्तर पर्याय (उत्पाद) रूप मान लेने पर अष्टसहस्री के उक्त कथनों द्वारा अपर पक्ष के सामने जो आपत्ति हम उपस्थित कर आये हैं उसका वारण नहीं हो जाता। सर्वार्थसिद्धि का उक्त टीका वचन अपने स्थान में हैं और

अपर पक्ष का व्यय और उत्पाद को सर्वथा अभेदरूप स्वीकार करना अपने स्थान में है। उक्त वचन के आधार से अपने विचारों में संशोधन अपर पक्ष को करना है; हमें नहीं।

प्रतिशंका ३ में 'प्राय: केवलज्ञान की उत्पत्ति में ज्ञानावरण के क्षय को अभाव रूप तुच्छ वस्तु बताकर कारणता का निषेध कर देते हैं।' यह कथन मालूम नहीं किसको लक्ष्य कर पहले किया गया और बाद में उसका उत्तर प्रस्तुत किया गया। जैन परम्परा को जीवन में स्वीकार करने वाला शायद ही ऐसा कोई व्यक्ति होगा, जो क्षय को सर्वथा अभाव रूप तुच्छवस्तु बतलाता हो। केवलज्ञान की अपेक्षा निमित्तकारण में जो प्रतिबन्धात्मकता कही है उसका व्यय हो जाना ही केवलज्ञान के प्रति प्रतिबन्धकाभावरूपता है। ऐसे स्थल पर उत्पाद से व्यय कथंचित् भिन्न ही लक्षित किया गया है, चार घातियाकर्मों की व्ययरूप उत्तरपर्याय नहीं। इसमें संदेह नहीं कि प्रकृत में जो कोई महाशय ध्वंस को तुच्छाभावरूप समझते हों उन्हें तो अपना अज्ञान दूर करना ही है, साथ ही जो भी महाशय पूर्व पर्याय के ध्वंस और उत्तर पर्याय के उत्पाद को सर्वथा एक मानने का उपक्रम करते हैं उन्हें भी उक्त प्रकार का अपना ऐकान्तिक आग्रह छोड़ना है। उनके लिए 'एतद्विषयक अज्ञान को छोड़ना है'—ऐसा कटु प्रयोग करना हमारी सामर्थ्य के बाहर है।

मूलाराधना गाथा ४ का 'अन्वय-व्यतिरेकसमधिगम्यो' इत्यादि वचन देकर कार्य के प्रति कारण का अन्वय-व्यतिरेक सिद्ध किया गया है। सो यह हमें इष्ट है, क्योंकि यह तो **जैन सिद्धान्त ही है कि उपादान के साथ कार्य की आभ्यन्तर व्याप्ति होती है और निमित्तों के साथ कार्य की बाह्य व्याप्ति होती है। कार्य के प्रति कारणों की यही समग्रता है, साथ ही यह भी जैन सिद्धान्त है कि कार्य में अन्य द्रव्य की पर्याय की निमित्तता व्यवहारनय से है।** संभवत: यह सिद्धान्त आपको भी मान्य होगा, हमें तो मान्य है ही। इसलिए प्रकृत में इस प्रमाण को उपस्थित कर किस प्रयोजन की सिद्धि की गई है यह हम नहीं समझ सके। जब कि हमने यह लिखा ही है कि 'जो चार घातियाकर्म अज्ञानादि के निमित्त हैं, जो कि निमित्तपने की अपेक्षा केवलज्ञान की उत्पत्ति के प्रतिबन्धक माने गये हैं उनका ध्वंस होने पर केवलज्ञान स्वभाव से उत्पन्न होता है।' पं. फूलचन्द्र द्वारा लिखित मोक्षशास्त्र पृ. ४५५ के उल्लेख को अपर पक्ष ने आगमरूप में स्वीकार कर लिया, यह जहाँ उचित हुआ वहाँ हम यह भी बतला देना चाहते हैं कि वह उल्लेख वस्तुत: अपर पक्ष के मत का समर्थन न कर उत्तर पक्ष का ही समर्थन करता है। यह बात हमारे द्वारा प्रथम उत्तर में निरूपित तथ्य और इस वचन को सामने रखकर अवलोकन करने से भली भाँति समझी जा सकती है। प्रथम उत्तर में हमने लिखा है—

'अत: इससे यही फलित होता है कि पूर्व में जो ज्ञानावरणीय रूप कर्मपर्याय अज्ञान भाव की उत्पत्ति का निमित्त थी उस निमित्त का अभाव होने से अर्थात् उसके अकर्मरूप परिणम जाने से अज्ञानभाव के निमित्त का अभाव हो गया और उसका अभाव होने से नैमित्तिक अज्ञानपर्याय का भी अभाव हो गया और केवलज्ञान स्वभाव से प्रगट हो गया।'

अब इसके प्रकाश में मोक्षशास्त्र का उक्त वचन पढ़िए—

'बात यह है कि जितने भी क्षायिक भाव हैं वे सब आत्मा के निजभाव हैं। पर संसार दशा में वे कर्मों से घातित रहते हैं और ज्यों ही उनके प्रतिबन्धक कर्मों का अभाव होता है, त्यों ही वे प्रगट हो जाते हैं।'

पता नहीं हमारे पूर्वोक्त वचन में और इस वचन में अपर पक्ष ने क्या फर्क देखा जिससे उसे यह वचन तो आगम प्रतीत हुआ और पूर्वोक्त वचन आगम के प्रतिकूल प्रतीत हुआ। लगता है कि 'घातित रहते हैं' 'प्रतिबन्धक कर्मों का अभाव' इन पदों को पढ़कर ही अपर पक्ष ने मोक्षशास्त्र के उल्लेख को आगम माना है। सो यह निमित्तों की निमित्तता क्या है इस पर सम्यक् प्रकार से लक्ष्य न जाने का परिणाम प्रतीत होता है। अपर पक्ष की मान्यता है कि निमित्त दूसरे द्रव्य की शक्ति को वास्तव में घातित करते हैं या उसमें अतिशय उत्पन्न कर देते हैं। जबकि इस प्रकार का कथन जिनागम में व्यवहार (उपचार) नय से किया गया है। प्रकृत में भी उक्त पदों का प्रयोग इसी अभिप्राय से हुआ है। इस पद्धति से लिखना या कथन करना यह व्यवहारनय के कथन की शैली है।

अपर पक्ष ने हमारे इस कथन को कि 'हमारी संसार की परिपाटी चल रही है, उसमें हम स्वयं अपराधी हैं।' अप्रासंगिक बतलाया है और हमसे 'अपराध क्या स्वभाव है या आगन्तुक विभाव (विकारी भाव) है?' यह प्रश्न करके उसे आगन्तुक सिद्ध करते हुए परसंग को कारण बतलाकर संसाररूप परिपाटी को परसंगरूप कारणजन्य सिद्ध किया है तथा प्रमाणस्वरूप आचार्य अमृतचन्द्र का '**न जातु रागादि**' इत्यादि कलश उपस्थित किया गया है और अन्त में निष्कर्ष को फलित करते हुए लिखा है—

'हमारा अपराधी होना भी मोहनीय कर्मोदय के आधीन है। जब तक मोहनीय कर्म का क्षय नहीं होगा, तब तक अपराध अवश्य बना रहेगा, क्योंकि निमित्त के अभाव के बिना नैमित्तिक भाव का अभाव सम्भव नहीं है।'

सो प्रकृत में यह देखना है कि संसारी जीव का 'पर का संग करना' अपराध है कि

'परसंग' अपराध है। यदि केवल परसंग को अपराध माना जाए तो कोई भी जीव संसार से मुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि किसी न किसी प्रकार से अन्य द्रव्यों का संयोग संसारी और मुक्त जीवों के सदा बना हुआ है और यदि पर का संग करना अपराध माना जाता है तो यह प्रकृत में स्वीकृत है, क्योंकि आचार्य अमृतचन्द्र के '**न जातु रागादि**' इत्यादि कलश का यही अभिप्राय है। आचार्य महाराज इस कलश द्वारा वस्तुस्थिति पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि – '**संसारी जीव ने परसंग किया, इसलिए पर का संग उसकी विभाव परिणति में निमित्त हो गया।**' प्रकृत में यह अभिप्राय है कि संसारी जीव पर में एकत्वबुद्धि और राग-द्वेष द्वारा निरन्तर परसंग करता आ रहा है, इस कारण वह पराधीन बना हुआ है। **इस प्रकार की पराधीनता रूप स्वयं स्वतंत्ररूप से परिणम रहा है,** इसलिए यह जीव की सच्ची पराधीनता कही गई है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि अपने द्वारा किया गया ऐसा जो परसंग है, वह संसार की जड़ है। यदि यह जीव अपने उपयोग स्वभाव के द्वारा स्वभावसन्मुख होकर उक्त प्रकार के परसंग करने की रुचि का त्याग कर दे अर्थात् पर में एकत्वबुद्धि और राग-द्वेष न करे तो जो उसके पर के साथ अनादि काल से निमित्त-नैमित्तिकपना व्यवहार से बना चला आ रहा है उसका सुतरां अन्त हो जाए। स्वभावप्राप्ति या मुक्ति इसी का दूसरा नाम है। हमें विश्वास है कि इस स्पष्टीकरण से प्रकृत में 'परसंग' पद का क्या तात्पर्य है और उसे अपराध किस रूप में माना गया है इत्यादि तथ्यों का खुलासा होकर हमारा पूर्वोक्त कथन कैसे प्रकरणसंगत है, इसका स्पष्ट प्रतिभास हो जाएगा।

प्रतिशंका ३ के अंत में 'पुनश्च' पद के उल्लेखपूर्वक जो कुछ लिखा गया है वह केवल पिछले कथन का पिष्टपेषणमात्र है, उसमें विचार करने योग्य नई ऐसी कोई बात नहीं लिखी गई है, अत: उस पर अधिक विचार न करना ही श्रेयस्कर है। हाँ, अपने पूर्वोक्त कथन की पुष्टि में पंडित फूलचन्द्र द्वारा लिखित तत्त्वार्थसूत्र अ. १० सूत्र १ की टीका का जो उद्धरण दिया है सो वह भी ध्वंस और उत्पाद को सर्वथा एक सिद्ध नहीं करता। मात्र वह उस क्रम को बतलाता है जिस क्रम से घातियाकर्मों का अभाव होने पर केवलज्ञान पर्याय प्रगट होती है। अत: प्रकृत में यही निर्णय करना चाहिए कि अज्ञान-भाव के निमित्तरूप चार घातियाकर्मों का अभाव होने पर केवलज्ञान पर की अपेक्षा किए बिना ही स्वभाव के आश्रय से प्रगट होता है। तत्त्वार्थसूत्र के 'मोहक्षयात्' इत्यादि सूत्र का यही स्पष्ट आशय है और इसी आशय से उसमें हेतुपरक पंचमी विभक्ति का प्रयोग हुआ है।

●

प्रथम दौर

: 1 :

नमः श्रीवीतरागाय

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुंदकुंदार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

शंका 16

निश्चय और व्यवहारनय का स्वरूप क्या है? व्यवहारनय का विषय असत्य है क्या? असत्य है तो अभावात्मक है या मिथ्यारूप है?

समाधान 1

इस लोक में जितने भी पदार्थ उपलब्ध होते हैं, उनका परस्पर में (एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ में) अत्यन्ताभाव होने पर भी यह जीव अनादि अज्ञानवश संयोग को प्राप्त हुए पदार्थों में न केवल एकत्व बुद्धि को करता आ रहा है, अपितु स्वसहाय होने पर भी पर की सहायता के बिना मेरा निर्वाह नहीं हो सकता—ऐसी मिथ्या मान्यतावश अपने को परतंत्र बनाये हुए चला आ रहा है। **अतएव इसे पर से भिन्न एकत्वस्वरूप अपने आत्मा का सम्यक् ज्ञान कराने और पराश्रित बुद्धि का त्याग कराने के अभिप्राय से अध्यात्म में मुख्यतया निश्चयनय और व्यवहारनयों का प्ररूपण हुआ है।** यही कारण है कि श्री समयसारजी की ४थी गाथा में आचार्यवर्य इस संसारी जीव को लक्ष्यकर कहते हैं कि - इस जीव ने कामानुबन्धिनी और भोगानुबन्धिनी कथा अनन्त बार सुनी, अनन्तबार उनका परिचय प्राप्त किया और अनन्तबार उनका अनुभव किया, परन्तु पर से भिन्न एकत्व को इसने आज तक उपलब्ध नहीं किया। आगे ५वीं गाथा में कहते हैं कि 'मैं उस विभक्त एकत्त्व का अपने विभव से (आगम, गुरुउपदेश, युक्ति और अनुभव से) दर्शन कराऊँगा। यदि दर्शन कराऊँ तो प्रणाम करना।' आगे ६-७ वीं गाथाओं द्वारा अन्य के निषेध द्वारा वह विभक्त एकत्त्व क्या है, इसका ज्ञान कराया गया है। ११वीं गाथा में जिसे भूतार्थ कहा है, वह इस विभक्त एकत्व से भिन्न अन्य

कुछ नहीं। अन्य जितना भी है उस सबकी परिगणना अभूतार्थ में की गई है। इस प्रकार श्री समयसारजी को सम्यक् रूप से हृदयङ्गम करने पर ज्ञात होता है कि प्रकृत में निश्चयनय और व्यवहारनय के कथन से आचार्य महाराज को क्या इष्ट है।

यह वस्तुस्थिति है। इसे ध्यान में रखकर निश्चयनय का निर्दोष लक्षण क्या हो सकता है, इसकी मीमांसा करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र समयसारजी की ५६वीं गाथा में कहते हैं –

निश्चयनयस्तु द्रव्याश्रितत्वात्केवलस्य जीवस्य स्वाभाविकं भावमवलम्ब्योत्प्लवमानः परभावं परस्य सर्वमेव प्रतिषेधयति।

अर्थ – निश्चयनय तो द्रव्याश्रित होने से, केवल एक जीव के स्वाभाविक भाव का अवलम्बन लेकर प्रवर्तमान होता हुआ, दूसरे के भाव को किंचित्मात्र भी दूसरे का नहीं कहता।

इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर नयचक्र में निश्चयनय का स्वरूप निर्देश करते हुए कहा है—

गेण्हइ दव्वसहावं असुद्ध-सुद्धोवयारपरिचत्तं।
सो परमभावगाही णायव्वो सिद्धिकामेण॥१९९॥

जो अशुद्ध, शुद्ध और उपचार से रहित मात्र द्रव्यस्वभाव को ग्रहण करता है, सिद्धि के इच्छुक पुरुष द्वारा वह परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय जानने योग्य है॥१९९॥

इसमें '**सिद्धिकामेण**' पर ध्यान देने योग्य है, इस द्वारा संसारी जीव को उसका मुख्य प्रयोजन क्या है ? यह बतलाते हुए ज्ञान कराया गया है कि यदि तू अनादि अज्ञानवश अपने में आई हुई परतंत्रता से मुक्त होकर स्वाधीन सुख का उपभोग करना चाहता है तो अनन्त विकल्पों को छोड़कर अपनी बुद्धि में एकमात्र उस विभक्त एकत्व का अवलम्बन ले।

स्पष्ट है कि जो एकमात्र परम भावस्वरूप ज्ञायकभाव को ग्रहण करता है और उससे भिन्न अन्य सबका निषेध करता है वह निश्चयनय (समयसार गा. १४ के अनुसार शुद्धनय) कहलाता है।

यह परमभावग्राही निश्चयनय का निर्दोष लक्षण है।

अब देखना यह है कि इस द्वारा अन्य किसका निषेध किया गया है। जैसा कि पूर्व में ६-७ वीं गाथा (समयसार) का निर्देश कर आये हैं, उन पर सम्यक् प्रकार से दृष्टिपात करने पर निषेध योग्य अन्य सब पर भावों का ज्ञान हो जाता है। **६वीं गाथा द्वारा ज्ञायकभाव से भिन्न**

तीन परभावों का निषेध किया गया है। वे ये हैं - (१) प्रमत्तभाव, (२) अप्रमत्तभाव और (३) परसापेक्ष ज्ञायकभाव। तथा ७वीं गाथा द्वारा (४) अखण्ड आत्मा में भेद विकल्प का निषेध किया गया है।

यहाँ अपने आत्मा से भिन्न अन्य समस्त द्रव्य तो परभाव हैं ही, अत: उनका निषेध तो स्वयं हो जाता है। उनको ध्यान में रखकर यहाँ परभावों की मीमांसा नहीं की गई है। किन्तु एक ही आत्मा में ज्ञायकभाव से भिन्न जितने प्रकार से परभाव सम्भव हैं उन्हें यहाँ लिया गया है जो चार प्रकार के हैं। निर्देश पूर्व में कर ही आये हैं।

यद्यपि यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि एक आत्मा से भिन्न अन्य अनन्त भाव भी परभाव है, उन्हें यहाँ परभाव रूप से क्यों नहीं लिया गया है। समाधान यह है कि उन सब परभावों का आत्मा में अत्यन्त अभाव तो स्वरूप से ही है। उनका निषेध तो स्वयं ही हो जाता है। यहाँ मात्र एक आत्मा में ज्ञायकभाव से भिन्न अन्य जितने परभाव हैं, उनसे प्रयोजन है। **जिस वस्तु के जो धर्म हैं उन्हीं को उसका जानना - यह सम्यक्नय है।** इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर पंचाध्यायी (श्लोक ५६१) में सम्यक्नय का लक्षण करते हुए **'तद्गुणसंविज्ञान'** (जिस वस्तु का जो धर्म है मात्र उसे उसका जानना) को नय कहा है।

इस प्रकार यहाँ तक के विवेचन द्वारा विधि-निषेधमुख से परमभावग्राही निश्चयनय का ज्ञान हो जाने पर प्रकृत में व्यवहारनय और उसके भेदों की मीमांसा करनी है। यह तो सुनिश्चित है कि अपनी गुण-पर्यययुक्त आत्मा को लक्ष्य में लेने पर यहाँ जिन्हें परभाव कहा है, वे सब धर्म आत्मा के हैं। उनका आत्मा में सर्वथा अभाव है, ऐसा नहीं हैं, किन्तु उनमें बहुत से धर्म ऐसे हैं जो आगन्तुक हैं और जो संसार की विवक्षित भूमिका तक आत्मा में दृष्टिगोचर होते हैं, उसके बाद उसमें उपलब्ध नहीं होते हैं। इसलिए यदि आत्मा की सब अवस्थाओं को लक्ष्य में रखकर उसका विचार किया जाता है तो वे आत्मा की सब अवस्थाओं में अनुगामी न होने से उन्हें असद्भूत कहा है। परन्तु जब तक वे आत्मा में उपलब्ध होते हैं तब तक उनके द्वारा आत्मा में यह आत्मा प्रमादी है, यह आत्मा अप्रमादी है—ऐसा व्यवहार तो होता ही है, इसलिए त्रिकाली आत्मा में यह नहीं है और ज्ञायकस्वरूप आत्मा से वे भिन्न हैं, इन सब प्रयोजनों को ध्यान में रखकर उनका असद्भूत व्यवहारनय में अन्तर्भाव किया है। उसमें भी ये दोनों प्रकार के (प्रमत्तभाव और अप्रमत्तभाव) भाव बुद्धिपूर्वक (बुद्धि में आवें ऐसे) भी होते हैं और अबुद्धिपूर्वक (बुद्धि में न आवें ऐसे) भी होते हैं, अतएव जो अबुद्धिपूर्वक होते

हैं उनमें अन्य की अपेक्षा विवक्षित न होने से उन्हें अनुपचरित कहा गया है तथा जो प्रमत्त और अप्रमत्तभाव बुद्धिपूर्वक होते हैं उनमें बुद्धिपूर्वकत्व की अपेक्षा आने से परसापेक्षपने की अपेक्षा उपचरित कहा गया है। इसप्रकार विचार करने पर असद्भूत व्यवहारनय के दो भेद प्राप्त होते हैं - अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय और उपचरित असद्भूत व्यवहारनय। जो प्रमत्त और अप्रमत्तभाव अबुद्धिपूर्वक होते हैं, वे अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय के विषय हैं और जो प्रमत्तभाव और अप्रमत्तभाव बुद्धिपूर्वक होते हैं उन्हें उपचरित असद्भूत व्यवहारनय का विषय कहा है। यह तो अध्यात्म की अपेक्षा असद्भूत व्यवहारनय के दो भेदों की मीमांसा है।

आगे सद्भूत व्यवहारनय की और उसके भेदों की मीमांसा करनी है। यह तो सुनिश्चित है कि अखंड आत्मा में ज्ञान है, दर्शन है और चारित्र है। ये गुण त्रिकाली हैं। यदि आत्मा में इनका सर्वथा अभाव माना जाता है तो अपने विशेषों का सर्वथा अभाव होने से आत्मा का ही अभाव प्राप्त होता है, इसमें संदेह नहीं। इसलिए यह तो मानना ही पड़ता है कि वे सब धर्म आत्मा में हैं, परन्तु वे ऐसे नहीं हैं कि ज्ञान अलग हो, दर्शन अलग हो और चारित्र अलग हो। किन्तु पूरे आत्मा को ज्ञानरूप से देखने पर वह ज्ञान है, दर्शनरूप से देखने पर वह दर्शन है और चारित्ररूप से देखने पर वह चारित्र है, इसलिए आत्मा में उनका सद्भाव होने पर भी वे भेदरूप से नहीं हैं, यह सिद्ध होता है। इस प्रकार आत्मा में उनका सद्भाव होने से उन्हें सद्भूत मानकर उन द्वारा आत्मा का अलग-अलग व्यवहार होने से उन्हें व्यवहार का विषय माना है। इस प्रकार आत्मा ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है—ऐसा जानना सद्भूत व्यवहार होकर भी इसमें अन्य किसी की अपेक्षा विवक्षित न होने से इन द्वारा आत्मा को ग्रहण करना अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय है।

अब यह देखना है कि जो यहाँ आत्मा को ज्ञायकरूप कहा है सो वह पर की अपेक्षा ज्ञायक है कि स्वरूप से ज्ञायक है। यदि एकान्त से यह माना जाता है कि वह पर की अपेक्षा ज्ञायक है तो ज्ञायकभाव आत्मा का स्वरूप सिद्ध न होने से ज्ञायकस्वरूप आत्मा का सर्वथा अभाव प्राप्त होता है। यह तो है कि ज्ञायकभाव स्व-परप्रकाशक होने से पर को जानता अवश्य है। पर वह पर की अपेक्षामात्र ज्ञायक न होने से स्वरूप से ज्ञायक है। फिर भी उसे ज्ञायक कहने से उसमें ज्ञेय की ध्वनि आ जाती है, इसलिए उसपर ज्ञेय की विवक्षा लागू पड़ जाने से, उसे उपचरित कहा है। इस प्रकार आत्मा को ज्ञायक कहना यह सद्भूत व्यवहार है और उसे ज्ञेय की अपेक्षा ज्ञायक—ऐसा कहना यह उपचरित है। इस प्रकार जब ज्ञेय की

विवक्षा से ऐसा कहा जाता है कि आत्मा ज्ञायक है तब वह उपचरित सद्भूत व्यवहारनय का विषय होता है। इस प्रकार विचार करने पर सद्भूतव्यवहार भी दो प्रकार का सिद्ध होता है— एक अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय और दूसरा उपचरित सद्भूत व्यवहारनय।

यहाँ पर इतना विशेष जान लेना चाहिये कि ज्ञेय की विवक्षा न करते हुए सहज स्वभाव से जो ज्ञायकभाव है जिसको नियमसार में कारण परमात्मा या परमपारिणामिक भाव कहा गया है, वह निश्चयनय का विषय है और शेष व्यवहार है। श्री पंचाध्यायी जी में व्यवहार के चारों भेदों का निरूपण इसी आशय से किया गया है जिसका निर्देश श्री समयसारजी की गाथा ६ और ७ में स्पष्ट रूप से किया गया है।

यह श्री समयसारजी का मुख्य रूप से विवेचनीय विषय है, जिसका निश्चयनय और व्यवहारनय को लक्ष्य में रखकर यहाँ विचार किया गया है। किन्तु आत्मा से सर्वथा भिन्न ज्ञानावरणादि कर्म और नोकर्म (शरीर, मन, वाणी और बाह्य विषय) में भी एकत्वबुद्धि बनी हुई है तथा वह पराश्रित बुद्धि वाला होने से कार्य-कारण परम्परा में भी कार्य के प्रति आत्मा की सहज योग्यता को उसका मुख्य कारण न मानकर कार्य की उत्पत्ति पर से मानता आ रहा है। इस प्रकार उसकी विषय और कारणरूप से जो पर के साथ एकत्व बुद्धि हो रही है उसे दूर करने के अभिप्राय से तथा इतर जनों को प्रकृत में उपयोगी व्यवहारनय और निश्चयनय का विशेष ज्ञान कराने के अभिप्राय से भी श्री समयसारजी में यहाँ वहाँ सर्वत्र दूसरे प्रकार से भी निश्चयनय और व्यवहारनय का निर्देश किया है। उदाहरणार्थ श्री समयसारजी गाथा २७ में देह और उसकी क्रिया के साथ, उसे आत्मा मानकर, जिसकी एकत्व बुद्धि बनी हुई है या जिसने नयज्ञान का विशेष परिचय नहीं प्राप्त किया है उसकी उस दृष्टि को दूर करने के अभिप्राय से इसे भी व्यवहारनय का विषय बतलाकर उपयोगस्वरूप आत्मा का निश्चयनय के विषयरूप से ग्रहणकर मात्र ऐसे व्यवहार को छुड़ाने का प्रयत्न किया गया है। इसीप्रकार कर्त्ता-कर्म अधिकार में या अन्यत्र जहाँ भी निश्चयनय और व्यवहारनय का प्रयोग हुआ है वहाँ वह दो द्रव्यों और उनकी पर्यायों में हो रही अभेद बुद्धि को दूर करने के अभिप्राय से ही किया गया है, इसलिए जहाँ पूर्वोक्त दृष्टि से निश्चयनय व्यवहारनय का निरूपण किया गया हो उसे वहाँ उस दृष्टि से और जहाँ अन्य प्रकार से निश्चयनय व्यवहारनय का निरूपण हो वहाँ उसे उस प्रकार से दृष्टिपथ में लेकर उसका निर्णय कर लेना चाहिये। लक्षणादि दृष्टि से इनका विवेचन अन्यत्र किया ही है, इसलिए वहाँ से जान लेना चाहिये।

यहाँ निश्चयनय के संबंध में इतना लिखना और आवश्यक है कि निश्चयनय दो प्रकार का है – सविकल्प निश्चयनय और निर्विकल्प निश्चयनय। नयचक्र में कहा भी है—

सविपष्प णिबियप्यं पमाणरूवं जिणेहि णिद्दिट्ठं।
तह विह णया वि भणिया सवियप्पा णिव्वियप्पा च॥

जिनदेव ने सविकल्प और निर्विकल्प के भेद से प्रमाण दो प्रकार का कहा है तथा उसी प्रकार सविकल्प और निर्विकल्प के भेद से नय भी दो प्रकार के कहे गये हैं।

अब विचार यह करना है कि – यहाँ निर्विकल्पनय से क्या प्रयोजन है और उसका श्री समयसारजी में कहाँ पर निरूपण किया है और वह कैसे बनता है ?

यह तो अनुभवियों के अनुभव की बात है कि जब तक स्व और पर को निमित्त कर किसी प्रकार का विकल्प होता रहता है तब तक उसे निर्विकल्प संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती। किन्तु यह आत्मा सर्वदा विकल्पों से आक्रान्त रहता हो, यह कभी भी संभव नहीं है। जिन्हें स्वसहाय केवलज्ञान हो गया है वे तो विकल्पातीत ही होते हैं, इसमें संदेह नहीं। किन्तु जो आत्मा उससे नीचे की भूमिका में अवस्थित हैं वे भी स्वात्मानुभव की अवस्था में निर्विकल्प होते हैं, क्योंकि जब यह आत्मा व्यवहारमूलक अन्य सब विकल्पों से निवृत्त होकर और सविकल्प निश्चयनय के विषयरूप मात्र ज्ञायकभाव का आलम्बन लेता है, अन्त में वह भी ज्ञायकभाव संबंधी विकल्प से निवृत्त होकर निर्विकल्पस्वरूप स्वयं समसयार हो जाता है। श्री समयसारजी में कहा भी है—

कम्मं बद्धमबद्धं एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो॥१४२॥

अर्थ – जीव में कर्म बद्ध है अथवा अबद्ध है, इस प्रकार के विकल्प को तो नयपक्ष जानो, किन्तु जो पक्षातिक्रान्त (उक्त दोनों प्रकार के विकल्पों से रहित) कहलाता है वह समयसार अर्थात् निर्विकल्प शुद्ध आत्मतत्त्व है॥ १४२॥

किन्तु जीव को इस प्रकार अनुभव की भूमिका न प्रमाणज्ञान का आलम्बन लेने से ही प्राप्त हो सकती है और न व्यवहारस्वरूप नयज्ञान के आलम्बन से ही प्राप्त हो सकती है। वह तो मात्र निश्चयनय के विषयभूत एकमात्र ज्ञायकभाव के आलम्बन से ही होती है। यही कारण है कि मोक्षमार्ग में एकमात्र निश्चयनय को आश्रयणीय कहा है। आत्मानुभूति

शुद्धनयस्वरूप कहने का कारण भी यही है। कहा भी है—

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या
ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकंप
मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समंतात्।।

— *समयसार क. १३*

अर्थ – इस प्रकार जो पूर्व कथित शुद्ध नयस्वरूप आत्मा की अनुभूति है वही वास्तव में ज्ञान की अनुभूति है, यह जानकर तथा आत्मा में आत्मा को निश्चल स्थापित करके, सदा सर्व और एक ज्ञानघन आत्मा हूँ, इस प्रकार अनुभवना चाहिए।

•

श्री वीतरागाय नमः

द्वितीय दौर

: 2 :

शंका 16

प्रश्न यह है – निश्चय और व्यवहारनय का स्वरूप क्या है ? व्यवहारनय का विषय असत्य है क्या ? असत्य है तो अभावात्मक है या मिथ्यारूप ?

प्रतिशंका 2

यह हमारा प्रश्न है, इसका उत्तर आपने ७ पृष्ठों में दिया है, परन्तु हमारे प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं है। आपके ७ पृष्ठों के उत्तर में यह बात कहीं नहीं आई है कि व्यवहार नय का विषय असत्य है क्या ? असत्य है तो अभावात्मक है या मिथ्यारूप ? इसलिए आप हमारे प्रश्नों का उत्तर देने की कृपा करें। आपने जो उत्तर दिया है वह भी शास्त्राधार से विपरीत ठहरता है। आपने लिखा है कि 'यह जीव अनादि अज्ञानवश संयोग को प्राप्त हुए पदार्थों में न केवल

एकत्वबुद्धि को करता आ रहा है। अपितु स्वसहाय होने पर भी पर की सहायता के बिना मेरा निर्वाह नहीं हो सकता—ऐसी मिथ्या मान्यतावश अपने को परतंत्र बनाये हुए चला आ रहा है।' ये आपकी पंक्तियाँ हैं। इनको पढ़ने से यह अर्थ सर्वविदित स्पष्ट हो जाता है कि आप आत्मा की परतंत्रता को केवल कल्पनात्मक समझते हैं और परपदार्थों के संयोग को आप एकत्व बुद्धिरूप मिथ्या मान्यता बता रहे हैं। आपकी समझ से कर्मों का आत्मा के साथ न तो वास्तव में संबंध है और न आत्मा के राग-द्वेष विकारभाव एवं नारकादि आत्मा की व्यंजन पर्याय उनमें होती हैं। केवल एकत्वबुद्धि रूप मिथ्या मान्यता है। इसी समझ के अनुसार आपने यह लिखा है कि 'स्वसहाय होने पर भी पर की सहायता के बिना मेरा निर्वाह नहीं हो सकता है, ऐसी मिथ्या मान्यतावश परतंत्र मान रहा है।'

इसी समझ के अनुसार 'व्यवहारनय का विषय असत्य है क्या ?' इस हमारे प्रश्न को छुआ तक नहीं है, उसका कोई उत्तर नहीं दिया है। इसका भी कारण यह है कि आप अपनी निजी समझ से आत्मा के विकारी भावों में कर्मों का निमित्त और उनका प्रभाव आत्मा पर नहीं मानते हैं। किन्तु आत्मा की अनादि अज्ञानता को स्वयं आत्मीय योग्यता से मान रहे हैं।

परन्तु ऐसी मान्यता समयसार, मूलाचार, भावसंग्रह, रयणसार, धवल सिद्धान्त, तत्त्वार्थवार्तिक, गोमटसार आदि शास्त्रों से विपरीत है। इसका सप्रमाण स्पष्टीकरण करते हुए हम यह बता देना आवश्यक समझते हैं कि जीव की अनादि अज्ञानता स्वयं आत्मा के केवल निजी भावों से नहीं होती है। किन्तु वह अज्ञानता कर्मों जनित आत्मा की परतंत्र कर्माधीनभाव व्यंजनपर्याय है। यदि अज्ञानता को आत्मा की ही स्वतंत्र पर्याय मान लिया जाये तो वह अज्ञानता संसारी जीवों में क्यों पाई जाती है। परम-शुद्ध परमात्मा सिद्ध-भगवान में क्यों नहीं हो सकती है। इसका क्या विशेष हेतु है ? इसका उत्तर शास्त्राधार से दीजिये। आत्मा का स्वभाव निश्चयनय से केवलज्ञानरूप है, यथाख्यात चारित्ररूप विशुद्ध परिणामस्वरूप है, विशुद्ध सम्यग्दर्शनरूप है तथा उस स्वभाव आत्मा में अज्ञानरूप विभावभाव किस कारण से आ गया—इस बात का उत्तर देना चाहिये।

दूसरी बात यह है कि आत्मा में परतंत्रता आप वास्तव में नहीं बताते हैं, किन्तु उसे मिथ्या मान्यतावश केवल कल्पनात्मक बता रहे हैं। जैसी कि आपकी ऊपर पंक्तियाँ हैं। यह बात भी शास्त्रानुसार विपरीत है। कारण समस्त पूर्वाचार्यों ने स्वरचित समस्त शास्त्रों से

आत्मा को वास्तव में परतंत्र लिखा है। वह परतंत्रता शरीर एवं ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय आदि द्रव्यकर्मों के उदय से ही हुई है, जो पर्यायदृष्टि से वास्तविक है। यदि परतंत्रता आत्मा की निर्हेतुक एवं कोरी कल्पनात्मक ही हो तो वह परतंत्रता एवं अज्ञानता आत्मा में सदैव रहनी चाहिये। जो वस्तु निर्हेतुक होती है, वह नित्य रहती है। जैसे धर्म अधर्म आकाशद्रव्य, ये निर्हेतुक होने से सदैव स्वकीय स्वभावमय रहते हैं। जीव-पुद्गलों में वैभाविकी शक्ति उपादानरूप होने से और बाह्य में कर्मोदय जनित उपाधि होने से दोनों द्रव्य विभाव भावपर्याय को धारण करते हैं, इसीलिये वह जीव पुद्गलों की विकृति सहेतुक है और उसी से जीव परतंत्र बना हुआ है। आत्मा से जब बाह्य कारण कर्मोदयजनित निमित्त से बंधने वाले द्रव्यकर्म हट जाते हैं तो आत्मा उन परजन्य विकार भावों से हट जाता है, परम शुद्ध बन जाता है। उस समय आत्मा की वैभाविक शक्ति स्वभावरूप परिणत हो जाती है। बिना बाह्य निमित्त कर्मोदय के वह शक्तिविभाव भावरूप पर्याय कभी नहीं बन सकती है। बिना निमित्त कारण के केवल उपादान कुछ भी करने में सर्वथा असमर्थ है।

जो बात सहेतुक नहीं होती, केवल कल्पनामात्र होती है, उससे वस्तु की वास्तविकता सिद्ध नहीं होती। यदि कोई जड़ को चेतन और चेतन को जड़ समझ बैठे तो यह उसकी समझ का दोष है। उसकी समझ से जड़ चेतन नहीं हो जायेगा, और चेतन जड़ नहीं बन जायेगा।

आत्मा के साथ शरीर का सम्बन्ध है, इसीलिये आत्मा लोकाकाश के बराबर असंख्यातप्रदेशी होने पर भी वह शरीराकार ही रहता है। घनांगुल के असंख्यातवें भाग शरीर परिमाण वाले सूक्ष्म निगोदिया जीव से लेकर स्वयंभूरमण समुद्र में रहने वाले एक हजार योजन शरीर की अवगाहना वाले महामत्स्य में रहने वाली आत्मा समान आत्मप्रदेशी होने पर भी, उन शरीरों में रुद्ध एवं बद्ध होकर परतंत्र बना हुआ है। यह बात प्रमाणों से भलीभाँति सिद्ध है। इसी प्रकार आत्मा के राग, द्वेष और मनुष्यादि पर्यायों में जीव अपने आत्मीय शुद्ध स्वभाव के विरुद्ध विकृत बना हुआ है। घोर दुःखमय नरक में कोई नहीं जाना चाहता है, परन्तु जाना पड़ता है। इसका कारण कर्मोदय की परतंत्रता ही है। यह परतंत्रता वास्तविक है। केवल मिथ्या समझ से नहीं है।

अब हम व्यवहारनय की विषय-भूत व्यवहार क्रियाओं पर थोड़ा प्रकाश डालते हैं। दिगम्बर जैनागम में व्यवहार धर्म के आधार पर ही निश्चयस्वरूप शुद्धात्मा की प्राप्ति अथवा मोक्षप्राप्ति बताई गई है। व्यवहार धर्म का निश्चयधर्म के साथ अविनाभाव संबंध है। बिना

व्यवहारधर्म के निश्चय धर्म त्रिकाल में न तो किसी ने प्राप्त किया है और न कोई प्राप्त कर सकता है। इसीलिये वह मोक्ष प्राप्ति में अनिवार्य परम साधक धर्म है। यही कारण है कि तीर्थंकर तक को उत्कट वैराग्य होने पर भी सातवाँ-छठा गुणस्थान तब तक नहीं हो सकता है जब तक वे जङ्गल में जाकर बुद्धि पूर्वक वस्त्राभूषण आदि समस्त परिग्रहों का त्यागकर नग्न दिगम्बररूप धारण कर केशलुंचन नहीं कर देते हैं। नग्न रूप धारण करने के बाद ही उन्हें सातवाँ व छठवाँ गुणस्थान प्राप्त होता है। इसी प्रकार छठवें गुण्स्थान से सातवें गुणस्थान अप्रमत्त को छोड़कर जब वे सातिशय अप्रमत्त परिणाम को अध:करणादि तीन करणों के साथ क्षपक-श्रेणी का आरोहण कर अन्तर्मूहूर्त में केवलज्ञानमय परम विशुद्ध गुणों को प्राप्त कर लेते हैं। इस जन्म-मरण की अनादिकालीन कर्मजनित अज्ञानता को हटाने के लिए मुख्य कारण नग्नता, पंच महाव्रत, पंच समिति, षट् आवश्यक आदि व्यवहार धर्म ही हैं। इस व्यवहार धर्मरूप महाव्रतादि क्रियाओं के विकल्प को तथा मुनिधर्म की जीवन भर की चर्या को सफल बनाने वाली सल्लेखना समाधि के विकल्प को हेय एवं मिथ्या बताया जाता है, सो ठीक नहीं है, आगम विरुद्ध है। उन्हीं महाव्रतादि विकल्पभावों को शास्त्रकार पूर्वाचार्यों ने आत्मा की विशुद्धता एवं मोक्षप्राप्ति में मूल हेतु बताया है। इसीलिये यह फलितार्थ मानना आवश्यक हो जाता है कि मुनिलिंग-द्रव्यलिंग, भावलिंग का साधक अनिवार्य कारण है। द्रव्यलिंग की प्राप्ति होने पर ही भावलिंग प्रकट हो सकता है, अन्यथा असंभव है। भावलिंग की पहिचान छद्मस्थमतिज्ञानी-श्रुतज्ञानी करने में सर्वथा असमर्थ हैं। इसीलिये द्रव्यलिंग एवं अट्ठाईस मूलगुणरूप बाह्य क्रियाओं के पालन को देखकर मन-वचन-काय से मुनिराज की श्रद्धा भक्ति करना प्रत्येक सम्यग्दृष्टि का प्रथम कर्त्तव्य है। अपनी बाह्य चर्या एवं तपश्चरण में पूर्ण सावधान भावलिंगी मुनि को हम लोग द्रव्यलिंगी (मिथ्यादृष्टि) समझते रहें और उन्हें नमस्कार आदि नहीं करें तो यह हमारा बहुत बड़ा अपराध होगा और भावलिंगी मुनि को द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि कहकर हम स्वयं मिथ्यादृष्टि बन जाते हैं। आचार्यों ने पंचमकाल के अन्त तक भावलिंगी मुनि बताये हैं और साथ ही उन्हें चतुर्थ काल के समान भावलिंगी मानकर उनकी श्रद्धा-भक्ति करने का विधान सम्यक्त्व प्राप्ति एवं सम्यग्दृष्टि का लक्षण बताया है।

इस कथन से यह बात भी भलीभाँति सिद्ध हो जाती है कि जिस व्यवहारधर्म को अभूतार्थ कहकर अथवा उसे मिथ्या कहकर केवल निश्चयधर्म से निश्चयधर्म की प्राप्ति बताई जाती है, वह निराधार कल्पना है। किन्तु व्यवहारधर्म मोक्षसाधक अनिवार्य कारण है।

वह वास्तविक परम सत्य है। इसी तत्त्व को भगवान् कुन्दकुन्द आचार्य देवसेनाचार्य, आचार्य वट्टकेर एवं आचार्य वीरेसन आदि ने बताया है।

व्यवहार असद्‌भूत है—ऐसा मानकर ही देवपूजा, मुनिदान, तीर्थ-वन्दना, स्वाध्याय, उपवासादि तपश्चरण आदि को संसारबर्द्धक कहा जाता है, परन्तु न तो व्यवहार असत्य है और न देवपूजनादि क्रियाएँ संसारवर्द्धक हैं। किन्तु ये सब क्रियायें मोक्षसाधक ही है। ऐसा भगवान् कुन्दकुन्द ने रयणसार में, आचार्य देवसेन ने भावसंग्रह में, आचार्य पद्मनन्दि ने पद्मनन्दी पंचविंशतिका में स्पष्ट लिखा है। अन्य शास्त्रों में भी इन धार्मिक क्रियाओं को मोक्षसाधक ही कहा गया है।

ऐसी अवस्था में शास्त्रों का पूर्वापर अविरोध समन्वय करने के लिये यह कहना और समझना होगा कि व्यवहारनय को असद्‌भूत कहने का आशय आचार्यों का यही है कि वह सत्यार्थ है, मोक्षसाधक है परन्तु आत्मा का निश्चयरूप पूर्ण शुद्धरूप नहीं है। वह मिश्रित पर्याय है, केवल शुद्ध पर्याय नहीं है। किन्तु शुद्धाशुद्ध है और स्थायी नहीं है।

व्यवहारधर्म छठे गुणस्थान तक ही क्रियात्मक रहता है। आगे भावात्मक हो जाता है। इसलिये साधक होने पर भी वह पूर्ण शुद्ध नहीं है। स्थायी भी नहीं है, इसलिये उसे असद्‌भूत कहा गया है। यही अर्थ व्यवहारधर्म का आपकी इन पंक्तियों से सिद्ध होता है।

'आत्मा की सब अवस्थाओं को लक्ष्य में रखकर उसका विचार किया जाता है तो वे आत्मा की सब अवस्थाओं में अनुगामी न होने से उन्हें असद्‌भूत कहा है। परन्तु जब तक वे आत्मा में उपलब्ध होते हैं तब तक उनके द्वारा आत्मा में यह आत्मा प्रमादी है, यह आत्मा अप्रमादी है-ऐसा व्यवहार तो होता ही है। इसलिये त्रिकाली आत्मा में यह नहीं है और ज्ञायकस्वरूप आत्मा से वे भिन्न हैं इन सब प्रयोजनों को ध्यान में रखकर उनका असद्‌भूत व्यवहारनय में अन्तर्भाव किया है।' इन पंक्तियों से यह बात आपने स्वयं प्रकट कर दी है कि व्यवहारनय को असद्‌भूत कहने का अर्थ असत्य नहीं हैं, किन्तु शुद्धाशुद्ध पर्याय है। वह स्थायी सब अवस्थाओं में नहीं रहती है अर्थात् निश्चय की प्राप्ति होने पर वह अवस्था छूट जाती है। इन पंक्तियों में आपने जो उसको ज्ञायक स्वरूप आत्मा से भिन्न बताया है, यह बात शास्त्रविरुद्ध है। क्योंकि सातवें गुणस्थान एवं सूक्ष्म लोभोदय के साथ दसवें गुणस्थान तक होने वाले उपशमभाव या क्षायकभाव ज्ञायक आत्मा से भिन्न नहीं हैं, किन्तु वे सब आत्मा ही के भाव हैं। वे परम शुद्ध क्षायिक भाव के अंश रूप हैं।

आगे आपने जो यह बताया है कि 'कार्य के प्रति आत्मा की सहज योग्यता को उसका मुख्य कारण न मानकर कार्य की उत्पत्ति पर से मानता आ रहा है।' आदि, सो हम आपसे स्पष्ट करना चाहते हैं कि वह सहज योग्यता क्या है जो बिना व्यवहार के निश्चयनय को प्राप्त करा देवे ? बिना महाव्रतादि व्यवहारचारित्र को धारण किये परतंत्र एवं राग-द्वेषविशिष्ट आत्मा कर्मों का क्षय कर सकता है क्या ? अथवा माँस मदिरादिक का त्याग किये बिना कोई मनुष्य सम्यक्त्व को भी प्राप्त कर सकता है क्या ? यदि यह कहा जाये कि माँस-मदिरादि सेवन और जीवों को मारना आदि तो जड़ शरीर की क्रियाएँ हैं, उनसे आत्मा को कोई संबंध नहीं है, ऐसी दशा में कौन-सी वह सहज योग्यता है जिससे उन अशुद्धमय एवं अशुद्ध मूलक वस्तुओं को छोड़े बिना आत्मा को शुद्ध पर्याय में ले जा सके। हो तो शास्त्र प्रमाण से प्रकट कीजिये। शास्त्रकारों ने तो आत्मा की शुद्धता और मोक्ष प्राप्ति में मूल हेतु त्याग को ही बताया है। अष्ट मूलगुण, अणुव्रत, महाव्रत आदि उसी के फल-स्वरूप आत्मशुद्धि के साधक सिद्ध होते हैं। ऐसा ही आगम है।

आगे समयसारजी की गाथा नं. २७ का प्रमाण देकर आपने जो यह लिखा है कि 'देह और उसकी क्रिया के साथ उसे आत्मा मानकर जिसकी एकत्वबुद्धि बनी हुई है या जिसने नयज्ञान का विशेष परिचय नहीं किया है उसकी इस दृष्टि को दूर करने के अभिप्राय से इसे भी व्यवहारनय का विषय बताकर उपयोगस्वरूप आत्मा का निश्चयनय के विषयरूप से ग्रहणकर मात्र ऐसे व्यवहार को छुड़ाने का प्रयत्न किया है।' आदि।

आपकी उपर्युक्त पंक्तियाँ भ्रम पैदा करती हैं। कारण जो शरीर और क्रिया को आत्मा मानता है, वह तो मिथ्यादृष्टि है। उस विचार वाले मिथ्यादृष्टि का सम्बन्ध सम्यग्दृष्टि की आत्मा के साथ नहीं जोड़ना चाहिये। सम्यग्दृष्टि जीव शरीर को आत्मा नहीं समझता है, किन्तु वह तो निश्चयस्वरूप को समझकर उसके साधक व्यवहारधर्म को पालता है। उस व्यवहार धर्म को छोड़ने का प्रयत्न किसी शास्त्र में नहीं बताया गया है, किन्तु उसे ग्रहण करने का ही विधान है। हाँ, सम्यग्दृष्टि का व्यवहारधर्म निश्चय प्राप्ति को कराकर स्वयं छूट जाता है।

इसका प्रमाण यही है कि आत्मा छठे गुणस्थान की क्रियाओं में महाव्रतादि व्यवहारधर्म के द्वारा जब सातवें अप्रमत्त गुणस्थान में पहुँच जाता है तब वह क्रियात्मक व्यवहारधर्म स्वयं छूट जाता है।

दिगम्बर जैनधर्म अनेकान्तस्वरूप है। उसके अनुसार निश्चय और व्यवहार दोनों नय

और उनके विषयभूत पदार्थ प्रमाणभूत सिद्ध हो जाते हैं। इसका खुलासा यह है कि प्रमाण वस्तु के सर्वांश को ग्रहण करता है, वस्तु द्रव्य-पर्यायात्मक है। इस वस्तु स्वरूप को ध्यान में लेने से यदि केवल निश्चयनय को ही उपादेय माना जावे तो वह निरपेक्ष होने से मिथ्या नय ठहरेगा। '**निरपेक्षाः नया मिथ्या**'—ऐसा शास्त्रवाक्य है। यदि निश्चयनय को छोड़कर केवल व्यवहार को ही ठीक माना जाये तो भी वह मिथ्या ठहरेगा। क्योंकि वस्तुस्वरूप द्रव्य-पर्याय उभयरूप है। इसलिये जैसे निश्चय प्रमाणभूत उपादेय है, उसी प्रकार व्यवहारनय भी प्रमाणभूत उपादेय है। प्रमाणज्ञान दोनों सापेक्ष नयों को एक साथ ग्रहण करता है। इसलिये दोनों नयों के विषयभूत निश्चय और व्यवहारधर्म भी प्रमाणभूत एवं समीचीन है। क्रियात्मक एवं भावात्मक दोनों धर्मों का सामंजस्य और समीचीनता अनेकान्त प्रमाण से सहज सिद्ध हो जाती है। परन्तु ये निराधार स्वतंत्र मान्यताऐं अनेकान्त स्वरूप को छोड़कर मिथ्या एकान्तरूप बन गई हैं।

इस प्रकार की एकान्त मान्यताओं से व्यवहारधर्म को हेय तथा निश्चयधर्म ही उपादेय माना जाता है। इस मान्यता का कटुक फल यह दीखने लगा है कि जिनभक्ति, मुनिभक्ति, मुनिदान, तीर्थवन्दना आदि श्रावकधर्म विधायक एवं मोक्षफल प्रतिपादक मुनिधर्म विधायक शास्त्रों में परिवर्तन किया जा रहा है तथा उन्हें कुशास्त्र कहने का दु:साहस भी किया जा रहा है। इन बातों से दिगम्बर जैन धर्म में पूर्ण विकृति आये बिना नहीं रह सकती है।

इसलिये यथार्थ वस्तुस्वरूप प्रतिपादक अनेकान्त का आश्रय लेना आवश्यक है। उसी से व्यवहारधर्म एवं निश्चयधर्म में हेतु-हेतुमद्भाव, कार्यकारणभाव एवं साध्य-साधकभाव की सिद्धि हो जाती हे। इस समीचीन मान्यता से ही आत्मा स्वपर-कल्याण एवं मोक्षमार्ग में प्रवृत्त हो जाता है।

उपर्युक्त समस्त विवेचन की पुष्टि में यहाँ पर संक्षेपरूप में कतिपय प्रमाणोंका उद्धरण हम प्रस्तुत करते हैं। वे प्रमाण इस प्रकार है—

देवागम स्तोत्र की '**दोषावरणयोर्हानिः**' आदि, इस कारिका के भाष्य में आचार्य विद्यानन्दि स्वामी लिखते हैं कि—

वचनसामर्थ्यादज्ञानादिर्दोषः स्वपरपरिणामहेतुः, न हि दोष एव आवरणमिति प्रतिपादने कारिकाया दोषावरणयोरिति द्विवचनं समर्थम्। ततः तत्सामर्थ्यादावरणात् पौद्गलिक-

ज्ञानावरणादिकर्मणो भिन्नस्वभाव एव आवरणादिर्दोषोऽभ्यूह्यते, तद्धेतुः पुनरावरणकर्म जीवस्य पूर्वस्वपरिणामश्च। स्वपरिणामहेतुक एवाज्ञानादिरित्ययुक्तम्। *—अष्टसहस्त्री पृष्ठ ५१*

दोष और आवरण इन दोनों में अज्ञानादि तो दोष हैं व स्वपर (जीव और कर्म) परिणाम से होता है। दोष का नाम ही आवरण नहीं है, वह अज्ञानादि दोष पौद्‌गलिक ज्ञानावरण कर्म से भिन्न हैं और इस अज्ञानभाव का कारण पौद्‌गलिक ज्ञानावरण कर्म है तथा जीव की पूर्व पर्याय भी है। इसलिए जीव का अज्ञान भाव स्वपरहेतुक है।

इस अष्टसहस्त्री के प्रमाण से आपकी इस बात का खंडन हो जाता है कि अज्ञानता स्वयं आत्मा की योग्यता से होती है।

इसी बात की पुष्टि में आचार्य अकलंकदेव '**ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने**' इस तत्त्वार्थसूत्र की वृत्ति में लिखते हैं कि—

स्यादेतत् ज्ञानावरणे सति अज्ञानमनवबोधो भवति। न प्रज्ञा, ज्ञानस्वभावत्वादात्मनः इति, तन्न, किं कारणम्-अन्यज्ञानावरणसद्‌भावे तद्‌भावात्ततो ज्ञानावरण एव इति निश्चयः कर्तव्यः। *—तत्त्वार्थवार्तिक अ. ९ सू. १३*

प्रज्ञा और अज्ञान दो परिषह ज्ञानावरण के उदय से ही होते हैं।

आपका यह कहना कि अनादि अज्ञानता जीव की स्वयं होती है, वह कर्मकृत नहीं है, इस बात का उपर्युक्त प्रमाणों से पूरा खण्डन हो जाता है।

व्यवहारधर्म मोक्षमार्ग और मोक्षप्राप्ति में पूर्ण साधक है और वह स्वयं मोक्षमार्गस्वरूप है। इसके प्रमाण में आचार्य वीरसेन स्वामी लिखते हैं कि—

अरहंतणमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयडमदी।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावइ अचिरेण कालेण।।

—श्री धवल पुस्तक १ पृष्ठ ९

तथा -

कधं जिणबिंबदंसणं पढमसम्मत्तुपत्तीए कारणं ? जिणबिंबदंसणेण णिधत्त-णिकाचिदस्स वि मिच्छत्तादिकम्मकलावस्स खयदंसणादो।

जो विवेकी जीव भाव-पूर्वक अरहंत को नमस्कार करता है, वह अतिशीघ्र समस्त दुखों से मुक्त हो जाता है तथा जिनबिंब के दर्शन से निधत्त और निकाचितरूप भी मिथ्यात्वादि

कर्म कलाप का क्षय देखा जाता है तथा जिनबिंब का दर्शन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण होता है। *—श्री धवल पु. ६ पृ. ४२७*

प्रवचनसार की टीका में आचार्य जयसेन स्वामी लिखते हैं कि—

तं देवदेवदेवं जदिवरवसहं गुरुं तिलोयस्स।
पणमंति जे मणुस्सा ते सोक्खं अक्खयं जंति॥

— प्रवचनसार गाथा ७९ की टीका

उन देवाधिदेव जिनेन्द्र को, गणधरदेव को और साधुओं को जो मनुष्य वन्दना नमस्कार करता है, वह अक्षय मोक्षसुख को प्राप्त करता है।

पंचास्तिकाय की टीका में आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ने लिखा है कि—

निश्चयव्यवहारयोः साध्यसाधनभावत्वात् सुवर्ण-सुवर्णपाषाणवत्। अतएव उभयनयानत्ता पारमेश्वरी तीर्थप्रवर्तना इति। *—पंचास्तिकाय गाथा १५९ की टीका*

तथा

निश्चयमोक्षमार्गसाधनभावेन पूर्वोद्दिष्टव्यवहारमोक्षमार्गनिर्देशोऽयम्।
व्यवहारमोक्षमार्ग-साध्यभावेन निश्चयमोक्षमार्गोपन्यासोऽयम्।।

—पंचास्तिकाय गाथा १६०-१६१ की टीका

निश्चयनय और व्यवहारनय परस्पर साध्यसाधकभाव है। जैसे सोना साध्य है और सुवर्ण पाषाण साधन है। इन दोनों नयों के ही अधीन सर्वज्ञ वीतराग के धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति होती है।

निश्चय मोक्षमार्ग का साधन व्यवहार मोक्षमार्ग है। व्यवहार मोक्षमार्ग से ही निश्चय मोक्षमार्ग सिद्ध होता है।

श्री परमात्मप्रकाश में श्री आचार्य कहते हैं कि—

एवं निश्चय-व्यवहाराभ्यां साध्यसाधकभावेन तीर्थगुरुदेवतास्वरूपं ज्ञातव्यम्।

—परमात्मप्रकाश श्लोक ७ की टीका

तथा —

साधको व्यवहारमोक्षमार्गः साध्यो निश्चयमोक्षमार्गः।

—परमात्मप्रकाश टीका पृष्ठ १४२

अर्थ – इस प्रकार निश्चय और व्यवहार के साध्य-साधकभाव से तीर्थ, गुरु और देवता का स्वरूप जानना चाहिये।

तथा—

व्यवहार मोक्षमार्ग साधक है और निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है।

श्री पंचास्तिकाय टीका में आचार्य जयसेन स्वामी लिखते हैं कि—

निश्चयव्यवहारमोक्षकरणे सति मोक्षकार्यं संभवति इति॥

— ***श्री पंचास्तिकाय गाथा १०६***

अर्थ – निश्चय और व्यवहार इन दोनों मोक्षकरणों से (निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय से) ही मोक्षरूप कार्य सिद्ध होता है।

व्यवहार धर्म की मोक्ष-साधकता में प्रमाण देते हुए अन्त में हम इतना लिखना भी आवश्यक समझते हैं कि व्यवहारधर्म को धवल सिद्धान्त आदि सभी शास्त्रों में मोक्षसाधक धर्म बताया गया है। परन्तु अनेक प्रमाण सामने रहते हुए भी आप व्यवहारधर्म को धर्म नहीं मानते हैं। किन्तु पुण्य कहकर उसे संसार का कारण समझ रहे हैं। ऐसी धारणा से नीचे लिखी बातें पैदा होती हैं—

१. मुनिधर्म जो मोक्षप्राप्ति का साक्षात् साधन है, वह धर्म नहीं ठहरता है। प्रत्युत मुनियों की चर्या संसार-वर्द्धक ठहरती है। शास्त्रों में मुनियों को अरहंत का लघुनन्दन कहा गया है।

२. श्रावकधर्म की क्रियाएँ भी धर्म नहीं ठहरती हैं, ऐसी दशा में क्रियात्मक चारित्र का कोई मूल्य नहीं रहता। आजकल वैसे ही लोग धर्म से शिथिल बन रहे हैं। कुछ लोग देवदर्शन छोड़ चुके हैं। भक्ष्याभक्ष्य एवं स्पर्शास्पर्श का विवेक छोड़कर होटलों में खाने लगे हैं। कुछ भाई तो व्यवहारधर्म को धर्म नहीं समझकर एवं उसे केवल शरीर की क्रिया समझकर बाजारू खान-पान एवं हीनाचार की ओर भी झुक गये हैं। परन्तु वास्तव में विचार किया जाये और शास्त्रों पर श्रद्धान किया जाये तो व्यवहारधर्म श्रावक और मुनियों का मोक्षमार्ग है। उसके बिना मुक्ति प्राप्ति असम्भव है।

३. यह बात विचारणीय है कि यदि व्यवहारधर्म को धर्म नहीं माना जाये तो धर्मप्रवर्तक तीर्थंकर भगवान उसे क्यों धारण करते। वे तो सर्वोच्च अनुपम असाधारण एकमात्र धर्मनायक

हैं। यह नियम है कि आठ वर्ष पीछे तीर्थंकर अणुव्रती बन जाते हैं। तो क्या उनकी इस व्यवहारधर्म की प्रवृत्ति को धर्म नहीं माना जायेगा। उत्तर देने की कृपा करें।

४. दूसरी बात यह है कि यदि व्यवहारधर्म में होने वाले राग-भाव (शुभराग एवं प्रशस्त राग) को संसारवर्द्धक माना जाये तो दशवें गुणस्थान में भी सूक्ष्म लोभ के उदय में जो सूक्ष्म सांपरायिक रागभाव है उसे भी संसारवर्द्धक मानना पड़ेगा और वहाँ भी राग के सद्भाव में शुद्धोपयोग नहीं बनेगा। परन्तु क्षपकश्रेणी में चढ़े हुए दशवें गुणस्थानवर्ती शुक्लध्यानी मुनिराज उस राग के सद्भाव में भी कर्मों की अनन्तगुणी निर्जरा करते हैं और अन्तर्मुहूर्त में नियम से केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं—ऐसा शास्त्रीय विधान है। ऐसी अवस्था में प्रशस्त राग संसारवर्द्धक सिद्ध नहीं होता है, किन्तु शुद्धध्यान का कारण एवं केवलज्ञान प्राप्ति का अंतिम साधन है। परन्तु आप ऐसे शुभोपयोग वाले सम्यग्दृष्टि एवं महाव्रती के प्रशस्त राग को भी धर्म न कहकर पुण्य कहते हुए उसे संसारवर्द्धक बता रहे हैं, इसका आगमप्रमाण से उत्तर दीजिये।

सारांश यह है कि शुद्धस्वरूप का प्रतिपादक निश्चयनय है और शुद्धाशुद्ध द्रव्य या पर्याय का प्रतिपादक व्यवहारनय है। निश्चयनय अपने स्थान पर सत्यार्थ है और व्यवहारनय अपने क्षेत्र में सत्यार्थ है। दोनों नय प्रमाण के ही उपभेद हैं, परस्पर सापेक्ष दोनों नय सत्य हैं, निरपेक्ष दोनों असत्य हैं।

जीव की प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर संसारी दशा भी असत्य नहीं और अव्यक्त शक्तिरूप शुद्ध-बुद्ध दशा भी सत्य है।

निश्चयधर्म सापेक्ष व्यवहारधर्म आत्मशुद्धि का साधक है, निश्चय-व्यवहारनय का समन्वय करने वाला स्याद्वादसिद्धान्त जैनसिद्धान्त का मूल स्तम्भ है।

●

श्री वीतरागाय नमः

शंका 16

निश्चयनय और व्यवहारनय का स्वरूप क्या है ? व्यवहारनय का विषय असत्य है या सत्य ? असत्य है तो अभावात्मक है या मिथ्यारूप ?

प्रतिशंका 2 का समाधान

मूल प्रश्न के उत्तरस्वरूप जो लेख लिपिबद्ध किया गया था उसमें निश्चयनय और व्यवहारनय का स्वरूप बतलाकर व्यवहारनय के एक द्रव्य की अपेक्षा जितने भेद होते हैं उनकी सप्रमाण चर्चा की गई थी। उसमें व्यवहारनय के सद्भूत और असद्भूत और उनके उपचरित और अनुपचरित भेदों का निर्देश किया गया था। इसलिये यह आक्षेप तो समीचीन नहीं कि प्रश्न में जो पूछा गया उसका उत्तर नहीं दिया गया। इतना अवश्य है कि प्रश्नकर्ता अपने मन में यदि किसी हेतु को ध्यान में रखकर प्रश्न करता है तो जिस हेतु से उसने प्रश्न किया है उसका भी उल्लेख होना चाहिये। अस्तु,

हमारे द्वारा लिखी गई 'यह जीव अनादि अज्ञानवश संयोग को प्राप्त हुए पर पदार्थों में न केवल एकत्वबुद्धि को करता आ रहा है, अपितु स्वसहाय होने पर भी पर की सहायता के बिना मेरा निर्वाह नहीं हो सकता—ऐसी मिथ्या मान्यतावश अपने को परतंत्र बनाये हुए चला आ रहा है।' इन पंक्तियों पर से जो प्रतिशंका २ में उक्त प्रकार की मिथ्या धारणा को कल्पना की संज्ञा दी गई है, यह पढ़कर आश्चर्य हुआ। अथवा अदेव में देवबुद्धि, अगुरु में गुरुबुद्धि और अशास्त्र में शास्त्रबुद्धि तथा इसी प्रकार अनात्मीय पदार्थों में आत्मबुद्धि, जिसे कि सभी शास्त्रकार मिथ्या श्रद्धा के रूप में मिथ्यादर्शन लिखते आये हैं, उसे आजकल यदि कल्पना माना जाता है तो आश्चर्य भी नहीं होना चाहिये। जीवादि सात पदार्थों की विपरीत श्रद्धा का नाम ही तो मिथ्यात्व है, इसे जैनागम का अभ्यासी प्रत्येक व्यक्ति जानता है, फिर वैसी मान्यता कल्पनात्मक कैसे हुई ? विचार कीजिए। इसी प्रकार लेख में अप्रासंगिक और भी अनेक चिन्तनीय विचार रखे गये हैं। आत्मा की नर, नारकादि पर्याय स्वयं आत्मा की अवस्था है। यदि पर द्रव्यरूप कर्मों का आत्मा के साथ होने वाले बन्ध का शास्त्रकार व्यवहारनय से सद्भाव स्वीकार करते हैं और हमारी ओर से उस कक्षा के भीतर रहकर उत्तर देकर शास्त्र

मर्यादा की सीमा बनाये रखी जाती है तो इसमें हानि ही क्या है ? इस संबंध में स्वयं आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

सर्वद्रव्याणां परैः सह तत्त्वतः समस्तसम्बन्धशून्यत्वात्।

—प्रवचनसार ३, ४ टीका

अर्थ - आत्मा तत्त्वत: परद्रव्यों के साथ सब प्रकार के संबंध से शून्य है।

प्रतिशंकास्वरूप लिखे गये लेख में अनेक आगमग्रन्थों का नाम है। इनमें पंचाध्यायी का नाम लिखकर उसका नाम अलग क्योंकर दिया गया, यह मेरी समझ के बाहर है। यह कोई प्रशंसनीय कार्य नहीं हुआ इतनी सूचना देना मैं अपना श्रद्धामूलक प्रधान कर्तव्य मानता हूँ। जिन ग्रन्थों के इस सूची में नाम हैं, उनमें समयसार के साथ मूलाचार, भावसंग्रह, रयणसार, धवलसिद्धान्त, तत्त्वार्थवार्तिक और गोम्मटसार—इन आगमशास्त्रों का भी नाम है। इनमें समयसार अध्यात्म की मुख्यता से प्रतिपादन करने वाला आगम ग्रन्थ है, शेष आगम ग्रन्थ व्यवहारनय की मुख्यता से लिखे गये हैं। पंचास्तिकाय में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

एवमनया दिशा व्यवहारनयेन कर्मग्रन्थप्रतिपादितजीवगुणमार्गणास्थानादि-प्रपंचितविचित्रविकल्परूपैः। *— गाथा १२३ टीका*

इस उल्लेख से स्पष्ट है कि जिन शास्त्रों में जीवस्थान, गुणस्थान और मार्गणास्थान आदिरूप विविध भेदों का कथन किया गया है, जिनमें कर्मग्रन्थ मुख्य हैं, वे व्यवहारनय की मुख्यता से लिखे गये हैं।

अतएव इनमें निमित्तों की मुख्यता से प्रतिपादन करते हुए जो यह कहा गया है कि 'उनके कारण जीव संसार में परिभ्रमण करता है या जीव कर्मों के कारण ही संसार का पात्र बना हुआ है।' तो ऐसे कथन को परमार्थभूत न कहकर व्यवहारनय की अपेक्षा स्वीकार किया जाता है तो उस परसे विपरीत अर्थ फलित न करके यही फलित करना चाहिए कि 'यह संसारी जीव एकमात्र अपने अज्ञान के कारण ही संसार का पात्र बना हुआ है। इसमें जड़कर्मों का अणुमात्र भी दोष नहीं है। अपनी परतंत्रता का दोष कर्मों पर मढ़ना और उसमें अपना अपराध नहीं मानना इसे तो नैयायिक-वैशेषिकदर्शन का ही प्रभाव मानना चाहिये आत्मा परतंत्र है, उसकी परतंत्रता काल्पनिक नहीं है। पर उसका मूल कारण आत्मा का अज्ञान-मिथ्यादर्शन परिणाम ही है, कर्म नहीं। इसी आशय को व्यक्त करते हुए चन्द्रप्रभु भगवान् की जयमाला

में पंडित रामचन्द्रजी कहते हैं—

कर्म विचारे कौन भूल मेरी अधिकाई।
अग्नि सहे घनघात लोहकी संगति पाई।।

इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए पंडित प्रवर बनारसीदासजी कहते हैं—

करम करै फल भोगवै जीव अज्ञानी कोय।
यह कथनी व्यवहार की वस्तुस्वरूप न होय।।

इसमें संदेह नहीं कि जीव की जब यह परतंत्ररूप अवस्था होती है तब उसके मोहनीय आदि कर्मों का उदय भी होता है। पर इस प्रकार के संयोग को देखकर यदि वह उसका कारण पर को ही मानता रहता है और आप अपराधी हुआ उसका मूल कारण अपने अज्ञान की ओर दृष्टिपात नहीं करता तो संसार में ऐसा कोई उपाय नहीं है जो उसे उसकी परतंत्रता से विलग कर दे। व्रत धारण करो, समिति का पालन करो, मौन रहो, वचन मत बोलो, किन्तु जब तक जीवन में अज्ञान का वास है तब तक यह सब करने से आत्मा को अणुमात्र भी लाभ होने वाला नहीं है। वह लाभ जो संसार की परिपाटी को बढ़ाने वाला है यथार्थ लाभ नहीं माना जा सकता। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव के ही व्रतादि मोक्षमार्ग में सफल हैं। यह लिखना और कहना कि 'इस जीव को कर्म ही परवश बनाये हुए हैं। उसी के कारण यह परतंत्र हो रहा है—ऐसा ही है जैसे कोई चोर चोरी करे और कहे कि इसमें मेरा क्या अपराध ? अशुभ कर्मोदय की परवशतावश मुझे चोरी करने के लिए बाध्य होना पड़ता है।' अतएव प्रकृत में यही मानना उचित है कि इस जीव की परतंत्रता का मूल कारण आत्मा का अज्ञान भाव ही है। दर्शनमोहनीय का उदय-उदीरणा नहीं, वह तो निमित्तमात्र है।

आगे व्यवहारनय का विषय कहकर क्रियारूप व्यवहार धर्म से निश्चयस्वरूप शुद्धता की प्राप्ति अथवा मोक्षप्राप्ति बतलाते हुए लिखा है कि 'व्यवहारधर्म का निश्चयधर्म के साथ अविनाभावसंबंध है। बिना व्यवहारधर्म के निश्चय धर्म त्रिकाल में न तो किसी ने प्राप्त किया है और न कोई प्राप्त कर सकता है इसलिए वह मोक्षप्राप्ति में अनिवार्य परम साधक धर्म है।' आदि।

प्रकृत में देखना यह है कि वह व्यवहारधर्म क्या है और उसकी प्राप्ति कैसे होती है। आगम में बतलाया है कि जब तक संसारी जीव मिथ्यादृष्टि रहता है तब तक उसके जितना

भी व्यवहार होता है, उसकी परिगणना मिथ्या व्यवहार में होती है। ऐसे मिथ्या व्यवहार को लक्ष्य कर ही समयसार में लिखा है—

वद-णियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।
परमट्ठबाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विंदंति॥१५३॥

अर्थ – व्रत और नियमों को धारण करते हुए भी तथा शील पालते हुए भी जो परमार्थ से (परम ज्ञानस्वरूप आत्मा के श्रद्धान से) बाह्य हैं, वे निर्वाण को नहीं प्राप्त होते।। १५३।।

इसकी टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—

ज्ञानमेव मोक्षहेतुः, तद्भावे स्वयमज्ञानभूतानामज्ञानिनामन्तर्व्रतनियमशीलतपः-प्रभृतिशुभकर्म सद्भावेऽपि मोक्षाभावात्। अज्ञानमेव बन्धहेतुः, तदभावे स्वयं ज्ञानभूतानां ज्ञानिनां बहिर्व्रतनियमशीलतःपप्रभृतिशुभकर्मासद्भावेऽपि मोक्षसद्भावात्।

अर्थ – ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है; क्योंकि ज्ञान के अभाव में स्वयं ही अज्ञान रूप होने वाले अज्ञानियों के अन्तरंग में व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि शुभकर्मों का सद्भाव होने पर भी मोक्ष का अभाव है तथा अज्ञान ही बन्ध का कारण है, क्योंकि उसके अभाव में स्वयं ही ज्ञानरूप होने वाले ज्ञानियों के बाह्य व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि शुभकर्मों का असद्भाव होनेपर भी मोक्ष का सद्भाव है।

इस गाथा में अज्ञानभाव का निषेध है और ज्ञानभाव का समर्थन किया गया है।आशय यह है कि यदि अज्ञानभाव के साथ व्रत, शील और तप हों तो भी वह (अज्ञानभाव) एकमात्र संसार का कारण है तथा ज्ञानभाव के होने पर भी कदाचित् व्रत, नियम, शील और तप न भी हों तो भी वह (ज्ञानभाव) मोक्ष का हेतु है।

नियम यह है कि अधिक से अधिक अर्धपुद्गल परावर्तन प्रमाण काल के शेष रहने पर जीव काललब्धि के प्राप्त होने पर आत्मसन्मुख पुरुषार्थ द्वारा अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण परिणाम करके अज्ञानभाव का अन्तकर सम्यग्दर्शन को प्राप्त होता है। अधिक-से-अधिक कितना काल रहने पर संसारी जीव सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है, इस तथ्य का यह सूचक वचन है तथा कम-से-कम संसार का अन्तर्मुहूर्त काल शेष रहने पर जीव सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है। ऐसा जीव शेष अन्तर्मुहूर्त काल के भीतर-भीतर गुणस्थान परिपाटी से अयोगीकेवली होकर मोक्ष का पात्र होता है। सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने का मध्य का काल अनेक प्रकार है।

उक्त उल्लेख में आया हुआ 'ज्ञान' पद सम्यग्दर्शन का और 'अज्ञान' पद मिथ्यादर्शन का सूचक है। इसका तात्पर्य यह है कि जब तक इस जीव को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती तब तक अन्य सब परिश्रम मोक्षमार्ग की दृष्टि से निष्फल है। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने सम्यग्दर्शन को धर्म का मूल बतलाते हुए लिखा है—

दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं।
तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो ॥२॥

सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है ऐसा जिनदेव ने शिष्यों को उपदेश दिया है। उसे अपने कानों से सुनने के बाद सम्यग्दर्शनशून्य पुरुष की वन्दना नहीं करनी चाहिये ॥२॥

मोक्ष आत्मा की शुद्ध परतंत्र पर्याय का दूसरा नाम है, इसलिए देह, मन, वाणी, द्रव्यकर्म, भावकर्म और स्त्री-पुत्रादि से भिन्न अपने आत्मस्वरूप का जब तक सम्यक् भान नहीं होता तबतक धर्म क्या है इसका सम्यक् निर्णय करना ही असंभव है। सम्यग्दर्शन ही एक ऐसा अलौकिक प्रकाश है जो अनादि अज्ञानरूपी प्रगाढ़ अन्धकार का भेदन कर ज्ञानानन्द चिच्चमत्कारस्वरूप शुद्ध आत्मतत्त्व का दर्शन कराने में समर्थ होता है। ऐसे आत्मस्वरूप निश्चय सम्यग्दर्शन के होने पर ही परमार्थ रूप देव, गुरु और शास्त्र के यथार्थस्वरूप की तथा जीवादि नौ पदार्थों की सम्यक् प्रतीति होती है। देव, गुरु और जीवादि नौ पदार्थों के सम्यक् स्वरूप पर सम्यक् प्रकाश डालने वाली सच्ची जिनवाणी है। वीतराग, हितोपदेशी और सर्वज्ञ ही यथार्थ देव है तथा मोक्षमार्ग में लीन परम तपोनिधि वीतराग गुरु ही सच्चे गुरु हैं। विचार कर देखने पर मेरी आत्मा का स्वरूप इनके स्वरूप से भिन्न नहीं है, क्योंकि द्रव्यदृष्टि से अवलोकन करने पर इनके स्वरूप से मेरे स्वरूप में अणुमात्र भी अन्तर नहीं है। इस प्रकार अपने आत्मा के स्वरूप को देव और गुरु के स्वरूप से मिलाकर इसकी भव और भोग में सहज उदासीन वृत्ति हो जाती है।

अभी तक यह संसारी जीव अपने अज्ञानवश अन्य भवरोग से पीड़ित संसारी सरागी देवताओं की श्रद्धा करता आ रहा था। प्राप्त सांसारिक साधनों को पुण्य का फल मानकर उन्हीं में तन्मय हो रहा था। किन्तु उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने पर उसकी पंचेन्द्रिय भोगों में सहज उदासीन वृत्ति हो जाती है। ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव अपने शुद्ध आत्मा के प्रतिनिधिस्वरूप एकमात्र परमार्थरूप देव, गुरु और शास्त्र की उपासना को ही अपना आवश्यक कर्तव्य मानता है। इसी आशय को ध्यान में रखकर देशव्रतोद्योतन पृ. १६ में कहा है—

आत्मा ज्ञानानन्दस्वभावी है—ऐसी दिव्यशक्ति की जिसे प्रतीति हुई हो उसे जब तक पूर्ण दशा प्राप्त न हो तब तक जिनेन्द्रदेव की पूजन करनी चाहिए। सम्यक्त्वी श्रावक को उनकी पूजा करने के भाव आते हैं। मुनि भी भावपूजा करते हैं। श्रावक सेवक बनकर पूजा करते हैं। जिसके अन्तरंग में ज्ञानस्वभाव का भान है वह कहता है – हे नाथ ! तेरे विरह में अनन्त काल बीत गया। हे प्रभु ! अब कृपा करो और मेरे जन्म-मरण का अन्त कर दो। जन्म-मरण का अन्त अपने आत्मा से ही होता है, किन्तु अपूर्ण अवस्था में भगवान् की पूजा का भाव होता है। स्वयंभूस्तोत्र में समन्तभद्र आचार्य अनेक प्रकार से स्तुति करते हैं। जिसे आत्मा का भान है, उसे पूर्णदशा प्राप्त भगवान् की स्तुति करने के भाव आते हैं – हे नाथ ! आपको पूर्ण आनन्द मिल गया। आप में अल्पज्ञता और विकार नहीं रहे। अब करूणा करें, ऐसे नम्र वचन निकले बिना नहीं रहते।

आगे पृ. १७ में लिखा है —

जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति नहीं देखता तथा भक्तिपूर्वक उनकी पूजा, स्तुति नहीं करता उस मनुष्य का जीवन निष्फल है तथा उसके गृहस्थाश्रम को धिक्कार है। निर्ग्रन्थ वनवासी मुनि भी कहते हैं कि उन्हें धिक्कार है। आगे गाथा १६--१७ में कहा है कि भव्य जीवों को प्रातःकाल उठकर श्री जिनेन्द्रदेव तथा गुरु के दर्शन करना चाहिये तथा भक्तिपूर्वक उनकी वन्दना स्तुति करनी चाहिये तथा धर्मशास्त्र सुनना चाहिये। तत्पश्चात् गृहकार्य करने चाहिये। गणधरादि महान् पुरुषों ने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में सर्व प्रथम धर्म का निरूपण किया तथा उसको मुख्य माना है।

यह सम्यग्दृष्टि सच्चे देव, गुरु, शास्त्र की यथार्थ भक्ति है। इसके साथ सात व्यसनों के सेवन में उसकी त्याग भावना हो जाती है। वह शास्त्रों में प्रतिपादित आठ अंगों का उक्त प्रकार से पालन करते हुए सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोषों का त्याग कर देता है। इस प्रकार निश्चय सम्यग्दर्शन के साथ व्यवहार सम्यग्दर्शन का यथाविधि पालन करते हुए सहज आत्मरुचि की दृढ़तावश आत्मविशुद्धिकी उत्तरोत्तर वृद्धि होने पर जैसे ही अन्तरंग में अंशरूप से उसके वीतराग परिणति के जागृत होने के साथ अप्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव होता है तब वह बाह्य में अपनी शक्ति के अनुसार श्रावक के बारह व्रतों को मनःपूर्वक पालन करने लगता है। इसके लिये वह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों का सम्यक् विचार कर अपने सन्निकट

जो सम्यक् गुरु होते हैं उनके चरणों में उपस्थित हो अपनी अन्तरंग विशुद्धि का प्रकाशन कर बुद्धिपूर्वक श्रावक के अहिंसाणुव्रत आदि बारह व्रतों को धारण करता है।

परमानन्दस्वरूप नित्य एक ज्ञान-दर्शनस्वरूप ज्ञायकभाव के सिवा अन्य सब पर है -ऐसा भेदविज्ञान तो उसके सम्यग्दर्शन के काल में ही उत्पन्न हो गया था। अब उसके रागभाव में भी और न्यूनता आई है, अतएव वह संयोग को प्राप्त हुए भोगोपभोग के साधनों का परिमाण तो करता ही है। साथ ही संकल्पपूर्वक त्रसहिंसा का त्याग कर सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत और ब्रह्मचर्याणुव्रत पूर्वक सात शीलों को धारण करता है। ये बारह व्रत हैं। इनके साथ अविरत सम्यग्दृष्टि देव, गुरु, शास्त्र की पूजा अर्चा, वन्दना, नमस्कृति आदिरूप जितना श्रावक का कर्तव्य है आत्मोन्मुख परिणति के साथ वह सब व्यवहार धर्म देशविरत गृहस्थ के होता है। आत्मजागृति के साथ इसके शरीर, भोग और संसार के प्रति जो सहज उदासीन वृत्ति उदित होती है उसके परिणामस्वरूप वह विचार करता है कि—

कब ह्वै मेरे वा दिनकी सुधरी।
तन विन वसन अशन बिन वन में
निवसों नासादृष्टि धरी। कब.,

यह तो आगम से ही स्पष्ट है कि श्रावकधर्म अपवादमार्ग है। उत्सर्गमार्ग तो मुनिधर्म ही है, इसलिए गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी आत्मजागृति के कारण उसमें उसकी सहज उदासीनता बनी रहती है और अन्तरंग में कषाय की मन्दता के साथ जैसे-जैसे आत्मविशुद्धि की वृद्धि होती जाती है वैसे-वैसे उसका चित्त परम वीतराग मुद्रा को धारण कर साक्षात् मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होने के लिए उद्यत होता है।

मुनिधर्म लोकोत्तर साधना है। जिसके चित्त में भोगोपभोग के प्रति पूर्णरूप से सहज उदासीनता उत्पन्न हो गई है, अन्तरंग में समता तत्त्व के अभ्यासवश जो पूर्ण आत्मजागृति के लिए बद्धपरिकर है, जिसने पूर्ण अहिंसा, सत्य, अचौर्य और ब्रह्मचर्य की पराकाष्ठा प्राप्त करने का अन्तरंग में निर्णय कर लिया है—ऐसा आत्मार्थी गृहस्थ जब स्वभाव भाव के आश्रय से अपने में पूर्ण वीतरागता प्राप्त करने के लिए उद्यत होता है तब बाह्य में वह बन्धुवर्ग, गुरुजन और सब इष्ट परिकर के समक्ष अपनी अन्तरंग भावना व्यक्त कर और उनसे विदा लेता हुआ कहता है—

बन्धुवर्ग में प्रवर्तमान आत्माओ! इस पुरुष का आत्मा किंचित् मात्र भी तुम्हारा नहीं

है—ऐसा तुम निश्चय से जानो। इसलिए मैं आप सबसे बिदा लेता हूँ। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ऐसा यह आत्मा आज आत्मारूपी अपने अनादि बन्धु के पास जा रहा है।

अहो! इस पुरुष के शरीर के जनक के आत्मा! अहो! इस पुरुष के शरीर की जननी के आत्मा! इस पुरुष का आत्मा आप दोनों द्वारा उत्पन्न नहीं है—ऐसा आप दोनों निश्चय से जानो। इसलिए आप दोनों इस आत्मा को छोड़ा अर्थात् इस आत्मा में रहने वाले राग का त्याग करो। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ऐसा यह आत्मा आज आत्मारूपी अपने अनादिजनक के पास जा रहा है।

अहो! इस पुरुष के शरीर की रमणी (स्त्री) के आत्मा! तू इस पुरुष के आत्मा को रमण नहीं करती—ऐसा तू निश्चय से जान। इसलिये तू इस आत्मा को छोड़। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ऐसा यह आत्मा आज अपनी स्वानुभूतिरूपी अनादि-रमणी के पास जा रहा है।

अहो इस पुरुष के शरीर के पुत्र का आत्मा! तू इस पुरुष के आत्मा का जन्य नहीं है—ऐसा तू निश्चय से जान। इसलिये तू इस आत्मा को छोड़। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है, ऐसा यह आत्मा आज आत्मारूपी अपने अनादि जन्य के पास जा रहा है। इस प्रकार बड़ों से और पुत्र से अपने को छुड़ाता है। *— प्रवचनसार २०२, टीका पृ. २४९*

इसके बाद ज्ञानाचार आदि की सम्यक् प्रकार से आराधना करता हुआ वह गुणाढ्य, क्रोधादि दोषों से रहित और वयोवृद्ध आदि उत्तम गुणों से सम्पन्न गणी (आचार्य) को प्राप्त कर '**मुझे स्वीकार करो।**' ऐसा निवेदन कर प्रणत होता हुआ गणी के द्वारा अनुगृहीत होता है। तदनन्तर मैं दूसरों का नहीं हूँ, दूसरे मेरे नहीं हैं, इस लोक में मेरा कुछ भी नहीं है ऐसा निश्चयवान् और जितेन्द्रिय होता हुआ यथा जात रूपधर होकर केशलुंच करता है। उस समय उसकी वृत्ति हिंसादिसे रहित २८ मूलगुणयुक्त और शरीर के संस्कार से रहित होती है। इस प्रकार यथाजात मुनिलिंग को स्वीकार कर जब वह नव दीक्षित स्वभावसन्मुख हो आत्मरमणता को प्राप्त होता है तब वह श्रावकधर्म के उत्कृष्ट विशुद्धिरूप परिणामों का आलम्बन छोड़ सर्वप्रथम अप्रमत्तभाव को प्राप्त होता है।

धन्य है यह आत्मस्वरूप में स्थित परम वीतराग जिन मुद्रा! जिन्होंने ऐसी जगत्पूज्य वीतरागस्वरूप साक्षात् जिनमुद्रा को प्राप्तकर पूर्ण जिनत्व प्राप्त किया है, वे तो धन्य हैं ही। किन्तु जिन्होंने पूर्ण आत्मजागृति का हेतुभूत परम पवित्र वीतरागस्वरूप जिनमुद्रा का भी आलम्बन लिया, वे भी धन्य है।

इसके बाद ऐसा ज्ञानी वीतरागी साधु अति अल्प काल में (अन्तर्मुहूर्त में) प्रमत्तसंयत होता है। इसका अन्तर्मुहूर्त काल है। किन्तु अप्रमत्तसंयत का काल इससे आधा है। प्रमत्तसंयत अवस्था में इसके स्वाध्याय, धर्मोपदेश, आहारग्रहण, विहार आदि क्रियाएँ होती हैं। ऐसा नियम है कि प्रमत्तसंयत गुणस्थान से लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक सामायिक संयम और छेदोपस्थापना संयम—ये दो संयम होते हैं। वीतराग साधु के सदाकाल अरि-मित्र, महल-श्मशान, कञ्चन-काँच तथा निन्दा करने वाला—स्तुति करने वाला इनमें सर्वकाल समभाव रहता है। पर्यायरूप से काँच और कञ्चन को वह अलग-अलग जानता अवश्य है, परन्तु स्वभावदृष्टि की प्रधानता होने से वह दोनों हो पुद्गल समझकर एक को श्रेष्ठ और दूसरे को तुच्छभाव से नहीं देखता। जगत के सब पदार्थों को देखने की उसकी यही दृष्टि रहती है।

शरीर और पर्यायसम्बन्धी मूर्च्छा तो उसकी छूट ही गई है, इसलिये उसका शरीर संस्कार की ओर अणुमात्र भी ध्यान नहीं जाता। संज्वलन कषाय के सद्भाव में आहार, पीछी, कमण्डलु और स्वाध्यायोपयोगी १-२ शास्त्र मात्र के ग्रहण के भाव का विरोध नहीं है, इसलिये एषणा और प्रतिष्ठापन समिति के अनुसार ही, वह इनमें प्रवृत्ति करता है।

श्रावकों को यथाविधि श्रावकधर्म का उपदेश देते हुए भी श्रावकोचित किसी भी क्रिया के करने की न तो वह प्रेरणा करता है और न उसमें किसी प्रकार की रुचि दिखलाता है।

मोक्षमार्ग में पूज्यता चारित्र के आधार पर है। मुख्यतया पञ्च परमेष्ठी ही पूज्य हैं। चारित्रधारी की विनय पद के अनुसार यथायोग्य उचित है, भले ही वह 'देशव्रती तिर्यञ्च ही हो।' पर चारित्र से रहित देव भी वन्दनीय नहीं हैं, अतएव **साधु देशभेद, समाजभेद और पन्थभेद से संबंध रखने वाली रूढिजन्य क्रियाओं की अपेक्षा किये बिना वीतरागभाव की अभिवृद्धि रूप स्वयं प्रवृत्ति करता है और तदनुरूप ही उपदेश करता है।**

यह निश्चय मोक्षमार्गपूर्वक व्यवहार मोक्षमार्ग है। चरणानुयोग के ग्रन्थों में इसी का प्रतिपादन किया गया है। पंडितप्रवर दौलतरामजी ने ढहढाला की ६वीं ढाल में—

मुख्योपचार द्विभेद यों बडभागि रत्नत्रय धरें।

इस वचन द्वारा जिस दो प्रकार के रत्नत्रय का सूचन किया है उसमें से मुख्य रत्नत्रय ही निश्चयधर्म हैं, क्योंकि वह स्वभाव के आश्रय से उत्पन्न हुई आत्मा की स्वभावपर्याय है तथा उपचाररत्नत्रय ही व्यवहार धर्म है, क्योंकि निश्चयधर्म के साथ गुणस्थान परिपाटी के

अनुसार जो देव, शास्त्र, गुरु, अहिंसादि अणुव्रत और महाव्रत आदिरूप शुभ विकल्प होता है, जो कि रागपर्याय है उसको यहाँ व्यवहारधर्म कहा गया है।

परमात्मप्रकाश में कहा है—

देवहं सत्थहं मुणिवरहं भत्तिए पुण्णु हवेई।
कम्मक्खउ पुणु होइ ण वि अज्जउ संति भणेइ॥६१॥

देव, शास्त्र और गुरु की भक्ति से पुण्य होता है। परन्तु इससे कर्मक्षय नहीं होता है— ऐसा शान्ति जिन कहते हैं॥६१॥

नयचक्र में भी कहा है—

देवगुरुसत्थभत्तो गुणोवयारकिरियाहि संजुत्तो।
पूजादाणाइरदो उवजोगो सा सुहो तस्स॥३१॥

अर्थ - जो आत्मा का उपयोग देव, गुरु, शास्त्र की भक्ति तथा गुण-उपचार क्रिया से युक्त और पूजा-दान आदि में लीन है, वह शुभ उपयोग है॥३१॥

इससे स्पष्ट है कि आगम में व्यवहारधर्म से जीव की आंशिक विशुद्धि के साथ होने वाला रागांश ही लिया गया है। अतएव जब रागांश की दृष्टि से विचार करते हैं तो यही प्रतीत होता है कि वह एकमात्र बन्धमार्ग ही है। जहाँ कहीं आगम में उसे निर्जरा का हेतु लिखा भी है तो वह केवल उसके साथ होने वाले आत्मा के निश्चय रत्नत्रयस्वरूप शुद्ध परिणाम का रागांश में उपचार करके ही लिखा है। अतएव आगम के 'व्यवहारधर्म मोक्ष का हेतु है' ऐसे वचन को पढ़कर उसका कथन मात्र उपचार से जानना चाहिये, परमार्थ से नहीं। आगम में व्यवहार-निश्चय की मुख्यता से अनेकप्रकार के वचन उपलब्ध होते हैं, सो शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ, भावार्थ—इनको समझकर ही वहाँ व्याख्यान करना चाहिये।

अनेन प्रकारेण शब्दनयमतागमभावार्थो व्याख्यानकाले यथासम्भवं सर्वत्र ज्ञातव्य इति।

—परमात्मप्रकाश १,२, पृ. ७

अनेन प्रकारेण शब्दनयमतागमभावार्थं व्याख्यानकाले सर्वत्र योजनीयं।

—पञ्चास्तिकाय गाथा १ जयसेनीय टीका पृ. ४

कई स्थानों पर प्रतिशंका २ में मिली हुई शुद्धाशुद्ध पर्याय को शुभ कहा गया है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि यह प्रतिशंका में स्वीकार कर लिया गया है कि जितना रागांश है वह

मात्र बन्ध का कारण है, पर उसे निर्जरा का हेतु सिद्ध करना इष्ट है, इसलिये पूरे परिणाम को शुभ कहकर—ऐसा अर्थ फलित करने की चेष्टा की गई है सो यह कथन की चतुराई मात्र ही है।

दशवें गुणस्थान में रागभाव है यह आगम से ही स्पष्ट है और वह बन्ध का ही कारण है, परन्तु सातवें गुणस्थान से लेकर ऐसा रागांश अबुद्धिपूर्वक होता है, इसलिये वहाँ शुद्धोपयोग की सिद्धि में कोई बाधा नहीं आती।

प्रतिशंका में एक मत यह प्रगट किया गया है कि यदि व्यवहारधर्म को निश्चयधर्म का साधक नहीं माना जाता है तो श्रावक-मुनि की क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं। सो मेरी नम्र सम्मति में ऐसा भय करने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि जब यह आत्मा शुद्धोपयोग से च्युत होकर शुभोपयोग में आता है तब उसके उस पद के अनुरुप बाह्य क्रियाएँ भी होती हैं। इतना अवश्य है कि श्रावक के गुणस्थान के अनुरूप शुद्ध परिणति के साथ शुभोपयोग की मुख्यता होती है और साधु के शुद्धोपयोग की मुख्यता और शुभोपयोग की गौणता होती है। शुभोपयोग या बाह्य क्रियाएँ तभी आत्मधर्म में बाधक है जब यह जीव इनसे निश्चयधर्म की प्राप्ति मानता है, किन्तु आगम का अभिप्राय यह है कि मोक्षमार्ग में साधक आत्मा सदाकाल स्वभाव का ही आश्रय लेने का उद्यम करता है। परन्तु उपयोग की अस्थिरता के कारण उसके आत्मानुभूतिस्वरूप ध्यान से च्युत होने पर उस समय उसकी सहज प्रवृत्ति शुभोपयोग में होती है और शुभोपयोग के साथ बाह्य क्रियाएँभी होती हैं। शुभोपयोग संसार का कारण है और शुद्धोपयोग मोक्ष का कारण है यह इससे स्पष्ट है कि शुभोपयोग के होने पर कर्मबन्ध की स्थिति-अनुभाग में वृद्धि हो जाती है और शुद्धोपयोग के होने पर उसकी स्थिति-अनुभाग में हानि हो जाती है। श्री समयसारजी में जो व्यवहार को प्रतिषिद्ध और निश्चय को प्रतिषेधक कहा है, वह इसी अभिप्राय से कहा है। यथा—

एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणएण।
णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं॥२७२॥

अर्थ - इस प्रकार व्यवहारनय निश्चय के द्वारा निषिद्ध जानो। परन्तु निश्चय का आश्रय लेने वाले मुनि निर्वाण को प्राप्त होते हैं॥२७२॥

अतएव जो मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होना चाहता है उसे मुख्यता से स्वभाव का आश्रय

लेने का ही उपदेश होना चाहिए, क्योंकि वह आत्मा का कभी भी न छूटने वाला स्वभावधर्म है तथा आत्मा में जो विशुद्धि उत्पन्न होती है, वह स्वभाव के आश्रय लेने से ही होती है, व्यवहार का आश्रय लेने से नहीं। प्रत्युत स्थिति यह है कि ज्यों ही साधक आत्मा स्वभाव के स्थान में शुभ और तदनुरूप क्रियाओं को निश्चय से उपादेय मानकर उससे मोक्षप्राप्ति होती है—ऐसी श्रद्धा करता है त्यों ही वह सम्यक्त्वरूपी रत्नपर्वत से च्युत हो जाता है। व्यवहार धर्म गुणस्थान परिपाटी से होकर भी उत्तरोत्तर गुणस्थानों में छूटता जाता है और स्वभाव के आश्रय से उत्पन्न हुई विशुद्धि उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होती हुई अन्त में पूर्णता को प्राप्त हो जाती है, इसलिये जो छूटने योग्य है उसका मुख्यता से उपदेश देना न्याय न होकर स्वभाव का आश्रय लेकर मुख्यता से उपदेश देना ही जिनमार्ग है—ऐसा यहाँ समझना चाहिये।

प्रतिशंका २ में अनेकान्त की पुष्टि के प्रसंग से **'निरपेक्षाः नयाः मिथ्या'** यह वचन उद्धृत किया गया है पर यह वचन वस्तुसिद्धि के प्रसंग में आया है और प्रकृत में मोक्षमार्ग की प्रसिद्धि की जा रही है। अतएव प्रकृत में उसका उपयोग करना इष्ट नहीं है, यहाँ गुण-पर्यायात्मक वस्तु का निषेध नहीं किया जा रहा है। **यहाँ तो यह बतलाना मात्र प्रयोजन है कि अपनी दृष्टि में किसे मुख्यकर यह संसारी जीव मोक्षमार्ग का अधिकारी बन सकता है। अतएव यह उपदेश दिया जाता है कि पर्यायबुद्धि तो तू अनादि काल से बनाए चला आ रहा है; एक बार पुण्य-पाप के, निमित्त के और गुण-पर्याय के विकल्प को छोड़कर स्वभाव का आश्रय लेने का प्रयत्न तो कर।** अब विचार करके देखों कि ऐसे उपदेश में एकान्त कहाँ हुआ। क्या इसमें पुण्य-पाप के सद्भाव को या गुण-पर्याय के सद्भाव को अस्वीकार किया गया है या उनका विकल्प दूर कराने का प्रयत्न है। इसी कारण आचार्य कुन्दकुन्द समयसार में विद्वानोंको शिक्षा देते हुए कहते हैं—

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ।।१५६।।

अर्थ - विद्वान लोग निश्चयनय के विषय को छोड़कर व्यवहार के द्वारा प्रवृत्ति करते हैं, परन्तु परमार्थ का आश्रय करने वाले मुनियों के ही कर्मों का क्षय आगम में कहा गया है।

अतएव उक्त प्रकार के भय को छोड़कर सम्यक्त्वरत्न की प्राप्ति के अभिप्राय से श्री समयसारजी आदि परमागम का आश्रय लेकर जो उपदेश दिया जाता है उसका विपर्यास न करके आशय को समझने का विद्वद्वर्ग उपक्रम करेगा—ऐसा विश्वास है।

प्रतिशंका २ में वर्तमान को ध्यान में रखकर और भी अनेक अप्रासंगिक अभिप्राय व्यक्त किये गये हैं, जो केवल भ्रम पर आधारित हैं, सो इस संबंध में इतना ही निवेदन करना पर्याप्त है कि **एक साधर्मी भाई का गलत धारणा के आधार पर ऐसे भ्रमपूर्ण विचार बनाना यह मोक्षमार्ग तो है ही नहीं, पुण्यार्जन का भी मार्ग नहीं है।**

यद्यपि प्रतिशंका रूप से यह लेख विशिष्ट अभिप्राय से लिखा गया है तथापि उसके स्थान में जिनागम के अनुसार निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग की पद्धति क्या है, मात्र इतना विचार कर इस लेखद्वारा समाधान करने का प्रयत्न किया गया है।

यह सुनिश्चित सत्य है कि जो जीवन में व्यवहार को गौण कर निश्चय से शुद्ध स्वरूप स्वभाव का आश्रय लेगा उसी को भेदाभेदरूप व्यवहार-निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति होगी और वही अन्त में मोक्ष का भागी होगा। इसीलिये स्वभाव का आश्रय लेना उपादेय है—ऐसा यहाँ निष्कर्ष रूप में समझना चाहिये। इसी भाव को व्यक्त करते हुए भगवान् कुन्दकुन्द समयप्राभृत में कहते हैं—

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चैवप्पयं लहइ जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ॥१८६॥

अर्थ - शुद्ध आत्मा का अनुभव करता हुआ जीव शुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है और अशुद्ध आत्मा को अनुभव करता हुआ जीव अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है॥१८६॥

●

तृतीय दौर

: 2 :

शंका 16

निश्चय और व्यवहारनय का स्वरूप क्या है ? व्यवहारनय का विषय असत्य है क्या ? असत्य है तो अभावात्मक है या मिथ्यारूप है ?

प्रतिशंका 3

इस प्रश्न में निम्न विषय चर्चनीय हैं—

(क) निश्चयनय का स्वरूप क्या है ?

(ख) व्यवहारनय का स्वरूप क्या है ?

(ग) व्यवहारनय का विषय असत्य है क्या ?

(घ) व्यवहारनय का विषय यदि असत्य है तो अभावात्मक है या मिथ्यारूप है ?

आपके प्रथम व द्वितीय उत्तर में (ग) व (घ) खण्ड के विषय में तो कुछ भी नहीं लिखा गया। निश्चयनय व व्यवहारनय का स्वरूप भी स्पष्ट नहीं लिखा। अप्रासंगिक बातों को तथा जिसमें आर्षग्रन्थविरुद्ध भी कथन है, ऐसी पुस्तक के वाक्यों को लिखकर व्यर्थ कलेवर बढ़ा दिया गया है। यदि ऐसा न किया जाता तो सुन्दर होता।

'प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है' पद दो शब्दों से बना है - (१) अनेक (२) अन्त। 'अनेक' का अर्थ है 'एक से अधिक' और 'अन्त' का अर्थ 'धर्म' है। इस प्रकार 'अनेकान्तात्मक वस्तु' का अर्थ 'अनेक धर्मवाली वस्तु' यह हो जाता है। परन्तु वे अनेक धर्म अर्थात् दो धर्म परस्पर विरुद्ध होने चाहिये। श्रीअमृतचन्द्र आचार्य ने समयसार स्याद्वादाधिकार में कहा है—

परस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्तः।

परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशन अनेकान्त है। **यह अनेकान्त परमागम का प्राण है तथा सिद्धान्त पद्धति का जीवन है।** इसी बात को श्री अमृतचन्द्राचार्य स्पष्ट करते हैं—

परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्॥२॥

—पुरु. सि.

अर्थ – जन्मान्ध पुरुषों के हस्तिविधान को दूर करने वाले, समस्त नयों से प्रकाशित विरोध को मथन करने वाले और परमागम के जीवनभूत अनेकान्त को नमस्कार करता हूँ।

दुर्निवारनयानीकविरोधध्वंसनौषधिः।
स्यात्कारजीविता जीयाज्जैनी सिद्धान्तपद्धतिः॥२॥

—पंचास्तिकाय टीका, मंगलाचरण

अर्थ – स्यात्कार जिसका जीवन है—ऐसी जिनभगवान् की सिद्धान्त पद्धति, जो कि दुर्निवार नय के समूह के विरोध का नाश करने वाली है, जयवन्त हो।

एक वस्तु में विवक्षाभेद से दो प्रतिपक्ष धर्म पाये जाते हैं, अतः उन दोनों धर्मों में से प्रत्येक धर्म की विवक्षा को ग्रहण करने वाला पृथक्-पृथक् एक-एक नय है, जिनका विषय परस्पर विरुद्ध है। कहा भी है—

लोयाणं ववहारे धम्म-विवक्खाइ जो पसाहेदि।
सुयणाणस्स वियप्पो सो वि णओ लिंगसंभूदो॥२६३॥

—स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा

अर्थ – जो वस्तु के एक धर्म की मुख्यता से लोक व्यवहार को साधता है, वह नय है। नय श्रुतज्ञान का भेद है तथा लिंग से उत्पन्न होता है।

णाणाधम्मजुदं पि य एयं धम्मं पि वुच्चदे अत्थं।
तस्सेय विवक्खादो णत्थि विवक्खाहु सेसाणं॥२६४॥

— स्वामी कार्तिकेय

अर्थ – यद्यपि पदार्थ नाना धर्मों से युक्त हैं तथापि नय एक धर्म को कहता है, क्योंकि उस समय उस धर्म की विवक्षा है, शेष धर्मों की विवक्षा नहीं है अथवा नय का लक्षण विकलादेश है। कोई भी एक नय वस्तु के पूर्ण स्वरूप को नहीं कह सकता। नय तो एकधर्ममुखेन वस्तु का कथन करता है। अतः वस्तुस्वरूप उतना ही नहीं है, जितना कि निश्चयनय या व्यवहारनय कथन करता है। वस्तुस्वरूप तो दोनों नयों के कथन मिलाने पर पूर्ण होता है।

प्रतिपक्षी दो धर्मों को विवक्षा भेद से ग्रहण करने वाले दो मूलनय है जिनको द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय कहते हैं। पंचास्तिकाय की गाथा चार की टीका में श्री अमृतचन्द्रसूरि ने भी लिखा है – 'भगवान ने दो नय कहे हैं – द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। भगवान् का उपदेश एक नय अधीन नहीं है, किन्तु दोनों नयों के अधीन होता है। द्रव्यार्थिकनय निश्चयनय है और पर्यायार्थिकनय व्यवहारनय है, क्योंकि समयसार गाथा ५६ की टीका में 'द्रव्याश्रित निश्चयनय और पर्यायाश्रित व्यवहारनय' कहा है। दोनों नयों का विषय परस्पर प्रतिपक्षी है, इस बात को श्री कुन्दकुन्द भगवान् भी समयसार में कहते हैं—

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं॥१४१॥

अर्थ – जीव में कर्म बद्ध है तथा स्पर्शता है—ऐसा व्यवहारनय का वचन है। जीव में कर्म न बँधता है और न स्पर्शता है—ऐसा निश्चयनय का वचन है।

इसी बात को श्री अमृतचन्द्रसूरि कलश ७० से ८९ तक २० कलशों द्वारा दो परस्पर प्रतिपक्ष धर्मों को कहकर यह कहते हैं कि एक नय का विषय एक धर्म है और दूसरे नय का विषय दूसरा धर्म है। उन कलशों में कथन किये गये प्रतिपक्ष धर्म इस प्रकार हैं—(१) बद्ध-अबद्ध (२) मूढ-अमूढ (३) रागी-अरागी (४) द्वेषी-अद्वेषी (५) कर्ता-अकर्ता (६) भोक्ता-अभोक्ता (७) जीव-जीव नहीं (८) सूक्ष्म-सूक्ष्म नहीं (९) हेतु-हेतु नहीं (१०) कार्य-कार्य नहीं (११) भाव-अभाव (१२) एक-अनेक (१३) शान्त-अशान्त (१४) नित्य-अनित्य (१५) वाच्य-अवाच्य (१६) नाना-अनाना (१७) चेत्य-अचेत्य (१८) दृश्य-अदृश्य (१९) वेद्य-अवेद्य (२०) भात-अभात। अर्थात् 'जीव बद्ध है' यह व्यवहारनय (पर्यायार्थिक नय) का पक्ष है। 'जीव अबद्ध है' यह निश्चय नय का पक्ष है। इसी प्रकार अन्य विकल्पों के विषय में भी जानना चाहिये।

जब दोनों नयों में से प्रत्येक नय का विषय, वस्तु के दोनों परस्पर प्रतिपक्ष धर्मों में से, एक-एक धर्म है तो उन दोनों नयों में किसी एक नय को यथार्थ और दूसरे को अयथार्थ कहना कैसे संभव हो सकता है, क्योंकि जो नय परपक्ष का निराकरण नहीं करते हुए ही अपने पक्ष के अस्तित्व का निश्चय करने में व्यापार करते हैं। उनमें समीचीनता पाई जाती है। कहा भी है—

णिययवयणिज्जसच्चा सव्वणया परवियालणे मोहा।
ते उण ण दिट्ठसमओ विभयइ सच्चे व अलिए वा॥१।२२८॥

—*सन्मतितर्क*

अर्थ – ये सभी नय अपने–अपने विषय के कथन करने में समीचीन हैं और दूसरे नयों के निराकरण करने में मूढ़ हैं। अनेकान्त रूप समय के ज्ञाता पुरुष (सम्यग्दृष्टि) यह नय सच्चा है और यह नय झूठा है, इस प्रकार का विभाग नहीं करते। अर्थात्– दोनों नयों के विषय दोनों धर्म एक वस्तु के होने से दोनों ही नय अपनी–अपनी विवक्षा से सत्य हैं।

अनेकान्तरूप समय के ज्ञाता अर्थात् सम्यग्दृष्टि नयों के विषयों को जानते तो हैं, किन्तु किसी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते। श्री कुन्दकुन्द भगवान् ने समयसार में कहा भी है—

दोण्ण वि णयाण भणियं जाणइ णवरि तु समयपडिबद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचि वि णयपक्खपरिहीणो॥१४३॥

अर्थ – जो पुरुष आत्मा से प्रतिबद्ध है अर्थात् आत्मा को जानता है, वह दोनों ही नयों के कथन को केवल जानता है परन्तु नयपक्ष को कुछ भी ग्रहण नहीं करता, क्योंकि वह नयों के पक्ष से रहित है। अर्थात् किसी एक नय का पक्ष (आग्रह) नहीं करना चाहिये।

इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि यदि कोई निश्चयनय के एकान्त का पक्ष ग्रहण करके व्यवहार नय को सर्वथा झूठ कहता है, तो वह आगमविरुद्ध है। श्री वीरसेनस्वामी जयधवल पु. १ पृ. ८ में निम्न प्रकार कहते हैं—

ण च ववहारणओ चप्पलओ, तत्तो (ववहाराणुसारि) सिस्साण पउत्तिदंसणादो। जो बहुजीवाणुग्गहकारी ववहारणओ सो चेव समस्सिदव्वो त्ति मणेणावहारिय गोदमथेरेण मंगलं तत्थ कयं।

अर्थ – यदि कहा जाये कि व्यवहारनय असत्य है सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि उससे व्यवहार का अनुसरण करने वाले शिष्योंकी प्रवृत्ति देखी जाती है। अत: जो व्यवहारनय बहुत जीवों का अनुग्रह करने वाला है उसी का आश्रय करना चाहिये—ऐसा मन में निश्चय करके श्री गौतम स्थविर ने चौबीस अनुयोग द्वारोंके आदि में मंगल किया है।

व्यवहारनय से वस्तुस्वरूप का ज्ञान होता है, अतएव वह व्यवहारनय पूज्य है। इसी बात को श्री पद्मनन्दि आचार्य कहते हैं—

मुख्योपचारविवृतिं व्यवहारोपायतो यतः सन्तः।
ज्ञात्वा श्रयन्ति शुद्धं तत्त्वमिति ब्यवहृतिः पूज्या॥११॥

—पद्मनन्दिपंचविंशति

अर्थ – चूँकि सज्जन मनुष्य व्यवहारनय के आश्रय से ही मुख्य और उपचारभूत कथन को जानकर शुद्ध स्वरूप का आश्रय लेते हैं, अतएव वह व्यवहार पूज्य है।

व्यवहारनय का विषय पर्याय है। पर्यायों का समूह द्रव्य है अथवा गुण और पर्यायवाला द्रव्य है 'गुणपर्ययवत् द्रव्यम्'। (त. सू., अ. ५, सूत्र ३८) इससे स्पष्ट है कि जिस समय तक पर्याय का भी यथार्थ श्रद्धान नहीं होगा, उस समय तक द्रव्य का भी यथार्थ श्रद्धान नहीं हो सकता है। द्रव्य के आगम अनुकूल श्रद्धान करने से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है और सम्यग्दर्शन विनय होती है।

जेअत्थपज्जया खलु उवदिट्ठा जिणवरेहिं सुदणाणे।
ते तह रोचेदि णरो दंसणविणओ हवदि एसो॥१८९॥

— मूलाचार अ. ५

अर्थ – जो अर्थपर्याय जिनवर ने आगम में कहीं हैं उनकी उसी प्रकार से रुचि करने वाले पुरुष के दर्शन-विनय होती हैं अर्थात् (व्यवहारनय के विषयभूत) उन पर्यायों के यथार्थ स्वरूप पर भव्य जीव जिस परिणाम से श्रद्धा करता है उस परिणाम को दर्शनविनय (सम्यग्दर्शन) कहते हैं।

जो व्यवहारनय के बिना मात्र निश्चय के आश्रय से मोक्ष चाहते हैं वे मूढ़ हैं, क्योंकि बीज बिना वृक्षफल भोगना चाहते हैं अथवा वे आलसी है।

व्यवहारपराचीनो निश्चयं यश्चिकीर्षति।
बीजादिना बिना मूढः स सस्यानि सिसृक्षति॥

— प्राचीन श्लोक

सारांश – जो व्यवहार से रहित होता हुआ निश्चय को उत्पन्न करने की इच्छा करता है वह मूढ़ है, जैसे जो बीज आदि (क्षेत्र, खेत, जल आदि) के बिना धान्य या वृक्ष आदि के फल उत्पन्न करना चाहता है, वह मूढ़ है।

निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते।
नाशयति करण-चरणं स बहि:करणालसो बाल: ॥५०॥

—पुरुषार्थसिद्धयुपाय

अर्थ - जो निश्चय (व्यवहारसापेक्ष निश्चय) को तो जानता नहीं और (एकान्त) निश्चय को ग्रहण करता है, वह बाल है अर्थात् मूढ़ है। बाह्य चरण-करण में आलसी होकर करण-चरण को नाश करता है।

जिस प्रकार निश्चयनय की अपेक्षा व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा है, उसी प्रकार व्यवहारनय की अपेक्षा निश्चयनय को अभूतार्थ कहा है।

दव्वट्ठियवत्तव्वं अवत्थु णियमेण पज्जवणयस्स।
तह पज्जववत्थु अवत्थुमेव दव्वट्ठियणयस्स॥१०॥

—सन्मतितर्क

अर्थ - पर्यायार्थिक (व्यवहार) नय की अपेक्षा द्रव्यार्थिक (निश्चय) नय के द्वारा कहा जाने वाला विषय अवस्तु हैं, उसी प्रकार द्रव्यार्थिक (निश्चय) नय की अपेक्षा पर्यायार्थिक (व्यवहार) नय के द्वारा कहा जाने वाला विषय अवस्तु है।

कुछ का ऐसा विश्वास है कि मात्र निश्चयनय ही आत्मानुभूति का कारण है, उनका ऐसा विचार उचित नहीं हैं, क्योंकि व्यवहारनिरपेक्ष निश्चयनय एकान्त मिथ्यात्व है। अथवा निश्चयनय का पक्ष भी तो एक विकल्प है और विकल्प अवस्था में स्वानुभूति नहीं हो सकती। इसी बात को श्री पं. फूलचन्द्रजी ने स्वयं इन शब्दों में स्वीकार किया है—

यद्यपि निश्चयनय द्रव्य है, गुण है इत्यादि विकल्पों का निषेध करता है, इसलिये उसे परमार्थ सत् बतलाया है, किन्तु स्वानुभूति में 'न तथा' यह विकल्प भी नहीं होता। अत: निश्चयनय आत्मानुभूति का कारण नहीं है—ऐसा समझना चाहिये।

—पंचाध्यायी पृ. १२७ विशेषार्थ (वर्णी ग्रन्थमाला से प्रकाशित)

इससे यह सिद्ध हो जाता है कि मात्र निश्चयनय के आश्रय से भी मोक्षप्राप्ति नहीं हो सकती।

निश्चयनय और व्यवहारनय का विषय परस्पर प्रतिपक्ष सहित है, अत: इनका लक्षण भी एक-दूसरे के विरुद्ध होना चाहिए। इसी को दृष्टि में रखते हुए इनके लक्षण आर्षग्रन्थों में इसी प्रकार कहे गये हैं। श्री देवसेन आचार्य लिखते हैं—

पुनरप्यध्यात्मभाषया नया उच्यन्ते। तावन्मूलनयौ द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च। तत्र निश्चयनयोऽभेदविषयो व्यवहारो भेदविषयः। - *आलापपद्धति*

अर्थ - अध्यात्मभाषा की अपेक्षा नय कहते हैं। मूल नय दो हैं - निश्चयनय और व्यवहारनय। उनमें से अभेद विषय वाला निश्चयनय है और भेद विषय वाला व्यवहारनय है।

व्यवहार, विकल्प, भेद, पर्याय इनका एक ही अर्थ है अर्थात् ये पर्यायवाचक शब्द हैं। इसी बात को श्री नेमचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने गो. जो. गाथा ४६२ में कहा है—

ववहारो य वियप्पो भेदो तह पज्जओ ति एयट्ठो।

अर्थात—व्यवहार, विकल्प, भेद तथा पर्याय—इन शब्दों का एक अर्थ है।

इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ पर विकल्प, भेद तथा पर्याय विवक्षा से कथन हो, वह सब व्यवहारनय कथन है। इसके विपरीत जहाँ निर्विकल्प अभेद तथा द्रव्य विवक्षा से कथन हो, वह निश्चयनय का कथन है।

श्री समयसार ग्रन्थ में भी व्यवहारनय को भेदाश्रित, पर्यायाश्रित तथा पराश्रित कहा है और निश्चयनय को अभेदाश्रित, द्रव्याश्रित और स्वाश्रित कहा है—

ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो॥७॥

अर्थ - ज्ञानी के चारित्र, दर्शन, ज्ञान ये तीन भाव व्यवहारनय द्वारा कहे जाते हैं। निश्चयनय से ज्ञान भी नहीं, चारित्र भी नहीं, दर्शन भी नहीं। ज्ञानी तो एक ज्ञायक अभेदस्वरूप है।

यद्यपि ज्ञान, दर्शन, चारित्र को भेद विवक्षा के कारण व्यवहारनय के द्वारा जीव के कहे हैं तथापि ये सत्यार्थ हैं वास्तविक हैं।

'व्यवहारनयः पर्यायाश्रितत्वात्' 'निश्चयनयस्तु द्रव्याश्रितत्वात्।'

—समयसार गाथा ५६ टीका

अर्थात् व्यवहारनय पर्यायाश्रित और निश्चयनय द्रव्याश्रित है।

जीव की शुद्ध तथा अशुद्ध दशा वास्तविक है, सत्यार्थ है तथापि जीव के पर्याय होने के कारण व्यवहारनय का विषय कहा गया है। निश्चयनय का विषय त्रैकालिक द्रव्यस्वभाव है और इस दृष्टि में कादाचित्क पर्याय अवस्तु है।

आत्माश्रितो निश्चयनयः पराश्रितो व्यवहारनयः।

—समयसार गा. २७२ की टीका

अर्थ - निश्चयनय स्व के आश्रित है, और व्यवहारनय पर के आश्रित है।

यद्यपि ज्ञेय-ज्ञायकसम्बन्ध, आधार-आधेयसम्बन्ध, निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध, प्रकाश्य-प्रकाशक आदि सम्बन्ध पराश्रित होने से व्यवहारनय का विषय हैं तथापि ये सर्व सम्बन्ध प्रत्यक्ष तथा वास्तविक हैं।

इस प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि से निश्चय व व्यवहारनय के लक्षणों पर प्रकाश डाला गया और यह भी सिद्ध कर दिया गया है कि व्यवहारनय सत्य है। यहाँ तक मूल प्रश्न समाप्त हो गया।

आपके वक्तव्यों में सर्वत्र पुनः पुनः इसी बात पर जोर दिया गया कि अमुक कथन मात्र व्यवहारनय से है, निश्चयनय से नहीं है। व्यवहारनय के पूर्व 'मात्र' शब्द लगाया गया है और कहीं कहीं पर व्यवहारनय के आगे कोष्टक में 'उपचरित' शब्द भी दिया गया है। इस सर्व से यही प्रगट किया जाता है कि एकमात्र निश्चयनय ही सर्वथा तथा एकान्त सत्य है, प्रामाणिक एवं मान्य है। तथा व्यवहारनय सर्वथा असत्य, अप्रामाणिक और अमान्य है। यह निर्विवाद सिद्धान्त है कि ऐसी मान्यता ही निश्चय एकान्तरूप मिथ्यात्व अथवा निश्चयाभास है। व्यवहार से निरपेक्ष निश्चयनय मिथ्या है। पर सापेक्षनय सुनय है। भगवान् का उपदेश ही दो नय के आधीन है। यदि व्यवहारनय कथन असत्य है तो यह प्रश्न होता है कि क्या सर्वज्ञ ने व्यवहार सम्यक्त्व व व्यवहारमोक्षमार्ग का असत्य उपदेश देकर जीवों का अकल्याण करना चाहा है।

प्रत्येक द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमयी है। निश्चय की अपेक्षा द्रव्य ध्रुव ही है। उत्पाद-व्ययस्वरूप नहीं है। व्यवहार की अपेक्षा उत्पाद-व्ययस्वरूप ही है, ध्रुव नहीं है। यदि निश्चयनय ही सत्य व प्रामाणिक है और व्यवहारनय असत्य व अप्रामाणिक है, तो मात्र ध्रुव ही सत्य व प्रामाणिक रह जायेगा और उत्पाद-व्यय असत्य व अप्रामाणिक हो जायेंगे। परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि ध्रुवता अप्रणाशी और कूटस्थ है जिसके कारण द्रव्य भी अप्रणाशी व कूटस्थ हो जायेगा। कूटस्थ हो जाने से द्रव्य अर्थक्रियाकारी नहीं रहेगा। इसलिये वह खरविषाणवत् असत् हो जायेगा। निश्चयनय के एकान्त से द्रव्य की सत्ता ही सिद्ध नहीं होती है, क्योंकि सत् का लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रुव कहा गया है।

जैन आगम में द्रव्यस्वभाव परिणामी बतलाया गया है। उत्पाद-व्यय के बिना परिणमन नहीं हो सकता है। इस प्रकार जैन आगम में ध्रुवता के समान उत्पाद-व्यय को भी सत्य माना है, अन्यथा सांख्यमत का प्रसंग आ जायेगा। अत: मात्र निश्चयनय के कथन को ही सत्य व प्रामाणिक स्वीकार करना और व्यवहारनय के कथन को 'मात्र व्यवहार से' या 'उपचरित से' आदि शब्द कहकर स्वीकार न करना जैन आगम के विरुद्ध है। अन्य मतावलम्बियों का कथन भी किसी-न-किसी एक नय की अपेक्षा सत्य होने पर भी प्रतिपक्षी नय से निरपेक्ष तथा सर्वथा वैसा ही माना जाने से मिथ्या है।

श्रीअमृतचन्द्र आचार्य ने समयसार गाथा ५६ की टीका में निश्चयनय को द्रव्याश्रित और व्यवहारनय को पर्यायाश्रित कहा है। बन्ध व मोक्ष पर्याय हैं। निश्चयनय की अपेक्षा से न बन्ध है और न मोक्ष है। यदि निश्चयनय से बन्ध माना जाये तो सदा बन्ध ही रहेगा, कभी मोक्ष नहीं हो सकेगा। यदि निश्चयनय से मोक्ष ही माना जाये तो वह भी घटित नहीं हो सकता है, क्योंकि मोक्ष (मुक्त होना-छूटना) बन्धपूर्वक ही होता है। बंधा ही नहीं, उसके लिये छूटना कैसे कहा जा सकता है। मोक्ष 'मुञ्च' धातु से बना है, जिसका अर्थ 'छूटना' है। - बृ. द्र. सं. टीका।

जब निश्चयनय (जिसको ही सत्य व प्रामाणिक कहा जा रहा है) से बन्ध व मोक्ष ही नहीं है, तब जिनशासन में जो मोक्षमार्ग का उपदेश दिया गया है, वह सब व्यर्थ हो जायेगा। दूसरे प्रत्यक्ष से विरोध आ जायेगा, क्योंकि संसार प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है। अत: यह ही सिद्धान्त सम्यक् है कि निश्चयनय अर्थात् स्वभाव की अपेक्षा न बन्ध है और न मोक्ष है, किन्तु व्यवहारनय (पर्याय) की अपेक्षा बन्ध भी है और मोक्ष भी है। ये दोनों ही कथन सत्य व प्रामाणिक हैं। ऐसा नहीं, कोई नय का कथन सत्य व प्रामाणिक हो और प्रतिपक्षी नय का कथन असत्य व अप्रामाणिक हो।

प्रत्येक नय का विषय अपनी दृष्टि से सत्य है, किन्तु व्यवहारनय की अपेक्षा सत्य नहीं है, क्योंकि दोनों के विषय परस्पर विरोधी हैं।

जो एक नय का विषय है वही विषय दूसरे नय का नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो जाये तो दोनों नयों में कोई अन्तर ही नहीं रहेगा। दोनों में अन्तर नहीं रहने से नयों का विभाजन व्यर्थ हो जावेगा तथा सुव्यवस्था नहीं रहेगी। सर्व विप्लव हो जायेगा। जो व्यवहारनय का विषय है उसका कथन व्यवहारनय से ही हो सकता है, निश्चयनय से वह कथन नहीं हो सकता। अत: आर्ष प्रमाणों को यह कहकर टाल देना कि 'विवक्षित कथन व्यवहारनय से है, निश्चयनय से

नहीं' आगमसंगत नहीं है, क्योंकि जो व्यवहार का विषय है उसका निश्चयनय से भी कथन होने का प्रश्न नहीं हो सकता है।

निश्चयनय के एकान्त का कदाग्रह होने से तथा व्यवहारनय को असत्यार्थ मानने से जो दुष्परिणाम होंगे उनमें से कुछ सूरिजी ने श्री समयसार गा. ४६ की टीका में स्पष्ट किये हैं—

तमन्तरेण (व्यवहारमन्तरेण) तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात् त्रसस्थावराणां भस्मन इव निशंकमुपमर्दनेन हिंसाभावाद् भवत्येव बंधस्याभावः। तथा रक्तद्विष्ठविमूढो जीवो वध्यमानो मोचनीय इति रागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणा-भावात् भवत्येव मोक्षस्याभावः।

अर्थ - यदि व्यवहारनय का कथन न किया जाये तो निश्चयनय से शरीर से जीव को भिन्न बताया जाने पर जैसे भस्म को मसल देने से हिंसा का अभाव है, उसी प्रकार त्रसस्थावर जीवों को निशंकतया मसल देने में भी हिंसा का अभाव ठहरेगा और इस कारण बन्ध का ही अभाव सिद्ध होगा। तथा परमार्थ द्वारा जीव राग, द्वेष और मोह से भिन्न बताया जाने पर, 'रागी, द्वेषी, मोही जीव कर्मों से बँधता है, उसे छुड़ाना हैं' इस प्रकार मोक्ष के उपाय के ग्रहण का अभाव हो जायेगा और इससे मोक्ष का ही अभाव हो जायेगा।

आपके द्वितीय वक्तव्य में निम्न वाक्यों को पढ़कर बहुत आश्चर्य हुआ। यद्यपि यह कथन प्रसंग से बाहर है और कोई प्रमाण भी नहीं दिया गया है, तथापि मिथ्या मान्यता को दूर करने के लिए आपके निम्न वाक्यों पर आर्षप्रमाणसहित विचार किया जाता है।

(अ) आपके द्वारा हमारे इन वाक्यों पर आपत्ति उठाई गई है - 'इस जीव को कर्म परवश बनाये हुए है, उसी के कारण यह परतंत्र हो रहा है।' यह वाक्य श्री विद्यानन्द स्वामी के शब्दों का अनुवादमात्र है। श्री विद्यानन्द आचार्य निर्ग्रन्थ, सत्यमहाव्रतधारी तथा राग-द्वेष से रहित थे, साथ-साथ वे महान् विद्वान भी थे, जिन्होंने अष्टसहस्त्री आदि महान् ग्रन्थों की रचना की है। अष्टसहस्त्री के विषय में उसी के प्रथम पृष्ठ पर निम्न श्लोक है—

श्रोतव्याष्टसहस्त्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्त्रसंख्यानैः।
विज्ञायेत ययैव स्वसमयपरसमयसद्भावः॥

अर्थ - वह अष्टसहस्त्री सुनना चाहिये, अन्य हजारों ग्रन्थों के सुनने से क्या ? कि जिसके सुनने से स्वसमय और परसमय का सत्य स्वरूप जाना जाता है।

उन्हीं निर्ग्रन्थ महानाचार्य विद्यानन्दस्वामी के मूल वाक्य पुन: उपस्थित किये जाते हैं, जिनके वाक्यों पर दिगम्बर जैनमात्र को श्रद्धा होनी चाहिये—

जीवं परतंत्रीकुर्वन्ति स परतंत्रीक्रियते वा यैस्तानि कर्माणि, जीवेन वा मिथ्या-दर्शनादिपरिणामैः क्रियन्ते इति कर्माणि। तानि द्विप्रकाराणि - द्रव्यकर्माणि भावकर्माणि च। तत्र द्रव्यकर्माणि ज्ञानावरणादीन्यष्टौ मूलप्रकृतिभेदात्। तथाष्ठचत्वारिंशदुत्तरशतम्, उत्तरप्रकृतिविकल्पात्। तथोत्तरोत्तरप्रकृतिभेदादनेकप्रकाराणि। तानि च पुद्गल-परिणामात्मकानि, जीवस्य पारतंत्र्यनिमित्तत्वात्, निगडादिवत्। क्रोधादिभिर्व्यभिचार इति चेत्, न, तेषां जीवपरिणामानां पारतंत्र्यस्वरूपत्वात्। पारतंत्र्यं हि जीवस्य क्रोधादि-परिणामो न पुनः पारतंत्र्यनिमित्तम्। *- आप्तपरीक्षा कारिका ११४-११५ टीका*

अर्थ - जो जीव को परतंत्र करते हैं अथवा जीव जिनके द्वारा परतंत्र किया जाता है, उन्हें कर्म कहते हैं। अथवा जीव के द्वारा मिथ्यादर्शनादि परिणामों से जो किये जाते हैं - उपार्जित होते हैं, वे कर्म हैं। वे दो प्रकार के हैं - १. द्रव्यकर्म और २. भावकर्म। उनमें द्रव्यकर्म मूल प्रकृतियों के भेद से ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार का है तथा उत्तर प्रकृतियों के भेद से एक-सौ अड़तालीस प्रकार का है तथा उत्तरोत्तर प्रकृतियों के भेद से अनेक प्रकार का है और वे सब पुद्गल परिणामात्मक हैं, क्योंकि वे जीव की परतंत्रता में कारण हैं, जैसे निगड (बेड़ी) आदि।

शंका - उपर्युक्त हेतु (जीव की परतंत्रता का कारण) क्रोधादि के साथ व्यभिचारी है अर्थात् क्रोधादि परतंत्रता के कारण हैं ?

समाधान - नहीं, क्योंकि क्रोधादि जीव के परिणाम हैं और इसलिये वे परतंत्रतारूप हैं- परतंत्रता में कारण नहीं।

प्रकट है, जीव का क्रोधादि परिणाम स्वयं परतंत्रता है, परतंत्रता का कारण नहीं। अत: उक्त हेतु क्रोधादि के साथ व्यभिचारी नहीं है।

इसी प्रकार श्री अकलंकदेव भी जीव की परतंत्रता का मूल कारण कर्म को ही मानते हैं।

तदात्मनोऽस्वतंत्रीकरणे मूलकारणं। *- तत्त्वार्थवार्तिक ५-२४*

इन आर्ष वाक्यों के रहते हुए एकान्त से यह मानना कि जीव, मात्र अपने अज्ञानभाव के कारण ही परतंत्र हो रहा है, उचित (युक्त) प्रतीत नहीं होता।

इतना ही नहीं श्री पं. फूलचन्द्रजी स्वयं कर्मों के कारण जीव की परतंत्रता स्वीकार करते हैं—

जीव की प्रति समय की परिणति स्वतंत्र न होकर पुद्‍गलनिमित्तक होती है और पुद्‍गल की भी परिणति स्वतंत्र न होकर जीव के परिणामानुसार विविध प्रकार के कर्मरूप से होती है। इसी का नाम परतंत्रता है। इस तरह जीव, पुद्‍गल के आधीन है और पुद्‍गल जीव के आधीन। ***—विशेषार्थ पंचाध्यायी पृ. १७३ वर्णी ग्रन्थमाला***

श्री पं. फूलचन्द्रजी स्वयं निम्न शब्दों द्वारा जीव की अज्ञान अवस्था को कर्मजनित स्वीकार करते हैं—

संसारी जीव आठ कर्मों से बँधा हुआ है, इससे वह अपने स्वरूप को भूला हुआ है और परस्वरूप को अपना मान रहा है। ***—विशेषार्थ, पंचाध्यायी पृ. ३३८ वर्णी ग्रन्थमाला***

अब श्री पं. फूलचन्द्रजी स्वयं देखें कि उनके द्वितीय वक्तव्य में और उनके द्वारा लिखे गये आगमानुकूल विशेषार्थ में पूर्वापर विरोध आ रहा है।

यदि मात्र अज्ञानभाव को ही परतंत्र करने वाला मान लिया जावे तो चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन होने पर अज्ञानभाव का नाश हो जानेसे १२वें गुणस्थान के शुरू में अथवा हर प्रकार की सम्पूर्ण अज्ञानता दूर हो जाने से १३वें गुणस्थान के प्रथम समय में हीजीव स्वतंत्र हो जाना चाहिये, किन्तु ऐसा होता नहीं है, क्योंकि जिस समय तक चारों अघातिया कर्मों का भी नाश नहीं हो जाता है, उस समय तक जीव परतंत्र ही है। इसी बात को श्री विद्यानन्द आचार्य स्पष्ट रूप से कहते हैं—

ननु च ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरायाणामेवानन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यलक्षण-जीवस्वरूप घातित्वात्पारतंत्र्यनिमित्तत्त्वासिद्धेरिति पक्षाव्यापको हेतुः वनस्पतिचैतन्ये स्वापवत् इति चेत् ? न, तेषामपि जीवस्वरूपसिद्धत्व-प्रतिबन्धित्वात्पारतंत्र्य-निमित्तत्त्वोपपत्तेः।

—आप्तपरीक्षा पृ. २४६ वीरसेवामंदिर

अर्थ – यहाँ शंकाकार कहता है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय—ये चार घातिकर्म ही अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्यरूप जीव के स्वरूपघातक होने से परतंत्रता के कारण हैं। नाम, गोत्र, वेदनीय और आयु—ये चार अघातिकर्म नहीं, क्योंकि वे जीव के स्वरूपघातक नहीं हैं; अतः उनके परतंत्रता की कारणता असिद्ध है

और इसीलिये हेतु पक्षाव्यापक है, जैसे वनस्पति में चैतन्य सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त किया गया स्वापहेतु ? इसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि ऐसा नहीं है, क्योंकि नामादि अघातिकर्म भी जीव के स्वरूप-सिद्धपने के प्रतिबन्धक है और इसीलिये उनके भी परतंत्रता की कारणता उत्पन्न है।

इसी बात को श्री अमृतचन्द्रसूरि पंचास्तिकाय गाथा २ की टीका में जिनवाणी को नमस्कार करते हुए कहते हैं—

पारतंत्र्यनिवृत्तिलक्षणस्य निर्वाणस्य।

इसका तात्पर्य यह है कि निर्वाण होने पर परतंत्रता से निवृत्ति होती है, उससे पूर्व नहीं।

आपके द्वितीय वक्तव्य में यह लिखा है - 'समयसार अध्यात्म की मुख्यता से प्रतिपादन करने वाला आगमग्रन्थ है, शेष ग्रन्थ व्यवहारनय की मुख्यता से लिखे गये हैं।' इस संबंध में पंचास्तिकाय गाथा १२३ की टीका के—

एवमनया दिशा व्यवहारनयेन कर्मग्रन्थप्रतिपादितजीवगुणमार्गणास्थानादि-प्रपञ्चितविचित्रविकल्परूपैः। ये वचन उद्धृत किये हैं। इस उल्लेख से आपने बतलाया कि 'जिन शास्त्रों में जीवस्थान, गुणस्थान और मार्गणास्थान आदिरूप विविध भेदों का कथन किया गया है, जिनमें कर्मग्रन्थ मुख्य हैं, वे व्यवहारनय की मुख्यता से लिखे गये हैं।'

उपर्युक्त वाक्य स्पष्टतया इस प्रकार के अन्तरंग अभिप्राय को द्योतित करता है कि समस्त जैन वाङ्मय (शास्त्रों) में एकमात्र समयसार ही अध्यात्म ग्रन्थ होने के कारण सत्यार्थ, प्रामाणिक तथा मान्य है और अन्य समस्त ग्रन्थ (चाहे वह स्वयं श्री कुन्दकुन्द आचार्यकृत भी क्यों न हों) व्यवहारनय की मुख्यता से होने के कारण असत्य, अप्रामाणिक एवं अमान्य हैं, क्योंकि आपके द्वारा व्यवहारनय को कल्पनारोपित, उपचरित या असत्य ही घोषित किया गया है। वरना इस वाक्य को लिखने की आवश्यकता ही न थी। श्री समयसार में भी स्थान स्थान पर व्यवहार का कथन है, अतः वह भी अमान्य ही होंगे। इस अपेक्षा से तो यह भी लिखा जाना चाहिये था कि श्री समयसार के भी मात्र वही अंश ग्राह्य हैं जिनमें केवल निश्चयनय से कथन है। यह ही तो एकान्त निश्चय मिथ्यावाद है। जो व्यक्ति किसी भी नय को, किसी भी अनुयोग को या जिनवाणी के किसी भी शब्द को नहीं मानता वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता है।

— मूलाराधना, पृ. १३८

साधारण व्यक्ति भी इस बात को जानता है कि जो जिस नय का विषय होगा, उसका कथन उस ही नय से हो सकता है, अन्य से नहीं, और परसापेक्ष प्रत्येक नय का कथन (चाहे वह निश्चय हो या व्यवहार) सत्य, प्रामाणिक एवं मान्य ही है। आश्चर्य एवं महान् खेद की बात है कि श्री समयसार के अतिरिक्त महान् ऋषि प्रणीत आर्षग्रन्थों के प्रमाणों की उपर्युक्तवाक्य कहकर अवहेलना की जाती है और उनको अप्रामाणिक तथा अमान्य समझकर उनका उत्तर देने की भी आवश्यकता नहीं समझी जाती है। किन्तु शंकाओं या प्रतिशंकाओं का उत्तर देते हुए जहाँ अनुकूल समझा जाता है, वहाँ इन्हीं व्यवहार आश्रित ग्रन्थों का प्रमाण भी दे दिया जाता है। यह ही नहीं, बल्कि सर्व श्री विद्यानन्द, अकलंकदेव आदि महान् आचार्यों के प्रमाणों की अपेक्षा गृहस्थों के द्वारा रचित भाषा-भजनों को अधिक प्रामाणिक माना जाता है और उन भजनों का प्रमाण देकर परम पूज्य महान् आचार्यों के आर्षग्रन्थों का निराकरण (खण्डन) किया जाता है तथा उनके आधार पर सिद्धान्त का निर्माण किया जाता है। कैसी विचित्र परिस्थिति है ? क्या इस ही का नाम वीतराग चर्चा है ? उचित तो यही होता कि चर्चा के प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया जाता कि मात्र श्री समयसार के निश्चयाश्रित प्रकरण ही मान्य होंगे। अन्य समस्त ग्रन्थ व्यवहाराश्रित होने से मान्य न होंगे। किन्तु उपर्युक्त मान्यता ठीक नहीं हैं, क्योंकि सभी ऋषिप्रणीत शास्त्रों में प्रमाण तथा नयों द्वारा वस्तु-स्वरूप का ही प्रतिपादन किया गया है। अतः सब ही आर्षग्रन्थ प्रामाणिक एवं मान्य हैं।

धवल पु. १३ पृ. ३६ पर धवल ग्रन्थों को शास्त्र कहा है और विशेषार्थ में श्री फूलचन्द्र ने भी इस धवल ग्रन्थ को अध्यात्मशास्त्र स्वीकार करते हुए लिखा है कि 'अध्यात्म शास्त्र का अर्थ है, आत्मा की विविध अवस्थाओं और उनके मुख्य निमित्तों का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र।'

सभी आर्षग्रन्थों में भगवान् की वाणी से आया हुआ द्रव्य-गुण-पर्यायस्वभाव का कथन है। इसी को श्री अमृतचन्द्रसूरि ने इन शब्दों द्वारा कहा है—

इयं हि सर्वपदार्थानां द्रव्यगुणपर्यायस्वभावप्रकाशिका पारमेश्वरी व्यवस्था साधीयसी, न पुनरितरा। ***—प्रवचनसार गाथा ९३ की टीका***

अर्थ - यही सर्व पदार्थों के (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन छह द्रव्यों के) द्रव्य, गुण और पर्यायों के स्वभाव (स्वरूप) का प्रकाशन करने वाली सर्वज्ञ भगवान् के द्वारा बतलाई हुई व्यवस्था समीचीन सिद्ध होती है और एकान्त नियतिवाद आदि का पोषण

करने वाली दूसरी व्यवस्था समीचीन सिद्ध नहीं हो सकती।

श्री समयसार गाथा १५३ की श्री अमृतचन्द्रसूरि कृत टीका को उद्धृत करते हुए यह अभिप्राय सिद्ध करने की चेष्टा की गई है कि कदाचित् व्रत, नियम, शील, तप बिना भी मात्र ज्ञान से मोक्ष हो सकता है। उक्त टीका में शब्द 'बहिः' पद दे दिया जाता तो संभवतः यह भ्रम न होता। टीकाकार का आशय यह दिखलाने का है कि निर्विकल्प समाधि में स्थित ज्ञानी बाह्य प्रवृत्तिरूप व्रत, नियम आदि न पालन करते हुए भी अंतरंग में निवृत्तिरूप व्रत धारण करता हुआ मोक्ष प्राप्त करता है। श्री जयसेन आचार्य ने भी यही आशय अपनी टीका में स्पष्ट किया है—

निर्विकल्पत्रिगुप्तिसमाधिलक्षणभेदज्ञानसहितानां मोक्षो भवतीति विशेषेण बहुधा भणितं तिष्ठति। एवंभूतभेदज्ञानकाले शुभरूपा ये मनोवचनकायव्यापाराः परंपरया मुक्तिकारणभूतास्तेपि न संति।

अर्थ - निर्विकल्प तथा त्रिगुप्तिरूप समाधि है लक्षण जिसका—ऐसे भेद-ज्ञान सहितवालों के मोक्ष होती है - ऐसा विशेष रूप से कहा गया है। इस प्रकार के भेदज्ञान के समय शुभरूप जो मन-वचन-काय का व्यापार है, जो परम्परा से मुक्ति के कारणभूत हैं, वे भी नहीं होते हैं।

स्वर्गीय पं. श्री जयचन्द्रजी ने भी अपने भावार्थ में सूरिजी कृत टीका का यही आशय प्रगट किया है।

जहाँ ज्ञान को मोक्षमार्ग कहा है वहाँ ज्ञानपद में श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र तीनों गर्भित हैं, जैसा कि गाथा १५५ की टीका से स्पष्ट है, अन्यथा गाथा १५५ से विरोध आ जावेगा। श्री अमृतचन्द्रसूरि लिखते हैं—

अथ परमार्थमोक्षहेतुं तेषां दर्शयति - परमार्थस्वरूप मोक्ष का कारण दिखलाते हैं—

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं।
रायादिपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो॥१५५॥

- ***समयसार***

अर्थ - जीवादि पदार्थों का श्रद्धान तो सम्यक्त्व है और उन जीवादि पदार्थों का अधिगम ज्ञान तथा रागादि का त्याग चारित्र है, यही मोक्ष का मार्ग है।

इस गाथा से स्पष्ट है कि श्री कुन्दकुन्द भगवान् ने मात्र ज्ञान को ही मोक्ष का कारण नहीं कहा, किन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र तीनों को मोक्षमार्ग कहा है।

एकान्तेन ज्ञानमपि न बंधनिरोधकं, एकान्तेन क्रियापि न बन्धनिरोधिका इति सिद्धं उभाभ्यांमोक्षः। *- समयसार पृ. ११८ टिप्पण, अहिंसामंदिर प्रकाशन*

अर्थ - एकान्त से ज्ञान भी बन्ध का निरोधक नहीं है और एकान्त से क्रिया भी बन्ध की निरोधक नहीं है। ज्ञान और क्रिया दोनों से ही मोक्ष होता है।

इसी को श्री अकलंकदेव ने कहा है—

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया।
धावन् किलान्ध को दग्धः पश्चन्नपि च पङ्गुलः॥

— राजवार्तिक १, १।

अर्थ - क्रियारहित ज्ञान व्यर्थ है और अज्ञानी की क्रिया व्यर्थ है। जंगल में आग लग जाने पर अन्धे को मार्ग का ज्ञान न होने से वह भागता हुआ भी जल जाता है और लंगड़ा मार्ग को जानता हुआ भी न चलने से जल जाता है।

आपने लिखा है कि 'काललब्धि प्राप्त होने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है' यहाँ पर 'काललब्धि' देशामर्षक है। अतः काललब्धि से प्रयोजन अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव आदि की प्राप्ति है। कहा भी है—

कालादिलब्धियुक्तः कालद्रव्यक्षेत्रभव-भावादिसामग्रीप्राप्तः।

—स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा पृ. १५२, रायचन्द्र ग्रन्थमाला

अर्थ - कालादिलब्धियुक्त का अर्थ है - काल-द्रव्य-क्षेत्र-भव-भाव आदि सामग्री को प्राप्त।

आपने लिखा है कि 'अधिक से अधिक अर्धपुद्गल परावर्तन प्रमाण काल के शेष रहने पर सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेता है।' जहाँ कहीं भी ऐसा वाक्य आया हो उसका अभिप्राय यह है कि सम्यग्दर्शन के प्राप्त होने पर अनन्त संसार काटकर अर्धपुद्गल परिवर्तन काल शेष रह जाता है, यह सम्यग्दर्शन की सामर्थ्य है। जैसा कि श्री वीरसेन आचार्य ने कहा भी है—

एगो अणादियमिच्छादिट्ठी अपरित्तसंसारो अधापवत्तकरणं अपुव्वकरणं अणियट्टिकरणमिदि एदाणि तिण्णि करणाणि कादूण सम्मत्तं गहिदपढमसमए चेव

सम्मत्तगुणेण पुव्विल्लो अपरित्तो संसारो ओहट्टिदूण परित्तो पोग्गलपरियट्टस्स अद्धमेत्तो होदूण उक्कसेण चिट्ठदि, जहण्णेण अंतोमुहुत्तमेत्तो। *—धवल पु. ४ पृ. ३३५*

अर्थ – एक अनादि मिथ्यादृष्टि अपरीत संसारी (दीर्घ संसारी) जीव अध:प्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इस प्रकार इन तीनों ही करणों को करके सम्यक्त्व ग्रहण के प्रथम समय में ही सम्यक्त्व गुण के द्वारा पूर्ववर्ती अपरीत संसारीपना हटाकर व परीतसंसारी (निकट संसारी) हो करके अधिक से अधिक पुद्गल परिवर्तन के आधे कालप्रमाण ही संसार में ठहरता है और कम-से-कम अन्तर्मुहूर्तमात्र काल तक संसार में ठहरता है।

एक्केण अणादियमिच्छादिट्ठिणा तिण्णि करणाणि कादूण उवसमसम्मत्तं पडिवण्णपढमसमए अणंतो संसारों छिण्णो अद्धपोग्गलपरियट्टमेत्तो कदो।

—धवल पु. ५, पृ. ११, १४, १५, १६, १९

अर्थ – एक अनादि मिथ्यादृष्टि जीव ने अध:प्रवृत्तादि तीनों करण करके उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होने के प्रथम समय अनन्त संसार को छिन्नकर अर्धपुद्गल परिमाणमात्र कर दिया।

एक वेणुदण्डपर विचित्र चित्र बने हुए हैं, उनको प्रक्षाल अर्थात् धो डालने पर वह वेणुदण्ड (बाँस) शुद्ध निर्मल हो जाता है इसी प्रकार इस जीव के अनन्त काल लम्बी भविष्य नाना प्रकार की संसारी पर्याय पड़ी हुई हैं, किन्तु सम्यग्दर्शन द्वारा उन भविष्य अनन्त पर्यायों को धो देता है। इसी बात को श्री जयसेन आचार्य इन शब्दों द्वारा लिखते हैं—

यथा वेणुदण्डो विचित्रचित्रप्रक्षालने कृते शुद्धो भवति तथायं जीवोऽपि।

—पंचास्तिकाय गाथा २० टीका

उपर्युक्त आगम प्रमाणों से तथा राजवार्तिक अ. १ सू. ३ से यह सिद्ध हो जाता है कि सम्यक्त्वोत्पत्ति का कोई नियत काल नहीं है। किन्तु जब कभी यह संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव अपने ज्ञान को अन्य ज्ञेयों से हटाकर स्वोमुख होता है तब अन्य ज्ञेयों की तरह स्व का ज्ञान भी इसको हो जाता है। स्व का ज्ञान होना कठिन नहीं हैं, क्योंकि यह रात-दिन कहता रहता है कि 'मैंने यह कार्य किया, मैंने यह कार्य किया' इन वाक्यों में 'मैं' शब्द का उच्चारण तो करता है, किन्तु 'मैं' की ओर लक्ष्य न रहकर कार्य की ओर लक्ष्य रहता है। यदि यह अन्य की ओर से लक्ष्य हटाकर 'मैं' की ओर लक्ष्य ले जावे तो 'मैं' अर्थात् 'स्व' का बोध होना

कठिन नहीं हैं, क्योंकि ज्ञान स्व-परप्रकाशक है। यह ही बात परीक्षामुख प्रथम अध्याय में इन सूत्रों द्वारा कही गई है—

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं। स्वोन्मुखतथा प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः। अर्थस्येव तदुन्मुखतया। घटमहमात्मना वेद्मि। कर्मवत्कर्तृकरणक्रियाप्रतीतेः। शब्दानुच्चारणेऽपि स्वस्यानुभवनमर्थवत्। को वा तत्प्रतिभासिनमर्थमध्यक्षमिच्छंस्तदेव तथा नेच्छेत्, प्रदीपवत्।

—*सूत्र १ व ६-१२*

अर्थ - स्व और अपूर्व अर्थ का व्यवसायात्मक ज्ञान ही प्रमाण है। जैसे पदार्थ की ओर उन्मुख होने से पदार्थ का निश्चय होता है। वैसे ही स्व की ओर उन्मुख होने से स्व का निश्चय (निर्णय) होता है, 'मैं घट को अपने द्वारा जानता हूँ' इसमें जिस प्रकार कर्म (घट) की प्रतीति होती है उसी प्रकार कर्ता (मैं), करण (ज्ञान) और क्रिया (जानना) की प्रतीति होती है। शब्द का उच्चारण किये बिना भी जैसे पदार्थ का अनुभव होता है वैसे ही स्व का भी अनुभव होता है। ऐसा कौन होगा जो ज्ञान करि प्रतिभासित अर्थ को तो प्रत्यक्ष इष्ट करे और तिस ज्ञान को इष्ट न करे ? अर्थात् इष्ट करे ही करे। जैसे दीपक के प्रत्यक्षता और प्रकाशता बिना तिस करि भासे जे घटादिक पदार्थ तिनके प्रकाशता प्रत्यक्षता न बने, तैसे ही प्रमाणस्वरूप ज्ञान के भी जो प्रत्यक्षता न होय तो तिस करि प्रतिभास्या अर्थ के भी अर्थात् प्रतिभास्या अर्थ के भी प्रत्यक्षता न बने।

जिस प्रकार घट-पट आदि की ओर उपयोग ले जाकर जानने का कोई नियत काल नहीं है, उसी प्रकार स्वोन्मुख होकर स्व को जानने का भी कोई नियत काल नहीं है, क्योंकि सर्व कार्यों का नियामक कोई नियत काल नहीं हैं, किन्तु बाह्य-आभ्यन्तर समर्थ कारणसामग्री कार्य की नियामक है। यदि मात्र काल को ही सब कार्यों का कारण मान लिया जाये तो अन्य सर्व कारण सामग्री का ही लोप हो जायेगा। **जैसा कि अकलंकदेव ने कहा है—**

यदि हि सर्वस्य कालो हेतुरिष्टःस्यात् बाह्याभ्यन्तरकारणनियमस्व दृष्टस्येष्टस्य वा विरोधः स्यात्।

— *तत्त्वार्थवार्तिक १।३*

जो सम्यक्त्वोत्पत्ति के लिये मात्र काललब्धि की प्रतीक्षा करते रहते हैं वे पुरुषार्थहीन पुरुष प्रमादी होकर अपने इस मनुष्यभव को ऐशोआराम (आनन्द-विनोद) में व्यर्थ खो देते हैं।

आगे आपने लिखा है 'श्रावक के उत्कृष्ट विशुद्धरूप परिणामों का आलम्बन छोड़

सर्व प्रथम अप्रमत्त भाव को प्राप्त होता है।' करणानुयोग के विशेषज्ञ को भलि-भाँति ज्ञात है कि सप्तम गुणस्थान में प्रत्याख्यान कषायोदय का अभाव होने से श्रावक के पंचम गुणस्थान की अपेक्षा अप्रमत्तसंयत गुणस्थान वाले मुनि के परिणामों की विशुद्धता अनन्तगुणी है अर्थात् श्रावक की उत्कृष्ट विशुद्धता अप्रमत्तसंयत की विशुद्धता में लीन हो जाती है। अथवा श्रावक के उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामों के द्वारा मुनिदीक्षा का कार्यक्रम होकर अप्रमत्तसंयत की अनन्तगुणी विशुद्धता प्राप्त होती है। विशुद्धता छोड़ी नहीं जाती, किन्तु प्रति-प्रति गुणस्थान बढ़ती जाती है। जैसे पीपर की ६३वीं पुटवाली चरपराहट छोड़कर ६४वीं पुटवाली चरपराई उत्पन्न नहीं होती है, किन्तु ६३वीं पुटवाली चरपराहट ही उत्कर्ष करके ६४वीं पुटवाली चरपराहटरूप परिणमित हो जाती है।

आपने लिखा है - 'अहिंसादि अणुव्रत और महाव्रत आदि शुभ विकल्प होते हैं, जोकि राग पर्याय है उसको यहाँ व्यवहारधर्म कहा गया है।' सो सामायिक-छेदोपस्थापना संयम की व्याख्या के विरुद्ध ये वाक्य लिखे गये हैं, जो शोभनीक नहीं है। व्रतों का तथा सामायिक छेदोपस्थापना का लक्षण इस प्रकार है—

हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्। —*तत्वार्थसूत्र ७-१*

अर्थ - हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह से निवृत्त होना व्रत है।

सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षणसामायिकापेक्षया एकं व्रतं, तदेव छेदोपस्थापनापेक्षया पंचविधमिहोच्यते। — *सर्वार्थसिद्धि ७-१*

अर्थ - सब पापों से निवृत्त होने रूप सामायिक की अपेक्षा एक व्रत है। वही व्रत छेदोपस्थापना की अपेक्षा पाँच प्रकार का है।

इस प्रकार पापों से निवृत्त होना ही व्रत है तथा सामायिक व छेदोपस्थापना संयम अथवा चारित्र है चारित्र तो मोक्षमार्ग तथा संवर का कारण है, जैसा कि मोक्षशास्त्र में कहा गया है। फिर व्रतों को रागभाव कहना कैसे आगमसंगत हो सकता है?

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। —*तत्वार्थसूत्र १, १*

अर्थ - सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र—ये तीनों मिलकर मोक्ष का मार्ग हैं अर्थात् साधन है।

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः। —*त. सू. ९, २*

अर्थ - गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र के द्वारा संवर होता है।

सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्पराययथाख्यातमिति चारित्रं।। १, १८।।

सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात—यह पाँच प्रकार का चारित्र है।

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि व्रत विकल्प भी नहीं है और राग भी नहीं हैं, किन्तु हिंसादि पापों के राग के त्यागरूप है। जिनको हिंसा आदि पापों से राग होता है वे ही यह कहकर कि हिंसा आदि पापों से निवृत्ति (त्याग) तो राग है, विकल्प है, आस्त्रव बन्ध का कारण है, स्वयं व्रत धारण नहीं करते और चारित्रवान पुरुषों का आदर भी नहीं करते। अथवा यह कह देते हैं कि हमारी क्रमबद्ध-पर्यायों में व्रत धारण करना पड़ा हुआ ही नहीं हैं, पर्याय आगे पीछे हो नहीं सकती, फिर हम पापों को कैसे छोड़ें अथवा सर्वज्ञ ने हमारी व्रतधारणरूप पर्याय देखी ही नहीं तो हम पापों को कैसे त्याग कर सकते हैं।

यदि व्रतों को राग माना जायेगा तो वे व्यवहारधर्म नहीं हो सकते, क्योंकि व्यवहारधर्म तो निश्चयधर्म का साधन है। जैसा कि श्री अमृतचन्द्रसूरि ने पंचास्तिकाय गाथा १६० व १६१ की टीका में कहा है और बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा १३ की टीका में यह कहा है कि जो निश्चय व व्यवहार को साध्य-साधन रूप से स्वीकार करता है, वह सम्यग्दृष्टि है। अत: व्रत व व्यवहारधर्म रागांशरूप नहीं है। विशेष व्याख्या के लिए प्रश्न नं. ३, ४ व १३ पर हमारे प्रपत्र देखने चाहिये।

श्री प्रवचनसार गाथा ९ की टीका में जीव के शुभ, अशुभ व शुद्ध तीन भाव कहे हैं। जिस समय जो भाव होता है, उस समय वह जीव उस भावरूप हो जाता है। इस गाथा की टीका में श्री जयसेन आचार्य ने कहा है कि 'पहले तीन गुणस्थानों में अशुभोपयोग, अविरत सम्यग्दृष्टि से प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक शुभोपयोग और उसके पश्चात् अप्रमत्तसंयत से क्षीणमोह गुणस्थान तक शुद्धोपयोग होता है।' चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन रूप शुद्धभाव है और कषायरूप अशुद्धभाव है, इन दोनों शुद्धाशुद्धभावों के मिश्रित रूप उपयोग को शुभोपयोग कहा है। इसी प्रकार यथासंभव पाँचवे, छटे गुणस्थान में भी शुद्धाशुद्ध मिश्रित भावरूप शुभोपयोग जानना चाहिये। यदि शुभोपयोग को शुद्धाशुद्धभावरूप न माना जावेगा तो शुभोपयोग मोक्ष का कारण नहीं हो सकेगा। किन्तु श्री अमृतचन्द्राचार्य प्रवचनसार गाथा २५४ टीका में शुभोपयोग को मोक्ष का कारण कहा है—

गृहिणां तु समस्तविरतेरभावेन शुद्धात्मप्रकाशनस्याभावात्कषायसद्भावा-त्प्रवर्तमानोऽपि स्फटिकसंपर्केणार्कतेजस इवैधसां रागसंयोगेनाशुद्धात्मनोनुभवनात् क्रमतः परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च मुख्यः।

अर्थ – वह शुभोपयोग गृहस्थों के तो, सर्वविरति के अभाव से शुद्धात्मप्रकाशन का अभाव होने से कषाय के सद्भाव के कारण प्रवर्तमान होता हुआ भी मुख्य है, क्योंकि जैसे ईंधन को स्फटिक के सम्पर्क से सूर्य के तेज का अनुभव होता है, उस प्रकार गृहस्थ को राग के संयोग से शुद्धात्मा का अनुभव होता है, क्रमशः परम निर्वाण सौख्य का कारण होता है।

आपने यह लिखकर 'शुद्धाशुद्ध पूरे परिणाम को शुभ कहकर ऐसा अर्थ फलित करने की चेष्टा की गई है सो यह कथन की चतुराई मात्र ही है।' उपर्युक्त आर्ष वाक्यों को कथन की चतुराई कहने का साहस किया है। सो यह बड़े खेद की बात है और यह आर्ष वाक्यों पर अश्रद्धा का द्योतक है।

जिनभक्ति से आप कर्म का क्षय होना नहीं मानते, किन्तु समयसार के रचयिता श्री कुन्दकुन्द भगवान् कहते हैं कि जो जिनेन्द्र को नमस्कार करता है, वह संसार भ्रमण का नाश करता है—

जिणवरचरणंबुरुहं णमंति जे परमभत्तिराएण।
ते जम्मवेल्लिमूलं खणंति वरभावसत्थेण॥१५१॥

—*भावपाहुड*

अर्थ – जे पुरुष परम भक्ति अनुराग करि जिनवर के चरणकमलकू नमे हैं ते पुरुष श्रेष्ठ भावरूप शस्त्र करि जन्म (संसार) रूपी वेल का मूल जो मिथ्यात्वादि कर्म को खणे (क्षय) करें हैं।

इससे स्पष्ट है कि जिनेन्द्र भक्ति से कर्मों के राजा मोहनीय कर्म का क्षय होता है।

आपने जो परमात्मप्रकाश गाथा ६१ उद्धृत की है उसकी टीका में लिखा है कि—

देवशास्त्रमुनीनां भक्त्या पुण्यं भवति कर्मक्षयः पुनर्मुख्यवृत्या नैव भवति।

अर्थ – देव शास्त्र-मुनियों की भक्ति से पुण्य होता है, किन्तु मुख्यता से कर्मक्षय नहीं होता। अर्थात् गौणरूप से कर्मक्षय होता है। मिश्रित अखण्ड पर्याय में पापों से निवृत्ति भी होती है और रागांश भी होता है। यहाँ पर रागांश को मुख्य करके तथा निवृत्ति अंश को गौण करके

यह कथन किया गया है। जैसे तत्त्वार्थसूत्र में सम्यक्त्व को देव आयु का आस्रव बतलाया है।

आध्यात्मिक दृष्टि से प्रथम द्वितीय और तृतीय गुणस्थानों में तो एक अशुभोपयोग होता है और असंयतसम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थान से प्रमत्तसंयत छटे गुणस्थान तक केवल एक शुभोपयोग और अप्रमत्तसंयत सातवें गुणस्थान से एक शुद्धोपयोग होता है।

—प्रवचनसार गाथा ९ टीका श्री जयसेन आचार्य।

श्री ब्रह्मदेवसूरि ने बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ३४ की टीका में लिखा है कि शुद्धोपयोग का साधक शुभोपयोग है जो चौथे से छटे गुणस्थान तक होता है। अत: शुभोपयोग मात्र बन्ध का ही कारण नहीं हो सकता।

असंयतसम्यग्दृष्टिश्रावकप्रमत्तसंयतेषु पारम्पर्येण शुद्धोपयोगसाधक उपर्युपरि तारतम्येन शुभोपयोगो वर्तते।

अर्थ – असंयतसम्यग्दृष्टि, श्रावक और प्रमत्तसंयत (चौथे, पाँचवें एवं छटे गुणस्थान) में उत्तरोत्तर तारतम्य लिये शुभोपयोग होता है जो शुद्धोपयोग का साधक है।

किन्तु दूसरी दृष्टि से ४थे से १२वें गुणस्थान तक शुभोपयोग और १३वें से शुद्धोपयोग होता है।

आपके द्वारा आचार्यों के इन वाक्यों के कथन को चतुराई कहकर सम्यग्दृष्टि के शुभोपयोग को संसार का कारण कहा गया है, किन्तु श्री कुन्दकुन्द भगवान् ने तो समयसार निर्जरा अधिकार में सम्यग्दृष्टि के भोग को भी निर्जरा का कारण कहा है। भक्ति और शुभोपयोग के संबंध में विशेष के लिए प्रश्न ३ व ४ व १३ पर हमारे वक्तव्य देखने चाहिये।

आपने लिखा है –'शुभोपयोग के होने पर कर्म बंध की स्थिति और अनुभाग में वृद्धि हो जाती है और शुद्धोपयोग के होने पर उसकी स्थिति–अनुभाग में हानि हो जाती है।' इन वाक्यों के देखने से तो ऐसा प्रतीत होता है कि इन वाक्यों को लिखते समय लेखक का लक्ष्य श्री वीरसेन आचार्य तथा श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के आर्षवाक्य की ओर नहीं रहा, इसलिये उन आर्षवाक्यों को यहाँ पर उद्धृत किया जाता है जिससे ज्ञात होगा कि शुभोपयोग अर्थात् विशुद्ध परिणामों से तीन आयु के अतिरिक्त शेष समस्त कर्मबन्ध की स्थिति में वृद्धि नहीं होती, किन्तु हानि होती है और अप्रशस्त प्रकृतियों के अनुभाग बंध में हानि होती है, स्थिति तथा प्रशस्त प्रकृतियों के अनुभाग में वृद्धि होती है। जहाँ कषायोदय नहीं होता अर्थात्

ग्यारहवें गुणस्थान से शुद्धोपयोग होता है वहाँ तो शुद्धोपयोग से बन्ध नहीं होता। यदि उपशमश्रेणी या क्षपकश्रेणी के आदि तीन गुणस्थानों में भी शुद्धोपयोग माना जावे तो शुद्धोपयोग से प्रशस्त प्रकृतियों के अनुभाग बन्ध में वृद्धि होती है, हानि नहीं होती। इस संबंध में निम्नलिखित प्रमाण देखने की कृपा करें—

सव्वट्ठिदीणमुक्कस्सओ दु उक्कस्ससंकिलेसेण।
विवरीदेण जहण्णो आउगतियवज्जियाणं तु॥२२४॥

–गो.क.

अर्थ – तीन आयु को छोड़कर अन्य सब प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थिति बंध उत्कृष्ट संक्लेश परिणामों से होता है और जघन्य स्थिति बंध विपरीत परिणामों से अर्थात् विशुद्ध परिणामों (शुभोपयोग) से होता है। तीन आयु का उत्कृष्ट स्थितिबंध विशुद्ध परिणामों से होता है तथा जघन्य स्थितिसंबंधसंक्लेश परिणामों से होता है।

बादालं तु पसत्था विसोहिगुणमुक्कडस्स तिव्वाओ।
वासीदि अप्पसत्था मिक्छुक्कडसंकिलिट्ठस्स॥१६४॥

– गो. क.

अर्थ – ४२ प्रशस्त प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध उत्कृष्टविशुद्ध परिणाम वाले जीव के होता है। और ८२ अप्रशस्त प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध मिथ्यादृष्टि उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम वाले जीवों के होता है।

धवल पु. ६ में भी लिखा है कि उत्कृष्ट विशुद्धि के द्वारा जघन्य स्थिति बँधती है, और विशुद्धि की वृद्धि से स्थितियों की हानि होती है।

उक्कस्सविसोहीए जा ट्ठिदी बज्झदि सा जहण्णिया होदि, सब्वासिं ट्ठिदीणं पसत्थभावाभावादो। संकिलेसवड्ढीदो सव्वपयडिट्ठिदीणं वड्ढी होदि, विसोहिवड्ढीदो तासिं चेव हाणी होदि। *– पृ. १८०*

अर्थ – उत्कृष्ट विशुद्धि के द्वारा जो स्थिति बँधती है, वह जघन्य होती है, क्योंकि सर्व स्थितियों के प्रशस्त भाव का अभाव है। संक्लेश की वृद्धि से सर्व प्रकृति संबंधी स्थिति की वृद्धि होती है और विशुद्धि (शुभोपयोग) की वृद्धि से उन्हीं स्थितियों की हानि होती है।

आपने जो समयसार गाथा २७२ उद्धृत करते हुए यह लिखा है – 'निश्चयनय के द्वारा

व्यवहारनय निषिद्ध जानो।' इसका यह अभिप्राय है कि वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थित जीवों के लिये व्यवहारनय का निषेध है, किन्तु प्राथमिक शिष्य के लिये यह प्रयोजनवान् है। श्री जयसेनाचार्य इसकी टीका में लिखते हैं—

यद्यपि प्राथमिकापेक्षया प्रारम्भप्रस्तावे सविकल्पावस्थायां निश्चयसाधकत्वाद् व्यवहारनयः सप्रयोजनस्तथापि विशुद्धज्ञानदर्शनलक्षणे शुद्धात्मनि स्थितानां निष्प्रयोजन इति भावार्थः।

इसका तात्पर्य यह है कि प्रारम्भिक शिष्य के लिये प्रथम सविकल्परूप अवस्था में निश्चयनय का साधक होने से व्यवहारनय प्रयोजनवान् है, किन्तु जो विशुद्धज्ञान-दर्शनमयी आत्मा में स्थित हैं, उनके लिये निष्प्रयोजन है।

इसी बात को श्री अमृतचन्द्रसूरि पंचास्तिकाय के अन्त में लिखते हैं—

व्यवहारनयेन भिन्नसाध्यसाधनभावमवलम्ब्यानादिभेदवासितबुद्धयः सुखेनैवाव-तरन्ति तीर्थं प्राथमिकाः।

अर्थ - जो जीव अनादि काल से भेदभाव कर वासितबुद्धि हैं, वे व्यवहारनय का अवलम्बन लेकर भिन्न साध्य-साधनभाव को अंगीकार करते हैं, ऐसे प्राथमिक शिष्य सुख से तीर्थ में प्रवेश करते हैं।

आगम के आधार पर यह कहा जा चुका है कि यदि विवक्षितनय अपने प्रतिपक्षीनय के सापेक्ष है तो सुनय अथवा सम्यक् नय हैं, जो सम्यग्दृष्टि के होते हैं। मिथ्यादृष्टि के वही नय पर निरपेक्ष होने से कुनय अथवा मिथ्यानय होते हैं।

इसी बात को श्री देवसेन आचार्य ने भी नयचक्रसंग्रह में कहा है—

भेदुवयारो णियमा मिच्छादिट्ठीणं मिच्छरूवं खु।
सम्मे सम्मो भणिओ तेहि दु बंधो व मुक्खो वा॥६८॥

अर्थ - भेदोपचार (व्यवहारनय) मिथ्यादृष्टि के नियम से मिथ्यारूप ही होता है और सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्वरूप कहा गया है। मिथ्या व्यवहारनय से बन्ध होता है और सम्यग्दृष्टि व्यवहारनय से मोक्ष होता है।

समयसार बन्ध अधिकार में यह कहा गया है कि अध्यवसान के द्वारा बन्ध होता है। गाथा २७१ की टीका में कहा गया है 'स्व-पर विवेक से रहित (मिथ्या) बुद्धि व्यवसाय-

मति-विज्ञान, चित्त-भाव-परिणाम को अध्यवसाय कहते हैं। गाथा २७२ में निश्चयनय के द्वारा अध्यवसानरूप मिथ्या व्यवहारनय का प्रतिषेध किया गया है। जैसा कि टीका के '**पराश्रितव्यवहारनयस्यैकान्तेनामुच्यमानेनाभव्येनाश्रियमाणत्वात्।**' (पराश्रित व्यवहारनय के तो एकान्त से कर्म से नहीं छूटने वाले अभव्य करि आश्रयमानपना है) इन शब्दों से स्पष्ट है। गाथा २७३ के 'अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी' गाथा २७४ के 'अभविय' और गाथा २७५ की टीका में 'अभव्य:' से स्पष्ट है कि गाथा २७१ आदि में मिथ्यादृष्टियों की बुद्धि-व्रत शील-ज्ञान व श्रद्धान आदि की अपेक्षा कथन है और उन्हीं का प्रतिषेध है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि का ज्ञान, श्रद्धान, व्रत, शील आदिरूप चारित्र तो मोक्ष का कारण है, उसका प्रतिषेध नहीं हो सकता।

यदि २७२ गाथा में सम्यग्व्यवहारनय का प्रतिषेध मान लिया जावे तो पूर्वापर विरोध का प्रसंग आ जायेगा, क्योंकि समयसार गाथा १२ में तथा उसकी टीका में पूर्ण ज्ञान-चारित्र होने तक अर्थात् साधक अवस्था में सम्यग्व्यवहारनय को प्रयोजनवान् बतलाया गया है।

श्री समयसार गाथा १२ तथा उसकी टीका में भी प्रगट किया गया है कि जो पूर्ण दर्शन-ज्ञान-चारित्रवान् हो गये उन्हें शुद्ध (निश्चय) नय प्रयोजनवान् है और जब तक दर्शन-ज्ञान-चारित्र पूर्ण नहीं होते हैं तब तक व्यवहारनय प्रयोजनवान् है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पूर्णता १३वें गुणस्थान में होती है, अत: १२वें गुणस्थान तक व्यवहारनय प्रयोजनवान् है।

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहरदेसिदा पुण जे दु अपर में ट्ठिदा भावे॥१२॥

— ***श्री समयसार***

अर्थ - जो शुद्धनय तक पहुँच कर श्रद्धावान् हुये तथा पूर्ण ज्ञान-चारित्रवान् हो गये हैं उन्हें तो शुद्ध का उपदेश करने वाला शुद्धनय जानने योग्य है और जो जीव अपरम भाव में स्थित है अर्थात् श्रद्धा तथा ज्ञानचारित्र के पूर्ण भाव को नहीं पहुँच सके हैं - साधक अवस्था में ही स्थित हैं, वे पुरुष व्यवहार द्वारा उपदेश करने योग्य हैं।

श्री अमृतचन्द्राचार्य इसकी टीका में लिखते हैं कि व्यवहारनय बारहवें गुणस्थान तक प्रयोजनवान् है। टीका यह है—

ये तु प्रथमद्वितीयाद्यनेकपाकपरम्परापच्यमानकार्त्तस्वरस्थानीयमपरमं भावमनुभवंति

तेषां पर्यंतपाकोत्तीर्णजात्यकार्त्तस्वरस्थानीयपरमभावानुभवनशून्यत्वादशुद्धद्रव्यादेशितयोपदर्शितप्रतिविशिष्टैकभावानेकभावो व्यवहारनयो विचित्रवर्णमालिकास्थानीयत्वात्परिज्ञायमानस्तदात्वे प्रयोजनवान्, तीर्थतीर्थफलयोरित्थमेव व्यवस्थितत्वात्। उक्तं च-

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं।।

अर्थ - जो पुरुष प्रथम द्वितीयादि अनेक पाकों के परम्परा से पच्यमान अशुद्ध स्वर्ण के समान जो आत्मा के अनुत्कृष्ट-मध्यमभाव का अनुभव करते हैं उन्हें अंतिम ताव से उतरे हुए शुद्ध सोने के समान उत्कृष्ट भाव का अनुभव नहीं होता, इसलिए अशुद्धद्रव्य को कहने वाली, भिन्न भिन्न एक-एक भावस्वरूप अनेक भाव दिखाने वाली व्यवहारनय उस काल प्रयोजनवान् है, क्योंकि विचित्र अनेक वर्णमाला के समान जानने में आता है। तीर्थ और तीर्थफल की ऐसी ही व्यवस्था है। कहा भी है - यदि तुम जिन मत की प्रवर्तना करना चाहते हो तो व्यवहारनय और निश्चयनय दोनों नयों को मत छोड़ों, क्योंकि व्यवहारनय के बिना तो तीर्थ (व्यवहारमार्ग) का नाश हो जायेगा और निश्चयनय के बिना तत्त्व का नाश हो जायेगा।

भावार्थ - जहाँ तक यथार्थ ज्ञान श्रद्धान की प्राप्ति रूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हो, वहाँ तक तो जिनसे यथार्थ उपदेश मिलता हो—ऐसे जिन वचनों को सुनना, धारण करना तथा जिन वचनों को कहने वाले श्री जिनगुरु की भक्ति, जिनबिम्ब के दर्शन इत्यादि व्यवहार मार्ग में प्रवृत्त होना प्रयोजनवान् है और जिन्हें श्रद्धान-ज्ञान तो हुआ है, किन्तु साक्षात् प्राप्ति नहीं हुई, उन्हें पूर्वकथित कार्य परद्रव्य का आलम्बन छोड़ने रूप अणुव्रत-महाव्रत का ग्रहण समिति, गुप्ति और पंच परमेष्ठी का ध्यानरूप प्रवर्तन तथा उसी प्रकार प्रवर्तन करने वालों की संगति एवं विशेष जानने के लिए शास्त्रों का अभ्यास इत्यादि व्यवहारनय मार्ग में स्वयं प्रवर्तन करना और दूसरों को प्रवर्तन कराना—ऐसे व्यवहारनय के उपदेश प्रयोजनवान् है। व्यवहारनय को कथंचित् असत्यार्थ कहा गया है, किन्तु यदि कोई उसे सर्वथा असत्यार्थ जानकर छोड़ दे तो वह शुभोपयोग रूप व्यवहारनय को ही छोड़ देगा और उसे शुद्धोपयोग की साक्षात् प्राप्ति तो नहीं हुई हैं, इसलिये उलटा अशुभोपयोग में ही आकर, भ्रष्ट होकर चाहे जैसी स्वेच्छारूप प्रवृत्ति करेगा तो वह नरकादि गति तथा परम्परा से निगोद को प्राप्त होकर संसार में ही भ्रमण करेगा। इसलिये शुद्धनय का विषय जो साक्षात् शुद्ध आत्मा है, उसकी प्राप्ति जब तक न हो तब तक व्यवहार भी प्रयोजनवान् है - ऐसा स्याद्वाद मत में श्री गुरुओं का उपदेश है।

'व्यवहारनय का विषय व्यवहारनय की अपेक्षा सत्य है।' इस बात को श्री अमृतचन्द्राचार्य समयसार गाथा १४ की टीका में भी कहते हैं—

आत्मनोऽनादिबद्धस्य वद्धस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां बद्धस्पृष्टत्वं भूतार्थम्।

अर्थ - अनादिकाल से बंधे हुए आत्मा का पुद्गल कर्मों से बँधने स्पर्शित होनेरूप अवस्था से (व्यवहारनय से) अनुभव करने पर बद्ध-स्पृष्टता भूतार्थ है।

श्री पं. फूलचन्द्र ने भी अपने लेख में जो प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ में पृ. ३४५ से ३५५ तक प्रकाशित हुआ है उसमें भी व्यवहारनय को सत्य सिद्ध किया है। वे वाक्य निम्न प्रकार है—

यदि निश्चय सत्याधिष्ठित है तो वह अपनी अपेक्षा से ही है। यदि व्यवहार की अपेक्षा से ही (भी) उसे वैसा मान लिया जाये तो बन्ध-मोक्ष की चर्चा करना ही छोड़ देना चाहिये। कविवर पं. बनारसीदास जी ने ऐसा किया था, पर अन्त में उन्हें एकान्त निश्चय का त्याग करके व्यवहार की शरण में आना पड़ा। आचार्य कुन्दकुन्द ने जो व्यवहार को अभूतार्थ कहा है वह व्यवहार की अपेक्षा नहीं, किन्तु निश्चय की अपेक्षा से कहा है। व्यवहार अपने अर्थ में उतना ही सत्य है, जितना कि निश्चय।

आपने लिखा है कि 'निरपेक्षा नया मिथ्या' यह वचन वस्तुसिद्धि के प्रसंग में आया है और प्रकृत में मोक्ष-मार्ग की प्रसिद्धि की जा रही है। अतएव प्रकृत में उसका उपयोग करना इष्ट नहीं है।' किन्तु आपका ऐसा लिखना आगमानुकूल नहीं है। प्रथम तो वस्तुसिद्धि से ही मोक्ष-मार्ग की प्रसिद्धि है, वस्तुसिद्धि और मोक्ष-मार्ग की प्रसिद्धि दो नहीं हैं। दूसरे मोक्ष-मार्ग की प्रसिद्धि भी द्वयनयाधीन ही हैं, क्योंकि निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग साध्य-साधकरूप है। इन दोनों में से किसी एक के अभाव में मोक्ष की सिद्धि (प्राप्ति) नहीं हो सकती। इसी बात को श्री जयसेन आचार्य भी पंचास्तिकाय ग्रन्थ का तात्पर्य बताते हुए टीका के अन्त में लिखते हैं—

अथैवं पूर्वोक्तप्रकारेणास्य प्राभृतस्य शास्त्रस्य वीतरागत्वमेव तात्पर्यं ज्ञातव्यं। तच्च वीतरागत्वं निश्चयव्यवहारनयाभ्यां साध्यसाधकरूपेण परस्परसापेक्षाभ्यामेव भवति मुक्तिसिद्धये न च पुनर्निरपेक्षाभ्यामिति वार्तिकं। तद्यथा - ये केचन विशुद्धज्ञानदर्शन-स्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक् श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयमोक्षमार्गनिरपेक्षं केवल-शुभानुष्टारूपं व्यवहारनयमेव मोक्षमार्गं मन्यंते तेन तु सुरलोकादिक्लेशपरम्परया संसारे परिभ्रमन्तीति। यदि पुनः शुद्धात्मानुभूतिलक्षणं निश्चयमोक्षमार्गं मन्यंते निश्चय-

मोक्षमार्गानुष्ठानशक्त्यभावान्निश्चयसाधकं शुभानुष्ठानं च कुर्वन्ति तर्हि सरागसम्यग्दृष्टयो भवन्ति परम्परया मोक्षं लभन्ते इति व्यवहारैकान्तनिराकरणमुख्यत्वेन वाक्यद्वयं गतं। येऽपि केवलनिश्चयनयावलंबिनः संतोऽपि रागादिविकल्परहितं परमसमाधिरूपं शुद्धात्मानमलभमाना अपि तपोधनाचरणयोग्यं षडावश्यकाद्यनुष्ठानं श्रावकचरणयोग्यं दानपूजाद्यनुष्ठानं च दूषयंते तेष्युभयभ्रष्टाः संतो निश्चयव्यवहारानुष्ठानयोग्याव-स्थान्तरमजानन्तः पापमेव बध्नन्ति। यदि पुनः शुद्धात्मानुष्ठानरूपं मोक्षमार्गं तत्साधकं व्यवहारमोक्षमार्गं मन्यन्ते तर्हि चारित्रमोहोदयात् शक्त्यभावेन शुभाशुभानुष्ठानरहिता अपि यद्यपि शुद्धात्मभावनासापेक्षशुभानुष्ठानरतपुरुषसदृशा न भवन्ति तथापि सरागसम्यक्त्वादिव्यवहारसम्यग्दृष्टयो भवन्ति परम्परया मोक्षं च लभंते इति निश्चयैकान्तनिराकरणमुख्यत्वेन वाक्यद्वयं गतं। ततः स्थितमेतन्निश्चयव्यवहार-परस्परसाधकभावेन रागादिविकल्परहितपरमसमाधिबलेनैव मोक्षं लभंते॥१७२॥

अर्थ – अब पूर्वोक्त प्रकार इस ग्रन्थ का तात्पर्य वीतरागता ही जानना चाहिये। वह वीतरागता निश्चय व व्यवहारनय द्वारा साध्य-साधकरूप से परस्पर सापेक्षता से ही मुक्ति कार्य की सिद्धि होती है, किन्तु दोनों नयों की परस्पर निरपेक्षता से मुक्तिकी सिद्धि नहीं होती। जो कोई, विशुद्ध ज्ञानस्वभावमयी शुद्धात्मतत्त्व का श्रद्धान-ज्ञानानुष्ठानरूप निश्चयमोक्षमार्ग की अपेक्षा से रहित, मात्र शुभ आचरणरूप व्यवहारनय को ही मोक्षमार्ग मानता है, वह स्वर्ग आदि के संक्लेश भोगकर परम्परा से संसार में भ्रमण करता है। यदि वही जीव पुनः शुद्धात्मानुभूतिमयी निश्चयमोक्षमार्ग को मानता है, निश्चय मोक्षमार्ग रूप अनुष्ठान करने की शक्ति न होने से, निश्चय का साधकरूप शुभ अनुष्ठान को करता है तो वह सरागसम्यग्दृष्टि होता हुआ परम्पराय मोक्ष को प्राप्त करता है। इस प्रकार व्यवहार एकान्त के निराकरण की मुख्यता से दो वाक्य ही कहे गये।

निश्चय एकान्त का कथन

जो केवल निश्चय के अवलम्बी हैं वे भी, रागादि विकल्परहित परम समाधिरूप शुद्धात्मा को प्राप्त न करने पर भी तपश्चरण के योग्य षडावश्यक आदि अनुष्ठान अथवा श्रावकाचरण के योग्य दान-पूजादि अनुष्ठान को हेयरूप (बन्धरूप) मानकर उनसे भ्रष्ट होता हुआ अर्थात् उन आचरणों को न करता हुआ निश्चयव्यवहाररूप अनुष्ठान के योग्य अनेकान्तरूप अवस्था को नहीं जानने से पाप को ही बाँधता है। यदि पुनः वह जीव शुद्धात्मानुष्ठानरूप

निश्चय मोक्षमार्ग का साधक व्यवहार मोक्षमार्ग को मानता है फिर भी चारित्रमोह के उदय के वश शक्ति के अभाव से शुभाशुभ अनुष्ठान नहीं करता है। यद्यपि शुद्धात्मभावना से सापेक्ष शुभ अनुष्ठान में रत ऐसे पुरुष के सदृश नहीं होता तथापि सरागसम्यक्त्व आदि सहित व्यवहार सम्यग्दृष्टि होता है और परम्परा मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार निश्चय एकान्त के निराकरण की मुख्यता से दो वाक्य कहे गये।

इससे यह निश्चित होता है कि निश्चय और व्यवहार नयों में परस्पर साध्य-साधक भाव के द्वारा सापेक्षता रखते हुए रागादि विकल्प-रहित परम समाधि के बल से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

श्री अमृतचन्द्रसूरि भी पंचास्तिकाय गाथा १७२ की टीका में कहते हैं कि केवल निश्चयनय से भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती और केवल व्यवहारनय से भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकार निश्चयाभासी और व्यवहाराभासी का कथन किया गया है। निश्चय और व्यवहार के अविरोध से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। सूरिजी इस बात को इन वाक्यों द्वारा कहते हैं जो ध्यान देने योग्य हैं—

तदिदं वीतरागत्वं व्यवहारनिश्चयाविरोधेनैवानुगम्यमानं भवति समीहितसिद्धये न पुनरन्यथा।

अर्थ - व्यवहार और निश्चय का अविरोधपूर्वक अनुसरण करते हुए जो यह वीतरागता प्राप्त होती है उसी से मोक्ष की सिद्धि होती है, अन्य प्रकार से मोक्ष की सिद्धि नहीं।

'पर्यायबुद्धि तो तू अनादिकाल से बनाए चला आ रहा है' इस वाक्य के लिखने से यदि आपका यह अभिप्राय रहा हो कि 'व्यवहारनय अभूतार्थ है, इसलिये पर्याय का ज्ञान-श्रद्धान निरर्थक है, मात्र द्रव्यज्ञान अर्थात् एकान्त निश्चयनय से मोक्ष की प्राप्ति हो जायेगी, सो ऐसा अभिप्राय उचित नहीं है। द्रव्य (स्वभाव) दृष्टि में अर्थात् स्वभावग्राही निश्चयनय में तो न बँध है और मोक्ष न है। पर्याय की अपेक्षा ही बँध या अशुद्धता है। उस बन्ध या अशुद्धताका क्षय करके पर्याय की अपेक्षा ही मोक्ष या शुद्धता प्राप्त करनी है।

श्री पंचास्तिकाय के आधार से ऊपर यह सिद्ध किया जा चुका है कि निश्चय और व्यवहार दोनों के अविरोधरूप आश्रय से मोक्ष की प्राप्ति है। जो एकान्त से निश्चयनय का अवलम्बन लेते हैं वे मोक्ष को तो प्राप्त करते ही नहीं, किन्तु उल्टा पापबन्ध ही करते हैं।

इस प्रश्न का आशय अनेकान्त पर दृष्टि लाने का था, क्योंकि प्राय: यह देखा जाता है कि अतिदुर्लभ मनुष्य भव पाकर भी जीव किसी न किसी एकान्त मिथ्या मान्यता के चक्कर में फँस जाता है। कोई तो एकान्त काललब्धि की श्रद्धा करके यह विचार कर, कि जब मेरी काललब्धि आयेगी, उस समय मेरा कल्याण हो जावेगा और मेरी बुद्धि भी उसी समय कल्याण की ओर लगेगी और काललब्धि बिना कल्याण हो नहीं सकता, कल्याण मार्ग में पुरुषार्थ-हीन हो जाता है। कोई भवितव्यता या होनहार के एकान्त पक्ष को ग्रहण कर सोचता है कि जब मेरे कल्याण की भवितव्यता होगी उसी समय मेरा कल्याण होगा उसके पूर्व या पश्चात् नहीं हो सकता, ऐसा सोचकर कल्याणमार्ग से वंचित रह जाता है। अन्य कोई सोचता है कि मेरा कल्याण तो नियति अपर नाम क्रमबद्ध पर्याय के आधीन है, मैं कल्याण करने में स्वाधीन नहीं हूँ। इतना ही नहीं वह विचारता है कि जो कुछ भी अन्याय, अत्याचार, व्यभिचार हो रहा है, वह सर्व नियति के अधीन हो रहा है, जिसमें कोई हेरफेर नहीं कर सकता। यदि मैं अन्यायादिरूप होता भी हूँ या व्रतों में दोष आदि लगते हैं, वे सब नियति के अधीन हैं, मैं तो सर्वथा निर्दोष हूँ। कोई संयम व चारित्र को मात्र बन्ध का कारण जानकर उनसे पराङ्मुख रहता है और स्वच्छन्द प्रवृत्ति करता है। ऐसे जीवों की दृष्टि अनेकान्त पर लाने के लिए यह प्रश्न था। अनेकान्त का ही उपदेश सर्वज्ञ ने दिया है। 'अनेकान्त' जैन धर्म की विशेष देन है और अनेकान्त दृष्टि मोक्षमार्ग है। इति।

नोट - इस विषय में प्रश्न १, ४, ५, ६ और १७ पर दृष्टि डालिये तथा इनके प्रत्येक दौर का विषय देखिये।

●

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्।।

शंका 16

मूल प्रश्न 16 - निश्चयनय और व्यवहारनय का स्वरूप क्या है ? व्यवहारनय का विषय असत्य है क्या ? असत्य है तो अभावात्मक है या मिथ्यारूप ?

प्रतिशंका 3 का समाधान

1. प्रथम द्वितीय दौर का उपसंहार

प्रथम उत्तर में हमने निश्चयनय और अवान्तर भेदों के साथ व्यवहारनय के स्वरूप और विषय पर स्पष्ट प्रकाश डालने के बाद निर्विकल्प निश्चयनय और उसके विषय का निर्देश कर दिया था। इन नयों के विषय में कुछ लिखने के लिए शेष नहीं रहने दिया था। इन नयों का इस पद्धति से विवेचन किया गया था। जिससे निश्चयनय भूतार्थ क्यों है और व्यवहारनय अभूतार्थ क्यों कहे गये हैं इसका स्पष्ट ज्ञान हो जाये। विषय गहन होते हुए भी उसे सरल करने का प्रयत्न किया गया था।

अपने दूसरे दौर में अपर पक्ष ने हमारे प्रथम उत्तर को पढ़कर उसे अपने प्रश्न का उत्तर नहीं माना है, इसका हमें आश्चर्य है। वह हमसे क्या कहलाना चाहता था, यह उसके द्वितीय दौर में उपस्थित किये गये निरूपण से स्पष्ट हो जाता है। इसके प्रारम्भ में उस पक्ष ने इधर-उधर की कुछ बातों का संकेत कर असद्भूत व्यवहारनय की विषयभूत व्यवहार क्रियाओं पर प्रकाश डाला है और इन क्रियाओं के आधार पर निश्चयस्वरूप शुद्धात्मा की प्राप्ति अथवा मोक्ष की प्राप्ति बतलाई है।

फलस्वरूप हमें अपने दूसरे दौर में उत्तर लिखते समय अपनी दृष्टि को प्रस्तुत प्रतिशंका में वर्णित विषय का आगमानुसार स्पष्टीकरण करने की दिशा में ही विशेषरूप से केन्द्रित रखना पड़ा। इसमें उन सब विषयों का स्पष्टीकरण किया गया है जिनका निर्देश अपर पक्ष ने अपनी प्रस्तुत प्रतिशंका में किया है।

2. दो प्रश्न और उनका समाधान

तत्काल प्रतिशंका ३ के आधार से विचार करना है। इसके प्रारम्भ में अपर पक्ष ने मूल

प्रश्नों को चार भागों में विभक्त करने के बाद अपनी पुरानी शिकायतों को पुनः दुहराया है। साथ ही हमने जिन ग्रन्थों के प्रमाण दिये हैं उनमें से एक पुस्तक के कथन को आर्ष विरुद्ध बतलाकर लिखा है कि 'ऐसी पुस्तक के वाक्यों को लिखकर व्यर्थ कलेवर बढ़ा दिया गया है। यदि ऐसा न किया जाता तो सुन्दर होता।' अपर पक्ष किस पुस्तक को आर्ष विरुद्ध समझता है और क्यों समझता है, इसका उसकी ओर से कोई खुलासा नहीं किया गया। इससे मालूम पड़ता है कि उसकी ओर से टीका आवेशवश ही की गई है। जिस पुस्तक का स्वाध्यायकर हजारों ही नहीं, लाखों नर-नारी अपना कल्याण करते हों, उसे आवेशवश अकारण आर्षविरुद्ध घोषित करना अनर्थकर घटना ही मानी जायेगी।

आगे अनेकान्त का स्वरूप लिखने के बाद अपर पक्ष ने लिखा है - 'एक वस्तु में विवक्षाभेद से दो प्रतिपक्ष धर्म पाये जाते हैं, अतः उन दोनों धर्मों में से प्रत्येक धर्म की विवक्षा को ग्रहण करने वाला पृथक्-पृथक् एक-एक नय है।'

यह अपर पक्ष के वक्तव्य का कुछ अंश है। इस पर से विचारणीय दो प्रश्न उद्भूत होते हैं—

१. एक वस्तु में विवक्षाभेद से दो प्रतिपक्ष धर्म पाये जाते हैं, क्या ऐसा वस्तु का स्वरूप है ?

२. क्या प्रत्येक धर्म की विवक्षा को ग्रहण करना यह नय है ?

आगे इनका क्रम से समाधान किया जाता है—

१. किसी भी वस्तु में कोई भी धर्म विवक्षाभेद से नहीं रहा करता, क्योंकि प्रत्येक धर्म वस्तु का स्वरूप होता है और जो धर्म जिस वस्तु का स्वरूप होता है, वह स्वतःसिद्ध होता है। प्रयोजनवश विवक्षा में एक धर्म को मुख्यकर और दूसरे धर्म को गौणकर व्यवहार की प्रसिद्धि के लिए वस्तु की सिद्धि करना अन्य बात है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए सर्वार्थसिद्धि अ. ५ सू. ३२ में लिखा है—

अनेकान्तात्मकस्य वस्तुनः प्रयोजनवशाद्यस्य कस्यचिद्धर्मस्य विवक्षया प्रापितं प्राधान्यमर्पितमुपनीतमिति यावत्। तद्विपरीतमनर्पितम्। प्रयोजनाभावात् सतोऽप्यविवक्षा भवतीत्युपसर्जनीभूतमनर्पितमित्युच्यते। अर्पितं चानर्पितं चार्पितानर्पिते। ताभ्यां सिद्धेरर्पितानर्पितसिद्धेः, नास्ति विरोधः। तद्यथा-एकस्य देवदत्तस्य पिता पुत्रो भ्राता भागिनेय

इत्येवमादयः सम्बन्धा जनकत्वजन्यत्वादिनिमित्ता न विरुध्यन्ते, अर्पणाभेदात्। पुत्रापेक्षया पिता, पित्रपेक्षया पुत्र इत्येवमादिः। तथा द्रव्यमपि सामान्यार्पणया नित्यम्, विशेषार्पणयाऽनित्यमिति नास्ति विरोधः। तौ च सामान्य-विशेषौ कथञ्चित् भेदाभेदाभ्यां व्यवहारहेतू भवतः।

प्रयोजनवश अनेकान्तात्मक वस्तु के जिस किसी धर्म की विवक्षा द्वारा प्राप्त हुई प्रधानता का नाम अर्पित है। अर्पित अर्थात् उपनीत, यह इसका तात्पर्य है। उससे विपरीत अनर्पित है। प्रयोजन न होने से सत् की भी अविवक्षा होती है। उपसर्जनीभूत का नाम ही अनर्पित है। इन दोनों का अर्पितं च अनर्पितं च अर्पितानर्पिते ऐसा द्वन्द्व समास है। उनसे होने वाली सिद्धि ही अर्पितानर्पितसिद्धि है, इसलिए कोई विरोध नहीं है। यथा - एक देवदत्त के जनकत्व तथा जन्यत्व आदि निमित्तक पिता, पुत्र, भ्राता और भागनेय इत्यादि सम्बन्ध अर्पणाभेद से विरोध को प्राप्त नहीं होते। पुत्र की अपेक्षा पिता है, पिता की अपेक्षा पुत्र है - इसी प्रकार और भी। उसी प्रकार द्रव्य भी सामान्य की अर्पणा की अपेक्षा नित्य है और विशेष की अर्पणा की अपेक्षा अनित्य है। इसलिए कोई विरोध नहीं है। वे सामान्य और विशेष कथंचित् भेद और अभेद के द्वारा व्यवहार के हेतु होते हैं।

इस विषय में तत्त्वार्थवार्तिक और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक का भी यही आशय है। आप्तमीमांसा कारिका ७५ पर दृष्टिपात करने पर उसका भी यही आशय प्रतीत होता है। इस तथ्य को स्पष्ट रूप से समझने के लिए अष्टसहस्री का यह कथन ध्यान में लेने योग्य है—

न हि कर्तृस्वरूपं कर्मापेक्षं कर्मस्वरूपं वा कर्त्रपेक्षम्, अभयासत्त्वप्रसंगात्। नापि कर्तृत्वव्यवहारः कर्मत्वव्यवहारो वा परस्परानपेक्षः, कर्तृत्वस्य कर्मनिश्चयावसेयत्वात्, कर्मत्वस्यापि कर्तृप्रतिपत्तिसमधिगम्यमानत्वात्।

कर्ता का स्वरूप कर्मसापेक्ष नहीं है तथा कर्म का स्वरूप कर्तृसापेक्ष नहीं हैं, क्योंकि इस प्रकार दोनों के असत्त्व का प्रसंग प्राप्त होता है। किन्तु कर्तृत्वव्यवहार और कर्मत्व व्यवहार परस्पर निरपेक्ष भी नहीं है, क्योंकि कर्तृत्व का ज्ञान कर्म के निश्चयपूर्वक होता है। उसी प्रकार कर्मत्व का भी ज्ञान कर्ता के निश्चयपूर्वक होता है।

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि जिस द्रव्य में सत्-असत् आदि जितने धर्म हैं उनका स्वरूप स्वत:सिद्ध है। उनका व्यवहार परस्पर की अपेक्षा से होता है इतना अवश्य है और इस प्रकार परस्पर सापेक्षभाव से सिद्धि करने वाला जो नय है, वही व्यवहारनय है। अतएव अपर

पक्ष का यह लिखना आगम, अनुभव और तर्क के विरुद्ध है कि 'एक वस्तु में विवक्षाभेद से दो प्रतिपक्ष धर्म पाये जाते हैं।' किन्तु उसके स्थान में यही निर्णय करना चाहिये कि प्रत्येक वस्तु में जितने भी धर्म पाये जाते हैं, उनका स्वरूप स्वत: सिद्ध होता है।

२. दूसरा प्रश्न है कि 'क्या प्रत्येक धर्म की विवक्षा को ग्रहण करने वाला नय है।' समाधान यह है कि किसी विवक्षा को ग्रहण करने वाला नय नहीं कहलाता, किन्तु **नाना धर्मयुक्त वस्तु में प्रयोजनवश एक धर्म द्वारा वस्तु को जानने वाला श्रुतविकल्प नय कहलाता है।** अपर पक्ष ने स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की जो २६४वीं गाथा उद्धृत की है, उससे भी यही सिद्ध होता है। उक्त गाथा का तात्पर्य लिखते हुए अपर पक्ष ने स्वयं इन शब्दों को लिखकर हमारे उक्त अभिप्राय को स्वीकार किया है। उस पक्ष द्वारा लिपिबद्ध किये गये वे शब्द इस प्रकार हैं – '**कोई भी एक नय वस्तु के पूर्ण स्वरूप को नहीं कह सकता। नय तो एक धर्ममुखेन वस्तु का कथन करता है।**' इतना अवश्य है कि उक्त वाक्य में 'नय तो' पद के आगे 'प्रयोजनवश' या 'विवक्षित' पद लगा देना उपयुक्त प्रतीत होता है। इस पर से यह निश्चित हो जाता है कि अपर पक्ष ने नय का लक्षण करते हुए जो यह लिखा है – 'अत: उन दोनों धर्मों में से प्रत्येक धर्म की विवक्षा को ग्रहण करने वाला पृथक्-पृथक् एक-एक नय है।' वह ठीक नहीं है।

अपर पक्ष ने 'प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है' यह स्वीकार करके भी उसकी पुष्टि में आचार्य अमृतचन्द्र का मात्र '**परस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्तः**' इतना वचन उद्धृत किया है। किन्तु मूलभूत सिद्धान्त का सूचक प्रारम्भ का समग्र वचन छोड़ दिया है। वह इस प्रकार है—

तत्र यदेव तत् तदेवातत् यदेवैकं तदेवानेकं यदेव सत् तदेवासत् यदेव नित्यं तदेवानित्यमित्येकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादकं परस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्तः।

जो तत् है वही अतत् है, जो एक है वही अनेक है, जो सत् है वही असत् है तथा जो नित्य है वही अनित्य है—ऐसे एक वस्तु में वस्तुत्व की निपजाने वाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकान्त है।

यहाँ 'एक वस्तु में वस्तुत्व को निपजाने वाली' यह मूल सिद्धान्त को सूचित करने वाला वचन है। अपर पक्ष इस वचन को छोड़कर अनेकान्त के स्वरूप पर इस ढंग से प्रकाश डालने की चेष्टा की है जिससे अनेकान्त के स्वरूप पर दृष्टि न जाकर असद्भूत व्यवहारनय

के विषय को विवक्षित एक वस्तु का धर्म सिद्ध किया जा सके। किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि विवक्षित एक वस्तु के वस्तुत्व को निपजाने वाले परस्पर विरुद्ध दो धर्म ही एक वस्तु में पाये जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि एक वस्तु के किसी भी धर्म का दूसरी वस्तु में अत्यन्ताभाव है। उदाहरणार्थ जिस जीव में भव्यत्व शक्ति हो उसमें अभव्यत्व शक्ति का सद्भाव नहीं हो सकता। यदि इन दोनों शक्तियों का अस्तित्व एक आत्मा में स्वीकार कर लिया जाये तो वस्तु के वस्तुत्व का ही नाश हो जायेगा। शंका-समाधान के रूप में इस विषय को स्पष्ट करते हुए धवला पु. १ पृ. १६७ में लिखा है—

अस्त्येकस्मिन्नात्मनि भूयसां सहावस्थानं प्रत्यविरुद्धानां सम्भवो नाशेषाणामिति चेत्? क एवमाह समस्तानामप्यवस्थितिरिति, चैतन्याचैतन्यभव्याभव्यादिधर्माणा-मप्यक्रमेणैकात्मन्यवस्थितिप्रसंगात्। किन्तु येषां धर्माणां नात्यन्ताभावो यस्मिन्नात्मनि तत्र कदाचित्क्वचिदक्रमेण तेषामस्तित्वं प्रतिजानीमहे।

शंका - जिन धर्मों का एक आत्मा में एक साथ रहने में विरोध नहीं है, वे रहें, परन्तु सम्पूर्ण धर्म तो एक साथ एक आत्मा में नहीं रह सकते ?

समाधान - कौन ऐसा कहता है कि समस्त ही धर्मों की अवस्थिति है। यदि समस्त धर्मों की एक साथ एक आत्मा में अवस्थिति मान ली जाये तो चैतन्य-अचैतन्य, भव्यत्व-अभव्यत्व आदि का भी एक साथ एक आत्मा में अवस्थिति का प्रसंग आ जायेगा। इसलिए जिन धर्मों का जिस आत्मा में अत्यन्ताभाव नहीं है, उसमें क्वचित्-कदाचित् अक्रम से उनका अस्तित्व जानते हैं।

इसी तथ्य को और भी स्पष्ट करते हुए धवल पु. १ पृ. ३३५ में लिखा है—

नियमेऽभ्युपगम्यमाने एकान्तवादः प्रसतीति चेत्? न, अनेकान्तगर्भैकान्तस्य सत्त्वाविरोधात्।

शंका - सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान में पर्याप्त ही होते हैं ऐसे नियम के स्वीकार करने पर एकान्तवाद का प्रसंग आता है ?

समाधान - नहीं, क्योंकि अनेकान्तगर्भ एकान्त का सत्त्व स्वीकार करने पर कोई विरोध नहीं आता।

ये आगम के दो प्रमाण है। इनसे सम्यक् अनेकान्त का और सम्यक् अनेकान्तगर्भ

सम्यक् एकान्त का क्या स्वरूप है, इस पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। जो मात्र परस्पर विरोधी अनेक धर्मों का एक आत्मा में सद्भाव स्वीकार कर उसे अनेकान्त कहते हैं, उनका वह कथन किस प्रकार अपमार्थभूत है—इस पर उक्त समग्र कथन से सुन्दर प्रकाश पड़ता है। एक आत्मा में एक साथ परस्पर विरोधी ऐसे ही धर्मयुगल स्वीकार किये गये हैं, जो वस्तु में वस्तुत्व के निष्पादक हों। अतएव अपर पक्ष ने अनेकान्त का जो स्वरूप निर्देश किया है वह कैसे आगम विरुद्ध है यह ज्ञात हो जाता है।

3. निश्चय और व्यवहारनय के विषय में स्पष्ट खुलासा

आगे अपर पक्ष ने नय के द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय—ये दो भेद करके द्रव्यार्थिकनय को निश्चयनय और पर्यायार्थिकनय को व्यवहारनय लिखा है तथा इसकी पुष्टि समयसार गाथा ५६ की आत्मख्याति टीका से की है। अब विचार यह करना है कि अपर पक्ष ने जो द्रव्यार्थिकनय को निश्चयनय और पर्यायार्थिकनय को व्यवहारनय लिखा है वह किस अपेक्षा से ठीक है और किस अपेक्षा से ठीक नहीं है। हमने अपने प्रथम उत्तर में प्रयोजन विशेष को लक्ष्य में रखकर समयसार आदि अध्यात्म ग्रन्थों में निश्चयनय और व्यवहारनय का जिस रूप में स्वरूप निर्देश किया गया है उसका सुस्पष्ट खुलासा करने के बाद उसके अन्त में यह सूचना कर दी थी कि **जहाँ पूर्वोक्त दृष्टि से निश्चयनय-व्यवहारनय का निरूपण किया गया हो, उसे वहाँ उस दृष्टि से, और जहाँ अन्य प्रकार से निश्चयनय-व्यवहारनय का निरूपण हो, वहाँ उसे उस प्रकार से दृष्टिपथ में लेकर उसका निर्णय कर लेना चाहिए। लक्षणादि दृष्टि से इनका कथन अन्यत्र किया ही है, इसलिए वहाँ से जान लेना चाहिए।** किन्तु अपर पक्ष ने इस ओर ध्यान न देकर लगता है कि आगम में जितना भी द्रव्यार्थिकनय का कथन है, उस सबको निश्चयनय का कथन मान लिया है और जितना भी पर्यायार्थिकनय का कथन है, उस सबको व्यवहारनय का कथन मान लिया है। आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार गाथा ५६ में जो निश्चयनय-व्यवहारनय का स्वरूप निर्देश किया है वह सब मात्र समयसार की कथनी को ध्यान में रखकर ही लिखा है, इसलिए उसे उक्त प्रकार से समस्त द्रव्यार्थिकनय के और समस्त पर्यायार्थिकनय के कथन पर लागू करना उचित नहीं है। नयचक्रसंग्रह पृ. ६९ में यह गाथा आई है—

णिच्छय-ववहारणया मूलिमभेया णयाण सव्वाणं।
णिच्छयसाहणहेउं पज्जय-दव्वत्थियं मुणह॥१८३॥

सब नयों के मूल भेद दो हैं - निश्चयनय और व्यवहारनय। उनमें से निश्चय की सिद्धि का हेतु पर्यायार्थिकनय और द्रव्यार्थिकनय को जानो॥१८३॥

इसके बाद पुनः वहाँ लिखा है—

दे चेव य मूलणया भणिया दव्वत्थि-पज्जयत्थिगया।
अण्णे असंख-संखा ते तब्भेया मुणेयव्वा॥१८४॥

द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय—ये दो मूल भेद कहे गये हैं। अन्य जितने संख्यात-असंख्यात नय हैं, वे सब उन दोनों नयों के भेद जानने चाहिए॥१८४॥

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आगम में द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय—ये दो भेद तथा उनके उत्तर भेद भिन्न दृष्टि से किये गये हैं और समयसार आदि में निश्चयनय और व्यवहारनय—ये दो भेद भिन्न दृष्टि से किये गये हैं। समयसार आदि अध्यात्मशास्त्रों में क्या दृष्टि अपनाई गई है, इसका स्पष्टीकरण नयचक्रसंग्रह पृ. ८८ की इस गाथा से हो जाता है—

सच्चं पि हेयमियरं हेयं खलु भणिय ताव परदव्वं।
णियदव्वं पिय जाणसु हेयादेयं च णयजोगे॥२६०॥

तत्त्व हेय और उपादेय के भेद से दो प्रकार का है। परद्रव्य तो नियम से हेय ही कहा है। निज द्रव्य को भी नययोग से हेय और उपादेय जानो॥२६०॥

निज द्रव्य में क्या हेय है और क्या उपादेय है इसका खुलासा करते हुए वहीं लिखा है—

मिच्छा-सरागभूयो हेयो आदा हवेद णियमेण।
तव्विवरीयो झेओ णायव्वो सिद्धिकामेण॥२६१॥

मिथ्यात्व और सरागरूप आत्मा नियम से हेय है। सिद्धि के इच्छुक पुरुषों को उससे विपरीत आत्मा ध्येय जानना चाहिए॥२६१॥

इसी तथ्य को समयसार में इन शब्दों में स्पष्ट किया है—

पुग्गलकम्मं रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो।
ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो हु अहमिक्को॥१९९॥

राग पुद्गलकर्म है, उसका विपाकरूप उदय यह है, यह मेरा भाव नहीं, मैं तो निश्चय से एक ज्ञायकभाव हूँ॥१९९॥

इसकी टीका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

अस्ति किल रागो नाम पुद्‌गलकर्म, तदुदयविपाकप्रभवोऽयं रागरूपो भावः, न पुनर्मम स्वभावः। एष टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावोऽहम्।

वास्तव में राग पुद्गल कर्म है, उसके उदय के विपाक से उत्पन्न हुआ, यह रागभाव है। यह मेरा स्वभाव नहीं है। मैं तो यह टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव हूँ।

इससे अध्यात्म में निश्चयनय विषय क्या है, यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है। नयचक्रसंग्रह में द्रव्यार्थिकनय के जिन दस भेदों का निर्देश किया है, उनमें एक परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय भी है। उसका स्वरूप निर्देश करते हुए वहाँ लिखा है—

गेण्हइ दव्वसहावं असुद्ध-सुद्धोवयारपरिचत्तं।
सो परमभावगाही णायव्वो सिद्धिकामेण॥१९९॥

जो अशुद्ध, शुद्ध और उपचार से रहित मात्र द्रव्यस्वभाव को ग्रहण करता है, शुद्धि के इच्छुक पुरुषों द्वारा वह परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय जानने योग्य है॥१९९॥

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अध्यात्म निश्चयनय में आगम में प्रतिपादित द्रव्यार्थिकनय के सभी भेदों का अन्तर्भाव नहीं होता। मोक्षमार्ग दृष्टि से उसमें तो मात्र ज्ञायकस्वभाव आत्मा की अपेक्षा परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय का ही ग्रहण हुआ है। इसके सिवा द्रव्यार्थिकनय, पर्यायार्थिकनय और उपचारनय के जितने भी भेद-प्रभेद हैं, उन सबका व्यवहारनय में अन्तर्भाव किया गया है। इतना अवश्य है कि जहाँ रागादि अज्ञानभावों का आत्मा को कर्ता कहा गया है वहाँ वह कथन अज्ञानभाव से उपयुक्त आत्मा की अपेक्षा ही किया गया है। ज्ञानभाव से तन्मय होकर परिणत आत्मा तो एकमात्र ज्ञानभाव का ही कर्ता है। यहाँ ज्ञानभाव स्वभाव के अर्थ में गृहीत हुआ है। इतना विशेष जानना चाहिए।

इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अपर पक्ष ने जो द्रव्यार्थिकनय मात्र को निश्चयनय और पर्यायार्थिकनय मात्र को व्यवहारनय कहा है, वह ठीक नहीं है। पंचास्तिकाय गाथा ४ में नयों के जो दो भेद द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय किये गये हैं, उनका उस प्रकार भेद करने का प्रयोजन भिन्न है। **वहाँ पदार्थ व्यवस्था की दृष्टि मुख्य है और यहाँ नयों**

के निश्चयनय और व्यवहारनय इन भेदों के करने में मोक्षमार्ग की दृष्टि मुख्य है। परमागम में यथास्थान प्रयोजन को ध्यान में रखकर ही नयों की योजना की गई है। ऐसा एक भी नय या उपनय का भेद नहीं है, जिसकी प्रयोजन बिना योजना की गई हो। उदाहरणार्थ चौबीस तीर्थंकरों में किसी को पीतवर्ण, किसी को शुक्लवर्ण और किसी को हरितवर्ण आदि लिखा है सो यह जिस प्रयोजन को ध्यान में रखकर लिखा गया है; उसी प्रयोजन को ध्यान में रखकर उसको स्वीकार करने वाले असद्‌भूत व्यवहारनय की भी योजना की गई है। **यहाँ असद्‌भूत का अर्थ स्पष्ट है, जीव में वर्ण नहीं है, जीव उसको बनाने वाला भी नहीं है। फिर भी उसे जीव का कहना, यह असद्‌भूत व्यवहारवचन है।** इसी प्रकार सर्वत्र प्रयोजन को ध्यान में रखकर नयों का विचार कर लेना चाहिए। यहाँ अपर पक्ष ने समयसार गाथा १४१ तथा समयसार कलश १६९ से १८९ के आधार से जिन विविध धर्मयुगलों की चर्चा की है, उनके विषय में भी यही न्याय लागू कर लेना चाहिए। **कौन धर्म जीव में सद्‌भूत है और कौन सद्‌भूत नहीं है—ऐसा विचार करने से एक द्रव्य की स्वरूपस्थिति और दो द्रव्यों का पार्थक्य स्पष्ट प्रतिभासित हो जाता है। ऐसा यथार्थ ज्ञान कराना ही नयों का प्रयोजन है। एक द्रव्य के गुण-धर्म को दूसरे द्रव्य का स्वधर्म बतलाना यह नयों का प्रयोजन नहीं है। यह नयज्ञान की अपनी विशेषता है कि वह उपचरित धर्म को उपचरितरूप से, विभावधर्म को विभावरूप से और स्वभावधर्म को स्वभावरूप से ही प्रसिद्ध करता है।**

जिस वस्तु का जो धर्म हो उसकी उसमें नास्ति कही जाये—यह तो हमारा कहना है नहीं। किन्तु जिस वस्तु का जो धर्म ही न हो उसकी उसमें भूतार्थ-यथार्थरूप से सिद्धि की जाये, इसे हम ही क्या अपर पक्ष भी स्वीकार नहीं कर सकता। जैसे द्रव्यकर्म की अपेक्षा जीव में बद्धस्पृष्टता धर्म नहीं है, क्योंकि व्यवहार से जिस प्रकार की वद्धस्पृष्टता पुद्‌गल की पुद्‌गल के साथ बनती है वैसी बद्धस्पृष्टता मूर्त पुद्‌गल की अमूर्त जीव के साथ नहीं बन सकती। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में लिखा है—

जीव-कर्मणोः बन्धः कथमिति चेत् ? परस्परं प्रदेशानुप्रवेशान्नत्वेकत्वपरिणामात्, तयोरेकद्रव्यानुपपत्तेः। 'चेतनाचेतनावेतौ बन्धं प्रत्येकतां गतौ' इति वचनात्तयोरेकत्व-परिणामहेतुर्बन्धोऽस्तीति चेत् न, उपसर्पतस्तदेकत्ववचनात्। भिन्नौ लक्षणतोऽत्यन्तमिति द्रव्यभेदाभिधानात्।

शंका – जीव और कर्म का बन्ध कैसे है ?

समाधान - परस्पर प्रदेशों के अनुप्रवेश से उनका बन्ध है, एकत्व परिणामरूप से उनका बन्ध नहीं है, क्योंकि वे दोनों एक द्रव्य नहीं हो सकते।

शंका - 'चेतन और अचेतन ये दोनों बन्ध के प्रति एकपने को प्राप्त हैं'—इस प्रकार का वचन होने से उन दोनों का एकत्व परिणाम का हेतुभूत बन्ध है ?

समाधान - नहीं, क्योंकि वे दोनों परस्पर एक दूसरे का उपसर्पण करते हैं, इसलिए आगम में उन्हें बन्ध की अपेक्षा एक कहा है। वास्तव में वे दोनों लक्षण की अपेक्षा अत्यन्त भिन्न हैं, इस प्रकार उस दोनों में द्रव्यभेद कहा है।

यह आगम वचन है। इससे सिद्ध है कि जीव में कर्म बद्धस्पृष्ट है, यह कथन उपचरित ही है। यह निराधार कल्पना भी नहीं है, क्योंकि दूध और पानी के समान संसार अवस्था में ज्ञानावरणादि परिणाम से परिणत कर्म राग-द्वेषादि परिणाम से परिणत जीव के और राग-द्वेषादि परिणाम से परिणत जीव ज्ञानावरणादि परिणाम से परिणत कर्म के प्रति उपसर्पण करते हुए देखे जाते हैं। इसे ही आचार्य यहाँ 'एकत्वपरिणाम' पद से व्यवहृत कर रहे हैं। जीव और कर्म का इससे भिन्न अन्य कोई एकत्वपरिणाम बन नहीं सकता। समयसार गाथा १४ की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने 'भूतार्थ' पद द्वारा जिस बद्धस्पृष्टता का स्पष्टीकरण किया है वह यही है, अन्य नहीं। देखो, इस रूप से जो कोई भव्य बद्धस्पृष्टता को जानेगा वह लक्षण भेद से दोनों को भिन्न-भिन्न भी अवश्य जानेगा। और जो कोई भव्य जीव लक्षणभेद से दोनों को भिन्न-भिन्न जानेगा, उसकी दृष्टि स्वभावरूप तन्मय होकर परिणमे बिना रह ही नहीं सकती।

आचार्य कहते हैं कि जीव में कर्म बद्ध है—ऐसा विकल्प भी राग के उत्थान पूर्वक होने से चेतन आत्मा का निर्मल परिणाम नहीं है और उसी प्रकार जीव में कर्म अबद्धस्पृष्ट है—ऐसा विकल्प भी राग के उत्थानपूर्वक होने से चेतन-आत्मा का निर्मल परिणाम नहीं है। ये दोनों ही नयपक्ष हैं। जो आत्मा में अपने-अपने पक्ष की प्रसिद्धि करते हैं। आत्मा में कौन धर्म उपचरित रूप से क्यों स्वीकार किया गया है और कौन धर्म उसी आत्मा के पर्यायस्वभाव को प्रसिद्ध करता है और इसी प्रकार कौन धर्म उसी आत्मा के द्रव्य स्वभाव को प्रसिद्ध करता है, नय दृष्टि से इसे पृथक्-पृथक् जानकर अनेकान्तस्वरूप आत्मा की प्रसिद्धि करना अन्य बात है। किन्तु उनमें से उपचरित धर्म को स्वीकार करने वाले और पर्याय धर्म को स्वीकार करने वाले विकल्प को दूर से ही त्यागकर तथा द्रव्यस्वभाव को स्वीकार करने वाले विकल्प में भी हेय बुद्धि रखते हुए अपने में निर्विकल्प साक्षात् समयसारस्वरूप आत्मा की प्रसिद्धि करना

अन्य बात है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर समयसार गाथा १४२ की आत्मख्याति टीका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

यः किल जीवे बद्धं कर्मेति यश्च जीवेऽबद्धं कर्मेति विकल्पः स द्वितयोऽपि हि नयक्षप। य एवैनमतिक्रामति स एव सकलविकल्पातिक्रान्तः स्वयं निर्विकल्पैकविज्ञान-घनस्वभावो भूत्वा साक्षात्समयसारः सम्भवति।

'जीव में कर्म बद्ध है'—ऐसा विकल्प तथा 'जीव में कर्म अबद्ध है'—ऐसा विकल्प, ये दोनों ही नयपक्ष हैं। जो नियम से उभय पक्ष का अतिक्रम करता है वह समस्त विकल्पों का अतिक्रम करके समस्त विकल्पों से अतिक्रान्त होकर स्वयं निर्विकल्प एक विज्ञानघनस्वभाव रूप होता हुआ साक्षात् समयसार होता है।

अनेकान्तस्वरूप आत्मा को स्वीकार करके निर्विकल्प विज्ञानघनस्वभाव आत्मा की प्रसिद्धि कैसे होती है यह बतलाना समयसार गाथा १४१ आदि का प्रयोजन है। ६९ से लेकर ८९ तक के कलशों की रचना भी इसी प्रयोजन को ध्यान में रखकर हुई है। यहाँ उनकी रचना का अन्य प्रयोजन नहीं है। अनेकान्तस्वरूप वस्तु की प्रसिद्धि के काल में सत्-असत् आदि दो-दो धर्मयुगलों में से एक-एक धर्मद्वारा वस्तु की प्रसिद्धि करने वाला एक-एक नय सापेक्षभाव से अपने-अपने विषयभूत धर्मद्वारा वस्तु की प्रसिद्धि करे इसका निषेध कौन करता है। आचार्य समन्तभद्र ने 'निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत'।। १०८।। वचन इसी अभिप्राय से लिखा है। जिसका अनेकान्तस्वरूप वस्तु की सिद्धि करना मुख्य प्रयोजन है, वह यदि नय दृष्टि को मुख्य कर तत्स्वरूप वस्तु की सिद्धि करना चाहता है तो उसे इसी मार्ग का अवलम्बन लेना होगा। इसमें संदेह नहीं।

किन्तु जो रागादि विभावभावों और बद्धस्पृष्टत्वादि उपचरित भावों से मुक्त अपने आत्मा की प्रसिद्धि करना चाहता है उसे उक्त मार्ग पर न चलकर स्वभाव के अवलम्बन को ही सर्वस्व मानना होगा। यह है समयसार के कथन का प्रयोजनभूत तात्पर्य। उसमें निश्चयनय को प्रतिषेधक स्वभाव और सद्भूत-असद्भूत दोनों व्यवहारनयों को प्रतिषेध्यस्वभाव (समयसार गाथा २७२ में) क्यों कहा, यह स्पष्ट हो जाता है। इसका अर्थ उन दोनों नयों के विषय की अस्वीकृति नहीं है। यदि ऐसा होता तो आचार्य मात्र एक जीवपदार्थ का ही विवेचन करते, शेष अजीवादि आठ पदार्थों का विवेचन ही नहीं करते और न ही आचार्य अमृतचन्द्र '**नवतत्त्वगतत्वेऽपि यदेकत्वं न मुञ्चति** (स.क. ७) यह वचन ही लिखते। स्पष्ट है कि ऐसा

लिखकर उक्त दोनों आचार्यों ने अनेकान्तस्वरूप वस्तु को अपनी दृष्टि में रखा है, उसका निषेध नहीं किया। अपर पक्ष के 'जो नय परपक्ष का निराकरण नहीं करते हुए ही अपने पक्ष के अस्तित्व का निश्चय करने में व्यापार करते हैं, उनमें समीचीनता पाई जाती है।' इस कथन की सार्थकता इस दृष्टि से है। उसे हम अस्वीकार नहीं करते। हम ही क्या कोई भी व्यक्ति अस्वीकार नहीं कर सकता।

किन्तु आत्मा में मोक्षमार्ग की प्रसिद्धि निश्चयनय (निश्चयनय के विषय) के अवलम्बन से ही हो सकती है। न तो प्रमाण के अवलम्बन से होती है और न ही व्यवहार के अवलम्बन से होती है। यही कारण है कि मोक्षमार्ग में इसी को मुख्यता दी गई है। यत: अन्य सब हेय है, स्वभाव का अवलम्बन ही उपादेय है, क्योंकि स्वभाव के अवलम्बन द्वारा तन्मय होकर परिणत होना ही मुख्य कार्य है, अत: निश्चयनय प्रतिषेधक स्वभाव वाला होने से अन्य सब का प्रतिषेध करता है, यह सिद्ध हो जाता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए पद्मनन्दिपंचविंशतिका के निश्चयपंचाशत् अधिकार में लिखा है—

बद्धं पश्यन् बद्धो मुक्तं मुक्तो भवेत्सदात्मानम्।
यदि यदीयेन पथा तदेव पुरमश्नुते पान्थः ॥४८॥

जो जीव सदा आत्मा को कर्म से बद्ध देखता है, वह कर्मबद्ध ही रहता है, किन्तु जो उसे मुक्त देखता (अनुभवता) है, वह मुक्त हो जाता है। ठीक है – पथिक जिस नगर के मार्ग से जाता है उसी नगर को वह प्राप्त होता है॥४५॥

आशय यह है कि जैसे बम्बई और कलकत्ता जाने वाले दोनों मार्ग अपनी-अपनी स्थिति में सही हैं, जो बम्बई जाना चाहता है उसके लिए कलकत्ता मार्ग हेय होने से निषिद्ध है और बम्बई का मार्ग उपादेय होने से उसका निषेध करने वाला है उसी प्रकार प्रकृत में जानना चाहिए।

'सम्यग्दृष्टि जीव यह नय सच्चा है और यह नय झूठा है—ऐसा विभाग नहीं करते' यह ठीक है। किन्तु यह नय उपचरित धर्मद्वारा वस्तु को विषय करता है और यह नय जिस वस्तु का जो धर्म है, उस द्वारा ही उस वस्तु को विषय करता है, ऐसा विभाग तो करते हैं, अन्यथा मिट्टी के कर्तृत्व धर्म को कुम्भकार का स्वीकार कर लेने पर मिट्टी और कुम्भकार में एकत्व प्राप्त होने से पदार्थ व्यवस्था ही नहीं बन सकती। यदि कहा जाये कि मिट्टी का कर्तृत्व धर्म भी घटकार्य को करता है और कुम्भकार का कर्तृत्व धर्म भी उसी घटकार्य को करता है तो एक कार्य के दो कर्ता मानने पड़ते हैं, जो जिनागम के विरुद्ध है। अत: जिस रूप

में जिस नय का जो विषय है उस रूप में उसे स्वीकार करने वाला ही वह नय सत्य है—ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

इस प्रकार अन्य चर्चित विषयों के साथ परमागम में निश्चयनय और व्यवहारनय का किस रूप में विवेचन हुआ है, इसका संक्षेप में स्पष्टीकरण किया।

4. समयसार गाथा १४३ का यथार्थ तात्पर्य

समयसार गाथा १४३ में 'जो प्रमाण, नय और निक्षेप के समस्त विकल्पों से मुक्त होकर परमात्मा, ज्ञानात्मा, प्रत्यग्ज्योति, आत्मख्यातिरूप अनुभूतिमात्र समयसार हो जाता है, वह दोनों नयों के कथन को जानता तो है परन्तु किसी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करता अर्थात् समस्त नय विकल्पों से मुक्त हो जाता है।' यह कहा गया है, किन्तु अपर पक्ष इस गाथा का इस रूप में अर्थ करता है जिससे यह मालूम पड़े कि इस गाथा द्वारा आचार्य ने दोनों नयों के कथन को एक समान मानने की प्रेरणा की है। इसे हम उस पक्ष का अतिसाहस ही कहेंगे। समयसार की वह गाथा इस प्रकार है—

दोण्ह वि णयाण भणियं जाणइ णवरं तु समयपडिबद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचि वि णयपक्खपरिहीणो॥१४३॥

समयप्रतिबद्ध अर्थात् चित्स्वरूप आत्मा को अनुभवने वाला जीव दोनों नयों के कथन को मात्र जानता ही है। परन्तु वह नयपक्ष से अर्थात् नयों के विकल्प से रहित होता है, इसलिए नयपक्ष को नहीं ग्रहण करता॥१४३॥

उक्त गाथा का यह सही अर्थ है। किन्तु अपर पक्ष ने अपने अभिप्राय की पुष्टि के लिए इसका यह अर्थ किया है—

जो पुरुष आत्मा से प्रतिबद्ध है अर्थात् आत्मा को जानता है वह दोनों ही नयों के कथन को केवल जानता है परन्तु नयपक्ष को कुछ भी ग्रहण नहीं करता, क्योंकि वह नयों के पक्ष से रहित है अर्थात् किसी एक नय का पक्ष (आग्रह) नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार—ये दो अर्थ हैं। अब इनमें से कौन ठीक है, इसका निर्णय करना है। श्री पद्मनन्दि आचार्य पद्मनन्दिपंचविंशतिका के निश्चयपंचाशत् में लिखते हैं—

बद्धो वा मुक्तो वा चिद्रूपो नयविचारविधिरेषः।
सर्वनयपक्षरहितो भवति हि साक्षात्समयसारः॥५३॥

चैतन्य आत्मा बद्ध है अथवा मुक्त है—यह नयविचार का विधान है। किन्तु जो साक्षात् समयसार है, वह सब नयपक्षों से रहित है॥५३॥

यहाँ पर 'नयपक्ष' शब्द का अर्थ विकल्पमात्र से है इसका स्पष्टीकरण अगले श्लोक से हो जाता है—

नय-निक्षेप-प्रमितिप्रभृतिविकल्पोज्झितं परं शान्तम्।
शुद्धानुभूतिगोचरमहमेकं धाम चिद्रूपम्॥५४॥

जो नय, निक्षेप और प्रमाण आदि विकल्पों से रहित है, उत्कृष्ट है, शान्त है, एक है और शुद्ध अनुभूतिरूप है, वही चैतन्यधाम आत्मा मैं हूँ॥५४॥

इससे स्पष्ट है कि अपर पक्ष ने उक्त गाथा का जो आशय लिया है, वह ठीक नहीं है। यदि वह उक्त गाथाओं की दोनों संस्कृत टीकाओं पर दृष्टिपात कर लेता तो वह उस पर से ऐसा विपरीत आशय कभी भी ग्रहण नहीं करता—ऐसा हमारा विश्वास है।

इसमें संदेह नहीं कि मोक्षमार्ग की दृष्टि से विकल्पमात्र हेय है। परन्तु उसमें उतना विशेष है कि **व्यवहारनय और व्यवहारनय का विषय—ये दोनों तो सर्वथा हेय हैं ही, क्योंकि जिस प्राणी की इनमें उपादेय बुद्धि होती है वह तो मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत कथा सुनने का भी पात्र नहीं। किन्तु सविकल्प निश्चयनय और उसके विषय में इतना विवेक है कि निश्चयनय स्वयं एक विकल्प होने से वह तो हेय है, परन्तु उसका विषयभूत आत्मा उपादेय है, क्योंकि तत्स्वरूप अनुभूति का नाम ही समयसार है।** अत: उक्त गाथा द्वारा आचार्य यह बतला रहे हैं कि समयप्रतिबद्ध अर्थात् ज्ञायकस्वरूप आत्मानुभूति रूप से परिणत आत्मा दोनों नयों के कथनरूप द्रव्य-पर्याय को मात्र जानता तो है परन्तु उनके विकल्परूप से नहीं परिणमता। यहाँ अपर पक्ष कह सकता है कि यदि ऐसी बात है तो निश्चयनय उपादेय है—ऐसा कथन क्यों किया जाता है? समाधान यह है कि **अध्यात्म में निश्चयनय और उसके विषय में अभेद को स्वीकार करके ही यह कथन किया जाता है।**

इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अपर पक्ष ने समयसार गाथा १४३ का जो आशय लिया है, वह ठीक नहीं है।

5. विविध विषयों का स्पष्टीकरण

अब इस बात का विचार करना है कि जहाँ व्यवहार को बहुजीवानुग्रहकारी या पूज्य आदि कहा है, उसका क्या तात्पर्य है ?

१. इसके लिए सर्वप्रथम हम जयधवला पु. १ पृ. ८ का **'ण च ववहारणओ चप्पलओ'** यह उदाहरण लेते हैं। आचार्य वीरसेन ने यह वचन गौतम स्थविर ने मंगल क्यों किया; इस तथ्य के समर्थन में लिखा है। विचारणीय यह है कि यदि मोक्षमार्ग में निश्चयनय और व्यवहारनय समानरूप से पूज्य होते तो उनके चित्त में 'व्यवहारनय चपल नहीं है'—इस प्रकार का वचन लिखकर उसके समर्थन करने का विकल्प ही नहीं उठना चाहिए था। हमने यथासम्भव उपलब्ध पूरे जिनागम का आलोडन किया है, परन्तु इस प्रकार का विकल्प निश्चयनय के विषय में आचार्य ने उठाया हो और फिर उसका समाधान किया हो, यह हमारे देखने में अभी तक नहीं आया और न ही अपर पक्ष ने ही कोई ऐसा आगमप्रमाण उपस्थित किया, जिससे उक्त बात का समर्थन होता हो। स्पष्ट है कि आचार्य वीरसेन ने 'ण च ववहारणओ चप्पलओ' यह वचन व्यवहारनय से अभिप्राय विशेष को ध्यान में रखकर ही लिखा है। वह अभिप्राय विशेष क्या हो सकता है इसका समाधान यह है कि **वे इस वचन द्वारा निश्चयमूलक व्यवहार का समर्थन कर रहे हैं। ऐसा व्यवहार जो अन्तरंग में निश्चय को लिये हुए हो, साधक के सविकल्प अवस्था में होता ही है।** आचार्य उक्त वचन द्वारा ऐसे व्यवहार को बहुजीवानुग्रहकारी लिखकर उसका समर्थन कर रहे हैं; कोरे व्यवहार का नहीं। इसका आशय यह है कि सविकल्प अवस्था में साधक के देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति-वन्दनारूप, पाँच अणुव्रत-महाव्रतरूप व्यवहार अवश्य होता है। किन्तु अन्तरंग में वह निश्चयस्वरूप परिणति को ही उस अवस्था में उपादेय मानता रहता है। गुणस्थान परिपाटी से आगे बढ़ने का यदि कोई मार्ग है तो एकमात्र यही मार्ग है, इसी तथ्य को ध्यान में रखकर आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार कलश में लिखा भी है—

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥१३१॥

जो कोई सिद्ध हुए हैं, वे भेदविज्ञान से सिद्ध हुए हैं और जो कोई बँधे हैं, वे उसी के अभाव से बँधे हैं।

वीरसेन स्वामी आत्मज्ञानी महापुरुष थे। भला उन्हें उक्त वचन लिखते समय आगम के इस मूल अभिप्राय का विस्मरण कैसे हो सकता था। यदि अपर पक्ष इस वचन के प्रकाश में उक्त वचन का अर्थ करेगा तो उसे यह समझने में देर नहीं लगेगी कि निश्चयमूलक सम्यक् व्यवहार को ध्यान में रखकर ही उक्त वचन लिखा गया है। जैसा कि उनके इस कथन से भली प्रकार समर्थन होता है—

पुण्णकम्मबंधत्थीणं देसव्वयाणं मंगलकरणं जुत्तं ण मुणीणं कम्मक्खय-कंक्खुवाणमिदि ण वोत्तुंजुत्तं, पुण्णबंधहेउत्तंपडि विसेसाभावादो, मंगलस्सेव सराग-संजमस्स विपरिच्चागपसंगादो।

यदि कहा जाये कि पुण्यकर्म के बाँधने के इच्छुक देशव्रतियों को मंगल करना युक्त है, किन्तु कर्मों के क्षय के इच्छुक मुनियों को मंगल करना युक्त नहीं है, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि पुण्यबन्ध के हेतुपने की अपेक्षा उनमें कोई विशेषता नहीं है। अन्यथा मंगल के समान उनके सरागसंयम के भी त्याग का प्रसंग प्राप्त होता है।

यह वचन बड़ा महत्त्व रखता है। इसका प्रारम्भ इस ढंग से किया गया है जिससे यह मालूम पड़ता है कि देशव्रती पुण्यकर्म बाँधने के इच्छुक होते हैं। किन्तु इस वचन का समाधान जिस ढंग से किया गया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि **चाहे वीतरागी मुनि हों या देशव्रती, अन्तरंग अभिप्राय दोनों का एक ही प्रकार का होता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार वीतराग साधु पुण्यबन्ध के अभिप्राय वाले नहीं होते वैसे देशव्रती भी नहीं होते।** इस वचन से जिन तथ्यों पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है वे ये हैं—

(क) वीतरागी मुनि और देशव्रती दोनों ही पुण्यबन्ध के अभिप्राय वाले नहीं होते।

(ख) उनका लक्ष्य स्वभावप्राप्ति रहता है।

(ग) जितने अंश में स्वभावप्राप्ति होती है, कर्मक्षपणा उतने ही अंश में होती है।

(घ) देशव्रत या सरागसंयम आदि कर्मक्षपणा के हेतु न होकर पुण्यबन्ध के ही हेतु हैं।

(ङ) आचार्य वीरसेन ने उक्त 'ण च ववहारणओ चप्पलओ' इत्यादि वचन व्यवहारनय की मुख्यता से लिखा है जो अपने साथ होने वाले निश्चय की क्या महिमा है, इसकी प्रसिद्धि करता है। अन्य के कार्य को अन्य का कहना, यह उपचरित व्यवहार का मुख्य लक्षण है।

२. अपर पक्ष ने दूसरा उद्धरण पं. नं. पं. वि. के निश्चयपंचाशत् का दिया है। किन्तु इस वचन में आचार्य ने स्वयं इस तथ्य को स्वीकार कर लिया है कि **जिसके द्वारा निश्चय की प्रसिद्धि हो, व्यवहार उसी का नाम है** और इसी कारण व्यवहारनय से उन्होंने इसे पूज्य कहा है। वस्तुतः यह श्लोक समयसार गाथा ८ के प्रकाश में लिखा गया हैं। अतएव इस वचन के आशय को ग्रहण करते समय आचार्य अमृतचन्द्र के इस कथन को सदा ध्यान में रखना चाहिए—

एवं म्लेच्छस्थानीयत्वाज्जगतो व्यवहारनयोऽपि म्लेच्छभाषास्थानीयत्वेन परमार्थप्रतिपादकत्वादुपन्यसनीयः, अथ च ब्राह्मणो न म्लेच्छितव्य इति वचनाद् व्यवहारनयो नानुसर्तव्यः।

इस प्रकार जगत म्लेच्छ स्थानीय होने से और व्यवहारनय भी म्लेच्छभाषास्थानीय होने से वह परमार्थ को कहने वाला है, इसलिए व्यवहारनय स्थापित करने योग्य है। किन्तु ब्राह्मण को म्लेच्छ नहीं हो जाना चाहिए, इस वचन से वह (व्यवहारनय) अनुसरण करने योग्य नहीं है – यह सिद्ध होता है।

'व्यवहार का विषय एक द्रव्य की पर्याय है' यह लिखकर अपर पक्ष ने भेद–विवक्षा में मात्र सद्भूत व्यवहार का निर्देश किया है। किन्तु एक असद्भूत व्यवहार भी है, जिसका विषय मात्र उपचार है इसे अपर पक्ष भुला देता हैं अपर पक्ष ने यहाँ पर पद्मनन्दिपंचविंशतिका के जिस वचन को उद्धृत किया है उसमें 'मुख्योपचारविवृत्तिं' पद आया है जिससे निश्चय के साथ दोनों प्रकार के व्यवहार की सूचना मिलती है। यदि वह उसमें आये हुए 'उपचार' पद से केवल सद्भूत व्यवहार को ही स्वीकार करता है तो हम पूछते हैं कि वह 'जीवित शरीर की क्रिया से धर्म होता है' इस कथन को क्यों नहीं त्याग देता। उसे चाहिए कि वह यह स्पष्ट शब्दों में घोषणा कर दे कि जीवित शरीर की क्रिया से त्रिकाल में धर्म नहीं हो सकता। और साथ ही उसे यह भी घोषणा स्पष्ट शब्दों में कर देनी चाहिए कि एक द्रव्य का परिणाम दूसरे द्रव्य का कार्य अणुमात्र भी नहीं कर सकता। इतना ही क्यों उसे तो उक्त वचन के आधार से भी घोषित कर देना चाहिए कि जितना भी व्यवहार है, वह मोक्ष प्राप्ति का यथार्थ हेतु तो त्रिकाल में नहीं हैं। उससे मात्र निश्चय का ज्ञान होता है, इसलिए उसे आगम में स्थान मिला हुआ है।

'पर्यायों का समूह द्रव्य है अथवा गुण और पर्यायवाला द्रव्य है' अपर पक्ष के इस कथन को हम स्वीकार करते हैं और इसीलिए हमारा कहना यह है कि जिस समय जो पर्याय उत्पन्न होती है वह पर्यायस्वरूप द्रव्य का स्वकाल होने से निश्चय से उसे वह द्रव्य स्वयं उत्पन्न करता है। यदि वह पक्ष इसे स्वीकार नहीं करेगा और ऐसा मानेगा कि प्रत्येक पर्याय को दूसरा द्रव्य उत्पन्न करता है तो पर्याय समूह स्वरूप द्रव्य का कर्ता भी अन्य द्रव्य को मानना पड़ेगा, जो मानना न केवल आगम के विरुद्ध है, अपितु तर्क और अनुभव के भी विरुद्ध है। अतएव अपने इस वक्तव्य के आधार पर भी अपर पक्ष को यही मान लेना ही श्रेयस्कर प्रतीत होता है कि प्रत्येक द्रव्य अपने नियतकाल में नियत कार्य को ही करता है और पद्मनन्दिपंचविंशतिका

के आधार पर उसे यह भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि 'एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कार्य करता है—इस प्रकार का व्यवहार वचन 'प्रत्येक द्रव्य अपने नियत काल में अपने नियत कार्य को स्वयं कर्ता होकर करता है' इस निश्चय वचन का ज्ञान कराने के लिए आगम में लिखा गया है। अनगारधर्मामृत के '**कर्त्राद्या वस्तुनो भिन्नाः १-१०२** वचन भी इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिये लिखा गया है। समयसार गाथा ८ और उसकी टीका का भी यही आशय है।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के लिए द्रव्य, गुण, पर्याय का वे जैसे हैं, वैसा ज्ञान होना अति आवश्यक है। किन्तु सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति कैसे होती है, यह प्रश्न दूसरा है। इतना अवश्य है कि सम्यग्दृष्टि को इनका यथार्थ श्रद्धान अवश्य होता है, इसलिए उनके सम्यग्दर्शनविनय भी बन जाती है। मूलाधार अ. ५, गा. १८९ का यही आशय है। सम्यग्दृष्टि के अर्थ पर्यायों के विषय में किस आधार से कैसी श्रद्धा होकर दर्शनविनय गुण प्रगट होता है – यह इस गाथा में बतलाया गया है।

३. अपरपक्ष ने 'जो व्यवहारनय के बिना मात्र निश्चय के आश्रय से मोक्ष चाहते हैं, वे मूढ़ हैं, क्योंकि बीज बिना वृक्षफल भोगना चाहते हैं अथवा वे आलसी हैं। यह लिखकर उसकी पुष्टि अनगारधर्मामृत अ. १ श्लोक १०० से करनी चाही है। किन्तु अनगारधर्मामृत में वह उल्लेख एकान्त निश्चयाभासियों का निषेध करने के लिए आया है, इसे अपर पक्ष जानते हुए भी हमारे दृष्टि पथ में नहीं लाना चाहता है। बहुत संभव है कि इसी कारण अपर पक्ष ने यह वचन किस शास्त्र का है यह न बतलाकर '**व्यवहार पराचीनो**' इत्यादिरूप से उक्त श्लोक को उद्धृतकर उसके अन्त में 'प्राचीन श्लोक' यह लिखकर छुट्टी पा ली है। आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार कलश १११ में '**मग्नाः ज्ञाननयैषिणोऽप्यतिस्वच्छन्दमन्दोद्यमाः**' यह वचन लिखा है। उसी को ध्यान में रखकर पण्डित आशाधरजी ने उक्त श्लोक की रचना की है, अतः उस पर से वही आशय लेना चाहिए, जो समग्र कलश का है। इसी तथ्य को पण्डितप्रवर बनारसीदासजी ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

ज्ञानचेतना के जगे प्रगटे केवलराय।
कर्मचेतना में वसे कर्मबन्ध परिणाम॥८६॥

अतएव उपादेय तो एकमात्र ज्ञायकभाव ही है – ऐसा ही यहाँ निश्चय करना चाहिए।

४. अपरपक्ष ने पुरुषार्थसिद्धयुपाय श्लोक ५० को उद्धृत कर उसका जो अर्थ दिया है

वह ठीक न होने पर भी हम उक्त श्लोक के आशय को स्वीकार करते हैं। उक्त श्लोक द्वारा 'जो निश्चय को न जानकर यद्वा तद्वा विचार और प्रवृत्ति को ही मोक्षमार्ग जानते हैं, वे करण-चरण दोनों का नाश करते हैं। वे बाह्य करण में आलसी होने से बाल हैं।'—यह भाव ऐसे पुरुषों के प्रति प्रगट किया गया है जो निश्चय के ज्ञान से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। उनके लिए नहीं जो निश्चय को जानकर तत्स्वरूप परिणति में तल्लीन हैं। मालूम नहीं कि इसे अपर पक्ष ने अपने अभिप्राय की पुष्टि में कैसे समझ लिया। यह वचन तो उनको उद्देश्य कर कहा गया है, जो निश्चय को नहीं जानते (नहीं अनुभवते) और नाना वेष धरकर मोक्षमार्गी बनते हैं।

५. अपर पक्ष ने सन्मतितर्ककी गाथा १० 'दव्वट्ठियवत्तव्वं' इत्यादि को उद्धृत कर अपने अभिप्राय की पुष्टि करनी चाही है, किन्तु यह गाथा वस्तुविचार के प्रसंग में आई है और यहाँ मोक्षमार्ग की दृष्टि से विचार हो रहा है, इसलिए वह यहाँ प्रयोजनभूत नहीं है। मोक्षमार्ग में किसका आलम्बन लेकर तन्मय परिणमन द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है, यह विचार मुख्य है। इसमें संदेह नहीं कि वर्तमान में संसारी आत्मा पर्यायदृष्टि से रागी, द्वेषी भी है और द्रव्यार्थिकदृष्टि से ज्ञायकस्वभाव भी है। ऐसी अवस्था में इस जीव के राग-द्वेष आदि से मुक्त होने का उपाय क्या ? अपने को सतत रागी-द्वेषी अनुभव करने से तो उनसे मुक्ति मिलेगी नहीं। उसे इनसे मुक्ति पाने के लिए कोई दूसरा उपाय करना होगा। इसी बात को ध्यान में रखकर आचार्यों ने उस मार्ग का निर्देश किया है जिस पर चलकर अनन्त तीर्थंकरों और दूसरे महापुरुषों ने मुक्ति प्राप्त की है। वह मार्ग क्या है, इसका निर्देश करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द समयसार में लिखते हैं—

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥११ ॥

व्यवहारनय अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ है—ऐसा जिनदेव ने कहा है। जो जीव भूतार्थ का आश्रय लेता है वह नियम से सम्यग्दृष्टि है॥११ ॥

इसी तथ्य को पं. नं. पं. विं. के निश्चयपंचाशत् में इन शब्दों में स्पष्ट किया गया है—

व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो देशितस्तु शुद्धनयः।
शुद्धनयमाश्रिता ये प्राप्नुवन्ति यतयः पदं परमम्।।

आशय पूर्वोक्त ही है।

आचार्य कुन्दकुन्द करुणाभाव से रयणसार में लिखते हैं—

एक्कु खणं ण विचिंतेई मोक्खणिमित्तं णियप्पसहावं।
अणिसं विचित्तपावं बहुलालावं मणे विचिंतेई ॥५०॥

यह जीव दिन-रात मन में विचित्र पाप रूप अनेक प्रकार के विकल्प करता रहता है। किन्तु जो साक्षात् मोक्षप्राप्ति का उपाय है—ऐसे अपने आत्मस्वभाव का यह एक क्षण भी विचार नहीं करता ॥५०॥

नियमसार में लिखा है—

जीवादि बहित्तच्चं हेयमुपादेयमप्पणो अप्पा।
कम्मोपाधिसमुब्भवगुण-पज्जाएहिं वदिरित्तो ॥१८॥

जीवादि बाह्य तत्त्व हेय हैं। मात्र कर्मोपाधिको निमित्त कर उत्पन्न हुई गुणपर्यायों से भिन्न अपना आत्मा उपादेय है ॥३८॥

ऐसी अवस्था में अपर पक्ष ही बतलावे कि प्रकृत में सन्मतितर्क की उक्त गाथा का क्या प्रयोजन रह जाता है ? वह गाथा तो मात्र प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है, इसे प्रसिद्ध करने में चरितार्थ है। **किन्तु जो सामान्य-विशेषात्मक वस्तु को जानता है और मोक्षमार्ग का पदानुसरण कर मुक्ति प्राप्त करना चाहता है उसे तो समयसार आदि अध्यात्म ग्रन्थों में प्रतिपादित अध्यात्ममार्ग का ही पदानुशरण करना होगा। आगम में बाह्य परिणतिरूप चरणानुयोग की सफलता भी इसी आधार पर स्वीकार की गई है।**

६. अपरपक्ष ने व्यवहारनय से जीव के ज्ञान, दर्शन और चारित्र को जो सत्यार्थ-वास्तविक घोषित किया है, उसे हम स्वीकार करते हैं। सद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा वे यथार्थ हैं, वास्तविक हैं इसमें संदेह नहीं। इसी प्रकार जीवादि द्रव्यों की शुद्धाशुद्ध सभी पर्यायें भी सत्यार्थ हैं, वास्तविक हैं। ये द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा अवस्तु हैं इसका इतना ही आशय है कि उस नय का विषय सामान्य है, पर्यायें उसका विषय नहीं हैं। इसी प्रकार पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा सामान्य अवस्तु है, इसका भी यही आशय है कि उस नय का विषय विशेष है, सामान्य उसका विषय नहीं है। यहाँ एक को गौण और दूसरे को मुख्यकर यह कथन किया गया है, अन्यथा प्रत्येक नय की चरितार्थता नहीं बन सकती। यहाँ एक नय की विवक्षा में दूसरे नय के विषय को जो अवस्तु कहा गया है, वह इस आशय से नहीं कहा गया है कि ये

खरविषाण या आकाशकुसुम के समान वास्तव में अवस्तु हैं, क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर सामान्य और विशेष दोनों का अभाव होकर प्रत्येक द्रव्य का ही अभाव प्राप्त होता है। यहाँ इतना विशेष और ज्ञातव्य है कि पर्यार्यार्थिकनय में असद्भूत व्यवहारनय का भी अन्तर्भाव हो जाता है, क्योंकि यह नय भी पर्याय को ही विषय करता है। यदि इसमें सद्भूत व्यवहारनय से कोई भेद है तो इतना ही कि यह नय प्रयोजनादिवश दूसरे द्रव्य की पर्याय को अपने से भिन्न दूसरे द्रव्य की कहता है। जब कि सद्भूत व्यवहारनय उसी द्रव्य की पर्याय को भेदविवक्षा में उसी की कहता है। आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार कलश ४० में असद्भूत व्यवहारनय के विषय को एक उदाहरण उपस्थित कर समझाया है, अपर पक्ष उस पर दृष्टिपात कर ले, यह हमारी प्रेरणा है।

७. अपरपक्ष ने ज्ञेय-ज्ञायक संबंध आदि को प्रत्यक्ष और वास्तविक लिखा है, किन्तु इस कथन से उस पक्ष का क्या आशय है, यह स्पष्ट नहीं किया। ज्ञान प्रत्येक समय में त्रैकालिक पर्यायों सहित सब द्रव्यों को जानता हैं और समस्त द्रव्य अपनी-अपनी त्रैकालिक पर्यायों सहित ज्ञान के विषय होते हैं यह समझना ही श्रेय-ज्ञायकसम्बन्ध कहलाता है; अन्य कुछ नहीं। इसी प्रकार अपर पक्ष ने अन्य जितने सम्बन्धों का उल्लेख किया है उनके विषय में भी व्याख्यान कर लेना चाहिए। यहाँ ज्ञान पद से मुख्यता से केवलज्ञान को ग्रहण कर कथन किया है। **वास्तव में देखा जाये तो घट को जानने वाला ज्ञान ज्ञानरूप ही प्रतिभासित होता है और घट उससे भिन्न घटरूप ही प्रतिभासित होता है, क्योंकि उस समय उत्पन्न हुआ घटज्ञान आत्मा के ज्ञानगुण की पर्याय है और जिस घट को उसने जाना वह मिट्टी आदि रूप पुद्गल द्रव्य की व्यञ्जन पर्याय है। ज्ञान चेतनरूप है और घट जड़रूप है। इन दोनों के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अत्यन्त भिन्न है। अतएव इनका वास्तविक सम्बन्ध तो बनता नहीं, यह प्रत्यक्ष है। फिर भी इनका सम्बन्ध कहा जाता है, उसे व्यवहार ही जानना चाहिए। प्रयोजन आदि वश लोक में ऐसा व्यवहार किया जाता है, इतना सच है।** इसके लिए प्रवचनसार गाथा ३६ की आचार्य अमृतचन्द्र रचित टीका पर दृष्टिपात कीजिए।

इस प्रकार वस्तु विचार के प्रसंग में द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय का क्या तात्पर्य है और अध्यात्मदृष्टि से निश्चयनय और व्यवहारनय का क्या तात्पर्य है इसका विशदरूप से स्पष्टीकरण किया। अपर पक्ष ने अपनी प्रस्तुत प्रतिशंका के प्रारम्भ में अनेकान्त का जो स्वरूप निर्देश किया है उसी से यह स्पष्ट हो जाता है कि दो द्रव्यों और उनके गुणधर्मों

का अवलम्बन लेकर जितना भी कथन किया जाता है, वह सब असद्भूत व्यवहारनय का ही विषय है, सद्भूत व्यवहारनय का विषय नहीं।

८. अपर पक्ष ने 'प्रत्येक द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमयी है' ऐसा लिखकर इसकी सिद्धि जो निश्चयनय और व्यवहारनय से की है, सो यहाँ व्यवहारनय से सद्भूत व्यवहारनय ही लिया गया है, असद्भूत व्यवहारनय नहीं, क्योंकि असद्भूत व्यवहारनय त्रिकाल में उसी द्रव्य के गुण-पर्याय की उसी में प्रसिद्धि न कर प्रयोजनादिवश अन्य द्रव्य के गुण-धर्म को, उससे भिन्न दूसरे द्रव्य का प्रसिद्ध करता है।

अपर पक्ष समझता है कि हम व्यवहारनय को असत्य और अप्रामाणिक मानते हैं, किन्तु उसकी ऐसी मान्यता ठीक नहीं है, क्योंकि उससे लोकव्यवहार की प्रसिद्धि होती है, अतः इस दृष्टि से आगम में उसे भी प्रामाणिक और सत्य ही माना गया है। यदि कोई नयवचन बिना प्रयोजन आदि के अन्य द्रव्य के गुणधर्म को अपने से भिन्न दूसरे द्रव्य का कहता है, तो वह नयाभास होने के कारण अवश्य ही असत्य और अप्रामाणिक माना जायेगा।

९. सर्वज्ञदेव जो व्यवहार सम्यक्त्व व व्यवहार मोक्षमार्ग का उपदेश दिया है, वह इसलिए नहीं कि उसे वीतराग सम्यक्त्व व वीतराग मोक्षमार्ग मान लिया जाये, अन्यथा ये दो न होकर एक हो जावेंगे और ऐसी अवस्था में पर को निमित्त कर होने वाले शुभभावों का भी मोक्ष में सद्भाव मानना अनिवार्य हो जायेगा। किन्तु भगवान् का तो यह उपदेश है—

कम्मबंधो हि णाम सुहासुहपरिणामेहिंतो जायदे, सुद्धपरिणामेहिंतो तेसिं दोण्णं पि णिम्मूलक्खओ। - *धवला पु. १२, पृ. २७९*

शुभ और अशुभ परिणामों से नियम से कर्मबन्ध होता है तथा शुद्ध परिणामों से उन दोनों का नियम से निर्मूल क्षय होता है।

और भगवान् का यह उपदेश भी है -

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वद-समिदि-गुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं॥४५॥

- *बृहद्द्रव्यसंग्रह*

व्यवहारनय से अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति को चारित्र जानो। उसे जिनदेव ने व्रत, समिति और गुप्तिरूप कहा है॥४५॥

इससे स्पष्ट है कि व्यवहार मोक्षमार्ग से निश्चय मोक्षमार्ग भिन्न है। फिर भी भगवान् ने निश्चय मोक्षमार्ग की सिद्धि का बाह्य हेतु जानकर, इसे व्यवहार मोक्षमार्ग कहा है। और **जो जिसकी सिद्धि का हेतु हो उसे उस नाम से पुकारना असत्य नहीं कहलाता।** इससे स्पष्ट है कि सर्वज्ञ ने व्यवहार सम्यक्त्व व व्यवहार मोक्षमार्ग का उपदेश देकर जीवों का अकल्याण न कर निश्चय मोक्षमार्ग ही यथार्थ मोक्षमार्ग है, यह स्पष्ट किया है यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्र ने प्रवचनसार गाथा १९९ की टीका में निश्चय मोक्षमार्ग को ही मोक्ष का एक-यथार्थ मार्ग बतलाते हुए लिखा है—

यतः सर्व एव सामान्यचरमशरीरास्तीर्थंकराः अचरमशरीरा मुमुक्षवश्चामुनैव यथोदितेन शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिलक्षणेन विधिना प्रवृत्तमोक्षस्य मार्गमधिगम्य सिद्धा वभूवुः, न पुनरन्यथापि। ततोऽवधार्यते केवलमयमेक एव मोक्षस्य मार्गो न द्वितीय इति।

सभी सामान्य चरमशरीरी, तीर्थंकर और अचरमशरीरी मुमुक्षु इसी यथोक्त शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिलक्षण विधि से प्रवृत्त हुए मोक्षमार्ग को प्राप्त करके सिद्ध हुए, परन्तु ऐसा नहीं है कि अन्य मार्ग से भी सिद्ध हुए हो। **इससे निश्चित होता है कि केवल यह एक ही मोक्ष का मार्ग है, दूसरा नहीं।**

६. बन्ध और मोक्ष का नयदृष्टि से स्पष्टीकरण

जैनदर्शन ध्रुवता के समान उत्पाद-व्यय को भी स्वीकार करता है। द्रव्यदृष्टि से प्रत्येक द्रव्य ध्रुवस्वभावरूप सिद्ध होता है और पर्यायदृष्टि से उत्पाद-व्ययरूप भी सिद्ध होता है। इस दृष्टि से निश्चयनय का कथन जितना यथार्थ है, सद्भूत व्यवहारनय (निश्चय पर्यायार्थिकनय) का कथन भी उतना ही यथार्थ है। अन्य दर्शन इस प्रकार नय भेद से वस्तु की सिद्धि नहीं करते, इसलिए उनका कथन एकान्तरूप होने से मिथ्या है, इसमें संदेह नहीं।

अब देखना यह है कि जीव की जो बन्ध और मोक्ष पर्याय कही है वह क्या है ? यह तो अपर पक्ष भी स्वीकार करेगा कि न तो एक द्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य में होती है और न ही दो द्रव्य मिलकर उनकी एक पर्याय होती है। इसलिए जब हम जीव की अपेक्षा विचार करते हैं तो यही सिद्ध होता है कि बन्ध और मोक्ष—ये दोनों जीव की ही पर्याय हैं। इस अपेक्षा से ये दोनों पर्यायें जीव में सद्भूत हैं - यथार्थ हैं। भावसंसार और भावमोक्ष इन्हीं का दूसरा नाम है। यह सद्भूत व्यवहारनय का वक्तव्य है। असद्भूत व्यवहारनय का वक्तव्य इससे भिन्न है। यह नय कार्मण वर्गणाओं के ज्ञानावरणादि रूप से परिणमन को बन्ध कहता है और उन

ज्ञानावरणादि कर्मों के कर्मपर्याय को छोड़कर अकर्मरूप से परिणमने को मोक्ष कहता हैं। यद्यपि ये दोनों (कार्मणवर्गणाओं की कर्मपर्यायरूप बन्धपर्याय और कर्मों की अकर्मरूप मोक्षपर्याय) जीव की नहीं हैं इन्हें जीव ने उत्पन्न भी नहीं किया है, फिर भी असद्भूत व्यवहारनय से ये जीव की कही जाती हैं और जीव को ही इनका कर्ता भी कहा जाता है। ये पुद्गल परिणाम आत्मा का कार्य नहीं है। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार में लिखते हैं—

गेह्णदि णेव ण मुंचदि करेदि ण हि पोग्गलाणि कम्माणि।
जीवो पुग्गलमज्झे वट्टण्ण वि सव्वकालेसु॥१८५॥

जीव सभी कालों में पुद्गल के मध्य रहता हुआ भी पौद्गलिक कर्मों को न तो ग्रहण करता है, न त्यागता है और न करता है॥१८५॥

अपरपक्ष का कहना है कि 'जो एक नय का विषय है वही विषय दूसरे नय का नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो जाये तो दोनों नयों में कोई अन्तर ही नहीं रहेगा। दोनों में अन्तर नहीं रहने से नयों का विभाजन व्यर्थ हो जायेगा तथा सुव्यवस्था नहीं रहेगी, सर्वविप्लव हो जायेगा। जो व्यवहारनय का विषय है, उसका कथन व्यवहारनय से ही हो सकता है; निश्चयनय से वह कथन नहीं हो सकता। अत: आर्षप्रमाणों को यह कर टाल देना कि 'विवक्षित कथन व्यवहारनय से है निश्चय से नहीं' आगम संगत नहीं है।'

सो इस संबंध में हमारा भी यही कहना है कि जो असद्भूतव्यवहारनय का विषय है वही सद्भूत व्यवहारनय का नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो जाये तो दोनों नयों में कोई अन्तर ही नहीं रहेगा। दोनों में अन्तर नहीं रहने से नयों का विभाजन व्यर्थ हो जायेगा तथा दोनों के कथन को एक मानने से द्रव्यभेद की प्रतीति नहीं होगी। द्रव्यभेद की प्रतीति नहीं हो सकने से पृथक्-पृथक् द्रव्यों की सत्ता नहीं सिद्ध होगी; सर्व विप्लव हो जायेगा। अत: जो असद्भूत व्यवहारनय का विषय है, उसे उपचरित मानना ही युक्त है। उसे सद्भूत रूप से प्रसिद्ध करना आगमसंगत नहीं है। हमने अपने उत्तरो में आर्षप्रमाणों को कहीं भी टालने का प्रयत्न नहीं किया है। हाँ, आगम में जो असद्भूत व्यवहारनय का वक्तव्य है, उसे अवश्य ही उसी रूप में प्रसिद्ध किया है।

अपर पक्ष ने प्रस्तुत प्रतिशंका को जिस प्रवीणता से उपस्थित करने का प्रयत्न किया

है, उसे हम अच्छी तरह से समझ रहे हैं। पहले तो उस पक्ष ने प्रत्येक वस्तु को अनेकान्तात्मक प्रसिद्ध कर सामान्य-विशेष, नित्य-अनित्य आदिरूप से दो दो धर्मयुगलों की स्थापना की। इसके बाद सामान्य और विशेष को विषय करने वाले द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो नयों की स्थापना कर, उनकी निश्चयनय और व्यवहारनय यह संज्ञा रखी। और इस प्रकार व्यवहारनय के उत्तर भेदों का नाम लिये बिना और सद्भूतव्यवहारनय के विषय में असद्भूतव्यवहारनय के विषय को मिलाकर प्रस्तुत प्रतिशंका का ढाँचा खड़ा किया। किन्तु हमारे विचार से तत्त्वर्विचार की यह पद्धति नहीं है। क्या इस प्रकार एक द्रव्य की पर्याय को उसी की प्रसिद्ध करने वाले पर्यायार्थिकनय को व्यवहारनय बतलाकर असद्भूत व्यवहारनय के विषय को सद्भूत सिद्ध किया जा सकता है; कभी नही। स्पष्ट है कि जब कि असद्भूत व्यवहारनय का विषय उपचरित है तो वह उपचरित ही रहेगा। आगम से उसे सद्भूत सिद्ध करना ठीक नहीं है।

इस प्रकार बन्ध-मोक्ष क्या हैं, इसका नयदृष्टि से स्पष्टीकरण किया।

7. एकान्त का आग्रह ठीक नहीं

अभी हमने आगम में किये गये व्यवहारनय के उत्तर भेदों और उनके विषय को ध्यान में रखकर बन्ध मोक्ष के विषय में स्पष्टीकरण किया। किन्तु अध्यात्म आगम में इस विषय पर और भी सूक्ष्मता से विचार किया गया है। उसमें बतलाया है कि आत्मा की जो पर्याय पर के लक्ष्य से (रागभाव से पर में उपयुक्त होने से या पर का सम्पर्क करने से) उत्पन्न होती है, वह जिसके लक्ष्य से उत्पन्न होती है उसी की है। यही कारण है कि अध्यात्म आगम में जिनदेव ने अध्यवसान आदि भावों को जो जीव कहा है, उसे अभूतार्थ रूप व्यवहार का कथन जानना चाहिए। इस पर प्रश्न होता है कि इन अध्यवसान आदि भावों को जीव कहना यह जब कि अभूतार्थ व्यवहार है तो फिर जिनदेव ने ऐसे व्यवहार का कथन ही क्यों किया? यह प्रश्न है। इसी का समाधान करते हुए आचार्य ने समयसार गाथा ४६ की टीका में **'व्यवहारो हि व्यवहारिणां'** इत्यादि वचन लिखा है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि **तीर्थप्रवृत्ति के निमित्त का ज्ञान कराने के लिए व्यवहार दिखलाना अन्य बात है और उसे परमार्थ रूप मान लेना अन्य बात है।** व्यवहारनय व्यवहाररूप निमित्त का ज्ञान कराता है, इसमें सन्देह नहीं और इसीलिए अध्यात्म आगम में उसका प्रतिपादन भी किया गया है। पर इस पर से यदि कोई अपर पक्ष के मतानुसार व्यवहारनय को अन्य के धर्म को अन्य का कहने वाला न मानकर,

उसके विषय को परमार्थरूप ही मान ले तो इस जीव का शरीर और रागादिभावों से मुक्त होना त्रिकाल में नहीं बन सकेगा और ये जीव के स्वरूप सिद्ध हो जाने पर बन्ध व्यवस्था भी नहीं बन सकेगी। क्या अपर पक्ष ने इस तथ्य पर ध्यान दिया ? वह एकान्त का परिहार करने के लिए '**तमन्तरेण**' इत्यादि टीका वचन को उद्धृत करता है पर उनकी मान्यता के अनुसार जो एकान्त की प्रसक्ति होती है उसकी ओर अणुमात्र भी ध्यान नहीं देता। अत: उक्त वचन के आधार पर अपर पक्ष को प्रकृत में ऐसे ही अनेकान्त को स्वीकार कर लेना चाहिए कि **निश्चय भूतार्थरूप है, अभूतार्थरूप नहीं। अभूतार्थरूप तो मात्र व्यवहार है, जिसे व्यवहार नय से तीर्थ प्रवृत्ति का निमित्त जानकर जिनदेव ने निर्दिष्ट किया है।** हाँ यदि अभूतार्थ व्यवहार को तीर्थप्रवृत्ति का व्यवहार हेतु भी नहीं स्वीकार किया जाये तो क्या आपत्ति आती है, इसे आचार्य अमृतचन्द्र ने 'तमन्तरेण' इत्यादि वचन द्वारा स्पष्ट किया है। अत: निश्चय और व्यवहार दोनों ही परमार्थरूप हैं—ऐसा एकान्त आग्रह करना उचित नहीं है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। व्यवहारनय अन्य के धर्म को अन्य का कहता है इसके लिए समयसार गाथा ५६ की आत्मख्याति टीका तथा आचार्य जयसेनकृत टीका पर दृष्टिपात कीजिए।

8. जीव परतंत्र क्यों है ? इसका सांगोपांग विचार

इसी प्रसंग में अपरपक्ष ने जीव को परतंत्र कौन बनाये हुए है, इसकी सिद्धि करते हुए आचार्य विद्यानन्दि का '**जीवं परतन्त्रीकुर्वन्ति**' इत्यादि वचन उद्धृत किया है। **आचार्य विद्यानन्दि दर्शनप्रभावक महान् आचार्य हो गये हैं, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं। उनका नामस्मरण होते ही उनके प्रति श्रद्धा से मस्तक नत हो जाता है।**

अपर पक्ष ने अपनी पिछली प्रतिशंका में यह वाक्य लिखा है—'इस जीव को कर्म परवश बनाये हुए हैं। उसी के कारण यह परतंत्र हो रहा है।' हमने इस वाक्य को एकान्त आग्रह का पोषक समझकर यथार्थ क्या है, इसका पिछले उत्तर में निर्देश किया था। किन्तु अपर पक्ष ने इस वचन को आचार्य विद्यानन्दि का बतलाकर पर्यायान्तर से यह सूचित किया है कि हमारे द्वारा आचार्य विद्यानन्दि के वचन पर ही आपत्ति उठाई गई है। अपर पक्ष ने अपनी प्रस्तुत प्रतिशंका में आचार्य विद्यानन्दि के मूल वाक्य को पुन: उपस्थित किये जाने का संकेत तो किया है, पर पिछली प्रतिशंका में वह वाक्य दृष्टिगोचर नहीं होता। इसी प्रकार हमारे जिन वचनों पर यह प्रतिशंका उपस्थित की गई है, उनके विषय में यह तो लिखा है कि 'आपके द्वितीय वक्तव्य में निम्न वाक्यों को पढ़कर बहुत आश्चर्य हुआ।' और साथ ही यह भी लिखा

है कि 'आपके निम्न वाक्यों पर आर्षप्रमाण सहित विचार किया जाता है।' परन्तु जिन वाक्यों पर विचार करनेकी अपर पक्ष यहाँ पर प्रतिज्ञा कर रहा है, वे वाक्य यहाँ उद्धृत नहीं किये गये हैं। अस्तु,

आचार्य विद्यानन्दि के उक्त वचन को अपने पक्ष में समझकर अपर पक्ष ने उस आधार से एक मत तो यह बनाया है—

'प्रगट है, जीव का क्रोधादि परिणाम स्वयं परतंत्रता है, परतंत्रता का कारण नहीं।'

आगे अपर पक्ष ने लिखा है कि—

'यदि मात्र अज्ञानभाव को ही परतंत्र करने वाला मान लिया जावे....।'

इससे मालूम पड़ता है कि उस पक्ष का एक मत यह भी है कि जीव का अज्ञान भाव भी परतंत्रता का कारण है।

यह अपर पक्ष का वक्तव्य है। इससे मालूम होता है कि अपर पक्ष एकान्त से मात्र पुद्‌गल कर्म को जीव की परतंत्रता का हेतु मानता है, किन्तु उस पक्ष का यह कथन स्वयं आचार्य विद्यानन्दि के अभिप्राय के विरुद्ध है। वे अष्टसहस्री पृ. ५१ में लिखते हैं—

तद्धेतुः पुनरावरणं कर्म जीवस्य पूर्वस्वपरिणामश्च।

परन्तु उस अज्ञानादि दोष का हेतु आवरण कर्म है और अनन्तरपूर्व जीव का अपना परिणाम है।

इससे यह बात तो स्पष्ट हो जाती है कि आचार्य विद्यानन्दि ने केवल ज्ञानावरणादि कर्मों को ही परतंत्रता का हेतु नहीं स्वीकार किया है, किन्तु उन्होंने राग, द्वेष और मोह को भी परतंत्रता का हेतु स्वीकार किया है। **ये रागादि भाव स्वयं पारतन्त्र्यस्वरूप हैं और परतंत्रता के हेतु भी हैं। तथा ज्ञानावरणादि कर्म व्यवहार से केवल जीव की परतंत्रता के हेतु तो हैं, पर जीव के पारतन्त्र्यस्वरूप नहीं** यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

इस प्रकार जीव की परतंत्रता के दो हेतु प्राप्त हुए- बाह्य और आभ्यन्तर। अब इनमें मुख्य हेतु कौन है, इसका विचार करना है। हरिवंशपुराण सर्ग ७ में लिखा है—

जायते भिन्नजातीयो हेतुर्यत्रापि कार्यकृत्।
तत्रासौ सहकारी स्यात् मुख्योपादानकरणः ॥१४॥

जहाँ भी भिन्नजातीय हेतु कार्यकृत होता है, वहाँ वह सहकारी है और मुख्य उपादान कारण है॥१४॥

इस प्रकार प्रत्येक कार्य का मुख्य कारण उपादान है; भिन्नजातीय पदार्थ नहीं इसका निर्णय होने पर अब इस बात का विचार करना है कि बाह्य पदार्थ को सहकारी क्यों कहा ? इसका स्पष्टीकरण करते हुए समयसार गाथा १९ के बाद आचार्य जयसेनकृत टीका में लिखा है—

अथ शुद्धजीवे यदा रागादिरहितपरिणामस्तदा मोक्षो भवति। अजीवे देहादौ यदा रागादिपरिणामस्तदा बन्धो भवति।

शुद्ध जीव के विषय में जब रागादि रहित परिणाम होता है तब मोक्ष होता है तथा अजीव देहादि में जब रागादि परिणाम होता है, तब बन्ध होता है।

इस आशय की पुष्टि में वहाँ एक गाथा दी है—

जीवे व अजीवे वा संपदि समयम्हि जत्थ उवजुत्तो।
तत्थेव बन्ध मोक्खो होदि समासेण णिद्दिट्ठो॥

- स. सा. गा. २० जयसेनकृत टीका

संक्षेप में बन्ध और मोक्ष का निदान यह है कि यदि जीव वर्तमान समय में जीव में उपयुक्त होता है अर्थात् उपादेय बुद्धि से तन्मय होकर परिणमता है तो ऐसा होने पर मोक्ष है और यदि यह जीव वर्तमान समय में अजीव देहादि, कर्म और कर्म के फल में उपादेय बुद्धि से उपयुक्त होता है अर्थात् तन्मय होकर परिणमता है तो ऐसा होने पर बन्ध है।

इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए प्रवचनसार में लिखा है—

भावेण जेण जीवो पेच्छदि जाणादि आगदं विसये।
रज्जदि तेणेव पुणो बज्झदि कम्मं ति उव ऐसो॥१७६॥

जिनदेव का ऐसा उपदेश है कि यह जीव प्राप्त विषय को जिस राग-द्वेष-मोह भाव से जानता-देखता है, उस भाव से उपरंजित होकर कर्मबन्ध करता है॥१७६॥

ये आगमप्रमाण हैं। इनसे विदित होता है कि कर्म (राग-द्वेष) और उनके फल में यदि यह जीव उपयुक्त होता है तो ही ज्ञानावरणादि कर्म अज्ञानादि जीव परिणाम के होने में हेतु संज्ञा को प्राप्त होते हैं, अन्यथा नहीं। **इसलिए यही सिद्ध होता है कि अपनी परतंत्रता का मूल**

कारण यह जीव स्वयं है; ज्ञानावरणादि कर्म नहीं। ज्ञानावरणादि कर्म को आचार्य ने परतंत्रता का हेतु इसलिए कहा कि उनमें उपयुक्त होकर जीव अपने में परतंत्रता को स्वयं उत्पन्न करता है। वे स्वयं जीव को परतंत्र नहीं बनाते। जीव के परिणाम को निमित्त कर कर्मवर्गणारूप पुद्‌गल कर्मपरिणाम को प्राप्त होते हैं और उत्तर काल में जीव के उनमें उपयुक्त होते समय वे जीव के राग-द्वेषरूप पारतंत्र्य के होने में व्यवहार हेतु होते हैं। इससे भी स्पष्ट है कि यह जीव वास्तव में स्वयं अपने अपराधवश परतंत्र बनता है। चोर को कोतवाल ने परतंत्र बनाया, यह तो व्यवहार है। वास्तव में वह स्वयं अपने अपराध के कारण परतंत्र बनता है, यह यथार्थ है। तत्त्वार्थवार्तिक ५-२४ के वचन का दूसरा अभिप्राय नहीं। यहाँ आया हुआ 'मूलकारणं' पद निमित्त कारण अर्थ का सूचक है। यथा - संजोयमूलं-संजोयनिमित्तम्। मूलाचार प्र.भा. २-४९ टीका।

पं. फूलचन्द्र ने पंचाध्यायी पृ. १७३, पृ. ३३८ में जो कथन किया है, वह व्यवहार हेतु की मुख्यता से किया है। इसलिए पूर्वापर का विरोध उपस्थित नहीं होता। यदि पं. फूलचन्द्र व्यवहार हेतु को निश्चय हेतु मानने लगें तो ही पूर्वापर का विरोध आता है, अन्यथा नहीं। तभी तो पं. फूलचन्द्र ने उसी पंचाध्यायी पृ. १७३ में यह भी लिखा है—'किन्तु यह परतंत्रता जीव की निज उपार्जित वस्तु है। जीव में स्वयं ऐसी योग्यता है जिससे वह सदा से परतंत्र है।' और इसी प्रकार उसी पंचाध्यायी के पृ. ३३८ में भी यह लिखा है—'यह कमी जो थोड़ी बहुत अरिहंत अवस्था में रहती है, वह अनादिकाल से चली आ रही है। इसका कारण कर्म माना जाता है अवश्य, पर यह मूलतः जीव की अपनी परिणति का ही परिणाम है। इसे ही संसारदशा कहते हैं।

यद्यपि पं. फूलचन्द्र के उक्त कथन से तो पूर्वापर विरोध नहीं आता। परन्तु अपर पक्ष जो व्यवहार हेतु को यथार्थ हेतु मनवाने का प्रयत्न कर रहा है, उससे अवश्य ही आगम का विरोध होता है। **आगम जब यह स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का त्रिकाल में यथार्थ कर्ता नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में अन्य द्रव्य के कार्य में अन्य द्रव्य की विवक्षित पर्याय को व्यवहार (उपचार) हेतु मान लेना ही आगम संगत है। यदि आगम में और आगमनुसारी कथन में पूर्वापर का विरोध परिहार हो सकता है तो इसी स्वीकृति से हो सकता है, अन्यथा नहीं।**

अपर पक्ष ने अपना मन्तव्य लिखने के बाद एक उद्धरण आप्तपरीक्षा पृ. २४६ का भी उपस्थित किया है। उसमें परतंत्रता के निमित्त (बाह्य हेतु) रूप से कर्म को स्वीकार किया

गया है। यहाँ ज्ञातव्य यह है कि इस परतंत्रता का कोई आभ्यन्तर (निश्चय हेतु) अवश्य होना चाहिए, क्योंकि परतंत्रता रूप कार्य की उत्पत्ति केवल बाह्य हेतु से होती हो, यह तो अपर पक्ष को भी मान्य नहीं होगा। आचार्य विद्यानन्दि तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक पृ. ६५ में लिखते हैं—

दण्ड-कपाट-प्रतर-लोकपूरणक्रियानुमेयोऽपकर्षण-परप्रकृतिसंक्रमणहेतुर्वा भगवतः स्वपरिणामविशेषः शक्तिविशेषः सोऽन्तरंगः सहकारी निःश्रेयसोत्पत्तौ रत्नत्रयस्य, तदभावे नामाद्यघातिकर्मत्रयस्य निर्जरानुपपत्तेर्निःश्रेयसानुत्पत्तेः। आयुषस्तु यथाकालमनुभवादेव निर्जरा न पुनरुपक्रमात्, तस्यानपवर्त्यत्वात्। तदपेक्षं क्षायिकरत्नत्रयं सयोगकेवलिनः प्रथमसमये मुक्तिं न सम्पादयत्येव, तदा तत्सहकारिणोऽसत्त्वात्।

जिसका दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण क्रिया से अनुमान होता है और जो अपकर्षण तथा पर प्रकृति संक्रमण का हेतु है—ऐसा भगवान् का शक्ति विशेषरूप जो अपना परिणामविशेष है वह रत्नत्रय का निःश्रेयस की उत्पत्ति में अंतरंग सहकारी कारण है, क्योंकि उसके अभाव में नामादि तीन अघाति कर्मों की न तो निर्जरा बन सकती है और न ही निःश्रेयस की उत्पत्ति हो सकती है। आयु कर्म की तो यथाकाल अनुभव से ही निर्जरा हो जाती है, उपक्रम से नहीं, क्योंकि वह अनपवर्त्य है। उसकी अपेक्षा से युक्त क्षायिक रत्नत्रय सयोग केवली के प्रथम समय में मुक्ति को नहीं ही सम्पादित करता है, क्योंकि उस समय उसके सहकारी (अन्तरंग हेतु) का असत्त्व है।

इससे स्पष्ट है कि चौदहवें गुणस्थान तक जो यह जीव परतंत्र बना हुआ है उसका अन्तरंग कारण स्वयं इस जीव की शक्तिहीनता ही है। आचार्य विद्यानन्दि ने सर्वत्र कर्म को परतंत्रता का हेतु बतलाते हुए उसका निमित्त रूप से इसीलिए उल्लेख किया है ताकि कोई जीव की परतंत्रता का मुख्य कर्ता द्रव्यकर्मोदय को न मान ले। उन्होंने द्रव्य कर्मों को परतंत्रता का निमित्त बतलाते हुए उसकी पुष्टि में बेड़ी (निगड़) को दृष्टान्त रूप में उपस्थित किया है। बेड़ी किसी को स्वयं परतंत्र नहीं बनाती। यह उसका स्वभाव नहीं। किन्तु जब उसे अपने अपराधवश धारण किया जाता है, तब वह परतंत्रता में बाह्य निमित्त होती है, अन्यथा नहीं। इससे स्पष्ट है कि जीव की परतंत्रता का मूल हेतु मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ही हैं। इन्हें संसार (परतंत्रता) के मूल हेतु कहने का भी यही कारण है। **कर्म शब्द द्रव्यकर्म के लिए तो प्रयुक्त होता ही है, भावकर्म के लिए मुख्यता से प्रयुक्त होता है, क्योंकि यथार्थ में द्रव्यकर्म को करना जीव का अपना कार्य न होकर, भावकर्म को करना जीव का अपना**

कार्य है। अतएव वस्तुतः ये मिथ्यात्वादिभाव ही सम्यक्त्वादि के प्रतिबन्धक स्वीकार किये गये हैं। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए भगवान् कुन्दकुन्द समयसार में लिखते हैं—

सम्मत्तपडिणिवद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठि त्ति णायव्वो॥१६१॥
णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवे अण्णाणी होदि णायव्वो॥१६२॥
चारित्तपडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो॥१६३॥

जिनदेव ने सम्यक्त्व का प्रतिबन्धक मिथ्यात्व को कहा है। उसके उदय से जीव मिथ्यादृष्टि है-ऐसा जानना चाहिए॥१६१॥ जिनवर ने ज्ञान का प्रबिन्धक अज्ञान को कहा है। उसके उदय से जीव अज्ञानी है-ऐसा जानना चाहिए॥१६२॥ जिनवर ने चारित्र का प्रतिबन्धक कषाय को कहा है। उसके उदय से जीव अचारित्र है-ऐसा जानना चाहिए॥१६३॥

रत्नत्रय परिणत आत्मा पूर्ण स्वतंत्र है, इसे अपर पक्ष स्वीकार करता ही है और उसके प्रतिबन्धक ये मिथ्यात्वादि भाव हैं, इसलिए ये स्वयं परतंत्रस्वरूप होकर भी परतंत्रता के मूल हेतु भी हैं-ऐसा यहाँ स्वीकार करना चाहिए। पर में एकत्व बुद्धि करके या रागबुद्धि करके जब यह जीव मिथ्यात्व आदि रूप से परिणमता है, तभी ज्ञानावरणादि कर्मों में परतंत्रता की व्यवहारहेतुता बनती है, अन्यथा नहीं। हमने अपने पिछले वक्तव्य में यही आशय व्यक्त किया है, अत: वह आगमानुकुल होने से प्रमाण है। आचार्य जयसेन ने प्रवचनसार गाथा ४५ की टीका में इसी तथ्य को ध्यान मे रखकर यह वचन लिखा है—

द्रव्यमोहोदयेऽपि सति यदि शुद्धात्मभावनाबलेन भावमोहेन न परिणमतितदा बन्धो न भवति।

द्रव्यमोह के भी उदय रहने पर यदि जीव शुद्धात्मभावना के बल से भावमोहरूप से नहीं परिणमता है तो उस समय बन्ध नहीं होता है।

'बन्ध नहीं होता' - यह नयवचन है। इससे ज्ञात होता है कि शुद्धात्मभावना के अभाव में जिस स्थिति अनुभाग को लिए हुए या मात्र तन्निमित्तक जिन प्रकृतियों का बन्ध होता है उस प्रकार का या उन प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता।

पूरे कथन का तात्पर्य यह है कि जीव की परतंत्रता का यथार्थ कारण कषाय है, द्रव्यकर्म नहीं। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य विद्यानन्दि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अ. ६ सू. ४ में लिखते हैं—

कषायहेतुकं पुंसः पारतन्त्र्यं समन्ततः।
सत्त्वान्तरानपेक्षीह पद्ममध्यगभृंगवत् ॥८॥
कषायविनिवृत्तौ तु पारतन्त्र्यं निवर्त्यते।
यथेह कस्यचिच्छान्तकषायावस्थितिक्षणे ॥९॥

इस लोक में कमल के मध्य में अवस्थित भौंरे के समान इस जीव की परतंत्रता सब ओर से कषायहेतुक होती है ॥८॥ और किसी जीव की इस लोक में कषाय के शान्त रहते समय परतंत्रता दूर हो जाती है, उसी प्रकार कषाय के निवृत्त हो जाने पर इस जीव की परतंत्रता भी निवृत्त हो जाती है।

यद्यपि इन्हीं आचार्य ने आप्तपरीक्षा कारिका ११४-११५ की टीका में तथा पृष्ट २४६ में द्रव्यकर्म को जीव की परतंत्रता का हेतु बतलाया है और यहाँ वे ही आचार्य कषाय को परतंत्रता का हेतु लिख रहे हैं। परन्तु इसमें कोई विरोध नहीं है, क्योंकि जीव की परतंत्रता का यथार्थ हेतु कषाय है और उपचरित हेतु द्रव्यकर्म है। इसलिए हमने अपने पिछले उत्तर में इस विषय को ध्यान में रखकर जिन तथ्यों का प्ररूपण किया है, वे यथार्थ हैं - ऐसा यहाँ निर्णय करना चाहिए।

9. समग्र आर्हतप्रवचन प्रमाण हैं

अपर पक्ष ने हमारे 'समयसार अध्यात्म की मुख्यता से प्रतिपादन करने वाला आगम ग्रन्थ है, शेष ग्रन्थ व्यवहारनय की मुख्यता से लिखे गये हैं।' इस कथन को तूल देकर इस वीतराग चर्चा को जो विकृत रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है वह श्लाध्य नहीं है। हमने उक्त वाक्य किस ग्रन्थ में किस नय की मुख्यता से कथन है इस दृष्टि को ध्यान में रख कर ही लिखा है और यह अभिप्राय हमारी नहीं है, जगन्मान्य गुरुपदसमलंकृत आचार्य अमृतचन्द्र का है, यह स्पष्ट करते हुए पंचास्तिकाय गाथा १३२ का टीकावचन भी प्रमाणरूप में दे दिया है। हमारे उक्त कथन के आधार से ये तथ्य फलित होते हैं—

१. समयसार में मुख्यरूप से निश्चयनय को लक्ष्य में रखकर कथन किया गया है,

गौणरूप से व्यवहारनय को लक्ष्य में रखकर भी कथन किया गया है।

२. 'समयसार' यह वचन उपलक्षण है। इससे इसी प्रकार के अन्य आगमग्रन्थों का भी परिग्रह हो जाता है,

३. शेष ग्रन्थों में व्यवहार नय को लक्ष्य में रखकर मुख्यरूप से कथन किया गया है, गौणरूप से निश्चयनय को लक्ष्य में रख कर भी कथन किया गया है।

४. 'शेष ग्रन्थ' यह वचन उपलक्षण है। इससे उन्हीं ग्रन्थों का परिग्रह होता है जिनमें व्यवहारनय को लक्ष्य में रखकर की गई कथनी की मुख्यता है।

अपर पक्ष ने हमारे उक्त कथन के आधार से विचित्र अभिप्राय फलित किया है और पर्यायान्तररूप से आचार्य अमृतचन्द्र को भी उसमें सम्मिलित कर लिया है। यह आचार्य अमृतचन्द्र का ही तो वचन है—

इह हि व्यवहारनयः किल पर्यायाश्रितत्वात्..... परभावं परस्य विदधाति।

यहाँ व्यवहारनय पर्यायाश्रित होने से.......... परभाव को पर का कहता है।

- समयसार, गाथा ५६

यह आचार्य वचन ही तो है—

अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहारः। असद्भूतव्यवहार एव उपचारः।

अन्य द्रव्य में प्रसिद्ध धर्म का अन्य द्रव्य में समारोप करना असद्भूतव्यवहार है। असद्भूतव्यवहार ही उपचार है। *- आलापपद्धति।*

और यह आचार्य वचन ही तो है—

अण्णेसि अण्णगुण भणाई असब्भूद........ ॥२२३॥ *-नयचक्रादिसंग्रह*

असद्भूतव्यवहार अन्य के गुण को अन्य का कहता है।

ये हमारे वचन नहीं है। ऐसी अवस्था में अपर पक्ष का यह लिखना - कि उपरोक्त वाक्य स्पष्टतया इस प्रकार के अन्तरंग अभिप्राय को द्योतित करता है कि समस्त जैनवाङ्मय (शास्त्रों) में एकमात्र समयसार ही अध्यात्मग्रन्थ होने के कारण सत्यार्थ, प्रामाणिक तथा मान्य है और अन्य समस्त ग्रन्थ (चाहे वह स्वयं श्री कुन्दकुन्द आचार्य कृत भी क्यों न हों)

व्यवहारनय की मुख्यता से होने के कारण असत्य, अप्रामाणिक एवं अमान्य हैं, क्योंकि आपके द्वारा व्यवहारनय को कल्पनारोपित उपचरित या असत्य ही घोषित किया गया है। वरना इस वाक्य को लिखने की आवश्यकता ही न थी। श्री समयसार में भी स्थान-स्थान पर व्यवहार का कथन है, अतः वह भी असत्य ही होंगे, इस अपेक्षा से तो यह भी लिखा जाना चाहिये था कि श्री समयसार के तो मात्र वहीं अंश ग्राह्य हैं जिनमें केवल निश्चयनय से कथन है। यह ही तो एकान्त निश्चय मिथ्यावाद है।' आदि

किन्तु यह शब्दावली किसी भी अवस्था में शोभनीक नहीं कही जा सकती। यह झुँझलाहट ही है, जिसे अपर पक्ष ने उक्त शब्दों में व्यक्त किया है।

यह अपर पक्ष के वक्तव्य का कुछ अंश है। इसमें या इसके आगे के वक्तव्य में बहुत कुछ कहा गया है। यदि हम उसके बहुत भीतर जायें तो उसके उत्तर में बहुत कुछ लिखा जा सकता है और यह सप्रमाण सिद्ध किया जा सकता है कि प्रस्तुत चर्चा में अपर पक्ष ने कहाँ तक वीतरागता का निर्वाह किया है। यह तो हम पहले ही लिख आये हैं कि कोई भी नय कल्पनारोपित, अप्रामाणिक या असत्य नहीं होता। व्यवहारनय के लिए इन शब्दों का प्रयोग अपर पक्ष ही कर रहा है, इसका हमें आश्चर्य ही नहीं खेद भी है। **निश्चयनय जैसा वस्तु का स्वरूप है, उसे उसी रूप में निरूपित करता है, सद्भूतव्यवहारनय सद्भूत अर्थ में ही व्यवहार की प्रसिद्धि करता है और असद्भूतव्यवहारनय उपचरित अर्थ की ही प्रसिद्धि करता है। सभी नय अपने-अपने विषय का ही निरूपण करते हैं, इसलिये वे यथार्थ हैं। कल्पनारोपित नहीं हैं।** यह अपर पक्ष ही बतलावे कि क्या कोई ऐसा व्यवहारनय है जो गधे के सींग की या आकाशकुसुम की कहीं सिद्धि करता है, जिससे कि उसे कल्पनारोपित, अप्रामाणिक या असत्य कहा जाये। अपर पक्ष ने हमारे किस कथन के आधार पर व्यवहारनय के लिए इन शब्दों का प्रयोग कर हम पर यह आरोप किया है कि हम व्यवहारनय को कल्पनारोपित आदि कहते हैं, यह हम नहीं समझ सके। **यदि प्रयोजनवश मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कहा जाता है तो वह कल्पनारोपित कैसे कहलाया, इसका अपर पक्ष स्वयं विचार करे। फिर भी निश्चयनय मिट्टी के घड़े को मिट्टी का ही कहेगा। स्वरूप का ज्ञापक होने से, घड़ा घी का है, इसका तो, वह निषेध ही करेगा, क्योंकि प्रत्येक वस्तु का स्वभाव ही ऐसा होता है कि वह स्वरूप का उपादान और पररूप का अपोहन करे।**

अपर पक्ष का कहना है। कि 'जो प्ररूपणा जिस नय से की गई है, उस नय से वह

यथार्थ है।' हम अपर पक्ष को विश्वास दिलाते हैं कि हमने अपने समग्र उत्तर पत्रों में इसे मान्य रखा है। और यही कारण है कि अपर पक्ष ने जहाँ व्यवहारनय की कथनी को उद्धृत किया है, वहाँ अनेक स्थलों पर हमने यह लिखकर उत्तर दिया है कि यह व्यवहारनय का कथन या वक्तव्य है।

अपर पक्ष का हम पर यह भी आरोप है कि हमने 'सर्वश्री अकलंकदेव या विद्यानन्दि द्वारा रचित शास्त्रों के प्रमाणों की अपेक्षा गृहस्थों द्वारा रचित भाषा भजनों को अधिक प्रामाणिक माना है और उन भजनों का प्रमाण देकर परम पूज्य महान् आचार्यों के आर्षग्रन्थों का निराकरण (खण्डन) किया।' किन्तु यह विपरीत अर्थ अपर पक्ष ने कहाँ से फलित कर लिया? क्या किसी आचार्य की प्रयोजनवश की गई व्यवहार प्ररूपणा को उसी रूप में सूचित करना उसका खण्डन है? आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार गाथा ९८ में 'आत्मा घट-पट-रथ को करता है' इसे व्यवहार कथन कहा है। यदि अन्यत्र ऐसी कथनी उपलब्ध होती है और हम उसे व्यवहारनय की कथनी प्रसिद्ध करते हैं तो क्या इसे उस कथनी का खण्डन माना जाये? आश्चर्य! महान् आश्चर्य!!

अपर पक्ष को समझना चाहिए कि **खण्डन का अर्थ होता है किसी कथन को विविध उपायों का अवलम्बन लेकर अप्रमाणित घोषित करना। किसी कथन को यह किस नय का कथन है, यह बतलाना खण्डन नहीं कहलाता। हमें तो आचार्यों के वचनों के प्रति श्रद्धा है ही, गृहस्थों द्वारा रचित भाषा-भजनों के प्रति भी श्रद्धा है। जो भगवद्वाणी है, वह श्रद्धास्पद है - ऐसा हमारा निर्णय है। अपर पक्ष गृहस्थों द्वारा रचित भाषा-भजनों के प्रति हीनभाव भले ही रखे, परन्तु इससे हमारी श्रद्धा पर आँच आने वाली नहीं है। यह हम अच्छी तरह से जानते हैं कि हजारों लाखों नर-नारी उन्हीं भाषा-भजनों का आलम्बन लेकर वीतरागमार्ग का अनुसरण करते हैं। वे भाषा-भजन उपेक्षणीय नहीं। उनके प्रति किसी भी प्रकार से लघुता प्रगट करना अनर्थ को आमंत्रण देना है।**

हमने पंचास्तिकाय गाथा १२३ का '**एवमनया दिशा**' इत्यादि टीका वचन जिस प्रयोजन से पिछले उत्तर में उद्धृत किया है, उसका निर्देश वहाँ कर दिया है।अपर पक्ष को उसकी व्याख्या करके यह बतलाना था कि जिस प्रयोजन से हमने उसे उद्धृत किया है, वह प्रयोजन इससे सिद्ध नहीं होता। किन्तु यह सब कुछ न लिखकर मात्र यह लिखना कि 'वरना इस वाक्य को लिखने की आवश्यकता ही न थी।' कोई मायने नहीं रखता।

पं. फूलचन्द्र ने धवल पृ. १३ पृ. ३६ पर विशेषार्थ में धवलशास्त्र को अध्यात्मशास्त्र स्वीकार किया है, वह धवलशास्त्र के आधार पर ही स्वीकार किया है। वहाँ उसे अध्यात्मशास्त्र जिस कारण कहा गया है, इसका निर्देश भी कर दिया है। हम चाहते हैं कि **अपर पक्ष पंचास्तिकाय गा. १२३ के टीका वचन और धवला पु. १३ पृ. १३६ के उक्त वचन, इन दोनों को प्रमाण माने। हमें दोनों की प्रामाणिकता में अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। जो कथन जिस दृष्टिकोण से किया गया है वह वैसा ही है, अन्यथा नहीं है।**

आचार्य अमृतचन्द्र ने प्रवचनसार गाथा ९३ की टीका में जो यह वचन लिखा है –'इयं हि सर्वपदार्थानां' इत्यादि। उसे समझकर अपर पक्ष ने जो एकान्त नियतिवाद का निषेध किया है, उसका हम स्वागत करते हैं। इसमें संदेह नहीं कि **जिस प्रकार त्रिकाली ध्रुवस्वभाव सदाकाल एकरूप नियत रहता है, उस प्रकार पर्याय क्रमनियमित होकर भी अर्थात् क्रम से अपने-अपने नियत काल में उत्पन्न होकर भी अनियत अर्थात् वही वही न होकर, अन्य-अन्य होती है। ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है, उसमें चारा किसका।**

इस प्रकार द्वादशांग वाणी का अनुसरण करने वाला प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और वर्तमान काल में बोली जाने वाली गुजराती, हिन्दी, मराठी, कन्नडी, तमिल आदि भाषा में जितना भी जिनागम लिखा गया है, वह सब प्रमाण है। वह सब जिनागम द्वादशांग ही है—ऐसी जो श्रद्धा करता है, वह सम्यग्दृष्टि है। हमें विश्वास है कि अपर पक्ष गृहस्थों द्वारा लिखित भाषा-भजनों को उक्त पद्धति से प्रमाणकोटि में स्वीकार करेगा। **वीतराग वाणी का नाम जिनवाणी है। अतएव जो वचन इसका पदानुसरण करते हैं वे भी जिनवाणी के समान पूज्य हैं - ऐसा यहाँ निर्णय करना चाहिए। वे गृहस्थों द्वारा लिखे गये, यह गौण है। उनमें जिन वाणी का गुण होना मुख्य है, क्योंकि पूज्यता उसी से आती है।**

10. व्यवहार व्रत, तप आदि मोक्ष के साक्षात् साधक नहीं।

अपर पक्ष ने प्रतिशंका २ में लिखा था –'अब हम व्यवहारनय के विषयभूत व्यवहार क्रियाओं पर थोड़ा प्रकाश डालते हैं। दिगम्बर जैनागम में व्यवहारधर्म के आधार पर ही निश्चयस्वरूप शुद्धात्मा की प्राप्ति अथवा मोक्षप्राप्ति बतलाई गई है।' आदि,

हमने इसे और इसके आगे के कथन को ध्यान में रखकर समयसार गाथा १५३ के आधार से स्पष्ट किया था कि 'व्रत, नियमरूप व्यवहार तो मिथ्यादृष्टि के भी होता है, परन्तु इसे पालता हुआ भी वह परमार्थ बाह्य बना रहता है, इसलिए निर्वाण को प्राप्त नहीं होता।'

ऐसा हमारा लिखने का आशय यह था। कि अपर पक्ष की व्यवहारधर्म के आधार पर ही निश्चय स्वरूप शुद्धात्मा की प्राप्ति की जो मान्यता बनी हुई है, वह छूट जाये। उक्त गाथा की आत्मख्याति टीका को उद्‌धृत करने का भी हमारा यही आशय था।

प्रसन्नता है कि **अपर पक्ष ने यह स्वीकार कर लिया है कि 'निर्विकल्पदशा में ये शुभ प्रवृत्ति रूप बाह्य व्रतादिक नहीं होते।'** आत्मख्याति टीका का आशय स्पष्ट करते समय हम 'व्रत, नियम, शील और तप' पदके पूर्व 'बाह्य' पद लगाना छोड़ गये थे। अपर पक्ष ने इस ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया, हमें इसकी भी प्रसन्नता है, क्योंकि उस पक्ष द्वारा उक्त तथ्य स्वीकार कर लेने से यह स्पष्ट हो जाता है कि **निर्विकल्प समाधिरूप रत्नत्रय परिणत आत्मा ही मोक्ष का साक्षात् साधन है, व्यवहार क्रियारूप व्रत आदि नहीं।**

फिर भी अपर पक्ष शुभरूप मन, वचन, काय के व्यापार को परम्परा से मुक्ति का साधन मानता है, इसलिए यह विचारणीय हो जाता है कि इस विषय में आगम का आशय क्या है ?

यदि अपर पक्ष 'शुभरूप मन-वचन-काय के व्यापार' पद से द्रव्यमन, भाषा वर्गणाओं की वचन रूप पर्याय और औदारिकादि शरीर की क्रिया लेता है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि ये तीनों पुद्‌गल द्रव्य के परिणाम हैं। वे न तो शुभ होते हैं और न अशुभ।

यदि अपर पक्ष उक्त पद से मुख्यतया तीनों योगों का परिग्रह करता है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि शुभ परिणाम के कारण ही—ये तीनों योग शुभ कहलाते हैं।

अतएव परिशेषन्याय से अपर पक्ष को इस पद द्वारा शुभ परिणाम से परिणत आत्मा को ही ग्रहण करना पड़ेगा। प्रवचनसार गाथा ९ में भी यही कहा है। स्पष्ट है कि जहाँ भी आगम में बाह्य व्रतादि को शुभ कहा है वहाँ उनसे शुभपरिणाम रूप व्रतादि को ही ग्रहण किया है। यदि कहीं वचन-कायक्रिया को शुभ या अशुभ कहा भी है तो शुभाशुभ काययोग और शुभाशुभ वचनयोग का ही परिग्रह किया है, भाषा रूप से परिणत वचन क्रिया का या औदारिकादि शरीर क्रिया का नहीं।

अब देखना यह है कि आगम में जो शुभ व्रतादि को परम्परा मोक्ष का हेतु कहा है, उसका आशय क्या है ? यद्यपि इस प्रश्न का उत्तर सीधा है कि ये व्रतादि यदि मोक्ष के परम्परा हेतु होते अर्थात् आंशिक आत्मशुद्धि के कारण होते और इस प्रकार उत्तरोत्तर शुद्धि को प्राप्त कर यह जीव मोक्ष प्राप्त करता होता तो आगम (प्रवचनसार) में यह न लिखा होता कि 'जब

यह आत्मा राग-द्वेष से युक्त होकर शुभ और अशुभ रूप से परिणमता है तब ज्ञानावरणादिरूप से कर्मों का बन्ध होता है (187)' और न यह लिखा होता कि 'पर को लक्ष्य कर किया गया शुभ परिणाम पुण्य है और अशुभ परिणाम पाप है तथा जो परिणाम अन्य को लक्ष्य कर नहीं किया गया है वह दुक्ख के क्षय का कारण है (181)। तब तो ऐसा विवेक करने की आवश्यकता ही नही थी कि 'मैं न देह हूँ, न मन हूँ, न वाणी हूँ। उनका कारण नहीं हूँ, कर्ता नहीं हूँ, कराने वाला नहीं हूँ और कर्ता का अनुमोदक नहीं हूँ' (160)। यह विवेक कराने की भी आवश्यकता नहीं रह जाती कि 'मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञान-दर्शनमय हूँ, अरूपी हूँ, अरूपी हूँ। अन्य परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है' (समयसार गा. 38)। बस, यह जीव देवादि की भक्ति करता रहे, व्रतादि का पालन करता रहे, उसी से आंशिक शुद्धि उत्पन्न होकर परम्परा मोक्ष हो जायेगी। क्या अपर पक्ष ने इसका भी कभी विचार किया कि आगम में जो उक्त प्रकार का उपदेश दिया है, वह क्यों दिया है ? यदि वह पक्ष गहराई से इसका विचार करे तो उसे यह निर्णय करने में देर न लगे कि **शुभपरिणाम मात्र बन्ध का कारण होने से मोक्षमार्ग में हेय है। साक्षात् मुक्ति का कारण तो हो ही नहीं सकता, आंशिक शुद्धि का कारण नहीं है। वह परिणाम सम्यदृष्टि का ही क्यों न हो, है वह बन्ध का ही कारण, क्योंकि मोक्ष या आंशिक शुद्धि के कारण भूत परिणाम से उस परिणाम की जाति ही भिन्न है।** यदि किसी के पग में हल की वेड़ी पड़ी हो, इसलिए कोई उसे देख कर यह कहे कि यह वेड़ी परम्परा अर्थात् क्रम से मुक्ति का कारण है तो जैसे यह बात उपहासास्पद मानी जायेगी वैसे ही प्रकृत में जानना चाहिए। अत: आईए, मिलकर विचार करें कि आगम में जो शुभ व्रतादि को मुक्ति का कारण कहा है, उसका क्या तात्पर्य है। समयसार कलश में इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्य वा किल।
यत्कोऽपि कर्मभिः कर्म भुञ्जानोऽपि न बध्यते॥१३४॥

वास्तव में यह सामर्थ्य ज्ञान की ही है अथवा विराग की है कि कोई भी सम्यदृष्टि जीव कर्मों को भोगता हुआ भी कर्मों से नही बँधता॥१३४॥

इसी तथ्य को और भी स्पष्ट शब्दों में समझाते हुए वहाँ लिखा है—

ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यतः स्यात् सर्वरागरसवर्जनशीलः।
लिप्यते सकलकर्मभिरेषः कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न॥१४९॥

ज्ञानी जीव निजरस से ही सर्व रागरस के वर्जन स्वभाव वाला है, इसलिए वह कर्मों के बीच पड़ा हुआ भी सब प्रकार के कर्मों से लिप्त नहीं होता है ॥१४९ ॥

ज्ञानी की ऐसी परिणति निरन्तर चलती रहती है। साथ ही इसमें जितनी प्रगाढ़ता आती जाती है, उतनी ही विशुद्धि में वृद्धि होती जाती है तथा कर्म बन्ध के निमित्तभूत राग-द्वेषादि में और सुख-दुख परिणाम में हानि होती जाती है। **यतः ये राग-द्वेषादि परिणाम आत्मविशुद्धि के सद्भाव और उसकी वृद्धि में बाधक नहीं हो पाते, अतः देवादिविषयक और व्रतादि विषयक इन परिणामों को व्यवहार से परम्परा मोक्ष का हेतु कहा है। ये आत्मशुद्धि को उत्पन्न करते हैं, इसलिए नहीं।** इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए वहीं लिखा है—

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा
कर्म-ज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः।
किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बन्धाय तत्
मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः॥११०॥

जब तक ज्ञान की कर्म विरति भली-भाँति परिपूर्णता को नहीं प्राप्त होती तब तक कर्म और ज्ञान का समुच्चय (मिलकर रहना) भी शास्त्र में कहा है, इस प्रकार दोनों के मिलकर रहने में कोई क्षति नहीं है। किन्तु यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि आत्मा में अवशपने (हीन पुरुषार्थता के कारण) जो कर्म प्रगट होता है, वह तो बन्ध का कारण है और जो परद्रव्य-भावों से स्वतः विमुक्त परम ज्ञान है, वह एकमात्र मोक्ष का हेतु है ॥११० ॥

ये व्रतादिक या अर्हद्भक्ति आदिक परम्परा मोक्ष के हेतु हैं, इसका यह आशय है कि जो ज्ञानी मोक्ष के लिए उद्यतमन है, जिसने अचिन्त्य संयम और तपभार को प्राप्त किया है। किन्तु जो वर्तमान भव में परम वैराग्य भूमिका को आरोहण करने में असमर्थ है, वह जैसे धुनकी में चिपकी हुई रुई जल्दी छूटती नहीं वैसे ही अर्हदादिविषयक या नौ पदार्थ विषयक परसमय प्रवृत्ति को छोड़ने में विशेष उत्साहवान् न होने के कारण उसी भव में मोक्ष को न प्राप्त कर पहले सुरलोक आदि सम्बन्धों क्लेश परम्परा को भोग कर अन्त में मुक्ति को प्राप्त होता है। यह 'व्रतादि और अर्हद्भक्ति आदि परम्परा से मोक्ष के हेतु हैं, इसका तात्पर्य है, यह नहीं कि वे व्रतादिक और अर्हद्भक्ति आदिक प्रथम भूमिका में आत्मा की आंशिक शुद्धि के हेतु हैं और इस प्रकार ये परम्परा से मोक्ष के हेतु बन जाते हैं। इसी तथ्य को आचार्य अमृतचन्द्र ने पंचास्तिकाय गाथा १७० की टीका में स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं—

यः खलु मोक्षार्थमुद्यतभनाः समुपार्जिताचिग्त्यसंयमतपोभारोऽप्यसंभावितपरम-वैराग्यभूमिकाधिरोहणप्रभुशक्तिः पिञ्जनलग्नतूलन्यासन्यायेन नवपदार्थैः सहार्ददादि-भक्तिरूपां परसमयप्रवृत्तिं परित्यक्तुं नोत्सहते स खलु नाम साक्षान्मोक्षं न लभते, किन्तु सुरलोकादिक्लेशप्राप्तिरूपया परम्परया तमवाप्नोति।

इस प्रकार व्यवहार व्रत आदि मोक्ष के साक्षात् साधक न होने पर भी आगम में जो उन्हें परम्परा साधक कहा उसका क्या तात्पर्य है, इसका स्पष्टीकरण किया।

11. प्रकृत में 'ज्ञान' पद का अर्थ

परमागमस्वरूप समयसार में 'ज्ञान ही मोक्ष का साधन है' ऐसा कहा है। उसका क्या तात्पर्य है, इसका स्पष्टीकरण अपर पक्ष ने किया है। इस पर विशेष प्रकाश समयसार गाथा १५५ के विशेषार्थ से पड़ता है, इसलिए उसे यहाँ दे रहे हैं—

आत्मा का असाधारण स्वरूप ज्ञान ही है और इस प्रकरण में ज्ञान को ही प्रधान करके विवेचन किया है। इसलिए, 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र—इन तीनों स्वरूप ज्ञान ही परिणमित होता है' यह कहकर ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहा है। ज्ञान है, वह अभेद विवक्षा में आत्मा ही है—ऐसा कहने में कुछ भी विरोध नहीं है, इसलिए टीका में कई स्थानों पर आचार्य देव ने ज्ञान स्वरूप आत्मा को 'ज्ञान' शब्द से कहा है।

एक बात यह भी है कि जहाँ क्रिया को मोक्ष का साधन कहा है, वहाँ उसका अर्थ रागादि का परिहार रूप स्वरूप स्थिति ही करना चाहिए। पण्डित प्रवर टोडरमलजी ने सांचा मोक्षमार्ग क्या है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए मोक्षमार्गप्रकाशक पृ. ३७० में लिखा है—

शुद्ध आत्मा का अनुभव सांचा मोक्ष मार्ग है।

पापक्रिया की निवृत्ति चारित्र है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य वीरसेन धवला पु. ६ पृ.४० में लिखते हैं—

पापक्रियानिवृत्तिश्चारित्रम्। घातिकर्माणि पावं। तेसिं किरिया मिच्छत्ता-संजमकसाया। तेसिमभावो चारित्तं।

पापक्रिया की निवृत्ति चारित्र है। घातिकर्म पाप है। उनकी क्रिया मिथ्यात्व, असंयम और कषाय है। उनका अभाव चारित्र है।

स्पष्ट है कि मोक्षमार्ग में 'क्रिया' पद द्वारा स्वरूप स्थिति का ही ग्रहण किया है,

मिथ्यात्वरूप और शुभा-शुभ भावों का नहीं।

तत्त्वार्थवार्तिक पृ. ११ के 'हतं ज्ञानं क्रियाहीनं' आदि उद्धृत श्लोक का यही तात्पर्य है।

यहाँ पर प्रश्न होता है कि यदि ऐसी बात है तो व्रत, शील आदि को परमागम में मोक्षमार्ग क्यों कहा? यह प्रश्न है। इसका समाधान करते हुए पण्डितप्रवर टोडरमलजी मोक्षमार्गप्रकाशक पृ. ३७४ में लिखते हैं—

बहुरि परद्रव्यका निमित्त मेटनेकी अपेक्षा व्रत, शील, संयमादिक को मोक्षमार्ग कह्या सो इन ही कौं मोक्षमार्ग न मानि लेना। जातैं पर द्रव्य का ग्रहण-त्याग आत्मा कै होय तौ आत्मा पर द्रव्य का कर्ता-हर्ता होय।

इस प्रकार ज्ञान ही मोक्ष का साधन है, इसका स्पष्टीकरण किया।

12. सम्यक्त्व प्राप्ति के उत्कृष्टरूप काल का विचार

परमागम में यह जीव अधिक से अधिक कितने काल के शेष रहने पर सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है, इसका विचार करते हुए तत्त्वार्थवार्तिक अ. २ सू. ३ में लिखा है—

तत्र काललब्धिस्तावत् कर्माविष्ट आत्मा भव्यः कालेऽर्धपुद्गलपरिवर्तनाख्येऽवशिष्टे प्रथमसम्यक्त्वग्रहणस्य योग्यो भवति नाधिक इतीयं काललब्धिरेका।

वहाँ काललब्धि तो कर्माविष्ट भव्य आत्मा **अर्धपुद्गलपरिवर्तन नाम वाले काल के शेष रहने पर** प्रथम सम्यक्त्व के ग्रहण के योग्य होता है, अधिक काल रहने पर नहीं, यह एक काल लब्धि है।

आचार्य पूज्यपाद ने भी सर्वार्थसिद्धि अ. २ सू. ३ में इन्हीं शब्दों में इसी बात को स्वीकार किया है।

१. यहाँ 'काल' पद विशेष्य है और 'अर्धपुद्गलपरिवर्तनाख्य' पद विशेषण है। इससे हम जानते हैं कि प्रकृत में एक समय, एक आवलि, एक उच्छ्वास, एक मुहूर्त, एक दिन-रात, एक पक्ष, एक मास, एक ऋतु, एक अयन, एक वर्ष, संख्यात वर्ष, असंख्यात वर्ष, पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग, पल्योपम का संख्यातवां भाग, एक सागरोपम, संख्यात सागरोपम, लोक का असंख्यातवां भाग, एक लोक, अंगुल का असंख्यातवां भाग, अंगुल का संख्यातवां भाग, क्षुल्लकभवग्रहण, पूर्वकोटि, पूर्वकोटिपृथक्त्व, असंख्यात लोक

और अनन्तकाल आदि जिनका नाम है, वे सब काल यहाँ पर नहीं लेने हैं। किन्तु यहाँ पर अर्धपुद्गलपरिवर्तन नाम वाला काल लेना है। इसका यह आशय फलित हुआ कि आगम में जहाँ भी यह लिखा है कि अर्धपुद्गलपरिवर्तन काल के या अर्धपुद्गलपरिवर्तन नामवाले काल के शेष रहने पर यह जीव प्रथम सम्यक्त्व के ग्रहण के योग्य होता है, वहाँ उसका यही तात्पर्य है कि जब इस जीव को मोक्ष जाने के लिए अधिक से अधिक अर्धपुद्गलपरिवर्तनप्रमाण काल शेष रहता है, तब यह जीव प्रथम सम्यक्त्व को ग्रहण कर सकता है, इससे अधिक काल के शेष रहने पर नहीं। जहाँ समय, आवलि, उच्छ्वास, अन्तर्मुहूर्त, दिन-रात, सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु, अयन और वर्षादि के द्वारा काल का ज्ञान नहीं कराया जा सकता है वहाँ पल्योपम, सागरोपम, लोक, पुद्गलपरिवर्तन, और अर्धपुद्गलपरिवर्तन आदि उपमानों के द्वारा उपमेय का ज्ञान कराया जाता है। यहाँ मोक्ष जाने के अधिक से अधिक कितने काल पूर्व यह जीव सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकता है, इसका ज्ञान कराने के लिए इसी पद्धति को अपनाया गया है।

२. कालप्ररूपणा में और अन्तरकाल प्ररूपणा में काल की ही मुख्यता रहती है। कालप्ररूपणा में यह बतलाया जाता है कि कम से कम कितने काल तक और अधिक से अधिक कितने काल तक यह जीव विवक्षित गुणस्थान या मार्गणास्थान आदि में रहेगा। और अन्तर काल प्ररूपणा में यह बतलाया जाता है कि कम से कम कितने काल वाद और अधिक से अधिक कितने कालवाद यह जीव पुनः विवक्षित गुणस्थान या मार्गणास्थान आदि को प्राप्त करेगा और जिस गुणस्थान या मार्गणास्थान का एक जीव या नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर काल नहीं बनता, वहाँ उसका निषेध कर उसे निरन्तर बतलाया जाता है। इससे यह तो स्पष्ट हो गया कि **आगम में कालप्ररूपणा में जहाँ भी 'अर्धपुद्गलपरिवर्तन' पद आया है, वहाँ उससे अर्धपुद्गलपरिवर्तन को ग्रहण न कर मात्र उसमें जितना काल लगता है, उस काल को ग्रहण किया गया है।**

प्रत्येक कार्य अपने प्रतिनियत काल के प्राप्त होने पर ही होता है, अन्यथा नहीं होता—इस तथ्य का खण्डन करने के लिए आजकल यह भी कहा जाने लगा है कि अधिक से अधिक अर्धपुद्गलपरिवर्तन काल के शेष रहने पर सम्यक्त्व प्राप्त होता है, इसका आशय यह है कि जब जब यह जीव पुद्गलपरिवर्तन करता है, तब तब उस परिवर्तन के आधे शेष रह जाने पर सम्यक्त्व को प्राप्त करने की योग्यता उत्पन्न होती है।

हमारे सामने यह प्रश्न रहा है और यहाँ भी अपर पक्ष ने जो कुछ भी लिखा है, उससे यह भाव झलकता है, इसलिए हमें पूर्वोक्त स्पष्टीकरण करने की आवश्यकता प्रतीत हुई।

३. यह तो अपर पक्ष ही जानता है कि करणलब्धि द्रव्य, क्षेत्र आदि किसी भी परिवर्तन में पड़े हुए जीव के न होकर, उसका उच्छेद करने पर ही हो सकती है। स्पष्ट है कि जो जीव पुद्‌गलपरिवर्तन कर रहा है, वह उसे करते हुए तो न करणलब्धि कर सकता है और न ही सम्यक्त्व को ही प्राप्त कर सकता है।

यदि कहा जाये कि जिस समय यह जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करने के सन्मुख होकर करणलब्धि करता है, उस समय पुद्‌गलपरिवर्तन का विच्छेद होकर सम्यक्त्व प्राप्त करने के समय सम्यक्त्व गुणके कारण उसका आधा काल रह जाता है? समाधान यह है कि सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्त्तिक के उल्लेख से यह आशय व्यक्त नहीं होता, क्योंकि उसमें यह स्पष्ट कहा गया है कि कितना काल अवशिष्ट रहने पर अनादि मिथ्यादृष्टि जीव प्रथम सम्यक्त्व के ग्रहण के योग्य होता है। इसका आशय तो इतना ही है कि यहाँ से लेकर यह जीव सदा प्रथम सम्यक्त्व के ग्रहण के योग्य है। जिस प्रकार संज्ञी पर्याप्तक कर्मभूमिज मनुष्य के सम्बन्ध में आगम में यह विधान है कि आठ वर्ष का होने पर ऐसा मनुष्य सम्यक्त्व, संयमासंयम और संयम के ग्रहण के योग्य होता है। उसी प्रकार का यह विधान है। दोनों में कोई अन्तर नहीं। **बाह्य सामग्री के साथ यदि अन्तः सामग्री की अनुकूलता होती है तो कर लेता है, अन्यथा नहीं करता। कोई एक नियम नहीं, क्योंकि प्रत्येक जीव के अपने-अपने प्रतिनियत कार्यों का स्वकाल पृथक्-पृथक् है तत्त्वार्थवार्तिक अ.१ सू.३ का भी यही आशय है।**

१. अपर पक्ष ने धवला पु. ४ और ५ के दो प्रमाण दिये हैं। धवला पु. ४ के प्रमाण में सम्यक्त्व की मात्र महत्ता दिखलाई गई है, अन्यथा जो जो अनादि मिथ्यादृष्टि प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करे उन सबको अर्धपुद्‌गलपरिवर्तन काल तक संसार में रहने का प्रसंग उपस्थित होता है। किन्तु उक्त आगम का यह अभिप्राय नहीं है, क्योंकि कितने ही जीवों को अर्धपुद्‌गल-परिवर्तनप्रमाण काल के शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्व प्राप्त होता है और कितने ही जीवों को इससे कम काल शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्व प्राप्त होता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य विद्यानन्दि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. ९१ में लिखते हैं—

तथा कश्चित् संसारी सम्भवदासन्नमुक्तिरभिव्यक्तसम्यसग्दर्शनादिपरिणामः, परोऽनन्तेनापि कालेन सम्भवदभिव्यक्तसद्दर्शनादिः।

उसी प्रकार जिसे मुक्ति प्राप्त करना आसन्न-अतिनिकट है—ऐसा संसारी जीव सम्यग्दर्शनादि परिणाम को उत्पन्न करता है। दूसरा अनन्त काल के द्वारा भी सम्यग्दर्शनादि परिणाम को उत्पन्न करता है।

यदि अपर पक्ष कहे कि जो-जो अनादि मिथ्यादृष्टि जीव प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है उन सबका सम्यक्त्व गुण के कारण मोक्ष प्राप्त करने का काल तो अर्धपुद्‌गलपरिवर्तन प्रमाण ही शेष रहता है। किन्तु बाद में कोई जीव उसे घटा लेते हैं और कोई जीव नहीं घटा पाते? समाधान यह है कि—

(क) एक तो अपर पक्ष के इस कथन का तत्त्वार्थवार्तिक और सर्वार्थसिद्धि के उक्त कथन के साथ स्पष्ट विरोध आता है, क्योंकि उन ग्रन्थों के उक्त कथन में सामान्य योग्यता का निर्देश करते हुए मात्र इतना ही कहा गया है कि अर्धपुद्‌गलपरिवर्तन प्रमाण काल के शेष रहने पर संसारी जीव प्रथम सम्यक्त्व के ग्रहण के योग्य होता है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव अर्धपुद्‌गलपरिवर्तन प्रमाण काल के शेष रहने पर नियम से प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है, यह नहीं कहा गया है। अत: उक्त कथन को नियम वचन न जान कर मात्र सम्यक्त्व को प्राप्त करने की योग्यता, मोक्ष जाने के लिए संसार में कितना काल शेष रह जाने पर, प्राप्त हो जाती है, इस प्रकार योग्यता का सूचक वचन जानना चाहिए।

(ख) दूसरे कोई जीव सम्यक्त्व गुण के कारण अर्धपुद्‌गलपरिवर्तन प्रमाण काल में और भी कमी कर लेते हैं और कोई जीव नहीं कर पाते, यदि ऐसा माना जाये तो पृथक्-पृथक् जीवों की अपेक्षा सम्यक्त्व गुण की पृथक्-पृथक् सामर्थ्य मानने का प्रसंग उपस्थित होता है, जो युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर जो विविध आपत्तियाँ उपस्थित होती हैं उनसे अपर पक्ष अपने कथन की रक्षा नहीं कर सकता। यथा-३ ऐसे जीव लीजिए, जिन्होंने एक साथ प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न किया है। उनमें से अन्तर्मुहूर्त बाद एक जीव वेदक सम्यग्दृष्टि बनता है, दूसरा मिश्र गुणस्थान में जाता है और तीसरा मिथ्यादृष्टि हो जाता है। सो क्यों? मालूम पड़ता है कि अपर पक्ष ने इस तथ्य पर अणुमात्र भी विचार नहीं किया। जबकि इन तीनों जीवों ने एक साथ सम्यक्त्व उत्पन्न किया है और वे तीनों ही जीव अनन्त संसार का उच्छेद कर सम्यक्त्व गुण के कारण उसे अर्धपुद्‌गलपरिवर्तन प्रमाण कर लेते हैं। ऐसी अवस्था में वे उसी सम्यक्त्व गुण के कारण ऐसी सामर्थ्य क्यों नहीं उत्पन्न कर पाते जिससे उन्हें पुन: मिथ्या दृष्टि या मिश्र गुणस्थानवाला बनने का प्रसंग ही उपस्थित न हो। अपर पक्ष इन जीवों

की सम्यक्त्व गुण सम्बन्धी हीनाधिकता को तो इसका कारण कह नहीं सकता और न ही मिथ्यात्वादि द्रव्यकर्मों की बलवत्ता को इसका कारण कह सकता है, क्योंकि इन जीवों में सम्यक्त्व गुण की हीनाधिकता मानने पर अपर पक्ष का यह कथन कि वे जीव सम्यक्त्व गुण के कारण अनन्त संसार का उच्छेद कर समान रूप से अर्धपुद्गलपरिवर्तन प्रमाण कर लेते हैं, कोई मायने नहीं रखता। अनन्त संसार का उच्छेद करने की सम्यक्त्व गुण की सामर्थ्य मानी जाये और संसार की जड़ मिथ्यात्व के समूल नाश करने की सामर्थ्य न मानी जाये, इसे भला कौन बुद्धिमान स्वीकार करेगा।

(ग) तीसरे धवला पु. ४ पृ. ३३५ में यह वचन आया है कि—

सम्मत्तगुणेण पुव्विल्लो अपरित्तो संसारो ओहट्टिदूण परित्तो पोग्गलपरियट्टस्स अद्धमेत्तो होदूण उक्कस्सेण चिट्ठदि।

सम्यक्त्वगुण के कारण पहले के अपरीत संसार का उच्छेदकर परीत पुद्गलपरिवर्तन का अर्धमात्र होकर उत्कृष्टरूप से ठहरता है।

धवला पु. ५ में यह वचन भी आया है कि—

अणंतो संसारो छिण्णो अद्धपुग्गलपरियट्टमेत्तो कदो।

अनन्त संसार का छेद हुआ, अर्धपुद्गलपरिवर्तन प्रमाण किया।

इस प्रकार अपर पक्ष ने अपने पक्ष के समर्थन में समझकर धवला के ये दो वचन उद्धृत किये हैं, अब विचार यह करना है कि धवला के उक्त कथनों का आशय क्या है? इन उल्लेखों में से प्रथम में 'पहले के अपरीत संसार का नाशकर उत्कृष्ट रूप से सम्यक्त्वगुण के कारण अर्धपुद्गलपरिवर्तनप्रमाण परीत संसार कर लेने की' बात कही गई है। तथा दूसरे उल्लेख में 'सम्यक्त्वगुण के कारण अनन्त संसार का छेदकर अर्धपुद्गलपरिवर्तन प्रमाण काल कर लेने की' बात कही गई है। किन्तु इन उल्लेखों से यह ज्ञात नहीं होता कि यहाँ 'अपरीत' और 'अनन्त' शब्द का क्या आशय है? और सम्यक्त्व गुण के द्वारा यदि अपरीत या अनन्त संसार का उच्छेद होता है तो जो परीत संसार शेष रहता है, उसका क्या आशय है? वह अधिक से अधिक अर्धपुद्गलपरिवर्तन प्रमाण या कम से कम अन्तर्मुहूर्तप्रमाण शेष रहता है, मात्र इतना ही उसका आशय है या ये 'अपरीत, परीत और अनन्त' शब्द नयवचन होने से किसी दूसरे अभिप्राय को सूचित करते हैं? प्रश्न मार्मिक है, अतएव आगम के प्रकाश में

इन पर विचार करना होगा। आईए, इन शब्दों में निहित तथ्यों पर विचार करें—

मूलाचार अधिकार २ में मरणकाल में सम्यक्त्व की विराधनाकर जो जीव मरण करते हैं, उनको ध्यान में रखकर विचार करते हुए आचार्य लिखते है—

मरणे विराहिए देवदुग्गई दुल्लहा य किर बोही।
संसारो य अणंतो होइ पुण आगमे काले॥६१॥

मरण के समय सम्यक्त्व की विराधना करने पर देवदुर्गति तक का प्राप्त करना दुर्लभ है, बोधिरत्नत्रय का प्राप्त करना तो दुर्लभ है ही। जीव का संसार **अनन्त** होता है॥६१॥

यहाँ '**अनन्त**' पद का अर्थ करते हुए टीका में लिखा है—

अणंतो अनन्तः अर्धपुद्गलप्रमाणः कृतोऽस्यानन्तत्वम् केवलज्ञानविषयत्वात्।

अनन्त का अर्थ है अर्धपुद्गलपरिवर्तन प्रमाण।

शंका - यह काल अनन्त कैसे है?

समाधान - केवलज्ञान का विषय होने से काल को अनन्त कहा है।

यह आगमप्रमाण है। इससे विदित होता है कि जहाँ भी आगम में 'सम्यक्त्वगुण के कारण अनन्त संसार का छेद किया।' यह वचन आया है, वहाँ उसका यही आशय है कि 'सम्यक्त्वगुण के प्राप्त होने पर ऐसे जीव का संसार में रहने का जो उत्कृष्ट काल अर्धपुद्गल-परिवर्तन प्रमाण शेष रहा था, वह घटने तो अवश्य लगता है, किन्तु ऐसा जीव नियम से पुनः मिथ्यादृष्टि हो जाता है, अतः वह पुनः अनन्त संसारी कहलाने लगता है। यद्यपि ऐसा जीव अधिक से अधिक कुछ कम अर्धपुद्गलपरिवर्तन प्रमाण काल तक ही मिथ्यादृष्टि बना रहता है, पर वह कहलाता है, अनन्त संसारी ही। इससे यह तात्पर्य फलित हुआ कि **मिथ्यादृष्टि की अनन्त संसारी संज्ञा है और सम्यग्दृष्टि को इसके विपरीत सान्त संसारी कहते हैं।**' श्री धवल जी में आचार्य वीरसेन ने जो 'सम्मत्तगुणेण अणंतसंसारो छिण्णो' यह वचन दिया है, उसका भी यही आशय है। उस वचन का फलितार्थ यह है **कि सम्यक्त्व गुण के कारण इस जीव ने अनन्त संसार अर्थात् मिथ्यात्व का नाश किया। अन्यथा जो सम्यग्दृष्टि अपनी संक्लेश की बहुलतावश पुनः मिथ्यादृष्टि हो जाता है, उसे अनन्त संसारी कहना नहीं बन सकता।**

इस प्रकार प्रकृत में 'सम्यक्त्व गुण के कारण अनन्त संसार का छेद किया' धवला के इस वचन का क्या आशय है, यह स्पष्ट किया। आगे इसी प्रसंग से जो 'परीत' और 'अपरीत'

शब्दों का प्रयोग हुआ है, इनका क्या आशय है इसका स्पष्टीकरण करते हैं—

मूलाचार अ. २ गा. ७२ की टीका में 'परीत' शब्द के अर्थ पर प्रकाश डालते हुए संस्कृत टीकाकार लिखते है—

ते होंति-ते भवन्ति, परित्तसंसारा-परीतः परित्यक्तः परिमितो वा संसारः चतुर्गतिगमनं येषां यैर्वा ते परीतसंसारः परित्यक्त संसृत्यो वा।

वे परीत संसारी होते हैं अर्थात् जिनका संसार अर्थात् चतुर्गतिगमन परीत अर्थात् परित्यक्त या परिमित हो जाता है, वे परीतसंसारी या परित्यक्त्संसारी हैं।

इससे विदित होता है कि **सम्यग्दृष्टि की परित्यक्त संसारी और मिथ्यादृष्टि की अपरित्यक्त संसारी संज्ञा मुख्यरूप से है, जो उचित ही है, क्योंकि मुख्यता से मिथ्यात्व का नाम ही संसार है और मिथ्यात्व का दूर होना ही संसार का त्याग है।** पण्डितप्रवर बनारसीदासजी ने नाटक समयसार में सम्यदृष्टि को जिनेश्वर का लघुनन्दन इसी अभिप्राय से सूचित किया है। विचार कर देखा जाये तो **मिथ्यात्व का उच्छेद हो ना ही संसार का उच्छेद है।** आचार्य कुन्दकुन्द ने सम्यग्दर्शन को धर्म का मूल इसी आशय से कहा है। मिथ्यात्वरूपी महामल्ल के परास्त करने पर अन्य कषायादि का उच्छेद करना दुर्लभ नहीं है, यह उक्त कथन का आशय है। अतएव प्रकृत में धवला के '**अपरित्तो संसारो ओहट्टिदूण**' पद का अर्थ पूर्वोक्त प्रमाण करना ही उचित है।

धवला के उक्त उल्लेख में सम्यक्त्व गुण के कारण अनन्त या अपरीत संसार का नाशकर उससे उत्कृष्ट रूप से परीत अर्थात् अर्धपुद्गलपरिवर्तन प्रमाण किया, यह कहा है। सो इस उल्लेख पर से उक्त काल तक संसार को बनाये रखना सम्यक्त्व का कार्य नहीं समझना चाहिए। फिर भी उक्त उल्लेख में जो उत्कृष्ट रूप से अर्धपुद्गलपरिवर्तन प्रमाण किया' यह कहा गया है, वह मात्र इस तथ्य को सूचित करता है कि ऐसे जीव का उत्कृष्ट काल इतना शेष रहता है, तभी समग्र आगम की संगति बैठ सकती है। सम्यक्त्वगुण संसार के उच्छेद में हेतु है, संसार के बनाये रखने में नहीं। **सम्यक्त्व के प्राप्त होने पर किसी का कम और किसी का अधिक जो संसार बना रहता है, उसके अन्तरंग-बहिरंग हेतु अन्य है। उनमें प्रमुख हेतु काल लब्धि है। सब कार्यों की अपनी-अपनी काल लब्धि होती हैं। इसके अनुसार अपने-अपने काल में सब कार्य होकर आगे के कार्यों के लिए वे यथायोग्य हेतु संज्ञा को प्राप्त होते रहते हैं। जगत् का क्रम इसी पद्धति से चल रहा है और चलता रहेगा।**

धवला पु. ६ पृ. २०५ में सम्यक्त्व के प्रसंग से यह प्रश्न उठाया गया है कि सूत्र में मात्र काललब्धि कही है। उसमें इन लब्धियों का सम्भव कैसे है ? इसका समाधान करते हुए **वीरसेन आचार्य लिखते हैं कि सूत्र में जो प्रति समय अनन्त गुणहीन अनुभाग उदीरणा, अनन्त गुणक्रम से वर्धमान विशुद्धि और आचार्य के उपदेश की प्राप्ति कही है, वह सब उसी काललब्धि के होने पर ही सम्भव है।** इससे स्पष्ट है कि सब कार्य अपनी-अपनी काललब्धि के प्राप्त होने पर ही होते हैं। किसी अनादि मिथ्यादृष्टि को प्रथम सम्यक्त्व अर्धपुद्गलपरिवर्तन प्रमाण काल के शेष रहने पर होता है, किसी को इसमें एक समय, दो समय, तीन समय आदि संख्यात समय, असंख्यात समय काल कम होकर प्रथम सम्यक्त्व होता है उसका प्रमुख कारण काललब्धि ही है, अतः सम्यक्त्वोत्पत्ति का काल नियत नहीं है—ऐसा लिखकर प्रत्येक कार्य की काललब्धि की अवहेलना करना उचित नहीं है। **सब जीवों का विवक्षित एक कार्य एक काल में न हो यह दूसरी बात है, परन्तु प्रत्येक जीव का प्रत्येक कार्य अपने-अपने नियत काल में ही होता है, यह सुनिश्चित है। काललब्धि का ऐसा ही माहात्म्य है, धवला पु. ६ पृ. २०५ का** वह उल्लेख इस प्रकार है—

सुत्ते काललद्धी चेव परूविदा, तम्हि एदासिं लद्धीणं कधं सम्भवो ? ण, पडिसमय-मणंतगुण अणुभागुदीरणाए अणंतगुणकमेण वड्ढमाणविसोहीए आइरियोवदेसलंभस्स य तत्थेव संभवादो।

आशय पूर्व में दिया ही है।

५. अपरपक्ष ने पंचास्तिकाय गाथा २० की आचार्य जयसेनकृत टीका का एक वाक्यांश उद्धृत कर अपने पक्ष का समर्थन करना चाहा है, किन्तु वह इसलिए ठीक नहीं, क्योंकि आचार्य जयसेन ने वेणु (वाँस) दण्ड को उदाहरणरूप में उपस्थित कर उसके पूर्वार्ध भाग को ही विचित्र-चित्ररूप बतलाया है। उसके उत्तरार्ध को तो वे विचित्र-चित्रपने का अभाव होने से शुद्ध ही सूचित कर रहे हैं। स्पष्ट है कि इस उदाहरण से तो यही सिद्ध होता है कि इस जीवकी जितनी सुनिश्चित संसार अवस्था है, वह प्रतिनियत नानारूप है, मुक्त अवस्था नहीं। उनके उस कथन का प्रारम्भिक अंश इस प्रकार है—

यथैको महान् वेणुदण्डः पूर्वार्धभागे विचित्रचित्रेण खचितः शबलितो मिश्रितः तिष्ठति। तस्मादूर्ध्वार्धभागे विचित्र चित्रा भावाच्छुद्ध एव तिष्ठति। तत्र यदा कोऽपि देवदत्तो दृष्टावलोकनं करोति तदा भ्रान्तिज्ञानवशेन विचित्रचित्रवशादशुद्धत्वं ज्ञात्वा तस्मादुत्तरार्धभागेऽप्यशुद्धत्वं मन्यते। आदि,

जिस प्रकार एक बहुत बड़ा वेणुदण्ड पूर्वार्धभाग में विचित्र-चित्र रूप से खचित होकर शवलित मिश्रित स्थित है। परन्तु उससे ऊपर के अर्धभाग में विचित्र-चित्र का अभाव होने से शुद्ध ही स्थित है। उस पर जब कोई देवदत्त दृष्टि डालता है, तब भ्रान्तिज्ञान के कारण विचित्र-चित्रवश अशुद्धता को जानकर उससे उत्तरार्धभाग में वह अशुद्धता मानता है। आदि।

यह आचार्य जयसेन की टीका का कुछ अंश है। आचार्य अमृतचन्द्र ने भी एक बड़े भारी वेणुदण्ड को उदाहरणरूप में उपस्थित कर इस विषय को समझाया है। विद्वान् पाठक इन दोनों टीका वचनों को सावधानी पूर्वक अवलोकन कर लें। इस उदाहरण से तथ्य फलित होते हैं—

१. द्रव्यार्थिक दृष्टि से देखने पर पूरा वेणुदण्ड शुद्ध ही है।

२. पर्यायार्थिक दृष्टि से देखने पर वेणुदण्ड का प्रारम्भ का कुछ भाग अशुद्ध है, शेष बहुभाग शुद्ध है।

३. वेणुदण्ड में **पर्याय दृष्टि से** अशुद्धता वहीं तक प्राप्त होती है, जहाँ तक वह अशुद्ध है। उसके बाद नियम से **पर्यायदृष्टि से** शुद्धता प्रगट हो जाती है।

यह उदाहरण है। इसे भव्य जीव पर लागू करने पर विदित होता है कि यह जीव द्रव्यदृष्टि से सदा शुद्ध है। पर्यायदृष्टि से अशुद्धता नियत काल तक ही है। उसके व्यतीत होने पर वह पर्याय में भी शुद्ध ही है।

इससे स्पष्ट है कि सभी कार्य अपने-अपने स्वकाल के प्राप्त होने पर ही होते हैं। आगम में जो कार्य-कारणभाव का निर्देश किया है, वह केवल यह बतलाने के लिए ही किया है कि प्रत्येक कार्य स्वकाल में होकर भी किस क्रम से होते हैं। कार्य-कारणभाव मात्र इसी नियम को सूचित करता है। कोई भी कार्य अपने स्वकाल को छोड़कर कभी भी किया जा सकता है, इस नियम को नहीं।

13. प्रतिनियत कार्य प्रतिनयत काल में ही होता है।

अपरपक्ष ने परीक्षामुख अ. १ के कुछ सूत्र और उनका अर्थ देकर यह लिखा है कि 'जिस प्रकार घट-पट आदि की ओर उपयोग ले जाकर जानने का कोई नियत काल नहीं है, उसी प्रकार स्वोन्मुख होकर स्व को जानने का भी कोई नियत काल नहीं है, क्योंकि सर्व कार्यों का नियामक कोई नियत काल नहीं है, किन्तु बाह्य-आभ्यन्तर समर्थ कारण सामग्री कार्य की नियामक है।' आदि

समाधान यह है कि **उस बाह्य-आभ्यन्तर प्रतिनियत सामग्री में प्रतिनियत काल भी सम्मिलित है।** इससे सिद्ध होता है कि प्रतिनियत काल में ही प्रतिनियत सामग्री की उपलब्धि होती है और उसे निमित्त कर प्रतिनियत कार्य की ही उत्पत्ति होती है। **कोई किसी की प्रतीक्षा नहीं करता। अपने-अपने काल में प्रतिनियत सामग्री प्राप्त होती है। अन्य सामग्री के काल में वह प्राप्त हो भी नहीं सकती, क्योंकि वह अन्य सामग्री के प्राप्त होने का स्वकाल है।** यदि अन्य सामग्री के काल में उससे जुदी दूसरी सामग्री प्राप्त होने लगे तो किसी भी सामग्री को प्राप्त होने का अवसर न मिल सकने से कारण रूप बाह्याभ्यन्तर सामग्री का अभाव हो जायेगा और उसका अभाव होने से किसी भी कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। परिणामस्वरूप उत्पाद-व्यय का अभाव होने से द्रव्य का ही अभाव हो जायेगा। यत: द्रव्य का अभाव न हो, अत: प्रतिनियत काल में प्रतिनियत बाह्याभ्यन्तर सामग्री के साथ प्रतिनियत पुरुषार्थ को स्वीकार कर लेना चाहिए। इससे सिद्ध होता है कि **प्रतिनियत काल में प्रतिनियत बाह्याभ्यन्तर सामग्री प्राप्त होकर उससे प्रतिनियत कार्य की ही उत्पत्ति हुआ करती है।** भट्टाकलंकदेव ने तत्त्वार्थवार्तिक १। ३ में '**यदि हि**' इत्यादि वचन सब कार्यों का मात्र एक काल ही कारण है इस एकान्त का निषेध करने के लिए ही कहा है। प्रतिनियत कार्य का प्रतिनियत काल निमित्त है—ऐसा होने से पुरुषार्थ की हानि हो जाती है, ऐसा उनका कहना नहीं है। **अतएव प्रतिनियत कार्य की प्रतिनियत बाह्य-आभ्यन्तर सामग्री में जैसे प्रतिनियत अन्य सामग्री का समावेश है, उसी प्रकार उसमें प्रतिनियत काल और प्रतिनियत पुरुषार्थ का भी समावेश है - ऐसा यहाँ समझना चाहिए।** प्रमादी बनकर ऐशो-आराम में वे ही मस्त रहते हैं, जिनकी सम्यक्त्वोत्पत्ति की प्रतिनियत काललब्धि नहीं आई, अतएव मोक्षमार्ग के अनुरूप पुरुषार्थ न कर विपरीत दिशा में किये गये पुरुषार्थ को मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ मानते हैं। वे नहीं जिनकी सम्यक्त्वोत्पत्ति की काललब्धि आ गई है, अतएव उसके अनुरूप पुरुषार्थ में लगे हुए हैं।

इस प्रकार सम्यक्त्व प्राप्ति के उत्कृष्ट काल का विचार करते हुए प्रस्तुत प्रतिशंका में आई हुई अन्य बातों का भी विचार किया।

14. प्रकृत में विवक्षित आलम्बन के ग्रहण-त्याग का तात्पर्य

आगे अपर पक्ष ने हमारे 'श्रावक के उत्कृष्ट विशुद्धरूप परिणामों का आलम्बन छोड़ सर्व प्रथम अप्रमत्तभाव को प्राप्त होता है' इस वाक्य पर कड़ी टीका करते हुए लिखा है—'करणानुयोग के विशेषज्ञ को भली-भाँति ज्ञात है कि सप्तम गुणस्थान में प्रत्याख्यान कषायोदय

का अभाव होने से श्रावक के पंचम गुणस्थान की अपेक्षा' अप्रमत्तसंयत गुणस्थान वाले मुनि के परिणामों की विशुद्धता अनन्त गुणी है अर्थात् श्रावण की उत्कृष्ट विशुद्धता अप्रमत्तसंयत की विशुद्धता में लीन हो जाती है। आदि,

समाधान यह है कि हम अपने को करणानुयोग का विशेषज्ञ तो नहीं मानते, किन्तु उसका अभ्यासी अवश्य मानते हैं। हमने जो पूर्वोक्त वचन लिखा है, वह उसके अभ्यास को ध्यान में रखकर ही लिखा है और यथार्थ लिखा है।

उस वाक्य में श्रावक के उत्कृष्ट विशुद्धरूप परिणामों का आलम्बन छोड़ने की बात कही गई है। वे परिणाम सप्तम गुणस्थान के परिणामों में लीन हो जाते हैं या उनका व्यय होकर अनन्त गुणी विशुद्धि को लिए हुए नये परिणामों का उत्पाद होता है, यह कुछ भी नही कहा गया है। **जो जीव पाँचवें गुणस्थान से सातवें गुणस्थान को प्राप्त होता है, वह नियम से साकार उपयोग वाला होता है, अतएव ऐसे जीव के अपने उपयोग में पंचम गुणस्थान के विशुद्ध परिणामों से परिणत आत्मा का आलम्बन छूट कर नियम से सातवें गुणस्थान के विशुद्ध परिणामों से परिणत आत्मा का आलम्बन रहता है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।** स्पष्ट है कि प्रकृत में हमारे उक्त वाक्य को ध्यान में रखकर अपर पक्ष ने जो कुछ भी लिखा है, वह युक्ति युक्त नहीं है। अपर पक्ष का कहना है कि 'विशुद्धता छोड़ी नहीं जाती किन्तु प्रति प्रति गुणस्थान बढ़ती जाती है।' आदि। इस सम्बन्ध में हम अधिक टीका-टिप्पणी किये बिना अपर पक्ष का ध्यान उत्पाद-व्यय के सिद्धान्त की ओर आकर्षित कर देना चाहते हैं। इससे उस पक्ष के ध्यान में यह बात भली-भाँति आ जायेगी कि ६३ पुटवाली चरपराई का व्यय होकर, द्रव्य में जो शक्तिरूप में ६४ पुटवाली चरपराई पड़ी है, उसका पर्यायरूप से उत्पाद होता है। तात्पर्य यह है कि पूर्व पर्याय का व्यय होकर ही नवीन पर्याय होती है। पिछली पर्यायें अगली पर्यायों में विलीन होकर उनका समुदाय नहीं बना करती।

15. व्यवहार धर्म का खुलासा

हमने लिखा था कि 'निश्चय धर्म के साथ गुणस्थान परिपाटी के अनुसार जो देव, शास्त्र, गुरु, अहिंसादि अणुव्रत और महाव्रत आदि रूप शुभविकल्प होता है जो कि रागपर्याय है, उसको यहाँ व्यवहार धर्म कहा गया है।' अपर पक्ष इस वाक्य में से 'अहिंसा आदि अणुव्रत' इत्यादि वाक्य को सामायिक और छेदोपस्थापना संयम के विरुद्ध मानता है, किन्तु उसकी यह मान्यता ठीक नहीं है, क्योंकि अहिंसादि पाँच महाव्रतों का सराग संयम में

अन्तर्भाव होता है और सराग संयम में अशुभ से निवृत्ति तथा शुभ में प्रवृत्ति की मुख्यता है। सरागसंयम का लक्षण करते हुए सर्वार्थसिद्धि अ. ६ सू. १२ में लिखा है—

संसारकारणविनिवृत्तिं प्रत्यागूऽर्णोऽक्षीणाशयः सराग इत्युच्यते। प्राणीन्द्रियेष्वशुभ-प्रवृत्तेर्विरतिः संयमः। सरागस्य संयमः सरागो वा संयमः सरागसंयमः।

जो संसार के कारणों की निवृत्ति के प्रति उद्यत है, परन्तु जिसकी कषाय अभी क्षीण नहीं हुई है, वह सराग कहलाता है। प्राणी और इन्द्रियों के विषय में अशुभप्रवृत्ति से विरति होना संयम है। रागी जीव का संयम या राग सहित संयम सरागसंयम है।

तत्त्वार्थवार्तिक और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में सरागसंयम का यही अर्थ किया है। इससे स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्र अ.७, सू.१ में व्रत का जो लक्षण किया गया है, वह उक्त अभिप्राय को ध्यान में रखकर ही किया गया है। **व्रत में जहाँ अशुभ से निवृत्ति इष्ट होती है, वहाँ शुभ में प्रवृत्ति हुए बिना नहीं रहती। परन्तु संवर का स्वरूप इससे सर्वथा भिन्न है। वह शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के परिणामों के निरोधस्वरूप स्वीकार किया गया है।** कहा भी है—

सः संवरो भावसंवरः शुभाशुभपरिणाम निरोधः।

- अनगारधर्मामृत, अ. २, श्लोक ४१

यही कारण है कि हमने अपने पूर्वोक्त कथन में अहिंसादि अणुव्रत और महाव्रत आदि को रागरूप बतलाकर उनकी परिगणना व्यवहारधर्म में की है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए सर्वार्थसिद्धि ७-१ में लिखा है—

तत्र अहिंसाव्रतमादौ क्रियते, प्रधानत्वात्। सत्यादीनि ही तत्परिपालनार्थानि सस्यस्य वृत्तिपरिक्षेपवत्। सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षण सामायिकापेक्षया एकं व्रतम्। तदेव छेदोपस्थापनापेक्षया पञ्चविधमिहोच्यते। ननु च अस्य व्रतस्यास्त्रवहेतुत्वमनुपपन्नम्, संवरहेतुष्वन्तर्भावात्। संवरहेतवो वक्ष्यन्ते गुप्तिसमित्यादयः। तत्र दशविधे धर्मे संयमे वा व्रतानामन्तर्भाव इति? नैव दोषः, तत्र संवरो निवृत्तिलक्षणो वक्ष्यते। प्रवृत्तिश्चात्र दृश्यते, हिंसानृतादत्तादानादिपरित्यागे अहिंसासत्यदत्तादानादिक्रियाप्रतीतेः गुप्त्यादिसंवर-परिकर्मत्वाच्च। व्रतेषु हि कृतपरिकर्मा साधुः सुखेन संवरं करोतीति ततः पृथक्त्वेनोपदेशः कृतः।

यहाँ अहिंसाव्रत को आदि में रखा है, क्योंकि वह प्रधान है। धान्य की बाड़ी के समान ये सत्यादिक व्रत उसके परिपालन के लिए है।

सर्व सावद्य से निवृत्तिलक्षण सामायिक की अपेक्षा एक व्रत है। वही छेदोपस्थापना की अपेक्षा पाँच प्रकार का है। वही यहाँ कहा है।

शंका - इस व्रत की आस्रव हेतुता नहीं बनती, क्योंकि संवर के हेतुओं में इसका अन्तर्भाव होता है। गुप्ति, समिति आदि संवर के हेतु कहेंगे। वहाँ दश प्रकार के धर्म में अथवा संयम में व्रतों का अन्तर्भाव होता है ?

समाधान - यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि वहाँ निवृत्ति लक्षण संवर कहेंगे और यहाँ प्रवृत्ति देखी जाती है, क्योंकि हिंसा, असत्य और अदत्तादान आदि का त्याग होने पर अहिंसा, सत्यवचन और दत्तादान आदि रूप क्रिया प्रतीत होती है तथा ये अहिंसा आदि गुप्त्यादिरूप संवर के परिकर्मस्वरूप हैं। व्रतों में जिसने परिकर्म किया है, ऐसा साधु सुख पूर्वक संवर करता है, इसलिए इनका पृथक् से उपदेश दिया है।

तत्त्वार्थवार्तिक ६-१ में लिखा है—

न संवरो व्रतानि परिस्पंददर्शनात्॥१३॥ व्रतानि संवरव्यपदेशं नार्हन्ति। कुतः? परिस्पन्ददर्शनात्। परिस्पन्दो हि दृश्यते, अनृतादत्तादानपरित्यागे सत्यवचनदत्तादानक्रिया प्रतीतेः।

व्रत, संवर नहीं है, क्योंकि परिस्पन्द देखा जाता है॥१३॥ व्रत, संवर व्यपदेश के योग्य नहीं है, क्योंकि परिस्पन्द देखा जाता है। परिस्पन्द नियम से देखा जाता है, क्योंकि अनृत और अदत्तादान का त्याग होने पर सत्यवचन और दत्तादान क्रिया की प्रतीति होती है।

ये आगम प्रमाण हैं। इनसे भी अपरपक्ष के अभिप्राय की पुष्टि न होकर हमारे ही अभिप्राय की पुष्टि होती है। यतः प्रकृत में व्रत आस्रवरूप लिए गये हैं, अतः सामायिक और छेदोपस्थापना भी उक्त रूप होने में बाधा नहीं आती। हाँ, जहाँ संवर के प्रकरण में इन्हें स्वीकार किया गया है, वहाँ अवश्य ही—ये सब परम वीतरागचारित्रस्वरूप प्राप्त होते हैं।

तत्त्वार्थसूत्र १।१ में जिस मोक्षमार्ग का निर्देश है, वह निश्चय रत्नत्रयस्वरूप आत्मधर्म है। उसे उपस्थित कर सरागचारित्र या सरागसंयम को वीतराग चारित्र या वीतराग संयम सिद्ध करना उचित नहीं है। तत्त्वार्थसूत्र ९।२ तथा ९।१८ में संवररूप गुप्ति आदि का तथा सामायिक संयम आदि का निर्देश है, शुभप्रवृत्तिरूप व्रतादि तथा सामायिक आदि का निर्देश नहीं है। आस्रवरूप व्रतादि में तथा संवररूप गुप्ति आदि में बड़ा अन्तर है। अपर पक्ष इन दोनों को

मिला कर भ्रम में रखने का प्रयत्न कैसे कर रहा है, इसका हमें ही क्या सभी को आश्चर्य होगा। **जिसे शुभप्रवृत्तिरूप व्यवहारधर्म कहा है वह निश्चयधर्म में अनुराग का हेतु है, इसलिए वह पुण्यबन्धस्वरूप होकर भी धर्मरूप से उपचरित किया जाता है।** यहाँ उपचार का निमित्त एकार्थसम्बन्धीपना है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए अनगारधर्मामृत अ. १, श्लो. २३ की व्याख्या में कहा है—

यथोक्तधर्मानुरागहेतुकोऽपि पुण्यबन्धो धर्म इत्युपचर्यते। निमित्तं चात्रोपचारस्यैकार्थ-सम्बन्धित्वम्।

इससे सिद्ध है कि अशुभ की निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति रूप जो व्रत है, वह शुभ विकल्परूप होने से रागपरिणाम ही है। उसे संवररूप वे ही कह सकते हैं, जिन्हें मात्र बाह्य क्रिया में धर्म सर्वस्व दिखलाई देता है। किन्तु जो निश्चयस्वरूप आत्मधर्म के पारखी हैं वे तो इसे स्वीकार करते ही नहीं। उनकी इस विपरीत मान्यता को तो आगम भी स्वीकार नहीं करता। **आगम तो यही कहता है कि जिसे निश्चयधर्म की प्राप्ति हुई है, उसके ही समीचीन व्यवहार धर्म होता है। ऐसे धर्मात्मा पुरुषों का सानिध्य होने पर भला कौन ऐसा ज्ञानी होगा, जो उनके प्रति पद के अनुरूप वन्दना आदि नहीं करेगा।** हाँ, जो आचार शास्त्र के अनुसार यथापदवी व्यवहारधर्म का पालन करें नहीं, प्रत्यक्ष ही जिनमें नाना विसंगतियाँ दिखलाई दें, फिर भी उन्हें चारित्रवान् कहा जाये, इसे तो हम मोक्षमार्ग का ही उपहास मानेंगे। हमारा किसी के प्रति विरोध नहीं है और न हम यह ही चाहते हैं कि मोक्षमार्ग में किसी प्रकार का अवरोध उत्पन्न हो। परन्तु हम इतना अवश्य जानते हैं कि आज-कल कल्पित की जा रहीं विपरीत मान्यताओं के आधार पर यदि शिथिलाचार को प्रोत्साहन दिया गया तो फिर समीचीन मोक्षमार्ग की रक्षा करना अतिदुष्कर हो जायेगा।

अपर पक्ष ने लिखा है कि 'अथवा यह कह देते हैं कि हमारी क्रमबद्धपर्यायों में व्रत धारण करना पड़ा हुआ ही नहीं हैं, पर्याय आगे पीछे हो नहीं सकती फिर हम पापों का कैसे त्याग कर सकते हैं?'

समाधान यह है कि जिसका क्रमबद्धपर्याय में विश्वास है, जो यह विश्वास करता है कि पर्याय आगे-पीछे नहीं हो सकती या नहीं की जा सकती तथा जिसे सर्वज्ञता में विश्वास है, वह अभिप्राय में कुछ हो और बाहर कुछ करे - ऐसा नहीं हो सकता। वास्तव में देखा जाये तो वह निकट संसारी है, वह शीघ्र ही निश्चय धर्म के अनुरूप व्रतों को धारण

कर मोक्ष का पात्र बनेगा। वह 'सर्वज्ञने हमारी पर्याय में व्रत देखे ही नहीं' ऐसा त्रिकाल में नहीं कह सकता। वह जब जिस पदवी में होगा उस पदवी के अनुरूप बाह्य शुभाचार का नियम से पालन करेगा। पाप रूप प्रवृत्ति करने की उसकी स्वभाव रुचि नहीं होगी।

16. साध्य-साधन विचार

अपर पक्ष का कहना है कि 'यदि व्रतों को राग माना जायेगा तो वे व्यवहार धर्म ही नहीं हो सकते, क्योंकि व्यवहार धर्म तो निश्चयधर्म का साधन है।'

समाधान यह है कि आचार्यों ने संवर को शुभ-अशुभ की निवृत्तिस्वरूप कहा है और व्रत, शुभ में प्रवृत्तिरूप है, इसलिए उन्हें प्रशस्त रागरूप मानना ही उचित है, विशेष स्पष्टीकरण अन्यत्र किया ही है।

अब रह गया साधन-साध्य भाव का विचार सो इसका निर्देश आचार्यों ने परमागम में तीन प्रकार से किया है- निश्चयनय से, सद्भूतव्यवहारनय और असद्भूतव्यवहारनय से। निश्चयनय से सम्यग्दर्शनादिरूप परिणत आत्मा ही साधन है और वही साध्य है। सद्भूतव्यवहारनय से निश्चय सम्यग्दर्शन आदि एक-एक साधन है और आत्मा साध्य है। असद्भूतव्यवहारनय से शुभ प्रवृत्तिरूप व्यवहार धर्म साधन है और आत्मा साध्य है। यहाँ सर्वप्रथम व्रत, तप आदि रूप शुभप्रवृत्ति में धर्म का आरोपकर उसे व्यवहारधर्म कहा गया है और उसके बाद उसमें निश्चयधर्म के साधनपने का व्यवहार किया गया है।

यहाँ व्रतादिरूप शुभ प्रवृत्ति को जो धर्म कहा है, वह उपचार से ही कहा है। इससे सिद्ध होता है कि व्रत आदि निश्चय मोक्षमार्ग यथार्थ साधन नहीं हैं, सहचरसम्बन्ध आदि की अपेक्षा से ही इन्हें साधन कहा गया है। पण्डितप्रवर टोडरमल जी मोक्षमार्गप्रकाशक पृ. ३६७ में लिखते है—

बहुरि व्रत तप आदि मोक्षमार्ग हैं नहीं, निमित्तादिकी अपेक्षा उपचारतैं इनको मोक्षमार्ग कहिए है। तातैं इनकौ व्यवहार कह्या।

इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए वे वहीं पृ. ३७६ में लिखते हैं—

बहुरि नीचली दशा विषै केई जीवनिकै शुभोपयोग अर शुद्धोपयोग का युक्तपना पाईए है। तातैं उपचार करि व्रतादिक शुभोपयोगकौं मोक्षमार्ग कह्या है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय गाथा १६० में निश्चय मोक्षमार्ग के साथ अविनाभाव

रूप से होने वाले व्रतादि को उपचार से व्यवहार मोक्षमार्ग कहा है। वह निश्चय मोक्षमार्ग की सिद्धि का हेतु है, इसलिए इसकी टीका में आचार्यद्वय ने व्यवहार मोक्षमार्ग को साधन और निश्चय मोक्षमार्ग को साध्य कहा है। इस गाथा में मोक्षमार्ग का अनात्मभूत लक्षण कहा गया है, इसलिए वह मोक्षमार्ग कहलाया। अत: यह अनात्मभूत लक्षण होकर भी आत्मभूत यथार्थ मोक्षमार्ग की सिद्धि करता है। अत: **व्यवहार मोक्षमार्ग साधन और निश्चय मोक्षमार्ग साध्य—ऐसा व्यवहार करना उचित ही है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।**

गाथा १६१ में निश्चयनय से निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से समाहित आत्मा ही निश्चय मोक्षमार्ग कहा गया है। यह मोक्षमार्ग का आत्मभूत लक्षण है। इससे हम जानते हैं कि निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्‌चारित्र—इन तीनों में एक-एक को मोक्षमार्ग कहना सद्‌भूतव्यवहारनय का वक्तव्य है और धर्मादि द्रव्यों की श्रद्धा, अंग-पूर्वगत ज्ञान तथा अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति को मोक्षमार्ग कहना, यह असद्‌भूत-व्यवहारनय का वक्तव्य है। इन्हें असद्‌भूतव्यवहारनय से मोक्षमार्ग इसलिए कहा गया है कि इनमें यथार्थरूप में मोक्षमार्गपना तो नहीं है, परन्तु ये यथार्थ मोक्षमार्ग के अविनाभावी हैं, इसलिए इनमें एकार्थसम्बन्ध होने से मोक्षमार्ग का उपचार किया गया है। इस प्रकार इस गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने व्यवहार मोक्षमार्ग को साधन और निश्चय मोक्षमार्ग को साध्य क्यों कहा, इसका स्पष्टीकरण हो जाता है।

लोक में निश्चय मोक्षमार्ग को भी धर्म कहते हैं और व्यवहार मोक्षमार्ग को भी धर्म कहते हैं। परन्तु इन दोनों में अन्तर क्या है इसे समझने के लिए अनगारधर्मामृत अ. १, श्लोक २४ पर दृष्टिपात कीजिए। पण्डितप्रवर आशाधरजी इन दोनों में भेद को दिखलाते हुए लिखते हैं—

निरुन्धति नवं पापमुपात्तं क्षपयत्यपि।
धर्मेऽनुरागाद्यत्कर्म स धर्मोऽभ्युदयप्रदः॥२४॥

जो नये पाप का रोकता है और उपात्त पाप का क्षय भी करता है—ऐसे धर्म (निश्चय धर्म) में अनुराग से जो कर्म होता है, वह धर्म अभ्युदय को देने वाला है॥२४॥

यहाँ पर 'कर्म' शब्द द्रव्यबन्ध और उसके निमित्तभूत शुभ परिणति, इन दोनों का सूचक है।

यह प्रश्न था कि रत्नत्रयधारी मुनिवरों के देवायु आदि शुभ प्रकृतियों का बन्ध कैसे सिद्ध होता है ?

इसी प्रश्न को ध्यान में रखकर आचार्य अमृतचन्द्र उसका समाधान करते हुए पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में लिखते हैं—

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।
आस्त्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः ॥२२०॥

इस लोक में रत्नत्रय निर्वाण का ही हेतु है, अन्य का नहीं और जो पुण्य का आस्रव होता है, यह शुभोपयोग ही अपराध है ॥२२०॥

इसी तथ्य को और भी स्पष्ट करते हुए वे वहीं लिखते हैं—

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ॥२११॥

असमग्र रत्नत्रय को भाते हुए जीव के जो कर्मबन्ध होता है, वह नियम से विपक्ष (राग) का कार्य है, क्योंकि जो मोक्ष का उपाय है, वह बन्धन का उपाय नहीं हो सकता ॥२११॥

इस पर शंका होती है कि आगम में जो सम्यक्त्व और सम्यक्चारित्र को तीर्थंकर प्रकृति और आहारकद्विक प्रकृतियों के बन्ध का हेतु कहा है, वह कैसे बनेगा ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए वे वहीं लिखते हैं—

सति सम्यक्त्वचारित्रे तीर्थकराहारबन्धकौ भवतः।
योगकषायौ नासति तत्पुनरस्मिन्नुदासीनम् ॥२१८॥

सम्यक्त्व और चारित्र के होने पर योग और कषाय तीर्थंकर और आहारकद्वय इनके बन्धक होते हैं, सम्यक्त्व और चारित्र के अभाव में नहीं। (इसलिए उपचार से सम्यक्त्व और चारित्र को बन्ध का हेतु कहा है। (वस्तुतः देखा जाये तो) वे दोनों इस (बन्ध) में उदासीन हैं।

यदि कहा जाये कि जो जिस कार्य का हेतु नहीं उसे उसका उपचार से हेतु क्यों कहा गया है ? इसका समाधान करते हुए वे वहीं लिखते हैं—

एकस्मिन् समवायादत्यन्तविरुद्धकार्ययोरपि हि।
इह दहति घृतमिति यथा व्यवहारस्तादृशोऽपि रूढिमितः ॥२१९॥

एक में समवाय होने से अर्थात् एक आत्मा में (निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म का) समवाय होने से अत्यन्त विरुद्ध कार्यों का भी वैसा व्यवहार ऐसे रुढ़ि को प्राप्त हुआ है, जैसे घी जलाता है यह व्यवहार रूढ़ि को प्राप्त हुआ है॥२१९॥

ये कतिपय आगम प्रमाण हैं। इनसे यह स्पष्टरूप से समझ में आ जाता है कि **निश्चयधर्म बन्ध का वास्तविक हेतु न होने पर भी उसके सद्भाव में अमुक प्रकार का बन्ध होता है, यह देखकर जैसे उसे उस बन्ध का उपचार से हेतु कहा जाता है वैसे ही व्यवहारधर्म निश्चयरत्नत्रय का वास्तविक हेतु नहीं, फिर भी अमुक प्रकार के व्यवहारधर्म के सद्भाव में अमुक प्रकार का निश्चयधर्म होता है, यह देखकर उसे निश्चयधर्म का उपचार हेतु कहा गया है**। पंचास्तिकाय गाथा १६० व १६१ की टीका में इसी तथ्य को ध्यान में रखकर व्यवहार मोक्षमार्ग को साधन और निश्चय मोक्षमार्ग को साध्य कहा गया है।

अपरपक्ष का कहना है कि बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा १३ की टीका में यह कहा है कि 'जो निश्चय व व्यवहार को साध्य-साधनरूप से स्वीकार करता है, वह सम्यदृष्टि है।' किन्तु उक्त टीका में क्या कहा गया है यह यहाँ दे देना चाहते हैं। यथा—

स्वाभाविकानन्तज्ञानाद्यनन्तगुणाधारभूतं निजपरमात्मद्रव्यमुपादेयं इन्द्रियसुखादि-परद्रव्यं हि हेयमित्यर्हत्सर्वज्ञप्रणीतनिश्चयव्यवहारनयसाध्यसाधकभावेन मन्यते परं किन्तु भूमिरेखादिसदृशक्रोधादिद्वितीयकषायोदयेन मारणनिमित्तं तलवरगृहीततस्करवदात्म-निन्दासहितः सन्निन्द्रियसुखमनुभवतीत्यविरतसम्यग्दृष्टेर्लक्षणम्।

जो स्वाभाविक अनन्त ज्ञान आदि अनन्त गुणों का आधारभूत निज परमात्मद्रव्य उपादेय है तथा इन्द्रिय सुख आदि परद्रव्य त्याज्य है। इस तरह सर्वज्ञदेव प्रणीत निश्चय व व्यवहारनय को साध्य-साधक भाव से मानता है। परन्तु भूमि की रेखा के समान क्रोध आदि द्वितीय कषाय के उदय से मारने के लिए कोतवाल के द्वारा पकड़े गये चोर की भाँति आत्मनिन्दा सहित होकर इन्द्रिय सुख का अनुभव करता है, वह अविरतसम्यग्दृष्टि का लक्षण है।

यह वृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा १३ की टीका का वचन है, जिसके आधार से अपरपक्ष ने आगे-पीछे का सन्दर्भ छोड़कर पूर्वोक्त वाक्य की रचना की है। इसमें त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव आत्मा को निज द्रव्य बतलाकर उसमें सम्यग्दृष्टि के उपादेय बुद्धि होती है और इन्द्रिय सुखादि को परद्रव्य बतलाकर उसमें सम्यग्दृष्टि के हेयबुद्धि होती है। इस विधि से जो वह सम्यग्दृष्टि है, उसके लिए यहाँ ऐसा बतलाया गया है कि वह अर्हत्सर्वज्ञ प्रणीत निश्चय-व्यवहारनय को साध्य-साधक भाव से मानता है। इससे यह तथ्य फलित होता है—

१. सम्यग्दृष्टि ज्ञानादि अनन्त गुणों के आधार भूत निज परमात्मद्रव्य (त्रिकाल चिच्चमत्कार स्वरूप ज्ञायक आत्मा) को मात्र उपादेय मानता है और इसके सिवा अन्य इन्द्रिय सुख आदि को परद्रव्य समझकर हेय मानता है। और इस प्रकार हेय उपादेय रूप से इन दोनों में साध्य-साधकभाव मानता है।

यह तथ्य है, जो उक्त कथन से सुतरां फलित होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्यग्दृष्टि जो निश्चय को साध्य और व्यवहार को साधन मानता है वह इस रूप में नहीं मानता कि व्यवहार करते-करते उससे निश्चय की प्राप्ति हो जाती है। किन्तु वह यह अच्छी तरह से समझता है कि निश्चयस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति निश्चय रत्नत्रय की समग्रता के होने पर ही होती है, मात्र व्यवहार धर्म के आलम्बन द्वारा विकल्प रूप बने रहने से नहीं होती। साथ ही साथ वह यह भी अच्छी तरह से समझता है कि इसके पूर्व जितने अंश में रत्नत्रय की प्राप्ति होती है वह भी निर्विकल्प ज्ञायक स्वरूप आत्मा के अवलम्बन से तन्मय परिणमन द्वारा ही होती है, व्यवहार धर्म का अवलम्बनकर उसमें अटके रहने से नहीं होती। सविकल्पदशा में प्रवृत्ति में व्यवहारधर्म के होते हुए भी वह इन्द्रिय सुख के समान परमार्थ से है हेय ही। ऐसी यथार्थ श्रद्धापूर्वक जब सम्यग्दृष्टि वर्तता है तब निश्चय-व्यवहारनय में साध्य-साधन भाव सुघटित होता है, अन्यथा नहीं। वह ऐसे कि साध्यभूत जो निश्चय है, उसके ज्ञान कराने का हेतु व्यवहारनय है। यथा—

१. कोई देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा-भक्ति-पूजा को छोड़कर कुदेवादि व शासन देवता आदि रागी देवादिक की श्रद्धा-भक्ति पूजा स्वप्न में भी नहीं करता।

२. मद्य-मांस-मधु आदि का सेवन नहीं करता।

३. धर्म के नाम पर ऐकेन्द्रियादि जीवों-तक की किसी भी प्रकार को हिंसा को स्वप्न में भी प्रश्रय नहीं देता।

४. वीतरागदेव की उपासना, वीतराग भाव के प्रति श्रद्धावान् होकर की जाने पर ही यथार्थ उपासना मानता है।

इस प्रकार अविरत सम्यग्दृष्टि के प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदि जितने भी बाह्य लक्षण हैं, वे जिसमें पूरी तरह से घटित होते हैं और जो निरन्तर अतीन्द्रिय आत्मसुख के वेदन को ही यथार्थ लाभ मानता है उसके व्यवहार धर्मरूप इस बाह्य लक्षण से साध्यभूत

निश्चय का ज्ञान होता है। यही कारण है कि आगम में व्यवहारधर्म को व्यवहार साधन और निश्चयधर्म को साध्य कहा है। इस द्वारा उस एकान्त निश्चयाभासी का परिहार किया गया है जो मेढ़े के समान अर्धनिमीलित लोचनवाला बन तथा कुछ भी चिन्ता मग्न होकर इच्छानुसार वर्तता है और प्रमादी होकर बाह्य क्रियाकाण्ड से सर्वदा विरत रहता है। आचार्य कहते हैं कि **बाह्य क्रियाकाण्ड से निश्चय की प्राप्ति नहीं होती यह जहाँ सच है वहाँ भूमिकानुसार यथा विधि बाह्य क्रियाकाण्ड होना ही चाहिए। अन्यथा यही समझना चाहिए कि इसे परमार्थस्वरूप निश्चय की प्राप्ति नहीं हुई है।**

'भूमिकानुसार यथाविधि बाह्य क्रियाकाण्ड होना ही चाहिये।' इसका आशय यह है कि चौथे, पाँचवे और छठे गुणस्थान वाले का जितना और जिस विधि से आगम में क्रियाकाण्ड बतलाया है उतना और उस विधि से उस गुणस्थान वालों का बाह्य-क्रियाकाण्ड नियम से होता है। इसमें अपवाद नहीं। चौथे काल का बाह्य क्रियाकाण्ड दूसरे प्रकार का हो और पाँचवे काल का बाह्य क्रियाकाण्ड कोई दूसरे प्रकार का हो—ऐसा नहीं है जैसे उस गुणस्थान का अन्तरंग निश्चयधर्म एक प्रकार का है, वैसे ही बहिरंग व्यवहारधर्म भी तदनुकूल एक प्रकार का है। ऐसा होने पर ही इनमें उक्त प्रकार से व्यवहारनय से साध्य-साधनभाव बन सकता है, अन्यथा नहीं। आचार्य कहते हैं कि यह तो है कि बाह्य क्रियाकाण्ड शास्त्रोक्त विधि से भी हो, परन्तु अन्तरंग निश्चयधर्म उसके न हो। पर यह नहीं है कि अन्तरंग निश्चयधर्म तो हो पर उसका साधनभूत (ज्ञान कराने वाला) बाह्य क्रियाकाण्ड शास्त्रोक्त विधि से उसके न हो। यह आगम विधि है। सम्यग्दृष्टि इसे यथावत् जानता है।

स्पष्ट है कि इस वचन द्वारा अन्तरंग-बहिरंग दोनों की मर्यादा का ज्ञान कराया गया है। सम्यग्दृष्टि ऐसी मर्यादा को जानकर वर्तता है, तभी वह अविरतसम्यग्दृष्टि कहलाने का पात्र है।

इस प्रकार साध्य-साधन भाव का आशय क्या है, इसका संक्षेप में स्पष्टीकरण किया। इस पर विशद् प्रकाश समयसार गाथा ८ से पड़ता है। अपर पक्ष उस ओर दृष्टिपात करके साध्य-साधन भाव का आशय क्या है इसे समझने की कृपा करे या निवेदन है।

17. उपयोग विचार

अपरपक्ष ने प्रवचनसार गा. ९ की टीका के आधार से अशुभोपयोग, शुभोपयोग और

शुद्धोपयोग—इस प्रकार जो इन तीन भेदों का निर्देश किया है वह ठीक है। इतनी विशेषता है कि श्रावकों के यद्यपि शुभोपयोग की बहुलता है। परन्तु किसी काल में उनके भी शुद्धोपयोग होता है – ऐसा आगम है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य जयसेन प्रवचनसार गाथा २४८ की टीका में लिखते हैं—

ननु शुभोपयोगिनामपि क्वापि काले शुद्धोपयोगभावना दृश्यते, शुद्धोपयोगिनामपि क्वापि काले शुभोपयोगभावना दृश्यते। श्रावकाणामपि सामायिकादिकाले शुद्धभावना दृश्यते। तेषां कथं विशेषो भेदो ज्ञायत इति ? परिहारमाह- युक्तमुक्तं भवता परं किन्तु ये प्रचुरेण शुभोपयोगेन वर्तन्ते, यद्यपि क्वापि काले शुद्धोपयोगभावनां कुर्वन्ति तथापि शुभोपयोगिन एव भण्यन्ते। येऽपि शुद्धोपयोगिनस्ते यद्यपि क्वापि काले शुभोपयोगेन वर्तन्ते तथापि शुद्धोपयोगिन एव। कस्मात् ? बहुपदस्य प्रधानत्वादाम्रवननिम्बवनवदिति।

शंका – शुभोपयोग वाले जीवों के भी किसी समय शुद्धोपयोगभावना देखी जाती है। इसी प्रकार शुद्धोपयोगी जीवों के भी किसी समय शुभोपयोगभावना देखी जाती है। श्रावकों के भी सामायिक आदि के काल में शुद्धभावना देखी जाती है। इनका विशेष भेद कैसे ज्ञात होता है ?

समाधान – आपने ठीक कहा है, किन्तु इतनी विशेषता है कि जो बहुलता से शुभोपयोग के साथ वर्तते हैं वे यद्यपि किसी समय शुद्धोपयोगरूप भावना को करते हैं तो भी शुभोपयोगी ही कहे जाते हैं और जो शुद्धोपयोगी हैं वे यद्यपि किसी समय शुभोपयोग के साथ वर्तते हैं तो भी शुद्धोपयोगी ही हैं, क्योंकि इसमें आम्रवन और निम्बवन के समान बहुपद की प्रधानता है।

आचार्य जयसेन के इस कथन से यह बात तो स्पष्ट हुई कि उन्होंने इसी परमागम की ९वीं गाथा की टीका में श्रावकों के जो मात्र शुभोपयोग बतलाया है वह बहुलता की अपेक्षा बहुपद वक्तव्य होने से ही बतलाया है। वैसे सम्यग्दृष्टि और श्रावक जब अपने ज्ञायकस्वभाव आत्मा के लक्ष्य से उपयोग स्वभावरूप से परिणमते हैं तब उनके भी शुद्धोपयोग होता है। उक्त आगम का यही आशय है। शुद्धोपयोग उनके होता ही नहीं—ऐसा आगम का आशय नहीं है।

अपर पक्ष ने लिखा है कि 'चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शनरूप शुद्धभाव है और कषायरूप अशुद्ध भाव है, इन दोनों शुद्धाशुद्ध भावों के मिश्रित भावरूप शुभोपयोग कहा है। इसी प्रकार यथासम्भव पाँचवें, छठे गुणस्थान में भी यही शुद्धाशुद्ध मिश्रित भावरूप शुभोपयोग

जानना चाहिये।' अपने इस कथन की पुष्टि में उसका तर्क यह है कि 'यदि शुभोपयोग को शुद्धाशुद्ध भावरूप में न माना जायेगा तो शुभोपयोग मोक्ष का कारण नहीं हो सकेगा।' अपने इस कथन की पुष्टि में उस पक्ष ने प्रवचनसार गाथा २५४ की आचार्य अमृतचन्द्रकृत टीका का '**गृहिणां तु समस्त एव**' इत्यादि वचन उद्‌धृत किया है।

अब यहाँ दो बातों का विचार करना है। प्रथम तो यह देखना है कि शुभोपयोग कहते किसे हैं? और दूसरे '**गृहिणां तु समस्त**' इत्यादि टीका वचन का भी विचार करना है?

१. इस जीव के चौथे गुणस्थान से सम्यग्दर्शन होने पर भी कषाय का सद्‌भाव १०वें गुणस्थान तक बराबर पाया जाता है, इसलिए अपरपक्ष ने जो इन दोनों शुद्धाशुद्ध भावों के मिश्रितरूप उपयोग को शुभोपयोग कहा है, वह ठीक नहीं है। किन्तु जिस समय उपयोग स्वभाववाले इस जीव का अर्हदादिकी भक्तिरूप परिणाम होता है, प्रवचनरत जीवों के प्रति वात्सल्यभाव होता है, अपने से गुणों में अधिक श्रमणों को देखकर खड़ा होने, अनुगमन करने, प्रणाम-विनय आदि करने का भाव होता है, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के उपदेश का भाव होता है, शिष्यों को स्वीकार करने और उन्हें सम्यग्दर्शन गुणों से पुष्ट करने का भाव होता है तथा अशुभका निवारण करने के अभिप्राय से अहिंसादि व्रतों को सम्यक् प्रकार से पालने का अभिप्राय होता है, तब इस जीव को शुभोपयोगवाला कहा गया है। यह शुभोपयोग गृहस्थों के बहुलता से पाया जाता है। किन्तु मुनियों के शुद्धोपयोग की मुख्यता बतलाई है, **क्योंकि गृहस्थों के जहाँ अधिक मात्रा में पर का अवलम्बन बना रहता है, वहाँ साधु निरन्तर पर के अवलम्बन को गौण कर अपने ज्ञायकस्वभाव आत्मा के अवलम्बन के प्रति ही सदा उद्यमवान् रहते हैं। वे यद्यपि बाह्य में आहारादि क्रिया करने में उपयुक्त प्रतीत होते हैं तथापि अन्तरंग में उनके बहुलता से आत्मा का अवलम्बन बना रहता है, इसलिए इन क्रियाओं के काल में भी उनके आत्मकार्य में सावधानी देखी जाती है।**

अपरपक्ष ने अपने पक्ष का समर्थन करने वाला जानकर उक्त टीकावचन यद्यपि उद्‌धृत तो किया है, परन्तु वह इस समग्र कथन पर सन्दर्भ के साथ दृष्टिपात कर लेता तो उसकी ओर से शुभोपयोग का जो अर्थ किया गया है, वह कभी भी नहीं किया गया होता। **संक्षेप में पर के लक्ष्य से शुभराग से अनुवासित उपयोग का होना शुभोपयोग है और आत्मा के लक्ष्य से उपयोग तन्मय होकर परिणमना शुद्धोपयोग है।**

इस प्रकार शुद्धोपयोग से भिन्न शुभोपयोग क्या है इसका निर्देश किया।

२. अब उक्त टीकावचन पर दृष्टिपात कीजिए। इसमें गृहस्थ के शुद्धात्माके अनुभव का सर्वथा निषेध नहीं किया गया है। इसमें बतलाया है कि जिस प्रकार ईंधन स्फटिक मणि (सूर्यकान्त मणि) के माध्यम से सूर्य के तेज को अनुभवता है अर्थात् स्फटिकमणि के संयोग में जिस प्रकार ईंधन सूर्य किरणों को निमित्तकर प्रज्वलित हो उठता है, उसी प्रकार गृहस्थ भी शुद्धात्मा में प्रशस्त राग होने से राग का संयोग रहते हुए भी शुद्धात्मा के लक्ष्य से उसका (शुद्धात्मा का) अनुभव करता है। यहाँ राग का प्राचुर्य है और शुद्धि की मन्दता। फिर भी यह जीव उग्र पुरुषार्थ द्वारा आत्मा के लक्ष्य से राग को हीन-हीनतर करता हुआ शुद्धि में वृद्धि करता जाता है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है इससे स्पष्ट है कि जहाँ व्यवहारधर्म को मोक्ष का परम्परा साधन कहा है वहाँ उसका अभिप्राय इतना ही है कि उसके सद्भाव में जो स्वभाव के लक्ष्य से शुद्धि में आंशिक वृद्धि होती है। वह व्यवहार धर्म उसकी वृद्धि में बाधक नहीं है। शुद्धि की उत्पत्ति और उसकी वृद्धि का यही क्रम है। यही कारण है कि श्रमणों को लक्ष्यकर प्रवचनसार गाथा २४५ में यह कहा है कि **श्रमण शुभोपयोगी और शुद्धोपयोगी के भेद से दो प्रकार के होते हैं। उनमें जो शुद्धोपयोगी श्रमण हैं वे निरास्त्रव हैं और जो शुभोपयोगी श्रमण हैं वे सास्त्रव हैं। इस नियम में गृहस्थों का भी अन्तर्भाव हो जाता है,** क्योंकि यथार्थ मोक्षमार्ग एक है और वह यथापदवी सबके समान रूप से लागू होता है। गृहस्थ शुभोपयोग के द्वारा कर्मों की क्षपणा करते हैं और मुनि शुद्धोपयोग के द्वारा कर्मों की क्षपणा करते हैं—ऐसा न तो आगम ही कहता है और न तर्क तथा अनुभव से ही सिद्ध होता है। स्पष्ट है कि उक्त वचन के आधार से यह सिद्ध नहीं होता कि **पर देवादि के लक्ष्य से होने वाला व्यवहारधर्मनिराकुललक्षण मोक्षसुख का यथार्थ साधन है।**

अपर पक्ष ने सम्यग्दर्शनरूप शुद्धभाव और कषायरूप अशुद्धभाव इन दोनों शुद्धाशुद्ध भावों के मिश्रित रूप उपयोग को शुभोपयोग लिखा है। किन्तु उस पक्ष का यह लिखना ठीक नहीं, क्योंकि सम्यग्दर्शन श्रद्धाकी स्वभाव पर्याय है और राग चरित्रगुण की विभाव पर्याय है। इन दोनों का मिश्रण बन ही नहीं सकता। अपर पक्ष कह सकता है कि सान्निपातिकपने की अपेक्षा हम इन दोनों को मिश्रित कहते हैं, किन्तु उस पक्ष का यह कहना क्यों ठीक नहीं, इसके लिए हम उसका ध्यान तत्त्वार्थवार्तिक अ. २ सू.७ की इन पंक्तियों की ओर आकृष्ट करते हैं—

सान्निपातिक एको भावो नास्तीति 'अभावात्' इत्युच्यते, संयोगापेक्षया अस्तीत्यार्षं वचनम्।

सान्निपातिक एक भाव नहीं है, इसलिए उसका अभाव कहा है; संयोग की अपेक्षा है, यह आर्षवचन है। स्पष्ट है कि इन दोनों के मिश्रित उपयोग को शुभोपयोग कहना उचित नहीं है। आगम में तो शुभोपयोग यह लक्षण कहीं लिखा नहीं। फिर भी अपर पक्ष ने शुभोपयोग का यह लक्षण कल्पित करने का साहस किया, इसका हमें आश्चर्य है।

अपर पक्ष ने प्रतिशंका २ में चारित्रगुण की क्षायोपशमिक पर्याय को ध्यान में रखकर यह लिखा है कि 'वह मिश्रितपर्याय है, केवल शुद्धपर्याय नहीं। किन्तु शुद्धाशुद्ध है और स्थाई नहीं है' और प्रतिशंका ३ में वह पक्ष सम्यग्दर्शन रूप शुद्धभाव और कषायरूप अशुद्धभाव इन दोनों शुद्धाशुद्धभावों को मिलाकर मिश्रित भाव कह रहा है। इस प्रकार जो उसके कथन में पूर्वापर विरोध है, उस पर वह स्वयं दृष्टिपात करेगा – ऐसी हमें आशा है।

इसलिए पिछले उत्तर में हमने जो यह लिखा था कि 'कई स्थानों पर प्रतिशंका २ में मिली हुई शुद्धाशुद्ध पर्याय को शुभ कहा गया है, इससे स्पष्ट विदित होता है कि यह प्रतिशंका २ में स्वीकार कर लिया गया है कि जितना रागांश है, वह मात्र बन्ध का कारण है पर उसे निर्जरा का हेतु सिद्ध करना इष्ट है, इसलिए पूरे परिणाम को शुभ कहकर ऐसा अर्थ फलित करने की चेष्टा की गई है सो यह कथन की चतुराई मात्र है।' वह उचित ही लिखा था, क्योंकि आगम में कहीं भी मिश्रपर्याय को शुभभाव नहीं कहा है। शुभ और अशुभ— ये भेद योग और उपयोग के हैं। इनके सिवाय उपयोग शुद्ध भी होता है। अतएव चारित्रगुण की मिश्रपर्याय को सम्यक्त्व तथा राग की कल्पित की गई मिश्र पर्याय को शुभ कहना आगमसंगत नहीं है।

अपर पक्ष ने भावपाहुड की १५१ वीं गाथा उद्धृतकर यह सिद्ध करना चाहा है कि जिनभक्ति जन्म-मरण रूपी वेल के मूल का नाश करने वाली है। इसमें सन्देह नहीं कि जिस **सम्यग्दृष्टि के जिनदेव में अपूर्व भक्ति होती है, वह केवल भक्तिरूप प्रशस्त राग के कारण पुण्यबन्ध ही नहीं करता, किन्तु आत्मा में प्राप्त हुई सम्यग्दर्शनरूप विशुद्धि के कारण जन्म-मरण रूपी वेल को समूल नाश करने में भी समर्थ होता है।** यही भाव भावपाहुड़ की उक्त गाथा में व्यक्त किया गया है। **एक के कार्य को सहचर सम्बन्धवश दूसरे का कहना-ऐसा व्यवहार जिनागम में मान्य ठहराया गया है।** प्रकृत में इसी व्यवहार को ध्यान में रखकर उक्त कथन किया गया है। पुरुषार्थसिद्धयुपाय के आधार से विशेष खुलासा पूर्व में ही कर आये हैं।

अपर पक्ष ने परमात्मप्रकाश अ. २ गाथा ६१ की टीका में आये हुए '**मुख्यवृत्त्या**' पद

को देखकर यह स्वीकार कर लिया है कि 'देव, शास्त्र, गुरु की भक्ति को गौणरूप से कर्मक्षय का हेतु कहा गया है' इसकी हमें प्रसन्नता है, क्योंकि स्वभाव लक्ष्य से जो आत्मशुद्धि उत्पन्न होती है, उसमें बाह्य (व्यवहार) हेतु गौण है। परके लक्ष्य से कर्मक्षपणा न होकर कर्मबन्ध होता है, यह इसका तात्पर्य है।

चारित्रगुण की मिश्रित अखण्ड पर्याय में जितना शुद्धयंश है, वह पाप-पुण्य दोनों की निवृत्तिरूप है और जितना रागांश है, वह पाप की निवृत्ति और पुण्य की प्रवृत्ति रूप है, इसलिए उभय की निवृत्तिरूप जितना शुद्धयंश है, वह स्वयं कर्मक्षय रूप होने से कर्मक्षय का हेतु है और जितना प्रवृत्त्यंश है, वह स्वयं अस्त्रव-बन्धरूप होने से बन्ध का हेतु है। तत्त्वार्थसूत्र में जो सम्यक्त्व को देवायु का आस्रव लिखा है, उसका आशय इतना ही है कि सम्यक्त्व के काल में मनुष्यों और तिर्यञ्चों के रागनिमित्तक यदि आयु का बन्ध होता है, तो देवायु का ही होता है। विशेष खुलासा आगम प्रमाण के साथ इसी उत्तर में पहले ही कर आये हैं।

कहाँ कौन उपयोग किस दृष्टि से कहा गया है इसका भी विशेष स्पष्टीकरण आगम प्रमाण के साथ पूर्व में किया ही है। बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ३४ की टीका में '**असंयतसम्यग्दृष्टिश्रावक**' इत्यादि वचन शुद्धोपयोग का व्यवहार (उपचरित) हेतु क्या है, यह दिखलाने के लिए लिखा गया है। शुभोपयोग परम्परा से अर्थात् उपचार से शुद्धोपयोग का साधक है, इसका हमने निषेध भी नहीं किया है। **यदि सचमुच में शुभोपयोग शुद्धोपयोग का यथार्थ हेतु होता तो उसे शुद्धोपयोग का परम्परा से साधक त्रिकाल में नहीं लिखा जाता। स्पष्ट है कि इस वचन द्वारा केवल यह बतलाया गया है कि जब यह जीव स्वभावसन्मुख होकर शुद्धोपयोग उत्पन्न करता है, उसके पूर्व इसके नियम से शुभोपयोग होता है। उसके अशुभोपयोग त्रिकाल में नहीं होता, यह दिखलाना ही उक्त वाक्य का प्रयोजन है।**

अपरपक्ष ने दूसरी दृष्टि से ४ थे से १२ वें गुणस्थान तक जो शुभोपयोग लिखा है, वह दृष्टि कौन सी और किस आधार से यह कथन किया गया है, यह हम न जान पाये। वस्तुतः यह कथन आगम विरुद्ध होने से इस पर विचार करना ही व्यर्थ है। फिर भी यहाँ पर हम यह स्पष्ट कर देना अपना कर्तव्य समझते हैं कि **किसी पर्याय का शुद्धाशुद्ध मिश्ररूप होना अन्य बात है और उपयोग का शुभ, अशुभ और शुद्धरूप होना अन्य बात है, क्योंकि उपयोग अनुष्ठान रूप होता है। जब विषयों के आलम्बन से अशुभ क्रिया में यह जीव उपयुक्त होता है,**

तब अशुभोपयोग कहलाता है, जब देवादि और व्रतादि के आलम्बन से शुभ क्रिया में यह जीव उपयुक्त होता है, तब शुभोपयोग कहलाता है और जब चिच्चमत्कार रूप ज्ञायक आत्मा के अवलम्बन द्वारा शुद्ध निश्चयनय रूप से यह जीव उपयुक्त होता है, तब शुद्धोपयोग कहलाता है। इस प्रकार आलम्बनभेद से उपयुक्त आत्मा का उपयोग तीन प्रकार का होता है। चारित्र की मिश्ररूप पर्याय शुभोपयोग के काल में भी है और शुद्धोपयोग के काल में भी है, परन्तु आलम्बन के भेद से उपयोग दो भागों में विभक्त हो जाता है, अतएव चारित्र गुण की मिश्र पर्याय से उपयोग को भिन्न ही जानना चाहिए। जहाँ शुभोपयोग होता है, वहाँ वह और चारित्रगुणका रागांश—ये दोनों तो बन्ध के ही हेतु हैं। हाँ वहाँ जितना शुद्धयंश होता है वह स्वयं संवर-निर्जरारूप होने से संवर-निर्जरा का हेतु है। तथा जहाँ शुद्धोपयोग होता है वहाँ वह और जितना शुद्धयंश है, वे दोनों स्वयं संवर-निर्जरारूप होने से संवर-निर्जरा के हेतु हैं तथा वहाँ जितना रागांश हैं वह बन्ध का हेतु है। यह आगम की व्यवस्था है, इसे जानकर तत्त्व का व्याख्यान करना ही उचित है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार निर्जरा अधिकार में भोग में तन्मय होकर उपयुक्त हुए जीव के भोग को निर्जरा का हेतु नहीं कहा है। किन्तु सम्यग्दृष्टि के सविकल्पदशा में भोग की क्रिया होते हुए भी भोग में जो विरक्ति है, उसे निर्जरा का हेतु कहा है। इसके लिए गाथा १९५ आदि पर दृष्टिपात कीजिये। समयसार कलश में इसका विशदता से स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत् स्वं फलं विषसेवनस्य ना।
ज्ञानवैभवविरागताबलात् सेवकोऽपि तदसावसेवकः ॥१३५॥

यह ज्ञानी पुरुष विषय सेवन करता हुआ भी ज्ञान वैभव और विरागता के बल से विषय सेवन के निजफल (रंजित परिणाम) को नहीं भोगता, इसलिए वह सेवक होने पर भी असेवक है ॥१३५॥

सम्यग्दृष्टि के नियम से ज्ञान-वैराग्य शक्ति होती है (स.क. १५६) यह लिखकर तो आचार्य अमृतचन्द्र ने उक्त विषय को और भी स्पष्ट कर दिया है।

आचार्य कुन्दकुन्द समयसार निर्जराधिकार की '**उपभोगमिंदिएहिं**' गाथा द्वारा यह भाव व्यक्त कर रहे हैं कि **सम्यग्दृष्टि जीव को कर्मोदयनिमित्तक भोग अवश्य प्राप्त होते हैं पर वह उनमें विरक्त ही रहता है, इसलिए वे निर्जरा के हेतु हैं। यहाँ निर्जरा की हेतुता का बल विरक्त**

भावों पर है, भोगों पर नहीं। अपर पक्ष सम्भवतः यह भूल जाता है कि भोगों में आसक्ति अशुभोपयोग है, शुभोपयोग नहीं, अन्यथा वह पक्ष उक्त वचन को इस रूप में प्रकृत में उदाहरण रूप में उपस्थित न करता।

अपरपक्ष ने यहाँ पर शुद्धोपयोग ११ में गुणस्थान से होता है, यह लिखकर कर्मबन्ध की व्यवस्था का निर्देश किया है और पहले वह एक अपेक्षा से ६ वें गुणस्थान तक तथा दूसरी अपेक्षा से १२ वें गुणस्थान तक शुभोपयोग लिख आया है। यहाँ उस पक्षने 'यदि उपशमश्रेणि या क्षायिकश्रेणि के आदि तीन गुणस्थानों में भी शुद्धोपयोग माना जावे'—यह लिखकर अपने पिछले कथन के विरुद्ध निर्विवाद रूप से यह भी घोषित कर दिया है कि ७ वें गुणस्थान में शुभोपयोग होता है, जबकि वह एक अपेक्षा से ७ वें गुणस्थान में भी शुद्धोपयोग स्वीकार कर आया है। इसप्रकार चौथे गुणस्थान से १२ वें गुणस्थान तक कौन सा उपयोग होता है इस सम्बन्ध में उस पक्ष की ये परस्पर विरुद्ध मान्यताऐं है और आश्चर्य इस बात का है कि इन परस्पर विरुद्ध मान्यताओं के आधार पर वह पक्ष कर्मशास्त्र में प्रयुक्त हुए 'संक्लेश' और 'विशुद्धि' शब्दों के ऊपर ध्यान न देकर कर्मबन्ध की व्यवस्था करना चाहता है। अन्यथा वह पक्ष हमारे 'शुभोपयोग होने पर कर्मबन्ध की स्थिति और अनुभाग में वृद्धि हो जाती है और शुद्धोपयोग के होने पर उसकी स्थिति अनुभाग में हानि हो जाती है।' इस कथन पर अणुमात्र भी टीका न करता, क्योंकि सामान्यतः यह कथन आठों कर्मो मे प्रधानभूत तथा जीव के अनुजीवी गुणों का घात करने में निमित्त होने वाले चार घतिकर्मों को लक्ष्य में रख कर किया गया है, उन पर अविकल घटित भी होता है। पुण्य-पाप प्रकृतियों में से पाप प्रकृतियों का बन्ध शुद्धोपयोग के काल में होता ही नहीं। आयुकर्म के लिए नियम ही अलग है। इसलिए अघाति कर्मों की दृष्टि से उक्त वचन नहीं लिखा गया है।

अपर पक्ष ने शुभोपयोग का अर्थ विशुद्ध परिणाम किया है, वह ठीक नहीं, क्योंकि **असाता के बन्ध के योग्य परिणाम का नाम संक्लेश है और साता के बन्ध के योग्य परिणाम का नाम विशुद्धि है। यथा -**

को संकिलेसो णाम? असादबंधजोग्गपरिणामों संकिलेसो णाम। का विसोही? सादबंधजोगापरिणामों। *- ध. पु. ६ पृ. १८१*

शुभोपयोग में ये संक्लेश और विशुद्धिरूप दोनों प्रकार के परिणाम होते हैं, इसलिए शुभोपयोग का अर्थ न तो विशुद्ध परिणाम करना उचित है और न ही शुभोपयोग के आधार

पर सब कर्मों के स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध की व्यवस्था करना ही उचित है। कर्मशास्त्र में संक्लेश और विशुद्धि इन दोनों संज्ञाओं का स्वतन्त्र रूप से प्रयोग हुआ है। उसे ध्यान में रखकर यहाँ हमें विवेचन करना इष्ट नहीं था। यहाँ तो हमें केवल यह बतलाना इष्ट था कि जब यह जीव स्व-पर प्रत्यय कषाय से उपयुक्त होता है तब घातिकर्मों का स्थिति-बन्ध और अनुभागबन्ध कैसा होता है और जब यह जीव स्व-परप्रत्यय कषाय से उपयुक्त नहीं होता है, तब घाति कर्मों का स्थितिबन्ध-अनुभागबन्ध कैसा होता है। इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर हमने उक्त वाक्य लिखा था। किन्तु अपर पक्ष ने शुभोपयोग का अर्थ केवल विशुद्ध परिणाम करके उस आधार पर तीन आयुओं को छोड़कर सब कर्मों के स्थिति और अनुभागबन्ध की व्यवस्था करने की चेष्टा की यह उचित नहीं है।

अपर पक्ष के इस व्यवस्था सम्बन्धी वचन को पढ़कर यह भी मालूम पड़ता है कि वह शुभोपयोग अर्थात् विशुद्ध परिणामों से अप्रशस्त प्रकृतियों के स्थितिबन्ध में वृद्धि मानता है। हमें आश्चर्य होता है कि उस पक्ष की ओर से गोम्मटसार गा. १३४ भी उद्धृत की गई है और फिर भी यह गलती हुई। यदि वह पक्ष विशुद्धि परिणाम का अर्थ शुभोपयोग न करता तो सम्भवत: यह गलती न होती। वस्तुत: वह समग्र कथन ही भ्रमपूर्ण है, क्योंकि स्थितिबन्ध के लिए अलग नियम हैं और अनुभागबन्ध के लिए अलग नियम हैं। उनको पृथक-पृथक् करने पर ही समग्र कर्मों की स्थिति-अनुभाग बन्ध सम्बन्धी व्यवस्था का ज्ञान कराया जा सकता है।

इस प्रकार अशुभादि तीनों उपयोगो का क्या तात्पर्य है, इसका विचार किया।

17. समयसार गाथा २७२ का आशय

अपरपक्ष ने समयसार गाथा २७२ को ध्यान में रखकर लिखा है कि 'वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थित जीवों के लिए व्यवहारनय का निषेध है, किन्तु प्राथमिक शिष्य के लिए, वह प्रयोजनवान् है।' समाधान यह है कि जितना भी अध्यवसानभाव है, वह पराश्रित होने से बन्ध का हेतु है अतएव निश्चयनय के द्वारा उसका प्रतिषेध करते हुए आचार्य ने व्यवहारनयमात्र प्रतिषिद्ध है—ऐसा कहा है। इसलिए व्यवहारनय को प्रतिषेध्य ही जानना चाहिए, क्योंकि स्वाश्रित निश्चयनय पर आरूढ़ हुए ज्ञानियों के ही कर्मों से छूटनापन सुघटित होता है।

जो सम्यग्दृष्टि जीव है वह सविकल्प अवस्था में आने पर भी व्यवहारनय को तो आश्रय योग्य मानता ही नहीं, क्योंकि उसकी सदाकाल उसमें हेयबुद्धि बनी रहती है। वह यह अच्छी तरह से जानता है कि स्वरूपस्थिति हुए बिना मेरा भवबन्धन से छुटकारा होना सम्भव नहीं है। इसलिए उसके सविकल्प अवस्था में पंचपरमेष्ठी की भक्ति आदि, मोक्षमार्ग के प्ररूपक शास्त्रों का सुनना तथा अणुव्रत-महाव्रत का पालना आदि रूप परिणाम होते अवश्य हैं, परन्तु इनके होते हुए भी उसके चित्त में एकमात्र ज्ञायक आत्मा का आश्रयकर तत्स्वरूप परिणमन की उपादेयता ही बनी रहती है। इसलिए वह (सम्यग्दृष्टि जीव) व्यवहारनय को आश्रय करने योग्य मानता होगा, यह तो प्रश्न ही नहीं उठता। हाँ, जो प्राथमिक मिथ्यादृष्टि जीव व्यवहारनय को आश्रय करने योग्य जानकर उसके आलम्बन द्वारा निरन्तर अज्ञानादि रूप परिणमता रहता है, उसके लिए यह उपदेश है। आचार्य जयसेनने समयसार गाथा २७२ की टीका में जो '**यद्यपि प्राथमिकापेक्षया**' इत्यादि वचन लिखा है, वह समयसार गाथा ८ के अभिप्राय को ध्यान में रख कर ही लिखा है। व्यवहारनय निश्चय का साधक है, इसका आशय ही यह है कि व्यवहारनय निश्चय का ज्ञान कराने वाला या सूचक है, क्योंकि सविकल्प अवस्था से निर्विकल्प अवस्था में पहुँचाना व्यवहारनय का कार्य नहीं। यह कार्य तो निर्विकल्प ज्ञायक आत्मा का अवलम्बन कर तत्स्वरूप परिणमन द्वारा ही सम्पादित हो सकता है। कारण कि 'मैं ज्ञायकस्वरूप हूँ, परम आनन्द का निधान हूँ,' इत्यादि विकल्प ही जब तक इस जीव के बना रहता है, तब तक वह निर्विकल्प समाधि का अधिकारी नहीं हो पाता, ऐसी अवस्था में बाह्य अणुव्रतादिरूप क्रिया व्यवहार उसका साधक होगा, इसे कौन विवेकी स्वीकार कर सकता है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने पंचास्तिकाय के अन्त में जो '**व्यवहारनयेन भिन्नसाध्य-साधन भावं**' इत्यादि वचन लिखा है, वह भी समयसार गाथा ८ के आशय को ही सूचित करता है। जो अनादि मिथ्यादृष्टि प्राथमिक शिष्य या जिसका वेदककाल व्यतीत हो गया है—ऐसा सादि मिथ्यादृष्टि प्राथमिक शिष्य यह नहीं जानता कि यह श्रद्धान करने योग्य है, यह श्रद्धान करने योग्य नहीं है, यह श्रद्धान करनेवाला है और यह श्रद्धान है आदि, म्लेच्छस्थानीय उसे म्लेच्छभाषास्थानीय व्यवहारनय द्वारा परमार्थ का ज्ञान कराना आवश्यक है। ऐसे प्राथमिक शिष्य के लिए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि वह व्यवहारनय से परमार्थ को जानकर, परमार्थ के अवलम्बन से तत्स्वरूप परिणमन द्वारा सुख से-सहज रूप से सम्यग्दर्शनादि

मोक्षमार्गस्वरूप तीर्थ में प्रवेश करता है। न कि उनके लिए–जिन्हें परमागम का अभ्यास करते हुए चिरकाल व्यतीत हो गया है, जिन्होंने पंचपरमेष्ठी के स्वरूप को जानकर उनकी पूजा–वन्दना में अपना जीवन निकाल दिया है या जो चिरकाल से अणुव्रत–महाव्रतादि का पालन कर रहे हैं और जो उनमें यत्किंचित् दोष लगने पर कठोर प्रायश्चित्तादि द्वारा सदाकाल उसका वारण करने में तत्पर रहते हैं। यह अपर पक्ष ही बतलावे कि हम उन्हें म्लेच्छस्थानीय मानकर प्राथमिक शिष्य के रूप में स्वीकार कैसे करें ? हमारा आत्मा तो इसे स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं। उनके लिए तो व्यवहारनय इस अर्थ में प्रयोजनवान् है कि वे जिस भूमिका में हों उसके अनुरूप व्यवहार का चरणानुयोग के अनुसार उन्हें यथार्थ ज्ञान होना चाहिए और सविकल्प अवस्था में हेयबुद्धि से उसका यथाविधि पालन करते हुए भी उनकी दृष्टि सदा परमार्थ पर बनी रहनी चाहिए। यह है पंचास्तिकाय के उक्त उल्लेख का आशय। इसी आशय को ध्यान में रखकर पण्डित प्रवर जयचन्दजी ने समयसार गाथा ८ के तात्पर्य को स्पष्ट करते हुए उसके भावार्थ में ये शब्द लिपिबद्ध किये हैं—

लोक शुद्धनय को जानते ही नहीं हैं, क्योंकि शुद्धनय का विषय अभेद एकरूप वस्तु है। तथा अशुद्धनय को ही जानते हैं, क्योंकि इसका विषय भेदरूप अनेक प्रकार है। इसलिए व्यवहार के द्वारा ही शुद्धनयस्वरूप परमार्थ को समझ सकते हैं। इस कारण व्यवहारनय को परमार्थ का कहने वाला जान, उसका उपदेश किया जाता है। यहाँ पर ऐसा न समझना कि व्यवहार का आलम्बन कराते है बल्कि यहाँ तो व्यवहार का आलम्बन छुड़ाके परमार्थ को पहुँचाते हैं – ऐसा जानना।

अपर पक्ष का कहना है कि 'यदि विवक्षित नय अपने अपने प्रतिपक्षी नय के सापेक्ष हैं तो सुनय अथवा सम्यक्नय हैं, जो सम्यग्यदृष्टि के होते हैं। मिथ्यादृष्टि के वही नय पर निरपेक्ष होने से कुनय अथवा मिथ्यानय होते हैं।'

समाधान यह है कि प्रत्येक नय सापेक्ष होता है इसका तो हमने कहीं निषेध किया ही नहीं। परन्तु यहाँ पर '**सापेक्ष**' का अर्थ क्या, इसे जान लेना आवश्यक है। अष्टसहस्त्री पृ. २९० में आचार्यद्वय '**मिथ्या समूहो मिथ्या**' इत्यादि कारिका की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

सुनयदुर्णययोर्यथास्माभिर्लक्षणं व्याख्यातं तथा न चोद्यं न परिहारः, निरपेक्षाणामेव नयानां मिथ्यात्वात् तद्विषयसमूहस्य मिथ्यात्वोपगमात्, सापेक्षाणां तु सुनयत्वात् तद्विषयाणां अर्थक्रियाकारित्वात् तत्ससमूहस्य वस्तुत्वोपपत्तेः। तथा हि निरपेक्षत्वं प्रत्यनीकधर्मस्य

निराकृतिः, सापेक्षत्वमुपेक्षा, अन्यथा प्रमाण नयाविशेषप्रशंगात् धर्मान्तरादानोपेक्षाहा-निलक्षणत्वात् प्रमाण-नय-दुर्णयानां प्रकारान्तरासंभवाच्च प्रमाणात्तदतत्स्वभावप्रतिपत्तेः नयात्तत्प्रतिपत्तेः दुर्णयात्तदन्यनिराकृतेश्च। इति विश्वोपसंहृतिः, व्यतिरिक्त प्रतिपत्ति-प्रकाराणामसम्भवात्।

सुनय और दुर्नय का जिस प्रकार से हमने लक्षण कहा है, उस प्रकार से न शंका है और न उसका परिहार है, क्योंकि निरपेक्षनय ही मिथ्या होते हैं, कारण कि उनके विषय-समूह को मिथ्यारूप स्वीकार किया है। सापेक्ष नय तो सुनय होते हैं, क्योंकि उनके विषय अर्थक्रियाकारी होते हैं तथा उनके विषयसमूह में वस्तुपना बन जाता है। यथा - निरपेक्षत्व का अर्थ है प्रत्यनीक धर्म का निराकरण, तथा सापेक्षत्व का अर्थ है उपेक्षा, अन्यथा प्रमाण और नय में अविशेषता का प्रसंग उपस्थित होता है। कारण कि प्रमाण धर्मान्तर के आदानलक्षणवाला होता है, नय धर्मान्तर की उपेक्षा लक्षणवाला होता है और दुर्नय धर्मान्तर की हानिलक्षणवाला होता है, यहाँ अन्य प्रकार सम्भव नहीं। तथा प्रमाण से तदतत्स्वभाव वस्तु की प्रतिपत्ति होती है, नय से तत् की प्रतिपत्ति होती है और दुर्नय से अन्य (धर्मान्तर) का निराकरण होता है। इस प्रकार समस्त प्रमाण, नय और दुर्नयों का संग्रह हो जाता है, क्योंकि इनके सिवाय जानने के दूसरे प्रकार सम्भव नहीं हैं।

यह आगमवचन है। इससे हमें तीन बातों का स्पष्टतः ज्ञान होता है—

(१) सुनय का विषय अर्थक्रियाकारी होता है।

(२) सुनय में सापेक्षत्व का अर्थ उपेक्षा है।

(३) और सुनय प्रतिपक्षी नय के विषय में उपेक्षा धारण कर मात्र अपने विषय की प्रतिपत्ति कराता है।

यह तो प्रत्यक्ष अनुभव में आता है कि लोक का समस्त व्यवहार पर्यायाश्रित होने पर भी उसे मिथ्या नहीं माना जाता। कोई एक व्यक्ति सब्जीमण्डी में जाकर यदि अनार लेना चाहता है तो दुकानदार से यह नहीं कहता कि अनार पर्याय विशिष्ट पुद्गल दीजिए। किन्तु वह जाकर अनार की माँग करता है, और दुकानदार इष्टार्थ को जानकर उसकी उपलब्धि करा देता है, यह है अर्थक्रियाकारीपना जो सुनय से सम्पन्न होता है। आचार्यों का यहाँ यही कहना है कि यह जितना भी पर्यायाश्रित व्यवहार है वह रागमूलक होने से मोक्षमार्ग में ऐसे व्यवहार को छुड़ाया गया है। 'छुड़ाया गया है' इसका अर्थ है- उसमें उपेक्षा कराई गई है। **साधक**

व्यवहार को छोड़ता नहीं, किन्तु निश्चय प्राप्तिरूप मूल प्रयोजन को ध्यान में रखकर उसे करता हुआ भी उसमें उपेक्षा रखता है और मात्र निश्चय के विषय को आश्रय करने योग्य स्वीकार कर, निरन्तर अपने उपयोग को उस दिशा में मोड़ने का प्रयत्न करता रहता है। वह यह अच्छी तरह जानता है कि प्रत्येक वस्तु अनेकान्तस्वरूप होने से वह सत् भी है और असत् भी है परन्तु उसने पर्यायार्थिकनय के विषयभूत असत् धर्म की उपेक्षा कर निश्चयनय के विषयभूत 'सत्' को अपना केन्द्रबिन्दु बनाया है। यत: 'सत्' धर्म सत्स्वरूप ही है, उसमें 'असत्' धर्म का अभाव है, इसलिए प्रत्येक साधक व्यवहारनय के विषय के प्रति उपेक्षा धारणकर अपनी बुद्धि में यह निर्णय करता है कि 'मैं तो मात्र एक ज्ञायकस्वरूप हूँ, मैं न मनुष्य हूँ, न देव हूँ, न नारकी हूँ और न तिर्यञ्च हूँ' आदि। **यतः प्रत्येक सुनय का विषय अर्थक्रियाकारी स्वीकार किया गया है, इसलिए बुद्धि में ऐसा निर्णय करने से वह (साधक) अपनी बुद्धि को उसमें युक्त कर देता है। फल होता है, राग की हानि के साथ स्वभाव प्राप्ति। आचार्य कहते हैं कि यही मोक्षमार्ग है।** यदि मोक्ष की प्राप्ति होती है तो एकमात्र इसी मार्ग से होती है। तो एकमात्र इसी मार्ग से होती है। अन्य सब विडम्बना है - भवबन्धन की रखड़ना है।

इससे अपर पक्ष को यह सुगमता से समझ में आ जायेगा कि नय प्ररूपणा में 'सापेक्ष' का अर्थ क्या इष्ट है और सुनय के विषय का अवलम्बन ही जीवन में क्यों अर्थक्रियाकारी है।

अपर पक्ष ने नयचक्रादिसंग्रह की गाथा ६८ को उपस्थित कर यह सिद्ध करना चाहा है कि 'मिथ्या व्यवहारनय से बन्ध होता है और सम्यक् व्यवहारनय से मोक्ष होता है।' किन्तु वह पक्ष इस गाथा से ऐसा अभिप्राय फलित करते समय यदि उसी की गाथा ७७ पर दृष्टिपात कर लेता तो सम्भव था कि वह उक्त प्रकार से अपना मत न बनाता। गाथा ७७ इस प्रकार है—

ववहारादो बंधो मोक्खो जम्हा सहावसंजुत्तो।
तम्हा कर (कुरु) तं गउणं सहावमाराहणाकाले॥७७॥

यत: व्यवहार से बन्ध है और स्वभावसंयुक्त मोक्ष है, इसलिए स्वभाव आराधना के काल में व्यवहार को गौण करो॥७७॥

अतएव इस गाथा के प्रकाश में गाथा ६८ का इतना ही आशय है कि सम्यग्दृष्टि को भेदोपचार का यथार्थ ज्ञान होता है, इसलिए वह मोक्ष का अधिकारी है। उदाहरणार्थ जिसे ऐसा यथार्थ ज्ञान है कि मोहनीय कर्म मोह-राग-द्वेष को उत्पन्न करता है, यह उपचरित कथन है

वही यथार्थ को जानकर स्वभाव के आलम्बन से मोक्ष का अधिकारी होता है, अन्य मिथ्यादृष्टि नहीं, क्योंकि वह उपचार को भी आरोपित न जानकर, यथार्थ जानता है, इसलिए वह कर्मबन्धन से त्रिकाल में मुक्त नहीं हो सकता।

समयसार गाथा २७२ में 'पराश्रितो व्यवहारनय:' और 'आत्माश्रितो निश्चयनय:' यह लिखकर व्यवहारनयमात्र का प्रतिषेध किया। आत्मख्याति टीका के शब्द हैं—

तत्रैवं निश्चयनयेन पराश्रितसमस्तमध्यवसानं बन्धुहेतुत्वेन मुमुक्षोः प्रतिषेधयता व्यवहारनय एव किल प्रतिषिद्धः, तस्यापि पराश्रितत्वाविशेषात्। प्रतिषेध्य एव चायं, आत्माश्रितनिश्चयनयाश्रितानामेव मुच्यमानत्वात्।

इस टीका का पं. जयचन्द्रजीकृत अनुवाद इस प्रकार है—

सो जैसे पर के आश्रित समस्त अध्यवसान पर और आपको एक मानना, वह बन्धका कारण होने से मोक्ष के इच्छुक को छुड़ाता जो निश्चयनय, उसका उसी तरह निश्चयनय से व्यवहारनय ही छुड़ाया है। इस कारण जैसे अध्यवसान पराश्रित है, उसी तरह व्यवहारनय भी पराश्रित है, इसमें विशेष नहीं है। इसलिए ऐसा सिद्ध हुआ कि यह व्यवहारनय प्रतिषेधने योग्य ही है, क्योंकि जो आत्माश्रित निश्चयनय के आश्रित पुरुष हैं, उनके ही कर्मों से छूटनापाना है।

इससे स्पष्ट है कि समयसार गाथा २७२ में निश्चयनय के द्वारा समस्त व्यवहारनय को प्रतिषिद्ध ठहराया गया है और इसे स्वीकार करने पर पूर्वापर विरोध भी नहीं आता, क्योंकि समयसार गाथा १२ में यह नहीं कहा गया है कि अपरमभाव (सविकल्प अवस्था) में स्थित जीवों के लिए व्यवहारनय आश्रय करने योग्य है। आचार्य अमृतचन्द्र ने जो **'ये तु प्रथम'** इत्यादि वचन लिखा है, वह 'जहाँ जितनी शुद्धि उत्पन्न होती है, वहाँ तद्युक्त आत्मा का भी अनुभव होता है' यह बतलाने के लिए ही लिखा है। मालूम नहीं कि गाथा २७२ की टीका में और १२ की टीका में इतना स्पष्ट कथन होने पर भी अपर पक्ष ने पूर्वापर के विरोध का भय दिखलाकर अपना अभिलषित अर्थ कैसे फलित कर लिया! क्या गाथा १२ में व्यवहारनय को आश्रय करने योग्य बतलाकर १२ वें गुणस्थान तक वह निश्चयनय के द्वारा प्रतिषिद्ध नहीं है, यह कहा गया है यदि नहीं तो गाथा २७२ के साथ इसका पूर्वापर विरोध कहाँ रहा, अर्थात् नहीं रहा।

अपर पक्ष ने भावार्थ लिखकर जो भाव व्यक्त किये हैं, उस सम्बन्ध में यह निवेदन है

कि व्यवहारनय प्रयोजनवान् है—इसका यह अभिप्राय लेना चाहिए कि जब यह जीव सविकल्प अवस्था में रहता है तब उस गुणस्थान के अनुरूप उसका व्यवहार नियम से होता है। ऐसे व्यवहार के साथ उस गुणस्थान के अनुरूप शुद्धि बनी रहने में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती। गुणस्थान परिपाटी के अनुसार व्यवहार का ज्ञान कराने के लिए उसका उपदेश भी दिया जाता है। किन्तु कोई भी मुमुक्षु व्यवहार करते रहने में इष्टार्थ की सिद्धि न मान स्वयं परमार्थस्वरूप बनने के लिए स्वभाव का आलम्बन करने को उद्यमशील रहता है। व्यवहार यथापदवी प्रयोजनवान् होने पर भी साधक की दृष्टि में वह हेय ही है और स्वभाव का आश्रय करने से तत्स्वरूप परिणमन द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है, इसलिए साधक की दृष्टि में वह सदाकाल उपादेय ही है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार गाथा १४ की टीका में बद्धस्पृष्टता को भूतार्थ कालप्रत्ययासत्ति को ध्यान में रखकर ही लिखा है। एक काल में जीव की अपने में और कर्म की अपने में ऐसी पर्याय होती हैं जिनमें बद्धस्पृष्टता व्यवहार होता है। वे दोनों पर्यायें यथार्थ है, इस अपेक्षा से उसे भूतार्थ मानने में कोई बाधा नहीं है। पर इतने मात्र से उसे उपादेय नहीं स्वीकार किया जा सकता। क्या अपर पक्ष यह चाहता है कि प्रत्येक संसारी जीव संसारी बना रहे। व्यवहारनय से कालप्रत्यासत्तिवश बद्धस्पृष्टता भूतार्थ ठहरी इसमें बाधा नहीं, पर है वह सर्वदा हेय ही।

पं. फूलचन्द्रजी ने प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ पृ. ३४५ से ३५५ के मध्य जो 'यदि निश्चय सत्याधिष्ठित है' इत्यादि वचन लिखा है, वह मिथ्या एकान्त का परिहार करने के अभिप्राय से ही लिखा है। यद्यपि वहाँ सामान्य से व्यवहारनय शब्द का प्रयोग हुआ है। पर उससे सद्भूतव्यवहार को ही ग्रहण करना चाहिये। पण्डितप्रवर बनारसीदासजी वर्तमान में संसारी होते हुए भी अपने को मुक्त मानने लगे थे। किन्तु सम्यग्ज्ञान होने पर उन्होंने यह स्वीकार किया कि 'पर्यायदृष्टि से वर्तमान में मैं संसारी ही हूँ, मुक्त नहीं।' इसी को उस लेख में कहा गया है कि 'उन्हें व्यवहार में आना पड़ा।'

'**निरपेक्षा नया मिथ्या**' इस वचन के सम्बन्ध में पिछले उत्तर में हम जो कुछ भी लिख आये हैं, वह अर्थक्रियाकारीपने को ध्यान में रखकर ही लिख आये हैं। विशेष खुलासा अनन्तर पूर्व किया ही है। उससे हमारा पूर्वोक्त कथन किस प्रकार आगमानुकूल है, यह स्पष्ट हो जायेगा।

'मोक्षमार्ग की प्रसिद्धि भी द्वयनयाधीन है।' यह अपर पक्ष का कहना है। इस सम्बन्ध में इतना ही निवेदन है कि आगम में हमने यह तो पढ़ा है कि 'भगवान् की देशना एक नय के आधीन न होकर दो नय के आधीन है—

तत्र न खल्वेकनयायत्ता देशना किन्तु तदुभयायत्ता।

– ***पंचास्तिकाय, गाथा ४, टीका***

किन्तु अपर पक्ष का जैसा कहना है, वैसा वचन अभी तक हमारे देखने में नहीं आया।

पंचास्तिकाय १७२ गाथा की आ. जयसेनकृत टीका में जो कुछ कहा गया है, उसका आशय यह है कि **जो व्यवहाराभासी होते हैं उनमें अणुव्रत महाव्रतादिरूप द्रव्यचारित्र होते हुए भी निश्चय की प्राप्ति न होने से वे संसारी ही बने रहते हैं। जो निश्चयाभासी होते हैं उनमें न तो व्यवहार चारित्र ही होता है और न उन्हें निश्चय की प्राप्ति ही होती है, इसलिए वे भी संसारी बने रहते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि निश्चयमूलक व्यवहार ही सच्चा व्यवहार कहलाता है। अतः अणुव्रत-महाव्रत के धारण करने मात्र को परमार्थ न समझकर परमार्थ की प्राप्ति के लिए सदा उद्यमशील रहना चाहिए।**

आचार्य अमृतचन्द्र ने प्रवचनसार टीका में यह तो लिखा है कि 'केवल यह (निश्चय) एक ही मोक्षमार्ग है—

तयोऽवधार्यते केवलमयमेक एव मोक्षस्य मार्गः। – गाथा १९९

ततो नान्यद्वर्त्म निर्वाणस्येत्यवधार्यते । – गा. ८२

तथा उन्होंने समयसार में द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग है, इसका निषेध भी किया है।

– गा. ४१०-४११

और जो द्रव्यलिंग को **मोक्षमार्ग कहते हैं, उनके उस कथन को अज्ञान का फल कहा है(गा. ४०९)। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि मोक्षमार्ग की प्ररूपणा दो प्रकार की है, मोक्षमार्ग दो नहीं हैं। ऐसी अवस्था में पंचास्तिकाय का हवाला देकर अपर पक्ष का यह लिखना तो ठीक नहीं** कि 'केवल निश्चयनय से भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती और केवल व्यवहारनय से भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।' किन्तु इसके स्थान में यह लिखना ही समीचीन है कि **निश्चयारूढ़ व्यक्ति के यथापदवी व्यवहार नियम से होता है। यही इन दोनों का अविरोध है। किन्तु जैसे-जैसे स्वतत्त्व में विश्रान्ति प्रगाढ़ होती जाती है, वैसे-वैसे**

क्रमशः कर्म का संन्यास होता जाता है और अन्त में स्वतत्त्व में परम विश्रान्ति होने से यह जीव आर्हन्त्यलक्षण परम विभूति का स्वामी बनता है। अपर पक्ष ने तो 'तदिदं वीतरागत्वं' इत्यादि वचन उद्‌धृत किया है, उसका भी यही आशय है।

हमने लिखा था कि 'पर्यायबुद्धि तो अनादिकाल से बनाये चला आ रहा है।' उसका जो आशय अपर पक्ष ने लिया है, वह ठीक नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द ने जिस अभिप्राय से प्रवचनसार गा. ९३ में '**पज्ञयमूढा हि परसमया**' यह वचन लिखा है और जिस अभिप्राय से उसकी टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने—

'यतोहि बहवोऽपि पर्यायमात्रमेवावलम्व्य तत्त्वाप्रतिपत्तिलक्षणं मोहमुपगच्छन्तः परसमया भवन्ति।'

जिससे कि बहुत से जीव पर्यायमात्र का ही अवलम्बनकर तत्त्व की अप्रतिपत्तिलक्षण मोह को प्राप्त होते हुए परसमय होते हैं।

– यह वचन लिखा है, वही भाव हमारा था। यदि अपरपक्ष ने इस वचन पर सम्यक् दृष्टिपात न किया हो तो अब कर ले। उससे उस पक्ष को व्यवहारनय के विषयभूत पर्याय का अवलम्बन करने से आत्मा की क्या हानि होती है यह अच्छी तरह समझ में आ जायेगा और उससे मोक्षमार्ग में व्यवहारनय का विषयभूत अणुव्रत-महाव्रत का पालना आश्रय करने योग्य क्यों नहीं बतलाया, यह भी समझ में आ जायेगा।

सम्भवतः अपर पक्ष ने 'प्रयोजनवान् है' और 'आश्रय करने योग्य है'—इन पदों के पृथक्-पृथक् आशय को ध्यान में नहीं लिया तभी तो उसकी ओर से यह वचन लिखा गया है- 'जो एकान्त से निश्चयनय का अवलम्बन लेते हैं वे मोक्ष को तो प्राप्त करते ही नहीं, किन्तु उल्टा पापबन्ध ही करते हैं।' इसके लिए हम अपर पक्ष का ध्यान समयसार कलश २३ की ओर आकृष्ट कर देना चाहते हैं। उससे यह स्पष्ट हो जायेगा कि यदि एक मुहूर्त के लिये बुद्धि द्वारा यह जीव शरीरादि पर द्रव्य-परभावों से भिन्न होकर ज्ञायकस्वभाव आत्मा का अनुभव कर ले तो उसके मोह के छेद होने में देर न लगे।

अन्त में अपरपक्ष ने अपनी कल्पना से ऐसी बहुत सी मान्यताओं का निर्देश किया है, जिनका उसी स्तर से उत्तर देना उचित प्रतीत नहीं होता। किन्तु इतना लिखे बिना नहीं रहा जाता कि अपर पक्ष को स्वयं विचार करना चाहिए कि उनके सामने ऐसी कोई बाधा तो

है जिससे समुचित बाह्य पुरुषार्थ करके भी और योग्य निमित्त मिलाने पर भी कार्यसिद्धि नहीं होती। स्पष्ट है कि काललब्धि नहीं आई। अन्य सब तथ्य इसी में निहित हैं **यदि अपर पक्ष अनेकान्त की वास्तव में प्रतिष्ठा करना चाहता है तो उसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप वस्तु को प्रत्येक समय में स्वतः सिद्ध पर निरपेक्ष स्वीकार कर लेना चाहिए। धर्म-धर्मी की सिद्धि में परस्पर सापेक्षता का व्यवहार किया जाये, यह दूसरी बात है। वस्तु में अनेकान्त की प्रतिष्ठा इसी मार्ग से हो सकती है, अन्य मार्ग से नहीं।**

इस प्रकार समयसार गाथा २७२ का क्या आशय है इसके स्पष्टीकरण के साथ प्रकृत प्रश्न सम्बन्धी प्रस्तुत प्रतिशंका का सांगोपांग विचार किया।

●

प्रथम दौर

: 1 :

शंका 17

उपचार का लक्षण क्या है ? निमित्तकारण और व्यवहारनय में यदि क्रमशः कारणता और नयत्व का उपचार है तो इनमें उपचार लक्षण घटित कीजिये ?

समाधान 1

(१) पर के सम्बन्ध (आश्रय) से जो व्यवहार किया जाता है, उसे उपचार कहते हैं। इसका उदाहरण देते हुए समसारकलश में कहा है—

घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत्।
जीवो वर्णादिमज्जीवजल्पनेऽपि न तन्मयः ॥४०॥

अर्थ - यदि 'घी का घड़ा'—ऐसा कहने पर भी जो घड़ा है, वह घीमय नहीं है(मिट्टीमय ही है) तो इस प्रकार 'वर्णादिमान् जीव'—ऐसा कहने पर भी जो जीव है, वह वर्णादिमय नहीं है (ज्ञानघन ही है) ॥४०॥

पर के योग से जो व्यवहार किया जाता है, उसे उपचार कहते हैं। इसका विशदरूप से स्पष्टीकरण श्लोकवार्तिक के इस वचन से भी हो जाता है—

न हि उपचरितोऽग्निः पाकादावुपयुज्यमानो दृष्टः, तस्य मुख्यत्वप्रसंगात्।

- श्लोकवार्तिक, अ. ४ सू. ९

अग्नि के स्थान में उपचरित अग्नि का उपयोग नहीं देखा जाता, अन्यथा उसे मुख्य अग्नि (यथार्थ अग्नि) हो जाने का प्रसंग आता है।

इसी प्रकार परमागम में उपचार के—

मुख्योपचारभेदैस्तेऽवयवैः परिवर्जिताः। *- त. श्लो. पृ. ४१९*

भूतादिव्यवहारोऽतः कालः स्यादुपचारतः। *- त. श्लो., पृ. ४१९*

अनेक उल्लेख उपलब्ध होते हैं। जिनके अनुगम करने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि मूल वस्तु के वैसा न होने पर भी प्रयोजनादिवश उसमें पर के सम्बन्ध से व्यवहार करने को उपचार कहते हैं।

मुख्य के अभाव में निमित्त और प्रयोजनादि बतलाने के लिये उपचार प्रवृत्त होता है।

(२) जिस प्रकार निश्चय कारक छह प्रकार के हैं, उसी प्रकार व्यवहार कारक भी छह प्रकार के हैं—कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण। ऐसा नियम है कि जिस प्रकार कार्य की निश्चय कारकों के साथ आभ्यन्तर व्याप्ति होती है, उसी प्रकार अनुकूल दूसरे एक या एक से अधिक पदार्थों में कार्य की बाह्य व्याप्ति नियम से उपलब्ध होती है। एक मात्र वस्तुस्वभाव के इस अटल नियम को ध्यान में रखकर परमागम में जिसके साथ आभ्यन्तर व्याप्ति पाई जाती है, उसे उपादान कर्ता आदि कहा गया है और उस काल में जिस दूसरे पदार्थ के साथ बाह्य व्याप्ति पाई जाती है, उसमें निमित्तरूप व्यवहार का अवलम्बन कर जिसमें कर्त्तारूप व्यवहार होता है, उसे कर्त्ता निमित्त कहते हैं, और जिसमें कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण कारक का व्यवहार होता है, उसे कर्म निमित्त, करण निमित्त आदि कहते हैं। इस प्रकार कार्य के अनुकूल परद्रव्य की विवक्षित पर्याय में कर्त्ता निमित्त आदि का किस प्रकार उपचार होता है, इसका सम्यक् प्रकार ज्ञान हो जाता है। यहाँ आभ्यन्तर व्याप्ति और बाह्य व्याप्ति आदि के विषय में जो कुछ लिखा गया है, उसकी पुष्टि समयसार गाथा ८४ की टीका से होती है। वहाँ लिखा है—

बहिर्व्याप्यव्यापकभावेन कलशसम्भवानुकूलं व्यापारं कुर्वाणः कलशकृत-तोयोपयोगजां तृप्तिं भाव्यभावकभावेनानुभवंश्च कुलालः कलशं करोत्यनुभवति चेति लोकानामनादिरूढोऽस्ति तावद् व्यवहारः। तथान्तरव्याप्यव्यापकभावेन पुद्‌गलद्रव्येण कर्माणि क्रियमाणे भाव्यभावकभावेन पुद्‌गलद्रव्यमेवानुभूयमाने च.....।

बाह्य-व्याप्य-व्यापकभाव से घड़े की उत्पत्ति में अनुकूल ऐसे (इच्छारूप और हाथ आदि की क्रियारूप अपने) व्यापार को करता हुआ तथा घड़े के द्वारा किये गये पानी के उपयोग में उत्पन्न तृप्ति को (अपने तृप्ति-भाव को) भाव्य-भावकभाव के द्वारा अनुभव करता हुआ-भोगता हुआ, कुम्हार घड़े का कर्त्ता है और भोक्ता है—ऐसा लोगों का अनादिरूढ़ व्यवहार है। उसी प्रकार आभ्यन्तर व्याप्य-व्यापकभाव से पुद्‌गलद्रव्य कर्म को करता है और भाव्यभावकभाव से पुद्‌गलद्रव्य ही कर्म को भोगता है.......।

व्यवहारनय नयज्ञान का एक भेद है। उसका कार्य जहाँ जैसा व्यवहार किया जाता हो, उसको जाननामात्र है, उसे उसी रूप में जानता हैं; इसलिए उसकी परिगणना सम्यग्ज्ञान में की जाती है, अत: उसमें किसी प्रकार के उपचार करने का कोई प्रयोजन न होने से वह अनुपचरित ही है।

•

द्वितीय दौर

: 2 :

शंका 17

प्रश्न यह था—उपचार का लक्षण क्या है ? निमित्तकारण और व्यवहारनय में यदि क्रमशः कारणता या नयत्व का उपचार है तो इसमें उपचार का लक्षण घटित कीजिये ?

प्रतिशंका 2

इस प्रश्न के उत्तर में यद्यपि आपने उपचार का लक्षण 'पर के सम्बन्ध (आश्रय) से व्यवहार करना' बतलाया है, परन्तु इस लक्षण में जो व्यवहार शब्द पड़ा हुआ है, उसका जब तक अर्थ स्पष्ट नहीं हो जाता, तब तक उपचार को समझने की आवश्यकता बनी रहती है। दूसरी बात यह है कि इस लक्षण में पठित 'पर के सम्बन्ध' शब्द का अर्थ आपने 'पर के आश्रय' किया है, लेकिन इससे उपचार शब्द बिलकुल संकुचित अर्थ का बोधक रह गया है, जिसका परिणाम यह है कि लक्षण के आधार पर जिस प्रकार आप घी के आधारभूत घट को घृतकुम्भ कह सकते हैं, उस प्रकार '**जीवो वर्णादिमान्**' नहीं कह सकते हैं, क्योंकि जीव न तो वर्णादिक का आधारभूत है और न वर्णादिविशिष्ट पुद्गल द्रव्य का ही आधारभूत है। इसी प्रकार '**अन्नं वै प्राणाः**, '**सिंहो माणवकः**' इत्यादि स्थलों में भी इस लक्षण के आधार पर उपचार की प्रवृत्ति नहीं की जा सकती है।

यद्यपि आगे चलकर आपने 'उपचार' शब्द का कुछ परिमार्जित दूसरा अर्थ भी किया

है, जैसा कि आपने लिखा है कि 'मूल वस्तु के वैसा न होने पर भी प्रयोजनादिवश उसमें पर के सम्बन्ध से व्यवहार करने को उपचार कहते हैं' परन्तु इसमें भी पठित 'व्यवहार' शब्द से आपको क्या अर्थ अभीष्ट है ? और 'प्रयोजनादि' शब्द के अन्तर्गत आदि शब्द से आप किस अर्थ का बोध कराना चाहते हैं ? यदि इतनी बात आप स्पष्ट कर दें तो फिर हम और आप उपचार के लक्षण के सम्बन्ध में सम्भवतः एकमत हो सकते हैं।

वास्तव में 'एक वस्तु या धर्म को किसी वस्तु या धर्म में आरोप करना' ही उपचार का युक्तिसंगत लक्षण है, क्योंकि इस लक्षण के आधार पर **'घृतकुम्भ'** **'जीवो वर्णादिमान'** **'अन्नं वै प्राणाः'** और **'सिंहो माणवकः'** आदि वाक्य प्रयोगों की संगति उचित ढंग से हो जाती है। परन्तु यदि आपको हमारे द्वारा मान्य उपचार के इस लक्षण को, जो कि आपके द्वितीय लक्षण के बहुत समीप है, आप स्वीकार न करें तो कृपया नीचे लिखी बातों का उत्तर दें—

(१) द्वितीय लक्षण में पठित 'व्यवहार' शब्द से आपको क्या अभिप्रेत है ?

(२) उसी में पठित 'प्रयोजनादि' पद के आदि शब्द से भी आप कौन-सा पदार्थ गृहीत करना चाहते हैं ?

आगे आपने लिखा है कि 'मुख्य के अभाव में निमित्त तथा प्रयोजन को दिखलाने के लिये उपचार प्रवृत्त होता है' हो सकता है यह आपने आलापपद्धति के—

मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते च उपचारः प्रवर्तते।

- इस कथन के आधार पर ही लिखा हो। इसलिये हमें यहाँ पर यह कह देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि आलापपद्धति के उक्त वाक्य का अर्थ करने में आपने थोड़ी भूल कर दी है। उसका सुसंगत अर्थ यह है कि 'मुख्य का अभाव रहते हुये निमित्त और प्रयोजन के वश उपचार प्रवृत्त होता है।'

इस अर्थ में हमारे और आपके मध्य अन्तर यह है कि जहाँ आप उपचार की प्रवृत्ति निमित्त और प्रयोजन दिखलाने के लिये करना चाहते हैं, वहाँ हमारा कहना है कि उपचार करने का कुछ प्रयोजन हमारे लक्ष्य में हो और उसका (उपचार का) कोई निमित्त (कारण) वहाँ विद्यमान हो तो उपचार की प्रवृत्ति होती है।

उपचार की इस प्रकार की यह प्रवृत्ति **'घृतकुम्भः'**, **'जीवो वर्णादिमान्'**, **'अन्नं**

वै प्राणाः' और '**सिंहो माणवकः'** आदि जहाँ-जहाँ आवश्यकता होती है, वहाँ-वहाँ ही की जाती है।

अब विचार यह करना है कि निमित्तकारण में कारणता का और व्यवहारनय में नयत्त्व का उपचार करना क्या आवश्यक है? और यदि आवश्यक है तो क्या वह सम्भव है, तथा इनमें उपचार का लक्षण घटित होता है क्या?

आपके उत्तर में इन बातों पर आपका मत यह है कि कारणता उपादान में ही रहा करती है, उसी कारणता का निमित्त में आरोप किया जाता है और तब इसके आधार पर ही निमित्त को उपचरित कारण कह दिया जाता है जैसा कि 'जैन तत्त्वमीमांसा' में उद्धृत नयचक्र की निम्नलिखित गाथा के वहाँ पर किये गये अर्थ से फलित होता है—

बंधे च मोक्ख हेऊ अण्णो ववहारदो य णायव्वो।
णिच्छयदो पुण जीवो भणिओ खलु सव्वदरसीहिं॥२३५॥

इस गाथा का जो अर्थ 'जैन तत्त्वमीमांसा' में दिया है वह निम्न प्रकार है—

व्यवहार से (उपचार से) बन्ध और मोक्ष का हेतु अन्य पदार्थ (निमित्त) को जानना चाहिये, किन्तु निश्चय (परमार्थ) से यह जीव स्वयं बन्ध का हेतु है और यही जीव स्वयं मोक्ष का हेतु है॥२३५॥

यहाँ पर विचारना यह है कि जो यह अर्थ गाथा का 'जैन तत्त्वमीमांसा' में दिया गया है, क्या वह ठीक है? तो इस पर हमारा कहना है कि वह अर्थ ठीक नहीं है। कारण कि हमारी समझ में यह नहीं आता है कि गाथा में पठित अन्य शब्द का अर्थ वहाँ निमित्त किस आधार पर किया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि यदि गाथा में निमित्त का विरोधी उपादान शब्द होता तो उस हालत में अन्य शब्द का 'निमित्त' अर्थ करना अनुचित नहीं था, परन्तु जब गाथा में उपादान शब्द न होकर जीव शब्द पाया जाता है तो इससे स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ अन्य शब्द से जीव के प्रतिपक्षी कर्म तथा नोकर्म को ही ग्रहण करना चाहिये। यदि यह तथ्य आप स्वीकार कर लें तो फिर गाथा में पठित '**ववहारदो**' और '**णिच्छयदो**' शब्दों के अर्थ भी आपको दृष्टिगत करने होंगे। इस तरह गाथा का जो अर्थ हमारी दृष्टि से हो सकता है, वह इस प्रकार होगा—

'बन्ध और मोक्ष में जीव निश्चयनय से कारण होता है अर्थात् उपादान कारण होता

है और जीव से अन्य-कर्म नोकर्मरूप पदार्थ व्यवहारनय से कारण होते हैं अर्थात निमित्त कारण होते हैं।'

अब आप अनुभव करेंगे कि बन्ध और मोक्ष के प्रति इस गाथा के द्वारा जीव में तो उपादान कारणता स्थापित की गई है। और कर्म तथा नोकर्म में निमित्त कारणता स्थापित की गई है। इसी बात को प्रकट करने के लिए यहाँ पर निश्चय (स्वाश्रित) नय व व्यवहार (पराश्रित) नय का प्रयोग किया गया है। आप व्यवहार का उपचार अर्थ करके निमित्त कारण में असत्यता सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, यह संगत नहीं मालूम होता। क्योंकि एक वस्तु का वस्तुत्व उपादान नहीं है और दूसरी वस्तु का वस्तुत्व निमित्त नहीं है। किन्तु अपने स्वतन्त्र वस्तुत्व को रखते हुए विवक्षित वस्तु में विवक्षित कार्य के प्रति आश्रय होने से उपादान कारणता है और अपने स्वतन्त्र वस्तुत्व को रखती हुई अन्य विवक्षित वस्तु में सहायक होने से निमित्त कारणता है। निमित्त और उपादान कारणों के व्युत्पत्यर्थ पर यदि ध्यान दिया जाये तो एक वस्तु में उपादानता का वास्तविक रूप क्या है? और दूसरी वस्तु में निमित्त का वास्तविक रूप क्या है? यह अच्छी तरह समझ में आ जाता है। इनका व्युत्पत्यर्थ निम्न प्रकार है —

'**उपादीयतेऽनेन**' इस विग्रह के आधार पर 'उप' उपसर्गपूर्वक आदानार्थक 'आ' उपसर्ग विशिष्ट 'दा' धातु से कर्त्ता के अर्थ में ल्युट् प्रत्यय होकर उपादान शब्द निष्पन्न हुआ है। इस तरह जो वस्तु विवक्षित परिणमन को स्वीकार करे या ग्रहण करे अथवा जिसमें परिणमन निष्पन्न हो, वह वस्तु उपादान कहलाती है; इसी प्रकार '**निमेद्यति**' इस विग्रह के आधार पर 'नि' उपसर्ग पूर्वक 'मिद्' धातु से भी कर्तृ अर्थ में 'क्त' प्रत्यय होकर निमित्त शब्द निष्पन्न हुआ है। इस तरह निमित्त शब्द का अर्थ उपादान के प्रति मित्रवत् स्नेह करने वाला या उपादान को उसकी विवक्षित कार्यरूप परिणति में सहायता देने वाला होता है।

इस तरह हम देखते हैं कि विवक्षित कार्य के प्रति कार्य का आश्रय होने के कारण विवक्षित वस्तु में विद्यमान उपादान कारणता जिस प्रकार वास्तविक है उसी प्रकार उसी विवक्षित कार्य के प्रति सहायक होने के कारण विवक्षित अन्य वस्तु में विद्यमान निमित्त कारणता भी वास्तविक सिद्ध होती है। इससे यह बात निष्पन्न होती है कि जिस प्रकार अपना स्वतन्त्र अस्तित्त्व रखती हुई विवक्षित वस्तु विवक्षित कार्य के प्रति वास्तविक उपादान कारण

है उसी प्रकार अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती हुई अन्य विवक्षित वस्तु भी उस विवक्षित कार्य के प्रति वास्तविक निमित्त कारण है। अब आपसे पूछना चाहते हैं—

उपादान वस्तुगत कारणता का निमित्तभूत वस्तु में आरोप क्या आपको अभीष्ट है और यदि अभीष्ट भी है तो क्या संभव है। आगे इन्हीं प्रश्नों पर विचार करना है।

यह तो निर्विवाद है कि लोक में जिस प्रकार उपादानभूत वस्तु की कार्यरूप परिणति देखी जाती है उस प्रकार निमित्तभूत वस्तु की कार्य रूप परिणति नहीं देखी जाती। यही कारण है कि जैन संस्कृति में निमित्त की कार्यरूप परिणति नहीं स्वीकार की गई है, इसलिये निमित्तभूत वस्तु में एक तो कारणता का आरोप अभीष्ट नहीं हो सकता है, न वह आवश्यक है और न वह संभव ही है, क्योंकि आलापपद्धति ग्रन्थ के अनुसार एक वस्तु में अथवा धर्म में दूसरी वस्तु अथवा धर्म का आरोप निमित्त और प्रयोजन रहते हुए ही हो सकता है जो कि यहाँ घटित नहीं होता है, क्योंकि उपादानभूत वस्तुगत कारणता का आरोप निमित्तभूत वस्तु में करने के लिये कोई निमित्त (कारण) नहीं है और न उस आरोप का कोई प्रयोजन ही रह जाता है। कारण कि बिना आरोप के ही अभीष्ट सिद्धि हो जाती है।

जब हम अध्यात्म की व्याख्या को पढ़ते और सुनते हैं तो वह केवल एक द्रव्य में तादात्म्य से स्थित सब धर्मों को स्वाश्रित होने से वास्तविक मानता है और जहाँ पर की अपेक्षा वर्णन किया जाता है तब उसे व्यवहार अवास्तविक एवं सरल भाषा में उपचरित शब्द से कहा जाता है, किन्तु वस्तुत: जिस धर्म को उपादान की दृष्टि से उपादेय कहा जाता है वही धर्म निमित्त की अपेक्षा नैमित्तिक कहलाने लगता है। इस तरह एक ही उपादान का परिणमन दो रूप कहा जाता है, इसलिये उसे अध्यात्म की भाषा में स्वपरप्रत्यय कहते हैं। जैसे जीव की नर-नारकादि पर्याय और मिट्टी की घट कपालादि पर्याय। इन्हें आगम भाषा में वैभाविक पर्यायें भी कहते हैं।

इस तरह जब उपादानगत वह परिणमन उपादेय और नैमित्तिक उभयरूप है तब उपादान के व्यापार को वास्तविक और निमित्त के व्यापार को अवास्तविक कैसे कहा जा सकता है। जब कि उपादान और निमित्त दोनों के वास्तविक व्यापारों से वह आत्मलाभ पाता है।

आगे आपने जो निश्चय और व्यवहारकारक बतलाये हैं तथा अन्तर्व्याप्ति और बहिर्व्याप्ति का प्रतिपादन किया है वह भी क्रमश: परस्पर सापेक्ष उपादान और निमित्तों के पृथक्-पृथक् व्यापाराधीन है। अनेकान्त की वस्तुव्यवस्था यही है अर्थात् जिस समय उपादान कारक और

अन्तर्व्याप्ति का लक्ष्य रहता है, तब निमित्त कारक है, बहिर्व्याप्ति गौण हो जाती है और इसी तरह जब निमित्त कारक और बहिर्व्याप्ति का लक्ष्य रहता है, तब उपादान कारक और अन्तर्व्याप्ति गौण हो जाती है। वस्तुत: कार्य की उत्पत्ति में दोनों आवश्यक हैं और दोनों ही वास्तविक हैं। लोक में भी दोनों ही प्रकार के वचन प्रयोग पाये जाते हैं। जैसे 'मिट्टी से घड़ा बना है।' अथवा 'कुम्भकार ने मिट्टी से घड़ा बनाया है' दोनों ही वचन प्रयोग लोक में सत्यार्थ का प्रतिपादन करते हैं।

जैन तत्त्वज्ञान उभयनयसापेक्ष है। यह बात जुदी है कि कहीं निश्चयप्रधान कथन है और कहीं व्यवहार प्रधान कथन है। जहाँ निश्चय प्रधान कथन हैं वहाँ व्यवहारनय से उसे समन्वित कर लेना चाहिये और जहाँ व्यवहार प्रधान कथन हैं वहाँ उसे निश्चय से समन्वित कर लेना चाहिये। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी के निम्नांकित वचन हमारे मार्गदर्शक है—

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव॥४॥

- समयसार गाथा १२ कलश

अर्थ - जो पुरुष उभयनय के विरोध को नष्ट करने वाले और स्यात् पद से चिह्नित जिनेन्द्र भगवान् के वचनों में स्वयं मोह-मिथ्यात्व रहित होकर रमण करते हैं, ये उत्कृष्ट तथा अनयपक्ष से अक्षुण्ण-मिथ्यानयों के संचार से रहित उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप समयसार का, आत्मा की शुद्ध परिणति का शीघ्र ही अवलोकन करते हैं।

●

शंका 17

उपचार का लक्षण क्या है? निमित्त कारण और व्यवहार नय में यदि क्रमशः कारणता और नयत्व का उपचार है तो इनमें उपचार का लक्षण घटित कीजिए?

प्रतिशंका 2 का समाधान

इस प्रश्न के पिछले समाधान में हम यह बतला आये हैं कि पर के सम्बन्ध (आश्रय) से जो व्यवहार किया जाता है, उसे 'उपचार' कहते हैं। इस लक्षण में आश्रय का अर्थ आधार

मानकर '**वर्णादिमान् जीवः**' इत्यादि उदाहरणों में आधाराधेयभाव नहीं है यह बतलाकर लक्षण का खण्डन किया है वह संगत नहीं है, क्योंकि वहाँ आश्रय का अर्थ 'सम्बन्ध' स्वयं लिखा गया है, आधार नहीं। उपचार का उक्त लक्षण '**वर्णादिमान् जीवः**' में घटित होने की बात स्वयं अमृतचन्द्रस्वामी ने श्लोक ४० में लिखी है, जिसका उद्धरण हम अपने समाधान में दे चुके हैं, अतः सुसंगत है।

उपचार का जो दूसरा लक्षण हमने किया है, उसे ठीक बताते हुए भी प्रयोजनादि शब्द में 'आदि' शब्द से और व्यवहार शब्द से क्या अर्थ लिया गया है यह पृच्छा की है और लिखा है कि 'इतनी बात आप स्पष्ट कर दें तो फिर हम आप उक्त लक्षण के सम्बन्ध में संभवतः एकमत हो सकते हैं,' सो 'आदि' शब्द से निमित्त लिया गया है, तथा व्यवहार शब्द के अर्थ को समझने के लिये उसके पर्यायवाची नाम जो आगम में आते हैं, वे हैं–व्यवहार–आरोप–उपचार आदि। नीचे लिखे आगम वाक्यों में 'उपचार' शब्द का उपयोग आया है, जिससे उस शब्द का अर्थ स्पष्ट हो जायेगा।

दिशोऽप्याकशेऽन्तर्भावः आदित्योदयाद्यपेक्षया आकाशप्रदेशपंक्तिषु इत इदमिति व्यवहारोपतेः। *– सर्वा .अ. ५ सूत्र ३, टीका*

परप्रत्ययोऽपि अश्वादिगतिस्थित्यगाहनहेतुत्वात् क्षणे तेषां भेदात् तद्धेतुत्वमपि भिन्नमिति परप्रत्ययापेक्ष उत्पादो विनाशश्च व्यवह्रियते। *– सर्वा. अ. ५ सूत्र ७, टीका*

घर्मादीनां पुनरधिकरणं आकाशमित्युच्यते व्यवहारनयवशात्

– सवा. अ. ५, सूत्र १२, टीका

यथार्थ का नाम निश्चय और उपचार का नाम व्यवहार है।

– मो.मा.प्र. अधि.७, पृ. २८७

उपचार कर तिस द्रव्य के भाव को अन्य द्रव्य के भावस्वरूप निरूपण करना सो व्यवहार है। *– मो. मा. प्र. अधि. ७, पृष्ठ ३६९*

असद्भूतव्यवहार एवं उपचारः। *– आलापपद्धति, पृष्ठ १३२*

जीवपुद्गलानां क्रियाबतां अवगाहिनां अवकाशदानं युक्तं धर्मस्तिकायादयः पुनः निष्क्रियाः नित्य सम्बन्धास्तेषां कथमवगाहः इति चेन्न, उपचारतस्तत् सिद्धे॥

– सर्वा. अ. ५, सूत्र १८ टीका

मुह्यते इति मोहनीयम्। एवं संते जीवस्स मोहणीयत्तं पसज्जदि त्ति णासंकणिज्जं

जीवादो अभिण्णम्हि पोग्गलदव्वे कम्मसण्णिदे उवयारेण कत्तारत्तमारोविय तघा उत्तीदो।

- धवला पुस्तक ६, पृ. ११

उक्त उद्धरणों में आए हुए उपचार-व्यवहार-आरोप आदि शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में हुआ है यह विद्वानों के लिए स्पष्ट है।

प्रतिशंका २ के लेखानुसार 'आदि' और 'व्यवहार' शब्द से क्या इष्ट है यह बताया गया। अत: यदि हमारे लक्षण से आप अपने लेखानुसार एकमत हों तो प्रसन्नता की बात होगी।

'एक वस्तु या धर्म को किसी वस्तु या धर्म मे आरोप करना' उपचार का जो दूसरा लक्षण प्रस्तुत किया है इसमें हमें कोई विरोध नहीं है, क्योंकि दोनों लक्षण एक ही अर्थ को प्रतिपादित करते है।

निमित्त की कारणता के उपचार के सम्बन्ध में जो नयचक्र की (पृ. ८३) २३५ वीं गाथा जैनतत्त्व मीमांसा में पृ. १६ पर दी गई है उसके अर्थ को गलत बताकर व्यर्थ की आपत्ति उठाई गई है। गाथा इस प्रकार है।

बंधे च मोक्ख हेऊ अण्णो ववहारदो य णायव्वो।
णिच्छयदो षुण जीवो भणियो खसु सव्वदरसीहिं॥२३५॥

इस गाथा का अर्थ जो हमने किया है वह इस प्रकार है—

अर्थ - व्यवहार से (उपचार से) बन्ध और मोक्ष का हेतु अन्य पदार्थ (निमित्त) को जानना चाहिए, किन्तु निश्चय (परमार्थ) से यह जीव स्वयं बन्ध का हेतु है ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है।

प्रतिशंका में यह आलोचना की गई है कि 'हमारी समझ में यह नहीं आता कि गाथा में पठित 'अन्य (अण्णो) शब्द का अर्थ वहां 'निमित्त' किस आधार पर किया गया है....... गाथा में उपादान शब्द जब नहीं है, 'जीव' शब्द पाया जाता है।'

अब प्रतिशंका २ में जो अर्थ उक्त गाथा का किया गया है उसे पढ़िये—

अर्थ - बन्ध और मोक्ष में जीव निश्चयनय से कारण होता है अर्थात् उपादान कारण होता है और जीव से अन्य कर्म-नोकर्मरूप पदार्थ व्यवहारनय से कारण होते है अर्थात् निमित्त कारण होते हैं।

पाठक देखेंगे कि 'अन्य' शब्द का अर्थ हमने निमित्त किया था उस पर आपत्ति उठाई

थी, पर प्रति शंका २ में उसका अर्थ कर्म-नोकर्म रूप ापदार्थ को 'निमित्त' ही लिखा है और जीव शब्द को 'उपादान' शब्द से ही लिखा गया है। इस तरह अर्थ भेद न होते हुए भी आपत्ति की है। जो कि उचित नहीं मानी जा सकती। जब जीव को बंध का निश्चय से कारण कहा था तव वह उपादान ही तो हुआ और अन्य का अर्थ बन्ध प्रकरण में जीव से भिन्न कर्म-नीकर्म ही होंगे, तब व्यर्थ अर्थ भेद कर खण्डन किया गया है यह सहज ही समझा जा सकता है।

आगे चलकर प्रतिशंका २ में यह बताया गया ह कि उपादान कारणता की तरह निमित्त करणता भी वास्तविक है सो निमित्त कारणता को वास्तविक कहने का क्या अर्थ है? इसमें कोई स्पष्टीकरण तथा आगम प्रमाण न होने से विचार नहीं किया जा सकता। आगम में सर्वत्र निमित्त को व्यवहार से कारण स्वीकार किया गया है और व्यवहार का अर्थ उपचार है यह पूर्व में हम सिद्ध कर आये हैं। उपादान वस्तुगत कराणता का अन्य वस्तु में आरोप निश्चय की सिद्धि के लिये ही किया जाता है और इसीलिये उसे निमित्त कारण कहा जाता है और इसीलिये उसमें कर्ता आदि का व्यवहार करते हैं।

यही बात अनगारधर्मामृत के प्रथम अध्याय में प्रतिपादित है।

कर्त्राद्या वस्तुननो भिन्नाःयेन निश्चयसिद्धये।
साध्यन्ते व्यवहारोऽसौ निश्चयस्तदमेदहक्॥१०२॥

अर्थ - जिसके द्वारा निश्चय की सिद्धि के लिये वस्तु से भिन्न कर्त्ता आदि साधे जाते है, वह व्यवहार है और निश्चय वस्तु से अभिन्न कर्ता आदि को देखता है।

'मिट्टी से घड़ा बना है। कुम्भकारने मिट्टी से घड़ा वनाया है।' उक्त प्रकार से लोक में दोनों प्रकार के वचन प्रयोग देखे जाते हैं; ऐसा लिखना ठीक है पर इन वचन प्रयोगों में मिट्टी के साथ जैसे घट की अन्तर्व्याप्ति है वैसी कुंभकार के साथ नहीं। अब निश्चय से कर्त्ता-कर्म षड्कारक की प्रवृत्ति उपदान से है, निमित्त से नहीं यह बात हम समयसार गाथा ८४ की टीका से अपने उत्तर में सिद्ध कर आये है।

इससे भिन्न जो लिखा है कि 'परिणमन उभयरूप है' वह बिना आगम प्रमाण के दिए लिखा गया है, अत: मान्य नहीं हो सकता। यदि परिणमन उभय रूप होता तो घट में कुंभकारका भी रूप आता पर ऐसा नहीं होता।

जैनतत्त्वज्ञान उभयनया सापेक्ष वस्तु व्यवस्थापक है यह निर्विवाद है पर दोनों नयो में वस्तु जिस रूप में विवक्षित है उसी रूप से उसे जानना चाहिये और तभी अनेकान्त की सिद्धि होती है।

•

तृतीय दौर

: 3 :

शंका 17

उपचार का लक्षण क्या है ? निमित्त कारण और व्यवहार में यदि क्रमशः कारणता और नयत्व का उपचार है तो इनमें उपचार का लक्षण घटित कीजिये ?

प्रतिशंका 3

इस प्रश्न का उत्तर लिखते हुए आपने अपने प्रथम उत्तर में उपचार का लक्षण निम्न प्रकार लिखा था—

'पर के सम्बन्ध (आश्रय) से जो व्यवहार किया जाता है, उसे उपचार कहते हैं।'

इस लक्षण में आपने स्वयं 'सम्बन्ध' शब्द का अर्थ 'आश्रय' किया है, इसीलिये हमारी तरफ से यह आपत्ति उपस्थित की गयी थी कि 'सम्बन्ध' शब्द का अर्थ 'आश्रय' करने पर उपचार शब्द का अर्थ बिलकुल संकुचित हो गया है, इसलिये उपचार का यह लक्षण '**जीवो वर्णादिमान्**' में घटित नहीं हो सकता हैं। अब आपने अपने द्वितीय उत्तर में यह लिखा है कि 'आश्रय' का अर्थ 'सम्बन्ध' है 'आधार' नहीं। अच्छा तो यही होता कि आप प्रथम ही 'सम्बन्ध' शब्द का अर्थ 'आश्रय' न करते। उस हालत में हमें आपत्ति उपस्थित करने को बाध्य नहीं होना पड़ता, क्योंकि यह बात तो हमें भी मालुम है कि आचार्य अमृतचन्द्र ने '**जीवो वर्णादिमान्**' इस वाक्य में उपचार स्वीकार किया है। आपके कथन से स्पष्ट हो गया है कि 'सम्बन्ध' शब्द का अर्थ आपको 'आश्रय' अभीष्ट नहीं है, केवल 'सम्बन्ध सामान्य' ही 'सम्बन्ध' शब्द का अर्थ आपको अभीष्ट है।

इसके पहले हमने आपसे प्रश्न किया था कि आपके द्वारा माने गये उल्लिखित लक्षण में जो 'व्यवहार' शब्द आया है, उसका अर्थ क्या है ? इसी प्रकार आपने अपने उसी उत्तर में आगे जो दूसरा उपचार का लिखा था उसमें भी 'व्यवहार' शब्द का प्रयोग आपने किया है, इसलिये उस लक्षण में पठित 'व्यवहार' शब्द का भी अर्थ हमें पूछने के लिये बाध्य होना पड़ा था।

इस उत्तर में आपने लिखा है कि माने हुए उपचार के लक्षण में आये हुए 'व्यवहार' शब्द के पर्यायवाची शब्द आरोप और उपचार हैं। साथ ही यह लिखकर कि 'नीचे लिखे आगम वाक्यों में 'उपचार' शब्द का उपयोग आया है, जिससे उक्त शब्द का अर्थ स्पष्ट हो जायेगा।' आगे उन आगम वाक्यों का उल्लेख भी आपने कर दिया है और अन्त में यह भी आपने लिख दिया है कि 'उद्‌धृत सभी आगम वाक्यों में आये हुए उपचार, व्यवहार, आरोप आदि शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में हुआ है, यह बात विद्वानों के लिये स्पष्ट है।'

इस तरह हम देखते हैं कि आपके द्वारा मान्य उपचार के लक्षणों मे प्रयुक्त 'व्यवहार' शब्द का अर्थ—आपके उत्तर से स्पष्ट नहीं हो सका। यह ठीक है कि विद्वानों के लिये व्यवहार, उपचार, आरोप आदि शब्दों के अर्थ स्पष्ट हैं, परन्तु उपचार के लक्षण में पठित व्यवहार शब्द का आपको कैसा अर्थ ग्राह्य है, यह जानने के लिये ही हमने अपने प्रश्न में आपसे उसका अर्थ पूछा था, अज्ञात होने के कारण नहीं पूछा था।

व्यवहार शब्द के प्रकरणानुसार बहुत से अर्थ होते हैं। उनमें से कुछ अर्थ यहाँ पर दिये जा रहे हैं—

व्यवहार शब्द वास्तव में निश्चय शब्द सापेक्ष होकर ही अपने अर्थ का प्रतिपादन करता है। प्रत्येक वस्तु में यथासम्भव अनेक प्रकार के निश्चय और व्यवहार रूप धर्मों के विकल्प पाये जाते हैं। जैसे—द्रव्य और पर्याय के विकल्पों में द्रव्यरूपता निश्चय और पर्यायरूपता व्यवहार है, गुण और पर्याय के विकल्पों में गुणरूपता निश्चय है और पर्यायरूपता व्यवहार है, सहवर्तित्व और क्रमवर्तित्व के विकल्पों में सहवर्तित्व निश्चय है और क्रमवर्तित्व व्यवहार है, अन्वय और व्यतिरेक के विकल्पों में अन्वयरूपता निश्चय है और व्यतिरेकरूपता व्यवहार है, योगपद्य और क्रम के विकल्पों में योगपद्य निश्चय है और क्रमरूपता व्यवहार है, निर्विकल्प और सविकल्प के विकल्पों मे निर्विकल्पकता निश्चय है और सविकल्पकता व्यवहार है, अवक्तव्य और वक्तव्य के विकल्पों में अवक्तव्यता निश्चय है और वक्तव्यता

व्यवहार है, वास्तविक और कल्पित के विकल्पों में वास्तविकता निश्चय है और कल्पितरूपता व्यवहार है, अनुपचरित और उपचरित के विकल्पों में अनुपचरितता निश्चय है और उपचरितता व्यवहार है, कार्य और कारण, साध्य और साधन तथा उद्देश्य और विधेय के विकल्पों में कार्यरूपता, साध्यरूपता और उद्देश्यरूपता निश्चय है तथा कारणरूपता, साधनरूपता और विधेयरूपता व्यवहार है, उपादान और निमित्त के विकल्पों में उपादानरूपता निश्चय है और निमित्तरूपता व्यवहार है, अन्तरंग और बहिरंग के विकल्पों में अन्तरंगरूपता निश्चय है और बहिरंगरूपता व्यवहार है, द्रव्यलिंग और भावलिंग के विकल्पों में भाव निश्चय है और द्रव्य व्यवहार है, लब्धि और उपयोग तथा शक्ति और व्यक्ति के विकल्पों में लब्धिरूपता और शक्तिरूपता निश्चय है तथा उपयोगरूपता और व्यक्तिरूपता व्यवहार है, स्वाश्रित और पराश्रित के विकल्पों में स्वाश्रितता निश्चय है और पराश्रितता व्यवहार है, स्वभाव और विभाव के विकल्पों में स्वभाव निश्चय है और विभाव व्यवहार है, अबद्धता और बद्धता के विकल्पों में अबद्धता निश्चय है और बद्धता व्यवहार है, मुक्ति और संसार के विकल्पों में मुक्ति निश्चय है और संसार व्यवहार है।

इस प्रकार प्रत्येक वस्तु में यथासम्भव विद्यमान अपने-अपने अनन्त धर्मों की अपेक्षा परस्पर विरुद्ध अनन्त प्रकार के निश्चय और व्यवहार के युगलरूप विकल्प पाये जाते हैं। जैन संस्कृति में वस्तु को अनेकात्मक स्वीकार किया गया है, इसलिये उपर्युक्त निश्चय और व्यवहार के विकल्प परस्पर विरोधी होते हुए भी वस्तु में परस्पर समन्वित होकर ही रह रहे हैं। एकत्व और अनेकत्व, नित्यत्व और अनित्यत्व, तद्रूपता और अतद्रूपता, सद्रूपता और असद्रूपता, अभेदरूपता और भेदरूपता इत्यादि युगलों में भी पहला विकल्प निश्चय का और दूसरा विकल्प व्यवहार का है। चूँकि ये सभी वस्तु के ही धर्म हैं, अत: अपने-अपने रूप में सद्भूत हैं, केवल असद्भूत नहीं हैं।

आपने उपचार का यह जो लक्षण लिखा है कि 'मूल वस्तु के वैसा न होने पर भी प्रयोजनादिवश उसमें पर के सम्बन्ध से व्यवहार करने को उपचार कहते हैं। इसमें पठित प्रयोजनादि शब्द के 'आदि' शब्द से निमित्त (कारण) का अर्थ आपको ग्राह्य है तो यह ठीक है। परन्तु यह बात हम अपनी प्रतिशंका २ में पहले ही लिख चुके हैं कि उपचार के इस अर्थ में हमारे आपके मध्य अन्तर यह है कि 'जहाँ आप उपचार की प्रवृत्ति निमित्त और प्रयोजन दिखलाने के लिये करना चाहते हैं वहाँ हमारा कहना यह है कि उपचार करने का कुछ

प्रयोजन हमारे लक्ष्य में हो और उपचार प्रवृत्ति का कोई निमित्त (कारण) वहाँ विद्यमान हो तो उपचार की प्रवृत्ति होगी।''

हमने अपनी प्रतिशंका २ में यह लिखा था कि आपने नयचक्र की 'बन्धे च मोक्ख हेऊ' इस गाथा का अर्थ गलत किया है, तो इस पर आपने प्रत्युत्तर में लिखा है कि 'यह आपत्ति व्यर्थ की उठाई गयी है।' और फिर आगे वहीं पर उभय पक्ष के अर्थों की तुलना करते हुए आपने हमारे और आपके दोनों अर्थों में समानता दिखलाने का निरर्थक प्रयत्न किया है, क्योंकि दोनों अर्थों में बहुत अन्तर है। अपनी प्रतिशंका २ में उस अन्तर को हमने दिखलाया भी है, परन्तु उस पर आपने ध्यान नहीं दिया, इसलिये हम यहाँ पर उसको पुनः स्पष्ट कर रहे हैं—

बन्धे च मोक्ख हेऊ अण्णो ववहारदो य णायव्वो।
णिच्छयदो पुण जीवो भणिओ खलु सव्वदरसीहिं॥२२५॥

आपके द्वारा किया गया अर्थ – 'व्यवहार से (उपचार से) बन्ध और मोक्ष का हेतु अन्य पदार्थ (निमित्त) को जानना चाहिये, किन्तु निश्चय (परमार्थ) से यह जीव स्वयं मोक्ष का हेतु है।'

हमारे द्वारा किया गया अर्थ–'बन्ध और मोक्ष में जीव निश्चयनय से कारण होता है अर्थात् उपादान कारण होता है और जीव से अन्य कर्म-नोकर्मरूप पदार्थ व्यवहारनय से कारण होते हैं अर्थात् निमित्त कारण होते हैं।'

इन दोनों अर्थों में अन्तर यह है कि जहाँ आपने 'अन्य' शब्द का अर्थ 'निमित्त' किया है, वहाँ हमने उसका अर्थ 'कर्म-नोकर्म' किया है। इस तरह 'अण्णो ववहारदो हेदू' का अर्थ जहाँ आपको निमित्त व्यवहार याने उपचार से कारण होता है यह मानना पड़ा है, वहाँ हमने उसका अर्थ ऐसा किया है कि 'कर्म-नोकर्म' रूप वस्तु व्यवहारनय से कारण होती अर्थात् निमित्तकारण होती है।' इस प्रकार जहाँ आपने अपने अर्थ में निमित्त में उपचार से कारणता बतलायी है, वह हमने अपने अर्थ मे कर्म-नोकर्म में वास्तविक निमित्त रूप से कारणता बतलायी है।

हमने आपके अर्थ को गलत और अपने अर्थ को सही इसलिये कहा है कि गाथा के उत्तरार्ध में 'जीवो' शब्द का पाठ है, इसीलिये 'णिच्छयदो पुण जीवो हेऊ' इतने वाक्य का

यही अर्थ युक्ति-युक्त होगा कि 'जीव निश्चयनय से कारण है अर्थात् उपादान कारण है।' आपके द्वारा किये गये इस वाक्य के अर्थ से भी यही आशय निकलता है, इसलिये हमारी समझ में यह नहीं आया कि उत्तरार्ध में 'जीवो' पद का पाठ रहते हुए और उसका अर्थ भी उपादानरूप न करके 'जीव नाम की वस्तु' करते हुए कैसे आप 'अण्णो' पद का निमित्त रूप अर्थ कर गये हैं। कारण कि जीव से अन्य वस्तु यदि कोई इस प्रकरण में गृहीत की जा सकती है तो वह 'कर्म-नोकर्म' ही होगी। निमित्त जीव से अन्य वस्तु नहीं कहला सकती है, वह तो उपादान वस्तु से ही अन्य वस्तु कहला सकती है, इसलिये जब गाथा में उपादान शब्द न होकर जीव शब्द का स्पष्ट पाठ है तो फिर गाथा में 'अण्णो' पद का कर्म-नोकर्म ही अर्थ उपयुक्त हो सकता है, निमित्त रूप अर्थ उपयुक्त नहीं हो सकता है। ऐसी स्थिति में जिस प्रकार 'णिच्छयदो पुण जीवो हेऊ' अर्थात् 'जीव निश्चय से कारण है' इसका आशय 'उपादानरूप से कारण है'—ऐसा आपको लेना पड़ा है उसी प्रकार 'अण्णो ववहारदो हेऊ' का 'कर्म-नोकर्म व्यवहार से कारण है' इस तरह अर्थ करके इसका आशय 'निमित्तरूप से कारण है'—ऐसा आपको लेना चाहिये।

हमारे इतने लिखने का अभिप्राय यह है कि आप गाथा का अपने अभिप्राय के अनुसार अर्थ करके जो निमित्त कारण की असत्यता या कल्पितता सिद्ध करना चाहते हैं वह कदापि नहीं हो सकती है, क्योंकि हम अपनी प्रतिशंका २ में बतला चुके हैं कि 'एक वस्तु का अपना वस्तुत्व उपादान नहीं है और दूसरी वस्तु का अपना वस्तुत्व निमित्त नहीं है, किन्तु अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को रखती हुई विवक्षित कार्य के प्रति आश्रय होने से उपादान कारण है और अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को रखती हुई अन्य विवक्षित वस्तु सहायक होने से निमित्त कारण है।' इससे यह भी तात्पर्य निकल आता है कि जो वस्तु अपने में होने वाले कार्य के प्रति आश्रयपने के आधार पर उपादान होता है, वही वस्तु अन्य दूसरी वस्तु में होने वाले कार्य के प्रति सहायकपने के आधार पर निमित्त भी होती है इसी प्रकार जो वस्तु दूसरी वस्तु में होने वाले कार्य के प्रति सहायकपने के आधार पर निमित्त होती है, वही वस्तु अपने मे होने वाले कार्य के प्रति आश्रयपने के आधार पर उपादान भी होती है। इस तरह जिस प्रकार वस्तु में पायी जाने वाली उपादानता वस्तु का धर्म है, उसी प्रकार वस्तु में पायी जाने वाली निमित्तता भी वस्तु का धर्म ही सिद्ध होता है, इसलिये जिस प्रकार वस्तु में पायी जानेवाली उपादानता वस्तु-धर्म होने के कारण वास्तविक है, उसी प्रकार वस्तु में पायी जाने वाली निमित्तता भी वस्तुधर्म होने के कारण वास्तविक ही सिद्ध होती है।

आपने स्वयं पहले उत्तर में यह स्वीकार किया है कि 'जिस प्रकार निश्चयकारक छः प्रकार के हैं, उसी प्रकार व्यवहारकारक भी छः प्रकार के हैं—कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण। आगे आपने यह भी लिखा है कि 'जिस प्रकार कार्य की निश्चय कारको के साथ आभ्यन्तर व्याप्ति होती है, उसी प्रकार अनुकूल दूसरे एक या एक से अधिक पदार्थों में कार्य की बाह्य व्याप्ति नियम से उपलब्ध होती है।' आगे आपने लिखा है कि 'एकमात्र वस्तु स्वभाव के इस अटल नियम को ध्यान में रखकर परमागम में जिसके साथ आभ्यंतर व्याप्ति पायी जाती है, उसे उपादान कर्ता आदि कहा गया है और उस काल में जिस दूसरे पदार्थ के साथ बाह्य व्याप्ति पायी जाती है उसमें निमित्त रूप व्यवहार का अवलम्बन कर जिसमें कर्त्तारूप व्यवहार होता है, उसे कर्तानिमित्त कहते हैं और जिसमें कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण कारक का व्यवहार होता है उसे कर्मनिमित्त, करणनिमित्त आदि कहते हैं।'

आपने अपने इस कथन में जो यह लिखा है कि 'जिस दूसरे पदार्थ के साथ बाह्य व्याप्ति पायी जाती है, उसमें निमित्त रूप व्यवहार का अवलम्बन कर जिसमें कर्तारूप व्यवहार होता है, उसे कर्ता निमित्त कहते हैं आदि', इसमें 'निमित्त रूप व्यवहार का अवलम्बन कर' वाक्यांश का अर्थ 'उस दूसरे पदार्थ में उपादान की कार्यरूप परिणति के अनुकूल जो सहायता रूप व्यापार हुआ करता है जिसके आधार उसमें बहिर्व्याप्ति की व्यवस्था बन सकती है' यदि आपका अभीष्ट अर्थ हो, तो वह व्यापार उस दूसरे पदार्थ का वास्तविक व्यापार ही तो माना जायेगा। उसे अवास्तविक कैसे कहा जा सकता है? यदि उस व्यापार को आप अवास्तविक कहना चाहते हैं तो फिर उसके आधार पर आप उस दूसरे पदार्थ के साथ आगम सम्मत वास्तविक बहिर्व्याप्ति की स्थापना कैसे करेंगे? यदि इस आपत्ति को टालने के लिए आप उस बहिर्व्याप्ति को भी केवल कल्पनारोपित कहने को तैयार होते हैं, तो यह महान् आश्चर्य की बात होगी, क्योंकि आपने स्वयं ही अन्तर्व्याप्ति के समान बहिर्व्याप्ति की वास्तविकता को पुष्ट करने के लिए समयसार गाथा ८४ की टीका को अपने उत्तर में उपस्थित किया है, अतः आपकी ऐसी कल्पना आगम विरुद्ध होगी।

आगे आपने हमारे द्वारा प्रतिशंका २ में कही गयी निमित्तकारणता की वास्तविकता के विषय में यह लिखा है कि 'इसमें कोई स्पष्टीकरण तथा आगम प्रमाण न होने से विचार नहीं किया जा सकता है।' सो स्पष्टीकरण तो हमने पहले भी किया था और अभी भी कर दिया, साथ ही आगम प्रमाण भी उपस्थित कर रहे हैं—

सहकारिकारणेन कार्यस्य कथं तत् (कार्यकारणत्वम्) स्यादेकद्रव्यप्रत्यासत्तेर-भावादिति चेत् कालप्रत्यासत्तिविशेषात् तत्सिद्धिः। यदनन्तरं हि यदवश्यं भवति तत्तस्य सहकारिकारणमितरत् कार्यमिति प्रतीतम्।.......तदेवं व्यवहारनयसमाश्रयणे कार्यकारण-भावो द्विष्ठः संबन्धः संयोगसमवायादिवत् प्रतीतिसिद्धत्वात् पारमार्थिक एव न पुनः कल्पनारोषितः सर्वथा अनवद्यत्वात्।

- तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ. १५१, तत्त्वार्थसूत्र अध्याय १सूत्र ७ की टीका

इस उद्धरण का बीच का अंश इसलिए छोड़ दिया गया है कि वह यहाँ के लिये अनावश्यक है, फिर भी प्रश्न नं.१ की तृतीय प्रतिशंका में इसका सम्पूर्ण भाग दिया गया है, अत: वहाँ से देखा जा सकता है। इसका अर्थ निम्न प्रकार है—

सहकारी कारण के साथ कार्य का कार्यकारण भाव किस तरह बनता है? क्योंकि वहाँ पर कार्य और कारण में एक द्रव्यप्रत्यासत्ति का अभाव है। ऐसी शंका यहाँ पर नहीं करना चाहिये, क्योंकि सहकारी कारण के साथ कार्य का कार्यकारण भाव काल प्रत्यासत्ति के रूप में पाया जाता है। ऐसा देखा जाता है कि जिसके अनन्तर जो अवश्य ही होता है वह उसका सहकारी कारण होता है, उससे अन्य कार्य होता है। ....इस तरह व्यवहारनय के आश्रय से दो पदार्थों मे विद्यमान कार्यकारण भाव रूप सम्बन्ध संयोग, समवाय आदि सम्बन्धों की तरह प्रतीतिसिद्ध ही है, अत: **वह परमार्थिक ही है, उसे कल्पानारोपित नहीं समझना चाहिये,** क्योंकि यह सर्वथा अनवद्य है।

इसी प्रकार तत्त्वार्थवार्तिक के प्रमाण भी देखिये—

स्व-परप्रत्ययोत्पादविगमपर्यायैः द्रूयन्ते द्रवन्ति वा द्रव्याणि ॥१ ॥ स्वश्च परश्च स्वपरौ, स्वपरौ प्रत्ययौ ययोः तौ स्वपरप्रत्ययौ। उत्पादश्च विगमश्चोत्पादविगमौ। स्वपरप्रत्ययौ उत्पादविगमौ येषां स्वपरप्रत्ययोतपादविगमाः। के पुनस्ते ? पर्यायाः। द्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणो बाह्यः प्रत्ययः। तस्मिन् सत्यपि स्वयमतत्परिणामोऽर्थो न पर्यायान्तरमास्कन्दतीति। तत्समर्थः स्वश्च प्रत्ययः। तावुभौ संभूय भावानामुत्पादविगमयोः हेतू भवतः, नान्यतरापाये, कुशूलस्थमासपच्यमानोदकस्थघोटकमाषवत्। एवमुभयहेतुकोत्पाद विगमैः तैस्तैः स्वपर्यायैः द्रूयन्ते गन्यते द्रवन्ति गच्छन्ति तान् पर्यायानिति द्रव्याणीति व्यपदिश्यन्ते।

- अध्याय ५, सूत्र २ की व्याख्या

भावार्थ - द्रव्य, उत्पाद-व्ययरूप पर्यायों से विशिष्ट होता है और वे उत्पाद-व्ययरूप

पर्यायें स्वपर प्रत्यय अर्थात् स्व और पर के कारण से ही हुआ करती हैं। इन स्व और पररूप कारणों में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप तो बाह्य प्रत्यय (कारण) हैं। इनके विद्यमान रहते हुए भी यदि स्वयं वस्तु विवक्षित पर्याय रूप से परिणमन करने में समर्थ नहीं है तो वह वस्तु पर्यायान्तर को प्राप्त नहीं होती है। उसमें समर्थ उस वस्तु की अपनी योग्यता है। वह योग्यता उस वस्तु का स्वरूप प्रत्यय (कारण) है। इस प्रकार पर और स्व दोनों मिलकर पदार्थों के उत्पाद और विगम के हेतु होते हैं। कारण कि उन दोनों में से एक के भी अभाव में वस्तु के उत्पाद और विगम (विनाश) हो नहीं सकते हैं। जैसे कोठी (टंकी) में रखे हुए उड़द पकने की योग्यता रखते हुए भी बाह्य कारणभूत उबलते हुए पानी के बिना पकते नहीं हैं और उबलते हुए पानी में डले हुए घोटक (पकने की योग्यता से रहित) उड़द पकने की योग्यता के बिना पकते नहीं है।

इस व्याख्या में 'संभूय' और 'नान्यतरापाये' पद विशेष ध्यान देने योग्य हैं, जो बतला रहे हैं कि परप्रत्यय अर्थात बाह्यरूप निमित्त (सहकारी) कारण तथा स्वप्रत्यय अर्थात् अन्तरंगरूप उपादान कारण दोनों के एक साथ प्रयुक्त होने से ही कार्य निष्पन्न होता है, किसी एक के अभाव में नहीं होता।

तत्त्वार्थवार्तिक का दूसरा प्रमाण भी देखिये—

कार्यस्यानेकोपकरणसाध्यत्वात् तत्सिद्धे ॥३१॥ इह तोके कार्यमनेकोपकरण-साध्यं दृष्टम्, यथा मृत्पिण्डो घटकार्यपरिणामप्राप्तिं प्रति गृहीताभ्यन्तरसामर्थ्यः बाह्य कुलाल-दण्डचक्रसूत्रोदककालाकाशाद्यने-कोपकरणापेक्षः घटपर्यायेणार्विभवति, नैक एव मृत्पिण्डः कुलालादिबाह्यसाधनसन्निधातेन बिना घटात्मना विर्भावितुं समर्थः, तथा पतत्रिप्रभृतिद्रव्यं गतिस्थितिपरिणामप्राप्तिं प्रत्यमिमुखं नान्तरेण बाह्यानेककारण सन्निधिं गतिं स्थितिं चावाप्तुमलमिति तदुपग्रहकारणधर्माधर्मास्तिकायसिद्धिः।

- अध्याय ५ सूत्र १७ की व्याख्या

भावार्थ - यहाँ पर धर्म और अधर्म द्रव्यों का अस्तित्व सिद्ध किया जा रहा है। इनकी सिद्धि के लिये हेतु बतलाया है कि कार्य की सिद्धि (निष्पत्ति) अनेक कारणों से हुआ करती है। लोक में भी अपनी घटपर्याय प्राप्ति की अन्तरंग योग्यता रखनेवाला मिट्टी का पिण्ड अपनी घट पर्याय के निर्माण में बाह्य कारणभूत कुलाल, चक्र, सूत, जल, काल, आकाश आदि अनेक वस्तुओं की अपेक्षा रखता है। यह कभी नहीं हो सकता, कि अकेला मिट्टी का पिण्ड

कुम्हार आदि बाह्य कारणों के सहयोग के बिना कभी घट बनता है। इसी प्रकार पक्षी आदि पदार्थ गति अथवा स्थितिरूप परिणति के सन्मुख होते हुए भी- यथायोग्य-बाह्य अनेक कारणों के सानिध्य (सहयोग) के बिना गति अथवा स्थिति को प्राप्त नहीं हो सकते हैं, इसलिये उनको सहायता पहुँचाने में कारणभूत धर्म और अधर्म द्रव्यों का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

एक प्रमाण प्रवचनसार की आत्मख्याति टीका का देखिये—

यथा कुलालदण्डचक्रचीवरारोप्यमाणसंस्कारसन्निधौ य एव वर्धमानस्य जन्मक्षणः, स एव मृत्पिण्डस्य नाशक्षणः, स एव च कोटिद्वयाधिरूढस्य मृत्तिकात्वस्य स्थितिक्षणा। तथा अन्तरंगबहिरंगसाधनारोप्यमाणसंस्कारसन्निधौ य एवोत्तरपर्यायस्य जन्मक्षणः स एव प्राक्तनपर्यायस्य नाशक्षणः, स एव च कोटिद्वयाधिरूढस्य द्रव्यत्वस्य स्थितिक्षणः। *- गाथा १२-१०, १०२*

अर्थ - जिस प्रकार **कुम्हार, दण्ड, चक्र, चीवर की सहायता से** जो घट की उत्पत्ति का क्षण है, वही मिट्टी के पिण्ड का विनाशक्षण है और वही उत्पत्ति तथा विनाशरूप उभय कोटियों में व्याप्त मिट्टी सामान्य का स्थितिक्षण है। इसी प्रकार **अन्तरंग (उपादान) और बहिरंग (निमित्त) रूप साधनों के योग से** जो द्रव्य की उत्तर पर्याय का उत्पत्तिक्षण है, वही पूर्व पर्याय का नाशक्षण है और वही उत्पत्ति तथा विनाशरूप उभयकोटियों में व्याप्त द्रव्य सामान्य का स्थितिक्षण है।

यहाँ पर कार्योत्पत्ति में स्व और पर वस्तुओं की संयुक्त हेतुता को स्पष्टरूप से स्वयं अमृतचन्द्राचार्य ने स्वीकार किया है।

परीक्षामुख और उसकी टीका प्रमेयरत्नमाला का प्रमाण भी देखिये—

तद्व्यापाराश्रितं हि तद्भावभावित्वम्। *- सूत्र ६३, समुद्देश ३*

टीका - हि शब्दो यस्मादर्थे। यस्मात् तस्य कारणस्य भावे कार्यस्य भावित्वं तद्भावभावित्वं, तच्च तद्व्यापाराश्रितं। तस्मान्न प्रकृतयोः कार्यकारणभाव इत्यर्थः। अयमर्थः- अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यो हि सर्वत्र कार्यकारणभावः। तौ च कार्यं प्रति कारणव्यापार-सव्यपेक्षावेवोपपद्येते कुलालस्येव कलशं प्रति।

इसके द्वारा अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियों के आधार पर बाह्य वस्तुओं की भी

उपादानगत कार्य के प्रति कारणता प्रदर्शित की गयी है और इसके लिये घटरूप कार्य के प्रति कुलाल का दृष्टान्त उपस्थित किया गया है।

ये सब प्रमाण स्पष्टरूप से बाह्य वस्तुभूत निमित्तकारणों में भी वास्तविक कारणता की घोषणा करते हैं।

इन सब प्रमाणों के विरुद्ध आपने अपने वक्तव्य में आगे लिखा है—

'आगम में सर्वत्र निमित्त को व्यवहार से कारण स्वीकार किया गया है और व्यवहार का अर्थ उपचार है।'

इसका मतलब यह हुआ कि आप निमित्त में कारणता का उपचार करना चाहते हैं, लेकिन यहाँ विचारना यह है कि निमित्त शब्द का अर्थ ही जब कारण होता है तो निमित्त में विद्यमान कारणता से अतिरिक्त और कौन-सी कारणता का उपचार आप निमित्त में करना चाहते हैं? तथा उसमें (निमित्त में) कारणता के विद्यमान रहते हुए उस उपचरित कारणता का प्रयोजन ही क्या रह जाता है?

यद्यपि आगे आपने स्वयं लिखा है कि 'उपादानवस्तुगत कारणता का अन्य वस्तु में आरोप निश्चय की सिद्धि के लिये ही किया जाता है और इसीलिये उसे निमित्त कारण कहा जाता है और इसीलिये उसमें कर्त्ता आदि का व्यवहार करते हैं।

तो इसका आशय भी यह हुआ कि कारणता का उपचार आपके मत से फिर निमित्त में नहीं होता है, बल्कि उन अन्य वस्तुओं में होता है, जो वस्तुऐं उपादानवस्तुगत कारणता का आरोप हो जाने पर निमित्त कारण कहलाने लगती हैं, लेकिन ऐसी हालत में आपका यह लिखना गलत ठहर जायेगा कि 'आगम में सर्वत्र निमित्त को व्यवहार से कारण स्वीकार किया गया है और व्यवहार का अर्थ उपचार है।' क्योंकि जब आप उपर्युक्त प्रकार की अन्य वस्तु में कारणता का उपचार करने की बात स्वीकार कर लेते हैं, तो फिर आपके मत से निमित्त व्यवहार से कारण नहीं रह जाता है बल्कि उस वस्तु को ही व्यवहार से कारण स्वीकार करने की मान्यता आपके मत में प्राप्त हो जाती है, जिसमें उपादान-गत कारणता का उपचार किया जाता है। इस तरह स्वयं आपके इस कथन के आधार पर भी '**बंधे च मोक्ख हेऊ**' इस गाथा में पठित '**अण्णो**' पद का आपके द्वारा किया गया निमित्तरूप अर्थ गलत सिद्ध हो जाता है, क्योंकि हम पहले ही बतला चुके हैं कि '**अण्णो**' पद का निमित्तरूप अर्थ करके आपने

'**अण्णो ववहारदो हेऊ**' इसका अर्थ 'निमित्त व्यवहार से याने उपचार से कारण होता है' यही तो किया है।

दूसरी बात यह है कि प्रत्येक वस्तु में समानरूप से एक साथ पाये जाने वाले उपादानता और निमित्तता नाम के दोनों ही धर्म कार्य सापेक्ष होते हुए भी वास्तविक ही हैं, इसलिये भी निमित्त को व्यवहार (उपचार) से कारण कहना असंगत ही है।

यदि आप उक्त असंगतता को समाप्त करने के लिये 'निमित्त व्यवहार से कारण है' इसके स्थान पर निमित्तभूत वस्तु व्यवहार से कारण है'—ऐसा कहने को तैयार हों तो भी आप पूर्वोक्त इस आपत्ति से नहीं बच सकते हैं कि जिस निमित्तभूत वस्तु में आप कारणता का उपचार करना चाहते हैं, उसमें जब स्वयं कारणता विद्यमान है तो ऐसी हालत में एक कारणता के विद्यमान रहते हुए उसमें दूसरी कारणता के उपचार का प्रयोजन ही क्या रह जाता है? मालूम पड़ता है कि इन्हीं सब आपत्तियों के भय से ही आप अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि 'उपादानवस्तुगत कारणता का आरोप अन्य उस वस्तु में ही करना उचित है, जो वस्तु उपादानवस्तुगत कारणता का आरोप हो जाने पर निमित्तकारण कहलाने लगती है, जैसा कि आपके उपर्युक्त इस कथन से प्रगट होता है कि उपादानवस्तुगत कारणता का अन्य वस्तु में आरोप निश्चय की सिद्धि के लिये ही किया जाता है और इसीलिये उसे निमितकारण कहा जाता है।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि पहले तो आप अन्य वस्तु में उपादानगत कारणता का आरोप कर लेते हैं और बाद में उस आरोपित कारणता के आधार पर ही उस वस्तु को आप निमित्तकारण नाम से पुकारने लगते हैं अर्थात् जब तक उपादानगत कारणता का अन्य वस्तु में आरोप न हो जावें, तब तक उस अन्य वस्तु को आप निमित्तकारण मानने को तैयार नहीं हैं।

इस विषय में अब यह विचार उत्पन्न होता है कि '**मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते च उपचारः प्रवर्तते।**'

इस नियम के अनुसार उपचार की प्रवृत्ति वहीं पर हुआ करती है, जहाँ उस उपचार प्रवृत्ति का कोई न कोई निमित्त (कारण) विद्यमान रहता है और साथ ही कोई न कोई प्रयोजन भी होता है अर्थात् जिस वस्तु में जिस वस्तु का या वस्तु के धर्म का उपचार करना

अभीष्ट हो, उन दोनों वस्तुओं जब तक उपचार प्रवृत्ति के लिये कारणभूत कोई सम्बन्ध न पाया जाये तब तक और '**प्रयोजनमनुदिश्य न हि मन्दोऽपि प्रवर्तते**' – इस सिद्धान्त के अनुसार उपचार प्रवृत्ति का जब तक प्रयोजन समझ में न आ जावे, तब तक उपचार की प्रवृत्ति होना असम्भव ही है। जैसे, '**अन्नं वै प्राणाः**' यहाँ पर अन्न में प्राणों का उपचार तथा '**सिंहो माणवकः**' यहाँ पर बालक में सिंह का उपचार प्रदर्शित किया गया है। ये दोनों उपचार इसलिये उचित हैं कि इनमें उस उपचार की प्रवृत्ति के लिये आधारभूत निमित्त (कारण) तथा प्रयोजन का सद्भाव पाया जाता है अर्थात् '**अन्नं वै प्राणाः**' यहाँ पर अन्न में प्राण का उपचार करने के लिये प्राणसंरक्षणरूप कार्य में अन्ननिष्ठ कारणता ही निमित्त है। और प्राणों के संरक्षण में अन्न की महत्ता का भान प्राणियों को हो जाना ही उस उपचार प्रवृत्ति का प्रयोजन है। इसी प्रकार '**सिंहो माणवकः**' यहाँ पर बालक में सिंह का उपचार करने के लिये बालक में सिंह सदृश शौर्य का सद्भाव निमित्त (कारण) है और लोक में बालक का सिंह के समान महत्त्व प्रस्थापित हो जाना ही उस उपचार प्रवृत्ति का प्रयोजन है, इसलिये ये या इसी किस्म की और भी उपचार प्रवृत्तियाँ ग्राह्य मानी जा सकती हैं।

अब देखना यह है कि उस अन्य वस्तु में उपादानवस्तुगत कारणता का उपचार करने के लिये आवश्यक उक्त प्रकार के निमित्त तथा प्रयोजन का सद्भाव क्या यहाँ पर पाया जाता है? तो मालूम पड़ता है कि ऐसे निमित्त तथा प्रयोजन का सद्भाव यहाँ पर नहीं पाया जाता है, इसलिये उपादान वस्तुगत कारणता का अन्य वस्तु में उपचार की प्रवृत्ति होना असम्भव ही समझना चाहिये।

यदि कहा जाये कि अन्य वस्तु में उपादानगत कारणता का उपचार करने के लिये उस अन्य वस्तु का उपादानवस्तु के परिणमनरूप कार्य में सहयोग देना ही यहाँ पर निमित्त (कारण) है और इस तरह लोक में कार्य के प्रति उपादान की सहयोगी उस अन्य वस्तु की उपयोगिता प्रगट हो जाना अथवा उपादान वस्तु से होने वाली कार्योत्पत्ति में उपयोगी उस अन्य वस्तु के प्रति मनुष्यों का कार्य सम्पन्नता के लिये आकृष्ट होना ही प्रयोजन है तो हम आपसे कहेंगे, कि यदि आप उपादानवस्तुगत कारणता का आरोप करने के लिये उपादान से होने वाली कार्योत्पत्ति में सहयोग देने रूप वास्तविक कारणता को उस अन्य वस्तु में स्वभावतः स्वीकार करने को तैयार है तो फिर यह बात विचारणीय हो जाती है कि सहयोग देनेरूप उस कारणता के अतिरिक्त और कैसी कारणता का आरोप आप उस अन्य वस्तु में

करना आवश्यक समझते हैं ? साथ ही इस तरह आपके कार्य के प्रति निमित्तकारण की अकिंचित्करता के सिद्धान्त का खण्डन प्रसक्त हो जायेगा।

एक बात और भी है यदि मनुष्यों का विवक्षित उपादान से विवक्षित कार्य की उत्पत्ति के अवसर पर सहायक अन्य वस्तु के प्रति आकृष्ट होना ही उक्त उपचार प्रवृत्ति का प्रयोजन है तो यह बात भी आपके 'कार्य के प्रति निमित्तभूत वस्तु अकिंचित्कर ही रहती है'- इस सिद्धान्त के बिलकुल विपरीत हो जायेगी, कारण कि कार्य निष्पत्ति के अवसर पर निमित्तभूत वस्तुओं के प्रति मनुष्यों का आकर्षण समाप्त करने के लिये ही तो आपने उक्त सिद्धान्त निश्चित किया है।

यह तो ऊपर स्पष्ट किया ही जा चुका है कि निमित्तभूत अन्य वस्तु में स्वत: वास्तविक कारणत्व माने बिना निराधार उपचार नहीं किया जा सकता है। दूसरी बात यह कही गई है कि यदि आरोप को सिद्ध करने के लिये निमित्तभूत अन्य वस्तु में स्वत: वास्तविक कारणता स्वीकार कर ली जाती है तो फिर आरोप की आवश्यकता ही क्या रह जाती है ? अथवा किस कारणता का आरोप किया जायेगा। अब तीसरी बात यह है कि कारणता में कारणता का तो आरोप किया नहीं जा सकता है, जैसे शूरवीर बालक में शूरवीरता का आरोप तो किया नहीं जाता है या अन्न में कारणता का आरोप नहीं किया जाता है। अत: बालक को शूरवीर कहना या अन्न को प्राणों का निमित्त या सहायक कारण कहना आरोप नहीं है, किन्तु वास्तविक है। उसी प्रकार उन अन्य वस्तुओं को निमित्त कारण कहना भी उपचार नहीं हो सकता, किन्तु वास्तविक ही है। हाँ, जिस प्रकार बालकगत शूरवीरता के आधार पर बालक में सिंहत्व का अरोप किया जा सकता है, अन्न में अपनी वास्तविक कारणता के आधार पर प्राण का उपचार किया जा सकता है, उसी प्रकार निश्चितभूत अन्य वस्तु में अपनी वास्तविक कारणता के आधार पर उपादानता का आरोप किया जा सकता है, किन्तु कारणता का नहीं। अत: जिस प्रकार बालक को सिंह कहना या अन्न को प्राण कहना उपचार है, उसी प्रकार निमित्तभूत अन्य वस्तु को उपादान कहना उपचार हो सकता है, किन्तु निमित्तकारण कहना उपचार नहीं हो सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि निमित्तभूत अन्य वस्तु में निमित्तता किसी प्रकार भी उपचरित सिद्ध नहीं होती है।

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि यदि आप कार्य के प्रति निमित्तभूत वस्तुओं में उपादान वस्तुगत कारणता का आरोप करना चाहते हैं तो इसके लिये आपको उन निमित्तभूत

वस्तुओं को कार्योत्पत्ति के प्रति उपादान का वास्तविक सहयोगी स्वभावत: मानना होगा। ऐसी हालत में फिर निमित्तों को अकिंचित्कर मानने का आपका सिद्धान्त गलत हो जायेगा और यदि आप मनुष्यों को निमित्तों की अठाधरी से विरत करने के लिये निमित्तों की अकिंचित्करता के सिद्धान्त को नहीं छोड़ना चाहते हैं तो ऐसी हालत में निमित्तभूत वस्तुओं को कार्योत्पत्ति के अवसर पर उपादान का सहयोगी स्वीकार करने का सिद्धान्त आपके लिये छोड़ना होगा, लेकिन तब उपादानगत कारणता का निमित्तभूत वस्तु में आरोप करना असंभव हो जायेगा।

थोड़ा इस बात पर भी आपको विचार करना है कि आपके पूर्वोक्त सिद्धान्त के अनुसार बिना किसी आधार के पहले अन्य वस्तु में उपादान वस्तुगत कारणता का आरोप हो जाने पर उसके अनन्तर ही उस अन्य वस्तु में निमित्त कारणता का व्यवहार किया जा सकेगा तो फिर आपके मत से प्रतिनियत अन्य वस्तु में ही उपादान-वस्तुगत कारणता का आरोप करने की व्यवस्था भंग हो जायेगी, इस तरह प्रत्येक उपादान वस्तुगत कारणता का आरोप सभी वस्तु में होने का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा।

यह भी कितनी विचित्र बात है कि आप अन्य वस्तु में उपादानवस्तुगत कारणता का उपचार इसलिये करना चाहते हैं कि कोई भी व्यक्ति उपादान वस्तु की कार्यरूप परिणति में निमित्तभूत वस्तु को वास्तविक सहयोगी कारण न मान ले, परन्तु वास्तविक बात तो यह है कि किसी वस्तु में किसी वस्तु या उसके धर्म का आरोप तो उस वस्तु के महत्त्व को बढ़ाने के लिये ही किया जाता है, जैसा कि ऊपर 'अन्नं वै प्राणा:' और 'सिंहो माणवक:' इन दो उदाहरणों में बतलाया जा चुका है। ऐसी स्थिति में उपादान की कार्यरूप परिणति में निमित्तभूत वस्तु को स्वभावत: सिद्ध वास्तविक सहयोगात्मक कारणता को कल्पित, असत्य, निरुपयोगी बनाने के लिए उपादान-वस्तुगत-कारणता का आरोप अन्य वस्तु में करना कहाँ तक तर्क सम्मत हो सकता है ? तथा इस तरह तर्क से असंगत उपादानवस्तुगत कारणता का अन्य वस्तु में आरोप कर लेने से पूर्वोक्त प्रमाणों द्वारा आगम प्रसिद्ध उस अन्य वस्तु में स्वभावत: वास्तविक रूप में विद्यमान उपादान की कार्यरूप परिणति में सहायता पहुँचाने रूप कारणता को समाप्त करने का प्रयास कहाँ तक उचित होगा ?

पुनश्च आपके कथनानुसार उपादानभूत वस्तु में जो कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरणरूप छह कारकों की प्रवृत्ति पायी जाती है उन छह कारकों की प्रवृत्ति उपचार से निमित्तभूत वस्तु में हुआ करती है। इसका आशय यह हुआ कि उपादान वस्तु में पाया

जानेवाला कर्तृत्त्वरूप धर्म कर्त्तारूप से निमित्तभूत अन्य वस्तु में उपचरित हो जाता है। इसी प्रकार उपादानभूत वस्तु में पाया जाने वाला करणत्व रूप धर्म करण रूप से निमित्तभूत अन्य वस्तु में उपचरित हो जाता है और यही प्रक्रिया संप्रदान, अपादान तथा अधिकरण कारकों के विषय में भी लागू होती है। इसी प्रकार कर्म कारक के विषय में भी यही प्रक्रिया लागू होगी, ऐसी हालत में उपादान वस्तुगत कर्मत्व का आरोप आप कौन-सी अन्य वस्तु में करेंगे ? इस पर ध्यान दीजिये, क्योंकि परस्पर विलक्षण अपने-अपने अलग-अलग निमितत्त्व को धारण करने वाली अन्य वस्तुओं में ही जिस प्रकार कर्तृत्व, करणत्व आदि का आरोप होता है, उस प्रकार कर्मत्व का आरोप करने के लिये ऐसी कोई भी अन्य वस्तु वहाँ नहीं पायी जाती है, जिसमें उपादाननिष्ठ कर्मत्व का आरोप किया जा सके, कारण कि कर्मनाम की वस्तु तो वहाँ पर उपादान का परिणाम रूप एक ही है।

यह तो सुविदित ही है कि प्रत्येक वस्तु स्वकी अपेक्षा उपादान भी है और पर की अपेक्षा निमित्त भी है। जैसे -मिट्टी घड़े की उत्पत्ति होने में कुम्हार कर्ता रूप से निमित्त होता है और सूत से वस्त्र की उत्पत्ति होने में जुलाहा भी कर्ता रूप से निमित्त होता है, लेकिन कुम्हार और जुलाहा—ये दोनों ही अपने-अपने परिणमन के प्रति स्वयं उपादान भी हैं। इसका मतलब यह हुआ कि घटादि वस्तुओं की उत्पत्ति में निमित्तभूत कुम्हार आदि वस्तुओं का जो योगोपयोग रूप व्यापार हुआ करता है, वह उन कुम्हार आदि वस्तुओं का अपना व्यापार है, क्योंकि वह व्यापार उनकी उपादानशक्ति का ही परिणमन है, उस व्यापार को कुम्हार आदि अपने संकल्प, अपनी बुद्धि और अपनी शक्ति के अनुसार घटादिक की उत्पत्ति के अनुकूल किया करते हैं और तब उनके उस व्यापार के सहयोग मिट्टी आदि पदार्थों से घटादि पर्यायों की उत्पत्ति हुआ करती है। उस व्यापार को तो उपचरित कहा नहीं जा सकता है, क्योंकि वह कुम्हार आदि की अपनी ही उपादानशक्ति से प्रकट होने वाला उनका अपना ही व्यापार है, अत: उस व्यापार को तो वास्तविक ही मानना होगा और चूँकि उस व्यापार के चालू रहते ही घटादिका निर्माण कार्य होता है एवं उन कुम्हार आदि के संकल्पादि अथवा अन्य बाह्य साधनों द्वारा उनके उस व्यापार के बन्द हो जाने पर घटादि का निर्माण कार्य भी बन्द हो जाता है, इस तरह घटादि कार्यों का कुम्हार आदि के व्यापार के साथ अन्वय और व्यतिरेक घटित होता है। इस अन्वय और व्यतिरेक के विषय में जब विचार किया जाता है तो यह भी वास्तविक ही सिद्ध होता है, उपचरित नहीं, क्योंकि इस अन्वय और व्यतिरेक को आचार्य विद्यानन्दि

ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में काल प्रत्यासत्ति के रूप में स्वीकार करते हुए पारामार्थिक ही कहा है तथा उसमें कल्पनारोपितपने का स्पष्ट निषेध किया है, जिसका उल्लेख हम पूर्व में कर ही चुके हैं।

इसी काल-प्रत्यासत्तिरूप अन्वय तथा व्यतिरेक का ही अपर नाम निमित्तता या सहकारिकारणता है, यह बात भी आचार्य विद्यानन्दि ने वहीं पर बतला दी है। ऐसी हालत में इस निमित्तता को भी अवास्तविक कैसे कहा जा सकता है ? क्योंकि यह सहकारिकारणतारूप निमित्तता अपने आप में वास्तविक न होकर यदि उपचरित ही है, तो इसके फलितार्थ के रूप में घटादि के साथ कुम्हार आदि का जो पूर्वोक्त (कुम्हार के योगोपयोग रूप व्यापार के होते हुए ही घटनिर्माण कार्य होता है और उसके उस व्यापार के अभाव में घट निर्माण कार्य बन्द रहता है, ऐसा) अन्वय तथा व्यतिरेक अनुभूत होता है, उसे भी उस हालत में अवास्तविक ही मानना होगा, ऐसी हालत मे घट की अन्वय और व्यतिरेकरूप बहिर्व्याप्ति कुम्हार के ही साथ है, अन्य के साथ नहीं तथा पट की अन्वय और व्यतिरेकरूप बहिर्व्याप्ति जुलाहा के ही साथ है, अन्य के साथ नहीं—यह नियम कैसे बनाया जा सकता है ?

यदि इसके उत्तर में आप यह कहना चाहें, कि प्रत्येक वस्तु की प्रत्येक पर्याय स्वाश्रित और स्वत: उत्पन्न होने वाली ही है, इसलिये घट की कुम्हार के साथ और पट की जुलाहे के साथ जो बहिर्व्याप्ति बतलायी गयी है, वह भी कल्पनारोपित ही है। तो फिर इस तरह के कथन को प्रत्यक्ष का अपलाप ही कहना होगा। कारण कि यह तो कम से कम देखने में आता ही है कि कुम्हार के योगोपयोग रूप व्यापार के होते हुए ही घट का निर्माण कार्य होता है और यदि वह कुम्हार अपना योगोपयोग रूप व्यापार बन्द कर देता है तो घट का निर्माण कार्य भी बन्द हो जाता है। आपने स्वयं अपने प्रथम वक्तव्य में आभ्यन्तर व्याप्ति के साथ स्वपर-प्रत्यय कार्योत्पत्ति के लिये बहिर्व्याप्ति के अस्तित्व को स्वीकार किया है। इस विषय में आपने-अपने प्रथम वक्तव्य में निम्नलिखित वचन लिखे हैं—

'ऐसा नियम है कि जिस प्रकार कार्य की निश्चयकारकों के साथ आभ्यन्तर व्याप्ति होती है, उसी प्रकार अनुकूल दूसरे एक या एक से अधिक पदार्थों में कार्य की बाह्य व्याप्ति नियम से उपलब्ध होती है। एकमात्र वस्तुस्वभाव के इस अटल नियम को ध्यान में रखकर परमागम में जिसके साथ आभ्यन्तर व्याप्ति पाई जाती है, उसे उपादान कर्ता आदि कहा गया है और उस काल में जिस दूसरे पदार्थ के साथ बाह्य व्याप्ति पाई जाती है, उसमें निमित्तरूप व्यवहार

का अवलम्वनकर जिसमें कर्ता रूप व्यवहार होता है, उसे कर्ता निमित्त कहते है।' आदि

हमारे इस कथन के विषय में आगमप्रमाण भी देखिये—

यथान्तर्व्याप्यव्यापकभावेन मृत्तिकया कलशे क्रियमाणे भाव्यभावकभावेन मृत्तिकयेवानुभूयमाने च बहिर्व्याप्यव्यापकभावेन कलशसम्भवानुकूलं व्यापारं कुर्वाणः कलशभृततोयोपयोगजां तृप्तिं भाव्यभावकभावेनानुभवंश्च कुलालः कलशं करोत्यनुभवति चेति लोकानामानादिरूढोस्ति तावद् व्यवहारः, तथान्त र्व्याप्यव्यापक-भावेन पुद्गलद्रयेण कर्मणि क्रियमाणे भाव्यभावकभावेन पुद्गलद्रव्येणैवानुभूयमाने च बहिर्व्याव्यव्यापक-भावेनाज्ञानात्पुद्गलकर्मसम्भवानुकूलं परिणामं कुर्वाणः पुद्गलकर्म बिपाकसम्पादितविषय-सन्निधिप्रधावतां सुखदुःखपरिणतिं भाव्यभावकभावेनानुभवंश्च जीवः पुद्गलकर्म करोत्यनुभवति चेत्यज्ञानिनामासंसारप्रसिद्धोऽस्ति तावद् व्यवहारः।

- आत्मख्याति टीका समयसार गाथा ८४

अर्थ – जैसे-एक तरफ तो मिट्टी घड़े को अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव से अर्थात् उपादानोपादेय भाव के आधार पर निश्चित हुए व्याप्यव्यापकभावरूप अन्वय-व्यतिरेक व्याप्ति से करती है तथा वही मिट्टी भाव्यभावकभाव से अर्थात् उस घट रूप परिणमन में अपने रूप को समाती हुई तन्मयता के साथ उस घट का भोग भी करती है और दूसरी तरफ कुम्हार भी बहिर्व्याप्यव्यापक भाव से अर्थात् निमित्त-नैमित्तिक भाव के आधार पर निश्चित हुए व्याप्यव्यापकभावरूप अन्वय-व्यतिरेकव्याप्ति से घट की उत्पत्ति के अनुकूल व्यापार करता हुआ करता है तथा वही कुम्हार भाव्यभावक भाव से उस घड़े में भरे हुए जल के उपयोग से उत्पन्न तृप्ति को अनुभव करता हुआ उस घड़े का ही अनुभव करता है—इस तरह मनुष्यों का अनादिकाल से व्यवहार चला आ रहा है। वैसे ही एक तरफ तो पुद्गलद्रव्य कर्म को अन्तर्व्याप्यव्यापक भाव से अर्थात् उपादानोपादेयभाव के आधार पर निश्चित हुए व्याप्यव्यापकभावरूप अन्वय-व्यतिरेक व्याप्ति से करता है तथा वही पुद्गल-द्रव्य भाव्यभावकभाव से अर्थात् उस कर्मरूप परिणमन में अपने रूप को समाता हुआ तन्मयता के साथ उस कर्म का भोग करता है और दूसरी तरफ जीव भी बहिर्व्याप्यव्यापकभाव से अर्थात् निमित्तनैमित्तिकभाव के आधार पर निश्चित हुए व्याप्यव्यापक भाव रूप अन्वय-व्यतिरेक से अपनी विकार रूप परिणति के कारण पुद्गलकर्म की उत्पत्ति के अनुकूल परिणाम करता हुआ उस पुद्गलकर्म को करता है तथा वही जीव भाव्यभावकभाव से उस पुद्गलकर्म के उदय से प्राप्त विषयों की समीपता से आनेवाली

सुख-दु:ख रूप परिणति को अनुभव करता हुआ उस कर्म का ही अनुभव करता है—इस तरह विकार रूप परिणति में वर्तमान प्राणियों का भी अनादि से व्यवहार चला आ रहा है—

इस टीका में इस बात को स्पष्ट तौर पर बतला दिया गया है कि उपादानोपादेयभाव के आधार पर स्थापित अन्तर्व्याव्यापकभाव की तरह निमित्तनैमित्तिकभाव के आधार पर स्थापित बहिर्व्याप्यव्यापकभाव भी वास्तविक ही है, कल्पनारोपित नहीं है।

ऐसा कौन है जो आबालवृद्ध अनुभवगम्य कुम्भकार आदि निमित्तभूत वस्तुओं के संकल्प, बुद्धि और शक्ति के आधार पर होने वाले घटादि की उत्पत्ति के प्रति अनुकूलता के रूप को लिये हुए स्वाश्रित व्यापारों को कल्पनारोपित कहने को तैयार होगा? और जब ये व्यापार कल्पनारोपित नहीं हैं तो घटादि कार्यों के प्रति अनुकूलता लिये हुए कालप्रत्यासत्तिरूप सहकारी कारणता को कल्पनारोपित कहने को भी कौन तैयार होगा?

निमित्तभूत पृथक्-पृथक् वस्तुओं में यथायोग्य कर्तृत्व, करणत्व, संप्रदानत्व, अपादानत्व और अधिकारणत्व के रूप में पृथक्-पृथक् पायी जानेवाली यह कालप्रत्यासत्तिरूप सहकरी कारणता (निमित्तकारणता)उन पृथक्-पृथक् वस्तुओं को क्रमश: कर्ता, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण कारकों में विभक्त कर देती है, इसलिये इनमें पाये जाने वाले कर्तृत्व, करणत्व, संप्रदानत्व, अपादानत्व और अधिकरणत्वरूप निमित्तकारणता को भी कल्पनारोपित नहीं कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति में इनको उपचरित कहने का एक ही कारण है कि कर्तृत्वादि ये सब धर्म कार्यभूत वस्तु से भिन्न अन्य वस्तुओं में विद्यमान वास्तविक निमित्तनैमित्तिक भाव के आधार पर निश्चित होते हैं। इसलिये कार्यकारणभाव के प्रकरण में जहाँ भी उपचार या व्यवहार आदि शब्द आगम में प्रयुक्त किये गये हैं, उन सब शब्दों को निमित्त शब्द के ही पर्यायवाची शब्द समझना चाहिये अर्थात् जहाँ भी उपचार से कारण, अथवा उपचरित कारण और व्यवहार से कारण अथवा व्यवहार कारण आदि वचनप्रयोग आगम में पाये जाते हैं, उन सबका अर्थ निमित्त कारण ही करना चाहिये और निमित्तकारणता के भेद से उन्हें उपचरित कर्ता, उपचरित करण, उपचरित संप्रदान, उपचरित अपादान तथा उपचरित अधिकरण कहना चाहिये। कल्पनारोपित निमित्त या कल्पनारोपित कर्ता आदि नहीं कहना चाहिये। एक बात और है कि निमित्तभूत वस्तुओं के जिस व्यापार में आप निमित्त कारणता या निमित्त कर्तृत्व का आरोप करते हैं, वह व्यापार तो वास्तविक ही है वह तो कम से कम कल्पनारोपित नहीं है, इसलिये उसमें विद्यमान कार्योत्पत्ति प्रति अनुकूलता को भी

वास्तविक मानना ही युक्तिसंगत है, अत: निमित्त कारणता, बहिर्व्याप्यव्यापकभाव, बहिर्व्याप्ति, निमित्तनैमित्तिकभाव, नैमित्तिक कर्तृ कर्मभाव, निमित्तकर्तृत्व आदि सभी धर्म अपने रूप में वास्तविक अर्थात् सत्‌रूप ही ठहरते हैं, कल्पनारोपित अर्थात् असत्‌रूप नहीं। हमने अपनी प्रतिशंका में उपादान और निमित्त शब्दों की जो भाषाशास्त्र के आधार पर व्युत्पत्ति दिखलाई है, उससे भी निमित्तकारण की वास्तविकता ही सिद्ध होती है।

इस प्रकार लोक में और आगम में सर्वत्र घट, पटादि मिट्टी, सूत आदि वस्तुओं के स्वपरप्रत्यय परिणमन माने गये हैं, यही कारण है कि इनकी उत्पत्ति में स्व (आश्रयभूत उपादान) के साथ निमित्तभूत पर के वास्तविक सहयोग की आवश्यकता अनिवार्यरूप से अनुभूत होती है, अत: पर के साथ अन्वय-व्यतिरेक के रूप में बहिर्व्याप्ति को भी वास्तविक रूप में ही स्वीकार किय गया है, कल्पनारोपित रूप में नहीं।

आपने जो यह लिखा है कि 'उपादान वस्तुगत कारणता का अन्य वस्तु में आरोप निश्चय की सिद्धि के लिये ही किया जाता है।' व इसके समर्थन में अनगारधर्मामृत के '**कर्त्राद्या वस्तुनो' भिन्ना**' श्लोक को भी प्रमाण रूप से उपस्थित किया है, लेकिन आपने यह स्पष्ट नहीं किया है कि आप वस्तु से भिन्न कर्मादि का कौन-से निश्चय की सिद्धि के लिये आरोप करना चाहते हैं? इसके अतिरिक्त आरोप-जिसे आप केवल कल्पना का ही विषय स्वीकार करते हैं—से वास्तविक निश्चय की सिद्धि कैसे संभव हो सकती है, क्योंकि जो स्वयं कल्पनारोपित होने से 'असद्रूप' ही है, उससे सद्रूप वस्तु की सिद्धि होना असंभव ही है। एक बात यह भी है कि अनगारधर्मामृत के उस श्लोक में 'आरोप' शब्द का पाठ न होकर 'व्यवहार' शब्द का ही पाठ पाया जाता है, उसका अर्थ आपने 'आरोप' कैसे कर लिया? यह आप ही जानें। अनगारधर्मामृत का वह श्लोक निम्न प्रकार हैं:—

कर्त्राद्या वस्तुनो भिन्ना येन निश्चयसिद्धये।
साध्यन्ते व्यवहारोऽसौ निश्चयस्तदभेददृक्॥१०२॥

- *अध्याय प्रथम*

इसका सही अर्थ निम्न प्रकार है—

जिसके द्वारा निश्चय की सिद्धि के लिये (उपादानभूत) वस्तु से भिन्न कर्ता आदि की सिद्धि की जाती है, वह व्यवहार कहलाता है और जिसके द्वारा वस्तु से अभिन्न कर्ता आदि की सिद्धि की जाती है, वह निश्चय कहलाता है।

इसका आशय यह है कि क्योंकि उपादानभूत मिट्टी आदि वस्तुओं से घटादि वस्तुओं का निर्माण कुम्हार आदि निमित्तकारणों के सहयोग के बिना सम्भव नहीं है, अत: निमित्तकर्ता निमित्तकरण आदि के रूप में उन कुम्हार आदि आवश्यक निमित्त कारणों का सहयोग लेना चाहिये। 'निश्चयकी सिद्धि के लिये' इस वाक्यांश का अभिप्राय यही है इस तरह अनगारधर्मामृत का उक्त श्लोक कर्ता, करण आदि रूप से घटादि कार्य के प्रति मिट्टी आदि उपादान को वास्तविक सहयोग देने वाले कुम्हार आदि के उस सहयोग को वास्तविक ही सिद्ध करता है; कल्पनारोपित नहीं। इसलिये इससे आपके अभिप्राय की कदापि सिद्धि नहीं हो सकती है।

'मिट्टी से घड़ा बना है' तथा 'कुम्हार ने घड़ा बनाया है' इन दोनों प्रकार के लौकिक वचनों को ठीक मानते हुए आपने जो यह लिखा है कि 'इन वचन प्रयोगों में मिट्टी के साथ जैसी घट की अन्तर्व्याप्ति है, वैसी कुम्भकार के साथ नहीं।'

इसके विषय में हमारा कहना यह है कि उक्त दोनों प्रयोगों में घट की मिट्टी के साथ जैसी अन्तर्व्याप्ति अनुभूत होती है, वैसी अन्तर्व्याप्ति उसकी कुम्हार के साथ अनुभूत नहीं होती, इसका कारण यह नहीं है कि मिट्टी घट के प्रति वास्तविक (सद्रूप) कारण है और कुम्हार सिर्फ कल्पनारोपित (असद्रूप) कारण है, बल्कि इसका कारण इतना ही है कि जिस प्रकार आश्रय होने के कारण उपादानभूत मिट्टी घटरूप परिणत हो जाती है, उस प्रकार केवल सहायक होने के कारण निमित्तभूत कुम्हार कदापि घटरूप परिणत नहीं होता। अत: उपादानोपादेयभावरूप कार्यकारणभाव के आधार पर घट की मिट्टी के साथ तो अन्तर्व्याप्ति बतलायी है और इससे भिन्न-निमित्त नैमित्तिकभावरूप कार्य-कारणभाव के आधार पर घट की कुम्भकार के साथ अन्तर्व्याप्ति न बतलाकर केवल बहिर्व्याप्ति ही बतलायी है। यही कारण है कि उक्त दोनों प्रकार के लौकिक प्रयोगों में भी अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है अर्थात् 'मिट्टी से घड़ा बना है'—यह प्रयोग अन्तर्व्याप्ति का होने से उपादानोपादेयभाव की सूचना मिट्टी और घड़े में देता है तथा 'कुम्भकार ने मिट्टी से घड़ा बनाया'—यह प्रयोग बहिर्व्याप्ति का होने से निमित्तनैमित्तिकभाव की सूचना कुम्भकार और घड़े में देता है, इसलिये दोनों प्रयोगों में समान रूप से अन्तर्व्याप्ति कैसे बतलायी जा सकती है।

इस प्रकार निमित्तकारणभूत वस्तुऐं उपादानोपादेयभाव की अपेक्षा से अवास्तविक (असद्रूप) होती हुई भी बहिर्व्याप्ति (निमित्तनैमित्तिकभाव) की अपेक्षा से वास्तविक

(सद्रूप) ही हैं। इसका सीधा अर्थ यह है कि निमित्त, जिस कार्य का वह निमित्त है, उस कार्य में वह निमित्त ही बना रहता है, उसका वह कभी उपादान नहीं बन सकता है।

आगे आपने हमारे कथन को उद्धृत करते हुए आपत्ति उपस्थित की है कि 'परिणमन उभय रूप होता है—यह बिना आगम प्रमाण के मान्य नहीं हो सकता,' इसके साथ ही आपने यह भी लिखा है कि 'यदि परिणमन उभयरूप होता, तो घट में कुम्भकार का रूप आ जाता।'

इसके विषय में हमारा कहना यह है कि आगम में स्वपर-प्रत्यय परिणमनों को स्वीकार किया गया है, इसके लिये प्रमाण भी दिये जा चुके हैं, आप भी स्वपर-प्रत्यय परिणमनों को स्वीकार करते हैं, अन्तर्व्याप्ति और बहिर्व्याप्ति की व्यवस्था को भी आपने स्वीकार किया है, इस तरह एक ही परिणमन या कार्य में अन्तर्व्याप्ति की अपेक्षा उपादेयता और बहिर्व्याप्ति की अपेक्षा नैमित्तिकता रूप दो धर्मों को स्वीकार करना असंगत नहीं है और न ऐसी स्वीकृति को अशास्त्रीय ही कहा जा सकता है। 'निमित्त कार्यरूप परिणत नहीं होता, सिर्फ उपादान ही कार्यरूप परिणत होता है, इस अनुभूत, युक्त और आगम सिद्ध अटल नियम के रहते हुए कार्य में नैमित्तिकता रूप धर्म पाया जानेमात्र से उक्त कार्य में निमित्त के रूप को प्रवेश प्रसक्त हो जायेगा—ऐसी शंका करना उचित नहीं है।

इस विवेचन से लोगों का यह भय भी समाप्त हो जाना चाहिये कि निमित्त कर्तृत्व, निमित्तकरणत्व आदि को वास्तविक मानने से निमित्तों में द्विपक्रियाकारिता की प्रसक्ति हो जायेगी, क्योंकि अपने प्रतिनियत निमित्तों के सहयोग से अपनी उपादान शक्ति के परिणमनस्वरूप जो एक व्यापार उन निमित्तों का हो रहा हो वह व्यापार ही उपादान की परिणति होने के कारण उपादेय है और चूंकि निमित्तों के सहयोग से उत्पन्न हुआ है, इसलिये नैमित्तिक है तथा वही व्यापार अन्य वस्तु के परिणमन में सहायक है, इसलिये निमित्तकर्त्ता आदि रूप में निमित्तकारण भी है।

इस विवेचन से यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो जाती है कि निमित्त में उपादानगत कारणता का उपचार नहीं होता है, क्योंकि 'सति निमित्ते प्रयोजने च उपचारः प्रवर्तते', उपचार का यह लक्षण वहाँ घटित नहीं होता है। इसलिये जिस प्रकार उपादान कारण अपने रूप में वास्तविक अर्थात् सद्भूत है, उसी प्रकार निमित्त कारण भी अपने रूप में वास्तविक अर्थात् सद्भूत ही हैं, कल्पनारोपित (असद्भूत) नहीं। इसी प्रकार व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयों के विषय में भी यही व्यवस्था समझना चाहिये। अर्थात् जिसप्रकार निश्चय अपने

रूप में वास्तविक है, उसी प्रकार व्यवहार भी अपने रूप में वास्तविक अर्थात् सद्भूत ही है। समयसार गाथा १३ और १४ की आत्मख्याति टीका में व्यवहार को अपने रूप में भूतार्थ ही स्वीकार किया है और उस व्यवहार में जितना भी अभूतार्थता का प्रतिपादन किया गया है, वह केवल निश्चय की अपेक्षा से ही किया गया है अर्थात् जिसप्रकार निमित्त में विद्यमान निमित्तता, निमित्तता ही है, वह उपादानता रूप नहीं हो सकती है, इसलिये उपादानतारूप न हो सकने के कारण अवास्तविक होते हुए भी निमित्ततारूप से वह वास्तविक ही है, उसी प्रकार व्यवहार ही है, वह निश्चय कभी नहीं हो सकता है, इसलिये निश्चयरूप न हो सकने के कारण अवास्तविक होते हुए भी व्यवहाररूप से वह वास्तविक ही है।

यह बात हम पहले ही बतला आये हैं कि एक वस्तु के धर्म का आरोप अन्य उस वस्तु में वहीं होता है, जहाँ उपचार का उल्लिखित लक्षण घटित होता है। इसप्रकार उपचार के आधार पर वस्तु को ही उपचरित कहा जाता है। और इस तरह वस्तु के दो धर्म हो जाते हैं, एक उपचरित धर्म और दूसरा अनुपचरित धर्म। इनमें से जो ज्ञान उपचरित धर्म को ग्रहण करता है, वह उपचरित ज्ञाननय कहलाता है और जो ज्ञान अनुपचरित धर्मको ग्रहण करता है, वह अनुपचरित ज्ञाननय कहलाता है। इसी प्रकार जो वचन उपचरित धर्म का प्रतिपादन करता है, वह उपचरित वचननय कहलाता है और जो वचन अनुपचरित धर्म का प्रतिपादन करता है, वह अनुपचरित वचननय कहलाता है।

नोट – इस विषय में प्रश्न न. १, ४, ५, ६, और ११ पर अवश्य दृष्टि डालिये। तथा इनके प्रत्येक दौर का विषय देखिये।

●

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्।।

शंका 17

उपचार का लक्षण क्या है ? निमित्त कारण और व्यवहार में यदि क्रमशः कारणता और नयत्व का उपचार है तो इनमें उपचार का लक्षण घटित कीजिए ?

प्रतिशंका 3 का समाधान

प्रथम उत्तर में मूल प्रश्न के अनुसार और द्वितीय उत्तर में अपर पक्ष के प्रपत्र २ के अनुसार विचार किया गया है। तत्काल अपर पक्ष के प्रपत्र ३ पर विचार करना है।

1. पुनः स्पष्टीकरण

इसे प्रारम्भ करते हुए अपर पक्ष ने अपने पुराने विचारों को दुहराया है। हमने प्रथम उत्तर में उपचार का स्वरूप बतलाते हुए लिखा था कि 'पर के सम्बन्ध (आश्रय) से जो व्यवहार किया जाता है, उसे उपचार कहते हैं।' इसमें 'सम्बन्ध' पद के साथ उसका पर्यायवाची 'आश्रय' पद आया है।' अपर पक्ष ने 'आश्रय' पद का 'आधार' अर्थ कर अपने प्रपत्र २ में जो आपत्ति उपस्थित की थी उसका समाधान हमने यह लिखकर कर दिया था कि 'वहाँ आश्रय का अर्थ सम्बन्ध स्वयं लिखा गया है। अपर पक्ष ने पुनः उसे दुहराया है, इसलिए इतना संकेत करना पड़ा। विचार कर देखा जाये तो उक्त लक्षण में ये दोनों शब्द आलम्बन के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।

2. व्यवहार पद के विषय में विशेष स्पष्टीकरण

अपर पक्ष ने इसी प्रसंग में 'व्यवहार' पद के अर्थ के विषय में भी स्पष्टीकरण की पृच्छा की थी। उसका हमने अपने उत्तर २ में इतना ही स्पष्टीकरण किया था कि उपचार और आरोप पद, इसी अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। अपर पक्ष ने अपने पत्रक ३ में लिखा है कि 'व्यवहार पद का अर्थ हमने अज्ञात होने के कारण नहीं पूछा था।' और इसके बाद उस पक्ष ने ऐसे अनेक धर्म युगल इस पत्रक में निर्दिष्ट किये हैं, जिनमें से प्रथम को निश्चय और दूसरे को व्यवहार कहा गया है। यथा 'द्रव्य और पर्याय के विकल्पों में द्रव्यरूपता निश्चय है और पर्यायरूपता व्यवहार है।......... मुक्ति और संसार के विकल्पों में मुक्ति 'निश्चय है और संसार व्यवहार है।' आदि।

आगे अपरपक्ष ने लिखा है कि 'इस प्रकार वस्तु में यथासम्भव विद्यमान अपने-अपने अनन्त धर्मों की अपेक्षा परस्पर विरुद्ध अनन्त प्रकार के निश्चय और व्यवहार के युगल रूप विकल्प पाये जाते हैं। जैन संस्कृति में वस्तु को अनेकान्तात्मक स्वीकार किया गया है, इसलिए उपर्युक्त निश्चय और व्यवहार के विकल्प परस्पर विरोधी होते हुए भी वस्तु में परस्पर समन्वित होकर ही रह रहे हैं। एकत्व और अनेकत्व, नित्यत्व और अनित्यत्व, तद्रूपता और अतद्रूपता, सद्रूपता और असद्रूपता, अभेदरूपता और भेदरूपता इत्यादि युगलों में भी पहला विकल्प निश्चय का और दूसरा विकल्प व्यवहार का है। चूँकि ये सभी वस्तु के ही धर्म हैं, अतः अपने-अपने रूप में सद्भूत हैं, केवल असद्भूत नहीं हैं।'

निश्चय किसे कहते हैं और व्यवहार किसे कहते हैं, इस सम्बन्ध में यह अपर पक्ष का वक्तव्य है। अपर पक्ष ने किस आगम प्रमाण के आधार से यह स्पष्टीकरण किया है, इसे देने की उस पक्ष ने इसलिए सम्भवतः आवश्यकता नहीं समझी होगी, क्योंकि वह पक्ष आगम के स्थान पर सर्वत्र अपने विचारों को ही प्रधानता देता हुआ प्रतीत होता है। यदि हमने व्यवहार शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं किया था और अपर पक्ष उसे जानता था तो उस पक्ष का यही कर्तव्य था कि आगमप्रमाण देकर उसका स्पष्टीकरण कर देता। हमने अभी तक जितने भी आगमों का अवलोकन किया है उनमें न तो निश्चय को ही एक-एक धर्मरूप प्रतिपादित किया गया है और न व्यवहार को ही एक-एक धर्मरूप प्रतिपादित किया गया है। दो-दो धर्मयुगलों में प्रथम धर्म निश्चय है और दूसरा धर्म व्यवहार है यह अपर पक्ष की अपनी कल्पना है, आगम नहीं। आलापपद्धति में निश्चय और व्यवहार के लक्षणों का निर्देश करते हुए लिखा है—

अभेदानुपचारतया वस्तु निश्चीयते इति निश्चयः, भेदोपचारतया वस्तु व्यवह्रियते इति व्यवहारः।

अभेद और अनुपचाररूप से वस्तु निश्चित करना निश्चय है तथा भेद और उपचार रूप से वस्तु व्यवहृत करना व्यवहार है।

निश्चय और व्यवहार के इन लक्षणों में अध्यात्मदृष्टि से प्ररूपित लक्षणों का भी समावेश हो जाता है, इसलिए यहाँ पर हमने उनका पृथक् से निर्देश नहीं किया है।

निश्चय और व्यवहार के ये सामान्य लक्षण हैं, अतः इनका यथा प्रयोजन अपने उत्तर भेदों में घटित होना स्वाभाविक है। यहाँ इतना विशेष समझ लेना चाहिए कि उक्त लक्षण

निश्चयनय और व्यवहारनय की मुख्यता से प्ररूपित किये गये हैं, किन्तु इससे निश्चय और व्यवहार के स्वरूप स्पष्टीकरण हो जाता है। इनके स्वरूप पर मोक्षमार्ग की दृष्टि से स्पष्ट प्रकाश डालते हुए समयसार गाथा ७ की आत्मख्याति टीका में लिखा है—

आस्तां तावद्बन्धप्रत्ययाज्ज्ञायकस्याशुद्धत्वम्, दर्शन-ज्ञान-चारित्राण्येव न विद्यन्ते। यतो ह्यनन्तधर्मण्येकस्मिन् धर्मिण्यनिष्णातस्यान्तेवासिजनस्य तदवबोधविधायिभिः कैश्चिद्धर्मैस्तमनुशासतां सूरीणां धर्म-धर्मिणोः स्वाभावतोऽभेदेऽपि व्यपदेशतो भेदमुत्पाद्य व्यवहारमात्रेणैव ज्ञानिनो दर्शनं ज्ञानं चारित्रमित्युपदेशः। परमार्थतस्त्वेकद्रव्य-निष्पीतानन्तपर्यायतयैकं किञ्चिन्मिलितास्वादमभेदमेकस्वभावमनुभवतो न दर्शनं न ज्ञानं न चारित्रम्, ज्ञायक एव एक शुद्धः।

ज्ञायक आत्मा के बन्धपर्याय के निमित्त से अशुद्धता तो दूर रहो, उसके दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही विद्यमान नहीं हैं, क्योंकि अनन्त धर्मवाले एक धर्मी का जिन्हें ज्ञान नहीं है—ऐसे निकटवर्ती शिष्यों को उसे (धर्मी को) बतलाने वाले कितने ही धर्मों द्वारा उसका अनुशासन करने वाले आचार्यों का ऐसा उपदेश है कि यद्यपि धर्म और धर्मी में स्वभाव से अभेद है तो भी नाम से भेद उपजाकर व्यवहार मात्र से ही ज्ञानी के दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है। परन्तु परमार्थ से देखा जाये तो एक द्रव्य के द्वारा पिये गये अनन्त पर्यायपने से जो एक है, किंचित् मिलित आस्वादवाला है, अभेदरूप है और एकस्वभाव है—ऐसी वस्तु का अनुभव करने वाले के न दर्शन है, न ज्ञान है और न चारित्र है - एकमात्र शुद्ध ज्ञायक है।

इसी तथ्य को उदाहरण सहित सरल शब्दों द्वारा समझाते हुए आचार्य जयसेन उक्त गाथा की टीका में लिखते हैं—

यथा निश्चयनयेनाभेदरूपेणाग्निरेक एव, पश्चाद् भेदरूपव्यवहारेण दहतीति दाहकः पचतीति पावकः प्रकाशं करोतीति प्रकाशक इति व्युतपत्त्या विषयभेदेन त्रिधा भिद्यते। तथा जीवोऽपि निश्चयरूपाभेदनयेन शुद्धचैतन्यरूपोऽपि भेदरूप-व्यवहारनयेन जानातीति ज्ञानं पश्यतीति दर्शनं चरतीति चरित्रमिति व्युत्पत्या विषयभेदेन त्रिधा भिद्यत इति।

जिस प्रकार निश्चयनय से अभेद रूप से अग्नि एक ही है, पश्चात् भेदरूप व्यवहार से दहन करती है, इसलिए दाहक है, पचाती है, इसलिए पाचक है और प्रकाश करती है, इसलिए प्रकाशक है—इस तरह व्युत्पत्ति करने पर विषयभेद से तीन प्रकार के भेद को प्राप्त होती है, उसी प्रकार जीव भी निश्चयरूप अभेदनय से शुद्ध चैतन्यस्वरूप होकर भी भेदरूप

व्यवहारनय से जानता है, इसलिए ज्ञान है, देखता है, इसलिए दर्शन है और चरण करता है, इसलिए चारित्र है—इस प्रकार व्युत्पत्ति करने पर विषय भेद से तीन प्रकार के भेद को प्राप्त होता है।

ये आगम प्रमाण हैं। इन पर सम्यक् प्रकार से दृष्टिपात करने पर विदित होता है कि जो एक द्रव्य के द्वारा पिये गये अनन्त पर्यायपने से एक है, किंचित् मिलित आस्वादवाला है, अभेदरूप है और एक स्वभाव है वह निश्चय है, क्योंकि परमार्थ से वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। इस प्रकार इस कथन द्वारा वस्तुस्वरूप का ही उद्घाटन किया गया है, अतएव उक्त प्रकार से वस्तुस्वरूप को ग्रहण करने वाला निश्चयनय है—यह सिद्ध होता है। स्पष्ट है कि **त्रिकालाबाधित अभेदरूप एक अखण्ड वस्तु की निश्चय संज्ञा है और उसे ग्रहण करने वाला निश्चयनय है।**

यह तो निश्चयस्वरूप वस्तु का और उसे ग्रहण करने वाले निश्चयनय का स्वरूपनिर्देश है। अब व्यवहारनय और उसके विषय पर दृष्टिपात कीजिए।

आचार्य कहते हैं कि 'यद्यपि धर्म और धर्मी में स्वभाव से अभेद है, तो भी नाम से भेद उपजाकर व्यवहार मात्र से ही ज्ञानी के दर्शन है, ज्ञान है और चारित्र है।' इससे विदित होता है कि **धर्म-धर्मी में स्वभाव से अभेद होने पर भी भेद उपजाकर कथन करना व्यवहार है और इसे विषय करने वाला व्यवहारनय है।** यत: धर्म और धर्मी एक वस्तु में सद्भूत हैं, इसलिए ऐसे नय को सद्भूतव्यवहारनय कहते हैं।

यहाँ ऐसा जानना चाहिए कि जिनागम में जो निश्चय व्यवहार रूप वर्णन है **उसमें यथार्थ का नाम निश्चय है और उपचार का नाम व्यवहार है।**

यह वस्तुस्थिति है। इसे दृष्टि ओझल करके अपर पक्ष वस्तु के एक धर्म को निश्चय कहता है और दूसरे धर्म को व्यवहार कहता है। यह बड़ी जटिल कल्पना है। उस पक्ष ने इस कल्पना को मूर्तरूप किस आधार से दिया, यह हम अभी तक नहीं समझ सके। जबकि **निश्चय शुद्ध अखण्ड वस्तु है और व्यवहार अखण्ड वस्तु में भेद उपजाकर उसका कथन करनामात्र है।** अपर पक्ष समझता है कि व्यवहारनय का विषय वस्तु का धर्म विशेष है तथा इसी प्रकार निश्चयनय का विषय भी वस्तु का धर्म विशेष है। किन्तु ऐसी बात नहीं है, जैसा कि समयसार गाथा ७ को उक्त टीका से स्पष्ट है। अपर पक्ष को आगम पर दृष्टि रख कर उनके स्वरूप का निर्देश करना चाहिए। आगम के अभिप्राय को स्पष्ट करने का यह विधि मार्ग है।

यद्यपि आगम में व्यवहार को प्रवृत्ति-निवृत्ति लक्षण वाला निर्दिष्ट किया गया है—

व्यवहारं प्रवृत्ति-निवृत्तिलक्षणम्। - *अनगारधर्मामृत अ. १ श्लोक ९९*

सो प्रकृत में उसका आशय इतना ही है कि जो व्रतादिरूप जीव की प्रवृत्ति होती है उसे मोक्षमार्ग कहना—यह व्यवहार है। इसी प्रकार सर्वत्र जानना।

आगम में जो व्यवहार के सद्भूतव्यवहार और असद्भूतव्यवहार इत्यादि भेद किये गये हैं, वे मात्र किस आलम्बन से यह व्यवहार प्रवृत्त हुआ है यह दिखलाने के लिए किये गये हैं। अभेद और अनुपचरित रूप जो वस्तु है उसे इनमें से कोई भी व्यवहारनय विषय नहीं करता, क्योंकि **सद्भूतव्यवहारनय का विषय संज्ञा, प्रयोजन और लक्षण आदि को ध्यान में रखकर अखण्ड त्रिकालाबाधित वस्तु में भेद उपजाकर कथन करना मात्र है और असद्भूतव्यवहारनय का विषय एक वस्तु में अन्य वस्तु के गुण-धर्म का प्रयोजनादिवश आरोपकर कथन करनामात्र है।**

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि जबकि प्रत्येक वस्तु त्रिकालाबाधित अखण्डरूप से परमार्थ सत् है तो उसे विषय करने वाले ज्ञान को निश्चयनय क्यों कहा गया है। ऐसे ज्ञान को प्रमाणज्ञान क्यों नहीं कहते? समाधान यह है कि यह ज्ञान, धर्म और कालादि विशेषण से विशिष्ट वस्तु को विषय नहीं करता; इसलिए यह ज्ञान नयज्ञान ही है और चूँकि **वस्तु स्वभाव से अभेद-एकरूप ही परमार्थसत् है, इसलिए इसे स्वीकार करने वाले नय विकल्प को निश्चयनय कहते हैं।**

इस प्रकार 'व्यवहार' पद का क्या अर्थ है? उसे हमने अपने पिछले उत्तर में उपचरित या आरोपित क्यों बतलाया, इसका सप्रमाण स्पष्टीकरण हो जाता है। साथ ही अपर पक्ष ने निश्चय और व्यवहार को जो एक-एक धर्मस्वरूप बतलाया है, वह ठीक नहीं है यह भी ज्ञात हो जाता है।

3. 'मुख्याभावे' इत्यादि वचन का स्पष्टीकरण

अपर पक्ष ने हमारे द्वारा निर्दिष्ट किये गये उपचार के लक्षण को मान्य कर लिया, यह तो प्रसन्नता की बात है। किन्तु उसे '**मुख्याभावे सति निमित्ते प्रयोजने च उपचारः प्रवर्तते,**' इस वचन में पठित '**निमित्ते**' पद पर विवाद है। उसका कहना है कि 'उपचार के इस अर्थ में हमारे आपके मध्य अन्तर यह है कि जहाँ आप उपचार की प्रवृत्ति निमित्त और प्रयोजन

दिखलाने के लिए करना चाहते हैं वहाँ हमारा कहना यह है कि उपचार करने का कुछ प्रयोजन हमारे लक्ष्य में हो और उपचार प्रवृत्ति का कोई निमित्त (कारण) वहाँ विद्यमान् हो तो उपचार की प्रवृत्ति होगी।' समाधान यह है कि आलापपद्धति के उक्त वचन द्वारा '**मुख्याभावे सति**' इस वचन का निर्देश कर यही तो बतला दिया गया है कि जहाँ व्यवहार हेतु और व्यवहार प्रयोजन बतलाना इष्ट हो, वहाँ उपचार की प्रवृत्ति होती है। यहाँ 'निमित्त' और 'प्रयोजन' शब्द 'मुख्य हेतु' और 'मुख्य प्रयोजन' के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है, अन्यथा उक्त वचन में '**मुख्याभावे सति**' इस वचन का सन्निवेश करना त्रिकाल में सम्भव नहीं था। आगम में उपचार कथन के जितने उदाहरण मिलते हैं, उनसे भी यही सिद्ध होता है। उदाहरणार्थ '**सिंहोऽयं माणवकः**' इस वचन पर दृष्टिपात कीजिए। इस द्वारा बालक में सिंह का उपचार किया गया है। इसका कारण जिस गुण के कारण तिर्यञ्च विशेष यथार्थ में 'सिंह' कहलाता है, 'सिंह' के उस गुण का बालक में सद्भाव स्वीकार करना ही तो है। यही उपचार करने का व्यवहार हेतु है। अपर पक्ष ऐसा एक भी उदाहरण उपस्थित नहीं कर सकता जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि एक द्रव्य का धर्म दूसरे द्रव्य में वास्तव में पाया जाता है। देखो, समयसार गाथा १०० में अज्ञानी जीव के योग और विकल्प को घट का निमित्त कर्त्ता कहा है। क्या अपर पक्ष यह साहस पूर्वक कह सकता है कि ये धर्म जीव के न होकर मिट्टी के हैं। यदि नहीं, तो अज्ञानी जीव के उन धर्मों को घट का निमित्त या निमित्तकर्त्ता कहना क्रम से उपचरित तथा उपचरितोपचरित ही तो होगा। प्रकृत में '**सति निमित्ते प्रयोजने च**' का यही तात्पर्य है और इसी तात्पर्य को स्पष्ट करने के लिए आलापपद्धति के उक्त वचन में 'मुख्याभावे' पद दिया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अपर पक्ष ने उक्त वचन के आधार पर हमारे और अपने बीच जिस मतभेद की चर्चा की है वह वस्तुस्थिति को ध्यान में न लेने का ही परिणाम है। यदि अपर पक्ष आलापपद्धति के उस प्रकरण पर ही दृष्टिपात कर ले जिस प्रकरण में यह वचन आया है तो भी हमें आशा है कि वह पक्ष मतभेद को भूलकर इस विषय में हमारे कथन से सहमत हो जायेगा।

4. 'बंधे च मोक्ख हेऊ' गाथा का अर्थ

अपर पक्ष ने नयचक्र की 'बंधे च मोक्ख हेऊ' इस वचन को उद्धृत कर हमारे द्वारा किये गये उसके अर्थ को गलत बतलाया है। अपर पक्ष ने जबकि बन्ध और मोक्ष में जीव को यथार्थ हेतु तथा कर्म-नोकर्म को व्यवहार हेतु स्वीकार कर लिया है तो इससे यह तो

सुतरां सिद्ध हो जाता है कि कर्म और नोकर्म को जो बन्ध और मोक्ष में हेतु कहा है, वह उपचार से कहा है क्योंकि 'व्यवहार हेतु' और 'उपचार हेतु' इन दोनों का आशय एक ही है। अतएव उक्त गाथा के आधार से अपर पक्ष ने जो यह तात्पर्य फलित किया है कि 'इस प्रकार जहाँ आपने अपने अर्थ में निमित्त में उपचार से कारणता बतलाई है, वहाँ हमने अपने अर्थ में कर्म-नोकर्म में वास्तविक निमित्त रूप से कारणता बतलाई है।' वह आगमविरुद्ध है, क्योंकि अन्य वस्तु दूसरे के कार्य में व्यवहार से हेतु होता है, इसका ही यह अर्थ है कि वह उपचरित हेतु होता है। गाथा में '**ववहारदो**' यह पद पृथक् से आया है। वह भी इस तथ्य की घोषणा करता है कि बन्ध-मोक्ष में कर्म-नोकर्म को हेतु उपचार से ही स्वीकार किया गया है, यथार्थ में नहीं।

हमने अपने अर्थ में कोष्टक में जो 'निमित्त' पद दिया है, वह नहीं देना था यह हमें इष्ट है, क्योंकि अन्य पदार्थ अन्य के कार्य का स्वभाव से हेतु नहीं होता। किन्तु इस पर से अपर पक्ष के अभिमत की सिद्धि नहीं होती। गाथा अपने में स्पष्ट है। उसके पूर्वार्ध में व्यवहार हेतु-उपचरित हेतु का और उत्तरार्ध में निश्चय हेतु-यथार्थ हेतु का निर्देश करके बतलाया गया है कि **अन्य पदार्थ बन्ध-मोक्ष में व्यवहार हेतु है और जीव निश्चय हेतु है।**

अपर पक्ष का कहना है कि 'गाथा के उत्तरार्ध में 'जीव' पद है, इसलिए पूर्वार्ध में 'अण्णो' पद से जीव से भिन्न 'अन्य पदार्थ लिये गये हैं' सो यह कहना जहाँ ठीक है, वहाँ कर्म-नोकर्म को व्यवहार से निमित्त बतलाकर भी वे वास्तविक कारण हैं यह अर्थ करना संगत नहीं है, क्योंकि उक्त गाथा में '**हेऊ अण्णो ववहारदो**' ये तीन पद स्वतन्त्ररूप से आये हैं, जिनका अर्थ होता है कि 'व्यवहारनय से अन्य पदार्थ हेतु अर्थात् निमित्त है।' इससे सिद्ध है कि उक्त गाथा द्वारा बन्ध और मोक्ष में अन्य वस्तु को उपचार से हेतु स्वीकार किया गया है। अपर पक्ष '**ववहारदो हेऊ**' का अर्थ 'निमित्त कारण' मात्र इतना करके उसे वास्तविक सिद्ध करना चाहता है, यही उसकी भूल है। **अपर पक्ष को यह स्मरण रखना चाहिए कि निमित्त, कारण, हेतु और साधन इत्यादि शब्द एकार्थवाची हैं। यही कारण है कि गाथा में उपचार कारण और यथार्थ कारण इन दोनों के लिए मात्र 'हेतु' शब्द का प्रयोग किया गया है।** गाथा में बतलाया है कि बन्ध और मोक्ष में अन्य पदार्थ भी हेतु है और जीव भी हेतु है। परन्तु वे किस रूप में हेतु हैं इसका ज्ञान कराते हुए 'ववहारदो' और 'णिच्छयदो' पद देकर यह स्पष्ट कर दिया है कि अन्य पदार्थ बन्ध-मोक्ष में व्यवहार से (उपचार से) हेतु हैं और जीव पदार्थ

निश्चय से (परमार्थ से) हेतु है। अतएव अपर पक्ष ने प्रकृत में उक्त गाथा के आधार से जितना व्याख्यान किया है, वह ठीक नहीं हैं – ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

अपर पक्ष का कहना है कि 'क्योंकि हम अपनी प्रतिशंका में बतला चुके हैं कि एक वस्तु का अपना वस्तुत्व उपादान नहीं है और दूसरी वस्तु का अपना वस्तुत्व निमित्त नहीं है, किन्तु अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को रखती हुई विवक्षित वस्तु विवक्षित कार्य के प्रति आश्रय होने से उपादान कारण है और अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को रखती हुई अन्य विवक्षित वस्तु सहायक होने से निमित्त कारण है।' आदि।

समाधान यह है कि प्रत्येक वस्तु की उपादानकारणता उसका स्वरूप है। तभी तो प्रत्येक वस्तु में कर्त्ता आदि षट्कारक धर्मों को यथार्थ रूप में स्वीकार किया गया है। इसके लिए समयसार परिशिष्ट पर दृष्टिपात कीजिए। इसमें जीव में भावशक्ति और क्रियाशक्ति का अस्तित्व बतलाने के बाद कर्मशक्ति, कर्तृशक्ति, करणशक्ति, सम्प्रदानशक्ति,अपादानशक्ति और अधिकरणशक्ति—ये छह कारक शक्तियाँ निर्दिष्ट की गई हैं। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रत्येक वस्तु स्वरूप से अपने परिणामलक्षण कार्य का यथार्थ उपादान होने के साथ वह उसका मात्र आश्रय न होकर कर्ता भी है। **इतना अवश्य है कि प्रत्येक वस्तु का अपना वस्तुत्व, दूसरी वस्तु के कार्य यथार्थ निमित्त अवश्य ही नहीं है।** यही कारण है कि बन्ध-मोक्ष-में अन्य वस्तु को व्यवहार से (उपचार से) निमित्त कहा है और जीव को निश्चय से (परमार्थ से) हेतु कहा है। इस सन्दर्भ में जब हम अपर पक्ष के उक्त वक्तव्य पर दृष्टिपात करते हैं तो हमें अपर पक्ष का उक्त कथन आगमविरुद्ध ही प्रतीत होता है। इस छोटे से वक्तव्य में अपर पक्ष ने परस्पर विरुद्ध ऐसी मान्यताओं का समावेश कर दिया है, जिनकी सीमा नहीं। जब कि अपर पक्ष के कथनानुसार एक वस्तु का अपना वस्तुत्व उपादान ही नहीं तो वह अपने कार्य का यथार्थ आश्रय कैसे बन सकता है, इसका अपर पक्ष स्वयं विचार करे। और साथ ही जबकि दूसरी वस्तु का अपना वस्तुत्व निमित्त नहीं तो वह दूसरे के कार्य का यथार्थ सहकारी कैसे कहला सकता है। हम तो अपर पक्ष के इस कथन से यही समझे हैं कि वह वास्तव में वस्तु के वस्तुत्व में ही संदिग्ध है।

हमने निश्चय छह कारक और व्यवहार छह कारक स्वीकार किये हैं, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु इन्हें स्वीकार करने के साथ हमने यह भी तो बतलाया है कि निश्चय छह कारक यथार्थ हैं और व्यवहार छह कारक कथन मात्र हैं, मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कहने के समान।

हमने 'जिसके साथ कार्य की बाह्य व्याप्ति पाई जाती है, उसमें कर्ता आदि निमित्त व्यवहार किया जाता है।' यह लिखा है। साथ ही इसी प्रसंग में हमने यह भी लिखा है कि 'जिस दूसरे पदार्थ के साथ बाह्य व्याप्ति पाई जाती है, उसमें निमित्त रूप व्यवहार का आलम्बन कर जिसमें कर्ता रूप व्यवहार होता है, उसे कर्ता निमित्त कहते हैं।' आदि।

इस पर अपर पक्ष ने 'निमित्त रूप व्यवहार आलम्बन कर' इस वाक्यांश के आधार से लिखा है कि इस वाक्यांश का अर्थ 'उस दूसरे पदार्थ में उपादान की कार्यरूप परिणति के अनुकूल जो सहायता रूप व्यापार हुआ करता है, जिसके आधार उसमें बहिर्व्याप्ति की व्यवस्था बन सकती है, यदि आपका अभीष्ट अर्थ हो तो वह व्यापार उस दूसरे पदार्थ का वास्तविक व्यापार ही तो माना जावेगा। उसे अवास्तविक कैसे कहा जा सकता है।' आदि। समाधान यह है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के कार्य में सहायता रूप व्यापार करता है, यह कथन मात्र है। प्रत्येक द्रव्य अपना-अपना व्यापार स्वयं करते हैं पर उनके एक साथ होने का नियम है, मात्र इसलिये वहाँ उपादान से भिन्न दूसरे द्रव्य के कार्य में निमित्त व्यवहार किया जाता है। जैसे घी का घड़ा कहना कल्पनारोपित नहीं है। व्यवहार षट्कारक विकल्पवश वस्तु में ऐसे ही आरोपित किये जाते हैं जैसे-मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कहा जाता है।

5. तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक के एक प्रमाण का स्पष्टीकरण

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. १५१ के प्रमाण को अपर पक्ष अनेक बार उपस्थित कर आया है और हम भी उसका कहीं संक्षेप तथा कहीं विस्तार से समाधान भी कर आये हैं। अपर पक्ष ने यहाँ पुनः प्रमाण को उपस्थित किया है। उसमें द्विष्ठ कार्य-कारणभाव को व्यवहारनय से परमार्थभूत कहा गया है। मात्र इसी कारण अपर पक्ष उक्त कथन को अपने अभिमत के समर्थन में मानता है। किन्तु आचार्य विद्यानन्दि उस कथन को निश्चय कथन नहीं बतला रहे हैं, मात्र व्यवहारनय कथन बतला रहे हैं, इस पर अपर पक्ष अपना ध्यान दे—यह हमारा उस पक्ष से सविनय निवेदन है।

अब देखना यह है कि आचार्य विद्यानन्दि ने यदि द्विष्ठ कार्य-कारणभाव को व्यवहारनय से परमार्थभूत कहा तो क्यों कहा? बात यह है कि जिस प्रकार बौद्ध-दर्शन स्कन्धसन्तति आदि को संवृतिसत् (कल्पनारोपित) मानता है, उस प्रकार जैनदर्शन उसे सर्वथा कल्पनारोपित नहीं मानता, क्योंकि दो आदि परमाणुओं में से प्रत्येक परमाणु में अपने से भिन्न दूसरे परमाणु को निमित्त कर अपनी योग्यतावश ऐसा परिणाम होता है जिसके कारण नाना परमाणुओं के

उक्त परिणाम को देश-भावप्रत्यासत्तिवश स्कन्ध आदि कहते हैं। ऐसा परिणाम सुसंस्कृत अर्थात् परमार्थसत् है, असंस्कृत अर्थात् कल्पनारोपित नहीं है। यहाँ प्रत्येक परमाणु के युगपत् देश-भाव-प्रत्यासत्ति रूप ऐसे परिणाम को देखकर ही व्यवहारनय से द्विष्ठ कार्य-कारणभाव को परमार्थसत् कहा गया है। आशय यह है कि प्रत्येक परमाणु का उक्त प्रकार का परिणाम यथार्थ है। साथ ही उन सब परमाणुओं में देश भावप्रत्यासत्ति है। उनमें स्कन्ध व्यवहार करने का यही कारण है। स्पष्ट है कि बौद्ध-दर्शन स्कन्धसन्तति को जिस प्रकार संवृत्तिसत्-कल्पनारोपित मानता है, उस प्रकार जैनदर्शन नहीं मानता। इसी कारण आप्तमीमांसा कारिका ५४ की अष्टशती टीका में उसे सुसंस्कृत अर्थात् परमार्थसत् बतलाया है। आचार्य विद्यानन्दि ने भी इसी आधार पर त.श्लो.वा. पृ. १५१ में द्विष्ठ कार्य-कारणभाव को परमार्थ सत् कहा है। आचार्य विद्यानन्दि ने वहीं पर उक्त उल्लेख के बाद संग्रह और ऋजुसूत्रनय से उसे जो कल्पना मात्र घोषित किया है, उसका यही तात्पर्य है कि स्कन्ध व्यवहार को प्राप्त हुए उन परमाणुओं की न तो एक सत्ता है, क्योंकि सर्व परमाणुओं की स्वरूपसत्ता पृथक्-पृथक् है और न एक पर्याय ही है, क्योंकि प्रत्येक परमाणु पृथक्-पृथक् अपनी-अपनी पर्यारूप से परिणम रहा है। इस दृष्टि से देखने पर द्विष्ठ कार्य-कारण भाव कल्पनामात्र है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। उनके वे शब्द इस प्रकार है—

संग्रहर्जुसूत्रनयाश्रयणे तु न कस्यचित्कश्चित्सम्बन्धः अन्यत्र कल्पनामात्रात् इति सर्वमविरुद्धम्।

संग्रहनय और ऋजुसूत्र का आश्रय करने पर तो कल्पनामात्र को छोड़कर किसी का कोई सम्बन्ध नहीं है, इस प्रकार सर्व कथन अविरुद्ध हैं।

इस प्रकार समग्र कथन पर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ पर द्विष्ठ कार्य-कारण-भाव को जो परमार्थसत् कहा है वह विकल्परूप व्यवहारनय को ध्यान में रखकर ही कहा है। व्यवहारनय मात्र विकल्प रूप होने से उपचरित है इसके लिए समयसार गाथा १०७ की आत्मख्याति टीका पर दृष्टिपात कीजिए। **संसारी जीव के ऐसा विकल्प साधार होता है, इसलिए तो वह कल्पनारोपित नहीं है और उस विकल्प की विषयभूत वस्तु वैसी नहीं है, इसलिए वह उपचरित है—यह उक्त कथन का तात्पर्य है।**

अपर पक्ष ने तत्त्वार्थवार्तिक अं. ५ सू. २ को उपस्थित कर प्रत्येक कार्य-स्वपर प्रत्यय होता है, इसकी सिद्धि की है। समाधान यह है कि **प्रत्येक कार्य स्व-पर प्रत्यय होता**

है, इसका निषेध नहीं। विचार तो यह करना है कि इन दोनों में किसकी कारणता यथार्थ है और किसकी कारणता उपचरित है। परमागम में इसका विचार करते हुए अपना कार्य करने में समर्थ स्व को यथार्थ कारण बतलाया गया है और पर की कारणता को उपचरित बतलाया गया है। उक्त उल्लेख में '**नान्यतरापाये**' इत्यादि वचन निश्चय और व्यवहार इन दोनों पक्षों की सिद्धि के अभिप्राय से लिखा गया है। यत: दोनों पक्षों की सिद्धि युगपत् नहीं हो सकती, अत: उनकी सिद्धि क्रम से की गई है। पर इसका आशय यह नहीं कि प्रत्येक कार्य में दोनों प्रकार के हेतुओं का युगपत् समागम नहीं होता। इसलिये प्रत्येक समय में प्रतिनियत हेतुओं का समागम होकर प्रतिनियत कार्य ही उत्पन्न होता है—ऐसा यहाँ उक्त कथन का आशय लेना चाहिए, अन्यथा एकान्त का परिहार करना अशक्य होने से समस्त कार्य-कारण परम्परा ही गड़बड़ा जाती है। और इस प्रकार वस्तु में प्रत्येक समय में उत्पाद-व्यय के न बन सकने के कारण वस्तु का ही अभाव प्राप्त होता है जो युक्त नहीं है, अत: प्रत्येक समय मे प्रतिनियत बाह्याभ्यन्तर सामग्री की समग्रता में प्रतिनियत कार्य की उत्पत्ति को स्वीकार कर लेना यही आगमसम्मत मार्ग है—ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

अपर पक्ष ने तत्त्वार्थवार्तिक अ.५ सू.१७ का '**कार्यस्यानेकोपकरणसाध्यत्वात् तत्सिद्धेः**' इत्यादि वचन उद्धृत किया है। सो उसका भी पूर्वोक्त आशय ही है। प्रत्येक कार्य के प्रति बाह्य उपकरण प्रतिनियत बाह्य सामग्री है और आभ्यन्तर उपकरण समर्थ उपादानरूप आभ्यन्तर सामग्री है। इनमें से कार्य का एक आत्मभूत विशेषण है और दूसरा अनात्मभूत विशेषण है। इसी को आचार्य समन्तभद्र ने वाह्य और आभ्यन्तर उपाधि की समग्रता कहा है। इससे स्पष्ट है कि प्रतिनियत बाह्याभ्यन्तर सामग्री की समग्रता में ही प्रत्येक समय में प्रतिनियत कार्य होता है। प्रवचनसार गाथा १०२ की सूरिकृत टीका का भी यही आशय है। परीक्षामुख समुद्देश ३ सूत्र ६३ में जो '**तद्व्यापाराश्रित**' इत्यादि वचन आया है, इसमें मुख्यतया उपादानोपादेयभाव की दृष्टि से विचार किया गया है तथा '**कुलालस्येव कलशम्प्रति**' इस वचन द्वारा उसकी पुष्टि की गई है। इस द्वारा बतलाया गया है कि जैसे कुलाल (कुम्हार) कलश के प्रति निमित्त (व्यवहार हेतु) है, उसी प्रकार अनन्तर पूर्व क्षण कारण है और अनन्तर उत्तर क्षण कार्य है, क्योंकि कारण के होने पर कार्य के होने का नियम है। इस प्रकार इस वचन द्वारा भी पूर्वोक्त अभिप्राय की ही पुष्टि की गई है। स्पष्ट है कि ये सब वचन हमारे अभिप्राय की ही पुष्टि करते हैं, क्योंकि **प्रतिनियत कार्य की प्रति नियत बाह्यभ्यन्तर सामग्री के प्रतिनियत काल में होने का नियम है।**

इस प्रकार त. श्लो. वा., पृ. १५१ आदि के वचनों का क्या आशय है, इसका स्पष्टीकरण किया।

हमने लिखा था कि 'निमित्त को व्यवहार से कारण स्वीकार किया गया है।' इस पर अपर पक्ष का कहना है कि 'आप निमित्त में कारणता का उपचार करना चाहते हैं। लेकिन यहाँ विचारना यह है कि निमित्त शब्द का अर्थ ही जब कारण होता है तो निमित्त में विद्यमान कारणता से अतिरिक्त और कौन सी कारणता का उपचार आप निमित्त में करना चाहते हैं। तथा उसमें (निमित्त में) कारणता के विद्यमान रहते हुए उस उपचरित कारणता का प्रयोजन ही क्या रह जाता है।' समाधान यह है कि यहाँ पर बाह्य सामग्री के अर्थ में निमित्त शब्द का प्रयोग करके उसे अन्य के कार्य में व्यवहार हेतु बतलाया गया है। अत: अपर पक्ष को हमारा अभिप्राय समझकर ही उसका आशय ग्रहण करना चाहिए। **'बंधे च मोक्ख हेऊ'** इत्यादि गाथा के अर्थ पर अपर पक्ष ने जो टिप्पणी की है उसका स्पष्टीकरण हम इसी उत्तर में पहले ही कर आये हैं। अत: व्यवहार हेतु और निश्चय हेतु के विषय में जो आशय आगम का है, जिसका कि हमने विविध प्रमाणों के आधार से स्पष्टीकरण किया है, वही ठीक है।

अपर पक्ष ने 'प्रत्येक वस्तु में समान रूप से एक साथ पाये जानेवाले उपादानता और निमित्तता नाम के दोनों ही धर्म कार्य सापेक्ष होते हुए भी वास्तविक ही हैं।' इत्यादि लिखकर व्यवहार हेतुता को भी वास्तविक बतलाने का प्रयत्न किया है। किन्तु अपर पक्ष का यह कथन कल्पनामात्र है, क्योंकि **एक वस्तु का उससे भिन्न वस्तु में अत्यन्ताभाव है, इसलिए एक वस्तु के कार्य का कारण धर्म दूसरी वस्तु में सद्भूत है, यह मानना आगमसम्मत नहीं है।** अतएव भेद विवक्षा में उपादानता नाम के धर्म को कार्यसापेक्ष स्वीकार करना जहाँ सद्भूतव्यवहार का विषय है, वहाँ व्यवहार हेतु को कार्यसापेक्ष स्वीकार करके भी असद्भूतव्यवहारनय का विषय मानना ही उचित है। यही कारण है कि परमागम में 'एक कार्य के दो कर्ता नहीं होते' यह स्वीकार किया गया है। इस विषय का विशेष खुलासा अनेक प्रश्नों के उत्तर में किया ही है।

अपर पक्ष को एक वस्तु के कार्य का दूसरी वस्तु को निमित्तकर्ता कहना किस नय का विषय है और उसका नय का लक्षण क्या है, इस ओर ध्यान देना चाहिए। इससे यह स्पष्ट हो जायेगा कि एक **वस्तु के कार्य का दूसरी वस्तु को निमित्त कर्ता कहना मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कहने के समान उपचरित वचन ही है। प्रत्येक वस्तु स्वभाव से अपने ही कार्य**

का निमित्त (कारण) है। इसी को उपादानकारण कहते हैं। अन्य वस्तु अन्य वस्तु के कार्य को करे, यह उसका स्वभाव नहीं है। अपर पक्ष अन्य वस्तु के कार्य का अन्य वस्तु को वास्तविक निमित्त मानकर, उसे उपचरित मानने से हिचकिचा रहा है। यही कारण है कि प्रकृत में उसकी ओर से जो तर्क उपस्थित किये गये हैं वे सब प्रकृत में प्रयोजनीय नहीं हैं। अतएव उनकी उपेक्षा कर देना ही हम अपना प्रधान कर्तव्य मानते हैं।

अपर पक्ष ने यहाँ पर जो आपत्तियाँ उपस्थित की हैं, मात्र उनके भय से हम उपादानगत कारणता का अन्य वस्तु में आरोपकर उसे व्यवहार हेतु नहीं कहते। किन्तु एक वस्तु का कारण धर्म दूसरी वस्तु में नहीं पाया जाता, फिर भी उसमें निमित्त व्यवहार होता है, मात्र इसलिए हम उपादानगत कारणता का आरोप अन्य वस्तु में करते हैं।

अपर पक्ष ने '**मुख्याभावे सति प्रयोजने**' इत्यादि वचन को उपस्थित कर पुनः उसे अपनी टीका का विषय बनाया है। निवेदन यह है कि इसके आशय को समझने के लिए सर्व प्रथम उस पक्ष को '**मुख्याभावे**' इस पद पर ध्यान देना चाहिए। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ मुख्य हेतु और मुख्य प्रयोजन के अभाव में व्यवहार हेतु और व्यवहार प्रयोजन दिखलाना हो, वहाँ उपचार की प्रवृत्ति होती है। '**अन्नं वै प्राणाः, सिंहो माणकवः**' इन उदाहरणों को भी इसी न्याय से समझ लेना चाहिये। अन्न प्राणों के मुख्य हेतु नहीं है। प्राणों का मुख्य हेतु तो उसका उपादान है। फिर भी अन्न को जो प्राण कहा गया है वह व्यवहार हेतुता को दिखलाने के लिए ही कहा गया है, अतः यहाँ उपचार की प्रवृत्ति हो जाती है। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण को भी घटित कर लेना चाहिए। स्वयं अन्न अपने से भिन्न प्राणों का संरक्षण नहीं करते हैं, यह कार्य तो उपादान का है। प्राणों के संरक्षण आदि में वह व्यवहार हेतु अवश्य है, इसलिए पहले तो अन्न में प्राणों की व्यवहार हेतुता का उपचार किया गया और इसके बाद उसमें प्राणपने का उपचार कर अन्न को प्राण ही कहा गया। इसलिए अन्न को प्राण कहना, यह उपचरितोपचार है। अपर पक्ष ने अपनी कल्पना को हमारा कथन बतलाकर यहाँ जो कुछ भी लिखा है उसका उक्त कथन से निरास हो जाता है, अतः यहाँ हमने विस्तार से अपने अभिप्राय को स्पष्ट नहीं किया है।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के कार्य में सहयोग कर नहीं सकता, मात्र कालप्रत्यासत्तिवश सहयोग व्यवहार अवश्य किया जाता है। अज्ञानी जीव पर वस्तु में इष्टानिष्ट या एकत्वबुद्धि करता है, इसे ही यदि अपर पक्ष अपने से भिन्न वस्तु में आकृष्ट होना कहना चाहता है तो इसमें

आपत्ति नहीं। किन्तु इस आधार पर यदि अपर पक्ष यह मानना चाहता है कि उपादान से भिन्न अन्य वस्तु उपादान के कार्य में वास्तव में सहयोग करती है या उसे वास्तव में परिणमाती है तो ऐसा मानना मिथ्या है। उपादान के कार्य में उससे भिन्न अन्य वस्तु को इसीलिए अकिंचित्कर कहा गया है।

'उपादान से भिन्न वस्तु में अपने कार्य का कारण धर्म वास्तविक है, इसलिए उपचार निराधार नहीं किया जाता' यह सच है। किन्तु वह कारण धर्म अपने से भिन्न अन्य वस्तु के कार्य का नहीं है, फिर भी प्रयोजन विशेष को ध्यान में रखकर उसे अन्य वस्तु के कार्य का कारण कहा जाता है, इसलिए उसमें अन्य वस्तु के कार्य के वास्तविक कारण का आरोप करना लाजिमी हो जाता है। अन्यथा उसे अन्य वस्तु के कार्य का कारण त्रिकाल में नहीं कहा जा सकता। अपर पक्ष आलापपद्धति में निर्दिष्ट किये गये उपचार प्रकरण में आये हुए उन वचनों पर दृष्टिपात कर ले। उन पर दृष्टिपात करने से अपर पक्ष की समझ में यह बात अच्छी तरह से आ जायेगी कि **एक की कारणता को यदि दूसरे के कार्य की कारणता कहा जाता है तो कारणता में भी कारणता का आरोप करना बन जाता है।** एक शूरवीर बालक को यदि दूसरा शूरवीर बालक कहा जाता है, जैसे आज के बलशाली मनुष्य को अतीत काल में हुए भीम की अपेक्षा भीम कहना, तो एक शूरवीर बालक में दूसरे शूरवीर बालक की अपेक्षा शूरवीरता का आरोप करना बन जाता है। **प्राणों की वास्तविक सहायक सामग्री तो स्वयं उनका उपादान है, अन्न नहीं। फिर भी अन्न को प्राणों का सहायक कहना, यह आरोपित कथन है। इसे वास्तविक मानना, यही मिथ्या है।** विशेष स्पष्टीकरण पूर्व में किया ही है। स्पष्ट है कि अन्य वस्तु अन्य के कार्य का निमित्त कारण वास्तविक नहीं हैं, उपचरित ही है। बालक की शूरवीरता में पहले सिंह की शूरवीरता का आरोप होगा और इस आधार पर उसमें सिंह का आरोप कर उसे सिंह कहा जायेगा। इसी प्रकार अन्न को प्राण क्यों कहा गया है, इस विषय में भी स्पष्टीकरण कर लेना चाहिए।

एक द्रव्य के कार्य के प्रति दूसरी वस्तु स्वयं निमित्त (कारण) नहीं है, यह तो व्यवहार है। अत: आगम में अन्य वस्तु को दूसरे के कार्य के प्रति स्वभावत: सहयोगी नहीं माना गया है। यही कारण है कि 'अन्य वस्तु दूसरे के कार्य में वास्तव में अकिंचित्कर है' हमारा यह मानना युक्तियुक्त है। एक हम ही क्या, कोई भी व्यक्ति यदि पर में कारणता को वास्तविक मानकर पर की उठाधरी के विकल्प और योग प्रवृत्ति करता है तो उसे अज्ञान का फल ही

मानना चाहिए। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर निष्कर्षरूप में प्रवचनसार गाथा १६ की सूरिकृत टीका में यह वचन उपलब्ध होता है—

अतो न निश्चयतः परेण सहात्मनः कारकत्वसम्बन्धोऽस्ति, यतः शुद्धात्मस्वभाव-लाभाय सामग्री मार्गणव्यग्रतया परतन्त्रैर्भूयते।

अतः निश्चय से पर के साथ आत्मा का कारकरूप सम्बन्ध नहीं है, जिससे कि शुद्धात्मस्वभाव की प्राप्ति के लिए सामग्री (बाह्य सामग्री) ढूँढने की व्यग्रतावश **जीव परतन्त्र होते हैं।**

अन्य वस्तु में कारणता का आरोप साधार किया जाता है। उसे निराधार कहना उचित नहीं है। दूसरे के उपादान में अन्य के उपादान का आरोप करना ही निमित्त कारण कहलाता है। **भ्रम का** निरास करने के लिए ही एक को उपादान कारण और दूसरे को निमित्त कारण कहा जाता है। तात्पर्य एक ही है। इसलिए पहले उपादानता का आरोप किया जाता है। बाद में निमित्तता का, ऐसा नहीं है। **बाह्य वस्तु का अन्य के कार्य के प्रति स्वयं महत्त्व नहीं है। अपने अज्ञान रूप अपराध के कारण उसे अपने द्वारा महत्त्व मिल जाता है।** 'अन्नं वै प्राणाः' इत्यादि उदाहरणों में इसी न्याय से विचार कर लेना चाहिए। **उपचार सर्वथा कल्पित और निराधार नहीं है, किन्तु वह साधार है। उपचार को परमार्थभूत मानना ही असत्य है, अन्यथा वह व्यवहार से सत्य है, क्योंकि व्यवहारीजनों की उसके आधार से लोकव्यवहार की प्रसिद्धि होती है। हम अन्य के कार्य में अन्य की सहायता रूप व्यवहार का लोप नहीं करना चाहते। उसे परमार्थरूप मानने का निषेध अवश्य करते हैं।** अपर पक्ष अवश्य ही उसे परमार्थरूप सिद्ध करने के प्रयत्न मे लगा है जो आगम, तर्क और अनुभव के सर्वथा विरुद्ध है।

यहाँ निश्चयरूप छह कारकों का उपचार कैसे होता है, इसका निर्देश करते हुए अपर पक्ष ने कार्य-कारण विषय में लिखा है कि 'उपादान वस्तुगत कर्मत्व का आरोप आप कौनसी अन्य वस्तु में करेंगे।' समाधान यह है कि उपादान का अपना कार्य वास्तविक कर्म है, उसमें व्यवहार हेतु रूप से स्वीकृत अन्य वस्तु के कर्म का आरोप करके उसे उसका नैमित्तिक (कार्य) कहेंगे। इससे कहाँ किस प्रकरण का उपचार गृहीत है, इसका सम्यक् परिज्ञान हो जाता है।

कुम्हार और जुलाहे का जो योग और विकल्परूप व्यापार होता है उसमें व्यवहार हेतुता इसलिए घटित होती है, क्योंकि उनकी क्रमशः घट और पट कार्य के साथ काल प्रत्यासत्ति

पाई जाती है, इसलिए नहीं कि कुम्हार और जुलाहा घट और पट के यथार्थ में सहायक हैं। क्योंकि उन्हें घट और पट के वास्तविक सहायक मानने पर प्रत्येक द्रव्य की वास्तविक स्वतन्त्रता की हानि का प्रसंग उपस्थित हो जाता है, जो युक्त नहीं है। **घटादि कार्यों की उत्पत्ति वास्तव में अपने-अपने उपादान के व्यापार से हुआ करती है, बाह्य सामग्री के व्यापार से उनकी उत्पत्ति कहना यही उपचार कथन है।** बाह्य सामग्री के साथ दूसरे के कार्य का अन्वय-व्यतिरेक बन जाता है, मात्र इसलिए बाह्य सामग्री को यथार्थ कारण कहना उचित नहीं है। कौन यथार्थ कारण है और कौन उपचरित कारण है इसका निर्णय अनुपचरित और उपचरित कारणता के आधार पर करना ही ठीक है। बाह्य अन्वय-व्यतिरेक अन्तरंग अन्वय व्यतिरेक का सहचर है। इसलिए इनमें कालप्रत्यासत्ति बन जाने से बाह्य व्याप्ति को ध्यान में रखकर यह भी कहा जाता है कि कुम्हार ने अपना विवक्षित व्यापार बन्द कर दिया, इसलिए घट नहीं बन रहा है। किन्तु है यह कथन उपचरित ही। वास्तविक कथन यह है कि उस समय मिट्टी ने स्वयं कर्ता होकर अपना घटरूप व्यापार बन्द कर दिया, इसलिए घट नहीं बन रहा है। **आचार्य विद्यानन्दि ने कालप्रत्यासत्ति रूप अन्वय-व्यतिरेक को देखकर जो अन्य वस्तु को सहकारी कहा है वह व्यवहार से ही कहा है, यथार्थ में नहीं। सो ऐसे व्यवहार का निषेध नहीं। यत: यह व्यवहार साधार होता है, इसलिए आधार की अपेक्षा इसे परमार्थ सत् भी कहते हैं।** हाँ यदि निश्चय की अपेक्षा विचार किया जाये तो यह अभूतार्थ ही कहा जायेगा। यह तो वस्तु स्वभाव है कि कुम्हार के विवक्षित व्यापार के समय ही मिट्टी घट रूप कार्य करती है। तभी तो इनका काल प्रत्यासत्तिरूप अन्वय-व्यतिरेक कहा गया है और तभी कुम्हार को घट का व्यवहार हेतु कहा गया है।

यहाँ पर अपर पक्ष ने अन्तर्व्याप्ति और बाह्य व्याप्ति के जिस अटल सिद्धान्त का निरूपण किया है, उस पर वह स्थिर रहे यह हमारी कामना है। तभी समयसार गाथा ८४ की आत्मख्याति टीका का अपर पक्ष द्वारा उद्धृत किया जाना सार्थक है। **प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप है, वह स्वयसहाय है, इस सिद्धान्त को भीतर से स्वीकार कर लेने पर परसहाय कहना उपरित कैसे है, यह समझ में आ जाता है।** अपर पक्ष विवाद की स्थिति का त्यागकर इस ओर ध्यान दे यह निवेदन है। प्रत्यक्ष से जैसा प्रतीत होता है। उसे किसी अपेक्षा से मान्य रखते हुए भी वस्तुगत यथार्थ योग्यता को ध्यान में रखकर निर्णय करना उचित है। तभी उस प्रत्यक्षज्ञान को प्रमाणीभूत माना जा सकता है, अन्यथा नहीं। यदि बाह्य व्याप्ति के

प्रत्यक्षी करण को प्रमाण माना जाये और उस आधार पर यह कहा जाये कि मिट्टी तो घट का उपादान है पर कुम्हार के विवक्षित व्यापार के अभाव में घट नहीं बन रहा है तो यही मानना पड़ेगा कि वस्तुत: ऐसा कहनेवाला व्यक्ति घट की अपने उपादान के साथ रहने वाली अन्तर्व्याप्ति को स्वीकार नहीं करना चाहता जो युक्त नहीं है। जो आबाल-वृद्ध कार्य-कारणभाव की सम्यक् व्यवस्था को न जानकर, मात्र प्रत्यक्ष के आधार पर एकान्त पक्ष का समर्थन करता है, उसकी वह विचारधारा कल्पनारोपित ही है, इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि उक्त विचारधारा अन्तर्व्याप्ति के निश्चयपूर्वक ही सम्यक् कही जा सकती है, अन्यथा नहीं। **घटादि कार्यों के प्रति कुम्हार आदि का व्यापार अनुकूल होता है, यह कथन बाह्य व्याप्ति को ध्यान में रखकर किया गया है और बाह्य व्याप्ति का कथन कालप्रत्यासत्ति के आधार पर किया गया है तथा दो द्रव्यों के विवक्षित परिणामों में कालप्रत्यासत्ति कैसे बनती है, इसका समाधान वस्तुगत स्वभाव के आधार पर किया गया है। इससे यह फलित हुआ कि ऐसा द्रव्यगत स्वभाव है कि जब-जब मिट्टी घटरूप से स्वयं कर्ता होकर परिणमती है तब-तब कुम्हार का विवक्षित व्यापार नियम से होता है।**

अपर पक्ष ने अपनी इस प्रतिशंका में प्रवचनसार गाथा १०२ की सूरिकृत टीका तथा समयसार गाथा ८४ की आत्मख्याति टीका आदि के जो उद्धरण उपस्थित किये हैं, उनका उक्त टीका वचनों के अनुसार अर्थ न कर इस पद्धति से अर्थ किया है, जिससे साधारण पाठक भ्रम में पड़ जाये और इस प्रकार उक्त टीका वचनों से अपना अभिप्राय पुष्ट करना चाहा है। उदाहरणार्थ अनगारधर्मामृत प्रथम अध्याय श्लोक १०२ के अपर पक्ष द्वारा किये गये अर्थपर दृष्टिपात कीजिए। वह श्लोक इस प्रकार है—

कर्त्राद्या वस्तुनो भिन्ना येन निश्चयसिद्धये।
साध्यन्ते व्यवहारोऽसौ निश्चयस्तदभेदृक् ॥१०२॥

जिसके द्वारा निश्चय (भूतार्थ-यथार्थ) नयकी सिद्धि के लिए वस्तु से भिन्न (पृथक्) कर्ता आदि कारक जाने जाते हैं वह व्यवहार है तथा **वस्तु से अभिन्न कर्ता आदि को जानना निश्चय है॥१०२॥**

यह उक्त श्लोक का वास्तविक अर्थ है। इसके रचयिता पण्डित प्रवर आशाधरजी ने इस श्लोक का स्वयं यह अर्थ किया है, किन्तु इसके विरुद्ध अपर पक्ष ने इसका जो अर्थ किया है वह यद्यपि साधारण पाठक के ध्यान में नहीं आयेगा, फिर भी वह अर्थ सोद्देश्य किया

गया है, इसलिए यहाँ दिया जाता है। उक्त श्लोक का अपर पक्ष द्वारा किया गया वह अर्थ इस प्रकार है—

जिसके द्वारा निश्चय की सिद्धि के लिए (उपादानभूत) वस्तु से भिन्न कर्ता आदि की सिद्धि की जाती है, वह व्यवहार कहलाता है और जिसके द्वारा वस्तु से अभिन्न कर्ता आदि की सिद्धि की जाती है, वह निश्चय कहलाता है॥१०२॥

उक्त श्लोक के ये दो अर्थ हैं। एक वह जो वास्तविक है और दूसरा वह जो वास्तविक तो नहीं है, किन्तु अपने विपरीत अभिप्राय की पुष्टि के लिए जिसे अपर पक्ष ने स्वीकार किया है।

अब हमें इस बात का विचार करना है कि उक्त श्लोक का हमारे द्वारा किया गया अर्थ ठीक क्यों है और अपर पक्ष द्वारा किया गया अर्थ ठीक क्यों नहीं है।

उक्त श्लोक में आये हुए '**निश्चयसिद्धये, साध्यन्ते**' और '**तदभेददृक्**'—ये पद ध्यान देने योग्य है।

स्वयं पण्डितप्रवर आशाधरजी ने इनमें से '**साध्यन्ते**' पद का अर्थ किया है— '**ज्ञाप्यन्ते निश्चयसिद्धये**' पद का अर्थ किया है – '**भूतार्थनयप्राप्त्यर्थम्**' तथा '**तदभेददृक्**' पद का अर्थ किया है– तेषां कर्त्रादीनामभेदेन वस्तुनोऽनर्थान्तरत्वेन दृक् प्रतिपत्तिः।'

उक्त पदों का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार होगा – 'साध्यन्ते'– जाने जाते हैं, 'निश्चयसिद्धये'– भूतार्थनय की प्राप्ति के लिए, तथा 'तदभेददृक्–उन कर्तादिक के अभेद से वस्तु का अभेदरूप से देखना जानना।'

किन्तु अपर पक्ष ने इन तीनों पदों का अर्थ किया है – 'साध्यन्ते–सिद्धि की जाती है, निश्चय–सिद्धये–निश्चय की सिद्धि के लिए तथा 'तदभेददृक्' जिसके द्वारा वस्तु से अभिन्न कर्ता आदि की सिद्धि की जाती है।

कर्ता आदिक वस्तु से अभिन्न है, इसका नाम निश्चय है; यह यथार्थ है। इसे जानने वाले निश्चयनय (भूतार्थनय–यथार्थनय) की सिद्धि ऐसे व्यवहार से होती है जो वस्तु से भिन्न कर्ता आदि का ज्ञान कराता है, यह उक्त श्लोक का तात्पर्य है **पण्डित जी ने इसी ग्रन्थ के अध्याय १ श्लोक ९९ में व्यवहार को अभूतार्थ कह कर अभूतार्थ का अर्थ अविद्यमान इष्ट विषय रूप किया है।** इससे ज्ञात होता है कि प्रत्येक वस्तु के कर्ता आदि धर्म उससे

अभिन्न ही होते हैं। उससे भिन्न वस्तु में उस वस्तु के कर्ता आदि धर्मों का अत्यन्त अभाव ही होता है। इसलिए एक वस्तु के कर्ता आदि धर्म, दूसरी वस्तु में मानना यथार्थ न होकर मात्र व्यवहार ही है। इसे परमागम में जो असद्भूतव्यवहार कहा है, उसका कारण भी यही है।

अनगारधर्मामृत के उक्त वचन में यद्यपि 'आरोप' शब्द न आकर 'व्यवहार' शब्द ही आया है। पर यहाँ 'व्यवहार' पद से क्या अर्थ लिया गया है। इसका जब सम्यक्ज्ञान किया जाता है तो यही ज्ञात होता है कि उपादान में रहने वाले कर्त्ता आदि धर्मों का अन्य वस्तु में आरोप करना—यही व्यवहार यहाँ पर इष्ट है।

यहाँ पर 'निश्चय' पद से क्या अर्थ लिया गया है, इसका ज्ञान प्रकरण से हो जाता है। प्रकरण कार्य-कारण भाव का है। **कार्य-कारण से अभिन्न होता है, इसका ज्ञान निश्चयनय कराता है। इसलिए इसे यथार्थ कहा गया है, क्योंकि परिणाम-परिणामी में अभेद होने से प्रत्येक वस्तु स्वयं आप कर्ता होकर उस रूप परिणमती रहती है। इसके प्रकाश में जब हम कार्य कारण से भिन्न होता है, इस कथन पर विचार करते हैं तो वह असद्भूत ही प्रतीत होता है, क्योंकि वह कारण कैसा जो विवक्षित कार्य से भिन्न दूसरा कार्य करते हुए भी विवक्षित कार्य का कारण कहलावे। स्पष्ट है कि विवक्षित कार्य से भिन्न वस्तु को उसका कारण कहना आरोपित कथन ही होगा। उससे विवक्षित कार्य के यथार्थ कारण का ज्ञान तो हो जाता है, पर वह स्वयं उसका यथार्थ कारण कहलाने का अधिकारी नहीं है ।** '**कर्त्राद्या वस्तुनों भिन्नाः**' इस वचन द्वारा यही बतलाया गया है।

अपर पक्ष ने 'मिट्टी से घड़ा बना है। तथा कुम्हार ने घड़ा बनाया है'—इन दोनों प्रकार के लौकिक वचनों को ठीक मानते हुए लिखकर यह भ्रम फैलाने की चेष्टा की है कि हम भी इन दोनों वचनों को लौकिक वचन मानते हैं। किन्तु यह कथन यथार्थ नहीं है, क्योंकि उक्त वचनों में 'मिट्टी से घड़ा बना है' यह वचन यथार्थ है और 'कुम्हार ने घड़ा बनाया है'—यह वचन लौकिक है।

हमने लिखा था कि 'इन वचन प्रयोगों में मिट्टी के साथ जैसी घट की अन्तर्व्याप्ति है, वैसी कुम्हार के साथ नहीं।' इस पर आपत्ति करते हुए अपर पक्ष का कहना है कि 'उक्त दोनों प्रयोगों में घट की मिट्टी के साथ' जैसी अन्तर्व्याप्ति अनुभूत होती है, वैसी अन्तर्व्याप्ति उसकी कुम्हार के साथ अनुभूत नहीं होती इसका कारण यह नहीं है कि मिट्टी घट के प्रति वास्तविक (सद्रूप) कारण है और कुम्हार सिर्फ कल्पनारोपित (असद्रूप) कारण है। आदि।

समाधान यह है कि **मिट्टी में घट की कारणता वास्तविक है और कुम्हार में योग और विकल्प की कारणता वास्तविक है। परन्तु कुम्हार के योग और विकल्प की घट के साथ असाधारण द्रव्यप्रत्यासत्ति तथा प्रतिविशिष्ट भाव प्रत्यासत्ति नहीं है। इस अपेक्षा से कुम्हार में घट की कारणता असद्‌रूप ही है। यदि इस रूप में उसे सद्रूप मान लिया जाये तो कुम्हार और मिट्टी एक हो जावेंगे।** यही कारण है कि आचार्यों ने कालप्रत्यासत्तिवश कुम्हार को घट का व्यवहार (उपचरित) हेतु कहा है। अपर पक्ष ही स्वयं ऐसी कारणता को सर्वथा कल्पनारोपित (असद्रूप) लिखता है, अन्यथा वह उपचार के लिए इन शब्दों का प्रयोग न करता। यह उस पक्ष की अपनी सूझ है। हमारे कथन का आशय नहीं। मिट्टी और घट में अभेद होने से उपादानोपादेयभाव के आधार पर जैसी अन्तर्व्याप्ति बन जाती है वैसी अन्तर्व्याप्ति कुम्हार और घट में निमित्त-नैमित्तिकभाव के आधार पर नहीं बनती, इसलिए कुम्हार को घट का निमित्त कहना और घट को कुम्हार का नैमित्तिक कहना, यह उपचरित ही सिद्ध होता है। इसका आशय यह है कि कुम्हार घट का वास्तव में निमित्त नहीं है और न घट कुम्हार का वास्तव में नैमित्तिक ही है, यह मात्र व्यवहार है। जो उपचरित होने से असद्‌भूत ही है। कुम्हार के विवक्षित योग और विकल्प से यह सूचना अवश्य मिलती है कि मिट्टी ने घट बनाया। परन्तु उससे यह सूचना भी मिलती है, इसलिए कुम्हार और घट में वास्तविक कर्ता-कर्मभाव घटित नहीं होता।

यहाँ इतना विशेष समझना चाहिए कि निमित्त कारण को कहते हैं और नैमित्तिक कार्य का दूसरा नाम है। यही कारण है कि आगम में अनेक स्थलों पर उपादान के लिए भी निमित्त शब्द का प्रयोग हुआ है। इसलिए अन्य द्रव्य में अन्य द्रव्य के कार्य की अपेक्षा जो निमित्त व्यवहार किया जाता है, वह उपचरित ही सिद्ध होता है।

आगम में स्व-पर प्रत्यय परिणमन को स्वीकार किया है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु उसी आगम में पर को कारण उपचार से माना गया है। इसे वह पक्ष क्यों स्वीकार नहीं करता। आगम तो दोनों हैं। एक को स्वीकार करना और दूसरे को अस्वीकार करना, यह न्यायमार्ग नहीं कहा जा सकता। यदि अपर पक्ष एक द्रव्य के कार्य का कारण धर्म दूसरे द्रव्य में वास्तविक सिद्ध कर दे; तब तो बाह्य सामग्री में निमित्तता वास्तविक मानी जाये, अन्यथा उसे उपचरित मानना होगा।

अपर पक्ष का कहना है कि 'निमित्त कार्यरूप परिणत नहीं होता, सिर्फ उपादान ही

कार्यरूप परिणत होता है।' समाधान यह है कि जब कि अपर पक्ष बाह्य व्याप्ति के आधार पर बाह्य सामग्री को वास्तविक निमित्त मानना है तो उसे भी कार्यरूप परिणत होना चाहिये। अत: वह कार्य रूप से परिणत नहीं होता, इसीलिए उसे उपचरित मानना ही संगत है।

अपर पक्ष अपनी मान्यता के आधार पर यह भले ही समाधान कर ले कि निमित्त कर्तृत्व और निमित्त कारणत्व आदि को वास्तविक मानने से निमित्तों में द्विक्रियाकारिता की प्रसक्ति नहीं होगी। किन्तु उसकी यह मान्यता ठीक नहीं है, क्योंकि जिस बाह्य सामग्री को अपर पक्ष अन्य के कार्य का वास्तविक निमित्त कहता है वह अपने कार्य का उपादान भी है, इसलिए जैसे उपादान होकर की गई उस (बाह्य सामग्री) की क्रिया वास्तविक है, उसी प्रकार अन्य के कार्य के प्रति निमित्त होकर की गई उस वस्तु की दूसरी क्रिया को भी वास्तविक मानना होगा और ऐसी अवस्था में वह बाह्य सामग्री दो क्रिया की कर्ता हो जायेगी जो जिनागम के सर्वथा विरुद्ध है। स्पष्ट है कि बाह्य सामग्री में जैसे निमित्त व्यवहार उपचरित है, वैसे ही उसे निमित्त कर जो कार्य हुआ है, उसमें नैमित्तिक व्यवहार को उपचरित मान लेना ही श्रेयस्कर है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि बाह्य सामग्री में निमित्त व्यवहार उपचरित ही है। '**मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते च उपचारः प्रवर्तते**' यह वचन इसी उपचरितपने के दिखलाने लिए लिखा गया है। इसका विशेष स्पष्टीकरण पूर्व में किया ही है। अतएव उपादान के समान निमित्त व्यवहार को वास्तविक नहीं माना जा सकता। निमित्त व्यवहार को कल्पनारोपित तो अपर पक्ष ही कहता है। हमारी ऐसी मान्यता नहीं है, क्योंकि जितना भी उपचरित कथन किया जाता है वह एक के धर्म को दूसरे का स्वीकार करके ही किया जाता है, सर्वथा निराधार नहीं किया जाता। यदि अपर पक्ष उपचार रूप लोकव्यवहार को कल्पना रोपित घोषित करने में ही अपनी इतिकर्तव्यता मानता रहेगा तो उसके मत से 'यह बालक शेर है, घी का घड़ा ले आओ' आदि रूप समस्त व्यवहार कल्पनारोपित सिद्ध हो जायेगा। किन्तु लोक में ऐसा व्यवहार होता है और वह इष्टार्थ का ज्ञान कराने में भी समर्थ है, अतएव निमित्त-नैमित्तिक व्यवहार को उपचरित मान लेने में अपर पक्ष को आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

अपर पक्ष का कहना है कि 'समयसार गाथा १३,१४ की आत्मख्याति टीका में व्यवहार को अपनेरूप में भूतार्थ ही स्वीकार किया है।' सो यहाँ यही तो ज्ञातव्य है कि व्यवहार का वह अपना रूप कौन सा है जिस आधार पर उक्त टीका में उसे भूतार्थ स्वीकार किया है। यहाँ अपर पक्ष मौन क्यों है?

अपर पक्ष का कहना है कि 'जिस प्रकार निमित्त में विद्यमान निमित्तता, निमित्तता ही है वह उपादानतारूप नहीं हो सकती है, इसलिए उपादानतारूप न हो सकने के कारण अवास्तविक होते हुए भी निमित्ततारूप से वह वास्तविक ही है, उसी प्रकार व्यवहार-व्यवहार ही है, वह निश्चय कभी नहीं हो सकता है, इसलिए निश्चय न हो सकने के कारण अवास्तविक होते हुए भी, व्यवहार रूप से वह वास्तविक ही है।'

सो प्रकृत में जानना तो यही है कि जिस प्रकार उपादानता वस्तु का वास्तविक धर्म है, इसलिए स्वयं वस्तु ही है, इस प्रकार निमित्तता क्या वस्तु का वास्तविक धर्म है? यदि वह वास्तविक है तो क्या एक वस्तु का गुणधर्म दूसरी वस्तु में सद्भुत हो सकता है? यदि नहीं तो उसे उपचरित मान लेने में अपर पक्ष को आपत्ति नहीं होनी चाहिए। निमित्तता अपने रूप में है, यह कहना अन्य बात है और उसे वस्तुरूप मानना अन्य बात है। इसी न्याय से व्यवहार के विषय में भी समझ लेना चाहिए। समयसार गाथा १३, १४ की आत्मख्याति टीका में अपनी-अपनी बन्धपर्याय की अपेक्षा सद्भूत व्यवहार को भूतार्थ कहा है, असद्भूत व्यवहार को नहीं।

अपर पक्ष ने अन्त में प्रस्तुत प्रतिशंका का उपसंहार करते हुए लिखा है कि 'यह बात हम पहले ही बतला आये हैं कि एक वस्तु या वस्तु के धर्म का आरोप अन्य उस वस्तु में यही होता है जहाँ उपचार का उल्लिखित लक्षण घटित होता है। इस प्रकार उपचार के आधार पर वस्तु को ही उपचरित कहा जाता है। और इस तरह वस्तु के दो धर्म हो जाते हैं एक उपचरित धर्म और दूसरा अनुपचरित धर्म। इनमें से जो ज्ञान उपचरित धर्म को ग्रहण करता है, वह उपचरित ज्ञाननय कहलाता है और जो ज्ञान अनुपचरित धर्म को ग्रहण करता है, वह अनुपचरित ज्ञाननय कहलाता है। इसी प्रकार जो वचन उपचरित धर्म का प्रतिपादन करता है, वह उपचरित वचननय कहलाता है और जो वचन अनुपचरित धर्म का प्रतिपादन करता है, वह अनुपचरित वचननय कहलाता है।'

खुलासा यह है कि **प्रत्येक वस्तु में उपचरित धर्म की स्वतन्त्र सत्ता नहीं हुआ करती, किन्तु अन्य जिस वस्तुसम्बन्धी द्रव्य, गुण और पर्याय का प्रयोजनादिवश तद्भिन्न वस्तु में द्रव्य, गुण या पर्याय जिस रूप से उपचार किया जाता है, वह द्रव्य, गुण या पर्याय जिसका उपचार किया गया है, उस नाम से कहा जाता है।** इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर आलापपद्धति में असद्भूतव्यवहार का अर्थ (विषय) नौ प्रकार का बतलाया गया है। और इसी आधार पर

वस्तु में असद्भूतव्यवहार से उपचरितस्वभाव की भी स्थापना की गई है—**असद्भूत-व्यवहारेणोपचरितस्वभावः**। —आलापप०।

अन्य वस्तु को या उसके धर्म को अन्य के कार्य का निमित्त कहना उपचरित इसलिए है कि इसमें अन्य के कार्य की अपेक्षा मुख्य निमित्त (उपादान) और मुख्य प्रयोजन का सर्वथा अभाव है, किन्तु निश्चय का ज्ञान कराने के लिए व्यवहार हेतु और व्यवहार प्रयोजन दिखलाना आवश्यक है, इसलिए '**मुख्याभावे सति**' इत्यादि वचन के अनुसार वहाँ उपचार की प्रवृत्ति हो जाती है।

अपर पक्ष का कहना है 'कि इस प्रकार उपचार के आधार पर वस्तु को ही उपचरित कहा जाता है।' किन्तु सर्वथा ऐसी बात नहीं है, क्योंकि कहीं पर पूरी वस्तु को, कहीं पर गुण को और कहीं पर पर्याय को इस प्रकार तीनों को उपचरित कहा जाता है।

अपर पक्ष ने यहाँ पर जिस उपचार ज्ञाननय और उपचार वचननय का निर्देश किया है, उसी की दूसरी संज्ञा असद्भूतव्यवहारनय है।

इस प्रकार हमने अपने प्रथमादि उत्तरों में उपचार का जो लक्षण और अनेक उदाहरण निर्दिष्ट किये हैं, वे आगमानुसार ही निर्दिष्ट किये हैं ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

अपर पक्ष से निवेदन

जयपुर (खानिया) में तत्त्वचर्चा का जो उपक्रम किया गया था, वह इस उत्तर के साथ अन्तिम रूप से सम्पन्न हो रहा है। इस समग्र प्ररूपणा द्वारा वस्तु व्यवस्था में और कार्य-कारणभाव में निश्चय और व्यवहार को जिनागम किस रूप में स्वीकार करता है, यही दिखलाना हमारा मुख्य प्रयोजन रहा है। हमारा क्षयोपशम मन्द है और जीवन में प्रमाद की बहुलता है, किन्तु जिनागम द्वादशांग वाणी का सार होने से गहन और नय प्ररूपणाबहुल है। इसलिए उक्त कारणों से पूरी सावधानी रखते हुए भी हमसे यदि कहीं चूक हुई हो तो अपर पक्ष हमारे क्षयोपशम की मन्दता और प्रमाद की बहुलता की ओर विशेष ध्यान न देकर, उसे सम्हालकर ही यथार्थ को स्वीकार करेगा यह निवेदन है।

विद्वान् श्रुतधर होते हैं। अतएव उन्हें श्रुत के आशय को उसी रूप में प्ररूपित करना चाहिए जो द्वादशांग वाणी का सार है। वर्तमानकालीन विद्वानों के सामने आचार्य परम्परा तो आदर्श रूप में है ही, श्रुतधर पण्डितप्रवर राजमलजी, बनारसीदासजी, टोडरमलजी,

दौलतरामजी, भागचन्द्रजी, द्यानतरायजी, भूधरदासजी ,जयचन्द्रजी आदि विद्वानों की परम्परा भी आदर्श रूप में है। अतएव उसे ध्यान में रखकर वर्तमानकालीन विद्वान् अपने कर्तव्य का निर्वाह करेंगे ऐसी आशा है।

जिनागम में निश्चय और व्यवहार दोनों नयों में से कहीं निश्चयनय की मुख्यता से और कहीं व्यवहारनय की मुख्यता से प्ररूपणा हुई है। उसका आशय क्या है, इसका स्पष्टीकरण पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक अ. ७ में '**ववहारो भूयत्थोऽभूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ**' इस आगम वचन को उद्धृत कर किया है। वे लिखते हैं—

याका अर्थ—व्यवहार अभूतार्थ है, सत्य स्वरूप को न निरूपै है। बहुरि शुद्धनय जो निश्चय है, सो भूतार्थ है। जैसा वस्तु का स्वरूप है तैसा निरूपै है।

इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए वे आगे पुनः लिखते हैं—

जिनमार्गविषैं कहीं तौ निश्चयनयकी मुख्यता लिए व्याख्यान है। ताकौं तो 'सत्यार्थ ऐसैं ही है' ऐसा जानना। बहुरि कहीं व्यवहारनय की मुख्यता लिए व्याख्यान है। ताकौं 'ऐसैं है नाहीं, निमित्तादि अपेक्षा उपचार किया है' ऐसा जानना। 'इस प्रकार जानने का नाम ही दोऊ नयनिका ग्रहण है। बहुरि दोऊ नयनि के व्याख्यानकौं समान सत्यार्थ जानि' 'ऐसैं भी है, ऐसैं भी है' ऐसा भ्रमरूप प्रवर्तनें करि तौ दोऊ नयनिका ग्रहण करना कह्या है नाहीं।

इस प्रकार समाधान का तीसरा दौर समाप्त होकर प्रस्तुत तत्त्वचर्चा समाप्त हुई।

●